मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय

तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(Money, Banking, Foreign Exchange, and International Trade)

(बी० कॉम अर्थशास्त्र के स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

प्रो० आनन्द स्वरूप गर्ग एम० ए०

अर्थशास्त्र-विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, अर्थशास्त्र की रूप-रेखा, वाणिज्य अर्थशास्त्र की रूप-रेखा, प्रि० यूनिवर्सिटी अर्थशास्त्र की रूप-रेखा, मुद्रा तथा बैंकिंग की रूप-रेखा, भारतीय अर्थशास्त्र की रूप-रेखा, अर्थशास्त्र प्रवेशिका आदि के रचयिता।

पूर्णतया परिवर्द्धित एवं संशोधित तृतीय संस्करण १९६०

प्रकाशक

राजहंस प्रकाशन मन्दिर

सुभाष बाजार, मेरठ, (यू० पी०)

तृतीय संस्करण १९६०]

लेखक की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ

१. मुद्रा, बैंकिंग विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय आय– तृतीय सस्करण १९६०—आगरा, विक्रम तथा गोरखपुर विश्वविद्यालयों के बी० ए० के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये।

२. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राजस्व—तृतीय सस्करण १९६०—आगरा, विक्रम तथा गोरखपुर विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अन्य समस्त विश्वविद्यालयों के बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये।

३. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—तृतीय सस्करण १९६०—समस्त विश्वविद्यालयों के बी० कॉम के विद्यार्थियों के लिये।

४. मुद्रा और बैंकिंग की रूप-रेखा—प्रथम सस्करण १९६०—इण्टर व हायर सैकण्डरी कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिये।

५. बैंकिंग की रूप-रेखा—प्रथम सस्करण १९६०—सागर व बिहार विश्वविद्यालय के प्रि-यूनिवर्सिटी कॉमर्स के बैंकिंग के विद्यार्थियों के लिये।

६. अर्थशास्त्र के सिद्धान्त—आठवाँ सस्करण १९६०—बी० ए० व बी० कॉम अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए।

७. अर्थशास्त्र की रूप-रेखा—तेरहवाँ सस्करण १९६०—इण्टरमीडियेट, हायर सैकण्डरी व प्रि यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये।

८. वाणिज्य अर्थशास्त्र की रूप-रेखा—चतुर्थ सस्करण १९६०—इण्टर, हायर सैकण्डरी व प्रि यूनिवर्सिटी कॉमर्स के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए।

९. अर्थशास्त्र की रूप रेखा (सिद्धान्त)—बारहवाँ सस्करण १९६०—इण्टर आर्ट्स हायर सैकण्ड्री व प्रि यूनिवर्सिटी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष के विद्यार्थियों के लिए।

१०. प्रि यूनिवर्सिटी अर्थशास्त्र की रूप-रेखा—प्रथम सस्करण १९६०—बिहार विश्वविद्यालय के प्रि-यूनिवर्सिटी आर्ट्स व कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिये।

११. भारतीय अर्थशास्त्र की रूप रेखा—प्रथम सस्करण १९६०—इण्टर, हायर सैकण्ड्री व प्रि यूनिवर्सिटी आर्ट्स के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये।

१२. अर्थशास्त्र प्रवेशिका—हाई स्कूल अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये।

प्रथम सस्करण जुलाई १९५८
द्वितीय सस्करण जून १९५९
तृतीय सस्करण जुलाई १९६०

प्रकाशक
राजहंस प्रकाशन मन्दिर
सुभाष बाजार, मेरठ।

★★

मुद्रक
जॉब प्रिन्टिंग प्रेस,
मेरठ।

तृतीय संस्करण !

प्रस्तुत पुस्तक का तृतीय संस्करण पाठकों के समक्ष है। मुझे बड़ा हर्ष है कि पिछले वर्ष भी पुस्तक का द्वितीय संस्करण दिसम्बर माह तक समाप्त हो गया और विद्यार्थियों की पुस्तक की मांग फिर भी बनी रही। चूंकि पुस्तक का आकार बड़ा है, इसलिये कुछ प्रकाशनीय कठिनाइयों के कारण इसका शीघ्र पुनर्मुद्रण नहीं किया जा सका। पुस्तक न मिल सकने के कारण प्राध्यापकों व विद्यार्थियों को जो कुछ कष्ट हुआ, उसके लिये मैं अपनी व प्रकाशक की ओर से उनका क्षमा-प्रार्थी हूँ।

जब से प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ है, मेरे पास पाठकों के अनेक ऐसे पत्र आये हैं जिनमें उन्होंने विभिन्न परीक्षाओं में पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तरों की रूप-रेखा मुझ से पूछी थी। विद्यार्थियों की इस समस्या को हल करने के हेतु ही मैंने प्रस्तुत संस्करण में लगभग प्रत्येक अध्याय के अन्त में हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी० ए० व बी० कॉम० की परीक्षाओं में पूछे गये प्रश्नों में से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को चुनकर उनके उत्तर की रूप-रेखा विस्तार से दी है ताकि एक ओर विद्यार्थी समुदाय परीक्षोपयोगी प्रश्नों से अवगत हो जाय और दूसरी ओर वे अपनी परीक्षा में अमुक प्रश्नों के उत्तरों को लिखते समय अनावश्यक सामग्री न लिखने पायें। मुझे पूर्ण आशा है कि "चुने प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई सामग्री को पढ़ लेने पर विद्यार्थी अपनी परीक्षा में उच्च-स्तर के अंक प्राप्त करने में सफल होंगे।

पिछले संस्करणों की भांति, प्रस्तुत संस्करण में भी पुस्तक के अन्त में "उत्तर कैसे लिखें ?" तथा "परीक्षा प्रश्न-पत्र" नामक परिशिष्ट दिये गये हैं। पाठकों को इन परिशिष्टों को भी समय-समय पर पढ़ना चाहिये क्योंकि परीक्षा की दृष्टि से ये परिशिष्ट उनके लिये बहुत लाभकारी हैं।

मैं इस प्रस्तावना द्वारा प्रकाशक और अपनी ओर से उन सब कृपालु प्राध्यापकों तथा स्नेही विद्यार्थियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर पुस्तक के सुधार के हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव भेजे हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि भविष्य में भी वे मेरा ध्यान मेरी त्रुटियों की ओर दिलाते रहेंगे। यदि प्रस्तुत संस्करण विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को भलि-भांति पूर्ण कर सका, तब निस्सन्देह मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा।

आनन्द-निवास
टोपी तालाब,
मेरठ
जुलाई २, १९६०

आनन्द स्वरूप गर्ग

विषय-सूची

भाग १. मुद्रा खण्ड १

"It (Money) enables man as consumer to generalise his purchasing power, and to make his claims on *society in the form which suits him most. The existence of a* monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it, and so to decide what shall be produced, and in what quantities, and to make the best use of its limited productive power......It helps each member of society to ensure that the means of enjoyment to which he has access yield him the *greatest amount of actual satisfaction which is within his reach* .....It gives him the chance of not surfeiting himself with bus rides, or stinting himself unduly of the countenance of Charlie Chaplin...It enables a man as producer to concentrate his attention on his own job and so to add more effectively to the general flow of goods and services which constitute the real income of society. The existence of money...... ......seems to be a necessary condition for any great development of the division of labour."

—**Robertson, Money p. 5.**

"Money is the pivot round which economic science clusters. Money is very essential for mankind. It is like blood for the exchange economy." —**Marshall**

"Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In Mechanics, it is the wheel, in Science fire, in Politics the vote. Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based."

—***Crowther.***

भाग १ : : खण्ड १

मुद्रा
(Money)

[अध्याय १. मुद्रा का अर्थ और इसके कार्य, २. मुद्रा का वर्गीकरण, ३. मुद्रा का मूल्य तथा परिमाण सिद्धान्त, ४. मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा-स्फीति, ५. निर्देशांक ६. मुद्रा-प्रणालियाँ, ७. नोट निर्गम के सिद्धान्त तथा रीतियाँ]

TRY TO REMEMBER THESE QUOTATIONS

(*A*) "*Money is a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods or in discharge of other business obligations*"—**Robertson**

"*Money includes all those things which are (at any time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses.*"—**Marshall**

"*Money is what money does*"—**Hartley Withers**

'*Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held.*"—**Keynes**

"*Money nowadays in advance communities means bank deposits, Metallic and Paper Money play a diminishing role*"—**Lehfieldt**

(*B*) '*The Quantity Theory of Money States—' The value of money, other things being the same varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent*'—**Mill**

"*Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one half. Halve the quantity of money and other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double*"—**Taussig**

The value of money may be regarded as the reciprocal of the general level of prices, for example, if the general level of prices has doubled, this means that the value of money has halved'—**Benham**

(C) "*Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income earning activity*'—**Pigou**

Kemmerer *has defined inflation as 'too much money and deposit currency—that is too much currency in relation to the physical volume of business being done*'

"*Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression.*"—**Cole**

(*D*) '*An Index Number is a number which indicates the level of a certain phenomenon at a given date in comparison with the level of the same phenomenon at some standard date*'—**Ghosh & Chaudhri**

(*E*) '*Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another*"—**Robertson**

"*The Gold Standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a currency is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality*"—**Coulborn**

'*The golden rule of the Gold Standard is—expand credit when gold comes in, contract credit when gold is going out*"—**Crowther.**

अध्याय १

मुद्रा का अर्थ और इसके कार्य

(Meaning and Functions of Money)

विषय प्रवेश (Introduction)

विनिमय की आवश्यकता तथा इसका विकास (Necessity and Evolution of Exchange):—प्राचीन काल में उत्पादन-व्यवस्था स्वावलम्बन के आधार पर बनी हुई थी। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने आप और अपने परिवार की सहायता से किया करता था। परन्तु आर्थिक जीवन की यह प्रारम्भिक अवस्था बहुत समय तक बनी न रह सकी और आज मनुष्य इस परिस्थिति से बहुत दूर चला जा रहा है। वर्तमान समाज में ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत कम है जो पूर्ण रूप से स्वावलम्बी हैं। वर्तमान श्रम-विभाजन के युग में लगभग तमाम मनुष्यों को अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की तमाम वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता है। आधुनिक आर्थिक जगत में प्रत्येक मनुष्य किसी एक धन्धे का-विशेषज्ञ (Specialist) बनकर कार्य करता है और इस कार्य द्वारा उसे जो आमदनी प्राप्त होती है, उसी से वह विनिमय (Exchange) द्वारा अपनी तमाम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। इसीलिये जब तक किसी मनुष्य को दूसरे मनुष्यों द्वारा बनी हुई वस्तुएँ विनिमय द्वारा प्राप्त नहीं होती, तब तक उसकी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। **इस प्रकार विनिमय की धुरी पर तमाम समाज की आर्थिक व्यवस्था घूमती है और विनिमय द्वारा ही उत्पत्ति तथा उपभोग एक लड़ी में नत्थी हुये हैं।** विनिमय के अभाव में न तो उत्पादन ही इतना सरल होता और न प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि ही इतनी सरलता से कर सकता। अतः विनिमय का सबसे बड़ा महत्व यही है कि आज हमारी समस्त उत्पादन-व्यवस्था विनिमय के लिये ही चलती है और मनुष्य का जीवन इसी पर निर्भर है। विनिमय के अस्तित्व ने ही श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्भव की है। वर्तमान समाज में विनिमय का कार्य मुद्रा (Money) के माध्यम द्वारा किया जाता है।

विनिमय का अर्थ (Meaning of Exchange)—एक आर्थिक क्रिया के रूप में विनिमय में तीन मुख्य लक्षण पाये जाते हैं-प्रथम, इसमें धन का हस्तांतरण (Transference) होता है, द्वितीय, धन का हस्तांतरण ऐच्छिक (Voluntary) होता है तथा तृतीय, विनिमय क्रिया वैधानिक (Legal) तथा पारस्परिक (Mutual) होती है। **अतः दो पक्षों के बीच में होने वाले ऐच्छिक, वैधानिक तथा पारस्परिक धन के हस्तान्तरण को ही विनिमय कहते हैं।**

विनिमय के स्वरूप (Forms of Exchange)—विनिमय के दो प्रधान स्वरूप हैं—प्रथम, वस्तु-विनिमय या अदल-बदल तथा द्वितीय, क्रय-विक्रय। (क) वस्तु-विनिमय या अदल-बदल (Barter) :—किसी वस्तु या सेवा के अन्य वस्तु या सेवा के साथ प्रत्यक्ष

विनिमय को अदला-बदली कहते हैं। जेवन्स (W. S Jevons) के शब्दों में 'तुलनात्मक कम आवश्यक वस्तु से तुलनात्मक अधिक आवश्यक वस्तु के आदान-प्रदान को विनिमय कहते हैं।'* वस्तु विनिमय में विनिमय का कार्य बहुत सरल होता है क्योंकि इस प्रकार के विनिमय में एक वस्तु या सेवा के बदले मे दूसरी वस्तु या सेवा प्रत्यक्ष रूप मे (Directly) प्राप्त कर ली जाती है। (ख) क्रय-विक्रय या मुद्रा-विनिमय (Purchase and Sale or Money Exchange) —जब वस्तुओं के बदले मे वस्तुओं की अदला बदली प्रत्यक्ष न होते हुये, मुद्रा के माध्यम से होती है, तब इसे मुद्रा विनिमय कहते हैं। इस प्रकार के विनिमय में एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु परोक्ष रूप में (Indirectly) प्राप्त की जाती है अर्थात् इस प्रकार के विनिमय में मुद्रा के माध्यम द्वारा पहले अपनी वस्तुएं व सेवाएं बेचकर उनके बदले में मुद्राएं प्राप्त की जाती हैं और तदुपरान्त इस मुद्रा से अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं प्राप्त की जाती हैं। चूंकि इस प्रकार के विनिमय में वस्तुओं का क्रय (Purchase) तथा वस्तुओं का विक्रय (Sale) मुद्रा द्वारा किया जाता है, इसलिए विनिमय की इस प्रणाली को मुद्रा-विनिमय (Money Exchange) कहते हैं।

वस्तु-विनिमय (Barter)

वस्तु-विनिमय का अर्थ तथा इसकी कठिनाइयां (Meaning of Barter and its inconveniences) —जब एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु से प्रत्यक्ष तरीके से विनिमय हो, तब इसे वस्तु-विनिमय की प्रणाली कहते हैं, जैसे-कपड़े के बदले में अनाज या अनाज के बदले में साग-सब्जी लेना आदि। इस प्रणाली के अनुसार बहुत प्राचीन काल से ही विनिमय होता आया है और आज भी आर्थिक व व्यापारिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों में यह प्रणाली पाई जाती है। वस्तु विनिमय प्रणाली द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान तब ही होता है जबकि तीन परिस्थितियां उपस्थित होती हैं —प्रथम, आवश्यकतायें सीमित होनी चाहिए अर्थात् आर्थिक दृष्टि से समाज पिछड़ा होना चाहिये क्योंकि ऐसे समाज में ही आवश्यकतायें सीमित हुआ करती है। द्वितीय, आवश्यकताओं का दुहरा संयोग होना चाहिए अर्थात् जबकि दो व्यक्तियों के पास अपनी अपनी वस्तुओं की अधिकता हो और एक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो, तब ही वस्तु-विनिमय प्रणाली सम्भव होती है। तृतीय, विनिमय का क्षेत्र संकुचित होना चाहिए अर्थात् बाजारों का क्षेत्र इतना छोटा होना चाहिये कि इस क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से भली प्रकार परिचित हों, एक-दूसरे की आवश्यकताओं को समझते हों और यह अच्छी तरह जानते हों कि कौन सा व्यक्ति कौनसी वस्तु का उत्पादन कर रहा है क्योंकि तब ही सुगमता से तथा बहुत कम समय में वस्तु-विनिमय प्रणाली द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान हो सकेगा। चूंकि प्राचीन काल में ये तीनों परिस्थितियां उपस्थित थी और आज भी जिन-जिन क्षेत्रों में पाई जाती हैं, वहाँ पर वस्तु-विनिमय प्रणाली द्वारा ही वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। परन्तु जैसे-जैसे मानव आवश्यकताओं में वृद्धि हुई, समाज का आर्थिक व सामाजिक विकास हुआ, श्रम-विभाजन के आधार पर उत्पादन-व्यवस्था संगठित हुई, उत्पत्ति का पैमाना बड़ा तथा बाजारों का क्षेत्र विस्तृत हुआ, त्यों-त्यों वस्तु

* 'Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the comparatively necessary'—Jevons.

विनिमय-प्रणाली द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान करने में कठिनाइयां अनुभव हुईं जिसके परिणामस्वरूप विनिमय कार्य के लिए किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता प्रतीत हुई। अदला-बदली द्वारा विनिमय करने मे जो कठिनाइयाँ अनुभव हुईं, वे इस प्रकार है :—

(i) आवश्यकताओं की दोहरी अनुरूपता का अभाव (Lack of Double Coincidence)— विनिमय अदला-बदली द्वारा करने मे सबसे बड़ी कठिनाई इस बात में होती है कि यदि हमें किसी वस्तु-विशेष की आवश्यकता है, तब हमें न केवल ऐसा व्यक्ति ढूंढना होता है जो उस वस्तु को देने के लिए तैयार हो वरन् वह व्यक्ति ऐसा भी होना चाहिए कि उसे उस चीज की भी आवश्यकता हो जिसे हम उसकी वस्तु के बदले मे देना चाहते है। यदि एक जुलाहा कपडा देकर गेहू लेना चाहता है, तब उसे अपनी गेहू की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए ऐसा व्यक्ति (या कृषक) ढूंढना होगा जो (क) गेहू देना चाहता है और (ख) गेहूं के बदले कपडा लेने के लिए तैयार है। यह स्वाभाविक ही है कि जुलाहे को ऐसे व्यक्ति की खोज मे दर-दर घूमना पड़ेगा। यह सम्भव है कि मनुष्य के प्रारम्भिक आर्थिक जीवन काल मे जब कि उसकी आवश्यकतायें बहुत कम थी तथा जबकि थोड़ी सी वस्तुओं के उत्पादन द्वारा ही उसको आवश्यकतायें सन्तुष्ट हो जाया करती थी, मनुष्य ऐसे व्यक्ति को आसानी से ढूंढ लेता होगा। परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकताओं तथा इनको सन्तुष्ट करने वाली वस्तुओं का संख्यावर्धन (Multiplication) हुआ, इस प्रकार के दुहरे संयोग में कठिनाई अनुभव होने लगी। जुलाहे को ऐसा व्यक्ति तो आसानी से मिल सकता है जो बदले में गेहूं देने के लिये तैयार है, परन्तु यह सम्भव है कि वह गेहूं के बदले कपड़ा लेने के लिए तैयार नही हो। इस दशा मे वस्तु-विनिमय प्रणाली मे अत्यधिक कठिनाई अनुभव होगी। अत. अदल-बदल प्रणाली में ऐसे दो व्यक्तियों के एक जगह मिलने में कभी-कभी कठिनाई होती है जिनकी आवश्यकतायें एवं अधिकतायें परस्पर पूरक हैं। वस्तु-विनिमय प्रणाली की यह प्रथम तथा बहुत ही महत्वपूर्ण कठिनाई है।

(ii) वस्तुओं की अविभाज्यता या विभाजन का अभाव (Lack of Divisibility of Commodities):—यह दैनिक जीवन का अनुभव है कि अनेक ऐसी वस्तुएं है जिनको टुकड़ों में बांट देने से इनके मूल्य में अथवा उपयोगिता मे बहुत कमी हो जाती है। यदि हम गाय या बकरी के टुकड़े-टुकड़े कर दें, तब मास, हड्डी व खाल आदि के रूप मे जो मूल्य प्राप्त होता है वह गाय या बकरी को बिना काटे जो मूल्य मिल सकता है उससे बहुत कम होता है। जब कभी किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की अविभाज्य वस्तु होती है, तब वस्तु-विनिमय प्रणाली में, इस वस्तु के बदले में अन्य कई वस्तुएं प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती है। मानलो, एक घोसी के पास एक गाय है जिसे देकर बदले में वह बर्तन, कपड़ा व गेहूं लेना चाहता है क्योंकि उसे ये वस्तुएं अपनी लड़की को त्यौहार पर भेजनी है। ऐसे किसी व्यक्ति का मिल जाना तो बहुत कठिन है जिसके पास उक्त तीनो वस्तुएं हो और जो गाय लेकर इन्हें बदले में देने के लिए तैयार हो। मान लो, गेहूं वाला, बर्तन वाला तथा कपडे वाला अपनी-अपनी वस्तु के बदले मे गाय लेने के लिये तैयार है, परन्तु गाय वाले के समक्ष यह समस्या है कि वह गाय के तीन टुकड़े कैसे करे क्योंकि ऐसा करने पर गाय का मूल्य बहुत कम रह जायगा। अतः ऐसी अवस्था में वस्तु-विनिमय नहीं हो सकेगा क्योंकि इस कार्य के करने

में दो असुविधायें हैं (क) दो असमान मूल्य की वस्तुओं का विनिमय किस अनुपात में किया जाय तथा (ख) मूल्य व उपयोगिता में कमी आये बिना वस्तुओं का विभाजन किस प्रकार किया जाय ?

(iii) सर्वमान्य मूल्यमापक का अभाव (Lack of Common Measure of Value) —*वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं की अदल-बदल का पारस्परिक अनुपात* निश्चित करने में कठिनाई होती है क्योंकि मूल्य निर्धारित करने का कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं होता। एक सर्वमान्य मूल्यमापक के अभाव के कारण न तो वस्तुओं का मूल्य ही मालूम होने पाता है और न वस्तुओं के मूल्य की तुलना ही सम्भव होती है। एक मन चने के बदले में कितना कपड़ा लिया या दिया जाय, इस बात की जानकारी होने पर ही वस्तु विनिमय सम्भव हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की जानकारी की ही नहीं है कि एक मन चने के बदले में कितने गज कपड़ा लिया-दिया जाय बल्कि हमें चने व कपड़े के बदले में चूँकि दसियों-बीसियों वस्तुयें लेनी देनी होती हैं इसलिये हमें दसियों-बीसियों विनिमय दरों की जानकारी रखनी होती है। इस तरह विनिमय प्रणाली में प्रत्येक मनुष्य को अनेक विनिमय दरें याद करनी पड़ती है क्योंकि कोई भी व्यक्ति केवल एक-दो वस्तुओं से सम्बन्धित विनिमय-दरें याद करके केवल एक दो आवश्यकताओं को ही सन्तुष्ट कर सकता है। यदि प्रयत्न करके इस प्रकार की सूची बना भी ली जाय जिसमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य (वस्तुओं के रूप में) अन्य दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा बताया गया हो, तब पहले तो इस प्रकार की सूची बनाना कठिन है और फिर यह इतनी बड़ी हो जायगी कि इसे याद रखने या समय-समय पर देखने में बहुत कठिनाई अनुभव होगी। हर समय यह मालूम करना कि एक मन गेहूं के बदले में हिसाब से कितना तेल, साबुन, धान, कपड़ा आदि लिया दिया जाय, एक बड़े झंझट का कार्य होगा। चूँकि वस्तुओं की विनिमय-दर मनुष्यों की इच्छा अथवा विनिमय में दोनों पक्षों की मांग की *तीव्रता द्वारा निर्धारित होगी, इसलिये इन दरों में भी बहुत अनिश्चितता रहेगी। विनिमय दर* में समय-समय पर परिवर्तन हो जाने पर सूची में उचित संशोधन करने की भी एक जटिल समस्या रहेगी। यह स्वाभाविक ही है कि इन परिस्थितियों में समय और शक्ति के नष्ट होने के अतिरिक्त वस्तुओं की अदला-बदली करने में किसी न किसी वर्ग को हानि अवश्य उठानी पड़ेगी। **अतः वस्तु-विनिमय प्रणाली में सर्वमान्य मूल्य-मापक के अभाव के कारण विभिन्न वस्तुओं [redacted] पारस्परिक मूल्य के मापने में कठिनाई होती है।**

वस्तु-विनिमय प्रणाली की उपरोक्त तीनों कठिनाइयों के कारण मनुष्य को किसी न किसी सर्वमान्य माध्यम को स्वीकार करना पड़ा। आजकल इस सर्वमान्य माध्यम को हम मुद्रा (Money) कहते हैं। इस मुद्रा के उपयोग के कारण ही उपरोक्त कठिनाइयाँ दूर होकर समाज वर्तमान आर्थिक विकास की स्थिति तक पहुँच सका है। मुद्रा के आविष्कार तथा इसके प्रयोग से *विनिमय कार्य दो भागों में उपविभाजित हो गया है—प्रथम, क्रय (Purchase)* तथा द्वितीय, विक्रय (Sale) जिससे विनिमय क्रिया पहले की तुलना [redacted] अत्यधिक सरल हो गई है। वर्तमान समाज में मुद्रा का यह ही सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।

मुद्रा (Money)

मुद्रा का उद्गम (Origin of Money)—वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर

करने के लिये शनैः शनैः यह आवश्यक समझा जाने लगा कि कोई न कोई वस्तु विनिमय के माध्यम का कार्य करने के लिये होनी चाहिये। ऐसी वस्तु की जब कभी आवश्यकता हुई, तब ही आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न समाजों में विभिन्न वस्तुओं को सफलतापूर्वक विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाया गया। जिस वस्तु का क्रय-विक्रय (*Purchase and Sale*) करने के लिये या विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) के रूप में प्रयोग होता था, उसे ही द्रव्य (Money) का नाम दिया जाता था। यह स्मरण रहे कि मुद्रा माध्यम के रूप में कब से प्रयोग में आई, यह बताना तो सम्भव नहीं है किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हजारों वर्ष पूर्व भी मुद्रा का चलन था। वैदिक काल (Vedic Age) में मुद्रा को 'निष्क', 'शतमान', 'सुवर्ण', तथा 'पाद' आदि नामों से पुकारा जाता था। प्राचीन भारत में ऋग-वेद के युग में गाय को मुद्रा के रूप में प्रयोग में लाया गया था। विभिन्न समय पर अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाया गया है। यदि शिकारी-युग (Hunting Age) में खाल व तीर का मुद्रा के रूप में उपयोग किया गया, तब पशुपालन-युग (Pastoral Age) में पशु, अनाज आदि का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ था। इस तरह इतिहास हमें बताता है कि प्राचीन काल में पशु, चमड़ा, कौड़िया, अनाज, पत्थर, तीर, मूंगे-मोती, कुछ वृक्षों के सूखे फल, भूमि के टुकड़े आदि अनेक वस्तुओं से मुद्रा का काम लिया गया था। किन्तु इन विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का माध्यम के रूप में प्रयोग करने में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ अनुभव होने लगी कि माध्यम (Medium) तथा मूल्यांकन (Measurement of Value) में लोहे व तांबे के सिक्कों का उपयोग होने लगा। शनैः शनैः इन लोहे व तांबे के सिक्कों के स्थान पर सोने व चांदी के सिक्कों का उपयोग होने लगा। सबसे पहले धातु-सिक्कों का प्रयोग किस देश में हुआ, इस सम्बन्ध में काफी खोज हुई है। कुछ विद्वानों का मत है कि धातु-सिक्कों का प्रयोग सब से पहले मिस्र (Egypt) तथा लीडिया (Lydia) में किया गया था। जब राज्यों को सिक्के बनाने के लिये धातुओं को पर्याप्त मात्रा में मिलने में कठिनाई अनुभव होने लगी, तब उन्होंने कागजी-मुद्रा (Paper Currency) का चलन आरम्भ किया। आरम्भ में यह कागजी मुद्रा धातु-मुद्रा में पूर्णतया परिवर्तनशील (Convertible) थी। शक्तिशाली तथा विश्वसनीय *राज्यों की स्थापना, बैंकिंग प्रणाली के विकास तथा अर्थ-व्यवस्था के संगठित* हो जाने पर चैक्स (Cheques), हुंडिया (Hundies) आदि अनेक प्रकार के साख-पत्रों (Credit Instruments) का उपयोग होने लगा और आज जर्मनी, इंग्लैंड तथा अमेरिका जैसे प्रगतिशील देशों में चैक आदि का कागजी करेन्सी (Paper Currency) की अपेक्षा में कहीं अधिक ज्यादा उपयोग होता है।

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)

प्राक्कथन :—अंग्रेजी भाषा का Money शब्द जिसके लिये हिन्दी में 'मुद्रा' शब्द है, लेटिन भाषा के (Moneta) शब्द से बना है। देवी जूनो (Goddess Juno) का गुण का नाम मोनिटा (Moneta) है। इटली की प्राचीन कथाओं के अनुसार देवी जूना स्वर्ग की रानी का नाम है। इसलिये कुछ व्यक्तियों ने मुद्रा को स्वर्गीय आनन्द का प्रतीक माना है। सम्भव है प्राचीन काल में इसी कारण जूनो देवी के मन्दिर में मुद्रा के बनाने का कार्य किया

जाता था। इसीलिये जूनो देवी के मन्दिर की टकसाल में जो मुद्रा बनाई जाती थी, उसका नाम Moneta (या मुद्रा) रक्खा गया। कुछ लेखकों ने Money शब्द को लेटिन भाषा के शब्द Pecunia से सम्बन्धित किया है। Pecunia शब्द Pecus शब्द से बना है और Pecus शब्द का अर्थ पशु-सम्पत्ति (Cattle) है। चूँकि प्राचीन काल में लगभग सब ही देशों में पशुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग में लाया गया था और रोम (Rome) में भी ऐसा ही हुआ था, इसलिये मुद्रा और पशु का एक ही अर्थ लगाया गया। अतः यह स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल के सम्बन्ध में भी काफी मतभेद है।

मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से दी है। इसका कारण स्पष्ट है। जब कभी एक से अधिक अर्थशास्त्री किसी सम्बन्ध में अपना मत देते हैं, तब उनका एक मत होना प्रायः असम्भव होता है और हरएक अर्थशास्त्री अपना ही दृष्टिकोण सामने रखता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बारबरा वूटन (Barbara Wootten) ने ठीक ही कहा है कि 'जब कभी छः अर्थशास्त्री एकत्रित होते हैं, तब व सात अलग-अलग मत देते हैं।' अर्थशास्त्रियों के विचारों की विभिन्नता के कारण ही कीन्स (Keynes) ने कहा है कि 'इस विज्ञान ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट लिया है।' इस तरह वूटन तथा कीन्स दोनों ने ही कहा जब कभी अर्थशास्त्र में किसी स्थान पर एक से अधिक परिभाषायें एकत्रित हो जाती हैं, तब इन्हें पढ़कर प्रमुख विषय की प्रकृति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निश्चय कर लेना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जाता है। मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद और प्रायः इतना अधिक शब्दों का हेर-फेर है कि एक साधारण व्यक्ति मुद्रा की उचित परिभाषा को जान लेने के सम्बन्ध में उलझन में पड़ जाता है।

मुद्रा की परिभाषायें (Definitions of Money)—अभी तक मुद्रा की जितनी भी परिभाषायें दी गई हैं, उन सबमें अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किये हैं। मुद्रा की परिभाषाओं का वर्गीकरण दो मुख्य आधार पर किया जाता है—प्रथम, अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार तथा द्वितीय परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार।

अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार परिभाषाओं का वर्गीकरण

(अ) अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार मुद्रा की परिभाषा — विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई मुद्रा की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि ये अर्थशास्त्री दो सीमाओं—सकोणभाव (Narrow Sense) और अति उदारभाव (Wider Sense) के बीच में घड़ी के लम्बक (Pendulum) की तरह डोल रहे हैं। एक तरफ तो ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो मुद्रा की परिभाषा में केवल धातुगत मुद्रा (Metallic Money) को ही सम्मिलित करते हैं और इसके विपरीत दूसरी ओर ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो सभी प्रकार के विनिमय के माध्यम को अथवा सभी प्रकार के हस्तान्तरित होने वाले साख-पत्रों (Credit Instruments) को जैसे—चैक, हुन्डी, बिल आफ ऐक्सचेंज, बैंक ड्राफ्ट आदि, मुद्रा के अन्तर्गत रखते हैं। इन दोनों अन्तिम मतों के बीच में वे अर्थशास्त्री हैं जो केवल धातु-मुद्रा और कानूनी ग्राह्य कागजी मुद्रा को ही 'मुद्रा' मानते हैं। इस तरह मुद्रा की परिभाषा के विषय में तीन विचारधारायें मिलती हैं—

(i) मुद्रा को संकीर्णभाव से दी गई परिभाषा (Definition of Money given with a narrow sense of the term):—इस वर्ग मे रोबर्टसन (Robertson) जैसे अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएँ आती है। रोबर्टसन के अनुसार "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो उस वस्तु को ओर संकेत करती है जो वस्तुओं के मूल्य के भुगतानों में अथवा दूसरे व्यापारिक दायित्वों को निपटाने में विस्तृत रूप से ग्रहण की जा सकती है।"[1] चूँकि सोने-चांदी की मुद्रा ही "विस्तृत रूप से ग्रहण की जा सकती है", इसलिए रोबर्टसन द्वारा दी गई मुद्रा की परिभाषा ही उपरोक्त पहले वर्ग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु यह परिभाषा द्रव्य के केवल एक ही कार्य—'वस्तुओं और सेवाओं के बदले में सर्वमान्यता के गुण' तक ही सीमित है और यह द्रव्य के अन्य कार्यों की ओर सकेत नहीं करती है, इसलिए यह परिभाषा अधूरी है।

(ii) मुद्रा को अति उदारभाव से दी गई परिभाषा (Definition of Money given with a broad sense of the term)–इस वर्ग मे हार्टले विदर्स (Hartley Withers) जैसे अर्थशास्त्री आते है, जो हर प्रकार के विनिमय के माध्यमको मुद्रा मानते हैं। हार्टले विदर्स के मतानुसार "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है"[2] यह स्मरण रहे कि आजकल अधिकाश अमेरिकन व अंग्रेजी लेखक इसी व्याख्या का समर्थन करते है। हार्टले विदर्स ने अपनी मुद्रा की परिभाषा मे कहा है कि मुद्रा का कार्य करने वाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे मुद्रा है। यह परिभाषा सूक्ष्म तो है, परन्तु बडी सारगर्भित है इस तरह हार्टले विदर्स के अनुसार कोई भी वस्तु किसी भी रूप मे यदि वस्तुएँ व सेवाएँ खरीद सकती है, तब वह मुद्रा है, चाहे वह प्रचलित नोटो (*Currency Notes*), सिक्को (*Coins*) या बैंकों में जमा ऐसी पूँजी (*Bank Deposits*) जिस पर चैक (*Cheques*) जारी किये जा सकते हैं, के रूप में ही क्यों न हो। मुद्रा की यह परिभाषा बहुत ही विस्तृत प्रकार के विनिमय के साधनों को मुद्रा मानती है और साथ ही साथ यह ऐसे भी साधनों को द्रव्य मानती है जिनके चलन का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत न केवल धातु मुद्रा (Metallic Money) ही है वरन् बैंक नोट जैसी पत्र-मुद्रा (Paper Currency) और चैक, हुन्डी, बिल ऑफ एक्सचेंज तथा ड्राफ्ट जैसे साख-पत्र (Credit Instruments) भी सम्मिलित हैं।

(iii) उचित परिभाषा:—कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा न तो संकीर्णभाव (Narrow Sense) से दी है और न अति उदार भाव (Wider Sense) से ही दी है वरन् इन्होंने इन दोनों अन्तिम विचारों के बीच का विचार (Middle Point of View) अपनाया है। इसमें ऐली (Ely) तथा मार्शल (Marshall) जैसे अर्थशास्त्री आते है। प्रो० ऐली (Ely) का मत है "मुद्रा ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो सामान्य रूप से ऋणों के अन्तिम

1—"A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations"—Robertson, *Money* P. 2.

2—"Money is what money does"-Hartley Withers, *The Meaning of Money*.

भुगतान में स्वीकार होती है।"[1] इसी प्रकार प्रो॰ मार्शल (Marshall) ने कहा है "मुद्रा में वे सब वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो (किसी विशेष समय अथवा स्थान पर) बिना सन्देह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने तथा खर्चा चुकाने के साधन के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती हैं।"[2] चूँकि चैक, हुन्डी, बिल ग्राफ एक्सचेज आदि का न तो 'स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण" होता है और न ये "बिना सन्देह अथवा विशेष जाँच" के ही स्वीकार किये जाते हैं, इसलिए प्रो॰ ऐली अथवा प्रो॰ मार्शल की परिभाषा के अनुसार उक्त साख पत्रों को मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार उनका वर्गीकरण

(आ) परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार मुद्रा की परिभाषाओं का वर्गीकरण — परिभाषाओं की प्रकृति के आधार पर मुद्रा की परिभाषाओं के तीन वर्ग सम्भव हैं—प्रथम, वैधानिक परिभाषाएँ, द्वितीय, वर्णात्मक परिभाषाएँ तथा तृतीय, मुद्रा की सर्वग्रहणीयता पर आधारित परिभाषाएँ।

(1) मुद्रा की कुछ वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions) —इस वर्ग में उन परिभाषाओं को सम्मिलित किया जाता है जो मुद्रा के राज्य सिद्धान्त (State Theory of Money) पर आधारित हैं।[3] इसलिए इस वर्ग में सम्मिलित परिभाषाओं को हम वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions) कहते हैं। जर्मन अर्थशास्त्री नैप (Knapp) तथा इङ्गलिश अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawtrey) जैसे अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से दी है। नैप (Knapp) के अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा हो जाती है।[4] यह सर्व विदित है कि आधुनिक युग में मुद्रा का प्रचलन सरकार द्वारा किया जाता है और जो वस्तुएँ सरकार द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती हैं, वे ही मुद्रा के रूप में चलती रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं को कानूनन स्वीकार करना पड़ता है और जो व्यक्ति उक्त वस्तुओं को मुद्रा के रूप में लेने के लिए तैयार नहीं होता, उन्हें राज्य दण्ड देता है। यही कारण है कि आजकल प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रचलन पाया जाता है कि यदि सरकार उनको मुद्रा घोषित नहीं करती अथवा उनके पीछे कानूनी दबाव नहीं होता, तब कोई भी व्यक्ति उन्हें स्वीकार नहीं

1—"Money is anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts"—Ely, *Elementary Principles of Economics*

2—"All those things which are (at any time and place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses are included in the definition of money"—Marshall, *Money Credit, Commerce* P 13.

3—मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा वही वस्तु हो सकती है जो राज्य की ओर से ऋण चुकाने का साधन घोषित कर दी जाती है। राज्य की दृष्टि से आर्थिक सम्बन्धों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध ऋण-भुगतान का है।

4—The State Theory of Money by Lucas and Bonar (An English Translation of Knapp)

करता। उदाहरण के लिये, जब कभी सरकार पत्र-मुद्रा की कानूनी-ग्राह्यता (Legal Tender) समाप्त कर देती है अथवा जब सरकार कागज के नोटों का विमुद्रीकरण (*Demonetisation*) कर देती है और इनके पीछे से वैधानिक दबाव हटा लेती है, तब उन्हें कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है। इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा में सर्वग्राह्यता सरकारी दबाव एवं कानून के कारण है, न कि उसकी अपनी निजी शक्ति अथवा गुणों के कारण है।

वैधानिक ही नहीं वरन् व्यवहारिक दृष्टिकोण से भी नैप (Knapp) की मुद्रा की परिभाषा सही प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यह परिभाषा इतनी ठीक नहीं है। इसमें दो दोष मुख्यतः पाये जाते हैं —(क) स्वयं नैप के देश जर्मनी में ही असाधारण परिस्थितियों में इस परिभाषा का दोष प्रकट हो गया था। प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् जर्मनी में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार (Inflation) हो गया था। मुद्रा-प्रसार की परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण जनता का मुद्रा पर से विश्वास हट गया था। फलतः जनता ने कागज के नोटों को स्वीकार करना बन्द कर दिया था और लगभग सभी विनिमय-कार्य वस्तु-विनिमय (Barter) प्रणाली द्वारा किये जाने लगे थे। सरकार ने जनता का नोटों में विश्वास बनाये रखने के लिए कितने ही कड़े-कड़े नियम बनाये, मुद्रा स्वीकार नहीं करने वाले को मृत्यु-दंड तक रक्खा, परन्तु फिर भी जनता का मुद्रा में विश्वास नहीं रह सका। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि राज्य की समस्त शक्ति नोटों के पीछे रहने पर भी, सरकार द्वारा घोषित मुद्रा, जनता का इसमें से विश्वास हट जाने के कारण, प्रचलन में नहीं रह सकी। इसलिए मुद्रा की स्वीकृति सरकारी घोषणा अथवा शक्ति पर नहीं वरन् जनता के विश्वास पर निर्भर रहती है और सरकार द्वारा घोषित वस्तु मुद्रा के रूप में उसी समय तक चल सकती है, जब तक कि जनता का उसमें विश्वास होता है। अतः नैप (Knapp) का दृष्टिकोण ठीक नहीं है और इस कारण उसके द्वारा दी गई मुद्रा की परिभाषा भी ठीक नहीं है। (ख) नैप की मुद्रा की परिभाषा में एक दोष और पाया जाता है। अर्थशास्त्र में विनिमय की परिभाषा से स्पष्ट है कि केवल ऐसे हस्तान्तरण के कार्यों को विनिमय कहते हैं जो स्वतन्त्र (Free) तथा ऐच्छिक (Voluntary) होते हैं। आलोचकों का मत है कि यदि मुद्रा की स्वीकृति सरकार द्वारा अनिवार्य घोषित कर दी जाती है, तब इसमें विनिमय कार्य स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक नहीं रह जाता। इसीलिए आलोचकों ने कहा है कि नैप(Knapp) की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ठीक नहीं है।

हाट्रे (Hawtrey) ने अपनी मुद्रा की परिभाषा को नैप (Knapp) की परिभाषा के दोषों को ध्यान में रखते हुए, सुधारने का प्रयत्न किया है। उन्होंने मुद्रा को कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) तथा साथ ही साथ हिसाब की इकाई (Unit of Account) माना है। इस तरह उन्होंने नैप के दृष्टिकोण से मुद्रा द्वारा क्रय-शक्ति के रूप में किये जाने वाले कार्यों को भी जोड़ दिया है जिससे उनकी परिभाषा नैप (Knapp) की परिभाषा से अच्छी हो जाती है।

(ii) मुद्रा की वर्णनात्मक परिभाषाएं (Descriptive definitions of Money)— इस वर्ग में वे परिभाषाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो परिभाषा के स्थान पर मुद्रा के कार्यों

के वर्णन (Description) पर अधिक महत्व देती हैं। इस तरह ये परिभाषायें यह तो नही बताती कि मुद्रा क्या है बल्कि ये मुद्रा की विशेषताओं एवं कार्यों का वर्णन करती हैं। इस वर्ग में हार्टले विदर्स (Hartley Withers), टामस (Thomas) तथा सिजविक (Sidgwick) जैसे अर्थशास्त्रियों की परिभाषायें आती हैं। (क) हार्टले विदर्स (Hartley Withers) की परिभाषा के सम्बन्ध मे ऊपर विस्तार से लिखा जा चुका है —"मुद्रा वही है, जो मुद्रा का कार्य करती है।" विदर्स ने मुद्रा के चार कार्य बताये हैं—विनिमय का माध्यम, वस्तुओं का मूल्य मापन, मूल्य का संचय तथा विलम्बित भुगतान का मान। (ख) टॉमस (Thomas) के शब्दो मे "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो मूल्य मापक तथा अन्य वस्तुओं के बीच विनिमय माध्यम का कार्य करने के लिए एकमत होकर चुन ली जाती है।"*

किसी वस्तु के वर्णन (Description) तथा उसकी परिभाषा (Definition) में बहुत अन्तर होता है। जब हम किसी वस्तु के गुणो अथवा कार्यों का उल्लेख करते हैं, तब यह उस वस्तु का वर्णन होता है न कि उस वस्तु की परिभाषा। इसके विपरीत किसी वस्तु की परिभाषा मे उस वस्तु के वर्ग (Genus) तथा विशेषक अन्तर (Differentia) का उल्लेख होना चाहिए और तब हम वस्तु के इस प्रकार के उल्लेख का वर्णन नही बल्कि परिभाषा कहते हैं। वर्णात्मक परिभाषायें बहुत सरल होती हैं तथा व्यवहारिक जीवन म बहुत उपयोगी भी होती हैं। परन्तु तर्क की कसौटी पर ये बेकार सिद्ध होती हैं क्योंकि इन मे केवल वस्तु के गुणो एव कार्यों का ही वर्णन होता है, न कि उनकी परिभाषा का। कारण है कि तर्क की कसौटी पर विदर्स, टामस तथा सिजविक आदि अर्थशास्त्रियो की यही मुद्रा की परिभाषायें उपयुक्त नही उतरती हैं।

(iii) *मुद्रा की सर्वग्रहणीयता पर आधारित परिभाषायें* (Definitions based on the General Acceptability of Money) –इस वर्ग मे वे परिभाषायें सम्मिलित हैं जो मुद्रा की सामान्य स्वीकृति पर आधारित हैं। यद्यपि इनमें भी आपस मे काफी अन्तर पाया जाता है, परन्तु इन सब का आधार एक ही है—सामान्य स्वीकृति। इस वर्ग म मार्शल, राबर्टसन, वाकर, सैलिगमैन, क्राउथर, कोल, कीन्स, कैन्ट आदि अर्थशास्त्रियो की परिभाषायें आती हैं। मार्शल व रोबर्टसन की परिभाषाओ का उल्लेख ऊपर विस्तार से किया जा चुका है। नीचे उक्त वर्ग की अन्य कुछ मुख्य परिभाषाओ का वर्णन किया गया है—

(क) वाकर (Walker) का मत है, "मुद्रा वह है जो वस्तुओं के पूर्णरूप से मूल्य चुकाने और ऋणों का अन्तिम भुगतान करने मे स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तांतरित होती रहती है, जो भुगतान करने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा उसकी साख का पता लगाये बिना ही स्वीकार कर ली जाती है और जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है उसका ऐसा इरादा नहीं होता

*—"Money is a commodity chosen by common consent to be a measure of value and a means of exchange between all other commodities"—S E Thomas *Elements of Economics*, Chap XXIII

कि यह इसका स्वयं उपभोग अथवा उपयोग करेगा वरन् वह किसी न किसी समय उसे विनिमय द्वारा हस्तान्तरित कर देता है।"[1]

वाकर की मुद्रा की यह परिभाषा बहुत ही उचित है। उसके मतानुसार भी मुद्रा की परिभाषा के अन्तर्गत चैक्स (Cheques), हुन्डियाँ (Hundies) तथा अन्य साख-पत्र (Credit Instruments) नहीं आते क्योंकि इनको बिना इनके देने वाले की साख (Credit) की जांच किये या बिना इस व्यक्ति की जानकारी के कोई भी व्यक्ति ऋण के सम्पूर्ण भुगतान में या वस्तुओं के मूल्य के भुगतान मे स्वीकार नहीं करता है। चूँकि चैक्स जैसे साख-पत्रों मे सर्वग्राह्यता नहीं होती और मुद्रा का एक विशेष लक्षण अनिर्बन्ध सर्वग्राह्यता है, इसलिये चैक आदि साख-पत्रों को मुद्रा की परिभाषा के अन्तर्गत नही रक्खा जाता है।

(ख) किनले (Kinley) ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है, "विनिमय के माध्यम के उस भाग को हम द्रव्य कह सकते हैं, जो विनिमय के रूप में चलन में बिना किसी ऐसी शर्त के स्वीकार कर ली जाती हो जिससे देने वाले की जिम्मेवारी उस हालत में प्रकट हो जब कि उसे कोई स्वीकार करने से इन्कार कर दे।[2] दूसरे शब्दों में, "विनिमय के माध्यम का वह भाग, जो बिना किसी शर्त के चलन में विनिमय के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, द्रव्य है।"

किनले की इस परिभाषा से भी स्पष्ट है कि चैक आदि साख-पत्र मुद्रा के अन्तर्गत नहीं है क्योंकि ये बिना किसी शर्त के स्वीकार नही किये जा सकते है। चैक लेने वाला चैक इस शर्त पर स्वीकार करता है कि यदि बैंक से उक्त चैक का रुपया नही मिल सका, तब चैक देने वाला ऋण या भुगतान करने के दायित्व से मुक्त नही माना जायगा। चूँकि साख-पत्रो मे इस प्रकार की शर्तें होती है, इसलिये किनले ने इन्हे मुद्रा के अन्तर्गत नही रक्खा है।

(ग) कोल (Cole) का विचार है, "मुद्रा क्रय-शक्ति है—कोई भी वस्तु जिससे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकें।"[3] उन्होने 'द्रव्य' और 'क्रय-शक्ति' को पर्यायवाची शब्द माने हैं। ताकि मुद्रा के अन्तर्गत हुन्डी, बिल ऑफ एक्सचेंज जैसे साख-पत्र सम्मिलित नही किये जा सके, कोल (Cole) ने यह भी कहा है कि "हमें मुद्रा की विचारधारा में से चैक तथा हुन्डियों को बहिष्कृत करना पड़ेगा।[4]

कोल ने चैक्स व बिल्स ऑफ एक्सचेंज को इस कारण मुद्रा नही माना है क्योंकि उनकी सम्मति में ये साख-पत्र केवल एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर किसी रकम के दावे

1—"Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of person tendering it, and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it then by passing it on, sooner or latter, in exchange"—Walker.

2—"*We may limit the term money to that part of the medium of exchange which passes generally in current exchange and settlements of debts, without making the discharge of obligations contingent on the action of a third party or on the action of the payer by promising redemption if the money article does not pass*"—Kinley. *Money.*

3—"Money is purchasing power......something which buys things"—G. D. H. Cole, *What everybody wants to know about Money*, P. 21

4—"It is most expedient to exclude Bills of Exchange as well as Cheques from our conception of Money."—G. D. H. Cole.

(Claims) को प्रकट करते हैं और दावा (Claim) द्रव्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इन साख-पत्रों को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करने के लिये भी तैयार नहीं होता है। अतः कोल (Cole) के अनुसार हम मुद्रा के अन्तर्गत केवल धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा ही रखते हैं, साख-मुद्रा इसके अन्तर्गत नहीं रखी जाती है।

(घ) क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "कोई वस्तु जो विनिमय के साधन के रूप में सामान्यत सर्वग्राह्य हो तथा उसी समय मूल्य-मापन एवं मूल्य-संचय का कार्य करती हो, मुद्रा है।"[1]

(न) सेलिगमैन (Seligman) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वग्राह्यता प्राप्त हो।"[2]

(त) कीन्स (Keynes) का विचार भी इसी प्रकार का है। उनका मत है कि "मुद्रा वह है जिसको देकर ऋण-करारों (Debt Contracts) तथा मूल्य-करारों (Price Contracts) का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है।"[3]

निष्कर्ष (Conclusion)—मुद्रा की उक्तलिखित परिभाषाओं से मुद्रा के समस्त गुणों का ज्ञान हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि "सामान्य स्वीकृति" मुद्रा का एक विशेष गुण है। मुद्रा के समस्त गुणों के आधार पर इसकी एक सरल परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"कोई भी वस्तु जो विनिमय के माध्यम, मूल्य का सामान्य माप, ऋण के भविष्य के भुगतान का मापदण्ड, अर्थ के संचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र, विस्तृत तथा सामान्यतया सर्वग्राह्य हो, द्रव्य कहलाता है।" इस प्रकार वस्तु का रूप कुछ भी हो सकता है और वास्तविकता भी यही है कि विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न कालों में अलग-अलग वस्तुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ भी है। यह स्मरण रहे कि वे बैंक नोट, साख-पत्र (Credit Instruments) तथा प्रतिभूतियाँ (Securities) जिन्हें किसी क्षेत्र में सामान्य स्वीकृति (General Acceptability) का गुण प्राप्त होता है, उस क्षेत्र में वे भी मुद्रा ही हैं।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

मुद्रा के कार्य (Medium of Exchange)—मुद्रा की उपर्युक्त परिभाषाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा का कार्य केवल विनिमय माध्यम (Medium of Exchange) का ही है क्योंकि उक्त तमाम परिभाषाओं ने मुद्रा के विनिमय-माध्यम तथा सर्वग्राह्यता के गुणों पर ही विशेषत बल डाला है। परन्तु विनिमय-माध्यम के अतिरिक्त मुद्रा के अन्य अनेक कार्य भी हैं जिनको जान लेने पर ही हम मुद्रा की प्रकृति एवं स्वरूप का उचित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अर्थशास्त्र में साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों पर ही

1—Anything that is generally acceptable as a means of exchange and at the same time acts as a measure and as a store of value is called money—Crowther *An Outline of Money*. P. 26.

2—"Money is one thing that possesses general acceptabilty"—Seligman

3—"Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held"—Keynes, *A Treatise on Money*, I Vol.

अधिक बल डाला गया है--विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित-भुगतान का मान तथा अर्थ का संचय।* परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के इन चार कार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य भी बताये है। प्रायः लेखकों ने मुद्रा के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है:—(अ) मुख्य कार्य, (आ) सहायक कार्य तथा (इ) आकस्मिक कार्य।

(अ) मुख्य कार्य (Primary Functions).—मुद्रा के इन मुख्य कार्यों को कभी-कभी मुद्रा के मौलिक कार्य (Original Functions) या अत्यावश्यक कार्य (Essential Functions) कहा जाता है क्योंकि ये ऐसे कार्य है जिन्हें मुद्रा ने आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में किया है। मुद्रा के मुख्य कार्यों को दो भागों में उपविभाजित किया जाता है---(i) विनिमय माध्यम तथा (ii) मूल्य-मापन का साधन।

मुद्रा के प्रमुख कार्य हैं:—

(अ) मुख्य कार्य —
१. मुद्रा विनिमय का माध्यम है।
२. मुद्रा मूल्यमापन का साधन है।
(आ) सहायक कार्य —
३. विलम्बित भुगतान का मान।
४. क्रय-शक्ति का संचय।
५ अर्घ के हस्तान्तरित तथा स्थानान्तरित करने का साधन।
(इ) आकस्मिक कार्य —
६. मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है।
७. मुद्रा सामाजिक आय के वितरण में सुलभता लाती है।
८ मुद्रा उपभोक्ता को सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में सहायक होती है।
९. मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को एक सामान्य मूल्य प्रदान करती है।
(ई) अन्य कार्य —
१०. मुद्रा शोधनक्षमता को बनाये रखने में सहायक होती है।
११. मुद्रा निर्णय का वाहक है।

(i) मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है (Money is a Medium of Exchange):–विनिमय माध्यम के रूप में कार्य, द्रव्य का प्रधान व प्रमुख कार्य है क्योंकि आर्थिक जीवन विनिमय पर ही आधारित है। मुद्रा में सर्वग्राह्यता का गुण होने के कारण, यह विनिमय-कार्य में सुगमता लाती है। वस्तु विनिमय (Barter) प्रणाली में वस्तुओं का आदान-प्रदान तब ही सम्भव है जब कि दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं में दुहरा संयोग (Double Coincidence) होता है, परन्तु इस प्रकार के संयोग के कारण वस्तु-विनिमय प्रणाली में कठिनाइयां अनुभव होती है। परन्तु मुद्रा के उपयोग से अदला-बदली की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। चूँकि द्रव्य-विनिमय प्रणाली में सब प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य द्रव्य में व्यक्त किया जाता है, इसलिये द्रव्य के प्रयोग से विनिमय-कार्य दो भागों में विभक्त हो जाता है। पहले वस्तु या सेवा को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जाती है जिसे विक्रय (Sale) कहते है और तदुपरान्त

*—Money is a matter of functions four,
A medium, A measure, A Standard and a Store.
मुद्रा के हैं कार्य चार,
माध्यम, मापक, संचय और आधार।

प्राप्त हुई मुद्रा से अपनी आवश्यकता की वस्तुयें प्राप्त की जाती हैं जिसे क्रय (Purchase) कहते हैं। इस तरह वस्तु को सीधे वस्तु से न बदलकर, पहले वस्तु से द्रव्य का और फिर द्रव्य का वस्तु से बदला करते हैं। यद्यपि अन्तत अब भी वस्तु का वस्तु से अदला-बदला होता है, परन्तु यह द्रव्य के द्वारा (Through Money) होता है अर्थात् इस प्रकार के विनिमय मे द्रव्य एक मध्यस्थ (Intermediary) का कार्य करता है जिससे द्रव्य विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) हो जाता है। यह स्मरण रहे कि विनिमय मे अब व्यक्ति को एक ऐसे आदमी को ढूंढने की आवश्यकता नही होती जिसे उसकी वस्तु की आवश्यकता हो। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है कि द्रव्य सर्वमान्य वस्तु है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु व सेवा के बदले मे मुद्रा को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेता। क्योंकि वह समझता है कि मुद्रा में क्रय-शक्ति (Purchasing Power) है और वह भी इस से आवश्यकता पड़न पर अपनी आवश्यकता की वस्तुयें खरीद सकेगा। (ii) मुद्रा मूल्यमापन का साधन है (Money is a Measurement of Value)—चूंकि मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है, इसलिये मुद्रा के अन्य कार्य भी होते हैं। विनिमय करने के लिये हमे वस्तु की विनिमय-शक्ति (Value) का निर्णय करना बहुत आवश्यक होता है। चूंकि द्रव्य विनिमय मे प्रत्येक वस्तु का विनिमय द्रव्य से होता है, इसलिये वस्तुओ की विनिमय शक्ति द्रव्य द्वारा ही निर्धारित होती है जिसे हम वस्तु का मूल्य (Price) कहते हैं। अत द्रव्य का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सब वस्तुओ के मूल्य को आंकने का है अर्थात् सब वस्तुओं का मूल्य द्रव्य में ही व्यक्त किया जाता है। यह स्मरण रहे कि वस्तु विनिमय (Barter) की एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह थी कि विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओं के बीच विनिमय-अनुपात किस प्रकार निर्धारित किया जाय क्योंकि वस्तु विनिमय प्रणाली मे सर्वमान्य मूल्य मापक का अभाव (Lack of Measurements of Value) होता है। परन्तु द्रव्य विनिमय प्रणाली में चूंकि प्रत्येक वस्तु व सेवा का मूल्य द्रव्य मे व्यक्त किया जाता है, इसलिये वस्तु विनिमय की प्रमुख कठिनाई स्वत ही दूर हो जाती है। अत मुद्रा मूल्य-मापन का कार्य करती है और कीमत को नापकर यह वस्तुओ और सेवाओ के बीच विनिमय अनुपात निर्धारित करती है।

द्रव्य के विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान के कार्यों में सम्बन्ध

मुद्रा के विनिमय माध्यम (Medium of Exchange) तथा मूल्यमान (Standard of Value) के कार्यों के सम्बन्ध म दो बातें स्मरणीय है—

(i) द्रव्य द्वारा मूल्यमान तथा विनिमय-माध्यम के कार्य अधिकाश दशाओं में साथ ही साथ सम्पन्न किये जाते हैं और कुछ दशाओं में द्रव्य केवल मूल्यमान का ही कार्य करता है, यह विनिमय माध्यम का कार्य नहीं करता—मुद्रा के विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान कार्यों मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि अक्सर यह कहना कठिन हो जाता है कि एक कार्य कहाँ पर समाप्त हुआ और दूसरा कार्य कहाँ पर आरम्भ हुआ। जब तक वस्तुओ का मूल्यांकन द्रव्य म नहीं हो जाता, द्रव्य का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप म नहीं किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान समाज मे किसी समय पर मुद्रा द्वारा मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम का कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो

कार्य साथ ही साथ किये जा रहे हैं और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये दोनों कार्य साथ ही साथ सम्पन्न होते हैं। परन्तु वर्तमान आर्थिक समाज में कई बार ऐसा भी होता है कि मुद्रा का मूल्यमान के रूप में तो उपयोग होता है परन्तु इसका साथ ही साथ विनिमय-माध्यम के रूप में उपयोग नहीं किया जाता। तब ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि मुद्रा द्वारा मूल्यमान तथा विनिमय-माध्यम के कार्य साथ ही साथ सम्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिये, एक व्यवसायी अपने व्यवसाय का लेखा-जोखा बनाते समय मकान, भूमि, मशीन, फर्नीचर तथा अन्य वस्तुओं का मूल्य द्रव्य के रूप मे आकता तो है (इस तरह द्रव्य ने यहाँ मूल्य-मान का कार्य किया), परन्तु उसका इनको बेचने का तनिक भी इरादा नहीं होता है और वास्तव में वह इन्हें बेचता भी नहीं है (इस तरह द्रव्य ने यहा विनिमय माध्यम का कार्य नहीं किया है)। इस उदाहरण मे द्रव्य ने केवल लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप मे कार्य किया है, विनिमय-माध्यम के रूप में इसका उपयोग नहीं किया गया है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि वर्तमान आर्थिक संगठन में अधिकांश दशाओं में द्रव्य द्वारा मूल्यमान तथा विनिमय-मान के दोनों कार्य साथ ही साथ सम्पन्न किये जाते हैं, परन्तु ऐसी भी अनेक परिस्थितियां होती हैं जिनमें द्रव्य केवल मूल्यमान का ही कार्य करता है और इससे विनिमय-माध्यम का कार्य नहीं लिया जाता।

(ii) विनिमय-माध्यम के द्रव्य तथा मूल्यमान के द्रव्य में भिन्नता हो सकती है— विभिन्न देशों की मुद्रा के इतिहास का अध्ययन करने पर हमे अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी एक देश मे यदि किसी एक वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप मे उपयोग में लाया गया है तब उसी देश मे मूल्यमान के लिये किसी दूसरी वस्तु का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, जर्मनी (Germany) मे सन् १९२३ मे दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान का कार्य कर रही थी। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार (Inflation) के कारण वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया था जिससे जर्मन मार्क (Mark) का मूल्य निरन्तर कम होता जा रहा था। चूंकि जर्मन मार्क के मूल्य मे स्थिरता (Stability) नहीं थी, इसलिये प्रसंवदे (Contracts) अमेरिकन डालर (Dollar) या स्विस फ्रैंक (Swiss Franc) में किये जाते थे (क्योंकि डालर तथा फ्रैंक के मूल्य मे स्थिरता थी), परन्तु भुगतान (Payment) जर्मन मार्क मे ही किया जाता था। इस तरह चलन की इकाई (Unit of Currency) या विनिमय माध्यम की वस्तु मार्क (Mark) थी, परन्तु लेखे की इकाई (Unit of Account) या मूल्याकन की वस्तु अमेरिकन डालर (Dollar) या स्विस फ्रैंक (Swiss Franc) थी। इसी तरह अमेरिका मे सन् १९३३ तक मूल्यमान की इकाई तो स्वर्ण डालर (Gold Dollar) था, परन्तु विनिमय-माध्यम की इकाई पत्र-मुद्रा, चांदी या गिलट या तांबे के सिक्के थे। अतः दो भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्रायें विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान के रूप में उपयोग में लाई जा सकती हैं परन्तु यह तब ही सम्भव होता है जबकि सरकार द्वारा दोनों मुद्राओं की विनिमय-दर कायम रखी जाती है।

(आ) सहायक कार्य (Secondary Functions)—इनके अन्तर्गत द्रव्य के मुख्य कार्यों से कम महत्व के कार्य आते हैं। ये ऐसे कार्य हैं जो समाज की आर्थिक उन्नति के साथ ही साथ दिखाई देते हैं अर्थात् द्रव्य द्वारा ये कार्य उसी अवस्था मे सम्पन्न किये जाते हैं जब-

कि समाज का एक अंश तक आर्थिक विकास हो चुकता है। चूंकि ये कार्य मुद्रा के मुख्य कार्यों से उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनको सहायक (या गौण) कार्य या कभी-कभी व्युत्पादित-कार्य (Derived Functions) कहा जाता है। द्रव्य के सहायक कार्यों को भी तीन उप-विभागो मे विभाजित किया जा सकता है—(i) विलम्बित भुगतान का मान, (ii) क्रय-शक्ति का सचय तथा (iii) अर्थ के हस्तान्तरित करने का साधन।

(i) विलम्बित भुगतान का मान (Standard of Deferred Payment)—समाज मे भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये उधार लेना-देना होता है। वस्तु विनिमय के युग मे ऋण का भुगतान तब ही सम्भव था जबकि ऋणी वही वस्तु वापिस देता था जो ऋण-दाता को मान्य थी। परन्तु आज ऋणदाता ऋण के भुगतान में ऋणी से द्रव्य को स्वीकार कर लेता है क्योंकि द्रव्य सर्वमान्य तथा सर्वग्राह्य है, इसमे क्रय शक्ति है और वह द्रव्य के उपयोग से अपनी आवश्यकता की तमाम वस्तुयें खरीद सकता है। इस तरह द्रव्य ने भविष्यकालीन लेन-देनो के भुगतान का कार्य बहुत ही सुगम व सरल कर दिया है। द्रव्य के इस कार्य की महत्ता वर्तमान युग मे तो बहुत ही अधिक हो गई है क्योंकि आधुनिक व्यापारिक सगठन मे लेन-देन तथा साख का बहुत महत्व है। चूंकि वस्तुओ का मूल्य द्रव्य मे व्यक्त किया जाता है, द्रव्य के मूल्य मे अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व रहता है। अन्य वस्तुओ की अपेक्षा इनमे टिकाऊपन भी अधिक होता है तथा यह स्थगित भुगतान का अच्छा साधन है, इसीलिये आजकल स्थगित-देय के व्यवहार भी परिमाण मे बहुत अधिक होते जा रहे हैं। अत मुद्रा का स्थगित भुगतान के रूप में कार्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे समाज में उधार लेने-देने की व्यवस्था उत्पन्न हुई है जिससे समाज का आर्थिक विकास सम्भव हो सका है।

यह स्मरण रहे कि स्थगित भुगतान के रूप मे भी मुद्रा के कार्य मे कुछ दोष हैं। जब कभी स्वय द्रव्य के मूल्य मे भारी परिवर्तन हो जाता है, तब यह मूल्य-परिवर्तन कभी तो ऋणदाताओ के विरुद्ध और कभी ऋणियों के विरुद्ध होता है। इस दोष के कारण कभी-कभी लेन-देन के कार्यों मे कठिनाइयां अनुभव होने लगती हैं। परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस दोष को दूर करने के लिये एक सुझाव दिया है और वह यह है कि मुद्रा के स्थगित भुगतान के कार्य को अधिक लोचदार (Elastic) बना देना चाहिये अर्थात् ऋणी को उधार ली गई क्रय-शक्ति के बराबर ही मूल्य लौटाना चाहिये। इस तरह ऋणी द्वारा चुकाई जाने वाली मुद्रा की मात्रा मे मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तनों के अनुसार ही घट-बढ़ की जायगी। यदि इस सुझाव को मान लिया जाय तब स्थगित भुगतान के रूप में मुद्रा के कार्य में जो उल्लिखित दोष आ जाता है, वह भी दूर हो जायगा और लेन-देन का कार्य बहुत ही उचित ढंग से किया जाने लगेगा।

(ii) क्रय-शक्ति का सचय (Store of Purchasing Power)—जब तक द्रव्य जैसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ था, मनुष्य को बचत को सचित करना असम्भव सा ही था क्योंकि वस्तुओ के रूप म सचय करने म उनके शीघ्र नष्ट हो जाने का सदा भय बना रहता था तथा वस्तुओं का सचय करने के लिये बहुत जगह की भी आवश्यकता होती थी। तदुपरान्त जबकि पशु, पत्तियां, खाल तथा हड्डी आदि का द्रव्य के रूप मे प्रयोग होने लगा,

तब भी अर्थ संचय (Store of Value) का कोई उचित साधन नहीं था क्योंकि ये वस्तुयें भी स्वतः नष्ट होने वाली थी। परन्तु जबसे द्रव्य (धातु मुद्रा या पत्र मुद्रा) का चलन हुआ है, तब से अर्थ-संचय का एक सुलभ साधन उपलब्ध हो गया है क्योंकि मुद्रा का संचय बिना इसकी उपयोगिता के नष्ट हुये तथा सामान्यता बिना इसके मूल्य में घट-बढ़ हुये ही किया जा सकता है और द्रव्य के उपयोग से आवश्यक वस्तु हर समय खरीदी जा सकती है क्योंकि द्रव्य में क्रय-शक्ति (Purchasing Power) होती है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के माध्यम द्वारा अर्थ का संचय करने पर जगह भी बहुत कम घिरती है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा का क्रय-शक्ति के संचय के रूप में कार्य वर्तमान युग में बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। बिना बचत के संचय करे पूँजी का संचय (Accumulation of Capital) नहीं होने पाता और बिना पूँजी के संचय के देश का आर्थिक-औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास नहीं होने पाता है। वर्तमान बैंकिंग-प्रणाली की उत्पत्ति तथा इसका विकास मुद्रा के क्रय-शक्ति के संचय करने के कार्य के कारण ही सम्भव हो सका है। अतः अर्थ तथा क्रय-शक्ति को संचित करने का सबसे सरल, सुविधाजनक तथा सुरक्षित साधन द्रव्य है।

(iii) अर्थ के हस्तान्तरित तथा स्थानान्तरित करने का साधन (Means of Transfer of Value):—मुद्रा का अर्थ के हस्तान्तरित तथा स्थानान्तरित करने के साधन के रूप में कार्य भी आर्थिक जीवन के विकास के साथ ही साथ उत्पन्न हुआ है। समाज के आर्थिक विकास के साथ ही साथ शनैः शनैः विनिमय का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत होता चला गया है जिससे अर्थ या क्रय-शक्ति (Value) को दूर-दूर के स्थानों को या दूर-दूर के स्थानों से स्थानान्तरित (Transfer) करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। मुद्रा तरल (Liquid) सम्पत्ति होने के कारण, इसे बहुत आसानी से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित किया जा सकता है तथा इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को भी किसी समय आसानी से स्थानान्तरित किया जा सकता है। यही कारण है कि आजकल जब कोई व्यक्ति एक शहर छोड़ कर सदा के लिये दूसरे शहर को जाता है, तब वह अपनी सम्पत्ति को बेचकर अपने साथ मुद्रा ले जाता है और इस मुद्रा से नये शहर में नई सम्पत्ति को खरीद लेता है। परन्तु जिस समय मुद्रा जैसी कोई वस्तु नहीं थी, मनुष्य अपनी अधिकांश सम्पत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं ले जाने पाता था। इसी तरह मुद्रा के कारण अर्थ का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को भी हस्तान्तरण सम्भव हो गया है क्योंकि आजकल मुद्रा के रूप में ही तमाम लेन-देन होते हैं। आधुनिक आर्थिक समाज में मुद्रा के उक्त कार्य का भी बहुत महत्व है क्योंकि अब अर्थ के स्थानान्तर तथा हस्तान्तरित हो जाने की सम्भावना से, मनुष्य के पास पड़ी हुई फालतू क्रय-शक्ति का उत्पादन कार्यों में उपयोग सम्भव हो गया है।

(इ) प्रासंगिक कार्य (Contingent Functions):—किनले* (Kinley) नामक अर्थशास्त्री के अनुसार मुद्रा उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, उन्नत देशों में जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है, चार अन्य कार्य और करती है

*Money by Kinley, p. 65.

जिन्हे उन्होने मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा है। ये ऐसे कार्य हैं जिन्हे मुद्रा ने आर्थिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे नही किया था, परन्तु वर्तमान उन्नत देशो मे मुद्रा द्वारा ये कार्य अवश्य सम्पन्न किये जा रहे हैं। किनले के अनुसार द्रव्य के चार आकस्मिक कार्य इस प्रकार हैं—(i) मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है, (ii) मुद्रा सामाजिक आय के वितरण मे सुलभता लाती है, (iii) मुद्रा उपभोक्ता को सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने मे सहायक होती है तथा (iv) मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को उत्पादक गुण प्रदान करती है।

(i) **मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है (Money Forms the basis of Credit)**—द्रव्य साख-पत्रो (Credit Instruments) का आधार है अर्थात् साख-पत्र तथा बैंक मुद्रा (नोट) द्रव्य के आधार पर ही चलन मे आती है। वर्तमान युग मे साख-पत्रो (चैक, हुन्डी, बिल ऑफ एक्सचेंज आदि) का उपयोग मुद्रा की तरह ही होता है। चैक जैसे साख-पत्र का निर्माण किस प्रकार होता है ? जब कोई व्यक्ति किसी बैंक मे रुपया जमा कर देता है, तब वह इस खाते के आधार पर चैक जारी करता है और यह चैक एक तरह से मुद्रा के रूप मे कार्य करता है। चैक जैसे पत्रो का भुगतान करने के लिये प्रत्येक बैंक को अपने पास कुछ मुद्रा नकद-कोष मे रखनी होती है क्योंकि यदि वह माग होने पर इन पत्रो का भुगतान नही कर सके तब उसकी साख पर बुरा घातक प्रभाव पडता है और ऐसी दशा मे साख (Credit) का ही आधार समाप्त हो जाता है। अत साख मुद्रा का आधार ही बैंक मे जमा की गई मुद्रा है। इसी तरह जब बैंक पत्र-मुद्रा (Paper Money) का चलन करते हैं, तब वे इन नोटो की साख रखने के लिये अपने पास नकद-कोष (Cash Reserves) मे कुछ न कुछ मुद्रा रखते हैं ताकि माग होने पर वे नोटो के बदले मे मुद्रा दे सकें। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के अभाव मे केन्द्रीय बैंको द्वारा नोट जैसे साख-पत्रो का निर्माण नही किया जा सकता था और न साख की ही इतनी वृद्धि हो सकती थी जितनी कि वर्तमान समाज मे पाई जाती है। अत बैंकों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा जिन साख पत्रों का निर्माण किया जाता है उनका आधार ही मुद्रा होती है।

(ii) **मुद्रा सामाजिक आय के वितरण में सुलभता लाती है (Money facilitates the distribution of Social Income)**—वर्तमान आर्थिक व्यवस्था मे किसी एक वस्तु का उत्पादन अनेको व्यक्ति मिलकर करते हैं तथा इस उत्पादन मे भूमि, पूँजी एव सगठन का भी कुछ हिस्सा होना है। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक प्रणाली का आधार सामूहिक है अर्थात् उत्पत्ति व्यक्ति विशेष से न होकर अनेक व्यक्तियो तथा साधनो के सम्मिलित सहयोग से होती है। मुद्रा के अभाव मे सयुक्त-उत्पत्ति (Joint Product) का इसके उत्पन्न करने वालो मे वितरण करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य होता है; परन्तु *मुद्रा के आविष्कार से सयुक्त-उत्पत्ति अथवा सामाजिक आय (Social Income)* के वितरण मे बहुत सुगमता आ गई है। अब मुद्रा की सहायता से सयुक्त-उत्पत्ति को विभिन्न व्यक्तियों तथा साधनों में बड़ी सरलता से वितरित कर दिया जाता है क्योंकि द्रव्य के प्रयोग से सभी वस्तुओं के मूल्य को आंक लिया जाता है और तत्पश्चात् प्रत्येक

साधन को उसका उचित भाग द्रव्य के रूप में दे दिया जाता है। यह स्मरण रहे कि मुद्रा के इस प्रकार के कार्य के कारण ही उत्पादन बड़े-बड़े कारखानों में सम्भव हो सका है। अतः मुद्रा सामाजिक आय अथवा संयुक्त-उत्पत्ति के वितरण में सुलभता लाती है।

(iii) मुद्रा उपभोक्ता को सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में सहायक होती है (Money helps the consumers to attain Equi-marginal Utility)—मुद्रा के आविष्कार से उपभोक्ता को व्यय की भिन्न-भिन्न मदों से सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध हो गई है (Consumer has the facility of the enjoyment of equal marginal utility on various items of expenditure)। मुद्रा की सहायता से ही उपभोक्ता के लिये यह सम्भव हो सका है कि वह अपना व्यय इस प्रकार करे की वह व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अधिकतम सन्तुष्टि अथवा अधिकतम उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) प्राप्त करले। इसका कारण स्पष्ट है। द्रव्य में मूल्य-मापन तथा क्रय-शक्ति होने से ही उपभोक्ता को उक्त सुविधा मिल सकी है। इसी प्रकार उत्पादक को सीमान्त उत्पादकता में समानता (Equalisation in Marginal Productivity) लाने में द्रव्य से बहुत सहायता मिलती है। द्रव्य की सहायता से ही यह सम्भव हो सका है कि उत्पादक उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को इस प्रकार उपयोग में लाये कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति बराबर करके व्यवसाय में अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि उत्पादक प्रत्येक साधन की सीमान्त उपज को मुद्रा द्वारा माप सकता है। अतः मुद्रा सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादकता में समानता लाने में बहुत सहायक होती है।

(iv) मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को एक सामान्य मूल्य प्रदान करती है (Money gives a generic value to capital)—किनले (Kinley) के अनुसार मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी को एक सामान्य मूल्य देती है क्योंकि हम पूँजी अथवा सम्पत्ति को एक तरल रूप में (Liquidity of Wealth) अर्थात् मुद्रा के रूप में रख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, धन को द्रव्य का रूप देने की सुविधा द्रव्य या मुद्रा के प्रचलन से ही सम्भव हो सकी है। इससे यह लाभ हो गया है कि हम आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी बट्टे (Discount) या हानि के तत्काल ही द्रव्य को काम में ला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्रा को इसकी तरलता के कारण ही गतिशीलता (Mobility) का भी गुण प्राप्त हो गया है। मुद्रा की इस विशेषता को ही प्रो० कीन्स (Keynes) ने द्रव्य का तरलता अधिमान (Liquidity Preference of Money) कहा है।

(उ) अन्य कार्य—मुद्रा के उपरोक्त नौ (Nine) बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य हैं। परन्तु कुछ लेखकों ने मुद्रा के दो और कार्य बताये हैं। (i) मुद्रा शोधनक्षमता बनाये रखने में सहायक होती है तथा (ii) मुद्रा निर्णय का वाहक है।

(i) मुद्रा शोधनक्षमता बनाये रखने में सहायक होती है (Money is a Guarantor of Solvency)—कोई एक व्यावसायिक फर्म दिवालिया (Insolvent) उस समय मानी जाती है जबकि वह अपने दायित्वों (Liabilities) को मुद्रा में चुकाने में

असमर्थ होती है, चाहे उस समय भी फर्म की लेन (Assets) उसकी देन (Liabilities) से बहुत अधिक क्यो न हो । जब कोई फर्म भविष्य मे भुगतान करने का वचन देती है, तब इसका अर्थ यही होता है कि उस फर्म ने भविष्य मे मुद्रा द्वारा अपने दायित्व को चुकाने का वचन दिया है अर्थात् यह फर्म भविष्य मे अदायगी मुद्रा द्वारा ही करती है। इस तरह अपनी शोधनक्षमता (Solvency) को बनाये रखने के लिये प्रत्येक फर्म को अपने पास तरल (*Liquid*) रूप मे कुछ न कुछ मुद्रा अवश्य जमा रखनी पड़ती है । जिस प्रकार किसी व्यवसायिक फर्म को अपने पास नकद जमा रखनी पड़ती है, ठीक इसी प्रकार बैंको, सरकारो तथा अन्य व्यक्तियो को भी अपने पास नकद में रुपया रखना पड़ता है ताकि वे भविष्य मे अपने उत्तरदायित्वों का भुगतान कर सकें। अत मुद्रा शोधनक्षमता बनाये रखने में सहायक होती है।

(ii) **मुद्रा निर्णय का वाहक है (Money is a Bearer of Option)**—जब कभी कोई व्यक्ति मुद्रा का सचय करता है, तब इसका अर्थ यह भी हुआ कि उसने क्रय-शक्ति का सचय कर लिया है । अब यह सम्भव है कि सचय करने वाला व्यक्ति भविष्य मे अपनी भावी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर इस सचित क्रय-शक्ति को मन चाहे ढग से उपयोग मे ला सकता है और इसका अधिकतम लाभप्रद तरीके से उपयोग कर सकता है । मनुष्य जिस समय धन-सचय करता है, उस समय इस धन-सचय का उद्देश्य निर्धारित करना कठिन होता है और यदि उद्देश्य निर्धारित कर भी लिया जाता है तब यह आवश्यक नही है कि भविष्य मे मनुष्य का उद्देश्य पूर्ववत् ही रहे, इसमे परिवर्तन भी हो सकता है । परन्तु सचय मुद्रा के रूप मे होने से अब इस सचित मुद्रा के व्यय के सम्बन्ध में कोई कठिनाई अनुभव नही होती है क्योकि मुद्रा निर्णय का वाहक (Bearer of *Option*) है, मनुष्य अपनी सचित मुद्रा को मन चाहे ढग से हमेशा व्यय कर सकता है। इस प्रकार की परिस्थिति मुद्रा के आविष्कार से ही सम्भव हो सकती है क्योकि वस्तु के रूप में सग्रह करने पर व्यय की स्वतन्त्रता नही रह सकती थी।

सारांश—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करती है । मानव जीवन के आर्थिक विकास के साथ ही साथ मुद्रा के कार्यों की सख्या मे भी वृद्धि होती जा रही है। मुद्रा विनिमय का एक महत्वपूर्ण माध्यम है, यह मूल्य मापन का साधन है, स्थगित देयमान का आधार है, क्रय शक्ति का सचय करने में सहायक है, अर्थ का स्थानान्तरण तथा हस्तान्तरण करने में मदद करती है, यह साख का आधार है सामाजिक आय के वितरण मे सुगमता लाती है, यह उपभोक्ता को सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने मे सहायक होती है, यह सब प्रकार की पूंजी तथा सम्पत्ति को एक सामान्य मूल्य प्रदान करती है, शोधनक्षमता बनाये रखने मे सहायक होती है तथा निर्णय का वाहक है।

मुद्रा का महत्व

मुद्रा का महत्व (Importance of Money)—यह सर्वविदित है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का आदी हो जाता है, तब वह उसके महत्व को तब तक महसूस नही

कर पाता जब तक उसके पास उस वस्तु की प्रचुरता होती है। मुद्रा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। हम इसके महत्व को तभी समझ सकते हैं जबकि हम कुछ समय के लिये यह मान लेते हैं कि मुद्रा जैसी कोई भी वस्तु हमारे पास नहीं है। तनिक इस बात का अनुमान लगाइये कि क्या मुद्रा के अभाव में बाजार के इतने बड़े क्षेत्र में हमारी आर्थिक क्रियायें वर्तमान रूप में सम्पन्न हो सकेंगी ? उत्तर स्पष्ट है। हम तुरन्त ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि मुद्रा के अभाव में हमारा आर्थिक ढांचा अस्त-व्यस्त हो जायेगा तथा हमारा दैनिक जीवन भी बहुत ही जटिल हो जायेगा। अतः मुद्रा के महत्व की जानकारी से ही हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि मुद्रा के अभाव में हमारे जीवन का क्या स्वरूप हो जायेगा। मुद्रा का संक्षेप में महत्व एवं इसका लाभ नीचे दिया गया है :—

(i) मुद्रा के अस्तित्व के कारण ही वस्तु विनिमय प्रणाली की तमाम कठिनाइयां (Inconveniences of Barter System) दूर हो गई हैं और वर्तमान आर्थिक संगठन सम्भव हो सका है। विनिमय-कार्य के लिए अब आवश्यकताओं के दुहरे संयोग (Double Coincidence) की आवश्यकता नहीं पड़ती, मूल्यमापन का एक उचित साधन प्राप्त हो गया है, अविभाज्य वस्तुओं का विनिमय सुगमता से हो जाता है, अर्थ का संचय बिना किसी कठिनाई के हो जाता है, सामाजिक आय को विभिन्न साधनों में वितरित करने में तथा साख-पत्रों के प्रचलन में मुद्रा बहुत सहायक होती है, सम्पत्ति को द्रव्य की तरलता (*Liquidity of Wealth*) प्रदान करने में और मनुष्य जीवन के प्रत्येक पहलू को सुगम, निश्चित व विशाल बनाने में मुद्रा का बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य होता है। (ii) उपभोक्ताओं (Consumers) के दृष्टिकोण से मुद्रा का महत्व इसलिए है कि मुद्रा उन्हें सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में सहायक होती है। चूंकि मुद्रा सभी प्रकार की पूंजी तथा सभी प्रकार की सम्पत्ति को सामान्य मूल्य (Generic Value) प्रदान करती है, इसलिये उपभोक्ताओं के लिये सम्भव हो गया है कि वे अपने पास नकद में मुद्रा रख सकते हैं और भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर अपनी भावी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में सफल हो सकते हैं। मुद्रा के कारण ही उपभोक्ता निर्णय का वाहक (Bearer of Option) हो सका है। (iii) उत्पादक (Producer) के दृष्टिकोण से भी मुद्रा का महत्व इसलिये है कि इसकी सहायता से उसे उत्पत्ति के साधनों को आवश्यक मात्रा में जुटाने, कच्ची सामग्री को खरीदने तथा संचित रखने तथा समय-समय पर पूंजी को उधार प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता मिलती है। बाजारों का विस्तार, साख के ढांचे (Credit Structure) का निर्माण, पूंजी में गतिशीलता, पूंजी तथा क्रय-शक्ति का स्थानान्तरण तथा हस्तान्तरण, साझेदारी, मिश्रित पूंजी कम्पनियां तथा बड़े-बड़े संघों का उदय, स्टॉक एक्सचेंज का निर्माण, सट्टा, कर-वसूली व इसका भुगतान आदि कार्य मुद्रा के आविष्कार से ही सम्भव हो सकी है। मुद्रा के कारण ही श्रम-विभाजन द्वारा बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण हो सका है (iv) वर्तमान आर्थिक प्रणाली (Economic System) का निर्माण भी मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सका है। आधुनिक आर्थिक जगत में बैंकों, बीमा कम्पनियों, यातायात के विभिन्न साधनों तथा अन्य छोटी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों की बाढ़ का एकमात्र कारण मुद्रा ही है। मुद्रा द्वारा उत्पत्ति का पैमाना बहुत

बड़ा हो सका है, जिससे बाजारों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया है, इसके कारण ही स्पर्धा (Competition) ने रूढ़ियों को हटा दिया है और मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र कर दिया है तथा द्रव्य की सहायता से ही आर्थिक विकास की अनेक योजनायें कार्यान्वित हो सकी हैं। इस तरह द्रव्य के कारण ही आज का आर्थिक विकास, आर्थिक क्रियायें और अनेक सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक कार्य सम्भव व सुगम हो सके हैं। यह कहा जाता है कि सभी मानवीय व दैवी यश, सम्मान, प्रसिद्धि, जीवन की सरसता तथा सेवा आदि द्रव्य से ही उपलब्ध होते हैं। अतः मार्शल (Marshall) के शब्दों में, 'मुद्रा अर्थशास्त्र की गति का केन्द्र है।'*

मुद्रा के दोष

मुद्रा के दोष (Disadvantages of Money)—द्रव्य के जहाँ पर इतने लाभ है, इसमें कुछ बुराइयाँ भी हैं। यह सच है जहाँ पर मुद्रा ने मानव जीवन सरल, सरस व सुगम बनाया है, वहाँ इसी मुद्रा ने मानव जीवन में कटुता व विषमता भी ला दी है। मुद्रा के अस्तित्व से समाज को जो हानियाँ हो सकती हैं, वे निम्न प्रकार हैं —

मुद्रा मनुष्य के लिये एक अभिशाप बन गई है —यह सर्वमान्य है कि वर्तमान समाज में मुद्रा सभी बुराइयों, सामाजिक अपराधों व पापों की जड़ है। इसने मनुष्य में लालच व मोह उत्पन्न किया है। यह ही मनुष्य को धोखेबाजी, चोरी, डकैती, हत्या, गबन, विश्वासघात घूसखोरी, बेईमानी व पाप के मार्ग की ओर ले जाती है और मनुष्य में शोषण (exploitation) की प्रवृत्ति जाग्रत करती है और मनुष्य में अधिकाधिक धन संग्रह करने की लालसा का जन्म द्रव्य के कारण ही हुआ है। इस तरह मानव नैतिक पतन का कारण द्रव्य ही है। कुछ विद्वानों का मत यह है और बहुत कुछ यह ठीक ही है कि उक्त दोष यथार्थ में मुद्रा के दोष नहीं है बल्कि मनुष्य के स्वभाव के हैं। (ii) द्रव्य के प्रयोग से ऋणग्रस्तता में वृद्धि हो गई है —द्रव्य के कारण ही ऋण का लेन-देन बहुत सरल हो गया है जिससे परिणामस्वरूप मनुष्य को ऋण लेने में प्रोत्साहन मिला है और मनुष्य अत्याधिक फिजूलखर्ची हो गया है। न केवल मनुष्य पर वरन् उद्योग-धन्धों पर भी इस प्रवृत्ति का कुप्रभाव पड़ा है। चूँकि उद्योगपतियों को आसानी से पूँजी (या ऋण) उधार मिल जाती है इसलिए कभी कभी उद्योगों तथा व्यवसायों का अति पूँजियन (Over-Capitalisation) हो जाता है। अति पूँजियन का स्वाभाविक परिणाम अति उत्पादन (Over-Production) होता है जिससे प्रायः समाज की अर्थ-व्यवस्था ग्रस्त व्यस्त हो जाती है। परन्तु कुछ हद तक हम यह दोषारोपण द्रव्य पर पूर्णतया नहीं कर सकते। यह कहना सच ही है कि "द्रव्य एक अच्छा सेवक तो है, परन्तु बुरा मालिक।" मनुष्य का यह सबसे बड़ा दोष है कि वह क्यों अनुत्पादक कार्यों के लिये या अति पूँजियन के लिए ऋण लेता है। *(iii) द्रव्य के कारण ही द्रव्य तथा सम्पत्ति के वितरण में असमानता आ गई है* —पूँजीवादी प्रणाली का उद्गम द्रव्य के कारण ही हुआ है। आज के पूँजीवाद के साथ में इन आर्थिक जीवन में सबसे बड़ा दोष यह

*"Money is the pivot around which economic science clusters"—Marshall.

उत्पन्न हो गया है कि उत्पत्ति के तमाम साधन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो गये हैं जिसके परिणामस्वरूप धनी व्यक्ति अधिक धनी और निर्धन व्यक्ति अधिक निर्धन होता जा रहा है। समाज में धन के वितरण की इस विषमता के कारण ही सामाजिक व राजनैतिक क्रान्ति का सदा भय बना रहता है। बेरोजगारी तथा व्यवसायिक चक्र (Business Cycles) द्रव्य के आविष्कार के ही परिणाम हैं। (iv) **मुद्रा तथा क्रय-शक्ति एक ही चीज नहीं हैं :**—यह सम्भव है कि मनुष्य के पास द्रव्य होते हुए भी वह इसके बदले में वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने में असमर्थ रहे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मन मार्क (Mark) की यही दशा हो गई थी। जर्मनी के निवासी उनके पास मार्क होते हुये भी, वे इससे वस्तुएँ खरीदने में प्रायः असमर्थ रहते थे। (v) **मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं रहती है :**—आजकल प्रत्येक देश की मुद्रा-चलन में पत्र-मुद्रा एवं बैंक-मुद्रा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसकी मात्रा में घट-बढ़ बहुत आसानी से की जा सकती है। यह सब ही जानते हैं कि द्रव्य की मात्रा में घट-बढ़ का परिणाम यह होता है कि मुद्रा के मूल्य में तथा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में घट-बढ़ हो जाता है। यह स्मरण रहे कि इन मूल्य परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा करता है (पुस्तक में आगे चलकर मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों के आर्थिक व सामाजिक परिणामों का विस्तार से विवेचन किया गया है।) विशेषतः यह व्यापार तथा उद्योग के विकास में बहुत बाधक होता है।

निष्कर्ष—मुद्रा के उक्तलिखित दोषों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा बहुत ही हानिकारक वस्तु है। परन्तु गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त विवेचन में मुद्रा के दोषों की अतिशयोक्ति की गई है और लाभ का पलड़ा ही भारी है। मुद्रा के दोष मुख्यतः मनुष्य के स्वभाव के दोष हैं, इसलिये यदि वह स्वयं ही इस साधन (अर्थात् मुद्रा) को सतर्कता से प्रयोग में लाये, तब इसके प्रयोग से प्राप्त होने वाले बहुत से दोष दूर किये जा सकते हैं। वर्तमान युग के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर सुसंचालित मुद्रा-मान-पद्धति से तो मुद्रा के दोष बहुत ही आसानी से दूर किये जा सकते हैं। यह स्मरण रहे कि यद्यपि नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था (Controlled Economy) में वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System) आज भी बहुत अंश तक सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है, परन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था (Capitalistic Economy) में, अदल-बदल प्रणाली की कठिनाइयों के कारण, मुद्रा के बिना तनिक भी कार्य नहीं चल सकता है। अतः मुद्रा को इसके लाभों के कारण किसी भी देश में तथा किसी भी दशा में परित्याग नहीं किया जा सकता है क्योंकि कम से कम लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में तो मुद्रा का उपयोग सदा ही अति आवश्यक रहेगा।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

1. द्रव्य क्या है, द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, (१९५९ S)

२ द्रव्य की परिभाषा कीजिये और समझाइये कि द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं में क्या अन्तर है ? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, स्पष्ट कीजिये। (१९५८, १९५६) 3 How did money originate ? What are the different kinds of money ! What functions does money perform ? (1956 S) 4 Explain what do you mean by money and discuss the advantages of money to the consumer, to the producer and to the economic system generally. (1954)

Agra University B. Com.

१ मुद्रा के आकस्मिक कार्यों (Contingent functions) का स्पष्ट बयान कीजिये। उन्हे आकस्मिक क्यो कहा जाता है ? मुद्रा के अन्य कार्य क्या है ? (१९६०) २ मुद्रा की आलोचनात्मक परिभाषा करिये तथा उसकी प्रकृति समझाइय (१९५६) 3 What do you understand by "Money' ! Explain its main functions and form in a modern society. (1958 S) 4 Explain the differences between—Money Economy and Barter Economy (1958 S) 5 'Money is a matter of functions four A\ Medium, Measure Standard and Store' Explain fully the meaning of this statement (1958) 6 Explain the difference between the two— 'Standard of Value and Standard of Deferred Payment". (1958 1956 S) 7 What do you understand by the term 'Money' ! Explain the nature of the different forms of money Circulating in India (1957 S, 1956 S) 8 'Money is what money does' Explain fully the meaning of this statement What will happen if money suddenly disappears from the country ! (1956) 9 Discuss the importance of money in a civilized society and explain the different forms in which it circulates in a country (1955, 1954) 10 Explain the difference between—medium of exchange and a measure of value (1955)

Rajputana University, B A & B Sc

1 Explain the importance of money (द्रव्य) in our society Can the economic world of to day exist without money ? (1 '9) 2 What have been the economic effects of money (द्रव्य) ? Discuss (1958) 3 Define 'Money' Show how the value of money is determined and point out the difference in the determination of the value of money and the value of commodities (1956) 4 Define Money and indicate its functions Give a classification of money which you consider best giving reasons for your choice (1955)

Rajputana University, B Com

1 Explain how and to what extent the use of money in exchange transactions removed the inconveniences of Barter (वस्तु विनिमय या अदल-बदल) (1958) 2 Critically discuss the functions said to be performed by money Does money really perform all of them and can money alone perform them? (1956) 3 Discuss the functions and importance of money in a planned economic system (1954)

Sagar University B A

१ मुद्रा की परिभाषा कीजिय। पत्र मुद्रा और बैंक मुद्रा व मुद्रा का स्पष्ट

रूप से समझाइये। बैंकों के ऊपर बैंक-मुद्रा के निर्माण में कौन से प्रतिबन्ध है? (१९५६) २. "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिये। (१९५७)

Sagar University, B. Com.

१. मुद्रा की परिभाषा दीजिये और वर्तमान समय में इसके महत्व को बताइये। (१९५६) २. डच अर्थशास्त्री एन० जी० पियरसन ने मुद्रा की उपमा किसी स्टेशन पर शंट कर रहे एंजिन से दी है, जो एक समय डिब्बों की किसी एक पंक्ति को खींचता है और दूसरे समय दूसरी पंक्ति को ढकेलता है, इसका काम प्रत्येक डिब्बों को सही पटरी पर लाना होता है, ताकि वह डिब्बा अपने ठीक स्थान पर पहुँच जाये। इसको व्याख्या कीजिये और मुद्रा के मुख्य कृत्यों (Functions) का वर्णन कीजिये। (१९५५) ३. 'मुद्रा' का मानव जाति के आर्थिक विकास में क्या स्थान रहा है? इस पर प्रकाश डालिये और बताइये कि क्या अब मुद्रा की उपयोगिता समाप्त हो गई है। (१९५४)

Jabalpur University, B. A.

१. संक्षेप में समझाइये—मुद्रा उपयोग के लाभ। (१९५६) २. मुद्रा क्या है बतलाइये। मुद्रा मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) समझाइये। (१९५८)

Vikram University B. A. & B. Sc.

१. मुद्रा के कृत्यों की पूर्णतया व्याख्या कीजिये। उत्पादकों, उपभोक्ताओं और इसके लाभों को पूरी तरह समझाइये। (१९५९)

Vikram University, B. Com.

1. "After the Communist Revolution of 1917 in Russia it was expected for some time that the Soviet regime would adopt a money-less economy". (Paul Einzig). What were the general in conveniences on account of which the Soviet Regime could not forgo the use of money. (1959). 2. "Money is a matter of functions four; A medium; measure, standard and store." Are there any other functions of money? If so explain them fully. (1959)

Gorakhpur University, B. Com.

1. What function does money perform in a modern economy? Deduce from your answer the main requirements of a proper monetary policy. (Pt II 1959)

Aligarh University, B. A.

1. Discuss the role of money in the modern economic system. (1958)

Bihar University, B. A.

1 What are the essential attributes of good money? Do you hold that money should have intrinsic value? (1958)

Bihar University, B. Com.

1. "The introduction of money has facilitated and promoted economic activities to a great extent." Discuss. Can you think of a neutral money in modern times? (1959) 2. Examine and classify the functions

of money and show how production and exchange are greatly facilitated by the use of money. (1958)

Patna University, B. A.

1 In what ways does money affect the economic system ? Do you advocate a controlled economy ? (1957)

Nagpur University, B. A.

१ मुद्रा की परिभाषा दीजिये । मुद्रा मूल्य मे परिवर्तन को नापने की कोई एक व्यवहारिक रीति का वर्णन कीजिये । (१६५५)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ —(i) *'Money is what money does, (Hartley Withers)* **Explain fully the meaning of this statement. (Agra B. Com 1956) (ii) "Money is a matter of functions four, A Medium, a measure, a standard and a store". Explain fully the meaning of this statement Are there any other functions of money ? If so, explain them fully. (Agra B Com 1958, Vikram B. Com 1959).**

संकेत —उपरोक्त प्रश्न के उत्तर के तीन भाग हैं —प्रथम, इस भाग मे मुद्रा की परिभाषा संक्षेप मे दीजिये—पहले यह लिखिये कि मुद्रा की परिभाषा नपे-तुले व सही शब्दो मे लिखना कठिन है क्योकि अर्थशास्त्रियो मे इस सम्बन्ध मे एक मत नही पाया जाता है, फिर मुद्रा की परिभाषायें संकीर्ण व अधि उदार दृष्टियो से देकर, इस सम्बन्ध मे उचित मत एव मुद्रा की उचित परिभाषा दीजिये और इसे विस्तार से समझाइये—वे सब परिभाषायें जिनमे द्रव्य की सामान्य स्वीकृति तथा विनिमय के माध्यम के गुणो का समावेश है, मुद्रा की उचित परिभाषायें मानी जाती है (क्राउथर, राबर्टसन, ऐली, मार्शल आदि की परिभाषायें दीजिये और इनके आधार पर उक्त विचार को स्पष्ट कीजिये) (दो-ढाई पृष्ठ) । द्वितीय भाग—इस भाग मे मुद्रा के कार्यों को बताइये—पहले डेढ दो पृष्ठो मे माध्यम, मापक, मान तथा भंडार के रूप म कार्य उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिय (यहाँ पर संक्षेप मे प्रत्येक कार्य को लिखते समय यह भी बताइये कि वस्तु विनिमय प्रणाली के दोष मुद्रा के उपयोग से किस प्रकार दूर हो गये हैं) । मुद्रा के उक्त चारो कार्यों को लिखकर एक डेढ पृष्ठ मे यह बताइये कि मुद्रा इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक रूप मे भी कार्य करती है, जैसे—यह अर्थ के हस्तान्तरित व स्थानान्तरित करने का साधन है, यह साख का आधार है, यह आय के वितरण म सुलभता लाती है, यह सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम को सन्तुष्ट करने मे सहायक होती है, यह सभी प्रकार की पूँजी व धन को सामान्य रूप प्रदान करती है, यह शोधनक्षमता को बनाये रखने मे सहायक होती है आदि । तृतीय भाग, इस भाग मे सारांश के रूप मे कुछ वाक्यो म द्रव्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों का महत्व बताइये—यह स्पष्ट कीजिये कि द्रव्य का वर्तमान युग मे बहुत महत्व है ।

प्रश्न २ —*Explain* **what do you mean by money and discuss the advantages of money to the consumer, to the producer and to the economic System generally (Agra B. A 1954) (ii) Discuss the functions and** *importance of money in a planned economic System* **(Rajasthan, B. Com (1954) (iii) "The introduction of money has facilitated and**

promoted, economic activities to a great extent" Discuss. Can you think of a neutral money in modern times? (Bihar, B. Com. 1959) (iv) Discuss the role of money in the modern economic system. (Aligarh, B A 1956) (v) What will happen if money suddenly disappears from the country? (Agra; B Com. 1956) *(vi) Can you imagine a society in modern age without money?* Raj, B. A. 1959, Bihar, B. Com 1956) (vii) Is Large Scale production in modern age possible without the use of money? (Bihar, B. A. 1954) (viii) "Money has *come to be as necessary in the exchange of goods as language in the* exchange of ideas" "The economic world of to-day would not exist without money". Explain the above statements fully. (Patna, B. Com. 1952) (ix) मुद्रा का मानव जाति के आर्थिक विकास में क्या स्थान रहा है? इस पर प्रकाश डालिये और बतलाइये कि क्या अब मुद्रा की उपयोगिता समाप्त हो गई है? (सागर, बी० कॉम, १९५४) (x) द्रव्य का आर्थिक व सामाजिक महत्व (Economic and Social Significance) क्या है? इसके अंग्य लाभों को भी बताइये।

संकेत.—उपरोक्त प्रश्नों में मूलतः भाषा का ही हेर-फेर है। मूल प्रश्न यह है कि मुद्रा का महत्व शनैः शनैः क्यों बढ़ा है तथा वर्तमान युग में मुद्रा का क्या महत्व है? इस प्रश्न के उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम, इस भाग में यह बताइये कि मुद्रा मानव जाति के आर्थिक विकास में क्या स्थान रहा है, कि अति प्राचीनकाल में मानव आवश्यकतायें सीमित थी, मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को अपने निज प्रयत्नों से सन्तुष्ट कर लिया करता था। उस समय न तो विनिमय की और न वितरण की आवश्यकता थी। फलतः मुद्रा की भी आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानव का आर्थिक विकास भी हुआ, आवश्यकतायें बढ़ी, उत्पादन-प्रणाली जटिल होती गई, श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण प्रणाली का उपयोग होने लगा आदि, फलतः विनिमय का प्रादुर्भाव हुआ। आरम्भ में वस्तु विनिमय (Barter) से काम चला, परन्तु शनैः शनैः उत्पादन-प्रणाली उन्नत होने के कारण, वस्तु-विनिमय प्रणाली में कठिनाई अनुभव होने लगी और मुद्रा का प्रादुर्भाव हो गया। यद्यपि प्रारम्भ में अनाज, भेड़, बकरी आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ, परन्तु धीरे-धीरे धात्विक मुद्रा व कागजी मुद्रा का उपयोग होने लगा और आज इसका रूप बैंक-साख (Bank Credit) और बैंक जमा (Bank Deposits) के रूप तक में है। इस तरह यह स्पष्ट कीजिये कि विनिमय का महत्व बढ़ने से मुद्रा का महत्व भी बढ़ा है (दो पृष्ठ) द्वितीय, इस भाग में वर्तमान युग में मुद्रा के महत्व को बताइये—(अ) उत्पादन कार्य अथवा वृहत्-उत्पादन में मुद्रा से बहुत सुविधा मिलती है—मुद्रा के कारण ही पूँजी एकत्रित करना सम्भव है तथा इसी से कच्चे-माल के खरीदने अथवा उत्पादित माल के बेचने में सहायता मिलती है, मुद्रा से ही उत्पत्ति के साधन मनचाही मात्रा में एकत्रित हो सकते हैं, इसी की सहायता से उत्पादक इन साधनों का इस प्रकार उपयोग करने पाता है कि उसे अधिकतम लाभ हो जाय, अर्थात् मुद्रा की सहायता से उत्पादक व्यवसाय को अधिक कुशलता

व मितव्ययिता से संगठित कर सका है, श्रम-विभाजन एवं विशिष्टकरण का प्रयोग भी मुद्रा से सम्भव हुआ है। द्रव्य के कारण ही बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो सके हैं। वह हजारों-लाखों श्रमिकों को द्रव्य के रूप में मजदूरी देकर उत्पादन-कार्य सम्पन्न कराने में सफल होता है। द्रव्य के कारण ही राष्ट्रीय बचत बैंक, बीमा कम्पनियों आदि में एकत्रित हो जाती है और इस पूंजी के उपयोग से बड़ी-बड़ी कम्पनियों की स्थापना हुई है। (स) उपभोक्ताओं को भी मुद्रा से बहुत लाभ हुआ है। उन्हें इच्छानुकूल काम करने व इच्छानुकूल उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने की सुविधा मिली है, अब यह आवश्यक नहीं कि अपने उपभोग की वस्तु का उत्पादन वह स्वयं करे। मुद्रा से उपभोक्ता का जीवन सुखी व सम्पन्न हो सका है, उसे अपनी आय से अधिकतम लाभ उठाने में भी मुद्रा से सहायता मिली है। मुद्रा के कारण वह अपनी आय में से कुछ बचत भी कर सका है और इसे बैंक आदि में संचित भी कर सका है। द्रव्य के कारण ही उपभोक्ता दूसरों की वस्तुओं व सेवाओं पर अपना अधिकार प्रकट कर सकता है जिससे यह तय होता है कि समाज में कौन-कौन सी वस्तुओं का उत्पादन किया जाय। इस तरह मुद्रा से उपभोक्ता को सार्वभौमिकता (Consumer's Sovereignty) प्राप्त हुई है। (द) मुद्रा के अन्य अनेक आर्थिक लाभ भी हैं, जैसे—मुद्रा ने पूंजी को गतिशीलता प्रदान की है अर्थात् द्रव्य से ही एक ही देश में स्थानान्तरण व विभिन्न देशों में गतिशीलता सम्भव हुई है जिससे उद्योग व व्यापार का अत्यधिक विकास हुआ है, द्रव्य द्वारा पूंजी में तरलता (Liquidity) उत्पन्न हुई है क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर लेता है और वह इसकी सहायता से मनचाही वस्तु मन चाहे समय पर तथा मन चाहे स्थान पर खरीद सकता है, द्रव्य की सहायता से मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) क्रियाशील हो सका है और इस यन्त्र की सहायता से देश की उत्पादन-प्रणाली नियंत्रित हो सकी है अथवा साधनों का उपयोग उनके मूल्य के अनुसार हो सका है; चूंकि मूल्य-यन्त्र द्रव्य अर्थ-व्यवस्था (Money Economy) में ही क्रियाशील होता है, इसलिये द्रव्य की सहायता से आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) में धनोत्पत्ति उचित होने की सम्भावना रहती है, द्रव्य के कारण साख-प्रणाली (Credit System) का प्रादुर्भाव हुआ है और बैंक्स व अन्य साख संस्थाएँ इस प्रणाली का प्रयोग करके उद्योगों व व्यापार को बहुत सहायता पहुँचाती हैं। (ई) द्रव्य का सामाजिक महत्व (Social Significance) भी बहुत है। द्रव्य के कारण ही विनिमय पद्धति का विकास हुआ है और इस पद्धति के विकास से समाज की सभ्यता का भी विकास हुआ है (तीन-चार पृष्ठ)। तृतीय, इस भाग में सारांश के रूप में बताइये कि मुद्रा आर्थिक जगत में तेल का काम करती है, कि यह समाज का सेवक बनकर आई परन्तु शनैः शनैः यह समाज की स्वामी बन गई क्योंकि आज मुद्रा के संकेत से सारा आर्थिक व सामाजिक जगत संचालित होता रहता है, इसकी मात्रा में घट-बढ़ कर देने से समाज में आर्थिक व सामाजिक क्रान्ति मच जाती है, इसीलिये लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंकों को सरकारी बनदिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि मुद्रा लुप्त (Money Disappears) हो जाय, तब देश में वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) फिर से आ जायगी और इस प्रणाली में जितनी

भी असुविधायें हैं, वे फिर से उत्पन्न हो जायेंगी। फलतः उत्पादन बहुत कुछ रुक जायेगा (क्योंकि उत्पादक न तो साधनों को जुटा सकेगा और न माल का क्रय-विक्रय ही आसानी से कर सकेगा, श्रम-विभाजन प्रणाली का लोप हो जाने से उन्नत उत्पादन-प्रणाली भी सम्भव नहीं रहेगी, विनिमय-प्रणाली के प्रयोग में कमी के साथ ही साथ उत्पादन की मात्रा घट जायेगी) उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे, मानव जीवन कठिन हो जायगा और जीवन-मान पुनः उस निम्न-स्तर तक गिर जायगा, जहाँ कि मानव इतिहास के आदि-काल में था। आधुनिक युग में मुद्रा की महत्ता को देखते हुये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक मुद्रा के अभाव में आधुनिक सभ्यता असम्भव है। इसीलिये प्रति दिन मुद्रा की महत्ता बढ़ती जा रही है (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न १:— "The functions of money evolved according to the services required of it from time to time." Discuss. Can you imagine a Society in modern times without money? (Bihar, B. Com. 1956)

संकेत—उत्तर के दो भाग हैं–प्रथम भाग में मुद्रा के कार्यों का विकास लिखिये–कि वस्तु विनिमय प्रणाली ने यद्यपि हजारों वर्ष तक मानव समाज की सेवा की परन्तु उत्पादन-प्रणाली में विकास होने से वस्तु विनिमय प्रणाली में दोष दृष्टिगोचर होने लगे। फलतः समाज में मुद्रा का आगमन हुआ। (i) यद्यपि यह कहना कठिन है कि मुद्रा का जन्म किस रूप में हुआ, परन्तु कुछ व्यक्तियों का मत है कि वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के विनिमय में कठिनाई अनुभव होने के कारण (दोहरे संयोग के अभाव के कारण) मुद्रा का जन्म विनिमय के माध्यम के रूप में हुआ और समय-समय पर जिस वस्तु ने यह कार्य किया, उसे ही मुद्रा की संज्ञा दी गई (उदाहरण दीजिये) (ii) कुछ अन्य व्यक्तियों का मत है कि मुद्रा का प्रादुर्भाव मूल्यांकन के माध्यम के रूप में हुआ। उत्पादन-प्रणाली के विकास के कारण विनिमय-प्रणाली का महत्व बढ़ता चला गया, परन्तु वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के मूल्यांकन अथवा विनिमय-अनुपात के निर्धारण में कठिनाई अनुभव हुई जो मुद्रा के प्रादुर्भाव से दूर हुई। यह स्पष्ट है कि मुद्रा का प्रादुर्भाव कहीं विनिमय के माध्यम के रूप में और कहीं मूल्यांकन के माध्यम के रूप में हुआ है, जहाँ जिस रूप में मुद्रा की आवश्यकता हुई, वहाँ पर उसी रूप में मुद्रा प्रकट हुई। (iii) अति प्राचीन समय में लेन-देन का कार्य महत्वपूर्ण नहीं था, मानव आवश्यकताएं सीमित थी तथा जीवन पशुओं जैसा व्यतीत किया जाता था। कुछ समय पश्चात् सभ्यता के विकास से अथवा आवश्यकताओं में वृद्धि से वस्तुओं के रूप में लेन-देन आरम्भ हुआ और आज भी कुछ पिछड़े क्षेत्रों में यही प्रथा पाई जाती है। परन्तु एक ओर उत्पादन प्रणाली उन्नत तथा समाज का व्यापारिक विकास होने से तथा दूसरी ओर धात्विक मुद्रा का प्रादुर्भाव होने से, मुद्रा के रूप में ऋण का लेन-देन सर्वप्रथम व्यापारियों के मध्य होने लगा और तदुपरान्त यह राजनैतिक क्षेत्र तक फैल गया। फलतः धनी व्यक्ति ब्याज के लालच से धन का संचय करने लगे और ऊँची-ऊँची ब्याज की दर पर इसे उधार देने लगे और जनता का शोषण करने लगे जिसके कारण ऐसे व्यक्तियों के प्रति घृणा की भावना जाग्रत हुई। औद्योगिक-क्रान्ति ने तो मुद्रा के रूप में ऋण के महत्व को और भी अधिक बढ़ा दिया है,

क्योंकि पूंजी की बहुत बड़े पैमाने पर आवश्यकता पड़ने लगी है। आज साधारण मुद्रा से ऋण के आदान प्रदान का कार्य पूर्णतया सम्पन्न नहीं होता है जिसके कारण इसकी पूर्ति बैंक-साख द्वारा होने लगी है। (१४) भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्राचीन काल से ही मनुष्य धन-सचय का महत्व समझते रहे हैं। धन-सचय मनुष्य ऐसी वस्तु के रूप में करते हैं जो मूल्यवान एवं टिकाऊ हो तथा जिसका विनिमय-मूल्य अधिक हो। सोना-चांदी के रूप में धन-सग्रह की परिपाटी सदा से ही प्रचलित रही है और आज भी बहुत कुछ पाई जाती है क्योंकि एक ओर इनका आभूषण के रूप में प्रयोग होता है और दूसरी ओर आवश्यकता पड़ने पर इनको बेचकर कठिनाई का सामना किया जा सकता है। परन्तु शिक्षा के प्रसार, फैशन में परिवर्तन, बैंक में विश्वास आदि के कारण अब धन का सचय सोना चांदी के रूप में कम होता जा रहा है और बैंकों में जमा के रूप में बढ़ता जा रहा है। तरल-क्रय शक्ति के महत्व को अब मनुष्य समझने लगे हैं, इसलिये भी धन का सचय वस्तु के रूप में नहीं वरन् मुद्रा के रूप में किया जाता है। स्पष्ट है कि मुद्रा के कार्यों का प्रादुर्भाव एकाएक किसी एक समय पर नहीं हुआ बल्कि ज्यों-ज्यों किसी कार्य के लिये इसकी आवश्यकता पड़ी, त्यों-त्यों ही मुद्रा का प्रयोग उस रूप में होने लगा। यह कहना कठिन है कि भविष्य में मुद्रा को और कौन-कौन से कार्यों को सम्पन्न करना होगा। इसलिये यह ठीक है कि "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे" (छः सात पृष्ठ)।

प्रश्न ४—**Explain how and to what extent the use of money in exchange transactions removed the inconveniences of Barter? (Rajasthan B Com 1958)**

सकेत—उत्तर में प्रारम्भ में लिखिये कि मानव के आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में वस्तु विनिमय प्रणाली द्वारा वस्तुओं का आदान प्रदान होता था, कि इसके कई कारण थे (सक्षेप में इन कारणों को बताइये जैसे, सीमित आवश्यकतायें, विनिमय का सीमित क्षेत्र, समाज का पिछड़ा होना आदि) कि इस प्रणाली में अनेक असुविधायें थीं जैसे—आवश्यकताओं के दुहरे सयोग का अभाव, सर्वमान्य मूल्य मापदण्ड का अभाव, विभाजन की कठिनाई तथा विनिमय शक्ति के सचय का अभाव आदि। अन्त में, द्रव्य विनिमय प्रणाली की व्याख्या करते यह बताइये कि द्रव्य के उपयोग से वस्तु विनिमय प्रणाली की समस्त असुविधायें किस प्रकार दूर हो गई हैं (पाच-छः पृष्ठ)।

प्रश्न ५—(i) **What are the chief characteristics of money? Should Cheques Bank Deposits and Trade Bills be regarded as money? Bihar B A 1956)**

सकेत—उत्तर के प्रथम भाग में चार छः वाक्यों में मुद्रा का अर्थ समझाने के बाद मुद्रा की विशेषताओं को विस्तार से लिखिये—प्रथम विशेषता है सर्वग्राह्यता (General Acceptability)। ज्य मनुष्य किसी वस्तु को अपनी सेवाओं तथा वस्तु के बदले में लेने के लिये तैयार होते हैं, तब ही वह वस्तु मुद्रा कहलाती है। रोबर्टसन आदि की मुद्रा की परिभाषाएं लिखकर इस मत की पुष्टि कीजिए, इस बात को उदाहरण सहित बताइये कि समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ है, मुद्रा के अन्य

गुण (मुद्रा के कार्यों को पढ़िये) इसी प्रधान गुण की परिधि के अन्तर्गत हैं (चार पृष्ठ)। द्वितीय खंड में यह स्पष्ट कीजिये कि तरल क्रय-शक्ति (Liquid Purchasing Power) का दूसरा नाम ही मुद्रा है और इस दृष्टि से बताइये कि चैक, बैंक जमा तथा व्यापारिक साख-पत्र मुद्रा के अन्तर्गत है या नहीं। (अ) चैक—इसे साधारणतया मुद्रा की श्रेणी में नहीं रखते है क्योंकि इसमें सर्वग्राह्यता का गुण नहीं है, मनुष्य इसे स्वीकार भी कर सकते हैं और नहीं भी, यह केवल तरल क्रय-शक्ति के हस्तान्तरण का आदेश-मात्र है, (आ) बैंक-जमा या बैंक-साख—ये मुद्रा है क्योंकि इनमे सर्वग्राह्यता का गुण है, मनुष्यों का बैंक की साख में विश्वास होता है और वे अपनी वस्तुओं व सेवाओं के बदले में इसे स्वीकार करने में हिचकते नहीं है, फिर बैंक-साख के कारण मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोकर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती है, बैंकों का जाल देश-विदेशों में फैला रहने के कारण बैंक-साख की ग्राह्यता बहुत बड़े एवं व्यापक क्षेत्र में होती है, (इ) व्यापारिक साख-पत्र— यह साधारणतया मुद्रा की गणना में नहीं आता है क्योंकि इसमें सर्वग्राह्यता नहीं है। बिल्स प्रायः तीन महीने की अवधि के होते हैं और प्रायः दो महीने तक बिल-बाजार में चक्कर काटते रहते हैं, इसका लेन-देन एक सीमित क्षेत्र में होता है। इसीलिये हम बिल्स को मुद्रा की संज्ञा नहीं दे सकते हैं (ढाई-तीन पृष्ठ)।

प्रश्न ६. **"Of the two functions of money, as unit of account and medium of exchange, the former is usually considered to be the more essential for modern society" Explain this statement fully.**

(Bihar, B. Com. 1953)

संकेत —उत्तर के प्रथम भाग मे यह बताइये कि प्राचीन काल से ही मुद्रा के दो प्रधान कार्य हैं–विनिमय का माध्यम और मूल्यांकन का साधन। मुद्रा का प्रयोग सर्वप्रथम विनिमय के माध्यम के रूप मे हुआ अथवा मूल्यांकन के साधन के रूप मे हुआ, इस सम्बन्ध मे वाद-विवाद रहा है (प्रश्न ३ का संकेत पढ़िये)। यदि एक तरफ कुछ का मत है कि मुद्रा का प्रयोग सर्वप्रथम विनिमय के माध्यम के रूप मे हुआ (इनका मत है कि उस समय मूल्यांकन का साधन कोई अन्य वस्तु थी) तब दूसरी तरफ कुछ का मत है कि मुद्रा का प्रयोग सर्वप्रथम मूल्यांकन के साधन के रूप में हुआ (इनका मत है कि उस समय किसी वस्तु का साधारणतया माध्यम के रूप में प्रयोग में आना सम्भव नहीं था)। परन्तु ठीक मत यह है कि भिन्न-भिन्न स्थानों व समयों पर मुद्रा का प्रयोग कभी एक रूप में तब कभी दूसरे रूप में हुआ। जैसे-जैसे मुद्रा का विकास हुआ, यह विनिमय का एक महत्वपूर्ण साधन बनता गया और मूल्यांकन का कार्य यह गौण रूप में करता रहा (दो-ढाई पृष्ठ)। दूसरे भाग में यह बताइये कि आधुनिक युग में 'बैंक-साख' का बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग होता है इस प्रकार के व्यवहार में किसी वस्तु का मूर्त रूप में आदान-प्रदान नहीं होता है, वरन् केवल बैंक के खातों में ही परिवर्तन होता रहता है। यदि एक व्यक्ति के खाते में से रुपया निकाला जाता है, तब यह दूसरे व्यक्ति के खाते में जमा कर दिया जाता है। यही कारण है कि बैंक-साख प्रणाली में न तो व्यक्तियों को मुद्रा के देखने की और न इसे छूने की ही

आवश्यकता होती है। फलतः अब मुद्रा का कार्य विनिमय के साधन की अपेक्षा मूल्यांकन के साधन के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। भविष्य में भी आर्थिक, औद्योगिक व व्यापारिक एवं बैंकिंग के विकास के कारण, यह आशा की जाती है कि सभी विनिमय के कार्य "बैंक-साख" के आधार पर किये जायेंगे और नोटों व सिक्कों की आवश्यकता लगभग नहीं के बराबर रह जायगी। अतः मुद्रा का कार्य विनिमय के माध्यम की तुलना में मूल्यांकन के साधन के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हो गया है (ढाई-तीन पृष्ठ)।

प्रश्न ७ **Define 'Money' critically and examine the importance of "liquidity" in its definition (Bihar, B Com 1953)**

संकेत—उत्तर के प्रथम भाग में तीन-चार पृष्ठों में मुद्रा की परिभाषा एवं इसका अर्थ समझाइये (प्रश्न १ का संकेत पढ़िये)। द्वितीय भाग में मुद्रा की परिभाषा में मुद्रा की तरलता के गुण के महत्व को बताइये—मुद्रा की तरलता का अर्थ बताने के लिये लिखिये कि वस्तु में विनिमय-शक्ति तरल (Liquid) और ठोस किसी भी एक रूप में रह सकती है, जिस वस्तु को सभी मनुष्य अपनी वस्तुओं व सेवाओं के बदले में ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाते हैं, उस वस्तु की क्रय शक्ति एवं विनिमय शक्ति को हम तरल रूप में मानते हैं क्योंकि ऐसी वस्तु बिना किसी रोक टोक एवं स्वतन्त्रतापूर्वक समाज में विचरण करती है। वस्तु के इस प्रकार के गुण के बारे में हम कह सकते हैं कि इसमें सर्वग्राह्यता का गुण है। इसके विपरीत ऐसी वस्तु जिसे मनुष्य अपनी सेवाओं व वस्तुओं के बदले में सुगमतापूर्वक स्वीकार नहीं करते, उस वस्तु में क्रय शक्ति एवं विनिमय-शक्ति ठोस रूप में मानी जाती है। वस्तु की तरल क्रय-शक्ति का ही दूसरा नाम मुद्रा है क्योंकि इस गुण के कारण ही वस्तु में सर्वग्राह्यता का गुण होता है। बैंक जमा में इस प्रकार की तरल क्रय-शक्ति बहुत अधिक पाई जाती है जिसके कारण आधुनिक समाज में बैंक-जमा की गणना मुद्रा में की जाती है और यह मुद्रा का कार्य बहुत ही सुचारू रूप से सम्पन्न करती है। प्रो० कोल (Cole) की मुद्रा की परिभाषा दीजिये और बताइये कि इन्होंने ही सर्वप्रथम मुद्रा की इस प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था। अतः चूँकि तरल क्रय शक्ति का ही दूसरा नाम मुद्रा है इसलिये मुद्रा की परिभाषा में "तरलता" शब्द का बहुत महत्व है (दो पृष्ठ)।

अध्याय २

मुद्रा का वर्गीकरण

(Classification of Money)

<u>प्राक्कथन</u>—मुद्रा का वर्गीकरण अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। नीचे हमने वर्गीकरण की तीन मुख्य रीतियों का ही वर्णन किया है—(अ) धातु-मुद्रा तथा पत्र मुद्रा, (आ) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा और (इ) विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा।

(अ) धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा

धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा (Metallic Money and Paper Money):—मुद्रा का इस प्रकार का वर्गीकरण द्रव्य के पदार्थ (Money Commodity) के आधार पर किया जाता है। यद्यपि प्राचीन काल में पशु, पत्तियां, खाल तथा अन्य वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ था [इन वस्तुओं को वस्तु-द्रव्य (Commodity Money) कहा जाता है] परन्तु आजकल इन वस्तुओं का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलन बन्द हो गया है जिससे वर्तमान युग में द्रव्य पदार्थ की केवल दो ही वस्तुयें रह गई हैं–धातुएं और कागज। इसीलिए आधुनिक समय में अधिकांश चलन धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा का ही पाया जाता है। प्राचीन काल में यद्यपि सोने व चाँदी के सिक्के तथा निम्न धातुओं अर्थात् गिलट, ताँबा व अन्य धातुओं के सिक्के साथ ही साथ प्रचलन में थे, परन्तु आजकल मूल्यवान धातुओं के सिक्कों का प्रचलन लगभग बन्द हो गया है और चलन में अधिकांश मुद्रा कागज की तथा गिलट, तांबा और अन्य निम्न धातुओं की मुद्रा ही पाई जाती है।

(i) धातु-मुद्रा (Metallic Money) :–धातु-मुद्रा वह है जिसमें किसी न किसी धातु के सिक्के चलन में रहते हैं। धातु-मुद्रा दो प्रकार की होती है–(क) प्रामाणिक मुद्रा तथा (ख) सांकेतिक मुद्रा।

(क) प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money):—इस प्रकार की मुद्रा को प्रधान, पूर्णकाय तथा सर्वांग मुद्रा भी कहते हैं। प्रामाणिक मुद्रा में सिक्के सोने व चाँदी के बनाये जाते हैं। ये सिक्के किसी विशिष्ट व निश्चित वजन के तथा किसी निश्चित शुद्धता (Fineness) के बनाये जाते हैं। ये सब बातें देश के टंकण विधान (Coinage Act) द्वारा निर्धारित की जाती है। इन सिक्कों की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं:–(च) प्रामाणिक सिक्का देश का प्रधान सिक्का होता है—प्रामाणिक सिक्का देश का प्रधान सिक्का होने के कारण, देश में इसी सिक्के में हिसाब (Accounts) तैयार किया जाता है तथा देश के अन्दर तमाम-वस्तुओं व सेवाओं और अन्य सिक्कों का मूल्य भी इसी मुद्रा में आंका जाता है। अतः प्रामाणिक सिक्का देश में मूल्यमापन तथा विनिमय-माध्यम का कार्य करता है। यदि प्रामाणिक मुद्रा एक धातु की बनाई जाती है, तब इसे एक धातुमान (Mono-metallism) और अगर प्रधान मुद्रा दो धातुओं की बनाई जाती है, तब इसे द्वि-धातुमान (Bi-metallism) कहते हैं। (छ) प्रामाणिक मुद्रा का अंकित मूल्य और आंतरिक मूल्य समान होता है:–टंकण विधान (Coinage Act) के अनुसार सिक्के का बाह्य मूल्य तथा उसमें कितनी धातु होगी यह निश्चित कर दिया जाता है। प्रधान मुद्रा में अंकित मूल्य (Face Value) सदा आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) के बराबर होता है, इसलिए इस प्रकार की मुद्रा को पूर्णकाय मुद्रा (Full Bodied Money) भी कहते हैं। यह स्मरण रहे कि यदि इस सिक्के को गला कर धातु के रूप में बेचा जाय, तब भी विक्रेता को कोई हानि नहीं होती है। उदाहरण के लिये, यदि भारतीय टंकण विधान ने भारतीय रुपये का बाह्य मूल्य (Face Value) १६ आने निश्चित कर दिया है, तब इसमें १६ आने के बराबर चाँदी होने पर ही यह प्रधान मुद्रा कही जा सकेगी। सन् १८९३ से पहले भारतीय

रुपया इसी प्रकार का था। इंगलैंड मे सितम्बर सन् १९३१ से पहले स्वर्णमान प्रणाली प्रचलित थी और उस समय का ब्रिटिश सावरन पूर्णकाय (अर्थात् प्रामाणिक) सिक्का था। परन्तु जब से इंगलैंड ने (सन् १९३१ में) स्वर्णमान का परित्याग किया है, तब से उस देश में भी कोई प्रामाणिक सिक्का नहीं है। (ज) **प्रामाणिक सिक्कों की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है**—यदि देश की जनता को यह अधिकार प्राप्त है कि वह सोने-चांदी की सिल्लियां ले जाकर एक निश्चित दर पर इन धातुओं को उस देश के सिक्कों में ढलवा सकती है, तब इस प्रथा को स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage) कहते हैं अर्थात् तब यह कहा जाता है कि मुद्रालय (Mint) जनता के लिये खुला है। इस प्रकार के टंकरण के लिए सरकार जनता से टंकरण-शुल्क (Charge of Coinage) लेती भी है और नहीं भी लेती है। प्रामाणिक सिक्कों की यह विशेषता होती है कि इनका टंकरण (ढलाई) स्वतन्त्र होता है*। इससे यह लाभ रहता है कि देश में सिक्कों की कमी भी कभी नहीं रहती है क्योंकि जब कभी जनता को सिक्कों की कमी महसूस होती है, तभी वह स्वर्ण-चांदी को टकसाल में ले जाकर इसके बदले सिक्के ले आती है। (झ) **प्रामाणिक सिक्के अपरिमित कानूनी सिक्के होते हैं**—प्रामाणिक सिक्कों में असीमित विधिग्राह्यता (Unlimited Legal Tender) होती है। इन सिक्कों को प्रत्येक व्यक्ति को असीमित मात्रा में कानूनन स्वीकार करने पड़ते हैं। इसीलिए बड़े-बड़े लेन-देन के व्यवहार (Business Transactions) प्रामाणिक मुद्रा में ही किये जाते हैं। भारतवर्ष में रुपया, रुपये के नोट, अठन्नी असीमित विधिग्राह्य हैं परन्तु चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसा सीमित विधिग्राह्य (Limited Legal Tender) हैं। इनसे केवल १० रुपये तक ही भुगतान किया जा सकता है अर्थात् इस सीमा के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति इनको अस्वीकार कर सकता है। यह स्मरण रहे कि राज्य जब चाहे तब मुद्रा की विधिग्राह्यता को समाप्त कर सकता है। सन् १९४६ में भारत सरकार ने ५०० रुपये और १००० रुपये के नोटों की विधिग्राह्यता खतम कर दी थी। परन्तु अब फिर १,००० रुपए के नोटों का चलन हो गया है। इसी प्रकार १८० ग्रेन वाला चांदी का सिक्का जिसमें $\frac{11}{12}$ शुद्धता थी (One rupee Coin of 180 Grains of $\frac{11}{12}$ Fineness) अब विधिग्राह्य (Legal Tender) नहीं है। विधिग्राह्यता समाप्त कर देने का प्रायः एकमात्र उद्देश्य यह भी होता है कि सरकार अमुक मुद्रा का संग्रह (Hoarding) नहीं होने देना चाहती है।

(ख) **सांकेतिक मुद्रा (Token Money)**—इस प्रकार की मुद्रा को गौण अथवा प्रतीक मुद्रा भी कहते हैं। यह वह सिक्का है जिसमें प्रामाणिक मुद्रा के बिल्कुल विपरीत गुण पाये जाते हैं। यह मुद्रा केवल अल्प परिमाण के व्यवहारों (Small Transactions) के भुगतान के लिये चलाई जाती है जिससे कि यह प्रामाणिक मुद्रा के लिए सहायक होती है। इस प्रकार की मुद्रा अक्सर निम्न अथवा हल्की धातु की बनाई जाती है, जैसे तांबा, निकल, गिलट आदि। इस प्रकार की मुद्रा के गुण इस प्रकार हैं—(च) सांकेतिक सिक्कों

*The students should not confuse the two terms—Free Coinage and Gratuitous Coinage. Coinage can be both Free and Gratuitous at one and the same time. Free Coinage simply means that the people possess the right to get their bullion changed into Coins but if the Mint does not charge anything for this work, it is called Gratuitous Coinage.

को ढलाई कभी भी स्वतन्त्र नहीं होती है—इन सिक्कों का टंकण केवल देश की सरकार द्वारा ही कराया जाता है, जनता को यह अधिकार नहीं होता है कि वह धातुओं के बदले में टकसाल से सिक्के प्राप्त कर सके। **(छ) सांकेतिक सिक्के का अंकित मूल्य इसके आन्तरिक या धातु-मूल्य से अधिक होता है**—इन सांकेतिक सिक्को की कीमत इनके भीतर रहने वाली धातु पर निर्भर नहीं होती है बल्कि यह कीमत सरकारी आदेश के अनुसार निर्धारित होती है। इसलिये कुछ व्यक्तियों ने इसे प्रादिष्ट सिक्के या प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Coins or Fiat Money) कहा है। चूंकि इन सिक्को का धातु-मूल्य सिक्को के मुद्रा-मूल्य से बहुत कम होता है, इसीलिए जनता द्वारा इन सिक्को को गलाया नहीं जाता है क्योंकि ऐसा करने मे उन्हे हानि होती है। **(ज) सांकेतिक सिक्के परिमित कानूनी ग्राह्य (Limited Legal Tender) होते हैं**—इन सिक्को को लेन-देन मे सीमित सख्याओं में ही दिया जा सकता है अर्थात् एक बार मे एक सीमा तक ही इन्हे कोई व्यक्ति लेने के लिये बाध्य किया जा सकता है। भारत मे यह सीमा चवन्नी तक के सिक्को के लिए पहले १० रुपए तक थी, परन्तु अब यह बढाकर २५ रु० कर दी गई है। **(झ) सांकेतिक सिक्के देश की प्रधान मुद्रा के सहायक सिक्के होते हैं**:—सहायक सिक्के होने के कारण ये प्रधान सिक्के के ही विभिन्न भाग होते हैं।

सरकार सांकेतिक सिक्को का चलन प्रायः दो कारणो से किया करती है:—**(क) जबकि सरकार के पास बहुमूल्य धातुओं की कमी होती है और सरकार को मुद्रा के बढ़ाने की आवश्यकता होती है तब वह सांकेतिक सिक्कों का चलन किया करती है।** परिणाम यह होता है कि सांकेतिक सिक्को के चलन से सरकार को बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत हो जाती है क्योंकि अब थोड़ी-सी धातु से ही बहुत अधिक मात्रा मे मुद्रा तैयार की जा सकती है। **(ख) जब जनता सिक्कों को गलाना आरम्भ कर देती है तब सिक्कों के गलाने को रोकने के लिये सरकार द्वारा सांकेतिक सिक्कों का चलन किया जाता है।** सन् १९४० मे चाँदी के मूल्य के बढ आने के कारण भारतीय चाँदी का रुपया पूर्णकाय सिक्का (Full Bodied Coin) हो गया था जिसका परिणाम यह हुआ था कि जनता द्वारा इस सिक्के का सग्रह (Hoarding) हो गया था तथा कुछ व्यक्ति इसको गलाकर इसकी चांदी को बेचकर लाभ उठाने लगे थे। परिणामत. देश मे टकसाली रुपये की बहुत कमी हो गयी थी (यह स्मरण रहे कि यही सिक्का सन् १९४० से पहले सांकेतिक सिक्का था)। इस विषमता को दूर करने के लिये सरकार ने इस रुपये का अप्रचलीकरण (Demonetization) कर दिया और इसके स्थान पर नये रुपये के सिक्के चालू किये जिनमें चाँदी की मात्रा केवल ½ ही रक्खी गई। सन् १९४६ में निकल अथवा गिलट के सिक्कों का प्रचलन किया गया। चूंकि वर्तमान रुपये का सिक्का एक सांकेतिक सिक्का बन गया है, इसलिये इन सिक्को के सग्रह (Hoarding) का भय बिल्कुल भी नहीं रहा है।

निष्कर्ष—यह बात तो स्पष्ट है कि प्रामाणिक सिक्को की तुलना में सांकेतिक सिक्के बहुत खराब होते है तथा जनता का इनमे विश्वास भी बहुत कम होता है, परन्तु आधुनिक आर्थिक सगठन मे सांकेतिक सिक्कों का चलन अत्यावश्यक है क्योंकि मूल्यवान

धातुओं की न केवल स्वल्पता (Scarcity) है वरन् ये बहुत मूल्यवान भी है तथा इनके बने सिक्को मे लोचकता के गुण का भी पूर्ण अभाव होता है। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक जीवन म क्योकि सांकेतिक सिक्को से कोई कठिनाई अनुभव नही होती है इस कारण भी इन सिक्को की वृद्धि चलन मे होती जा रही है।

क्या भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है ? (Is the Indian Rupee a Standard Coin ?) —भारतीय रुपया आरम्भ से आज तक प्रामाणिक सिक्का माना गया है परन्तु इसम प्रधान सिक्के के सब गुण नही पाये जाते हैं। रुपया असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) है तथा यह देश का प्रमुख सिक्का है क्योंकि तमाम टैक्स तथा वस्तुओ का मूल्य रुपये म ही निर्धारित किया जाता है। परन्तु वर्तमान रुपये के सिक्क का अ कित मूल्य (Face Value) उसके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) से अधिक है तथा सन् १८६३ से इसकी स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई भी नही है। इससे स्पष्ट है कि रुपये मे यदि कुछ गुण एक प्रामाणिक सिक्के के पाये जाते हैं, तब इसमे कुछ गुण एक सांकेतिक सिक्के के भी पाये जाते हैं। इसलिए रुपये को सांकेतिक प्रामाणिक सिक्का (Token Standard Coin) तथा भारत मे मौद्रिक मान सांकेतिक मान (Token Standard) माना जाता है। न केवल भारत म बल्कि लगभग तमाम देशो म ही प्रामाणिक सिक्को का अ कित मूल्य उनके आन्तरिक मूल्य स अधिक पाया जाता है।

मुद्रा टंकण तथा सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द

__धात्विक मुद्रा का उदय__ (Origin of Metallic Money) —वस्तु विनिमय प्रणाली मे जब अनेक कठिनाइया अनुभव हुई, तब शनै शनै भिन्न भिन्न वस्तुओ का विनिमय माध्यम के साधन के रूप में प्रयोग होने लगा। परन्तु वस्तु द्रव्य (Commodity Money) नाशवान तथा अवहनीय (Unportable) था तथा कुछ वस्तुओ का विनिमय काय क लिये विभाजन ही नही हो सकता था इसलिये धातु द्रव्य का प्रयोग आरम्भ हुआ। आरम्भिक अवस्था में सोने व चांदी की सलाखो (Rods) अथवा टुकडो (Pieces) का विनिमय माध्यम के साधन क रूप में प्रयोग हुआ, परन्तु ये टुकडे टेढ़ मेढे शकल क होते थे तथा सलाखो को भी काट कर ही दिया जाता था। इस अवस्था में लेने वाले को टुकडे क वजन तथा इनकी शुद्धता की जाँच करनी पडती थी। इस कठिनाई को दूर करने क लिय कुछ प्रतिष्ठित सर्राफो तथा साहूकारो ने जिनकी साख का जनता को विश्वास था सोने चादी क टुकडो पर अपना चिन्ह लगाना आरम्भ कर दिया ताकि उन टुकडो की शुद्धता में मिलावट न की जा सके। परन्तु इन टुकडो का वजन तो अब भी करना पड़ता था। इस कठिनाई को दूर करने क लिये सोने चादी क एक निश्चित वजन क टुकडा पर चिन्ह अ कित किया जाने लगा जिससे अब इन टुकडो क वजन व शुद्धता की जाँच की आवश्यकता ही समाप्त हो गइ। इतिहास से पता चलता है कि विभिन्न देशो म सिक्के बनाने की कला म समय-समय पर बडे उल्लेखनीय परिवर्तन तथा सुधार किये हैं। १६वी शताब्दी में सिक्के बनाने की कला में इटली बडा प्रसिद्ध था। परन्तु इस कला का प्रवाह शनै

शनै: स्पेन, फ्रांस होता हुआ इंगलैंड तक पहुँचा यद्यपि आरम्भ में सिक्के बनाने का कार्य व्यक्तिगत टकसालों तथा कारखानों में किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे यह कार्य राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। इसका कारण स्पष्ट है। आरम्भ में सिक्कों में उतने ही मूल्य की मूल्यवान धातु रहती थी जितने मूल्य का सिक्का चलन में होता था, परन्तु बाद में सिक्कों का अंकित मूल्य इनके आन्तरिक मूल्य से अधिक रखा जाने लगा। इस अवस्था में टंकण-लाभ प्राप्त करने के लिये ही राज्य ने टंकण का कार्य अपने हाथ में लिया और आज यह कार्य प्रत्येक देश में पूर्णतया राज्य के हाथ में ही होता है। टंकण में धीरे-धीरे सुधार होता गया और अन्ततः १८वीं शताब्दी में ऐसे सिक्कों का निर्माण होने लगा जिनमें धोके व जालसाजी की सम्भावना कम से कम थी।

टंकण के उद्देश्य

टंकण के उद्देश्य (Aims of Coinage):—टंकण के कई महत्वपूर्ण उद्देश्य हुआ करते हैं।—(i) धोखेबाजी तथा जालसाजी से बचने के लिये सिक्के समान वजन तथा समान शुद्धता के बनाने चाहियें अर्थात् सिक्कों में समानता (Uniformity) तथा परिचय-शीलता (Cognizibility) के गुण होने चाहिये। (ii) सिक्के इस प्रकार के होने चाहिये कि इनमें से आसानी से धातु काटकर (Clipping) या गलाकर न निकाली जा सके। (iii) सिक्के इतने कड़े व सख्त होने चाहिये कि चलन के अन्तर्गत इनमें घिसावट द्वारा धातु नष्ट नहीं हो सके। इसीलिये आजकल सिक्कों को कड़ा करने के लिये मूल्यवान धातुओं में कुछ टांका मिलाया जाता है। (iv) सिक्कों को इस प्रकार ढालना चाहिये तथा इन पर इस प्रकार के चिन्ह अंकित करने चाहियें कि ये आसानी से नकली नहीं बनाये जा सकें। (v) सिक्कों का रूप व शक्ल-सूरत कलापूर्ण होना चाहिये ताकि ये देश की संस्कृति का निरूपण कर सकें। जब सरकार टंकण करते समय इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर धात्विक-मुद्रा का निर्माण करती है, तब ही देश में अच्छे, उत्तम व सुन्दर सिक्कों का चलन होने पाता है।

टंकण प्रणालियां

टंकण प्रणालियां (Coinage Systems) :—संसार में टंकण की दो मुख्य प्रणालियां हैं.—(क) स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई तथा (ख) सीमित मुद्रा ढलाई।

(क) स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage) :—इसको कभी-कभी असीमित मुद्रण भी कहते है। **जबकि टकसाल जनता के लिये खुली होती है अर्थात् जबकि जनता को राज्य द्वारा यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह जिस मात्रा में चाहे बहुमूल्य धातु (सोना या चांदी जिसके भी सिक्के प्रचलित हों) टकसाल में ले जाकर उसके बदले में सिक्के ले सकती है तब इस प्रणाली को स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई कहते हैं।** यह टंकण निःशुल्क या सशुल्क होता है, परन्तु दोनों ही दशाओं में जनता को धातु (Bullion) को सिक्कों में ढलवाने की स्वतन्त्रता होती है। इंगलैंड में सन् १९३१ तक तथा भारत में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई की ही प्रणाली थी। इस प्रकार की टंकण की प्रथा उन्नीसवी शताब्दी में सफलतापूर्वक चालू थी। उस समय

जनता सिक्के अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिये टकसाल से ढलवाया करती थी, परन्तु इस कार्य में वे नफा नहीं कमाया करते थे। सरकार सिक्के धातु के बदले में जिस दर पर देती है, उसे धातु का टकसाली मूल्य (Mint Price) कहते हैं।

स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई के रूप (Forms of Free Coinage)—स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई के दो मुख्य रूप हैं—(अ) निःशुल्क मुद्रण (Gratuitous Coinage)—स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई का यह अर्थ नहीं होता है कि टकसाल सिक्के ढालने का कुछ भी खर्च नहीं लेती और सिक्के मुफ्त में ही ढाल देती है वरन् इसका अर्थ केवल यही है कि सरकार ने जनता को यह अधिकार दे रक्खा है कि जनता अपनी धातु के सिक्के जब चाहे तब ढलवा सकती है। यदि सरकार इस कार्य के लिये कुछ भी शुल्क नहीं लेती, तब इसे निःशुल्क मुद्रण (Gratuitous Coinage) कहते हैं। चूंकि ढलाई का कार्य मुफ्त किया जाता है, इसलिये कार्य में जो व्यय होता है उसे सरकार अपनी साधारण आय में से चुकाती है। इंगलैंड और अमेरिका में पूर्णकाय सिक्कों (Full Bodied Coins) के टकण के लिये यही प्रणाली प्रचलित थी। (आ) सशुल्क मुद्रण (Non-gratuitous Coinage)—जब सरकार टकण कार्य के लिये कुछ शुल्क लेती है, तब इसे सशुल्क मुद्रण कहते हैं। सशुल्क मुद्रण भी दो प्रकार का होता है। (क) टकण व्यय (Brassage)—जब सरकार सिक्के ढालने का खर्च ठीक उतना ही लेती है जितना वास्तव में टकसाल को व्यय करना पड़ता है, तब इस प्रकार के व्यय को मुद्रण व्यय या टकण-व्यय (Brassage) कहते हैं। यह स्मरण रहे कि सरकार मुद्रण-व्यय उसी व्यक्ति से वसूल करती है जो धातु को सिक्कों में ढलवाना चाहता है, परन्तु सरकार इस प्रकार के टकण कार्य में कुछ भी लाभ नहीं कमाती है क्योंकि सरकार अपने टकण व्यय के बराबर ही रकम लेती है। (ख) टकण लाभ (Seigniorage)—जब सरकार सिक्कों की ढलाई के लिये मुद्रण-व्यय से अधिक रकम वसूल करती है, तब व्यय से अधिक सरकार जो कुछ लेती है उसे मुद्रण-लाभ (Seigniorage) कहते हैं। सरकार इस प्रकार का लाभ दो प्रकार से प्राप्त करती है। प्रथम सरकार धातु में खोट या टांका मिला देती है या द्वितीय सरकार प्रत्यक्ष रूप में ढलाई लाभ लेती है। इस प्रकार का टकण लाभ सांकेतिक मुद्रा में सबसे अधिक होता है। उदाहरण के लिये, सन् १६४६ के पूर्व भारतीय रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु थी, इस तरह चाँदी का मूल्य केवल ६ आने २$\frac{3}{4}$ पाई था किन्तु रुपये का बाह्य मूल्य १६ आने था। अतः सरकार प्रति रुपया (१६ आने—६ आने २$\frac{1}{4}$ पाई=) ६ आने ६$\frac{3}{4}$ पाई टकण-लाभ लेती थी।

(स) सीमित मुद्रा-ढलाई (Limited Coinage)—जब सिक्के बनाने का अधिकार केवल सरकार तक ही सीमित रहता है और जनता को यह अधिकार नहीं होता कि वह धातु के बदले में सिक्के प्राप्त कर सके, तब इस प्रकार की व्यवस्था को सीमित मुद्रा ढलाई (Limited Coinage) कहते हैं। इस दशा में यह कहा जाता है कि टकसाल जनता के लिये नहीं खुली है। इस पद्धति में सरकार स्वयं धातु खरीदकर देश की आवश्यकतानुसार मुद्रा बनाने का कार्य करती है। इस समय संसार के सभी

देशों में टकण की यही प्रणाली प्रचलित है। हरशैल (Herschell) कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १८९३ मे भारत में भी रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया गया और तब से आज तक भारत में सीमित मुद्रा ढलाई की प्रणाली है।

कौन सी प्रथा स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई या सीमित-मुद्रा ढलाई उपयुक्त है ?:—यह कहना कठिन है कि मुद्रण की कौन-सी प्रणाली सबसे अच्छी है क्योंकि इस प्रकार का निर्णय परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। सीमित मुद्रा ढलाई (Free Coinage) के पक्षपातियों का विचार है कि इस प्रथा मे मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय मिट जाता है और मुद्रा प्रसार की सम्भावना अत्यधिक कम हो जाती है। सीमित मुद्रा ढलाई (Limited Coinage) के समर्थकों ने यह कहा है कि इस प्रथा में सरकार सांकेतिक सिक्के निकाल कर सोने व चांदी के उपयोग से बच जाती है।

निकृष्टता और अवमूल्यन (Debasement and Devaluation)

<u>सिक्कों की निकृष्टता</u> (Debasement of the Coins) :—सरकार देश मे सिक्के प्रायः किसी टकण विधान (Coinage Act) के अनुसार ढाला करती है। परन्तु जब कानून में बिना हेर-फेर किये सरकार सिक्के में जितनी प्रमाणित धातु होनी चाहिये उससे कम धातु लगाती है अर्थात् जब सरकार सिक्के का आन्तरिक अर्थ (Intrinsic Value) कम कर देती है, तब इस क्रिया को निकृष्टता (Debasement) तथा इन सिक्कों को निकृष्ट सिक्के (*Debased Coins*) कहते हैं। कुछ परिस्थितियों में प्रत्येक देश की सरकार को इस प्रकार के निकृष्ट सिक्के जारी करने पड़ते हैं। प्राचीन काल में सरकारें सिक्कों की निर्यात को रोकने तथा टकण से लाभ प्राप्त करने के लिये सिक्कों मे निकृष्टता लाया करती थी। भारत सरकार ने स्वयं भी ऐसा ही किया है। सन् १९०६ के (Indian Coinage Act) के अनुसार रुपये के १८० ग्रेन के वजन मे ¹¹⁄₁₂ शुद्धता होनी चाहियें, परन्तु सरकार ने सन् १९४० मे इसे घटाकर ½ कर दिया था। अत सन् १९४० मे भारतीय सरकार ने रुपये को निकृष्ट (Debase) कर दिया था।

कभी-कभी यह क्रिया बेईमान व धोखेबाज व्यक्तियों द्वारा भी की जाती है। वे कई तरीके अपनाकर सिक्कों में निकृष्टता उत्पन्न कर सकते हैं—(i) किनारा काटना (Clipping):—सिक्कों को किसी तेज चाकू से काटकर या कुरचकर या रेती से रगड़कर उसकी कुछ धातु को सिक्कों से अलग कर लेने की क्रिया को किनारा कटाई (Clipping) कहते हैं। यह क्रिया इतनी सावधानी तथा चतुराई से की जाती है कि देखने वाले को आसानी से इस बात का ज्ञान नहीं होने पाता है। आजकल इस दूषित क्रिया को रोकने के लिये ही सिक्कों पर कोई चिन्ह एवं तस्वीर अंकित की जाती है तथा किनारों को *किट-किटीदार (Milled Edges) बनाया जाता है ताकि कोई व्यक्ति सिक्कों के किनारों* को आसानी से नहीं काट सके और यदि किनारे काट भी लिये जाते हैं तब इसका पता आसानी से चल जाता है। (ii) सिक्के घिसना (Abrasion) :—जब सिक्कों को किसी थैलो में डालकर रगड़ा जाता है या झटके दिये जाते हैं, तब धातु के कुछ कण सिक्कों से अलग हो जाते हैं। इस क्रिया को ही सिक्कों का घिसना (Abrasion) कहा जाता है। प्राचीन समय में सिक्के प्रायः सोने व चांदी के बनते थे, इसलिये बेईमान व्यक्ति

सिक्कों को रगड़कर तथा इनके कणों को एकत्रित करके इन्हें सोने-चांदी के भाव पर बेच कर लाभ प्राप्त किया करते थे। इस तरह ये व्यक्ति सिक्कों को घिसकर इन्हें निकृष्ट बना देते थे। (iii) सिक्के जलाई (Sweating)—जब सिक्कों को किसी तेजाब में डाल दिया जाता है तब इनकी कुछ धातु गलकर तेजाब में मिल जाती है। तत्पश्चात् किसी रसायनिक क्रिया द्वारा धातु के कण इस तेजाब में से अलग कर लिये जाते हैं। इस तरह सिक्कों को जलाकर उनकी धातु की मात्रा को कम करने की क्रिया को सिक्के जलाई (Sweating) कहते हैं। (iv) जाली सिक्के बनाना (Counterfeiting) —कभी-कभी बेईमान व धोखेबाज व्यक्ति जाली व नकली सिक्के बनाते हैं जिनमें सरकारी सिक्कों की तुलना में बहुमूल्य धातु की मात्रा कम होती है। सरकार द्वारा निर्धारित बहुमूल्य धातु की मात्रा से कम मात्रा के सिक्के बनाने की क्रिया को जाली सिक्के (Counterfeiting) बनाना कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया को प्रायः सुनार तथा अन्य कारीगर करते हुए पकड़े जाते हैं और वे इस कार्य में इतनी कुशलता प्राप्त कर लेते है कि इनके द्वारा बनाए गये सिक्कों को असली सिक्कों से भेद करने में कठिनाई अनुभव होने लगती है।

सिक्कों तथा मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation of Coins or Money)—अवमूल्यन में सिक्के के अन्दर की धातु के परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता है अर्थात् सिक्के के वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) में कोई कमी नहीं की जाती है। परन्तु अवमूल्यन में मुद्रा या सिक्कों (प्रामाणिक सिक्के) का विदेशी द्रव्य या विदेशी सिक्कों के रूप में मूल्य कम कर दिया जाता है अर्थात् हमारे जितने सिक्के या जितनी मुद्रा अमुक विदेशी मुद्रा के बदले में पहले दी जाती थी, अब अवमूल्यन के पश्चात् पूर्ववत् विदेशी मुद्रा के बदले में हमारी मुद्रा या सिक्के पहले से अधिक दिये जाते हैं। इस तरह अवमूल्यन में विदेशी मुद्रा के विनिमय में पहले से अधिक देशी मुद्रा दी जाती है। अतः मुद्रा की देश के अन्दर जो क्रय-शक्ति है उस क्रय-शक्ति में किसी प्रकार की कमी न करते हुए जब इसका विदेशी विनिमय मूल्य कम किया जाता है, तब हम इस क्रिया को अपने देश की मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) करना कहते हैं। उदाहरण के लिये, भारतीय रुपया १८ सितम्बर १९४९ के पहले ३०·४ सेंट (अमेरिकन मुद्रा) या ०·२६८६०१ ग्राम सोना खरीदता था, परन्तु १८ सितम्बर सन् १९४० को इसका मूल्य २१ सेंट या ०·१८६६२१ ग्राम सोना कर दिया गया। इस प्रकार १८ सितम्बर सन् १९४९ को भारतीय रुपये की विदेशी क्रय-शक्ति में जो कमी की गई, उसे रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) कहते हैं। यह स्मरण रहे कि मुद्रा अवमूल्यन से निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात कम हो जाता है क्योंकि विदेशी माल महंगा हो जाता है।

(ii) पत्र-मुद्रा (Paper Money)

पत्र-मुद्रा क्या है? (What is Paper Money?)— "पत्र मुद्रा कागज पर किसी सरकार या अधिकृत संस्था (जैसे बैंक ऑफ इंगलैंड, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) के विशेष चिन्हों द्वारा, मांगने पर निश्चित संख्या में प्रधान मुद्रा देने का लिखित वायदा

है, जैसे—भारत में पांच रुपये का नोट आदि।"* इस प्रकार के नोटों पर रिजर्व बैंक का वायदा छपा होता है कि वह मांगने पर अमुक नोटों पर लिखित रकम के बराबर प्रधान मुद्रा देगा। आधुनिक युग में लगभग तमाम देशों में मुद्रा का अधिकांश भाग पत्र-मुद्रा का ही है। पत्र-मुद्रा के अनेकों लाभ होने के कारण इसका चलन में भाग दिन प्रति दिन बढ़ता ही चला गया है। यह बहुत सुविधाजनक होती है, इससे बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत होती है तथा सरकार अपने आर्थिक संकट का मुकाबला पत्र-मुद्रा द्वारा बहुत आसानी से कर लेती है।

पत्र-मुद्रा का उदय

पत्र-मुद्रा का उदय (Origin of Paper Money)—चूंकि चीन में सबसे पहले कागज का आविष्कार हुआ था, इसलिए पत्र-मुद्रा का उपयोग भी सर्वप्रथम चीन (China) में ६वीं शताब्दी के आरम्भ में होने लगा था और वहाँ से ही उसका प्रसार अन्य देशों में हुआ।† परन्तु पत्र-मुद्रा का उपयोग १७ वीं व १८ वीं शताब्दी में ही विशेष रूप से हुआ है। भारत में पत्र-मुद्रा का उपयोग सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ जबकि बैंक ऑफ बंगाल (Bank of Bengal) को सन् १८०६ में पत्र चलन का अधिकार मिला। श्री जी० क्राउथर (G. Crowther) के अनुसार समस्त कागजी मुद्रा का आधुनिक ढांचा धीरे-धीरे चार अवस्थाओं से सुदृढ़ तथा विकसित होता आया है:—
(i) प्रथम अवस्था—इसमें कुछ प्रसिद्ध बैंक रुपया जमा करने वालों को जमा की हुई रकम के ऐसे प्रमाण-पत्र (Certificates of Deposits) देते थे जिनको पेश करके उन बैंकों से या उनकी शाखाओं से या अन्य नगरों में उनके एजेन्टों से रुपया मिल सकता था। (ii) दूसरी अवस्था—यह वह अवस्था थी जिसमें कुछ बैंकों को नोट-जारी करने का अधिकार सरकार ने दे दिया था। बैंकों में रुपया जमाकर्ताओं को ही ये नोट बैंक द्वारा दिये जाते थे और इनका चलन भी एक सीमित क्षेत्र में ही था। ये नोट सर्वमान्य भी नहीं थे। (iii) तीसरी अवस्था—यह वह अवस्था थी जबकि बैंकों को जनता द्वारा रुपया जमा की गई रकम से भी अधिक रकम का नोट जारी करने का अधिकार सरकार से मिल गया था। यह स्पष्ट है कि यह अधिकार इस विश्वास पर दिया गया था कि 'साधारणतया' बैंकों में रुपया जमा करने वाले ग्राहक एक ही समय पर अपनी सारी जमा की हुई रकम बैंकों से नहीं निकालते। (iv) चौथी अवस्था—यह नोट जारी करने की वर्तमान अवस्था है। इसमें सरकार ने नोट जारी करने का अधिकार सभी बैंकों को न देकर केवल देश के केन्द्रीय बैंक को ही दिया है या सरकार स्वयं नोटों का प्रचलन करती है। वर्तमान नोट अपरिमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) है और सरकार या केन्द्रीय बैंक इनको प्रामाणिक सिक्कों में परिवर्तित करने का वचन दिया करती है। अब नोट पूर्णतया मुद्रा का कार्य करते हैं।

* Except on a One Rupee Note, on all other Currency Notes, a promise like this is printed—"I promise to pay the bearer on demand the sum of.. ...Rupees at any office of issue—Sd. Governor, Reserve Bank of India."

† Money by Kindley, p. 329.

यदि किसी देश में नोटों का प्रचलन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है, तब इन पर नियन्त्रण तथा इनका निरीक्षण करने का अधिकार सरकार के पास ही होता है। विभिन्न देशों में कागजी मुद्रा में भिन्न भिन्न मूल्य के नोट हैं। भारत में १ रुपये, २ रुपये, ५ रुपये, १० रुपये, १०० रुपये तथा १००० रुपये के नोट हैं।

पत्र-मुद्रा के भेद

पत्र-मुद्रा के भेद (Forms of Paper Money)—पत्र-मुद्रा को उसके प्रामाणिक मुद्रा में बदलने के लिए रक्खे गये रक्षित कोष (Reserve Fund) के आधार पर तीन भागों में बाटा जा सकता है—(क) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा, (ख) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा (ग) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा।

(क) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)—जब किसी पत्र-मुद्रा के पीछे इसके मूल्य के बराबर सोना या चाँदी रक्षित निधि के रूप में रक्खी जाती है, तब इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money) कहते हैं। नोट जारी करने के प्रारम्भिक काल में नोटों के प्रचलन का उद्देश्य मूल्यवान धातुओं की घिसावट (Wear and Tear) में होने वाली हानि से बचना था। इसीलिए जो नोट जारी किये जाते थे, वे खजाने में जमा सोने व चाँदी (Silver and Gold Bullion) के प्रतिनिधिस्वरूप ही थे क्योंकि माँग होने पर नोटों के बदले में सोना व चाँदी को प्राप्त किया जा सकता था। अतः प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा इस बात की सूचक थी कि सरकार या बैंक (जिसने भी नोट जारी किये हैं) के रक्षित-कोष में नोटों के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी जमा है। भारत में सन् १९२५ में हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने स्वर्णपाट-प्रमाण-पत्रों (Gold Bullion Certificate-) के रूप में इसी प्रकार की पत्र-मुद्रा की व्यवस्था की सिफारिश की थी, परन्तु यह अपनाई नहीं गई। परन्तु अमरिका में स्वर्ण तथा चाँदी प्रमाण-पत्रों (Gold and Silver Certificates) के रूप में यह प्रथा प्रचलित थी। अमेरिकन सरकार ने इनके मूल्य के बराबर सोना-चाँदी सरकारी कोषागार में जमा करके इन प्रमाण-पत्रों (Certificates) की गारन्टी दे दी है।

गुण-दोष—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा प्रणाली के अनेक गुण हैं – (i) बहुमूल्य धातुओं की बचत—जब सोने व चाँदी के सिक्के चलन में रहते हैं, तब कुछ समय में ही वे सिक्के घिस जाते हैं जिससे देश का सोना व चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की हानि होती है। परन्तु जब इन सिक्कों के स्थान पर नोटों का प्रचलन होता है, तब धातुओं की बचत होती है। (ii) जनता का विश्वास—इस प्रणाली में जनता का नोटों में विश्वास होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है कि वह नोटों के बदले में जब चाहे तब सोना-चाँदी प्राप्त कर सकता है। सरकार भी धातुएँ आसानी से दे देती है क्योंकि उसके पास में रक्षित कोष में जमा रहती है। (iii) मुद्रा स्फीति (Inflation) का भय नहीं रहता है—नोटों की मात्रा को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि ठीक उतनी ही मात्रा का सोना-चाँदी रक्षित कोष में जमा किया जाय। चूँकि मूल्यवान धातुएँ स्वल्प (Scarce) मात्रा में उपलब्ध होती हैं इसलिए नोटों की मात्रा भी सीमित ही रहती

है। परन्तु इस प्रणाली में इतने गुण होते हुए भी कुछ दोष हैं—(i) इस प्रथा में सोने-चांदी की बचत विशेष नहीं होती :—इसका कारण यह है कि नोटों के मूल्य के बराबर धातुएं रक्षित कोष मे रखनी पड़ती है। (ii) यह प्रणाली बेलोचदार होती है—चूंकि बिना सोना-चांदी की मात्रा को बढाये, नोटो की मात्रा नही बढ़ाई जा सकती, इसलिए यह प्रणाली पूर्णतया बेलोचदार होती है। परिणाम यह होता है कि इस प्रणाली मे कोई भी राष्ट्र आर्थिक संकट का सामना नही करने पाता है क्योंकि वह नोटो की सख्या को बढाने नही पाता है। (ii) गरीब देश में इस प्रणाली का प्रचलन नहीं हो पाता—चूंकि इस प्रणाली का आधार मुख्यतः सोना है, इसलिए एक निर्धन राष्ट्र इस प्रथा को नही अपनाने पाता है।

(ख) परिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money):—जब किसी देश की चलन-प्रणाली में इस प्रकार के नोट जारी किये जाते हैं कि उनको हम किसी भी समय प्रधान सिक्कों में बदल सकते हैं, तब इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Morey) कहते हैं। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा जारी करने का आधार यह सिद्धान्त है कि तमाम जारी किये गये नोट 'साधारणतया' एक साथ ही भुनने के लिये पेश नही किये जाते हैं। इस प्रथा की विशेषताएं इस प्रकार हैं.—(i) नोटो के पीछे सोना-चांदी रक्षित-कोष मे जमा रक्खा जाता है, परन्तु इन धातुओं का मूल्य नोटो के मूल्य से कम रहता है। (ii) नोट निर्गमन अधिकारी चाहे वह सरकार हो या बैंक, वह गारन्टी देता है कि जब चाहे तब कोई भी व्यक्ति नोटों के बदले खजाने से सोना-चांदी ले सकता है।* (iii) जनता अपने विदेशी भुगतानो (Foreign Paymerts) को चुकाने के लिये सोना-चादी सरकार से ले सकती है। (iv) रक्षित-कोष में न केवल सोना-चादी ही होता है बल्कि इसके कुछ भाग में प्रधान सिक्के (Standard Coins), सांकेतिक सिक्के (Token Coins) तथा प्रमाणित प्रतिभूतिया (Approved Securities) भी होती हैं। ये प्रतिभूतियां बहुत ही शीघ्र बिकने वाली होती हैं। इसी लिये इन्हें सर्वोत्तम सुरक्षित प्रतिभूतियां (Securities-First Class or Gilt-edged Securities) कहा जाता है। अतः इस प्रकार की प्रणाली मे रक्षित-कोष मे पत्र-मुद्रा की मात्रा के बराबर मूल्यवान धातु नही रक्खी जाती बल्कि वह इससे कम ही होती है। जो निधि धातु मे रक्खी जाती है उसे धात्विक निधि (Metallic Reserve) और इस धात्विक निधि के मूल्य के बराबर नोटो की मात्रा को कुल पत्र-मुद्रा का रक्षित भाग (Covered Issue) तथा जो भाग प्रतिभूतियो (Securities) मे रक्खा जाता है उसे

*यह स्मरण रहे कि यदि देश की पत्र-मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा मे परिवर्तनशील न होकर अन्य किसी वस्तु मे परिवर्तनशील है, जैसे—गेहूं, चना, जमीन आदि तब हम इस पत्र-मुद्रा को परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा नही कहेंगे क्योंकि अर्थशास्त्र मे मुद्रा के सम्बन्ध में 'परिवर्तनशील' शब्द का अर्थ केवल विधिग्राह्य प्रामाणिक मुद्रा तक ही सीमित है। "The word 'convertible' is restricted in Monetary Science to redeemability in legal tender standard money and in that alone"—*Money* by Kinley, p 331.

अरक्षित भाग (Fiduciary Portion) कहते हैं। (v) सरकार एक पूर्व निश्चित दर पर सदा सोना-चादी खरीदने वेचने के लिये तैयार रहती है। (vi) इस प्रकार का चलन तभी सम्भव होता है जबकि जनता को सरकार तथा बैंक अथवा इनके नोटो म विश्वास होता है। जब किसी विषम सकटकाल मे जनता का सरकार या बैंक म विश्वास नही रहता, तब इस प्रकार की प्रणाली का चलन कठिन हो जाता है।

गुण-दोष—परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रथा के कुछ गुण हैं जो इस प्रकार हैं—(i) **मूल्यवान धातुओं मे बचत**—पत्र मुद्रा के चलन के कारण मूल्यवान धातुओं की बचत हो जाती है। (ii) **जनता का विश्वास होता है**—चूँकि इस प्रणाली मे नोट निर्गमन अधिकारी पत्र मुद्रा के पीछे कुछ न कुछ धात्विक कोष (Metallic Reserve) रखता है इस कारण जनता का पत्र मुद्रा मे विश्वास रहता है क्योकि सरकार नोटो के बदले सोना चादी देने की गारन्टी देती है। (iii) **देशी विदेशी व्यापार मे सुगमता**—चूँकि इस प्रथा म देशी विदेशी व्यापार के भुगतान के लिए सरकार से सोना-चादी एक पूर्वनिश्चित दर पर हर समय मिल सकता है, इसलिये व्यापारिक भुगतान मे भी सुगमता रहती है। (iv) **यह एक लोचदार प्रणाली है**—चूँकि इस प्रथा म थोडे से धात्विक कोष के आधार पर ही कई गुनी पत्र मुद्रा जारी की जा सकती है, इसलिए यह प्रणाली बहुत लोचदार है। परन्तु इस प्रथा के जहा इतने गुण हैं वहां इसके अनेक दोष भी हैं—(i) **इस प्रथा मे जनता का विश्वास प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा प्रथा से कम होता है**—इसका कारण स्पष्ट है। यहा १००% धात्विक रक्षित कोष के स्थान पर कुछ नोटो का केवल एक भाग ही धात्विक-कोष के रूप म होता है। परिणामत सकट काल मे इस प्रकार के मुद्रा चलन को बनाये रखने मे कठिनाई होती है। (ii) **मुद्रा का आवश्यकता से अधिक प्रसार हो सकता है**—अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार, बिना बहुत-कुछ सोचे-समझे, पत्र मुद्रा का प्रसार कर सकती है। मुद्रा-स्फीति (Inflation) की दशा उत्पन्न हो जाने पर न केवल जनता का पत्र मुद्रा म से विश्वास उठ जाता है वरन् इसका देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दशा पर भी बहुत बुरा प्रभाव पडता है।

सन् १६१५ मे इङ्गलैंड तथा फ्रास दोनो ही देशो ने यह प्रणाली अपनाई थी। हिल्टन-यग कमीशन (Hilton Young Commission) की सिफारिशो के आधार पर सन् १६२७ मे भारतीय पत्र मुद्रा को भी परिवर्तनीय घोषित कर दिया गया। इस प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ करते समय सरकार ने यह गारन्टी दी थी कि कोई भी व्यक्ति कम से कम ४० तोले सोने को नोटो के बदले २१ रु० ७ आने १० पाई प्रति तोला के हिसाब से खरीद सकता है। परन्तु जब सन् १६३१ म देश म स्वर्णमान पद्धति (Gold Standard) का अन्त हुआ तब इसी के साथ ही साथ भारत म उक्त पद्धति का भी अन्त हो गया।

(ग) **अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा** (Inconvertible Paper Money)—जब कभी ऐसी पत्र-मुद्रा का चलन किया जाता है जिसके बदले मे सरकार ने सिक्के अथवा मूल्यवान धातु देने की गारन्टी नहीं की है और न यह इन्हें देने

के लिये कानूनन बाध्य हो की जा सकती है, तब इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Morey) कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा का चलन केवल सरकार की साख (या जनता का सरकार मे विश्वास) के आधार पर किया जाता है। इसीलिए अक्सर इस प्रकार की मुद्रा का निर्गमन (Issue) आर्थिक संकट काल में किया जाता है। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की कई विशेषतायें हैं.—(i) यह मुद्रा प्राय. आर्थिक संकट काल में जारी की जाती है जिससे कुछ लेखकों ने इसे संकट कालीन मुद्रा (Emergency Money) का नाम दिया है। परन्तु वर्तमान ससार मे इस प्रकार की मुद्रा का चलन एक साधारण व स्वाभाविक घटना समझी जाती है। (ii) इस मुद्रा के पीछे अक्सर किसी भी प्रकार की सुरक्षित निधि धातु के रूप मे नही रक्खी जाती है और न सरकार नोटो को धातु या अन्य किसी प्रकार की मुद्रा मे बदलने की ही गारन्टी देती है।* (iii) प्राय. इसका निर्गमन (Issue) एक सीमित मात्रा मे किया जाता है, परन्तु सरकार अपनी इच्छा तथा आवश्यकतानुसार इसमे समय-समय पर वृद्धि कर सकती है।

<u>गुण-दोष</u>.—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा कानूनी द्रव्य होने के कारण यह द्रव्य का समस्त कार्य भली प्रकार करती है और जनता को इसके बदले धातु-द्रव्य लेने की कोई आवश्यकता भी अनुभव नही होती है। यह मुद्रा भी असीमित विधि-ग्राह्य होती है। इस मुद्रा मे जनता का विश्वास भी कम होता है और जनता इसे बिना उनकी सम्मति के लगाए गए कर (Tax) के रूप मे मानती है तथा इसका रूप एक जबरदस्ती लिया गया ऋण (Debt) भी होता है। इस मुद्रा प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे देश में मुद्रा-स्फीति (Inflation) की दशा उत्पन्न हो जाने का सदा भय रहता है क्योंकि ऐसी मुद्रा को नियन्त्रित करने का कोई भी साधन उपलब्ध नही होता है। मुद्रा-स्फीति से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे निश्चित आय वाले वर्ग तथा उपभोक्ताओं को हानि होती है। देश की मुद्रा का भी विदेशी विनिमय दर (Foreign Rate of Exchange) कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली से अन्त-

---

*विद्यार्थियों को अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money) अरक्षित पत्र-मुद्रा (Fiduciary Issue or Fiat Money) मे भेद समझ लेना चाहिए। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलन में धात्विक रक्षित कोष (Metallic Reserve) रक्खा जा सकता है, परन्तु इस प्रकार का कोष होते हुए भी यह मुद्रा अपरिवर्तनीय हो सकती है क्योंकि सरकार नोटों के बदले मे सिक्के या धातु देने के लिए बाध्य नही की जा सकती है। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय मे अमेरिका की सरकार किसी भी प्रकार की पत्र-मुद्रा के लिए कानूनन स्वर्ण-निधि रखती हैं परन्तु फिर भी सब प्रकार पत्र-मुद्राए अपरिवर्तनीय हैं। अत पत्र-मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत पूर्णकाय द्रव्य चलन- भी यह अपरिवर्तनीय हो सकती है। परन्तु अरक्षित मुद्रा (Fiat [illegible]oney) करते हैं नोटों की आड में कुछ भी धात्विक रक्षित-कोष (Metallic Reserve) [illegible]ता है और और न ये नोट सिक्के व धातु मे ही परिवर्तनीय होने हैं [illegible] इनके पीछे है और न का कागजी-कोष (अर्थात् सिक्यूरीटीज, बोंड्स, ट्रेजरी [illegible]) भी नहीं बहुत अनिश्चित

र्राष्ट्रीय व्यापार में बाधाएं पड़ने लगती हैं। वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने से आयात अधिक होता है और निर्यात कम हो जाता है। भारत का १ रु० का नोट जो युद्धकाल में जारी किया गया था इसी प्रकार की अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा है। प्रथम महायुद्ध में बहुत से देशों (जर्मनी, रूस तथा आस्ट्रेलिया) ने इसी प्रणाली की शरण ली थी।

पत्र-मुद्रा के लाभ-दोष

(Advantages and Disadvantages of Paper Money)

पत्र-मुद्रा के लाभ (Advantages of Paper Money)—आधुनिक युग में लगभग सब ही देशों में पत्र-मुद्रा का चलन है। इस मुद्रा के अनेक लाभ हैं—(i) **पत्र-मुद्रा में बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है**—पत्र-मुद्रा के उपयोग से धातु मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है जिससे सोने-चांदी की बचत होती है और इन धातुओं के बने सिक्कों के प्रचलन से जो घिसावट (Wear and Tear) की हानि होती है, वह भी पत्र-मुद्रा के कारण नहीं होने पाती है। इसके अतिरिक्त बहुमूल्य धातुओं का उपयोग अन्य कला-कौशल तथा औद्योगिक विकास के कामों में होने लगता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने पत्र-मुद्रा की तुलना हवा में चलने वाले रेल के डिब्बे से की है और कहा है कि 'कागज के नोट आकाश मार्ग की तरह हैं, इनसे सामान ले जाने का कार्य भी होता है तथा इनके बीच की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताएं पूरी की जा सकती हैं' ।* (ii) **पत्र-मुद्रा में मितव्ययिता होती है**—सरकार के दृष्टिकोण से पत्र-मुद्रा बहुत सस्ती तथा मितव्ययी होती है क्योंकि इसके निर्माण करने में बहुत कम उत्पादन-व्यय होता है। परन्तु धातु-मुद्रा को बनाने के लिए खानों (Mines) में से खनिज-सम्पत्ति को निकालने, इसको गलाने व साफ करने तथा सिक्कों में ढालने के लिए बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। इस तरह धातु मुद्रा को ढालने के लिए जो श्रम व पूंजी हम उपयोग में लाते हैं, पत्र मुद्रा के प्रचलन से उसे हम अधिक समाज उपयोगी उद्योगों तथा अन्य व्यवसायिक कार्यों में लगा सकते हैं। पत्र से बचाई गई मूल्यवान धातुओं का विदेशों से आवश्यक पदार्थों के खरीदने के लिए भी उपयोग हो सकता है तथा इन धातुओं का विदेशों को निर्यात करके भी लाभ कमाया जा सकता है। (iii) **पत्र-मुद्रा में वहनीयता होती है**—मूल्य के अनुपात में पत्र मुद्रा का बोझ लगभग नगण्य होता है जिससे इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत सुगमता से लाया-लेजाया जा सकता है। इस तरह पत्र-मुद्रा में वहनीयता का गुण होता है। इसीलिए बहुत बड़े-बड़े व्यापारिक भुगतानों को पत्र मुद्रा द्वारा बहुत आसानी से [illegible]या जाता है। पत्र मुद्रा को गिनने व सम्भालने में भी बहुत सुगमता होती है। हिसाब [illegible] (Gold S[illegible] **[illegible]मुद्रा में लोचकता होती है**—पत्र मुद्रा का यह गुण है कि इसकी मात्रा में माग भी अन्त हो[illegible] घट-बढ़ बहुत आसानी से की जा सकती है, परन्तु धात्विक मुद्रा में ऐसा सम्भव (ग) [illegible]कि सोने चांदी का उत्पादन सीमित मात्रा में होता है तथा ये धातुएं भी कभी ऐसी पत्र[illegible] होती हैं। (v) **पत्र-मुद्रा से सरकार को भी लाभ होता है**—कुछ आर्थिक अथवा मूल्यवान [illegible]कार को [illegible] निश्चित ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है। परन्तु

* by Adam Smith, P 347

जब कभी सरकार की साख कम हो जाती है, तब उसे रुपया उधार मिलने में कठिनाई अनुभव होने लगती है और उसे ऋण लेने के लिए अधिक ब्याज का आकर्षण देना पड़ता है। इस प्रकार की दशा में, सरकार पत्र-मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर अपने आय-व्ययक (Budget) को संतुलित कर लेती है जिससे उसे न तो अधिक ब्याज की दर पर ऋण ही लेना पड़ता है और न उसे ब्याज में दी जाने वाली रकम को कर (Tax) द्वारा वसूल करने की ही व्यवस्था करनी पड़ती है। पिछले युद्धकाल में लगभग सभी सरकारों ने ऐसा किया था। अतः पत्र-मुद्रा चलन से सरकार को भी लाभ होता है यद्यपि जनसाधारण पर उक्त मुद्रा-प्रसार की क्रिया का बुरा प्रभाव पड़ता है।

पत्र-मुद्रा के दोष (Disadvantages of Paper Money) :—यद्यपि पत्र-मुद्रा के अनेक लाभ हैं जिसके कारण यह लगभग प्रत्येक देश में अपना ली गई है, परन्तु इसमें दोष भी कितने ही पाये जाते हैं—(i) पत्र-मुद्रा में चलनाधिक्य का भय रहता है:—पत्र-मुद्रा का सबसे गम्भीर दोष यह है कि देश में (विशेषतः युद्धकाल तथा अन्य संकट काल में) मुद्रा-स्फीति (Inflation) की दशा उत्पन्न हो जाने का सदा भय लगा रहता है। इसका कारण स्पष्ट है। सरकार अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब देश में पत्र-मुद्रा चलन की मात्रा में वृद्धि कर सकती है क्योंकि पत्र-मुद्रा चलन में यह आवश्यक नहीं है कि नोटों की पूरी मात्रा के बराबर धात्विक रक्षित-कोष (Metallic Reserve) रक्खा जाय (यह अवश्य है कि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा प्रथा में तो इस प्रकार का भय नहीं रहता, परन्तु अन्य प्रत्येक प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रथा में उक्त भय रहता है)। चलन के आवश्यकता से अधिक प्रसार के परिणाम काफी भयानक होते हैं। वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण समाज के विभिन्न वर्गों को काफी कष्ट उठाना पड़ता है। कभी-कभी मुद्रा प्रसार इतना भीषण हो जाता है कि नोटों का मूल्य नहीं के बराबर रह जाता है और जनता इनको स्वीकार करने से हिचकती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मन मार्क (German Mark) की दशा इसी प्रकार की हो गई थी। भारत में भी वस्तुओं की अत्यधिक मूल्य-वृद्धि का कारण युद्ध-कालीन मुद्रा-प्रसार ही है। (ii) पत्र-मुद्रा में मूल्य अविनाशिता नहीं होती है:—नोटों के भीग जाने तथा तेल से खराब हो जाने या इनका अंक (Number) फट जाने का सदा भय रहता है। यद्यपि इन फटे या गले नोटों को वापिस लेने का आश्वासन नोट निर्गमन अधिकारी (सरकार या केन्द्रीय बैंक) देता है, परन्तु फिर भी इनके बदलने में काफी कठिनाई होती है। यदि नोट का अंक इस प्रकार फट गया है कि यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि अमुक नोट का क्या नम्बर है, तब तो नोट का मूल्य केवल कागज के टुकड़े के मूल्य के बराबर अर्थात् नगण्य हो जाता है। (iii) पत्र-मुद्रा चलन का क्षेत्र सीमित होता है:—पत्र-मुद्रा जिस देश की सरकार प्रचलित करती है, उसी देश की सीमा में ही इसका चलन होता है अर्थात् इसका चलन-क्षेत्र राष्ट्रीय होता है। नोटों को विदेशी (Foreigners) स्वीकार नहीं किया करते हैं क्योंकि चलन तो किसी देश में वहाँ की सरकार के कानूनों के कारण ही होता है और विदेशी इन कानूनों से शासित नहीं होते हैं। अतः पत्र-मुद्रा न तो अन्तर्राष्ट्रीय है और न यह अन्तर्राष्ट्रीय हो ही सकती है। (iv) पत्र-मुद्रा का मूल्य सामान्यतया बहुत अनिश्चित

तथा अस्थिर होता है —पत्र मुद्रा की मात्रा म यकायक ही बहुत अधिक घट-बढ़ की जा सकती है जिससे इसके मूल्य म अकस्मात ही घोर उच्चावचन (Fluctuation) हो सकता है। पत्र मुद्रा म धातु मुद्रा की अपेक्षा म बहुत जल्दी ह्रास (Depreciation) हो जाया करता है। इसका देश के सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) पर बुरा प्रभाव पड़ा करता है और देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाया करती है। विदेशी विनिमय दर पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। परिणामत देश की सामाजिक आर्थिक तथा व्यापारिक अवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है। (v) पत्र मुद्रा से देश मे सभी प्रकार की सट्टेबाजी (Speculation) को प्रोत्साहन मिलता है —पत्र मुद्रा तथा साख मुद्रा (Credit Money) की मात्रा की अनिश्चितता और अनियमितता के कारण ही पूँजीवादी देशो म व्यापार चक्रो (Business Cycles) का प्रादुर्भाव (Origin) होता है। (vi) आय प्राप्त करने के लिये सरकार द्वारा जो पत्र मुद्रा जारी की जाती है उसका स्वभाव व प्रकृति करारोपण (Tax) तथा जबरदस्ती लिये हुये ऋण का होता है —इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का देश के निधन वग तथा निश्चित आय वाले वग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा करता है। (vii) पत्र मुद्रा का अमुद्रीकरण (Demonetization) हो जाने पर इसका पदार्थ के रूप मे कुछ भी मूल्य नहीं होता —इसका कारण स्पष्ट है। पत्र मुद्रा का आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) कुछ भी नही होता है। अत पत्र मुद्रा एव वास्तविक मुद्रा (Real Money) नही होता है वरन् इसका मूल्य सरकार या निर्गमन अधिकारी की साख पर निर्भर रहता है।

निष्कर्ष —पत्र मुद्रा के उपरोक्त गुण दोषो का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहना कठिन हो जाता है कि दोष पत्र मुद्रा के हैं या मनुष्य के जो इनका प्रचलन तथा उपयोग करता है। यह स्पष्ट है कि पत्र मुद्रा मे स्वय कोई दोष नहीं है बल्कि दोष सरकार का है जो कि प्राय इस पर उचित नियन्त्रण नहीं रख पाती है और कभी-कभी इसका उपयोग देश हित व समाज हित म नहीं करती है। इसके उचित नियमित व नियन्त्रित उपयोग से देश का पर्याप्त आर्थिक विकास किया जा सकता है।

(आ) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा
(Actual Money and Money of Account)

(क) वास्तविक मुद्रा (Real Money) —वास्तविक मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसका यथार्थ मे देश क भीतर प्रचलन (Circulation) होता है। दूसरे शब्दों मे इसका अभिप्राय उस प्रचलित मुद्रा से है जो चलन मे आई हुई मुद्रा में सबसे अधिक काम मे आती है। कीन्स (Keynes) ने इस वास्तविक (Actual or Real) मुद्रा का मुख्य मुद्रा (Money Proper or Proper Money) का नाम दिया है। सेलिगमन (Seligman) ने इसे वास्तविक मुद्रा (Real Money) कहा है। बनहम (Benham) ने इसे चलन की इकाई (Unit of Currency) का नाम दिया है।

(ख) हिसाब की मुद्रा (Money of Account):—हिसाब की मुद्रा का अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसका प्रयोग हिसाब-किताब रखने (लेन-देन करने, कीमतें प्रकट करने तथा ऋणों का हिसाब रखने) के काम में होता है। कीन्स (Keynes) ने ही इस मुद्रा को 'लेखे की मुद्रा' का नाम दिया है। परन्तु सैलिगमैन (Seligman) ने इसे 'आदर्श-मुद्रा' (Ideal Money) और बेनहम (Benham) ने इसे 'मुद्रा या चलन की इकाई' (Unit Money, or Currency) का नाम दिया है। इस तरह बेनहम (Benham) के अनुसार जो मुद्रा 'विनिमय के माध्यम' (Medium of Exchange) का काम करती है वह 'चलन में मुद्रा की इकाई' (Unit of Currency) कहलाती है और जो मुद्रा हिसाब-किताब के व्यवहार में काम में आती है वह 'हिसाब की इकाई' (Unit of Account) कहलाती है।

यह स्मरण रहे कि वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय में वास्तविक मुद्रा (Real Money) ही विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) के रूप में कार्य करता है और क्रय-शक्ति तथा अर्थ का संग्रह (Store of Value) भी इसी मुद्रा के रूप में होता है। यह भी स्पष्ट है कि जो मुद्रा प्रचलन (Currency) के रूप मे रहती है वह ही वास्तविक मुद्रा होती है। अधिकतर किसी देश में जिस मुद्रा द्वारा विनिमय का माध्यम तथा अर्थ का संचय किया जाता है, वही मुद्रा मूल्य-मापन तथा हिसाब-किताब रखने के काम में आती है। इस अवस्था में वास्तविक मुद्रा और हिसाब की मुद्रा एक ही होती है। परन्तु संकटकाल (Economic Crisis) में वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा पृथक्-पृथक् भी हो सकती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यद्यपि जर्मनी में हिसाब-किताब की मुद्रा (Money of Account) फ्रैंक (Franc) तथा अमेरिकन डालर (Dollar) था, परन्तु वास्तविक मुद्रा या चलन की मुद्रा (Real Money or Unit of Currency) जर्मन मार्क (German Mark) ही था, दूसरे शब्दों में, यद्यपि हिसाब-किताब या मूल्यांकन फ्रैंक व डालर में होता था, परन्तु भुगतान मार्कों में ही किया जाता था। इसी तरह अमेरिका में सन् १९३३ तक हिसाब-किताब की मुद्रा 'स्वर्ण-डालर' था, परन्तु भुगतान की मुद्रा 'कागज के नोट, तांबे तथा गिलट के सिक्के' ही थे। आज भारत में भी हिसाब-किताब रुपये, आने तथा 'पाई' में रक्खा जाता है। यद्यपि 'पाई' नाम के सिक्के का प्रचलन बहुत समय से ही समाप्त हो गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिसाब-किताब की मुद्रा (Money of Accounts) तथा भुगतान अथवा प्रचलन की मुद्रा अर्थात् चलन की इकाई (Unit of Currency) पृथक्-पृथक् हो सकती हैं।

(इ) विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा
(Legal Tender Money and Optional Money)

(क) विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money):—यह वह मुद्रा होती है जो कानून की शक्ति के आधार पर ग्राह्य या स्वीकार होती है। इसीलिये इसे वैधानिक मुद्रा भी कहते हैं। अतः विधिग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा है जिसे शोधन के साधन के रूप में विधान (अर्थात् सरकार) द्वारा स्वीकार किया जाता है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार की मुद्रा लेने से इन्कार कर देता है, तब उसे राज्य द्वारा दन्ड मिलता है। सरकार एक कानून

द्वारा यह घोषणा कर देती है कि अमुक नोट तथा अमुक सिक्के व्यापार या अन्य प्रकार के भुगतान मे काम मे आवेंगे । इस तरह सरकारी घोषणा हो जाने पर ही नोटो अथवा सिक्को को एक कानूनी मुद्रा का रूप मिलता है। कानूनी मुद्रा (Legal Tender Money) दो प्रकार की हुआ करती है–(1) परिमित विधिग्राह्य मुद्रा तथा (11) अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा ।

(1) **परिमित विधिग्राह्य मुद्रा (Limited Tender Money):—यह वह मुद्रा है जिसको किसी एक निश्चित सीमा से ऊपर लेने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है।** इस तरह इस मुद्रा की अनिवार्य स्वीकृति की सीमा राज्य द्वारा निर्धारित कर दी जाती है । परन्तु इस सीमा के ऊपर भुगतान स्वीकार करने के लिये किसी को भी बाध्य नही किया जा सकता है । इस सीमा से ऊपर भुगतान स्वीकार करना या नही करना रुपया पाने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है । उदाहरण के लिये, भारतवर्ष मे चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, आध आना तथा एक पैसे के सिक्के केवल २५ रुपये तक ही विधिग्राह्य (Legal Tender) हैं, कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को २५ रुपये की रेजगारी से अधिक रेजगारी भुगतान मे स्वीकार करने लिये कानून बाध्य नही कर सकता है। यह बात दूसरी है कि व्यवहार म व्यक्ति आपस के मेल जोल के कारण किसी भी सीमा तक रेजगारी स्वीकार कर लें । (ii) **अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender) :—*यह वह मुद्रा (नोट और सिक्के) हैं जो किसी भी सीमा तक एक ही बार मे भुगतान मे कानूनन स्वीकार की जाती है अर्थात् जिसे कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता है*।** उदाहरण के लिए, भारत मे एक रुपया व अठन्नी के सिक्के तथा तमाम नोट अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा हैं । अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा भी दो प्रकार की होती है.—**(च) कानूनी बहु मुद्रा प्रणाली (Multiple Legal Tender System)**—**जब दो या दो से अधिक तरह के धातु के सिक्के प्रामाणिक सिक्कों (Standard Coins) के रूप मे चलन में होते हैं तब इस प्रथा को कानूनी ग्राह्य बहु मुद्रा प्रणाली (Multiple Legal Tender System) कहते हैं** । इन विभिन्न प्रकार के सिक्को का स्वतन्त्र टंकन (Free Coinage) होता है तथा इनके भुगतान की मात्रा की भी कोई सीमा नही होती है । **(छ) वस्तु मूल्य के आधार पर कानूनी ग्राह्य प्रथा (Composite or Tabulor System) :—जब कोई मुद्रा वस्तुओं के मूल्यों के स्तर के आधार पर लेन-देन में स्वीकार की जाती है, तब इसे वस्तु मूल्य के आधार पर कानूनी ग्राह्य-प्रथा (Composite or Tabulor System) कहते हैं** । सन् १८२६ मे सर्व प्रथम बेलफोर कमेटी (*Balfour Committee*) ने इस प्रथा को अपनाने का सुझाव *दिया था* । परन्तु इस प्रथा मे अनेक दोष होने के कारण यह स्वीकार नही की गई—(त) चूँकि वस्तुओ के आधार पर (और यह घटता-बढता रहता है) मुद्रा स्वीकार की जाती है, इसलिए विनिमय का मूल्य (Value in Exchange) स्थिर नही रहता है । अत द्रव्य का मूल्य घटता-बढता रहता है । (थ) विनिमय-कार्य के दौरान मे भाव बदल सकता है जिससे विनिमय-कार्य मे कठिनाई हो सकती है । (द) इस मुद्रा मे मुद्रा के अधि मूल्यन (Over-Valuation) तथा अवमूल्यन (Devaluation) के सभी दोष हैं । (घ) द्रव्य आय का सचय का कार्य

नहीं कर सकेगा। (न) साख-व्यवस्था सुसंगठित नहीं रह सकती क्योंकि प्रधान मुद्रा का मूल्य सदा घटता-बढ़ता रहता है।

(ii) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money) :—यह वह मुद्रा होती है जो साधारणतया स्वीकार तो की जाती है परन्तु इसे स्वीकार करने के लिए कोई कानूनन बाध्य नहीं कर सकता। यह प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह इस मुद्रा को भुगतान में स्वीकार करे या नहीं करे। इसीलिए यदि कोई व्यक्ति इस मुद्रा को भुगतान में स्वीकार करता है, तब वह ऐसा भुगतान देने वाले की साख (Credit) के आधार पर ही करता है। चैक, हुण्डी, बिल आफ एक्सचेंज, प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes) इसी प्रकार की मुद्रा के उदाहरण हैं।

अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण
(Qualities of Good Money Material)

प्राक्कथनः—मनुष्य के आर्थिक विकास के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न आर्थिक अवस्थाओं (Stages) में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग किया गया है। मनुष्य ने खालें, हड्डी, पशु, पत्तियां आदि अनेक वस्तुओं का मुद्रा के रूप में समय-समय पर उपयोग किया और इनके दोष अनुभव किये। वह इस प्रकार के अनुभव के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बहुमूल्य धातुओं में वे गुण मिलते हैं जिनसे इनका मुद्रा के रूप में उपयोग अत्यन्त लाभप्रद तथा आवश्यक हो जाता है। हम मुद्रा के कार्यों के आधार पर मुद्रा-पदार्थ में पाये जाने वाले गुणों को निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:—(क) विनिमय-माध्यम :—सर्वमान्यता, वहनीयता, विभाज्यता, तथा एकरूपता। (ख) मूल्य-मापक —विभाज्यता, एकरूपता तथा परिचयता। (ग) मूल्य-संचय—मूल्य-स्थिरता अविनाशिता। (घ) स्थगित भुगतान का आधार —मूल्य स्थिरता।

अतः मुद्रा-पदार्थ में (१) सर्वमान्यता, (२) वहनीयता, (३) विभाज्यता, (४) एकरूपता, (५) अविनाशिता या टिकाऊपन, (६) परिचयता या सुज्ञेयता, (७) सरलता या ढलाऊपन तथा (८) मूल्य की स्थिरता गुण होने चाहिये।* नीचे विस्तार से इन गुणों की विवेचना की गई है।

मुद्रा-पदार्थ के आवश्यक गुण :—ये गुण इस प्रकार है :—(१) सर्वमान्यता (Utility or General Acceptability) :—कोई वस्तु एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ तब ही हो सकता है जबकि उसमें सर्वस्वीकृति अथवा सर्वमान्यता का गुण होता है। प्रायः सर्वमान्य वस्तु वही होती है जो मुद्रा के अतिरिक्त अन्य दूसरे कार्यों में भी उपयोग में लाई जा सकती है। सोना और चाँदी में दुर्लभता (Scarcity) के कारण मूल्य है तथा इनका उपयोग गहने बनवाने तथा अन्य कला-कौशल के कार्यों में भी हो सकता है।

---

*The students should remember the word, "CUP-DISH-M" in which each letter denotes one or the other attribute of a good money commodity e. g. "C—Cognisibility, U—Universal Acceptability or Utility, P—Portability, D—Divisibility, I—Indestructibility, S—Stability of value, H—Homogeneity and M—Malleability.

इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धातुओं को बिना सकोच स्वीकार कर लेता है। अतः जिस वस्तु मे अपनी निजी उपयोगिता (Utility) होती है, वही वस्तु ऐसी भी होती है जिसमे सर्वमान्यता (General Acceptability) का भी गुण होता है। इस दृष्टिकोण से कागज भी अच्छी-मुद्रा-वस्तु नही है क्योंकि इसमे कुछ भी आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) नही होता है। यूँ तो मुद्रा को विधिग्राह्य (Legal Tender) कर देने से इसमे सर्वमान्यता की विशेषता आ जाती है, परन्तु यह विधिग्राह्यता देश के अन्दर ही होती है। अतः किसी वस्तु की सभी देशो मे अनिर्वन्ध-ग्राह्यता तभी होगी जबकि उसमे आन्तरिक मूल्य होता है और ऐसी वस्तु ही एक अच्छी मुद्रा वस्तु होती है।

> द्रव्य पदार्थ के आवश्यक गुण हैं—
> १ सर्व मान्यता।
> २ वहनीयता।
> ३ विभाज्यता।
> ४ एकरूपता।
> ५. अविनाशिता या टिकाऊपन।
> ६ परिचयता तथा सुज्ञेयता।
> ७ तरलता या ढलाऊपन या शीघ्र द्रवता या शीघ्रघनता।
> ८ मूल्य की स्थिरता।

(ii) वहनीयता (Portability)—इसका अर्थ है एक जगह से दूसरी जगह ले जाने मे सुगमता। मुद्रा का हम समय-समय पर हस्तान्तरण तथा स्थानान्तरण करना पड़ता है। इसीलिये मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसमे थोड़े से आकार तथा थोड़े से वजन मे ही अधिक मूल्य का समावेश होता है (Large Value in Small Bulk)। गेहू, पशु आदि का जब मुद्रा के रूप मे उपयोग होता था, तब इन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे बहुत कठिनाई होती थी, इस कारण उनमे वहनीयता का गुण नही होता था। परन्तु सोना-चादी मे यह गुण पाया जाता है क्योंकि इनके छोटे से टुकडे मे ही अधिक मूल्य रहता है। पत्र-मुद्रा मे यह एक बहुत महत्वपूर्ण गुण पाया जाता है। इसीलिए मनुष्य बैंको या डाकखाने द्वारा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत आसानी से भेज सकते हैं तथा यात्री भी सिक्को के स्थान पर नोट ही अपने साथ ले जाना पसन्द करते है। (iii) विभाज्यता (Divisibility) :—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिये जो सरलता से, बिना किसी प्रकार के मूल्य की हानि होते हुए, छोटी छोटी इकाइयो मे विभाजित की जा सके और विभाजन के पश्चात् भी उन सब इकाइयों का सम्मिलित मूल्य वही होना चाहिये जो कि विभाजन के पूर्व था। यदि मुद्रा-वस्तु मे इस प्रकार का गुण नही होता, तब भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के नही बनाए जा सकेंगे। इस दृष्टि से हीरा एक अच्छी मुद्रा-वस्तु नही है यद्यपि यह बहुत ही बहुमूल्य वस्तु है क्योंकि हीरे के टुकडे कर देने पर इसकी कीमत कम हो जाती है। परन्तु सोने-चादी मे विभाज्यता का गुण होता है क्योंकि इन धातुओ के एक-समान मूल्य अथवा वजन के टुकडे किये जा सकते हैं तथा इन सब टुकडो का सामूहिक मूल्य धातु के मूल्य के बराबर होता है। (vi) एकरूपता (या समरूपता या अनुरूपता) (Homogeneity) —मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि इसके समान वजन के या समान

(आकार के यदि अनेक टुकड़े कर दिये जायें, तब इनका मूल्य एक-सा होना चाहिये। इसी तरह यदि हम इन टुकड़ों को गलाकर मिला दें, तब इस ठोस वस्तु में भी एकरूपता होनी चाहिये तथा इसका मूल्य भी टुकड़ों के सम्मिलित मूल्य के बराबर होना चाहिये। द्रव्य-पदार्थ में एकरूपता होने पर ही यह सम्भव हो सकेगा कि मुद्रा की सभी इकाइयां सभी प्रकार से एक समान हो सकेंगी और तब मुद्रा की किसी इकाई को लेने-देने से किसी भी प्रकार की लाभ-हानि नहीं हो सकेगी। पशु, लोहा व गेहूं आदि वस्तुओं में एकरूपता का गुण नहीं पाया जाता है जिससे ये अच्छे द्रव्य-पदार्थ नहीं है। परन्तु सोने-चांदी के टुकड़ों में एकरूपता का गुण पाया जाता है। (v) अविनाशिता या टिकाऊपन (Indestructibility or Durability) :—मुद्रा-वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये। यदि मुद्रा नाशवान (Perishable) वस्तु की बनाई जायेगी, तब ऐसी मुद्रा अर्थ का संचय (Store of Value) का कार्य नहीं कर सकेगी क्योंकि नाशवान वस्तु की बनी मुद्रा का शीघ्र ही मूल्य नष्ट हो जाता है। अतः मुद्रा द्वारा क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के संचय का कार्य तभी सफलतापूर्वक किया जा सकेगा जबकि मुद्रा में टिकाऊपन होता है। पशु, दूध आदि वस्तुएँ इस दृष्टिकोण से मुद्रा वस्तु के रूप में अनुपयुक्त है। सोने-चांदी में अविनाशिता का गुण होने से इनके बने सिक्कों में घिसावट (Wear and Tear) भी शीघ्र नहीं होने पाती जिससे ये धातुएं अच्छे द्रव्य-पदार्थ हैं। (vi) परिचयता या सुज्ञेयता (Cognisibility) :—द्रव्य-पदार्थ ऐसा होना चाहिये जिसके बने सिक्के आसानी से बिना किसी विशेष प्रयत्न के पहचाने जा सकें तथा जिसके बने सिक्कों में धोखेबाजी की भी बहुत कम सम्भावना होती है। सोने-चांदी के सिक्कों में सुज्ञेयता अथवा परिचयशीलता का गुण भी पाया जाता है। आजकल धात्विक तथा पत्र-मुद्रा का निर्माण करते समय परिचयता के गुण को बनाये रखने का विशेष प्रयत्न किया जाता है। (iii) तरलता या ढलाऊपन या शीघ्रद्रवता या शीघ्रघनता (Malleability) :—द्रव्य-वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि इसे आसानी से गला कर किसी भी रूप व आकार तथा वजन के सिक्के ढाले जा सके और सिक्कों पर किसी भी प्रकार का अक्षर अथवा चिन्ह सुगमता से बनाया जा सके और विशेषता यह भी हो कि ऐसा करने पर वस्तु के मूल्य में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होने पाये। इसलिये द्रव्य-पदार्थ न तो बहुत मुलायम और न बहुत कड़ा ही होना चाहिये। हीरा व कांच इस दृष्टिकोण से अच्छे द्रव्य पदार्थ नहीं है क्योंकि इनमें भुडकीलापन (Brittle) होता है और इनके समान रूप के सिक्के नहीं ढल सकते। (viii) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value) :—द्रव्य पदार्थ में मूल्य की स्थिरता भी रहनी चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है। द्रव्य मूल्य के मापक, स्थगित भुगतानों का आधार तथा अर्थ के संचय का मुख्यतः कार्य करता है। यदि द्रव्य का मूल्य स्वयं शीघ्रता से घटता-बढ़ता रहता है, तब यह उक्त कार्यों को ठीक-ठीक नहीं कर सकेगा। यदि किसी ऋण के भुगतान से पूर्व ही द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन हो जाता है, तब ऋण लेने या देने वाले में से किसी एक को हानि अवश्य उठानी पड़ेगी। द्रव्य-पदार्थ के मूल्य में घट-बढ़ होने का एक प्रभाव

यह भी होगा कि मनुष्य मुद्रा को छिपाने गलाने या संचित (Hoarding) करने लग जायेंगे और अन्तत चलन मे मुद्रा का अभाव हो जायेगा। युद्ध-काल मे इसी प्रकार का अनुभव हुआ है कि चादी व अन्य धातुओ के मूल्य के बढ़ जाने पर धात्विक-मुद्रा का चलन मे अभाव हो गया था क्योकि सिक्को को गलाकर चाँदी, ताबा आदि धातुओ को ऊचे मूल्य पर बेचा जा रहा था। वर्तमान समय मे मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता अवश्य नही पाई जाती है, परन्तु सोने-चादी मे अपेक्षाकृत मूल्य-परिवर्तन अवश्य ही कम होता है। अत मुद्रा-पदार्थ मे मूल्य-स्थायित्व होना चाहिये।

निष्कर्ष—यद्यपि यह कहना कठिन है कि अमुक पदार्थ एक ऐसा पदार्थ है जिसमे द्रव्य-पदार्थ के सभी गुण सम्पन्न होते हैं, परन्तु यह सर्वमान्य है कि सोना और चादी ऐसी धातुए हैं जिनमे द्रव्य-पदार्थ "लगभग" तमाम गुण पाये जाते हैं और अभी तक ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध नही हुई है जो उक्त धातुओ को चुनौती दे सके। यही कारण है कि बहुत समय से सोने व चादी को प्रामाणिक सिक्को के ढालने के लिये उपयोग मे लाया जा रहा है। यह स्मरण रहे कि यह कहना तो बहुत ही कठिन है कि सोने व चांदी में से कौनसी धातु अच्छी है। इसीलिये आज भी यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। गिलट व ताबा जैसी निम्न वस्तुओं का भी बहुत समय से सिक्को के बनाने के लिये उपयोग होता आया है, परन्तु इनम सोने-चादी की अपेक्षा द्रव्य-पदार्थ के बहुत कम गुण पाये जाते हैं, इसीलिये उक्त निम्न धातुओ का उपयोग केवल सांकेतिक सिक्को के बनाने मे ही किया गया है। इस समय कोई भी ऐसा देश नही है जहाँ पर सोने व चादी दोनो के ही सिक्के साथ ही साथ चलन मे हैं यद्यपि कागज—और इससे बनी पत्र-मुद्रा मे एक अच्छे द्रव्य-पदार्थ के कई गुण पाये जाते हैं, परन्तु इसमे कई महत्वपूर्ण गुणो का अभाव भी है। चूँकि पत्र-मुद्रा का उपयोग देश के आन्तरिक कार्यों के लिये दिन-प्रति दिन बढता जा रहा है, इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रमात्मक होगा कि कागज ही द्रव्य बनाने के लिए एक सर्वोत्तम पदार्थ है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१ 'मुद्रा के विनिमय म मन्दी' (Depreciation of Currency) पर नोट लिखिये। (१६५०) 2 How did money originate? What are the different kinds of money? What functions does money perform. (1956 S) 3 Write a note on—Classification of money. (1954)

Agra University, B Com.

१ निम्नलिखित से आप क्या समझते हैं? (क) चलन की इकाई, और हिसाब की इकाई, (ख) प्रामाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा। उपर्युक्त को ध्यान मे रखते हुये भारतीय रुपय की स्थिति बताइये। (१६६०)। २ तुलनात्मक टिप्पणी लिखिये—मुद्रा और चलन। (१६६०) ३ "मुद्रा का द्रव्य (द्रव्य पदार्थ) अपनी एक निश्चित दुर्लभता के आधार पर चुना जाता है, मूल्य के आधार पर नहीं" "It is the precise degree of scarcity which determines the choice of the money substance and not its value" उपरोक्त कथन की व्याख्या करिये। (१६५६ S) 4 Write

a note on—Limited Legal Tender. (1958S) 5. Write a note on—Seigniorage. (1958S) 6. Explain the difference between the two Standard Money and Token Money. (1958S, 1958, 1955) 7. Write a note on—Fiduciary Note Issue. (1958) 8. What do you understand by the term money? Explain, the nature of the different forms of money circulating in India. (1957 S 1956 S). 9. 'Metallic Money has lost its importance in modern economic life.' Explain and amplify this statement (1957) 10. Explain the difference between—Paper Money and Bank Money (1957) 11. 'The Indian rupee is a curious mixture of a Standard and Token Coin ?' Explain. (1956) 12. Discuss the importance of money in a civilized society and explain the different forms in which it circulates in a country. (1955, 1954)

Rajputana University, B A & B. Sc.

1. Distinguish between—Convertible and Inconvertible Paper Currency. (1956) 2 Define Money and indicate its functions. Give a *classification of money which you consider the best, giving reasons for* your choice. (1955)

Jabalpur University, B A

१. नोट लिखिये—विश्वासाश्रित-निर्गम (Fiduciary Issue) (१९५८)

Vikram University, B A. & B Sc

१. टिप्पणी लिखिये—विधिग्राह्यता (१९५६)

Vikram University, B. Com

1. Write *a short note on*—Seigniorage (1959)

Allahabad University, B A.

१. नोट लिखिये—विश्वसनीय-निर्गम (Fiduciary Issue) । (१९५७)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १—**(i) How did money originate ? What are the different *Kinds of money ? What functions does money perform ? (Agra* B. A 1956 *S*) (ii) What do you understand by the term money ? Explain the nature of the different forms of money circulating in *India* (*Agra*, B. Com. 1957 S) *(iii) Discuss the importance of money* in a civilized society and explain the different forms in which it circulates in a country. (Agra. B. Com. 1955) (iv) Describe the different *kinds of money prevalent in modern times.***

संकेत —उक्त प्रश्नों में तीन बातें पूछी गई हैं—मुद्रा का प्रादुर्भाव, मुद्रा के प्रकार तथा मुद्रा के कार्य। मुद्रा के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे लिखिये कि वस्तु-विनिमय-प्रणाली की कठिनाइयों (दो-तीन वाक्यों में इन्हे बताइये) को दूर करने के लिये शनैः शनैः यह आवश्यक समझा गया कि कोई न कोई वस्तु विनिमय के माध्यम का कार्य करने के लिये होनी चाहिये, कि भिन्न-भिन्न समयों आवश्यकतानुसार विभिन्न वस्तुओं (उदाहरण दीजिये) ने यह कार्य सम्पन्न किया, कि मुद्रा का प्रचलन कब से हुआ यह बताना कठिन है, कि मुद्रा का जन्म उसके किस कार्य के रूप में सर्वप्रथम हुआ (विनिमय का माध्यम या मूल्यांकन का साधन) यह बताना असम्भव है, कि निचली अवस्था काल से आज के औद्योगिक युग तक मुद्रा के रूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं (उदाहरण दीजिये) इस सम्बन्ध में "मुद्रा का अर्थ और इसके कार्य"

नामक अध्याय पढ़िये (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग में वर्तमान चलन में पाये जाने वाले मुद्रा के विभिन्न प्रकारों को बताइये और उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएं बतलाइये—(अ) नकदी मुद्रा, सिक्के व नोट सिक्कों को कौन ढालता है, ढालने की क्या आवश्यकता है, ढालने से सम्बन्धित क्या-क्या विशेषतायें हैं सिक्कों के क्या-क्या रूप हैं और उनके क्या-क्या गुण हैं आदि बताइये, इसी तरह नोट (सरकारी व बैंक दोनों) कौन छापता एवं जारी करता है, इसके क्या-क्या रूप हैं, उनकी क्या-क्या विशेषतायें हैं आदि बताइये। (आ) बैंक जमा—जमा के दो प्रकार हैं, चालू खाता व सेविंग्स खाता (दोनों की मुख्य बातें लिखिये)। बैंक खातों में से रुपया साधारणतया चैक द्वारा निकाला जाता है और बैंक चैक के आधार पर प्रायः रुपया एक खाते से निकालकर दूसरे खाते में जमा कर दिया जाता है—इस तरह समझाइये कि यद्यपि चैक मुद्रा नहीं है, परन्तु बैंक-जमा मुद्रा है क्योंकि इन जमाओं में वे ही गुण हैं जो सिक्का व नोटों में पाये जाते हैं अर्थात् इन जमाओं का हस्तान्तरण अनिश्चित काल तक एक हाथ से दूसरे हाथ में वस्तुओं, सेवाओं व ऋण के भुगतान में किया जा सकता है। बैंक जमा मुद्रा की मात्रा एवं इस प्रकार की मुद्रा की समाज में पूर्ति दिन प्रति दिन बहुत अधिक बढ़ती जा रही है और बैंक-प्रणाली के विकास से इसमें और अधिक वृद्धि हो जायगी। बैंक-जमा मुद्रा के अन्तर्गत हैं—बैंक द्वारा दिये गये ऋण व अधिविकर्षण (Overdraft), ग्राहकों से प्राप्त जमा आदि। बैंक-जमा इसलिये भी मुद्रा मानी जाती है क्योंकि इसके द्वारा सामान्य क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण एक हाथ से दूसरे हाथ को होता रहता है। यहाँ संक्षेप में बताइये कि बिल्स ऑफ एक्सचेंज, यद्यपि उनमें कुछ गुण बैंक नोटों से मिलते-जुलते हैं, मुद्रा के अन्तर्गत नहीं हैं क्योंकि इनका ऋणों के भुगतान में एक हाथ से दूसरे हाथ को हस्तान्तरण नहीं होता है तथा इनका प्रचलन भी एक सीमित क्षेत्र में होता है (दो-ढाई पृष्ठ)। तृतीय खंड में सारांश के रूप में एक पैरे में मुद्रा की विशेषताओं को बताते हुये लिखिये कि इस दृष्टि से तीन प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन वर्तमान समाज में पाया जाता है सिक्के (इनका मजदूरी के भुगतान तथा फुटकर व्यवहारों में प्रयोग होता है), बैंक-नोट्स (इनका न केवल सिक्कों की तरह प्रयोग होता है वरन् कुछ बड़े-बड़े भुगतानों एवं व्यवहारों में भी प्रयोग होता है) तथा बैंक-जमा (इनका हस्तान्तरण चैकों से होता है, इसलिये बहुत बड़े-बड़े भुगतान बैंक-जमा मुद्रा से किये जाते हैं यद्यपि चैक स्वयं मुद्रा नहीं है)।

नोट—उपरोक्त प्रश्नों में तीन छोटे-छोटे प्रश्न और भी हैं, जैसे मुद्रा का अर्थ, मुद्रा के कार्य, एक सभ्य समाज के लिये मुद्रा का महत्व। इन सब प्रश्नों के उत्तरों के संकेतों के लिये "मुद्रा का अर्थ और इसके कार्य" नामक अध्याय में अन्त में दिये गये प्रश्नों का संकेत पढ़िये।

प्रश्न ७—**Define money and indicate its functions Give a classifications of money which you consider the best, giving reasons for your choice (Raj B A 1955)**

संकेत—उत्तर के प्रथम भाग में द्रव्य की परिभाषा तथा इसके कार्यों को बताइये

(तीन-चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग में द्रव्य का वर्गीकरण लिखिये—यह तीन तरह से किया गया है—(अ) धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा—इस वर्गीकरण का आधार मुद्रा-पदार्थ है (Money Material) धात्विक द्रव्य के विभिन्न रूप (प्रामाणिक तथा साकेतिक) बताइये, इनकी विशेषतायें तथा भेद लिखिये, इसी तरह पत्र-मुद्रा के विभिन्न रूप (कागजी-मुद्रा तथा बैंक-मुद्रा) बताइये, इनकी विशेषतायें तथा भेद लिखिये—पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि (यदि इसके मूल्य के बराबर सोना-चाँदी चलन अधिकारी ने रक्षित-कोष मे रख रक्खा है और नागरिकों को पत्र-मुद्रा के बदले में उक्त धातुएँ मिल सकती है), परिवर्तनशील (इस प्रकार की पत्र-मुद्रा मे यद्यपि सरकार नोटो के बदले मे सोना-चाँदी देने के लिये बाध्य होती है, परन्तु वह पत्र-मुद्रा के बदले मे धातु सुरक्षित कोष मे शत प्रतिशत नहीं रखती है अर्थात् धातु कम रक्खी जाती है) तथा अपरिवर्तनशील (इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का चलन करते समय सरकार किसी भी प्रकार का सुरक्षित कोष रखने के लिये बाध्य नहीं होती है और न वह नोटों के बदले मे धातु अथवा धातु के सिक्के देने की जिम्मेदारी लेती है) के रूप मे चलन मे होती है। (आ) वास्तविक-मुद्रा और हिसाब की मुद्रा—यह द्रव्य का दूसरा वर्गीकरण है—हिसाब की मुद्रा (Money of Account) वह मुद्रा है जिसके रूप मे देश मे हिसाब-किताब अथवा लेन-देन का लेखा-जोखा रक्खा जाता है—सैलिगमैन ने इसे आदर्श-मुद्रा (Ideal Money) कीन्स ने इसे हिसाब की मुद्रा कहा है। वास्तविक-मुद्रा (Actual Money) का अर्थ उन सिक्कों व नोटो से होता है जिनका देश मे वास्तव मे चलन होता है—कीन्स ने इन्हे मुख्य मुद्रा (Money Proper) या वास्तविक-मुद्रा (Actual Money) तथा बेन्हम ने इसे 'चलन की इकाई' (Unit of Currency) कहा है। यद्यपि साधारणतया उक्त दोनों प्रकार की मुद्राएँ एक-ही होती है, परन्तु कभी-कभी वास्तव मे चलन की मुद्रा तथा हिसाब-किताब की मुद्रा मे अन्तर हो जाता है, जैसे—भारत मे हिसाब रुपये व नये पैसो मे रक्खा जा रहा है और चलन मे नये-पैसो के साथ ही साथ पुराने सिक्के भी है। (इ) कानूनी-ग्राह्य-मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा—कानूनी अथवा वैधानिक मुद्रा वह मुद्रा है जिसे देश के अन्दर हर व्यक्ति को कानूनन स्वीकार करना पडता है—इसमे धात्विक (सिक्के), मुद्रा व करेंसी नोट है—यह मुद्रा भी दो प्रकार की होती है अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (जैसे भारतीय रुपया) और परिमित विधि-ग्राह्य-मुद्रा (जैसे—अठन्नी के अतिरिक्त अन्य सब छोटे सिक्के)। ऐच्छिक-मुद्रा वह मुद्रा है जिसे कोई भी व्यक्ति स्वीकार भी कर सकता है और नही भी, जैसे—चैक, हुन्डी बिल ऑफ एक्सचेंज। इन साख-पत्रो को साख-मुद्रा की सज्ञा दी गई है (तीन पृष्ठ)। अन्त मे एक पैरे में यह लिखिये कि मुद्रा का अन्तिम वर्गीकरण—कानूनी ग्राह्य-मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा, ही अधिक व्यवहारिक तथा उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इस वर्गीकरण का आधार सर्वग्राह्यता है (आधा पृष्ठ)।

प्रश्न ३ — (i) Account for the final choice of gold and silver as the best metals for the purposes of coinage. Why have they come into disuse in recent times? (Patna, B. Com 1952) (ii) What are the ess-

ential qualities of a good money material? **Account for the use of gold and silver as money material in the past (iii) "Metallic money has lost its importance in modern economic life" Explain and amplify this statement (Agra, B Com 1957)**

संकेत—उक्त प्रश्न के उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग में यह बताइये कि सिक्कों को ढालने के लिये किसी उपयुक्त धातु या धातुओं की ढूंढ में अन्तत सोने-चाँदी का चुनाव क्यों किया गया? प्राचीनकाल में खालें, कौड़ियाँ, पशु, नाज आदि अनेक वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ, किन्तु अनुभव ने बताया कि इनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते जो एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में पाये जाते हैं, इसलिये मुद्रा के रूप में इन वस्तुओं का प्रयोग शनै. शनै समाप्त हो गया। तदुपरान्त सोने-चाँदी का प्रयोग मुद्रा-पदार्थ के रूप में हुआ और इन्होंने यह कार्य एक बहुत लम्बे काल तक किया है क्योंकि एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ के सब गुण इन्हीं दोनों धातुओं में पाये गये। इन दोनों धातुओं के बाद तांबे का स्थान आता है। जिसके कारण निम्न श्रेणी के सिक्के तांबे के ही बनाये जाते हैं। धात्विक-मुद्रा सफलतापूर्वक कार्य करे इसलिये इस प्रकार की मुद्रा में मुद्रा-पदार्थ में कुछ गुणों का रहना आवश्यक है, जैसे सर्वग्राह्यता (ताकि मनुष्य अपनी वस्तुओं व सेवाओं के बदले में सर्वमान्य धातु की बनी मुद्रा को स्वीकार कर सकें), परिचय-शीलता (ऐसा नहीं होने पर सिक्के के खोटे-खरे की पहचान नहीं हो सकेगी) एकरूपता (ताकि सारे सिक्के हर प्रकार से एक समान हो सकें मूल्य की स्थिरता (द्रव्य-पदार्थ के मूल्य में सदा परिवर्तन होते रहने से मुद्रा के मूल्य में भी बराबर परिवर्तन होता रहेगा जिससे मनुष्यों को भी अधिक कठिनाई अनुभव होगी, व्यवसाय ग्रस्त-व्यस्त हो जायेगा) टिकाऊपन (यदि पदार्थ के आसानी से नष्ट हो जाने का भय है, तब मुद्रा में शीघ्र ग्राह्यता का अभाव उत्पन्न हो जायेगा, धन-संचय में कठिनाई होगी) विभाजनशीलता व गलनशीलता (ताकि आवश्यकतानुसार छोटे-छोटे आकार के सिक्के ढाले जा सकें) वहनीयता (ताकि सिक्का को दूर से दूर स्थानों को सुगमता से भेजा जा सके) इन गुणों का CUP-DISH-M कहकर पुकारा गया है (तीन पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि शनै शनै सोने-चाँदी का मुद्रा के रूप में प्रयोग क्यों कम हो गया और यद्यपि कागज में उपरोक्त गुण नहीं पाये जाते फिर भी पत्र मुद्रा ने धात्विक मुद्रा का स्थान क्या ले लिया है? इसके कई कारण हैं—(अ) सोने-चाँदी का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सकना—उत्पादन-प्रणाली में उन्नति, राष्ट्रों का औद्योगिक व व्यापारिक विकास आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लगभग सभी देशों में मुद्रा की माँग में अत्यधिक प्रसार हुआ है जिसको पूरा करने के लिये सोना-चाँदी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सका है, प्रथम महायुद्ध काल में कितने ही राष्ट्रों का सोना विदेशों को चला गया, जिसके कारण युद्धोत्तर काल में उन्हें बिना सोने के अपना काम चलाना पड़ा। (आ) मुद्रा की पूर्ति को घटाने-बढ़ाने की सम्भावना—वर्तमान समय में औद्योगिक व व्यवसायिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की पूर्ति को कभी घटाया, तब कभी बढ़ाया जाना है ऐसा न कर सकने पर बेकारी का भय उत्पन्न हो जाता है।

धात्विक-मुद्रा को घटाना तो सुगम है, परन्तु इसे बढ़ाना अत्यधिक कठिन होता है। परन्तु कागजी-मुद्रा के चलन में यह कार्य सुगमता से हो जाता है। (इ) युद्धकाल— युद्ध का व्यय चलाने के लिये मुद्रा-प्रसार करना पड़ता है, यह कार्य सोने-चादी की मुद्रा-प्रणाली मे कठिन होता है। (ई) आयोजित अर्थ-व्यवस्था-विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लिया जाता है, यह भी पत्र-मुद्रा प्रणाली मे सम्भव है। (उ) सुविधा तथा मितव्ययिता— पत्र-मुद्रा प्रणाली में ही ये गुण हैं। (ऊ) मूल्य में कमी—सोने-चादी धातुओं के मूल्य मे कमी-वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योंकि इनका मूल्य इनकी खानो से पूर्ति पर निर्भर रहता है। इन सब कारणों से सोने-चादी का मुद्रा के रूप मे प्रयोग लगभग नही के बराबर रह गया है और भविष्य में, यह आशा है, सोने-चांदी का मुद्रा से सम्बन्ध बिल्कुल टूट जायेगा। भूतकाल मे परिस्थितिया आज से भिन्न थी एक ओर राष्ट्रों की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकतायें बहुत कम थी और दूसरी ओर उस समय धातुयें भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी, मनुष्यों का विश्वास भी इन धातुओं के बने सिक्कों में अधिक था, विभिन्न राष्ट्रों में मौद्रिक सहयोग भी बहुत था। परन्तु आज परिस्थितियां पूर्णतः बदल चुकी है, आज का युग बैंक-जमा मुद्रा (Bank Deposit Money) अथवा बैंक-साख-मुद्रा (Bank Credit Money) का है। यही कारण है कि सोने-चादी के सिक्कों का उपयोग शनैः शनैः बहुत कम हो गया है (तीन पृष्ठ)।



अध्याय ३

मुद्रा का मूल्य तथा परिमाण सिद्धांत
(Value of Money and the Quantity Theory)

मुद्रा का मूल्य (Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ (Meaning of the Value of Money) :—यह सर्व विदित है कि तमाम वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा द्वारा मापा जाता है। परन्तु यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि मुद्रा का मूल्य किसके द्वारा मापा जाता है ? इस प्रश्न का हमें एक ही सन्तोषप्रद उत्तर मिलता है। जिस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा द्वारा मापा जाता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मापा जाता है। इस तरह मुद्रा का मूल्य इसकी क्रय-शक्ति (Purchasing Power) है। मुद्रा की इस क्रय-शक्ति में सदा परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिये, मान लो ३ सेर गेहूं १ रु० मे आता है, तब हम यह कहेंगे कि ३ सेर गेहूं का मूल्य १ रु० है। परन्तु ३ सेर गेहू की १ रु० कीमत का अर्थ यह भी है कि १ रु० का मूल्य (या क्रय-शक्ति या अर्थ या महो) ३ सेर गेहू है। यह स्मरण रहे कि वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य (विनिमय-शक्ति) यदि अन्य वस्तु या वस्तुओं या द्रव्य मे व्यक्त किया जा सकता है, तब द्रव्य का मूल्य सदा वस्तुओं मे ही व्यक्त किया जाता है अर्थात् द्रव्य का मूल्य इसकी क्रय-

शक्ति ही है।* मानलो, परिस्थितियों के बदल जाने पर अब १रु० का गेहूँ ३ सेर के स्थान पर ४ सेर आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि गेहूँ का मूल्य (रुपये में) कम हो गया है या रुपये का (मूल्य गेहूँ के रूप में) बढ़ गया है। इसी तरह यदि १रुपये का गेहूँ ३ सेर के स्थान पर २ सेर आने लगता है, तब यह कहा जायेगा कि गेहूँ का मूल्य बढ़ गया है या द्रव्य का मूल्य गेहूँ के रूप में कम हो गया है। यदि यह बात मान भी ली जाय कि रुपये का मूल्य सदा वस्तुओं और सेवाओं के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब एक और प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। संसार में वस्तुयें तथा सेवायें अनेक हैं, तब हम कौनसी वस्तु अथवा सेवा के रूप में द्रव्य का मूल्य व्यक्त करें या द्रव्य का मूल्य कौनसी वस्तु या सेवा के रूप में सुगमतापूर्वक नापा जा सकता है? इस समस्या का हल भी सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) से प्राप्त हो जाता है अर्थात् हम द्रव्य का मूल्य किसी एक वस्तु या सेवा के रूप में व्यक्त न करके विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के सामान्य मूल्य-स्तर के रूप में व्यक्त करते हैं। मुद्रा के मूल्य की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के सामान्य मूल्य-स्तर की विपरीत दशा में घटता बढ़ता है। यही कारण है कि जब सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ता है तब मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। और इसके विपरीत जब सामान्य मूल्य-स्तर घटता है, तब मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। अतः मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय मुद्रा की क्रय शक्ति से होता है। प्रो० सैलिगमैन (Seligman) के शब्दों में "मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य मूल्य स्तर से जाना जा सकता है।"

क्या मुद्रा की क्रय-शक्ति में कमी (या वृद्धि) का यह अर्थ है कि बाजार की तमाम वस्तुओं तथा तमाम सेवाओं का मूल्य बढ़ (या घट) गया है? नहीं यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति (या घटी) कम हो गई है तब इसका केवल यह अर्थ है कि बाजार में अधिकांश वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य बढ़ गया है परन्तु कुछ ऐसी वस्तुयें व सेवायें भी हो सकती हैं जिनका मूल्य गिर गया हो। इसी प्रकार यदि मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ गई है तब इसका अर्थ है कि बाजार में अधिकांश वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य कम हो गया है परन्तु कुछ वस्तुयें व सेवायें ऐसी भी हो सकती हैं जिनका मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक हो गया हो। इसलिए यह सम्भव है कि किसी देश में किसी समय विशेष पर यदि कुछ वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बढ़ रहा है, तब उसी समय अन्य वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य घट रहा है। इस दशा में विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य में परिवर्तन हो जाने पर भी सामान्य मूल्य-स्तर में कोई भी परिवर्तन नहीं होने के कारण, मुद्रा के मूल्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं होने पायगा। अतः मुद्रा की क्रय शक्ति में घट बढ़ का अनुमान किसी एक वस्तु या कुछ वस्तुओं के आधार पर नहीं लगाया जाता है वरन् हम तमाम वस्तुओं और तमाम सेवाओं के मूल्य में घट बढ़ के परिणाम स्वरूप सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level) में जो भी कमी या वृद्धि होती है, उसी के अनुसार मुद्रा की क्रय शक्ति में घट बढ़ बताते हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध सामान्य मूल्य स्तर से होता है।

*Because the Value of Money expressed in Terms of Money has no meaning

मुद्रा का मूल्य निर्धारण
(Determination of the Value of Money)

मुद्रा का मूल्य निर्धारण किस प्रकार होता है ? (How is the Value of Money determined ?):—यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है कि मुद्रा का मूल्य किन बातों पर निर्भर रहता है और इस मूल्य में परिवर्तन किन-किन कारणों से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का एकमात्र कारण मुद्रा की माग और पूर्ति ही है अर्थात् मुद्रा की मांग और पूर्ति में परिवर्तन हो जाने पर इसके मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है।

मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमें यह बताता है कि वस्तु या सेवा का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु की माग के बढ़ने (या घटने) से इसका मूल्य भी बढ़ने (या घटने) लगता है। इसी तरह वस्तु की पूर्ति के बढ़ने (या घटने) से इसका मूल्य भी घटने (या बढ़ने) लगता है अर्थात् वस्तु की पूर्ति तथा इसके मूल्य का विपरीत सम्बन्ध (Inverse relationship) होता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि जबकि किसी वस्तु के मूल्य पर वस्तु की माग और पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव पड़ता है, तब इनमें वस्तु के मूल्य को विपरीत दशाओं में खींचने की प्रवृत्ति होती है और अन्ततः जिस स्थान पर वस्तु की मांग और पूर्ति का साम्य (Equilibrium) स्थापित हो जाता है, वही पर वस्तु विशेष का मूल्य निश्चित हो जाता है। चूंकि मुद्रा भी एक वस्तु ही है इसलिए किसी वस्तु विशेष के मूल्य निर्धारण की तरह मुद्रा का मूल्य भी इसकी मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है अर्थात् किसी वस्तु की तरह मुद्रा का मूल्य भी ऐसे स्थान पर नियत होता है जहां पर मुद्रा की मांग और इसकी पूर्ति का साम्य (Equilibrium) स्थापित हो जाता है। माग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा मुद्रा के मूल्य निर्धारण की समस्या को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम 'मुद्रा की माग" "और मुद्रा की पूर्ति" के सम्बन्ध में ज्ञान पर्याप्त कर लें।

मुद्रा की मांग का अर्थ (Meaning of Demand for Money) :—किसी वस्तु की माग और मुद्रा की माग मे तनिक सा भेद है। किसी मनुष्य की किसी वस्तु की माग इसकी उपयोगिता (Utility) के कारण होती है अर्थात् यदि मनुष्य की किसी वस्तु की माग है, तब इसका यह अर्थ है कि अमुक वस्तु मे प्रत्यक्ष रूप मे मनुष्य की किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि करने का गुण है। परन्तु मुद्रा में प्रत्यक्ष रूप में मनुष्य की किसी भी आवश्यकता की सन्तुष्टि करने का गुण नही होता है। यही कारण है कि मुद्रा की मांग इसलिए की जाती है क्योंकि इसमें क्रय शक्ति है और इसकी सहायता से अन्य वस्तुओं और सेवाओं से खरीदा जा सकता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी देश में मुद्रा की मांग वहाँ पर उपलब्ध होने वाली वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा पर निर्भर रहती है क्योंकि आधुनिक ससार में अधिकांश वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन

विनिमय के हेतु किया जाता है। अर्थात् किसी निश्चित अवधि में बाजार में विनिमय के लिए कितनी वस्तुए व सेवाए उपलब्ध हैं, इस पर ही मुद्रा की माग निर्भर रहती है। चूँकि किसी भी देश में विनिमय के लिए वस्तुए तथा सेवाएँ सदा के लिए निश्चित नही रहती हैं, इसके परिमाण (Quantity) मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, इसीलिए इनकी मात्रा मे परिवर्तन के साथ ही साथ मुद्रा की माग म भी परिवर्तन हो जाता है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money).—किसी देश मे किसी समय विशेष पर जितनी भी वस्तुए विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रचलित होती हैं, इन सब की सामूहिक मात्रा मुद्रा की पूर्ति होती है। यहाँ पर हमने द्रव्य का अर्थ इसके सकुचित रूप मे नही लिया है। ऐसी सब वस्तुए जो द्रव्य के अन्तर्गत रक्खी जाती है, इनके तीन मुख्य प्रकार है—(क) धात्विक द्रव्य (Metallic Money), (ख) कागजी द्रव्य (Paper Money) तथा (ग) साख द्रव्य (Credit Money)। यह स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध मे मुद्रा का महत्व विशेष कर इसके विनिमय के माध्यम के रूप मे होता है, इसीलिए चाहे जिस प्रकार की मुद्रा क्यो न हो यदि यह विनिमय के माध्यम का कार्य कर रही है, तब यह मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध मे मुद्रा की पूर्ति का आवश्यक अग बन जाती है। इस दृष्टिकोण से विधिग्राह्य (Legal Tender) तथा अविधि ग्राह्य (Non-Legal Tender) दोनो ही प्रकार की मुद्राए मुद्रा के परिमाण म गिनी जाती हैं। यह स्पष्ट है कि द्रव्य का वह भाग जो विनिमय के माध्यम का काय नही कर रहा है या जो वस्तुओ के क्रय विक्रय का कार्य नही कर रहा है या जो जमीन म गडा (Hoarding) हुआ है या जो अलमारी म सुरक्षित रक्खा है, यह द्रव्य मुद्रा की पूर्ति का अग नही माना जाता है। अत किसी समय पर द्रव्य की पूर्ति के अन्तर्गत वही माना जाता है जो उत्पत्ति या उपभोग के कार्यों के प्रयोग मे आ रहा है अर्थात् जो चलन (Circulation) मे हैं। किसी समय मुद्रा की पूर्ति पर इसके भ्रमण वेग (Velocity of Circulation) का भी प्रभाव पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि माग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य विनिमय साध्य (Exchangeable) वस्तुओ की मात्रा तथा उपलब्ध मुद्रा की पूर्ति द्वारा निर्धारित होगा। जब कभी इन दोनो म परिवर्तन हो जाता है तभी मुद्रा के मूल्य म भी परिवर्तन हो जाता है। यह स्पष्ट है कि सामान्य मूल्य स्तर मुद्रा के मूल्य का सूचक होता है। जबकि सामान्य मूल्य स्तर घटता (या बढ़ता) है तब मुद्रा का मूल्य बढ़ता (या घटता) है अर्थात् मुद्रा के मूल्य का सामान्य मूल्य स्तर से विपरीत सम्बन्ध होता है। चूँकि मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level) द्वारा व्यक्त किया जाता है, इसलिए सामान्य मूल्य स्तर के परिवर्तन ही मुद्रा के मूल्य परिवर्तन का उचित सूचक होता है। निर्देशांक (Index Number) इस प्रकार की गणना मे बहुत सहायक होते हैं।

मुद्रा के सिद्धान्त (Theories of Money)

प्राक्कथन :—मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इसके मूल मे परिवर्तन क्यो होते है ? निर्देशांक (Index Number) हमे केवल इतना ही बताते हैं कि द्रव्य के मूल्य मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु वे हमे यह नही बताते कि इस प्रकार का परिवर्तन क्यों होता है। वर्तमान समय मे द्रव्य के मूल्य-परिवर्तन के सम्बन्ध मे तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—(अ) द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money), (आ) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज समीकरण (The Cambridge Equation of the Quantity Theory of Money), तथा (इ) मुद्रा का आय सिद्धान्त (Income Theory of Money)। ये तीनो सिद्धांत बहुत कुछ एक दूसरे के पूरक है, इसीलिए इन तीनो मे एक घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है।

(अ) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

परिचय :—इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम किसने किया, यह निश्चितता से नही कहा जा सकता है। परन्तु यह अवश्य है कि यह सिद्धान्त अत्यधिक पुराना है क्योंकि बहुत प्राचीन काल से इसका अर्थशास्त्रियों द्वारा समर्थन किया गया है। अमेरिका में भी मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बहुत समय से महत्वशाली रहा है। वहा पर प्रो० इरविंग फिशर (Irving-Fisher) तथा एडविन कॅमरर (Edwin Camerrar) ने इस सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या की है। संक्षिप्त में, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य तथा इसमें परिवर्तन सदा मुद्रा के परिमाण द्वारा निश्चित होता है।

वस्तुओं के मूल्य की तरह, मुद्रा का मूल्य भी इसकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है और इनमें परिवर्तन हो जाने पर मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः परिमाण सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या करने से पहले हमने नीचे मुद्रा की पूर्ति तथा इसकी मांग का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा की पूर्ति का अर्थ (Meaning of the Supply of Money) :—मुद्रा की विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ऐसी सब वस्तुएं जो मुद्रा का कार्य करती है, द्रव्य के अन्तर्गत रक्खी जाती है।* वर्तमान समय मे मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) या मुद्रा के परिमाण (Quantity of Money) मे तीन प्रकार की मुद्राओं का समावेश किया जाता है—(i) धातु-मुद्रा, जैसे—सोने व चादी के सिक्के, (ii) सरकार या सरकार की आज्ञा से प्रकाशित विधिग्राह्य मुद्रा जैसे—कागजी नोट तथा (iii) साख-द्रव्य या बैंक द्रव्य जैसे—चैक, ड्राफ्ट, बिल ऑफ एक्सचेंज आदि। यह स्मरण रहे कि द्रव्य का भाग जो विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य नही कर रहा है या जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय के काम मे नही आ रहा है या जो जमीन में गढा है या आलमारी मे रक्खा है, वह द्रव्य की पूर्ति मे नही माना जाता है। इस

*-For a fuller explanation of the term 'Money' read Chapter I of the book.

तरह किसी समय पर द्रव्य की पूर्ति के अन्तर्गत केवल उसी द्रव्य की गणना होती है जो उत्पत्ति व उपभोग के कार्यों के प्रयोग मे आ रहा है या जो वास्तव म चलन (Circulation) म है।

मुद्रा की पूर्ति पर द्रव्य के भ्रमण-वेग या चलन गति (Circulation of Money) का भी काफी प्रभाव पडा करता है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि रुपया या नोट एक दिन म कई बार विनिमय म हस्तान्तरित होता है। एक रुपये का सिक्का या कागज के नोट केवल एक ही बार या केवल एक ही वस्तु का क्रय विक्रय नही करते वरन् इनसे कितनी ही बार वस्तुयें खरीदी बेची जाती है। यदि किसी एक शिक्षक ने साग-सब्जी के बदले मे किसी मालन को एक रुपया दिया है, तब प्राय मालन इसे चूल्हे के नीचे गाड कर नही रखती वरन् अपनी आट की माग की पूर्ति करने के लिय इसी रुपये को परचूनिये को दे देती है, परचूनिया तेली से तेल लाता है और तेली को इसी रुपये को बदले म दे देता है। इस तरह रुपये की एक इकाई कितनी ही बार विनिमय के माध्यम के रूप म प्रयोग मे आती है। यदि यह इकाई तीन बार प्रयोग म आई है, तब इसने तीन रुपये के बराबर मुद्रा का कार्य किया है। अत किसी दिये हुये समय मे मुद्रा की एक इकाई वस्तुओं व सेवाओ को खरीदने के लिये जितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ को हस्तान्तरित होती है। (या यह जितनी बार विनिमय का कार्य करती है), इसके औसत को मुद्रा की चलन गति (Velocity of Circulation) कहते हैं और यदि हम मुद्रा को इसकी गति (Velocity) से गुणा कर दें तब मुद्रा की कुल पूर्ति का अनुमान लग जाता है। इस तरह मुद्रा की पूर्ति द्रव्य की चलन गति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है यह गति जितनी अधिक होती है, उतनी ही अधिक मुद्रा की पूर्ति होती है। इसके विपरीत गति जितनी कम होती है उतनी ही मुद्रा की पूर्ति कम होती है। यह स्मरण रहे कि केवल धातु मुद्रा या कागजी मुद्रा में ही गति (Velocity) नहीं होती वरन साख-पत्र (Credit Money) मे भी भ्रमण गति पाई जाती है।* अत समस्त मुद्रा राशि को चलन की औसत गति से गुणा करने पर मुद्रा की कुल पूर्ति का ज्ञान हो जाता है।

मुद्रा की चलन गति भी कितनी ही बातो पर निर्भर रहती है। इनम से मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार है—(i) मुद्रा की मात्रा—मुद्रा की चलन गति स्वय इसकी मात्रा पर निर्भर रहती है। प्रत्येक आर्थिक समाज म विनिमय के कार्यों के लिए एक निश्चित मात्रा म मुद्रा की आवश्यकता पड़ा करती है। यदि मुद्रा की मात्रा चलन म कम है, तब इसकी गति अधिक हो जायगी और यदि चलन म मुद्रा की पूर्ति अधिक है, तब इसकी गति कम हो जायगी। (ii) नकद वस्तुयें खरीदने की आदत—जब वस्तुयें उधार खरीदी जाती हैं तब इनका भुगतान दो महीने चार महीने छ महीने या एक वर्ष, क बाद होता है परिणामत मुद्रा की चलन वेग कम हो जाता है। परन्तु जब क्रय विक्रय नकद (Cash) म किया जाता है या जब सौदे का भुगतान थोडी थोडी मात्रा म निरन्तर

*Cheques Hundis Bills of Exchange Drafts etc are included in Bank Money or Credit Money

किया जाता है, तब मुद्रा की भ्रमण-गति में वृद्धि हो जाती है (iii) **जनता में बचत की आदत**—प्रत्येक मनुष्य अपनी आय का कुछ भाग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय कर देता है और इसका शेष भाग अपनी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बचत के रूप में रख लेता है। आय का जितना अधिक भाग वर्तमान उपभोग पर व्यय किया जाता है, चलन गति में उतनी ही अधिक वृद्धि हो जाती है। अतः मुद्रा की भ्रमण-गति इस बात पर निर्भर रहती है कि जनता अपनी समस्त आय का कितना भाग वर्तमान उपभोग पर और कितना भाग बचत के रूप में रखती है। (iv) **उधार सौदों के भुगतान का समय**—यदि किसी देश में सामान्य रिवाजों के अनुसार सौदों का भुगतान साल में एक दो बार किया जाता है, तब ऐसे देश में चलन की भ्रमण-गति कम होगी। इसके विपरीत यदि उधार सौदों का भुगतान थोड़े थोड़े समय के बाद किया जाता है, तब देश में चलन की गति बढ़ जायगी। (v) **जनता में द्रवता पसन्दगी**—व्यापारी तथा जनसाधारण अपने दिन प्रति दिन के कार्यों के लिए जितनी बड़ी मात्रा में धन अपने पास नकद में रखते हैं, देश में मुद्रा की गति उतनी ही कम हो जाती है। अतः जनता में द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference) जितनी अधिक मात्रा में होती है, उतनी ही मुद्रा में भ्रमण-गति कम हो जाती है। (vi) **मजदूरी के भुगतान का तरीका**—मजदूरी का भुगतान विभिन्न समयों पर किया जाता है—दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक आदि। यदि देश में मजदूरी का भुगतान प्रायः एक बहुत लम्बी अवधि के बाद किया जाता है, तब अधिकांश मनुष्यों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अपने पास नकद में अधिक मात्रा में रुपया रखना पड़ेगा जिससे द्रव्य की गति कम हो जायगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी का भुगतान बार-बार तथा थोड़े-थोड़े समय बाद किया जाता है, तब मुद्रा का विनिमय कार्यों में उपयोग अधिक हो जाता है जिससे मुद्रा की गति में वृद्धि हो जाती है। (vii) **यातायात तथा सम्वाद-वाहन के साधन**—किसी देश में इन साधनों में जितना अधिक विकास हो जाता है, विनिमय का क्षेत्र उतना ही अधिक विस्तृत तथा वस्तुओं का क्रय विक्रय उतनी ही अधिक तेजी से होने लगता है जिससे मुद्रा की गति में बहुत वृद्धि हो जाती है। (viii) **उधार लेने की सुविधायें**—

मुद्रा की चलन गति निर्भर रहती हैं निम्न बातों पर:—

१. मुद्रा की मात्रा।
२. नकद वस्तुयें खरीदने की आदत।
३. जनता में बचत की आदत।
४. उधार सौदों के भुगतान का समय।
५. जनता में द्रवता पसन्दगी।
६. मजदूरी के भुगतान का तरीका।
७. यातायात तथा सम्वाद-वाहन के साधन।
८. उधार लेने की सुविधायें।
९. मूल्यों का भावी अनुमान।
१०. राष्ट्र की आर्थिक उन्नति।
११. जमा-राशि की गतिशीलता।

उधार लेने की सुविधायें उधार को प्रोत्साहन देती हैं जिससे मुद्रा की गति घट जाती है, परन्तु जब ऋण प्राप्त करने की सुविधाओं का अन्त हो जाता है, तब मुद्रा की गति में कुछ तीव्रता आ जाती है (ix) **मूल्यों का भावी अनुमान**–यदि भविष्य में मूल्यों के बढ जाने की आशा है, तब इसी आशा से विनिमय कार्यों की गति तीव्र हो जाती है जिससे द्रव्य की गति भी तीव्र हो जाती है। भविष्य में मूल्यों के कम हो जाने की सम्भावना से मुद्रा की गति मन्द हो जाती है। (x) **राष्ट्र की आर्थिक उन्नति**—मुद्रा की गति राष्ट्र की आर्थिक दशा पर निर्भर रहती है। एक औद्योगिक व आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र में मुद्रा (धातु मुद्रा व साख मुद्रा दोनों ही) की अधिक आवश्यकता पड़ा करती है क्योंकि क्रय-विक्रय के कार्य परिमाण में अधिक हो जाते हैं तथा इनका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो जाता है जिसके कारण पिछड़े तथा कृषि प्रधान देशों की तुलना में ऐसे विकसित देशों में मुद्रा की गति बहुत ही तीव्र हो जाती है। यह स्मरण रहे कि साधारणतया बढ़ते हुए वस्तुओं के मूल्य भी मुद्रा की गति को बढ़ाते हैं। (xi) **जमा राशि की गतिशीलता (The Mobility of Cash Deposits)**–जितनी जल्दी-जल्दी एक व्यक्ति के खाते में से दूसरे व्यक्ति के खाते में रुपयों का हस्तान्तरण होता है (साख पत्रों द्वारा), उतना ही अधिक देश में साख-मुद्रा (Credit Money) का भ्रमण-वेग बढ़ता है। मुद्रा की भाँति साख मुद्रा की गति भी साधारणतया देश के बैंकिंग विकास तथा इसकी उन्नति पर निर्भर रहती है। **अतः उक्त ग्यारह बातों का किसी देश में किसी समय पर मुद्रा की चलन-गति पर प्रभाव पड़ता है।**

मुद्रा के परिमाण को निर्धारित करने वाले अन्य अनेक तत्व भी हैं। इन तत्वों को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जाता है—वैधानिक तथा आर्थिक। वैधानिक तत्वों के अन्तर्गत हैं—देश में कौन से मुद्रा मान का चुनाव किया गया है, बहुमूल्य धातुओं की आयात निर्यात तथा क्रय विक्रय के क्या-क्या नियम हैं, नोट प्रकाशन के देश में क्या-क्या नियम हैं तथा नोट निर्गमन (Note Issue) के लिये रक्षित-कोष (Reserve Fund) किस किस प्रकार स्थापित किया जाता है, व्यापारिक बैंकों को अपने पास तथा केन्द्रीय बैंक के पास कितना कितना नकद-कोष रखना पड़ता है, केन्द्रीय बैंक की ऋण सम्बन्धी बैंक दर तथा खुले बाजार की नीति किस प्रकार की है आदि। आर्थिक तत्वों के अन्तर्गत हैं—देश के अन्दर बहुमूल्य धातुओं का उत्पादन तथा इनका सचय, जनता का बैंकों में से धन निकालने की नीति अर्थात् वे कितना धन बैंक से निकालते हैं तथा कितना धन बैंक में जमा रखते हैं।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी समय पर किसी देश में मुद्रा की कुल पूर्ति को निर्धारित करने वाले अनेक तत्व हैं। मुद्रा की कुल पूर्ति धातु मुद्रा, विधिग्राह्य कागजी-मुद्रा, साख मुद्रा (या बैंक-मुद्रा), इन विभिन्न प्रकार की मुद्राओं की भ्रमणगति तथा अन्य वैधानिक व आर्थिक तत्वों द्वारा ही निश्चित होती है।

मुद्रा की माग (Demand for money)

मुद्रा की माग का अर्थ *(Meaning of Demand for Money)*—यह स्पष्ट हो चुका है कि जिस प्रकार वस्तु का मूल्य निर्धारण इसकी माँग और पूर्ति से होता

है उसी प्रकार द्रव्य का मूल्य-निर्धारण भी इसकी मांग और पूर्ति से होता है। द्रव्य की पूर्ति के सम्बन्ध में ऊपर विस्तार से लिखा जा चुका है। अब हमें यह देखना है कि द्रव्य की मांग का क्या अभिप्राय है ? मुद्रा की माग में तथा वस्तु की मांग मे एक आधारभूत भेद है। किसी वस्तु की माँग इसलिए की जाती है क्योंकि इसमे मनुष्य की आवश्यकता को प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्टि करने की शक्ति होती है, परन्तु मुद्रा मे मनुष्य की आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप में सन्तुष्टि करने का गुण नही होता है, वरन् इसको माग इसलिए की जाती है क्योकि इसमे क्रय-शक्ति है तथा यह विनिमय के माध्यम का एक महत्वपूर्ण साधन है। मुद्रा को प्राप्त करने का उद्देश्य ही वस्तु एवं सेवायें प्राप्त करना होता है। जब उत्पादक (चाहे कृषक हो या उद्योगपति) वस्तुओ को बाजार मे लाता है, तब वह अपनी वस्तुओ के बदले मुद्रा की माँग करता है। इसी प्रकार जब कोई श्रमिक (या जब कोई व्यक्ति) कोई कार्य करता है, तब वह अपने सेवा कार्य के बदले मे द्रव्य की माग करता है। इसी प्रकार समाज मे जितनी भी वस्तुओ व सेवाओ का क्रय-विक्रय किया जाता है, इन सबके स्वामी द्रव्य की माग करते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी देश में मुद्रा की मांग वहां पर उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओ की मात्रा पर निर्भर रहती है क्योंकि इसकी मांग इन्हीं वस्तुओं व सेवाओं के विनिमय के लिए की जाती है। अतः मुद्रा की मांग किसी समय के व्यापार का परिमाण (Total Quantity of Trade) है। वर्तमान आर्थिक समाज मे चूंकि अधिकाश वस्तुओं व सेवाओ का उत्पादन विनिमय के लिये किया जाता है, इसलिये कुछ अर्थशास्त्रियो ने समाज मे उपलब्ध हो सकने वाली तमाम वस्तुओ व सेवाओं को ही देश मे मुद्रा की माग की मात्रा मान लिया है। परन्तु इस प्रकार की मान्यता दोषपूर्ण है। सच तो यह है कि समाज मे उपलब्ध ऐसी वस्तुओं व सेवाओ को ही मुद्रा की माग का सूचक मानना चाहिये जिनका वास्तव मे द्रव्य मे क्रय-विक्रय या विनिमय होता है। वस्तुओं व सेवाओ के परिमाण में परिवर्तन हो जाने पर मुद्रा की मांग में भी स्वतः परिवर्तन (घट बढ़) हो जाता है।

निष्कर्षः—मुद्रा की मांग और पूर्ति के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मांग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति तथा विनिमय साध्य वस्तुओ की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है। जब कभी मुद्रा की मांग अथवा पूर्ति में परिवर्तन होते हैं, तब ही मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाते हैं, वस्तुओं तथा सेवाओं का सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level) ही मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों का सूचक होता है।

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या (Statement of the Quantity Theory of Money)—जनसख्या के सिद्धान्त की तरह मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त भी केवल एक प्रवृत्ति का द्योतक है। दूसरे शब्दो मे, यदि हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को गणित-शास्त्र की यथार्थता (Mathematical Exactness) दें, तब सम्भव है, यह इतना उपयोगी तथा सही सिद्ध नही हो, परन्तु जब यह सिद्धान्त एक प्रवृत्ति के रूप मे

माना जाता है, तब यह अधिक पूर्ण व सही उतरता है और हमे आर्थिक घटनाओं को समझाने मे सहायक होता है। सरल शब्दो मे द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या निम्न शब्दो मे की जा सकती है —

(१) टॉसिग (Taussig) के शब्दों में, "अन्य बातें समान रहने पर, यदि द्रव्य का परिमाण द्विगणित हो जाय, तब वस्तुओ के मूल्य पहले से दुगुने हो जायेंगे और द्रव्य का मूल्य (या अर्थ या विनिमय-शक्ति) आधा हो जायगा। यदि द्रव्य का परिमाण आधा कर दिया जाय, तब अन्य बातें समान रहने पर, वस्तुओ के मूल्य आधे हो जायेंगे और द्रव्य का मूल्य दुगुना हो जायगा।"[1] इस तरह द्रव्य का परिमाण बढने से इसका मूल्य उसी अनुपात मे कम हो जाता है और वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य-स्तर (General Level of Prices) बढ जाता है और द्रव्य का परिमाण घटने से इसका मूल्य इसी अनुपात मे बढ जाता है और वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य-स्तर घट जाता है।[2]

(२) एक लेखक के अनुसार—"अन्य बातें समान रहने पर, द्रव्य के परिमाण का प्रत्येक परिवर्तन, सामान्य मूल्य-स्तर मे प्रत्यक्ष अनुपातिक (Direct Proportional) परिवर्तन पैदा करता है और मुद्रा के मूल्य मे विपरीत अनुपातिक (Inverse Proportional) परिवर्तन पैदा करता है।" इस तरह सामान्य मूल्य-स्तर सदा मुद्रा के मूल्य से विपरीत तथा मुद्रा की पूर्ति से प्रत्यक्ष परिवर्तित होता है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा के परिमाण का वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य से सीधा तथा अनुपातिक (Direct and Proportional) सम्बन्ध होता है और मुद्रा के मूल्य से विरोधी तथा अनुपातिक (Inverse or Indirect and Proportional) सम्बन्ध होता है।

"अन्य बातें समान रहने पर" वाक्यांश का अर्थ (Meaning of the phrase "other things remaining the same")—मुद्रा के परिमाण सिद्धांत मे 'अन्य बातें समान रहने पर' वाक्य एक महत्वपूर्ण वाक्याश है। इसका अर्थ है कि जबकि कुछ बातें समान रहती है, तब ही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कार्यशील होता है। अत वे कौन-कौन सी परिस्थितिया है या किस अवस्था म परिमाण सिद्धान्त सत्य होता है। निम्नलिखित मे वे बाते हैं जिनमे यदि किसी भी प्रकार का परिवतन नही हुआ, तब मुद्रा का परिमाण सिद्धात लागू हो जायगा—

(1) व्यापार की मात्रा स्थिर रहनी चाहिये या द्रव्य की माग मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये—मुद्रा का परिमाण सिद्धात तब ही लागू होता है जबकि द्रव्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों मे या व्यापारिक सौदो मे कोई परिवर्तन नही होता है। चू कि मुद्रा की माग देश म होने वाले व्यापार की मात्रा द्वारा नियत होती है, इसलिए यदि व्यापार की

1—"Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one half Half the quantity of money and, other things being equal prices will be one half of what they were before and the value of money double"—Taussig Principles of Economics Vol 1 Page 250

2—"Other things remaining the same, every increase (or decrease in the quantity of money in circulation will result in a proportionate fall (or rise) in the value of money and a proportionate increase (or decrease) in the general price level"

मात्रा स्थिर रहती है, तब मुद्रा की मांग भी स्थिर रहेगी। अतः जबकि विनिमय-साध्य वस्तुओं के परिमाण में तथा इनके भ्रमण-वेग में कोई परिवर्तन नहीं होता, तब ही मुद्रा की माग भी स्थिर रहने पाती है, मुद्रा के परिमाण सिद्धांत ने इस बात की कल्पना की है कि द्रव्य मांग या व्यापार की मात्रा में स्थिरता रहने पर ही सिद्धान्त लागू होता है। (ii) **वस्तु विनिमय सौदों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये**—प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ सौदे (Transactions) वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) द्वारा किये जाते हैं। जब कुछ सौदे या विनिमय कार्य बिना द्रव्य की सहायता से किये जाते है, तब मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के सम्बन्ध मे इन्हे या तो मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि या व्यापार की मात्रा मे कमी या मुद्रा की माग मे कमी समझना चाहिये या इस प्रकार के सौदों को अपनी गणना में बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। परन्तु द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त ने इस बात की कल्पना की है कि या तो समाज में वस्तु-विनिमय प्रणाली द्वारा विनिमय-कार्य ही नहीं होते और यदि होते भी हैं, तब इनकी मात्रा स्थिर रहती है। (iii) **साख-मुद्रा की मात्रा तथा साख-मुद्रा व चलन के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये** :— (अ) साख पत्र भी द्रव्य की भांति मुद्रा का कार्य करते हैं। वर्तमान समाज मे अधिकांश सौदों का भुगतान चैक, हुन्डी, ड्राफ्ट तथा बिल ऑफ एक्सचेंज जैसे साख-पत्रों द्वारा किया जाता है। इसीलिए इनकी मात्रा मे घट-बढ़ हो जाने पर देश मे द्रव्य की कुल मात्रा में भी घट-बढ़ हो जाती है। मुद्रा का परिमाण सिद्धांत इस बात की कल्पना करता है कि साख-पत्र (या साख मुद्रा) की मात्रा में कोई घट-बढ़ नहीं होना चाहिये। (ब) साख-मुद्रा तथा चलन का अनुपात भी स्थिर रहना चाहिये :—एक बैंक साख मुद्रा का निर्माण अपने नकद कोष (Cash Reserves) के आधार पर करता है और उसका नकद कोष उसे प्राप्त होने वाली जमा (Deposits) की रकम पर निर्भर रहता है। प्रत्येक बैंक अपनी इच्छा से ही नकद कोष तथा जमा रकम का अनुपात तय किया करता है यद्यपि कभी-कभी सरकार या केन्द्रीय बैंक भी इस सम्बन्ध मे नियम बना देते हैं। परन्तु बैंक में जमा होने वाली रकम देश के चलन (Currency) पर निर्भर रहती है। (मनुष्यों की जितनी अधिक आय होती है, वे उतना ही अधिक रकम बैंक मे जमा करते हैं)। इस तरह देश मे चलन की मात्रा के घट-बढ़ से बैंकों की जमा में घट-बढ़ हो जाती है जिससे बैंक के नकद-कोष में घट-बढ़

"अन्य बातें समान रहने पर" वाक्यांश का अर्थ :—

१. व्यापार की मात्रा स्थिर रहनी चाहिये या द्रव्य की माग मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।
२. वस्तु-विनिमय सौदों मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
३. साख-मुद्रा की मात्रा तथा साख मुद्रा व चलन के अनुपात मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।
४. चलन की गति मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

हो जाती है और अन्ततः इस कोष के घट-बढ़ के कारण देश में जारी की जाने वाली साख-मुद्रा की रकम में भी घट-बढ़ हो जाती है। परिमाण सिद्धान्त यह मान लेता है कि देश में जनता द्वारा आय का एक निश्चित भाग ही बैंकों में जमा किया जाता है तथा बैंकों में भी जमा तथा नकद कोषों का एक निश्चित अनुपात रहता है ताकि साख-मुद्रा और चलन का अनुपात स्थिर रह सके। (iv) चलन की गति (Velocity) में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये :—मुद्रा की भ्रमण गति के सम्बन्ध में ऊपर विस्तार से लिखा जा चुका है और हम उन अनेक बातों को भी जानते हैं जो मुद्रा की गति को प्रभावित करते हैं। परिमाण सिद्धान्त यह मान लेता है कि नियम तब ही लागू होता है जबकि मुद्रा (चाहे वह किसी भी प्रकार की मुद्रा क्यों न हो) की भ्रमण-गति स्थिर रहती है। उदाहरण के लिये, $MV+M'V'=PT$ में यदि M' और M में परिवर्तन आनुपातिक हैं, तब M के परिवर्तनों के अनुपात में P में परिवर्तन तब ही सम्भव होगा जबकि V और V' में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है (T भी स्थिर है)। इसीलिये यह मान लिया जाता है कि परिमाण सिद्धान्त की सत्यता के लिये चलन की भ्रमण-गति स्थिर रहनी चाहिये।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का सूत्र (The Formula of the Quantity Theory of Money as propounded by the Old Economists) :—प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर (Irving Fisher) से पहले भी कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक समीकरण (Equation) के रूप में प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने समीकरण में मुद्रा के परिमाण, वस्तुओं की मात्रा तथा वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। यह स्मरण रहे कि विभिन्न कालों में परिमाण सिद्धान्त के समीकरण के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा-परिमाण सिद्धांत का समीकरण इस प्रकार था—$\frac{M}{T}=P$, जिसमें M बराबर है देश में प्रचलित चलन की मात्रा, T बराबर है उस समय देश में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा P बराबर है वस्तुओं और सेवाओं का सामान्य मूल्य-स्तर। इस सूत्र में T स्थिर माना जाता है जिससे P में सभी परिवर्तन M के परिवर्तन के कारण होते हैं तथा इन दोनों में सीधा व आनुपातिक सम्बन्ध होता है। परन्तु इस सूत्र का सबसे बड़ा यह दोष रहा है कि इसने इस बात को भुला दिया कि देश में मुद्रा का परिमाण केवल चलन की मात्रा (Amount of Currency) पर ही निर्भर नहीं होता वरन् यह चलन की भ्रमण गति (Velocity of Circulation) पर भी निर्भर रहता है।

कुछ समय बाद अर्थशास्त्रियों ने परिमाण सिद्धान्त में इस समीकरण के दोष को समझा और उन्होंने इस बात को समझकर कि किसी समय पर मुद्रा का परिमाण केवल चलन की कुल मात्रा से सूचित नहीं होता वरन् यह चलन की कुल मात्रा तथा चलन की गति के गुणनफल से सूचित होता है, परिमाण सिद्धान्त का सूत्र इस प्रकार संशोधित रूप

मे बताया:- $\frac{MV}{T}=P$, जबकि M बराबर है देश में प्रचलित चलन की मात्रा, V बराबर है चलन की भ्रमण-गति (Velocity), T बराबर है उस समय देश में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा P बराबर है वस्तुओं और सेवाओं का सामान्य मूल्य-स्तर। इस सूत्र के अनुसार P मे सभी परिवर्तन MV के परिवर्तन के कारण होते है तथा इनमें सीधा तथा अनुपाती (Proportional) सम्बन्ध होता है। परन्तु इस सूत्र मे भी यह दोष रहा है कि--इसने यह माना है कि केवल चलन (Currency) ही (विधि-ग्राह्य-मुद्रा) विनिमय के माध्यम के रूप मे उपयोग में लाई जाती है और इस बात को भूल गये कि विधिग्राह्य-मुद्रा के अतिरिक्त साख-मुद्रा का भी विनिमय के माध्यम के रूप मे उपयोग होता है। फिशर जैसे प्रसिद्ध वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इस दोष को समझा और कहा कि मुद्रा की कुल मात्रा के अन्तर्गत हमें विधिग्राह्य-मुद्रा (Legal Tender Money) के अतिरिक्त साख-मुद्रा (Credit Money) को भी सम्मिलित करना चाहिये क्योंकि साख-मुद्रा भी आजकल विनिमय के माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण कार्य करती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा के परिमाण पर साख-मुद्रा की चलन-गति (Velocity of Credit Money) का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि विधिग्राह्य मुद्रा की तरह साख-मुद्रा भी प्रायः अनेकों बार एक हाथ से दूसरे हाथ को हस्तांतरित होती है। इसीलिए आजकल मुद्रा की कुल मात्रा में चलन तथा इसकी भ्रमण-गति के गुणनफल के अतिरिक्त साख-मुद्रा तथा इसकी भ्रमण-गति का गुणनफल सम्मिलित किया जाता है। इन दोनों प्रकार की मुद्राओं के योग से ही किसी समय मुद्रा का परिमाण निश्चित होता है। प्रो० फिशर (Fisher) ने इन बातों का महत्त्व समझा और उपरलिखित मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त के समीकरण मे उचित संशोधन करके अपनी ओर से एक नया समीकरण (Equation) दिया जिसका नीचे विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रो० फिशर द्वारा दिया गया मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सूत्र (*Prof. Fisher's formula of the Quantity Theory of Money*):—सुविख्यात अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर (Irving Fisher) ने प्राचीन अर्थशास्त्रियों के मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सूत्रों के दोषों को समझ कर अपना एक सूत्र दिया है यह सूत्र विनिमय का समीकरण (Equation of Exchange) कहलाता है। फिशर का विनिमय का समीकरण इस प्रकार है:—

$$MV+M'V'=PT$$

$$\therefore \frac{MV+M'V'}{T}=P$$

जबकि, M बराबर है चलन (Currency) का कुल परिमाण (कुल-विधिग्राह्य मुद्रा) अर्थात् धात्विक मुद्रा (Metallic Currency)+कागजी नोट (Paper Currency), V बराबर है चलन (Currency) की भ्रमण गति (Velocity), M'

बराबर है तमाम साख-मुद्रा (Credit Money) अर्थात् चैक, हुण्डी ड्राफ्ट आदि की मात्रा, V' बराबर है साख-मुद्रा की भ्रमण-गति, P बराबर है वस्तुओं व सेवाओं का सामान्य मूल्य-स्तर तथा T बराबर है समस्त व्यापारिक सौदे। इस तरह किसी देश में कुल द्राव्यिक-शक्ति (Money Power) बराबर है MV+M'V' अर्थात् यह देश में द्रव्य की कुल पूर्ति है। यह फिशर (Fisher) के समीकरण (Equation) का एक भाग है और दूसरे भाग में द्रव्य-कार्य (Money Work) प्रदर्शित किया गया है, जो PT है। इस तरह T वस्तुओं और सेवाओं को P मूल्य पर विनिमय करने के लिए द्रव्य की माँग PT के बराबर होगी अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं को इनकी कीमतों से गुणा करने पर कुल सौदे (Total Transactions) निकल आते हैं, ये ही कुल द्रव्य की माँग है। अतः समीकरण में द्रव्य की पूर्ति बराबर है MV+M'V' तथा द्रव्य की माँग बराबर है PT। चूँकि द्रव्य का मूल्य ऐसे स्थान पर निर्धारित होता है जहाँ पर द्रव्य की पूर्ति बराबर है द्रव्य की माँग, इसलिए मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण है—MV+M'V'=PT*

फिशर (Fisher) के समीकरण से यह स्पष्ट है कि P अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) का मुद्रा के कुल परिमाण अर्थात् MV+M'V' से सीधा और आनुपातिक (Direct and Proportional) सम्बन्ध है और P अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर का T अर्थात् कुल सौदों (Total Transactions) से विपरीत (या विरोधी) तथा आनुपातिक (Inverse and Proportional) सम्बन्ध है।

परन्तु फिशर (Fisher) ने यह बात मान ली है कि अल्पकाल (Short Period) में V, V' तथा T स्थिर Constant रहते हैं तथा M' का M से अनुपात भी स्थिर रहता है। अतः फिशर के सूत्र से स्पष्ट है कि यदि चलन (Currency) की मात्रा बढ़ती है, तब वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य भी बढ़ जायगा और यदि चलन की मात्रा घटती है, तब सामान्य मूल्य स्तर भी कम हो जायगा। इसी प्रकार यदि वस्तुओं व सेवाओं (या सौदों) अर्थात् T में वृद्धि हो जाय जिससे द्रव्य की माँग तो बढ़ जाय परन्तु इसकी पूर्ति में वृद्धि नहीं होने पाए, तब वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम हो जायगा क्योंकि अब तमाम वस्तुओं व सेवाओं का कम द्रव्य द्वारा विनिमय होगा या द्रव्य की एक इकाई में पहले से अधिक वस्तुयें व सेवायें प्राप्त होने लगेंगी (अर्थात् वस्तुओं का मूल्य ह्रास हो जायगा)। इसके विपरीत यदि T अर्थात् सौदों या वस्तुओं और सेवाओं में कमी हो जाय जिससे द्रव्य की माँग घट जाय परन्तु इसकी पूर्ति पूर्ववत् ही रहे, तब वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि होगी क्योंकि अब तमाम वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय अधिक द्रव्य द्वारा होने लगेगा या द्रव्य की एक इकाई से पहले की अपेक्षा कम वस्तुयें प्राप्त होने लगेंगी (अर्थात् वस्तुओं की मूल्य-

* The Quantity Theory of Money can be expressed like this as well—The General Price Level (P) is directly proportional to the Total Quantity of Money in Circulation (M) which includes both Metallic and Non-Metallic Money (Paper Currency+Bank Money) and is inversely proportional to the Trade (Total Quantity of Goods and Services)

वृद्धि हो जायगी)। चूंकि द्रव्य की क्रय शक्ति अर्थात् वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य द्रव्य के परिमाण में कमी व वृद्धि पर निर्भर रहता है, इसलिए जो नियम मुद्रा के परिमाण तथा वस्तुओं के मूल्य के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करता है उसे मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कहते हैं। अतः मांग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) को जब हम द्रव्य पर लागू करते हैं, तब यह द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का रूप ले लेते हैं।

अन्य बातें क्यों समान रहती हैं ? (Why do the other things remain the same ?).—प्रो० फिशर (Fisher) ने अपनी समीकरण प्रस्तुत करते समय यह मान लिया है कि V,V' तथा T स्थिर रहते है और M' का M से एक निश्चित अपरिवर्तनीय अनुपात होता है। परिणामत. P में परिवर्तन केवल M के परिवर्तनो के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, चूंकि चलन (Currency) तथा साख-मुद्रा (Credit Money) दोनों की ही भ्रमण गति (Velocity) अल्पकाल में अपरिवर्तनीय होती है तथा साख-मुद्रा (M') और चलन (M) मे सदा एक निश्चित अपरिवर्तनीय अनुपात होता है, इसलिए P अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर मे केवल चलन (M) की मात्रा मे परिवर्तन हो जाने से परिवर्तन हो जाते है। अतः फिशर (Fisher) के अनुसार अल्पकाल मे मुद्रा का परिमाण केवल प्रचलित चलन की मात्रा अर्थात् M पर निर्भर रहता है। अल्पकाल में V, V', T तथा M' का M से अनुपात क्यों स्थिर रहता है, इसका उत्तर फिशर (Fisher) ने इस प्रकार दिया है—अल्पकाल में व्यापारिक लेन देन तथा मुद्रा द्वारा किए गए कार्यों की मात्रा स्थिर रहती है क्योंकि इस काल में जन-संख्या में परिवर्तन नहीं होता, प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं बदलता, उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपभोग में लाया जाता है वह नही बदलता, वस्तुओं के भ्रमण-वेग में कोई परिवर्तन नही होता, उत्पादन की रीतियो तथा मनुष्यों की उपभोग सम्बन्धी आदतों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अदल-बदल द्वारा विनिमय के प्रतिशत में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार मुद्रा की मांग स्थिर रहती है।[1] इन सब बातो को स्थिर मानकर ही प्रो० फिशर (Fisher) ने बताया कि P अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर तथा M अर्थात् द्रव्य के परिमाण मे सीधा और आनुपातिक (Direct and Proportional) सम्बन्ध होता है।

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनायें (Criticism of the Quantity Theory):—परिमाण सिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित बातें कही जाती है:—

(१) सिद्धान्त की मान्यतायें अवास्तविक हैं (Assumptions of the Theory are Imaginary)—प्रो० फिशर ने परिमाण सिद्धान्त के समीकरण का जिन मान्यताओं (Assumpt ons) के आधार पर प्रतिपादन किया है, उनमें बहुत सी त्रुटियां है (फिशर के अनुसार V, V' तथा T और M' का M से अनुपात स्थिर रहता है)। फिशर ने इन मान्यताओं को सिद्धान्त की व्याख्या करते समय "अन्य बातें समान रहनी चाहियें'

1—Irving Fisher, The Purchasing Power of Money. P. 142-55.

वाक्यांश द्वारा व्यक्त किया है। आलोचकों का मत है कि व्यावहारिक जीवन में फिशर द्वारा बताई गई अन्य बातें समान नहीं रहती हैं। फिशर ने यह भी मान लिया है कि ये बातें अल्पकाल में अवश्य ही स्थिर रहती हैं। आलोचकों के अनुसार इन बातों में दीर्घ-काल में ही नहीं वरन् अल्प काल तक में परिवर्तन हो जाता है और इन परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप द्रव्य के मूल्य में भी घट बढ़ हो जाता है जिससे सिद्धान्त लागू नहीं होने पाता है। आलोचकों ने अपने मत के समर्थन में कई महत्वपूर्ण तर्क दिये हैं —

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनायें हैं छः—

१ सिद्धान्त की मान्यतायें अवास्तविक है।

२ परिमाण सिद्धान्त व्यापार-चक्रों म होने वाले मूल्य-स्तर के परिवर्तनों की व्याख्या करने म असमर्थ है।

३ परिमाण सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किस प्रकार मूल्य स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं।

४ परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय शक्ति को ठीक-ठीक नहीं नापने पाता है।

५ परिमाण सिद्धान्त ने मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल डाला है।

६ परिमाण सिद्धान्त काल्पनिक तथा अपूर्ण है।

(i) परिमाण सिद्धान्त के समीकरण (Equation) में यह मान लिया गया है कि चलन की पूर्ति (M) में वृद्धि हो जाने पर भी इसकी चलन गति (V) में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सिद्धान्त यह मान लेता है कि M और V एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं या एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। वास्तव में M में परिवर्तन हो जाने पर V म स्वतः ही परिवर्तन हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप यदि M दुगुनी कर दी जाती है तब P मे दुगुने से अधिक वृद्धि (या अनुपात से अधिक) या द्रव्य के मूल्य म दुगुने से अधिक कमी हो जाती है।[2] इसका कारण स्पष्ट है। M में थोड़ी सी वृद्धि हो जाने पर प्रायः P में थोड़ी सी वृद्धि हो जाती है जिसमे वस्तुएँ जल्दी-जल्दी खरीदी बेची जाती है। परिणामतः मुद्रा का एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तान्तरण जल्दी जल्दी होने लगता है। प्राय समय के परिवर्तन तथा सट्टा बाजार की प्रवृत्तियों के कारण भी द्रव्य की भ्रमण गति म वृद्धि हो जाया करती है। (ii) परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में यह मान लिया गया है कि M′ का M से एक स्थिर व निश्चित (Constant) तथा अपरिवर्तनीय सम्बन्ध होता है। इस

2—This fact can be illustrated from the condition of the German Mark after the First World War As the Value of the German Mark was depreciating fast, those people who received Mark converted it soon into commodities so that they might not be at a loss due to the falling Value of Money Hence the Velocity of Circulation of Money (V) increased greatly as nobody wanted *to hold the Mark* and this increase was in a greater proportion to the increase in the Quantity of Money resulting in the excessive rise in the price of all commodities & services and *thus a further steep fall in the Value of the German Mark*

तरह M में घट-बढ़ के अनुसार M′ में घट-बढ़ होती है, परन्तु इन दोनों का सम्बन्ध पहले के अनुपात मे ही रहता है। **परन्तु यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है।** वास्तव मे M′ का M से कोई स्थिर (Constant) सम्बन्ध नही होता है। इसका कारण स्पष्ट है। व्यापारिक सफलता के काल मे (In Boo n Period) व्यवसायी बैंको से ऋण लेकर उत्पत्ति का पैमाना बढाते है। ऐसे समय मे बैंक बहुत ही बड़ी मात्रा मे साख-द्रव्य (Credit Money) का निर्माण कर देते हैं जिससे M′ का M से अब पहले जितना अनुपात नही रहता वरन् M′ का M से अनुपात बढ जाता है। परिणामतः द्रव्य की कुल पूर्ति मे बहुत वृद्धि हो जाती है अर्थात् मुद्रा का परिमाण मुद्रा अधिकारी (Monetary Authority) द्वारा जारी किए गए द्रव्य के परिमाण से बहुत अधिक हो जाता है और वस्तुओ व सेवाओ के मूल्यों मे वृद्धि द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है। **(iii) परिमाण सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि M में परिवर्तन हो जाने पर भी V′ में कोई परिवर्तन नहीं होता है।** सिद्धान्त ने यह मान लिया है कि M और V′ एक दूसरे से स्वतन्त्र है या एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। **परन्तु यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है।** यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि कुछ कारणो से M मे परिवर्तन हो जाने पर V′ मे परिवर्तन हो जाता है ठीक इन्ही कारणो से M मे परिवर्तन हो जाने पर V′ मे परिवर्तन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप यदि M की मात्रा दुगुनी कर दी जाती है, तब P मे दुगुने से अधिक वृद्धि (या अनुपात से अधिक वृद्धि) हो जाती है। **(iv) परिमाण सिद्धान्त ने यह मान लिया है कि M में परिवर्तन होने पर भी T (कुछ विनिमय कार्य या सौदो) के कोई परिवर्तन नहीं होता है।** चूंकि T की मात्रा ही देश मे द्रव्य की कुल मात्रा की सूचक है, इसलिए यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि देश मे मुद्रा की माग (Demand for Money) सदा स्थिर रहती है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि M और T एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं या एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही पडता है। **परन्तु यह मान्यता भी दोषपूर्ण है।** वास्तव में M मे परिवर्तन हो जाने पर T मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। द्रव्य की वृद्धि (M) से वस्तुओं का मूल्य (P) बढ जाता है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादकों की आमदनी बढ जाती है क्योंकि उनकी बिक्री तो बढ जाती है परन्तु कीमतों की तुलना मे उनका उत्पादन-व्यय कम रहता है। अधिक लाभ कमाने के हेतु वे पहले से अधिक उत्पत्ति करने लगते है जिससे व्यापार व व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार M के कम हो जाने पर या मुद्रा मे कमी से वस्तुओ का मूल्य (P) कम हो जाता है, उत्पादको को हानि होने लगती है जिससे उत्पादन घट जाता है अर्थात् T में कमी हो जाती है। अत. M मे परिवर्तन से T मे परिवर्तन अवश्य होता है और सिद्धान्त की यह मान्यता गलत है कि T मे सदा स्थिरता (Constant) रहती है। उक्त तर्क के अतिरिक्त अन्य अनेक कारण भी हैं जिनकी वजह से किसी देश मे वस्तुओ व सेवाओ अर्थात् T या कुल सौदो की मात्रा मे परिवर्तन हो जाते है, जैसे वस्तुओ की प्रचलन गति मे वृद्धि, जन-संख्या तथा इसकी कुशलता मे वृद्धि, उत्पादन विधियों में सुधार, नए-नए आर्थिक साधनो की खोज आदि। प्रत्येक देश के आर्थिक इतिहास तथा वर्तमान

उत्पादन व्यवस्था के अध्ययन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक देश में उत्पादन की कुल मात्राओं में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं अर्थात् T में परिवर्तन होते रहते हैं। अतः सिद्धान्त के समीकरण के प्रतिपादन में T को स्थिर मान लेना पूर्णतया गलत है।*

निष्कर्ष — उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रो० फिशर (Fisher) का यह विश्वास कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर भी "अन्य बातें समान ही रहती हैं" दोषपूर्ण एवं भ्रमपूर्ण है। यह कहना कि ये बातें एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं (Independent Variables) त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इनमें से किसी एक साधन (Factor) में परिवर्तन होने से इसका दूसरे साधनों पर अवश्यमेव ही प्रभाव पड़ता है।

(२) परिमाण सिद्धान्त व्यापार-चक्रों में होने वाले मूल्य स्तर के परिवर्तनों की व्याख्या करने में असमर्थ है (Quantity Theory is incapable of explaining the changes in the General Price Level during Business Cycles) —परिमाण सिद्धान्त यह बतलाता है मूल्य-स्तर में परिवर्तन (अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में परिवर्तन) मुद्रा के परिमाण में घट-बढ़ के कारण होता है। परन्तु आलोचकों का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं के मूल्यों में घट-बढ़ द्रव्य के परिमाण में घट-बढ़ के कारण ही हो। उदाहरण के लिये, मन्दीकाल (Depression Period) में मुद्रा के परिमाण में कमी नहीं होने पर भी वस्तुओं का मूल्य कम हो जाता है और तेजी-काल (Boom Period) में मुद्रा के परिमाण में वृद्धि नहीं होने पर भी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। अतः परिमाण सिद्धान्त वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों में

*कुछ लेखकों का मत है कि केवल पूर्ण रोजगार के बिन्दु (Point of Full Employment) पर वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा में स्थिरता (Constant) रहती है और यह भी बहुत कम समय के लिये। पूर्ण रोजगार की अवस्था किसे कहते हैं? जब कोई देश मुद्रा प्रसार की नीति अपना लेता है और मुद्रा की मात्रा में थोड़े-थोड़े समय के बाद वृद्धि करता है तब वस्तुओं के मूल्यों में धीरे-धीरे वृद्धि हो जाती है जिसमें देश में उत्पादन में भी वृद्धि हो जाती है। अन्ततः एक अवस्था ऐसी आ जाती है जबकि उत्पादन के धीरे धीरे प्रसार के कारण, उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पूर्ण उपयोग हो जाता है अर्थात् कोई भी साधन जरा-सा भी बेकार नहीं रहता है। इस अवस्था को पूर्ण रोजगार की दशा कहते हैं। इस अवस्था में यदि मुद्रा की मात्रा में और वृद्धि की जाय तब यद्यपि वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होगी परन्तु वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकेगी। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण को प्रस्तुत करते समय प्रो० फिशर (Fisher) ने इसी अवस्था की कल्पना की है। यह सच है कि इस अवस्था में सिद्धान्त सत्य सिद्ध होगा क्योंकि वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन से होगा। परन्तु आलोचकों का मत है कि यह अवस्था बहुत समय तक नहीं रह सकेगी और मनोवैज्ञानिक तथा अन्य कारणों से वस्तुओं के मूल्य में अनुपात से अधिक परिवर्तन हो जायेगा।

अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर में उन परिवर्तनों को समझाने में असफल रहता है जो कि व्यापार-चक्रों (Business Cycles) के कारण उत्पन्न होते हैं।

(३) **परिमाण सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किस प्रकार मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं (Quantity Theory does not explain the causes which bring about a change in the General Price Level with a change in the Quantity of Money)**:—प्रसिद्ध लेखक क्राउथर (Crowther), हेयक (Hayek) तथा हॉट्रे (Hawtrey) का मत है कि मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों पर प्रत्यक्ष एवं सीधा नहीं पड़ता है। यह परिवर्तन सबसे पहले ब्याज की दरों को प्रभावित करता है और फिर ब्याज की दरों में परिवर्तन द्वारा यह वस्तुओं के उत्पादन तथा मूल्यों पर प्रभाव डालता है। परन्तु आलोचकों का मत है कि परिमाण सिद्धान्त इस प्रकार के प्रभावों की ओर संकेत ही नहीं करता है वरन् यह तो केवल मुद्रा के परिमाण तथा मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करता है। इसीलिए प्रो० कीन्स (Keynes) जैसे विद्वानों ने परिमाण सिद्धान्त का बड़ा विरोध किया है। कीन्स (Keynes) के शब्दों में "परिमाण सिद्धान्त की वास्तविक समस्या द्रव्य की कुल मात्रा का इसके बदले में मिलने वाली वस्तुओं (या वस्तुओं की कुल बिक्री) में केवल समानता (Identities) या सांख्यिक समीकरण (Statistical Equation) स्थापित करना ही नहीं है बल्कि इस प्रकार के सिद्धान्त का असली कार्य तो यह है कि यह समस्या के तमाम भागों या तत्वों (Elements) का इस प्रकार विश्लेषण (Analysis) करे कि वे तमाम कारण जिनसे मूल्य-स्तर निश्चित होते हैं तथा जिनसे मूल्य-निर्धारण में सतुलन की स्थिति एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरित होती है, स्पष्ट हो जाय"*।

यह स्मरण रहे कि परिमाण सिद्धान्त उन कारणों पर भी प्रकाश नहीं डालता जो मुद्रा के वेग (Velocity) तथा मूल्यों के घटाने-बढ़ाने में विशेष हाथ रखते हैं।

(४) **परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय शक्ति को ठीक-ठीक नहीं मापने पाता है (Quantity Theory does not measure the purchasing power of money correctly)**:—फिशर के समीकरण में मुद्रा (अर्थात् $MV+M'V'$) का सम्बन्ध सभी प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य (अर्थात् PT) से होता है। परन्तु आलोचकों का मत है कि मुद्रा द्वारा किये गए अधिकांश व्यवहार उद्योग-सम्बन्धी, व्यापार-सम्बन्धी तथा आर्थिक (Financial) होते हैं अर्थात् मुद्रा का उपयोग बहुत सी ऐसी वस्तुओं के विनिमय के लिए होता है जो केवल उत्पत्ति व व्यापार के ही काम में आती है तथा

* "The fundamental problem of Monetary Theory is not merely to establish identities or statistical equation relating e. g the turnover of the monetary instruments to the turnover of things treaded for money. The real task of such a theory is to treat the problem dynamically, analysing the different elements involved in such a manner as to exhibit the causal process by which the price-level is determined and the method of transition from one position of equilibrium to another"—Keynes, Treatise on Money, Vol. I. p. 133.

जिनका उपभोग मनुष्य प्रत्यक्ष रूप मे नही करता है। दूसरे शब्दो मे, परिमाण सिद्धान्त मे 1 के अन्तर्गत जिन वस्तुओ व सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है उनमे यदि कुछ उपभोग सम्बन्धी हैं, तब अधिकाश वस्तुए उद्योग व व्यापार सम्बन्धी होती हैं, जिनका मनुष्य के प्रत्यक्ष उपभोग से कोई सम्बन्ध नही होता है। इसी कारण प्रो० कीन्स (Keynes) ने परिमाण सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि यह मुद्रा की क्रय-शक्ति का उचित माप न बनकर नक्द सौदो का माप (Cash Transaction Standard) बन जाता है। यह स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से द्रव्य की क्रय शक्ति की जानकारी करना बहुत महत्वपूर्ण है ताकि हमे यह पता चल जाय कि द्रव्य के बदले उपभोग की वस्तुयें (Consumer's Goods) पहले से कितनी कम अधिक मिल रही हैं जिससे उपभोक्ताओ की आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाये। आलोचकों का मत है कि परिमाण सिद्धान्त इस कार्य को पूर्ण रूप से नही करने पाता है।

(५) परिमाण सिद्धान्त ने मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल डाला है (Quantity Theory has laid more emphasis on The Supply of Money)—कुछ आलोचकों का यह मत है कि परिमाण सिद्धान्त माग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का ही एक सशोधित रूप है परन्तु उनके मतानुसार इसमे मुद्रा की पूर्ति को इतनी माग की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिये प्रो० कीन्स (Keynes) ने मुद्रा की माग का वास्तविक रूप बताकर मुद्रा के मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध मे अपने विचार दिये हैं। कीन्स के विचारों का आगे चलकर सविस्तार वर्णन किया गया है।

(६) परिमाण सिद्धान्त काल्पनिक है तथा अपूर्ण है (Quantity Theory is Imaginary and Incomplete)—कुछ अन्य तर्कों के आधार पर आलोचको ने परिमाण सिद्धान्त को काल्पनिक तथा अपूर्ण बताया है। तर्क इस प्रकार हैं—(i) फिशर (Fisher) ने अपने समीकरण म यह सिद्ध किया है कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा मे होने वाला प्रत्येक परिवर्तन सामान्य मूल्य-स्तर मे प्रत्यक्ष तथा अनुपातिक परिवर्तन को जन्म देता है। परन्तु वास्तविक जीवन म मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य मूल्य स्तर मे इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं पाया जाता है जिससे परिमाण सिद्धान्त काल्पनिक कहा जाता है। (ii) परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की चलन-गति के कारणो की व्याख्या नही करता, इस कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण है। (iii) यह सिद्धान्त समय विलम्ब (Time Lag) के महत्व को नही समझता है। यह स्मरण रहे कि मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन का सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव एक दम नही पड़ा करता है वरन् इसमे कुछ समय लगता है। इस बात मे अन्य परिस्थितियों मे परिवर्तन हो सकता है जिससे मूल्य स्तर में परिवर्तन मुद्रा परिमाण के परिवर्तन के अनुपात में नहीं हो पाय। परन्तु परिमाण सिद्धान्त ने इस प्रकार के समय विलम्ब के महत्व को नहीं समझा है। (iv) कीन्स (Keynes) के मतानुसार प्रत्येक मनुष्य मुद्रा चाहे यह विधि ग्राह्य हो या साख मुद्रा हो) का एक निश्चित भाग ही अपने पास तरल मुद्रा (Liquid Money) के रूप मे रखता है (वस्तुओ और सेवाओ को खरीदने के लिये) और इसकी कुल मात्रा म समय-

समय पर परिवर्तन होता रहता है। चलन (Currency) का शेष भाग गाड़ (Hoarding) दिया जाता है या अन्य प्रकार से संचित कर दिया जाता है जिसका वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता है। आलोचकों का मत है कि हमें इस प्रकार की संचित मुद्रा को, सिद्धात के सम्बन्ध में; द्रव्य के परिमाण में से निकाल देना चाहिये। परन्तु परिमाण सिद्धान्त ने स्वयं इस ओर कुछ भी नहीं कहा है जिसके कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण माना जाता है। (v) सिद्धान्त ने इस बात की कल्पना की है कि सामान्य मूल्य-स्तर में परिवर्तन का कारण मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन ही है। परन्तु आलोचकों का मत है कि इस प्रकार की कल्पना दोषपूर्ण है। वास्तव में, मूल्य-स्तर के परिवर्तनों के कारण ही मुद्रा की मात्रा में भी घट-बढ़ होती है। अतः आलोचकों के मतानुसार मूल्य-स्तर में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के कारण नहीं होते हैं वरन् मूल्य-स्तर के परिवर्तन के कारण ही मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होते हैं। (vi) फिशर ने परिमाण सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय इस बात की कल्पना की थी कि अल्पकाल में अदल-बदल द्वारा विनिमय-कार्य, वस्तुओं की भ्रमण-गति, देश की जनसंख्या, उत्पादन की रीति, मनुष्यों की उपभोग सम्बन्धी आदत तथा प्रति व्यक्ति उत्पत्ति की मात्रा आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता है, परन्तु फिशर की यह कल्पना मिथ्या है। संसार में परिवर्तन प्रत्येक क्षेत्र में तथा प्रतिक्षण में होते रहते हैं। चूंकि यह सिद्धात मिथ्यापूर्ण बातों पर आधारित है, इसीलिये आलोचकों ने इसे एक काल्पनिक सिद्धान्त माना है। (vii) प्रो० कैनन (Cannan) के मतानुसार इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में मुद्रा की भ्रमण-गति में जो अभिप्राय है, वह अनिश्चित (Vague) ही नहीं बल्कि उसका सही-सही नापना भी बहुत कठिन है। (viii) एक प्रसिद्ध लेखक का मत है कि परिमाण सिद्धान्त ने इस बात के बारे में विचार नहीं किया कि किसी देश के मूल्य-स्तर पर अन्य विदेशों के मूल्य-स्तर का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। अतः विभिन्न लेखकों एवं आलोचकों द्वारा बताई गई ये आठ ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि परिमाण सिद्धान्त पूर्णतया काल्पनिक है तथा यह अधूरा व अपूर्ण है।

निष्कर्ष:—परिमाण सिद्धान्त की उपर्लिखित आलोचना पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त बहुत ही दोषपूर्ण है। यद्यपि कीन्स के अनुसार यह सिद्धान्त काल्पनिक तथा अधूरा है, यह क्रय-शक्ति का उचित व ठीक-ठीक माप नहीं करता है, यह केवल एक नकद सौदों का ही माप (Cash Transaction Standard) है (क्योंकि मुद्रा द्वारा किये जाने वाले अधिकांश कार्य उद्योग-सम्बन्धी या व्यापार सम्बन्धी होते हैं) परन्तु फिर भी इस सिद्धात में सत्य का अंश पाया जाता है। यह सिद्धात भी अर्थशास्त्र के अन्य सिद्धातों की तरह यह स्पष्ट करता है कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में कौनसी प्रवृत्ति कार्य करेगी। अगर अन्य बातें समान रहें (यह मान्यता प्रत्येक आर्थिक सिद्धात में होती है) तब मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-संकुचन तथा व्यापारिक व व्यवसायिक वृद्धि या कमी होने पर, मुद्रा के मूल्य (Value of Money) पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बात परिमाण सिद्धान्त में स्पष्ट हो जाती है। यह बात अवश्य है कि जब हमारा ध्यान इस सिद्धान्त की गणितात्मक

सत्यता (Arithmetical Accuracy) की ओर जाता है, तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इसमे गणितात्मक सत्यता नही है, परन्तु इस दोष के होते हुये भी हम इस सिद्धान्त को पूर्णतया बेकार नही घोषित कर सकते। एक प्रवृति के द्योतक के रूप मे यह सिद्धात आज भी अक्षरश: सत्य है। इसीलिये मौद्रिक जगत (Monetary World) मे इस सिद्धात का आज भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुओं व सेवाओं के सामान्य मूल्य-स्तर मे परिवर्तनों का कारण बताने मे यह सिद्धात बहुत सहायक होता है—मुद्रा के परिमाण मे घट-बढ से सामान्य मूल्य-स्तर से भी परिवर्तन हो जाता है। इसी तरह वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों पर नियन्त्रण रखने मे भी इस सिद्धात से बहुत सहायता मिलती है। मूल्यो के कम हो जाने के काल मे मुद्रा प्रसार से मूल्यो को बढाने मे तथा मूल्यो के अधिक हो जाने के काल मे मुद्रा-संकुचन से मूल्यो को कम करने मे और इस तरह मूल्यो मे स्थिरता (Stability of Prices) लाने मे इस सिद्धान्त से बहुत सहायता मिलती है। यह अवश्य है कि मुद्रा की मात्रा म परिवर्तन करने से मूल्यो मे अनुपाती परिवर्तन तो नही होता है (परिमाण सिद्धात बताता है कि इनमे अनुपाती परिवर्तन होता है परन्तु इस प्रकार के परिवर्तनो की प्रवृत्ति का ही मूल्य म स्थिरता स्थापित करने के लिये उपयोग होता है। अत परिमाण सिद्धात मूल्यों मे स्थिरता लाने का एक अच्छा तरीका बताता है।

परिमाण सिद्धांत की सत्यता

परिमाण सिद्धांत की सत्यता के कुछ उदाहरण (Some Examples of the Truth of the Quantity Theory)—प्रो० फिशर (Fisher) ने अपने परिमाण सिद्धात की सत्यता को सिद्ध करने के लिए बहुत से उदाहरण दिये हैं। यह सिद्धात अपूर्ण, कल्पित व दोषपूर्ण है, परन्तु जब हम माग और पूर्ति के सिद्धात (Demand and Supply Theory) का द्रव्य पर लागू करते हैं तब वस्तुओं की तरह द्रव्य की माग व पूर्ति मे समय समय पर जो परिवर्तन हुए तथा उनके परिणामस्वरूप द्रव्य के मूल्य मे जो परिवर्तन हुये है, उनका यह सिद्धात स्पष्टीकरण कर देता है। (i) जब स्पेनिश खोज करने वाला (Spanish Explorers) ने अमेरिका मे चादी की खानें पाईं, उन्होंने इसे यूरोप (European Continent) को भेजना आरम्भ कर दिया, जिससे Continent के तमाम देशो में सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) बढ गया। परन्तु जैसे-जैसे इन देशो की जन-सख्या बढी (या द्रव्य की माग बढी) या चादी की अमेरिका से आयात कम हुई, वस्तुओं की कीमतें (Prices) कम हो गई। (ii) सन् १८२० मे १८४४ तक इङ्गलैंड मे धनोत्पत्ति की मात्रा तो बहुत बढी, परन्तु इसी अनुपात मे मुद्रा नही बढ सकी क्योंकि सोने की इतनी अधिक मात्रा उपलब्ध नही हो सकी। परिणाम-स्वरूप वस्तुओ का मूल्य गिर गया। (iii) सन् १८४४ के आस-पास आस्ट्रेलिया व कैलीफोर्निया से बहुत बडी मात्रा मे सोने की आयात सोने की मुद्रा वाले देशो मे (Gold using countries) हुई, जिससे उन देशो मे वस्तुओ के मूल्य बढे परन्तु सन् १८७४ के पश्चात् जब उक्त सोने की खानो मे से सोना निकलना बन्द हो गया, तब उक्त देशो मे

मूल्य-स्तर गिर गया। (iv) सन् १८७३ में मैक्सीको (Mexico) में चांदी की खानें मिल जाने से भारत जैसे चादी मुद्रा वाले देशो में वस्तुओं का मूल्य बढ़ा। (v) सन् १८९६ में ट्रान्सवाल (Transvaal, South Africa) में सोने की खानों की खोज हो जाने से, यूरोप मे वस्तुओ की कीमतें पुनः बढी। (vi) सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध काल में जर्मनी में कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रसार (Hyper Inflation) से वहा वस्तुओ का मूल्य बहुत बढ़ा। युद्ध समाप्त होने के वर्षो बाद ही मूल्यो मे कमी होना आरम्भ हुआ। (vii) सन् १९२९ तथा इसके पश्चात् के मन्दी काल (Depression Period) में आर्थिक सकट (Financial Panic) तथा अत्याधिक साख-सकुचन (Contraction of Credit) के कारण वस्तुओ के मूल्यो मे बहुत कमी हो गई। (vii) सन् १९३९-४५ के द्वितीय महायुद्ध तथा इसके पश्चात् भारत तथा अन्य देशो मे कागजी नोटो के आधिक्य के कारण वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य भी बहुत बढ़े।

उपरोक्त उदाहरणो से द्रव्य के परिमाण मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप इसके मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का ही ज्ञान होता है, परन्तु इनसे इन दोनो में कोई सख्यात्मक सम्बन्ध (Quantitative Correlation) स्थापित नही होता और सम्भव है प्रो० फिशर (Fisher) का भी इस प्रकार का कोई सम्बन्ध स्थापित करने का अभिप्राय नही था क्योकि दीर्घकाल मे बहुत सी शक्तियो का ऐसा प्रभाव पडा करता है जिससे द्रव्य के मूल्य में इसके परिमाणानुसार घट-बढ नही होने पाता है। उसने गणितात्मक समीकरण (Arithmatical Equation) का प्रयोग तो केवल एक प्रवृत्ति को प्रतिपादित करने के लिये किया है।

कैम्ब्रिज का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(The Cambridge Quantity Theory of Money)

कैम्ब्रिज समीकरण की आधारभूत बातें—कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा के परिमाण सिद्धात का प्रतिपादन बिल्कुल ही एक नये समीकरण के रूप मे किया है। इस रूप का निर्माण मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou), हॉटरे (Hawtrey), कैनन (Cannan) तथा रोबर्टसन (Robertson) जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने किया है। कैम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) की आधारभूत बातें निम्न प्रकार हैं।

(1) समाज में आय का कुछ भाग नकद कोष के रूप में रक्खा जाता है—प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने तथा फिशर (Fisher) ने अपने परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में यह मान लिया था कि द्रव्य की माग कुल सौदो के मूल्य (Value of Total Transaction) के बराबर होती है अर्थात् यह PT के बराबर होती है। यह कहना तो ठीक ही है कि द्रव्य का स्वय कोई उपयोग नहीं होता वरन् यह केवल वस्तुओ व सेवाओ के विनिमय के काम में आता है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का कथन ठीक नही है। इसका एक मुख्य कारण है। प्रत्येक मनुष्य को अपने अनुभव से इस बात का भी ज्ञान है कि ऐसा कभी भी नहीं होता कि जिस समय उसे कोई वस्तु खरीदनी होती है, तब उसे तुरन्त उतनी ही आमदनी प्राप्त हो जाय अर्थात् यह कम ही होना है कि हमें जितने रुपये खर्च करने

होते है उसी समय हमे उतने ही रुपयो की आमदनी हो जाय। इससे स्पष्ट है कि व्यवहारिक जीवन मे हमारी आमदनी और खर्च का पूर्ण संयोग प्राय नही हुआ करता है अर्थात् ऐसा कभी नही होता कि जिस समय हमे जितने रुपये खर्च करने होते हैं, उसी समय उतने ही रुपये हमे तुरन्त मिल जायें। हमे आमदनी तो निश्चित समय पर होती है, परन्तु खर्च तो हर समय होता रहता है, यह खर्च कभी कम होता है तब कभी अधिक होता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति हर समय अपने पास नकद रूप मे कुछ न कुछ रुपया रखता है ताकि वह अपनी दैनिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि जब चाहे तब आसानी से कर सके। एक व्यक्ति की तरह व्यापारिक संस्थायें भी तथा सरकार व अन्य संस्थायें भी अपने पास हर समय कुछ न कुछ रकम नकद रूप मे रखती हैं। व्यवसायी तथा उत्पादक अपनी वस्तुएं बेचकर आय प्राप्त करते हैं, किन्तु उन्हे मजदूर को उचित समय पर मजदूरी व कच्ची-सामग्री के मूल्य के भुगतान के लिये हर समय अपने पास नकद रुपया रखना पड़ता है। सरकारो तथा अन्य संस्थाओ को भी इसी प्रकार अपने पास कुछ न कुछ रकम नकद मे रखनी पड़ती है। अत वह कुल द्रव्य जो तमाम व्यक्ति या व्यापारिक व व्यवसायिक संस्थायें तथा सरकार व अन्य लोक-संघ अपने पास अपना दैनिक खर्च चलाने के लिये रखते हैं, द्रव्य की कुल माग (Demand for Money) कहलाता है।

कैम्ब्रिज विचारधारा के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० कैनन (Cannan) ने द्रव्य की माग के सम्बन्ध मे कहा है—"जिस प्रकार मकान की वास्तविक माग मकान मे रहने वालों की होती है (मकानों के खरीदने-बेचने वालो या इनका व्यवसाय करने वालो की मकानो की माग वास्तविक माग नही कहलाती है), उसी प्रकार द्रव्य की वास्तविक माग वह है जिसे मनुष्य अपना खर्च चलाने के लिए अपने पास रखते हैं।"* दूसरे शब्दों मे, वस्तुओ को प्राप्त करने के लिये द्रव्य की मांग, मकानो के खरीदने-बेचने वाले व्यापारियों की माग की तरह, वास्तविक मांग नहीं होती है वरन् द्रव्य की वास्तविक माग वह है जो हम अपना खर्च चलाने के लिये अपने पास रखते हैं।

(ii) द्रव्य की मांग मनुष्यो की द्रव्यता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर रहती है —मनुष्य अपना धन मकान-दूकान व जायदाद म विनियोजित (Invest) कर सकता है या वह अपने धन को शेयर्स या वस्तुओ में लगा सकता है या वह अपने धन को बैंक मे जमा कर सकता है। परन्तु मकान-दूकान व जायदाद में विनियोजित धन म बहुत कम द्रवता होती है क्योकि इनको बेचकर रुपया प्राप्त करने में बहुत कठिनाई व घाटा होता है। वस्तुओ की अपेक्षा शेयर्स मे अधिक द्रवता होती है क्योकि आवश्यकता

---

* Professor Cannan in this connection remarks —'That bel ef seems to me to be exactly equal to a belief that the demand for houses comes not from the people who want to live in houses but from people who buy houses and sell them again forthwith The effective demand for houses evidently comes from those who want to hold houses even the speculator wants to hold house, for sometimes Mere 'activity in the house market"—a little more charging ownership than usual—only involves increase in the demand in the same sense as it involves an equal increase ofs supply which cancels it Whatever may be said about the actual use of the term it i clear that the demand which is important as affecting the value of the house is the demand for occupation "

पड़ने पर इन्हे शीघ्रता से बेचा जा सकता है। बैंको मे रुपया जमा करने मे भी आकर्षण बहुत कम होता है क्योकि जमा पूंजी पर बैंक बहुत कम ब्याज दिया करता है। परन्तु द्रव्य मे द्रवता (Liquidity in Money) सबसे अधिक होती है क्योंकि इसके बदले वस्तु या वस्तुयें तुरन्त मिल जाया करती है। जिन मनुष्यो मे द्रवता पसन्दगी अधिक है, उनकी द्रव्य की माग (अर्थात् द्रव्य को अपने पास नकद रूप मे रखने की मांग) अधिक होती है और जिनमे द्रवता पसन्दगी कम होती है, उनकी द्रव्य की माग भी कम होती है। अतः द्रवता पसन्दगी का भी द्रव्य की मांग पर प्रभाव पड़ा करता है।

(iii) द्रव्य की मांग अर्थात् व्यक्ति या संस्थायें अपने पास कितना धन नकद में रखती हैं, इस पर अन्य कितनी ही बातों का प्रभाव पड़ता है:-(अ) आय प्राप्त होने की अवधि:—मनुष्य को अपनी आमदनी प्राप्त होने और खर्च होने में जितनी अधिक अवधि होगी, वह उतना ही अधिक द्रव्य अपने पास नकद रूप मे अपना दैनिक खर्च चलाने के लिए रखता है। अतः ऐसे मनुष्य की द्रव्य की माग बहुत अधिक होती है। (आ) वस्तु का मूल्य :—यदि वस्तुओ का मूल्य अधिक है, तब उन्हे खरीदने के लिए मनुष्य अपने पास अधिक रुपया रक्खेंगे और यदि वस्तुओ का मूल्य कम है, तब इन्हे खरीदने के लिए मनुष्य अपने पास कम मात्रा ही मे धन रखेंगे। (इ) जन-संख्या—जन-सख्या जितनी अधिक होती है द्रव्य की माग उतनी ही अधिक होती है। इसके विपरीत जन-सख्या कम हो जाने पर, द्रव्य की माग भी कम हो जाती है। (ई) धन का वितरण—धन का वितरण जितना समान होता है, द्रव्य की माग उतनी ही अधिक होती है क्योंकि इस अवस्था मे समाज के निर्धन व्यक्ति तक अपने पास कुछ न कुछ धन नकद रूप मे रखने लगते है। (उ) व्यवसाय की दशा—मन्दी-काल (Depression Period) मे व्यवसाय में लाभ कम होता है, उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन कम कर देते है तथा वे अपने पास भी वस्तुओं का स्टॉक बहुत कम रखते हैं। इस अवस्था मे मनुष्य रुपये का व्यवसाय मे विनियोजन बहुत कम करते हैं और प्राय. इसे अपने पास ही नकद रूप में रखते है। मूल्य और अधिक कम हो जाने की आशा से उपभोक्ता भी बहुत कम मात्रा मे वस्तुयें खरीदते है और अपना धन अपने पास ही नकद रूप मे रखते है जिससे इनकी द्रव्य की माग बढ जाती है। परन्तु तेजी काल (Boom Period) मे या व्यापारिक समृद्धि के काल मे अधिक लाभ कमाने के हेतु पूंजीपति मुद्रा को नई-नई लाभदायक योजनाओं मे लगाना चाहा करते हैं, यहा तक कि ये रुपया उधार लेकर अपने व्यवसाय मे लगा देते है। द्रव्य का मूल्य कम हो जाने के कारण भी उपभोक्ता अपने पास द्रव्य नही रखते, इससे ये वस्तुयें खरीदते है जिससे इनकी द्रव्य की माग हो जाती है। अत. व्यापारिक मन्दी के काल मे मुद्रा की माग अधिक (द्रवता की पसन्दगी अधिक हो जाती है) और व्यापारिक तेजी के काल मे मुद्रा की माग कम (द्रवता की पसन्दगी कम हो जाती है) हो जाया करती है। (ऊ) लेन-देन की आदत—लेन-देन मे चैक व अन्य साख-पत्रो का उपयोग करने से द्रव्य का उपयोग कम हो जाता है जिससे द्रव्य की माग कम हो जाती है। इसी प्रकार उधार मिलने की सुविधाओ के कारण भी द्रव्य की माग

कम हो जाती है। (ए) द्रव्य की चलन गति :—मुद्रा की माँग पर इसकी चलन-गति (Velocity) का भी प्रभाव पड़ता है। यदि मनुष्यों में द्रव्य की द्रवता पसन्दगी अधिक है, तब तो रुपया विनिमय के लिये उतना ही कम बार बार काम में आयगा (इसकी चलन गति कम हो जायेगी) और यदि मनुष्यों के द्रव्य की द्रवता पसन्दगी कम है, तब रुपया विनिमय के लिए उतना ही अधिक बार-बार काम में आयगा (इसकी चलन-गति अधिक हो जायगी) जिससे इस अवस्था में द्रव्य की थोड़ी सी मात्रा से ही बहुत अधिक मात्रा में विनिमय कार्य हो सकेगा। अतः जब मुद्रा का चलन-गति कम होती है, तब मुद्रा की माँग अधिक और जब मुद्रा की चलन-गति अधिक होती है, तब मुद्रा की माग कम होती है। यह स्मरण रहे कि जब मुद्रा की चलन-गति कम होती है, तब जनता के पास नकद रुपये में बहुत द्रव्य होना है (मुद्रा की माग अधिक होती है), द्रव्य का विनिमय के लिये बार-बार उपयोग कम होता है, वस्तुओं की माग कम हो जाती है और अन्तत वस्तुओं का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत मुद्रा की चलन-गति अधिक होने पर जनता के पास नकद रुपये में रुपया कम होता है, रुपये का विनिमय कार्य में बार-बार उपयोग होता है, वस्तुओं की माग बढ़ जाती है और अन्तत वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है।

निष्कर्ष —उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कैम्ब्रिज समीकरण (Equation) के अनुसार किसी देश में मुद्रा की माग वहा के व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं होती (परन्तु फिशर का समीकरण यह मानता है कि मुद्रा की माग देश के व्यापारिक सौदों की मात्रा के बराबर होती है) वरन् यह जनता की मुद्रा की माग पर निर्भर होती है क्योंकि जनता अपनी आमदनी का कुछ भाग नकद रूप में अपने पास बचा कर रखना चाहती है। चूँकि कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने अपने समीकरण में मुद्रा की माग की कल्पना में आधारभूत संशोधन किया है और फिशर के परिमाण सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत मुद्रा की माग पर अधिक बल डाला है, इसीलिए कैम्ब्रिज परिमाण सिद्धान्त को कुछ लेखकों ने मुद्रा का माग सिद्धांत (*Demand Theory of Money*) का नाम दिया है।

कैम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation)

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत का कैम्ब्रिज समीकरण (The Cambridge Equation of the Quantity Theory of Money) —कैम्ब्रिज विचारधारा के प्रमुख अर्थशास्त्री मार्शल तथा उनके अन्य साथियों ने परिमाण सिद्धांत का जो एक समीकरण (Equation) प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है —

$$P = \frac{M}{KR}$$

जबकि, P बराबर है सामान्य मूल्य स्तर, M बराबर है द्रव्य की इकाइयों की संख्या, R बराबर है समाज की वास्तविक आय और K बराबर है R का वह अनुपात जिसे द्रव्य के रूप में रखते हैं। यह स्मरण रहे कि M=KR और प्रति इकाई द्रव्य का

मूल्य $\frac{KR}{M}$ और चूँकि द्रव्य का मूल्य कीमतों के प्रतिकूल अनुपात में बदलता है, इसलिए

P अर्थात् मूल्य स्तर $= \frac{M}{KR}$*

मान लो, $R = १००$ मन गेहूं, $K = \frac{१}{२}$ और $M = ५००$ रु०, तब द्रव्य का मूल्य या क्रय-शक्ति $= \frac{१०० \times \frac{१}{२}}{५००} = \frac{१}{१०}$ मन गेहूं होगी और P अर्थात् मूल्य-स्तर $= \frac{५००}{१०० \times \frac{१}{२}}$ $= १०$ रु० प्रति मन।

नोट:—[i] कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा का कार्य केवल वस्तुयें खरीदना ही नहीं है वरन् वस्तुओं के मूल्य का संचय भी इसी में किया जाता है। [ii] मुद्रा की माग व्यापारिक सौदों पर भी निर्भर नहीं होती बल्कि यह जनता की माग पर भी निर्भर होती है जो इसका संचय करना चाहती है। [iii] जनता जब अपने पास कुछ रकम नकद रूप में रखती है, तब इसका अर्थ है कि द्रव्य के रूप में वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं को अपने पास जमा रखती है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य आय (Money Income) द्वारा हम जितनी वस्तुयें व सेवायें प्राप्त कर सकते हैं, वह हमारी वास्तविक आय (Real Income) है और जब हम अपनी द्रव्य-आय का कुछ भाग अपने पास नकद रूप में रखते हैं, तब इसका यह अर्थ है कि हमने अपने पास द्रव्य के रूप में अपनी वास्तविक आय का कुछ भाग जमा कर लिया है।

फिशर विचारधारा और कैम्ब्रिज विचारधारा में अन्तर.—फिशर की विचारधारा तथा कैम्ब्रिज विचारधारा में दो मुख्य अन्तर हैं.—[i] फिशर का परिमाण सिद्धान्त उस सब मुद्रा पर आधारित है जो देश में व्यापार के लिए आवश्यक है अर्थात् परिमाण सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य की माग विनिमय होने वाली कुल वस्तुओं अथवा व्यवसाय-स्थिति T के लिए होती है। परन्तु कैम्ब्रिज विचारधारा के समीकरण का आधार मुद्रा की वह मांग है जिसे जनता अपने पास नकद रूप में रखती है। [ii] फिशर का परिमाण सिद्धान्त दीर्घकालीन है और एक अवधि (Period) की ओर संकेत करता है, परन्तु कैम्ब्रिज का परिमाण सिद्धान्त अल्पकालीन है और एक क्षण (Moment) का ही अध्ययन करता है। इन दो मुख्य भेदों के होते हुए भी दोनों सिद्धात एक-दूसरे के विरोधी नहीं कह जा सकते वरन् ये एक ही समस्या के दो भिन्न रूपों का अध्ययन अवश्य करते हैं।

कैम्ब्रिज समीकरण में कीन्स द्वारा संशोधन (Keyne's amendment in the Cambridge Equation):—कैम्ब्रिज समीकरण में संशोधन करके कीन्स (Keynes) ने परिमाण सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार का दिया है*:—

$$n = p(k + rk')$$

जबकि, n बराबर है चलन की समस्त मात्रा, p बराबर है एक उपभोग-इकाई का मूल्य, k बराबर है उपभोग की इकाइयां (Consumption Units) जिनके लिये चलन के

* Keynes has quoted it from Marshall, A Treatise on Money, p. 229.

रूप मे क्रय-शक्ति सचय की जाती है, r बराबर है बैंको के नक्द-कोष तथा जमा रकम (निक्षेप) का अनुपात, और k' बराबर है उपभोग की इकाइयो की वह मात्रा जिनके लिए साख मुद्रा मे क्रय शक्ति का सचय किया जाता है अर्थात् k' वह कुल बैंक जमा है जो चैक (Cheque) द्वारा निकाली जा सकती है।

नोट —(i) कीन्स ने बताया है कि जनता अपने पास कुछ द्रव्य (अर्थात् क्रय-शक्ति) रखती है ताकि वह अपनी उपभोग की वस्तुएँ खरीद सके। कीन्स ने इन्हे उपभोग की इकाई (Consumption Units) का नाम दिया है। (ii) कीन्स ने अपने समीकरण मे मान लिया है कि जनता k उपभोग इकाई द्रव्य के रूप में अपने पास रखती है और k' उपभोग इकाई बैंक मे जमा के रूप मे रखती है। बैंक भी अपनी तमाम जमा को नकद रूप मे नही रखते। इसीलिए कीन्स ने मान लिया है कि वे अपनी जमा k' का केवल r भाग ही नकद द्रव्य के रूप मे रखते हैं। कीन्स ने द्रव्य की कुल मात्रा n के बराबर मानी है और एक उपभोग-इकाई का मूल्य p माना है। (iii) कीन्स के समीकरण मे भी k, k' तथा r मे बहुत समय तक परिवर्तन नही होता है अर्थात् चूँकि जनता मे बहुत समय तक अपने पास नकद रखने की आदत मे परिवर्तन नही होता, इसलिए उसने मान लिया है कि k, k' तथा r मे साधारणत परिवर्तन नही होता है। अत उसके समीकरण मे p मे परिवर्तन, द्रव्य की मात्रा n के अनुसार होता है अर्थात् जब तक k, k' तथा r ज्यो के त्यो रहते हैं, n और p एक साथ घटेंगे बढेंगे। (iv) परन्तु कीन्स ने अपने समीकरण द्वारा यह भी बताया है कि मुद्रा की मात्रा अर्थात् n मे परिवर्तन होने से k, k' तथा r पर प्रभाव पडता है। मुद्रा की मात्रा (n) बढने पर भी यह सम्भव है कि मूल्य-स्तर नही बढने पायें क्योकि n के बढ़ने के साथ ही साथ k मे भी वृद्धि हो गई है (विशेषकर कृषि प्रधान देश मे ऐसा ही होता है)। इसी तरह n के बढने पर यह सम्भव है कि k' बहुत कम हो जाय और मूल्य-स्तर मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा कही अधिक बढ जाय। इसी प्रकार बैंक भी r को कम करके मूल्य-स्तर को बढाने तथा r को अधिक करके मूल्य स्तर को घटाने मे सहायक हो सकते है। अत जनता की अपने पास द्रव्य रखने की प्रवृत्ति तथा बैंको की अपने पास नकद-जमा रखने की नीति का भी द्रव्य के मूल्य पर प्रभाव पडा करता है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि कीन्स के समीकरण की विशेषता ही यह है कि इसने साख मुद्रा के महत्व तथा इसके प्रभाव को भी आवश्यक स्थान दिया है।

<u>कीन्स के सिद्धान्त के गुण दोष</u> (Merits and Demerits of Keynesian Theory) —कीन्स के सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमे उस तर्क की आवश्यकता नही पडती कि मुद्रा की माग वस्तुओ पर निर्भर रहती है (जैसा कि फिशर का परिमाण सिद्धान्त कहता है)। इसी तरह इस सिद्धान्त को यह भी विशेषता है कि यह सिद्धात चलन के वेग (Velocity of Circulation) पर भी अपना ध्यान केन्द्रित नही करता। इस सिद्धात ने यह स्पष्ट किया है कि वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य-स्तर जनता की आदतो पर निर्भर रहता है अर्थात् यह स्तर इस बात पर निर्भर रहता है कि जनता अपनी आय का कितना भाग वस्तुओ व सवाओ को खरीदने के लिए अपने पास नक्द रूप म रखती है।

परन्तु कीन्स के सिद्धांत का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके समीकरण (Equation) के K तथा K[1] को निश्चित आंकड़ों के आधार पर नहीं जाना जा सकता जिससे इनका व्यवहार में कोई भी मूल्य नहीं है।

फिशर तथा कीन्स के समीकरणों में समानता (Common Features in the Equations of Fisher and Keynes):—फिशर तथा कीन्स के समीकरणों में इतना मौलिक भेद नहीं है जितना कि साधारणतया माना जाता है। वास्तव में ये दो प्रकार के समीकरण एक ही वस्तु के दो अलग-अलग दृष्टिकोण बतलाते हैं। कीन्स का समीकरण द्रव्य की उस मात्रा पर ध्यान देता है जो कि एक निश्चित समय में जनता के हाथों में नकद रूप में भविष्य के लेन-देन के लिए रहती है। फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है जो किसी निश्चित समय में समाज के लेन-देन के लिए आवश्यक समझी जाती है। इस तरह कीन्स का समीकरण समय का एक बिन्दु (Point of Time) बतलाता है और फिशर का समीकरण समय की एक लम्बाई (Period of Time) की ओर संकेत करता है।

द्रव्य की मांग की लोच इकाई है
(Elasticity of Demand for Money is Unity)

द्रव्य की मांग की लोच इकाई के बराबर है, इस वाक्य का अर्थ (Elasticity of Demand for Money is Unity—its meaning):—जब परिमाण सिद्धांत यह कहता है कि द्रव्य की मात्रा दुगुना कर देने से मूल्य-स्तर दुगना और द्रव्य की मात्रा आधी कर देने से मूल्य-स्तर आधा हो जाता है, तब इस प्रकार का कथन इस मान्यता पर आधारित है कि द्रव्य की माग की लोच इकाई (Unity) के बराबर है। यह भी मान लिया गया है कि एक निश्चित समय में द्रव्य की माग लगभग स्थिर रहती है। इस प्रकार की स्थिरता होने पर ही द्रव्य की पूर्ति मे परिवर्तन से इसके मूल्य में अनुपातिक परिवर्तन होता है। अतः जब मुद्रा के मूल्य में वृद्धि से, मुद्रा की मांग में उसी अनुपात में कमी होती है या जब मुद्रा के मूल्य में कमी से, मुद्रा की मांग में इसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है, तब यह कहा जाता है कि मुद्रा की मांग की लचक इकाई के बराबर है।*

आलोचना:—कुछ लेखकों का मत है कि द्रव्य की मांग की लचक इकाई के बराबर नहीं होती है। इस कथन के समर्थन में इस प्रकार का तर्क दिया जाता है—व्यवहारिक जीवन में ऐसा कभी भी नहीं होता कि जिस अनुपात में द्रव्य की पूर्ति में परिवर्तन होता है ठीक उसी अनुपात में मूल्य-स्तर में परिवर्तन हो जाये। मुद्रा-प्रसार के पश्चात् और अधिक मुद्रा-प्रसार की आवश्यकता अनुभव हुआ करती है। इस दशा में द्रव्य की माग बढ़ती चली जाती है। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ था। जर्मन मार्क में जैसे-जैसे वृद्धि हुई, वस्तुओं का मूल्य भी वैसे ही वैसे बढ़ता चला गया और यह

*"This means that an increase in the value of money will cause an exactly proportionate decrease in the demand for it, and conversely that a decrease in the value of money will bring about an exactly proportionate increase in the demand for money to hold" W. A. L. Coulborn, A Discussion of Money, P. 89.

मूल्य वृद्धि अनुपात से कहीं अधिक हुई थी। जनता का मुद्रा में से विश्वास उठ जाने से कीमत और अधिक बढ़ी। जनता के पास जैसे ही मुद्रा आती थी, वह तुरन्त ही इससे वस्तुयें खरीदने का प्रयत्न करती थी जिसके कारण भी मूल्य-वृद्धि बहुत तेजी से हो जाया करती थी। अतः मुद्रा के परिमाण में वृद्धि हो जाने पर इसके मूल्य में अनुपात से अधिक कमी हो जाया करती है और मुद्रा की माग में अनुपात से अधिक वृद्धि हो जाया करती है। इसी प्रकार जब मुद्रा का परिमाण कम कर दिया जाता है तब, इसके मूल्य में अनुपात से अधिक वृद्धि हो जाया करती है और इसकी माग में अनुपात से अधिक कमी हो जाया करती है। अतः यह कहना कि द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन से, मूल्य स्तर में उसी अनुपात में परिवर्तन होता है, गलत है। इसीलिये हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा की माग की लचक इकाई के बराबर नहीं है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१ द्रव्य क्या है? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है? (१९५९ S) २ मुद्रा मात्रा सिद्धात (Quantity Theory of Money) की तर्कपूर्ण व्याख्या कीजिये (१९५९)। ३ द्रव्य के परिमाण सिद्धात की विवेचना सहित व्याख्या कीजिये। (१९५८ S) ४ द्रव्य की परिभाषा दीजिये और समझाइये कि द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं में क्या अन्तर है? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है स्पष्ट कीजिये। (१९५८) ५ क्या आप द्रव्य के परिमाण सिद्धात को स्वीकार करते हैं? (१९५७ S) ६ मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की माग का विस्तृत रूप से व्याख्या कीजिये। (१९५७) 7 Discuss the Quantity Theory of Money (1955 S) 8 "The Quantity Theory has been widely criticized With the qualification 'other things remaining the same' it is a useless truism" Examine the statement and give the main weaknesses of the Theory (1954)

Agra University, B Com

1 What is meant by the Quantity Theory of Money? How far does it afford a true explanation of the rise and fall of Prices? (1958) 2 What do you understand by the Quantity Theory of Money? What are its limitations? (1956 1954) 3 Indicate how the laws of supply and demand operate in determining the value of money (1955)

Rajputana University, B A.

1, Critically examine Quantity Theory of Money (मुद्रा मात्रा सिद्धान्त) What changes have been brought about during recent years? (1959 2 Critically examine 'Quantity Theory of Money and explain how far it falls short of giving correct explanation of variation in price level (1957 3 Define Money Show how the value of money is determined and point out the difference in the determination of the value of money and the value of commodities (1956) 4 Define Money and show how the value of money is determined? (1954)

Rajputana University, B. Com.

1. Explain the *Quantity Theory of Money* (मुद्रा का परिमाण सिद्धांत) as enunciated by Lord Keynes. How is this Theory an improvement upon Fisher's approach ? (1959, 1957) 2. Explain what is meant by 'value of money' and show how is it measured ? (1958) 3. Give a critical *estimate of the Quantity Theory of Money* (मुद्रा मात्रा सिद्धांत या द्रव्य के परिमाण का सिद्धांत) and point out the factors that effect the velocity of circulation of money. (1956)

Sagar University, B. A.

१. मुद्रा के परिमाण सिद्धांत का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये। किसी देश के मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त अन्य किन कारणों का प्रभाव पड़ता है ? (१९५६) । २. मुद्रा का परिमाण सिद्धांत समझाइये। (१९५७)

Sagar University, B Com.

१. मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की विवेचना कीजिये और इसके मुख्य दोषों को बताइये (१९५६) २. मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। मुद्रा की चलन-गति (*Velocity of Circulation*) के कौन-कौन से मुख्य कारक (Factors) होते हैं ? (१९५७) ३. "वास्तव में मुद्रा-मूल्य सब आयों (Total Incomes) के जोड़ का ही परिणाम है, न कि मुद्रा-राशि का (Quantity of Money)" (क्राउथर)। व्याख्या कीजिये। (१९५५)

Jabbalpur University, B A.

१. मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) समझाइये। (१९५९) २. मुद्रा (Money) क्या है बतलाइये। मुद्रा मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) समझाइये। (१९५८)

Vikram University, B A. & B. Sc

१. मुद्रा की मात्रा सिद्धान्त का समालोचनापूर्ण (Critically) विवेचन कीजिये। (१९५६)

Allahabad University B. Com.

१. द्रव्य की परिभाषा दीजिये। द्रव्य का अर्थ किस प्रकार निर्धारित होता है ? (१९५५, १९५७, १९५६)

Allahabad University, B. Com

1. State and explain the Quantity Theory of Money and indicate its limitations (1957) 2 The Quantity Theory of Money is a term stated in various forms *Describe it in the forms in which it has received* its greatest acceptance, examining briefly at the same time its assumptions and variations in the light of experience of the last two decades. (1956)

Gorakhpur University, B. Com.

1. 'Money is only one of many economic things; Its Value, therefore, is primarily determined by exactly the same two factors as determine the value of any other thing'. (Robertson Elucidate this statement. (Pt I. 1959) 2. Discuss the limitations of the Quantity

Theory of Money and explain the conditions that are necessary[1] to validitate its conclusions. (Pt II 1959) 3. Examine critically the Quantity Theory of Money. (Pt. I. 1959)

Banaras University, B Com

1. Explain the concept of 'Velocity of circulation of money.' What are the main factors that affect the velocity of circulation of money ? (1959)

Bihar University, B. A

1 'The modern tendency in economic thinking is to discard the old notion of the quantity of money as a determinant of the value of money ' Discuss. (1959)

Bihar University, B. Com

1 The Quantity Theory of Money is right in principles but defective in details " Discuss. (1959) 2 The phrase 'the value of money" without qualification is almost meaningless, Point out the difficulties in determining the value of money. (1958)

Patna University, B. A.

1. What do you understand by velocity of circulation of money ? Discuss the factors that determine it. (1957)

Nagpur University, B A

१ मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का वर्णन कीजिये और इसकी सत्यता का समालोचन कीजिय। (१९५८)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ ... क्या है ? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? (Agra B A ... S, Allahabad, B A 1957, 56, 55) (ii) द्रव्य की परिभाषा दीजिए और स...हाइये कि द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं में क्या अन्तर है ? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है स्पष्ट कीजिए Agra B A 1958) (iii) Indicate how the laws of supply and demand operate in determining the value of money (Agra, B Com 1955) 'Money is only one of many economic things Its value therefore, is primarily determined by, exactly the same two factors as determine the value of any other thing (Robertson) Elucidate this statement (Gorakhpur, B Com Pt. I. 1959) (iv) Define Money Show how the value of money is determined and point out the difference in the determination of the value of money and the value of commodities (Raj., B A 1956)

संकेत—उत्तर के तीन भाग हैं—प्रथम, इस भाग में 'मुद्रा के मूल्य' का अर्थ निश्चित—यह अर्थ कई प्रकार से दिया गया है—(अ) मुद्रा के मूल्य का अर्थ विनिमय की दर से लिया जाता है (स्पष्ट कीजिए) (आ) "मुद्रा के मूल्य" शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में भी लिया जाता है। लेन-देन करने वाले व्यक्ति व संस्थायें मुद्रा को महंगी उस समय कहते हैं जब ब्याज की दर ऊँची होती है, इसे सस्ती तब कहते हैं

जबकि ब्याज की दर कम होती है। (ई) मुद्रा के मूल्य का अर्थ साधारणतया इसकी क्रय-शक्ति से लिया जाता है—एक मुद्रा इकाई के बदले कितनी वस्तुएं व सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं (उदाहरण से स्पष्ट कीजिये), इस तरह उदाहरण सहित बताइये कि मुद्रा का मूल्य कभी कम और कभी अधिक होता रहता है—मुद्रा का मूल्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं मालूम किया जा सकता है वरन् इसे सामान्य मूल्य-स्तर (General Price level) द्वारा मालूम किया जाता है। मूल्य-स्तर बढ़ जाने से मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा मूल्य कम (मुद्रा सस्ती हो जाती है) और मूल्य-स्तर कम हो जाने से यह क्रय-शक्ति अधिक अथवा मुद्रा का मूल्य अधिक (मुद्रा महगी) हो जाती है (उदाहरण से स्पष्ट कीजिये) (एक पृष्ट)। द्वितीय भाग में मुद्रा के मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध में लिखिये—जो अर्थशास्त्री मुद्रा तथा अन्य वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं मानते वे माँग और पूर्ति के सिद्धान्त को ही मुद्रा के मूल्य के निर्धारण पर लागू करते है—मुद्रा की माग और मुद्रा की पूर्ति का अर्थ विस्तार से समझाइये—मुद्रा की माँग विनिमय के माध्यम का कार्य सम्पन्न करने के लिये होती है, इसलिये समाज में जितने अधिक विनिमय के सौदे होंगे, मुद्रा की माँग उतनी ही अधिक होगी—इन विनिमय-कार्यों की संख्या पर उत्पादन की मात्रा, जन-संख्या, मानव-स्वभाव व रहन-सहन का स्तर व फैशन में परिवर्तन आदि का प्रभाव पड़ता है (उदाहरण सहित इन सब बातों को स्पष्ट कीजिये)—जब हम विनिमय के सौदों की मात्रा को इनके मूल्य से गुणा कर देते हैं, तब हमें मुद्रा की माँग का ज्ञान हो जाता है (Demand = P × T)। इसी तरह मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में लिखिये—मुद्रा की पूर्ति का अर्थ देश में पाये जाने वाली समस्त चलन से है—सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित धात्विक व पत्र मुद्रा, इस मुद्रा की चलन-गति (उदाहरण से इसका अर्थ स्पष्ट कीजिये), बैंक जमा (इसमें सम्मिलित [illegible] है) साख-पत्र व इनकी चलन-गति (स्पष्ट कीजिये) देश की बैंकिंग व [illegible] पद्धति, मनुष्यों की आदत व स्वभाव (यदि रुपया गाढ़ कर रक्खा जाता है, तब पूर्ति कम हो जायगी) आदि का मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है (Supply = MV + M'V')। अब यह लिखिये कि मुद्रा की माँग और पूर्ति, इसके मूल्य को निर्धारित करने में सहायक होती है। चूंकि अल्पकाल में मुद्रा की माँग लगभग स्थिर रहती है (माँग की लोच इकाई के बराबर है), इसलिये जब मूल्य का सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) मुद्रा के मूल्य के निर्धारण पर क्रियाशील होता है, उस समय मुद्रा के मूल्य का निर्धारण मुख्यतः मुद्रा की पूर्ति के प्रभाव से ही होता है (क्योंकि माँग स्थिर मानी गई है)। अत विस्तृत दृष्टिकोण से चूंकि द्रव्य और वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं है (मुद्रा को सुविधा के लिये विनिमय का माध्यम व विनिमय-शक्ति का माप मान लिया गया है), इसलिये मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के लिये पृथक् से किसी अन्य सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है वरन् द्रव्य की माँग व इसकी पूर्ति के सन्तुलन से ही इसका मूल्य निर्धारित हो जाता है। मुद्रा की माँग में वृद्धि होने पर (यदि पूर्ति में वृद्धि नहीं होती) इसके मूल्य में वृद्धि तथा वस्तुओं के मूल्य में कमी और मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने पर (यदि

माँग में वृद्धि नहीं होती) उसके मूल्य में कमी तथा वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है (तीन-चार पृष्ठ)। तृतीय भाग में यह बताइये कि मुद्रा के मूल्य के निर्धारण में और वस्तुओं के मूल्य के निर्धारण में क्या भेद है ?—ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि जो विद्वान मुद्रा और वस्तुओं में कोई भेद नहीं मानते, उनके मतानुसार मुद्रा का मूल्य, वस्तुओं के मूल्य निर्धारण की तरह इसकी माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है। परन्तु कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा और एक साधारण वस्तु में अन्तर मानते हैं—इसके दो मुख्य कारण हैं—(अ) वस्तुओं व पदार्थों की माँग प्रत्यक्ष होती है, परन्तु मुद्रा की माग अप्रत्यक्ष होती है—वस्तुएँ मानव आवश्यकताओं की सन्तुष्टि प्रत्यक्ष रूप से करती हैं परन्तु मुद्रा यह सन्तुष्टि अप्रत्यक्ष रूप में (विनिमय के माध्यम द्वारा) करती है (क्योंकि मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से उपभोग की वस्तु नहीं है)। इस कारण जबकि अन्य वस्तुओं की माँग की लोच कम-अधिक होती रहती है, मुद्रा की माँग की लोच सदैव इकाई के बराबर रहती है। (आ) मुद्रा की माग अल्पकाल में लगभग स्थिर रहती है क्योंकि जन-संख्या, उत्पादन, रहन-सहन, मानव स्वभाव आदि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु वस्तुओं की माँग अल्प और दीर्घ दोनों ही कालों में घटती-बढ़ती रहती है। अत ये दोनों कारण मुद्रा और वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण अन्तर उत्पन्न करते हैं। फलत जबकि वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में साधारणतया माँग और पूर्ति का समान रूप से प्रभाव पड़ता है परन्तु मुद्रा के मूल्य निर्धारण में, चूंकि माँग स्थिर रहती है, इसलिये मुद्रा की पूर्ति का विशेष प्रभाव पडता है मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इसी तथ्य की पुष्टि करता है। मुद्रा मात्रा सिद्धान्त को भी दूसरे शब्दों में मुद्रा की माग और मुद्रा की पूर्ति का सिद्धान्त कहा जाता है। (एक पृष्ठ)।

प्रश्न २ —(i) द्रव्य के परिमाण सिद्धांत की विवेचना सहित व्याख्या कीजिये (Agra १९५६, B A) १९५८ S; Sagar B A १९५७ Jabb. B A १९५६, Vikram B A १९५९) (ii) क्या आप इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं? (Agra, B A १९५७ S) (iii) सिद्धांत के मुख्य दोषों को बताइये (Sagar, B. Com १९५९) (iv) 'The Quantity theory has been widely criticized. With the qualifications other things remaining the same,' it is a useless truism ' Examine the statement and give the main weaknesses of the theory (Agra B A 1954) (v) How far does it (Quantity theory) afford a true explanation of the rise and fall of prices? (Agra B. Com 1958 Raj, B A 1957) (vi) Is it a correct explanation of the changes in the value of money? (Agra, B A 1952) (vii) What are its (Quantity Theory) limitations? (Agra, B Com 1956, 1954)

सकेत —उक्त प्रश्नों में चार बातें पूछी गई हैं—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त क्या है ? 'अन्य बातें समान रहें' वाक्यांश का क्या अर्थ है ? तथा सिद्धान्त की क्या-क्या सीमायें हैं ? सिद्धान्त के क्या मुख्य दोष हैं तथा यह मूल्य-स्तर के उच्चावचन की वास्तव में कहाँ तक व्याख्या करता है, तथा क्या सिद्धान्त का स्वीकार किया जा सकता है ? उत्तर के प्रथम भाग में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए—द्रव्य के

परिमाण का प्रत्येक परिवर्तन सामान्य मूल्य-स्तर मे प्रत्यक्ष अनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न करता है और मुद्रा के मूल्य मे विपरीत अनुपातिक परिवर्तन पैदा करता है। (प्रो० फिशर आदि विद्वानों के उद्धरणो को देकर, इस तथ्य को एक डेढ पृष्ठ मे स्पष्ट कीजिए)। द्वितीय भाग में 'अन्य बाते समान रहें' वाक्यांश का अर्थ व महत्व समझाइए और उन सब बातो को बताइए जिन्हे फिशर ने सिद्धान्त की व्याख्या करते समय स्थिर मान लिया है इन सब बातों को मान कर ही सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध की जा सकती है अर्थात् इन बातो के समान न रहने पर सिद्धान्त गलत हो जायगा, इसीलिए इन सब बातो को सिद्धान्त की सीमायें कहा गया है ये बातें है—मुद्रा की मॉग स्थिर रहनी चाहिए, जन-संख्या स्थिर रहनी चाहिए, उत्पादन की मात्रा स्थिर रहनी चाहिए, मनुष्यो की आदत व स्वभाव मे परिवर्तन नही होना चाहिये, उपभोग की मात्रा पूर्ववत् रहनी चाहिए, मुद्रा की चलन-गति स्थिर रहनी चाहिए, मुद्रा को दबा कर या गाड़ कर या छिपा कर नही रखा जाना चाहिए आदि (एक-डेढ पृष्ठ)। तृतीय भाग मे प्रो० फिशर के सिद्धान्त को इसके सूत्र (Formula) द्वारा स्पष्ट कीजिए (आधा या एक पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में सिद्धान्त की आलोचना कीजिए अर्थात् इसके मुख्य-मुख्य दोषों को बताइए,—सिद्धान्त की मान्यतायें अवास्तविक है, सिद्धान्त व्यापार-चक्रो मे होने वाले मूल्य-स्तर के परिवर्तनो की व्याख्या करने मे असमर्थ है, परिमाण सिद्धान्त यह स्पष्ट नही करता कि मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन किस प्रकार मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव डालता है, सिद्धान्त क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नही नापने पाता है, सिद्धान्त ने मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल डाला है तथा सिद्धान्त काल्पनिक व अपूर्ण है आदि (तीन पृष्ठ) पाचवें भाग मे यह बताइए कि सिद्धान्त मूल्य-स्तर मे उच्चावचन की कहाँ तक ठीक-ठीक व्याख्या करता है? यह स्पष्ट कीजिए कि सिद्धान्त मूल्य-स्तर के परिवर्तनो की ठीक-ठीक व्याख्या नही करता है जिसके कारण इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता है। व्यापार-चक्रो मे स्पष्ट है कि यदि कभी समाज मे व्यापारिक तेजी आती है तब कभी व्यापारिक मन्दी आती है (व्यापार-चक्रो को स्पष्ट कीजिए)। ये दोनो प्रवृत्तिया बारी-बारी से एक-दूसरे के बाद आती हैं। विद्वानो ने मूल्य-स्तर के परिवर्तनों का विश्लेषण मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मे किया है। अध्ययन व अनुभव से स्पष्ट है कि जबकि व्यापारिक उन्नति होती है अथवा मूल्य-स्तर है के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, उस समय मुद्रा के परिमाण मे कमी कर देने पर मूल्य-स्तर में ऊपर उठने की प्रवृत्ति पर रोक लग जाती है तथा व्यापारिक उन्नति का आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है। परन्तु जिस समय मूल्य-स्तर मे नीचे गिरने की प्रवृत्ति होती है, व्यापार मे मन्दी होती है, उस समय मुद्रा के परिमाण में वृद्धि करने पर भी मूल्य-स्तर मे ऊपर उठने की प्रवृत्ति दिखलाई नहीं देती है। मुद्रा के परिमाण सिद्धात के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने पर मूल्य-स्तर मे वृद्धि उसी अनुपात मे होनी चाहिए, परन्तु उक्त से स्पष्ट है कि वास्तव मे ऐसा नहीं होता है। अत: परिमाण सिद्धान्त मूल्यों की वृद्धि व कमी अथवा मूल्य-स्तर मे उच्चावचन की उचित व ठीक-ठीक व्याख्या नहीं करता है परन्तु बचत

श्रौर विनियोग के सिद्धात (Saving & Investment Theory) से मूल्य-स्तर के परिवर्तन के कारण का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है (इस सिद्धान्त को समझाइए)। (एक पृष्ठ)। छठे भाग मे यह बताइए कि सिद्धात का क्या महत्व है—सिद्धात की आलोचनाओ से स्पष्ट है कि 'अन्य बातें समान' रहते हुए भी यह सिद्धात एक सन्देहात्मक सत्यता (Doubtful truism) है तथा इसका व्यवहारिक महत्व बहुत अधिक है। (1) मूल्य-स्तर को नियत्रित करने मे इस सिद्धात से बहुत सहायता मिली है—मुद्रा-अधिकारी मुद्रा की मात्रा मे कमी या वृद्धि करके जब जान-बूझकर मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि या कमी करते है, तब वे परिमाण सिद्धात का ही सहारा लेते हैं, इस तरह सिद्धात मूल्यो के नियत्रण का एक अच्छा उपाय बताता है, (ii) सिद्धात से ही स्पष्ट होता है कि मुद्रा-प्रसार के काल मे द्रव्य का मूल्य क्यो कम होता है (मूल्य-स्तर बढता है) तथा मुद्रा सकुचन के काल मे द्रव्य का मूल्य क्यो बढता है (मूल्य-स्तर कम होता है)। इस तरह यह सिद्धात सामान्य मूल्य-स्तर म होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या करता है (आधा पृष्ठ) सातवें भाग मे यह बताइए कि परिमाण सिद्धात को किन सशोधनो सहित स्वीकार किया जा सकता है—ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मन्दीकाल म मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर भी मूल्य-स्तर मे वृद्धि नही होने पाती है जिससे स्पष्ट है कि सिद्धात दोषपूर्ण है। अनुभव से पता चलता है कि इस स्थिति मे भी मुद्रा की मात्रा म वृद्धि से मूल्य-स्तर मे वृद्धि तब ही होगी जब कि बढी हुई मुद्रा की मात्रा मनुष्यो के पास आय के रूप मे प्राप्त हो जाय। परन्तु मन्दीकाल मे व्यवसायी धन का उद्योगो म विनियोग नही करते हैं और सरकार द्वारा मुद्रा का जो कुछ भी प्रचलन किया जाता है, उसका सचय (Hoarding) हो जाता है अर्थात् मुद्रा को समाज म गतिशील होन का अवसर नही मिलता है (विनियोग से ही यह अवसर मिलता है) और यह मनुष्या को आय के रूप म प्राप्त नही होती है। गाढ कर रख देने से मुद्रा की पूर्ति म वृद्धि का कुछ भी अर्थ नही निकलता है। स्पष्टतया मुद्रा के परिमाण सिद्धात का त्रुटिपूर्ण एव असत्य सिद्ध होने का यही मुख्य कारण है। यदि इस दोष को दूर करने के हेतु परिमाण सिद्धात म सशोधन हो जाय तब सिद्धात को आसानी से स्वीकृत किया जा सकता है।

प्रश्न ३—(i) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। मुद्रा की चलन-गति के कौन कौन से मुख्य कारक हैं? (Sagar B. Com. १ ५७) (ii) Give a critical estimate of the Quantity Theory of Money and point out the factors that effect the velocity of circulation of money. (Raj B Com 1956) (iii) Explain the concept of 'Velocity of circulation of money' What are the main factors that affect the velocity of circulation of money? (Banares B Com 1959)

सकेत—उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग म मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (फिशर का सिद्धान्त) की व्याख्या व इसकी आलोचना लिखिये (चार-पाच पृष्ठ)। द्वितीय भाग म मुद्रा की चलन गति का अर्थ उदाहरण सहित विस्तार से लिखिये और उन कारणो को बताइये जिनसे यह चलन-गति प्रभावित होती है, जैसे—देश म चलन मे पाई जाने

वाली मुद्रा की मात्रा, नकद में वस्तुयें खरीदने की आदत, बचत की आदत, उधार सौदों के भुगतान का समय, जनता की द्रवता-पसन्दगी, मजदूरी भुगतान की रीति, यातायात व सम्वाद-वाहन के साधन, साख सुविधायें, भावी मूल्य-स्तर, राष्ट्र की आर्थिक उन्नति तथा नकद जमा की गतिशीलता आदि (दो पृष्ठ)। अन्त में, एक पैरे में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की चलन-गति के महत्व को बताइये (आधा पृष्ठ)।

प्रश्न ४:—(i) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये। किसी देश के मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त अन्य किन कारणों का प्रभाव पड़ता है? (Sagar B. A. १९५९) (ii) उन तत्वों का विवेचन कीजिये जिन पर मुद्रा का मूल्य निर्भर रहता है (Patna, 1953; 1952) (iii) "मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मात्रा पर निर्भर रहता है" क्या आप इस मत से सहमत हैं?

संकेतः—उत्तर के दो भाग हैं:—प्रथम भाग में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (फिशर का सिद्धान्त) की व्याख्या व इसकी आलोचना लिखिये (चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग में उन सब कारणों को उदाहरण सहित बताइये जिनसे देश का मूल्य-स्तर प्रभावित होता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त अथवा इसके सूत्र से उन तत्वों का ज्ञान हो जाता है जो मूल्य-स्तर को निर्धारित एवं प्रभावित करते हैं, जैसे— यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि (मुद्रा-स्फीति) हो जाती है तब मूल्य-स्तर में वृद्धि तथा मुद्रा के मूल्य में कमी हो जाती है। इसी तरह मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने से परिणाम भी उलटे होते हैं। फिर, यदि व्यापार व उद्योग अथवा विनिमय के सौदों में वृद्धि हो रही है, परन्तु अन्य बातें समान है, तब मूल्य-स्तर में कमी हो जायगी और मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा। अतः मूल्य-स्तर को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व हैं, जैसे—मुद्रा की मात्रा (धात्विक व कागजी) मुद्रा की चलन-गति, विनिमय के सौदों का परिमाण अथवा व्यवसाय की स्थिति एवं दशा, बैंक-साख की दशा, समाज में बचत व विनियोग का सम्बन्ध (बचत व विनियोग सिद्धान्त को बताइये), आयोजित अर्थ-व्यवस्था में योजनाओं पर व्यय की मात्रा, निर्यात की मात्रा, जन-संख्या आदि। स्पष्ट है कि मूल्य स्तर केवल मुद्रा की मात्रा पर निर्भर नहीं रहता है वरन् इसको प्रभावित करने वाले अन्य अनेक कारक भी हैं।

प्रश्न ५:—(i) "The modern tendency in economic thinking, indeed; is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the State of business and a determinant of the value of money and to regard it as a consequence" (Crowther) Discuss. (Bombay 1953, Bihar, B. A 1959); (ii) "The value of money, in fact, is a consequence of the total incomes rather than of the quantity of money" Explain Sagar, B Com 1955 Bihar; B Com 1953)

संकेत —हाल ही तक यह समझा जाता था कि मुद्रा-मात्रा सिद्धांत मूल्यों (मूल्य-स्तर) में होने वाले परिवर्तनों की ठीक-ठीक व्याख्या करता है–मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अवश्यमेव ही मूल्य-वृद्धि लावेगी और मुद्रा की मात्रा में कमी अवश्यमेव ही मूल्य

में कमी लायेगी (यह परिमाण सिद्धात है, इसे तनिक विस्तार से उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये) परन्तु आलोचकों ने इस सिद्धात के दोषो को बताया है जिससे उक्त सिद्धान्त का परित्याग हो गया है। विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि व्यापारिक मन्दी काल में मुद्रा का बाहुल्य होते हुए भी (या मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने पर भी) तथा बैंको द्वारा साख-सृजन (Creation of credit) के लिये उत्सुक रहते हुए भी, देश के मूल्य-स्तर अथवा मूल्यो में वृद्धि नहीं होने पाती है। इसका कारण यह था कि मन्दी के कारण व्यापारी रुपया उधार लेकर विनियोजन के लिये तैयार नहीं रहते थे (सन् १९२९-३४ के महा मन्दी काल में इस मत की पुष्टि कीजिये)। इसी लिए क्राउथर जैसे आलोचकों ने कहा कि परिमाण सिद्धान्त केवल इस बात को बताता है कि मूल्य-स्तर में उतार-चढ़ाव कैसे होते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त इस बात को नहीं बताता कि मूल्यों के उच्चावचन क्यों कर होते हैं (सिवाय दीर्घ कालीन उच्चावचन के या अल्प काल में उन उच्चावचन के जो अत्यधिक मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-सकुचन के कारण होते हैं)। आलोचकों ने बताया है कि मूल्य-स्तर का उच्चावचन, वास्तव में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन के कारण नहीं, वरन् व्यक्तिगत आयों में कमी या वृद्धि का होना रहता है। मन्दी काल में, यद्यपि मुद्रा का बाहुल्य होता है, परन्तु मनुष्यों की बेकारी के कारण आयें (Incomes) कम होती हैं जिससे बैंकों से पूंजी उधार लेकर इसका विनियोजन नहीं किया जाता, फलत मुद्रा की चलन गति घट जाती है। अत मुद्रा-मूल्य समस्त आयों के जोड का परिणाम है, न कि मुद्रा-मात्रा का। इसीलिए क्राउथर (Crowther) ने कहा है कि "अर्थशास्त्रीय विचारधारा की आधुनिक प्रवृत्ति वस्तुत उस पुरानी धारणा को छोड देने की ओर है, जिसके अनुसार मुद्रा की मात्रा को व्यवसाय की अवस्था का कारणात्मक तत्व (व्यापार के स्तर का कारण) तथा मुद्रा के मूल्य का निर्धारक तत्व समझा जाता था वरन् अब तो मुद्रा के मूल्य को एक परिणाम माना जाता है" अर्थात् द्रव्य का मूल्य तो, वास्तव में, द्रव्य के परिमाण के बजाय कुल आयों पर निर्भर रहता है।

प्रश्न ६ –(i) Critically examine "Quantity Theory of Money ? What changes have been brought about during recent years ? (Raj. B A. 1959) (ii) Explain the Quantity Theory of Money as enunciated by Lord Keynes How is this theory an improvement upon fisher's approach ? (Raj B Com 1959 1957) (iii) The Quantity Theory of Money is a term stated in various forms Describe it in the forms in which it has received its greatest acceptance examining briefly at the same time its assumptions and variations in the light of experience of the last two decades (Allahabad; B Com 1956) (iv) Explain carefully Quantity Theory of Money What recent advances have been made in the theory dealing with the determination of the value of money ?

सकेत —उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग में मुद्रा का परिमाण सिद्धात लिखिये (केवल फिशर के विचार बताइये)। चूँकि उन्होंने इस सिद्धात की विस्तार से सर्वप्रथम व्याख्या की थी इसीलिये फिशर के परिमाण सिद्धात को ही सबसे अधिक स्वीकृति प्राप्त

हुई है, यद्यपि मुद्रा के परिमाण सिद्धात के अनेक अन्य रूप भी है, जैसे कैम्ब्रिज समीकरण, कीन्स का समीकरण आदि)—सिद्धात की व्याख्या कीजिये (टॉजिग, मिल, विकसैल आदि अर्थशास्त्रियो द्वारा दी गई परिमाण सिद्धांत की परिभाषायें लिखिये), में "अन्य बातें स्थिर रहे" वाक्यांश का अर्थ दीजिये, सिद्धात का समीकरण स्पष्ट कीजिये तथा सिद्धांत की मुख्य-मुख्य आलोचनायें सक्षेप मे लिखिये (तीन-चार पृष्ठ)। दूसरे भाग मे फिशर के सिद्धात मे किये गये सुधारों को लिखिये— (अ) कैम्ब्रिज समीकरण—मार्शल, कैनिन, हार्ट्रे पीगू तथा राबर्टसन आदि अर्थशास्त्रियों ने परिमाण सिद्धात का एक नया समीकरण प्रस्तुत किया है जिसे कैम्ब्रिज समीकरण कहते हैं—$P = \frac{M}{KR}$ (इसको विस्तार से समझाइये)। इस समीकरण की कई आधारभूत बातें हैं— कुल सामाजिक आय का कुछ भाग नकद कोष के रूप मे रक्खा जाता है— फिशर ने माना था कि मुद्रा की माग (P.T.) विनिमय के कुल सौदों के मूल्य के बराबर होती है अर्थात् मुद्रा की माग केवल वस्तुओ व सेवाओ के विनिमय के लिये की जाती है, इस तरह माग वस्तुओं व सेवाओ की उस मात्रा पर निर्भर करती है जिसकी द्रव्य मे बिक्री होगी पर कैम्ब्रिज विचारधारा के अर्थशास्त्रियो का मत है कि मुद्रा की मांग वस्तुओ की मात्रा पर निर्भर नही होती है वरन् यह मनुष्यो की अपनी आय को नकद रूप मे रखने की इच्छा व योग्यता पर निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति व संस्था चालू खर्च के लिये अपने पास नकद मे या बैंक जमा के रूप में (जिसे बैंक से निकाला जा सकता है) रुपया रखना चाहा करता है ताकि आवश्यकता पडने पर वह तुरन्त रुपये को व्यय कर सके। अत. मार्शल आदि का विचार है कि द्रव्य की माग का अर्थ उस मात्रा से लिया जाता है जो समस्त व्यक्ति, सरकार व्यापारिक व अन्य सस्थायें अपने पास नकद में अपना खर्च चलाने के लिये रखती है। द्रव्य की माग यह विचारधारा फिशर की धारणा से अधिक उत्तम व व्यवहारिक है। जिन मनुष्यों मे मुद्रा की द्रवता पसन्दगी अधिक होती है, उनकी मुद्रा की माग भी अधिक होती है क्योंकि वे अपनी आय का अधिकाश भाग नकद रूप में रखना अधिक पसन्द करते है। (ii) मुद्रा की माग अथवा मुद्रा की द्रवता पसन्दगी पर अन्य अनेक बातों का भी प्रभाव पडता है, जैसे—आय प्राप्त होने की अवधि, सामान्य मूल्य-स्तर, धन का वितरण, लेन-देन की आदत, जन-संख्या, मुद्रा की चलन गति, व्यापारिक दशायें (मन्दी-तेजी) आदि। अत. कैम्ब्रिज समीकरण के समर्थकों का मत है कि मुद्रा की माग व्यापारिक सौदो पर नही वरन् जनता की द्रवता पसन्दगी पर निर्भर रहती है। इस तरह मुद्रा की माग का एक बिलकुल ही दूसरा अर्थ लगाकर कैम्ब्रिज समीकरण ने फिशर के समीकरण मे आधारभूत सशोधन किया है—सक्षेप मे फिशर के विचार की तुलना कैम्ब्रिज विचारधारा से कीजिये—(i) कैम्ब्रिज सशोधन का सबसे बडा गुण यह है कि इसमें उस तर्क की आवश्यकता नही पड़ती कि मुद्रा की माग वस्तुओं की माग पर निर्भर रहती है वरन् यह बताता है कि द्रव्य की माग द्रव्य को जमा रखने की व्यक्तिगत मागो का कुल जोड होता है। (ii) इसी तरह जबकि फिशर के सिद्धान्त का आधार दीर्घकालीन दृष्टिकोण है, कैम्ब्रिज के सिद्धान्त

का आधार अल्पकालीन दृष्टिकोण है और यह एक क्षण का ही अध्ययन करता है, (इन विचारों को विस्तार से समझाइये) परन्तु इन दोनों भेदों के होते हुये भी दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं वरन् ये दोनों एक-ही समस्या के दो भिन्न रूप हैं (दो पृष्ठ)। (आ) कीन्स का समीकरण—कीन्स (Keynes) ने कैम्ब्रिज समीकरण में भी कुछ संशोधन करके एक नया समीकरण प्रस्तुत किया है–$n=p\ (K+rk')$ (इस समीकरण को स्पष्ट कीजिये) (i) कीन्स ने भी कहा है कि द्रव्य की माग वस्तुओं की माग पर निर्भर नहीं होती है वरन् यह द्रवता पसन्दगी पर निर्भर रहती है। मनुष्य 'उपभोग की इकाइयों' को खरीदने के लिये अपने पास कुछ क्रय-शक्ति नकद रूप में रखता है जिसे कीन्स ने K कहा है (ii) कीन्स का समीकरण अपना ध्यान मुद्रा के चलन वेग पर भी केन्द्रित नहीं करता है वरन् यह मानता है कि मूल्य-स्तर मनुष्यों की उस आदत पर निर्भर करता है कि वे आय का कितना भाग नकद रूप में रखेंगे। परन्तु कीन्स के समीकरण का भी व्यवहारिक मूल्य इसलिये कम हो जाता है क्योंकि इसमें K तथा K^1 को निश्चित आकड़ों के आधार नहीं जाना जा सकता है (एक डेढ़ पृष्ठ)। (इ) बचत और विनियोग का सिद्धान्त-इस सिद्धान्त का मत है कि देश में मूल्य-स्तर (वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य) मुद्रा के परिमाण पर निर्भर नहीं होता है (जैसा कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बताता है) वरन् यह मनुष्यों की बचत करने की इच्छा विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। जब बचत करने की इच्छा अधिक होती है, तब विनियोग कम होता है, मूल्य-स्तर गिर जाता है और द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत जब बचत करने की इच्छा कम होती है अथवा बचत कम की जाती है, तब विनियोग अधिक होता है, मूल्य स्तर ऊंचा हो जाता है और द्रव्य का मूल्य कम हो जाता है। अतः बचत और विनियोग का सिद्धान्त प्रो० फिशर के सिद्धान्त से अच्छा है क्योंकि यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य के परिमाण पर निर्भर नहीं होता वरन् यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपनी आय का कितना भाग नकद के रूप में (बचत) रखना चाहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मन्दी काल में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि करने पर भी मूल्य-स्तर में वृद्धि क्यों नहीं होती—क्योंकि व्यवसायी नये-नये विनियोग नहीं करते हैं और धन मनुष्यों के पास पड़ा रहता है (आधा पृष्ठ)।

प्रश्न ७—"The Quantity Theory of Money is right in principle but defective in details" Discuss What improvements have been made over in this theory? (B Com 1955)

संकेत —उत्तर के प्रथम भाग में बताइये कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक सामान्य सत्य का निरूपण किस प्रकार करता है? यह सिद्धान्त बताता है कि, अन्य वस्तुओं की तरह, मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग और पूर्ति के पारस्परिक सम्बंध एवं प्रभाव द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु की तरह मुद्रा की माग बढ़ने पर इसके मूल्य में वृद्धि और मांग कम हो जाने पर इसके मूल्य में कमी हो जाती है। वस्तु की तरह मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाने पर इसके मूल्य में कमी और पूर्ति में कमी हो जाने पर इसके मूल्य में वृद्धि हो जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती

है। मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं के मूल्य-स्तर में विरोधी सम्बंध होता है—जब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है तब इसका अर्थ हुआ मूल्य-स्तर का कम होना और जब मुद्रा का मूल्य गिरता है तब इसका अर्थ हुआ मूल्य स्तर का बढ़ना। उक्त मुद्रा की पूर्ति तथा इसके मूल्य के सम्बन्ध को बताने वाले सिद्धात के आधार पर ही मुद्रा का परिमाण सिद्धात प्रतिपादित किया गया है। परिमाण सिद्धान्त भी यही बताता है कि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से इसका मूल्य कम (मूल्य-स्तर में वृद्धि) और मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाने से इसका मूल्य अधिक (मूल्य-स्तर में कमी) हो जाता है। स्पष्टतया परिमाण सिद्धात की सत्यता, अकाट्य है। अत. मुद्रा का परिमाण सिद्धात एक साधारण सत्य का निरूपण करता है (एक डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि परिमाण सिद्धान्त में खोखलापन एवं दोष क्यों व किस प्रकार पाया जाता है? (i) फिशर और कीन्स दोनों ने ही मुद्रा के परिमाण सिद्धात का प्रतिपादन करते समय यह मान लिया है कि अल्पकाल में मुद्रा की माग मे कोई-परिवर्तन नही होता है अर्थात् मुद्रा की माग की लोच इकाई के बराबर रहती है, इसलिए मुद्रा की पूर्ति मे जिस अनुपात मे परिवर्तन होता है, उसी अनुपात मे उसी दिशा में मूल्य-स्तर में तथा उसी अनुपात मे विपरीत दशा मे मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन हो जाता है। (उदाहरण से स्पष्ट कीजिये) परन्तु फिशर व कीन्स मे मुद्रा की माग के सम्बन्ध में आधारभूत अन्तर पाया जाता है—फिशर के अनुसार मुद्रा की माग विनिमय के सौदों (व्यवसाय में विनिमय-कार्यों) से प्रभावित एवं उन्हीं पर निर्भर होती है, परन्तु कीन्स के अनुसार मुद्रा की माग का सम्बन्ध व्यापार के विनिमय-कार्यों से सम्बन्धित करना, इसे अत्यन्त जटिल व अनिश्चित बना देता है (क्योंकि फिशर ने अपने समीकरण को प्रतिपादित करते समय अनेक बातें स्थिर मान ली है जिससे व्यवहारिक जीवन में उसका सिद्धांत सत्य व ठीक नही सिद्ध होता है) इसलिये कीन्स ने मुद्रा की माग का मनुष्यों की द्रवता पसन्दगी से सम्बध स्थापित किया है अर्थात् मुद्रा की माग मुद्रा की उस मात्रा पर निर्भर रहती है जिसे मनुष्य अपने पास नकद रूप में रखना चाहते है इस तरह कीन्स के अनुसार मूल्य-स्तर का कम-अधिक होना पूर्णतया एक मौद्रिक घटना है (कीन्स का समीकरण स्पष्ट कीजिये और उसके दोष बताइये) (ii) परिमाण सिद्धात का दोष उस समय भी दृष्टिगोचर होता है जबकि मन्दी काल मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करने पर भी मूल्य-स्तर मे वृद्धि. करने के प्रयत्न मे सफलता नही मिलती है (ऊपर इस सम्बन्ध मे विस्तार से लिखा जा चुका है) (तीन-चार पृष्ठ)। अन्त मे यह बताइये कि यदि हम मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को एक समीकरण (Equation) व गणितात्मक सत्य के रूप मे नही रक्खे और इसका प्रतिपादन केवल एक साधारण सिद्धांत के रूप मे करे। (आर्थिक सिद्धांत केवल प्रवृत्ति के द्योतक होते हैं), तब हम सत्यता के समीप पहुँच जायेंगे (अर्थात् हम कह सकेंगे कि मुद्रा का मूल्य इसकी माग व पूर्ति के द्वारा ही निश्चित होता है) और सिद्धात भी अनेक दोषो से मुक्त हो जायेगा।

प्रश्न ८. **"The Quantity Theory of Money is a Serviceable platitude" Discuss. (Patna, B A 1948)**

संकेत—प्रश्न है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक तथ्यहीन किन्तु काम चलाऊ सिद्धान्त है। पहले यह बताइये कि परिमाण सिद्धान्त यह कैसे स्पष्ट करता है कि मुद्रा का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्ध से निश्चित होता है (ऊपर लिखा जा चुका है)। फिर फिशर का समीकरण देकर उसे स्पष्ट कीजिये (एक डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में मुख्यतः यह आलोचना लिखिये कि सिद्धान्त बहुत सी अपरिवर्तनशील बातों पर आधारित है और ये बातें स्थिर नहीं रहती हैं जिसके कारण यह अव्यवहारिक हो जाता है (एक पृष्ठ)। तृतीय भाग में फिशर और कीन्स के मुद्रा की माँग के सम्बन्ध में जो विचार हैं उनके भेद को स्पष्ट कीजिये और संक्षेप में कीन्स का समीकरण समझाइये (एक पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में यह बताइये कि परिमाण सिद्धान्त इस कारण भी दोषपूर्ण है क्योंकि मन्दी काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने पर भी मूल्य-स्तर में वृद्धि नहीं होने पाती (कीन्स के विचार बताइये), इस दोष का कारण देकर स्पष्ट कीजिये (आधा पृष्ठ)। अन्त में यह बताइये कि परिमाण सिद्धान्त में उक्त दोषों के होते हुए भी यह एक काम चलाऊ सत्य है। *यदि हम गणितात्मक समीकरण की ओर अपना ध्यान न लगाकर परिमाण सिद्धान्त को एक साधारण सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करें तब इसमें अकाट्य सत्य है जिसकी सत्यता को हम डिगा नहीं सकते। इस तथ्य की पुष्टि युद्धकालीन दशाओं से हो जाती है। मुद्रा प्रसार में मूल्य-स्तर ऊँचे हो जाते हैं इनमें अनुपातिक वृद्धि नहीं होती अवश्य)।* अतः परिमाण सिद्धान्त एक तथ्यहीन परन्तु काम चलाऊ सत्य है।

अध्याय ४

मुद्रा का मूल्य-परिवर्तन

मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा संस्फीति (Inflation, Deflation and Reflation)

प्राक्कथन—स्फीति का शाब्दिक अर्थ है—फैलना। जिस प्रकार एक फुटबाल का ब्लैडर वायु भरे जाने पर फैलता है ठीक इसी प्रकार जब किसी देश में मुद्रा की मात्रा में फैलाव किया जाता है, तब उसे मुद्रा स्फीति (Inflation) कहते हैं। मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा स्फीति से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और मुद्रा संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति (Deflation) से मूल्यों में कमी हो जाती है। पूँजीवादी देशों में समय समय पर एक नियमित क्रम में मन्दी व तेजी का चक्र आता रहता है जिससे आर्थिक समाज भी काफी अस्त व्यस्त रहता है। व्यापारिक मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन अर्थशास्त्र में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण विषय बन गया है। इस अध्याय में आगे चलकर मूल्य परिवर्तनों के कारणों, उनके विभिन्न रूप तथा उनकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है।

मुद्रा-स्फीति (Inflation)

मुद्रा-स्फीति का अर्थ (Meaning of Inflation):—मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-प्रसार की परिभाषा के सम्बन्ध में आज भी लेखकों में काफी मतभेद है जिससे इस शब्द के सही व ठीक-ठीक अर्थ समझने में काफी कठिनाई अनुभव होती है। नीचे इस शब्द की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं दी गई हैं—

(१) श्री केमरर (Kemmerer) के अनुसार "यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय, तब इस दशा को मुद्रा-स्फीति की दशा कहते हैं।"*

केमरर परिभाषा की व्याख्या:—श्री केमरर की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि मुद्रा की अधिकता या व्यापार के परिमाण से मुद्रा के अधिक हो जाने को मुद्रा प्रसार कहते हैं। इस तरह जब विनिमय-योग्य वस्तुओं व सेवाओं के परिमाण से मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और मूल्य-स्तर भी बढ़ जाता है, तब इसे मुद्रा-प्रसार की अवस्था कहते हैं। इसी बात को यूं भी कह सकते हैं कि जब मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग अथवा व्यापार व उद्योग की आवश्यकता से अधिक हो जाती है और वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बढ़ जाता है, तब इसे मुद्रा-प्रसार कहते हैं। परन्तु देश में, केवल मूल्य-स्तर का बढ़ना प्रत्येक दशा में मुद्रा प्रसार नहीं होता है। जब मुद्रा की माँग बढ़ने के साथ ही साथ मूल्य-स्तर में इसलिये वृद्धि हो जाती है क्योंकि वस्तुओं की मात्रा घट गई है, तब इस प्रकार की अवस्था को मुद्रा-प्रसार कहते हैं। इस तरह केमरर की परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि यदि किसी देश में किन्हीं कारणों से (जैसे—जन-संख्या में वृद्धि या व्यापार में वृद्धि) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है, चाहे इस प्रकार की मुद्रा की वृद्धि से कीमतें भी क्यों न बढ़ गई हों, तब यह भी मुद्रा-स्फीति नहीं कहलायेगी। **अतः केमरर के मतानुसार मुद्रा-स्फीति की दशा तब ही उत्पन्न होती है जबकि देश में मुद्रा की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि यह उद्योगों व व्यापार की आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाय (क्योंकि उत्पादन किसी भी कारण कम हो गया है)।** अतः जबकि मुद्रा की माग की तुलना में मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है और वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बढ़ जाता है, तब इसे मुद्रा-प्रसार की अवस्था कहते हैं।

परन्तु श्री केमरर की परिभाषा में कई दोष हैं (i) परिभाषा में कुछ अस्पष्टता है। मुद्रा या विनिमय के माध्यम की मांग या व्यवसाय की आवश्यकता (Needs of the Trade) कितनी है, यह हम कैसे निर्धारित करेंगे? कुछ विचारकों का मत है कि हमारे पास एक ही ऐसा तरीका है कि जिससे हमें पता चल सकता है कि 'द्रव्य की पूर्ति' देश की 'व्यवसाय व उद्योग की आवश्यकता', अथवा 'मुद्रा की माग' से अधिक बढ़ी है या नहीं—यदि वस्तुओं का मूल्य-स्तर बढ़ रहा है, तब तो द्रव्य की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकता से अधिक है और यह मुद्रा-स्फीति की दशा है और यदि मूल्य-स्तर घट रहा है तब तो मुद्रा की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकता से कम है और

*Kemmerer A.B.C. of Inflation, P. 46,

यह मुद्रा-विस्फीति (Currency Deflation) की दशा है। परन्तु इस विचार के विरोध में भी यह कहा जाता है कि यदि किसी देश में वस्तुओं का औसत लागत-खर्च (Average Cost of Production) बढ़ रहा है, तब इसमें भी देश के मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है, यद्यपि इस प्रकार की मूल्य-स्तर की वृद्धि का कारण मुद्रा-स्फीति नहीं है। अतः आलोचकों का विचार है कि केवल मूल्य-स्तर में वृद्धि इस बात का सही प्रमाण नहीं है कि देश में मुद्रा की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकताओं से अधिक हो रही है और देश में मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो गई है। कुछ व्यक्तियों का मत है कि कभी-कभी मूल्यों में वृद्धि होने पर भी मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि देश में वस्तुओं का मूल्य तो स्थिर (Constant) रक्खा जाता है परन्तु वस्तुओं का उत्पादन-व्यय घट जाता है। कीन्स (Keynes) ने इस प्रकार की मुद्रा स्थिति को मूल्य-मुद्रा-स्फीति (Price Inflation) कहा है। अमेरिका में सन् १९२८-२९ में इसी प्रकार की स्थिति थी। (ii) मुद्रा की माँग और पूर्ति का ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है। इसलिए केमरर की परिभाषा में यह वाक्य—'यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो' अनिश्चित है।

(२) प्रो० पीगू (Pigou) ने सन् १९४१ में एक लेख में मुद्रा-स्फीति की जो परिभाषा दी है, वह आज सबसे अच्छी परिभाषा मानी जाती है। यह परिभाषा इस प्रकार है — "जब मौद्रिक आय (Money Income) उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओं (Income earning activities) से कहीं अधिक अनुपात में बढ़ती, तब मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।" एक दूसरे स्थान पर पीगू (Pigou) ने लिखा है—"मुद्रा-स्फीति की दशा उस समय उत्पन्न हो जाती है जबकि उत्पादक साधनों द्वारा किए गए काय की तुलना में, जिनको भुगतान के रूप में मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ़ रही हो।"*

प्रो० पीगू की परिभाषा की व्याख्या —किसी देश में मुद्रा-स्फीति की दशा कब उत्पन्न होती है, इसके सम्बन्ध में पीगू ने इस प्रकार की कल्पना की है—मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाने पर, यदि इसकी माँग पूर्ववत् ही है समाज में पूँजी का संचय अधिक हो जाता है, यह उत्पत्ति-कार्यों के लिए पहले से अधिक मात्रा में तथा अपेक्षाकृत कम ब्याज की दर पर उपलब्ध हो जाती है जिससे उत्पादकों को अधिकाधिक उत्पत्ति करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी तरफ मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाने से मनुष्यों की द्रव्य आय (Money Income) में वृद्धि हो जाती है जिससे वे उपभोग की वस्तुओं की अधिक माँग करने लगते हैं। उत्पादक उपभोक्ताओं की उपभोग की वस्तुओं की माँग

---

* Prof Pigou has stated in an article named as, Types of War Inflation that "Inflation exists when Money Income is expanding more than in proportion to Income Earning Activity"—Economic Journal, December 1941 Page 439 (Quoted by Sen and Das)

Pigou has expressed the same sentiment at another place as "Inflation is taking place when Money Income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment in opposite conditions Reflation is taking place —Veil of Money, Page 14

में वृद्धि के कारण भी पहले से अधिक मात्रा मे उत्पादन करने लगते है। इस अवस्था मे उत्पत्ति के साधनो का शनैः शनैः अधिकाधिक उपयोग होने लगता है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है कि जितने भी बेकार (Unemployed) उत्पत्ति के साधन होते हैं, उनका पूर्ण उपयोग (Full Employment) होने लगता है। पीगू ने इन्ही क्रियाओं को उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओ (Money earning activities) का नाम दिया है। धनोत्पत्ति मे वृद्धि होने से देश मे कुल वस्तुओ व सेवाओ के परिमाण मे वृद्धि हो जाती है। इस तरह यदि एक ओर मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होती जाती है, तब दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धी (Availability) भी बढ जाती है और अन्ततः एक अवस्था ऐसी आ जाती है जबकि मुद्रा-आय की वृद्धि (Expansion of Money Income) का वस्तुओं और सेवाओ की वृद्धि (Increase in Income Earning Activity) से पूर्ण संतुलन हो जाता है (Increase in the Money Incomes will be balanced by the increase in the Output of Goods and Services)। यदि उत्पत्ति के साधनों के पूर्ण उपयोग की इस अवस्था के पश्चात् भी, मुद्रा की पूर्ति या चलन-गति (Velocity of Circulation) या मनुष्यों की मुद्रा-आय मे बढत हो, तब इससे वस्तुओ व सेवाओ की उत्पत्ति के परिमाण मे वृद्धि नही हो सकेगी अर्थात् उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओ मे वृद्धि नही हो सकेगी क्योंकि उत्पत्ति के साधनो का पूर्ण उपयोग पहले ही हो चुका है। परिणामतः वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य बढता जायगा क्योंकि मनुष्य की द्रव्य-आय (Money Income) बढने से उनकी उपभोग की वस्तुओं की प्रभावोत्पादक माग (Effective Demand) तो अधिक हो जाती है, परन्तु उत्पत्ति प्रायः पूर्ववत् ही रहती है या इसमें वृद्धि उसी अनुपात में नही होती जिस अनुपात में मुद्रा की पूर्ति बढती है। प्रो० पीगू ने इस दशा को ही बहुत सुन्दर शब्दों में मुद्रा-स्फीति की दशा कहा है। अतः प्रो० पीगू (Pigou) के **अनुसार मूल्य वृद्धि मुद्रा-स्फीति का आवश्यक लक्षण है**। पीगू के अनुसार मूल्यो की वृद्धि मुद्रा-स्फीति है (अ) जबकि मौद्रिक-आय और समाज मे उत्पादन दोनो बढ रहे है, परन्तु मौद्रिक-आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रही है। (आ) जबकि मौद्रिक-आय और वस्तुओ व सेवाओ का उत्पादन घटता है परन्तु मौद्रिक-आय की तुलना मे उत्पादन अधिक तेजी से घटता है। (इ) जबकि मौद्रिक आय स्थिर रहती है, परन्तु उत्पादन घटता जाता है, (ई) जबकि मौद्रिक-आय बढती है परन्तु समाज मे उत्पादन पूर्ववत् रहता है। (उ) जबकि मौद्रिक-आय बढती है और दूसरी ओर उत्पादन घटता है तथा (ऊ) जबकि मौद्रिक आय पूर्ववत् रहती है परन्तु उत्पादन शनैः शनैः घटता चला जाता है।

(२) *प्रसिद्ध लेखक क्राऊथर (Crowther) ने भी मुद्रा-स्फीति की बहुत ही सरल* शब्दों में परिभाषा दी है—**"सबसे सरल तथा सबसे उपयोगी परिभाषा यह लगती है कि स्फीति वह स्थिति है जिसमें रुपये का मूल्य गिरता रहता है अर्थात् पदार्थों के मूल्य बढ़ते रहते है।"*** परन्तु यह परिभाषा पूर्णतया ठीक नही मानी जाती है

* G. Crowther, An Outline of Money.

क्योंकि मूल्य वृद्धि के अनेक कारण हो सकते है और मूल्यो की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती है।

स्फीति के रूप तथा कारण

मुद्रा स्फीति के रूप तथा इनके कारण (*Different types of Inflation and their causes*)—अर्थशास्त्रियों ने स्फीति के दो मुख्य कारण बताये है—(क) नैसर्गिक तथा (ख) कृत्रिम या बनावटी। इसीलिए स्फीति के विभिन्न कारणों के अनुसार मुद्रा स्फीति के भिन्न भिन्न रूप पाए जाते है। यहा पर स्फीति के कारणों का तथा इनके आधार पर बताए गए स्फीति के विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है—

(क) नैसर्गिक कारण (Natural Causes)—मुद्रा प्रसार कभी-कभी प्राकृतिक तथा स्वाभाविक कारणों से भी होता है। ये वे कारण हैं जिन पर सरकार का नियन्त्रण नहीं होता। उदाहरण के लिए खानों में से सोना व चान्दी का अधिक मात्रा में उत्पादन होना, नई-नई सोने चांदी की खानों की खोज हो जाना या किसी देश में सोना चादी की अधिक मात्रा में आयात होना। इस तरह जिस देश में सोने चादी को चलन का आधार माना गया है यदि इस दशा में अकस्मात ही किन्ही कारणों से सोना चादी की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है तब धात्विक मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर में भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार की स्फीति को स्वर्ण मुद्रा स्फीति (Gold Inflation) कहते हैं।

(ख) कृत्रिम एव बनावटी कारण (Artificial Causes)—मुद्रा-स्फीति के ये वे कारण है जिन पर सरकार का नियन्त्रण होता है। इन कारणों से उत्पन्न स्फीति को कृत्रिम या एच्छिक-स्फीति (Deliberate Inflation) कहते है—(1) चलन मुद्रा स्फीति (Currency Inflation)—कभी कभी सरकार को युद्ध काल में या आर्थिक संकट के समय अपने बजट को सतुलित (Balancing of the Budget) करने में कठिनाई अनुभव हुआ करती है। सरकार अपनी व्यय की आवश्यकता की पूर्ति प्रथम तो कर (Tax) लगा कर पूरा करने का प्रयत्न करती है या ऋण (Debt) लेकर इस कमी को पूरा करती है परन्तु जब वह इन दोनों साधनों से इतना धन नहीं प्राप्त कर पाती कि उसकी मुद्रा की आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति हो जाय तब वह प्रिंटिंग प्रेस (Printing Press) की सहायता लेती है और अपनी आवश्यकतानुसार नोट छाप कर (या केन्द्रीय बैंक को अपनी सिक्यूरिटीज के बदले में नोट छाप कर देने के लिए बाध्य करके) वह बजट के घाटे (Deficit of the Budget) को पूरा कर लेती है। जब सरकार अत्यधिक पत्र मुद्रा चलन जारी करने की नीति अपना लेती है और समाज में इस वृद्धि के अनुपात में वस्तुओं व सेवाओं की वृद्धि नहीं हो पाती है तब इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उन उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इस अवस्था को चलन

मुद्रा-स्फीति (Currency Inflation) कहते हैं। कुछ लेखकों ने इसे कमी पूरक मुद्रा-प्रसार या घाटा प्रोत्साहित स्फीति (Deficit Induced Inflation) कहा है (ii) प्रति स्फीति या महान स्फीति (Hyper Inflation):—जब सरकार अत्यधिक पत्र-मुद्रा-चलन जारी करने की नीति अपना लेती है और इस नीति के परिणामस्वरूप शनैः शनैः मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाती है, तब इन बढ़े हुए मूल्यो पर वस्तुयें खरीदने के लिए सरकार को पहले से भी अधिक मात्रा मे पत्र-मुद्रा का चलन करना पड़ता है जिससे मूल्य-स्तर मे और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। इस तरह द्रव्य का मूल्यों पर और मूल्यो का द्रव्य पर इस प्रकार प्रभाव पड़ा करता है कि ये एक-दूसरे का पीछा करते-करते बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाते हैं। पत्र-मुद्रा चलन में निरन्तर वृद्धि होते रहने का यह परिमाण होता है कि द्रव्य की क्रय-शक्ति (Purchasing Power) भी शनैः शनैः कम होती जाती है तथा इसमे और भी अधिक कमी हो जाने की सम्भावना बन जाती है। परिणामतः जनता का इस प्रकार की मुद्रा मे विश्वास नही रहता है और कोई भी व्यक्ति इसे अपने पास रखना नही चाहा करता है। प्रत्येक मनुष्य या तो इस मुद्रा से तुरन्त ही कोई वस्तु खरीदने का प्रयत्न किया करता है (मनुष्यो मे वस्तुये खरीद कर जमा करने की आदत उत्पन्न हो जाती है) जिससे वस्तुओ का मूल्य-स्तर और भी अधिक हो जाता है या वह उस मुद्रा का विनिमय किसी दूसरे देश की मुद्रा मे कर लेता है। इस दशा को 'करेन्सी से भागना' (Flight from Currency) कहते है।* एक अवस्था शीघ्र ही ऐसी आ जाती है जबकि मुद्रा का मूल्य, उस वस्तु के मूल्य से भी कम हो जाता है जिसकी कि वह मुद्रा बनाई गई है। अत जब किसी देश में मुद्रा की मात्रा में तनिक सी वृद्धि-कर देने पर, मूल्य-स्तर में कई गुनी वृद्धि हो जाती है (मुद्रा की भ्रमण-गति मे भी कई गुनी वृद्धि हो जाती है) तब मुद्रा-स्फीति के इस रूप को प्रति-स्फीति या महान स्फीति (Hyper Inflation) या अतिरिक्त-स्फीति (Super-Inflation) या अत्यधिक तेजी से बढ़ने वाली स्फीति (Galloping Inflation) कहते हैं।† सन् १९१४—१८ मे जर्मनी मे इसी प्रकार की स्फीति की

कृत्रिम कारणों से उत्पन्न मुद्रा प्रसार के रूप:—

१. चलन-मुद्रा-स्फीति।
२. प्रति-स्फीति या महान स्फीति।
३. लाभ-स्फीति।
४. साख-स्फीति।
५. उत्पादन-स्फीति।
६. मजदूरी-प्रोत्साहित स्फीति।
७. पूर्ण-स्फीति तथा आंशिक स्फीति।
८. खुली मुद्रा-स्फीति तथा छिपी हुई मुद्रा-स्फीति।

* After the first World War there was such a "Flight from Currency" of the German Mark. The Germans had no confidence in the Mark as even a Packet of Cigarettes could only be purchased by giving several thousand Marks.

† *The story of the three brothers, which has been quoted by Vernon Bartlett in New Germany Explained is repeated here to illustrate the condition of Germany during the period of this Hyper Inflation, after the first World War*

(Continued on next Page)

दशा उत्पन्न हो गई थी। इसी तरह सन् १९४८ में चीन में एक प्याला चाय का मूल्य लगभग एक मुट्ठी भर नोट थे। डा० एस० के० मुरन्जन (S K Muranjan) ने अपनी पुस्तक Shadows of Hyper Inflation में महान् स्फीति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है —'एक जोडी जूतों के फीतों का मूल्य एक जूते के पहले मूल्य से अधिक है—यही नहीं बल्कि किसी एक आधुनिक जूते की दुकान के दो हजार जोडों के मूल्य से भी अधिक, एक टूटी हुई खिडकी की मरम्मत पर पूरे मकान की पहली लागत से अधिक लगता है, एक पुस्तक का मूल्य एक मुद्रक के १०० छापेखानों के मूल्य से अधिक पडता है।'‡ (iii) लाभ स्फीति (Profit Inflation) —कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्पादन के साधनों का मूल्य तो पूर्ववत् रहता है, परन्तु इनकी कार्य क्षमता में वृद्धि हो जाने से, उत्पादन का परिमाण बहुत बढ जाता है जिससे उत्पादन में लाभ की मात्रा बढ जाती है। दूसरे शब्दों में, जबकि उत्पादन-व्यय घटता जाता है जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु सरकार कृत्रिम उपायों से मूल्यों को स्थिर रखती है, तब इस अवस्था को कीन्स (Keynes) ने लाभ-स्फीति (Profit Inflation) की दशा कहा है। यदि सरकार मूल्यों को कृत्रिम उपायों द्वारा स्थिर (Constant) नहीं रखती, तब वस्तुओं में मूल्य ह्रास अवश्य हो जाता। यद्यपि लाभ-स्फीति में उत्पादकों को अत्यधिक लाभ होता है, परन्तु इस लाभ का वितरण उत्पादन के अन्य साधनों में नहीं किया जाता है वरन् यह उत्पादकों द्वारा स्वयं हडप कर लिया जाता है। इसीलिये कीन्स ने इस अवस्था को लाभ-स्फीति कहा है। (iv) साख-स्फीति (Credit Inflation) —आवश्यकता पडने पर सरकार न केवल चलन की मात्रा में ही वृद्धि करती है वरन् वह साख में विस्तार को भी प्रोत्साहित करती है। सरकार द्वारा साख-विस्तार के कई

---

of 1914—18—One of the three brothers was very careful, and put all his fortune into Govt Stock the second spent most of his money in order to fill his wine cellar, the third went to a lunatic asylum before the war During the Inflation the first nearly starved because with all his careful hoarding he could not buy a square meal (*because the Value of the Government Securities had fallen to such an extent that nobody would purchase them at any price*) The second sold the bottles in his wine cellar for enough money to keep him in relative luxury (*this indicates how the Value of the ordinary commodities like wine bottles was sufficiently high in terms of paper Mark*) The third brother was released from his asylum and among his belongings that were handed back to him was a gold 20 Mark Piece Knowing nothing of the War and Inflation he handed this Coin to the Cab driver who brought him home The Cab driver bewildered drove him to a bank (as he had not enough Paper Marks with him to give change to the customer for the gold 20 Mark piece) There the third brother was offered so many million Paper Marks *in exchange for his Coin* that he decided he could not yet be cured and so went back sorrowfully to his asylum Quoted in Elements of Economics—N L Bhatnager, Page 280 End 4

‡ *Quoted from Dr Kashi Prashad Mathur & Prof B S Saxsena's book, Currency Banking and Finance Page 50*

A pair of shoe laces costs more, than a shoe had once cost—no more than a fashionable store with two thousand pairs of shoes had cost before to repair *a broken window more than the whole house had formerly cost a book more than* the printer's works with hundred presses —Dr S K Muranjan Shadows of Hyper Inflation

उद्देश्य हो सकते है—मुद्रा की क्रय-शक्ति को कम करके ऋणी वर्ग के ऋण के भार को कम करना, मूल्य-वृद्धि द्वारा कृषक-वर्ग की दयनीय व कष्टदायक दशा को दूर करना (क्योंकि वस्तुओं के मूल्य मे बहुत ह्रास हो गया है), देश की विकास योजनाओं के लिये पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध करना आदि। प्रायः सरकार बैंक दर (Bank Rate) को कम करके या अन्य कोई तरीका अपनाकर बैंक मुद्रा की मात्रा मे विस्तार को प्रोत्साहित कर देती है। अतः जब धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा का परिमाण लगभग पूर्ववत् रहते हुये, साख-मुद्रा (Credit Money) का प्रसार हो जाता है और वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य मे बहुत वृद्धि हो जाती है, तब इसे साख स्फीति (Credit Inflation) की दशा कहते हैं। (v) उत्पादन-स्फीति (Production Inflation)—जबकि किसी देश में मुद्रा-चलन में कोई कमी नहीं होते हुये भी उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप विनिमय के लिए वस्तुओं की कमी के कारण मूल्यो में वृद्धि हो जाती है, तब इस अवस्था को उत्पादन-स्फीति (Production Inflation) कहते हैं। उत्पादन की कमी के कई कारण हो सकते हैं—उत्पत्ति के साधनो की दुर्लभता, औद्योगिक झगड़े, प्राकृतिक विपत्ति, शिल्प-ज्ञान सम्बन्धी परिवर्तन (Technological Changes) क्योंकि ऐसे परिवर्तन कुछ समय के लिये उत्पादन को स्थगित करा देते है तथा सरकार की व्यापार व आयात-निर्यात नीति। यदि सरकारी नियन्त्रण से आयात मे बाधा पडती है तथा सरकारी नीति से वस्तुओं की निर्यात को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश में वस्तुओं का अभाव अनुभव होने लगता है, तब इस दशा मे भी उत्पादन-स्फीति की अवस्था उत्पन्न हो जायगी। (vi) मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति (Wage-Induced Inflation):—यदि किसी देश में श्रम-संघो के दबाव के कारण श्रम स्वामियों (Employers) को अधिक मजदूरियां देनी पड़ रही हैं परन्तु साथ ही साथ उत्पत्ति के न बढ़ने के कारण मूल्यों में वृद्धि होती जा रही है; तब इस अवस्था को मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति (Wage-Induced Inflation) कहते हैं। (vii) पूर्ण-स्फीति तथा आंशिक स्फीति (Full Inflation and Partial Inflation):—स्फीति में इस प्रकार का भेद प्रो० पीगू (Pigou) ने किया है। उनके मतानुसार साधारणतया मूल्यो के बढने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है, धनोत्पत्ति मे वृद्धि से शनैः-शनैः उत्पत्ति के साधनो को पूर्ण रोजगार (Full Employment) मिल जाता है। इस अवस्था में यदि मौद्रिक-आय (Money Income) में वृद्धि उत्पत्ति कार्यों (Money Earning Activities) की अपेक्षा अधिक तेजी से होती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों में तेजी से वृद्धि होती चली जाती है; तब पीगू ने इसे पूर्ण-स्फीति (Full Inflation) कहा है। परन्तु यह स्मरण रहे कि पूर्ण-स्फीति की दशा को पहुंचने से पहले भी, मौद्रिक-आय में वृद्धि उत्पत्ति-कार्यों में वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से हो सकती है (यहां पर पूर्ण रोजगार की अवस्था नहीं पाई जाती है), तब इस अवस्था को पीगू ने आंशिक-स्फीति (Partial Inflation) कहा है। (viii) खुली मुद्रा-स्फीति तथा छिपी हुई मुद्रा-स्फीति (Open Inflation and Suppressed Inflation)—यदि किसी देश में मौद्रिक-आय बढ़ने लगती है और

इसके व्यय करने पर कोई नियन्त्रण नहीं होता है जिससे वस्तुओं की मांग में वृद्धि से मूल्य में वृद्धि हो जाती है तब इसे खुली मुद्रा स्फीति (Open Inflation) कहते हैं। इसके विपरीत यदि किसी देश में मौद्रिक आय के बढ़ने पर इस आय के स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय करने पर नियन्त्रण लगा दिया जाता है, तब मूल्यों में वृद्धि नहीं होने पाती है और मनुष्य अपने पास नकद रुपये में या बैंकों में धन जमा करने लगते हैं तथा अपनी आय से अन्य सम्पत्ति खरीद कर भी रखने लगते हैं। इस अवस्था को छिपी हुई मुद्रा-स्फीति (Suppressed Inflation) कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव (Effects on the different Sections of the Society)—मुद्रा प्रसार या मुद्रा-संकुचन के समय प्रत्येक वस्तु का मूल्य न तो एक सा बढ़ता है और न प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक-सा ही गिरता है। यदि कुछ वस्तुओं का मूल्य गिरता है तब अन्य कुछ वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है, परन्तु देश के मूल्य-स्तर (Price Level) में एक ही दिशा में परिवर्तन होता है। मुद्रा स्फीति की दशा में मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है और मुद्रा-संकोच की स्थिति में मूल्य स्तर में घटत होती है। देश में संकलित किए जाने वाले निर्देशांकों (Index Numbers) से ही मूल्यों में परिवर्तन की दिशा का ज्ञान होने पाता है। जब मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है उस समय समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ा करते हैं। कीन्स (Keynes) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक A Tract on Monetary Reform में समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(i) विनियोगकर्ता (विनियोक्ता) (ii) व्यापारी या उत्पादक वर्ग, तथा (iii) श्रमिक या कर्मचारी वर्ग। परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए हम समाज को दो और वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(i) उपभोक्ता वर्ग तथा (ii) ऋणी वर्ग या ऋणदाता वर्ग। यह स्मरण रहे कि समाज के इन वर्गों को पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् पृथक् करना तो सम्भव नहीं है परन्तु फिर भी हम अध्ययन की सुविधा के लिए मुद्रा स्फीति से समाज के भिन्न भिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन पृथक्-पृथक् करेंगे। चूँकि एक व्यक्ति एक साथ ही विनियोगकर्ता तथा ऋणी भी या उत्पादक तथा श्रमी आदि हो सकता है तब यह सम्भव है कि मुद्रा प्रसार की अवस्था में उसे एक रूप में लाभ हो और दूसरे रूप में हानि हो। अतः मुद्रा स्फीति से समाज के विभिन्न वर्गों पर निम्न प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं—

(१) विनियोगकर्ता वर्ग पर प्रभाव (Effects on the Investors)—समाज में विनियोक्ता वर्ग वह वर्ग है जो उद्योग व व्यवसाय में रुपया का विनियोजन करता है और इस प्रकार से विनियोजित धन से समय-समय पर आय प्राप्त करता है। विनियोक्ता वर्ग दो भागों में बांटा जा सकता है—(क) निश्चित आय प्राप्त करने वाला विनियोक्ता—यह वह वर्ग है जिसमें विनियोगियों को सदैव एक पूर्व निर्धारित रकम मिलती है जैसे—कुछ विशेष प्रकार के शेयर्स (पूर्वाधिकार हिस्से) या डिबेंचर्स खरीदने

समय यह स्पष्ट हो गया था कि द्रव्य के मूल्य (Value of Money) और वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) में प्रतिकूल अथवा विपरीत (Inverse) सम्बन्ध होता है। जब मूल्य-स्तर घट जाता है (वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य कम हो जाता है), तब द्रव्य का मूल्य इसी अनुपात में बढ़ जाता है अर्थात् द्रव्य की क्रय-शक्ति में इसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है क्योंकि अब द्रव्य की प्रत्येक इकाई के बदले मे पहले से अधिक वस्तुयें और सेवायें खरीदी जा सकती हैं। मुद्रा की इस अवस्था को मुद्रा की मूल्य-वृद्धि (Appreciation) कहते है। इस मूल्य-वृद्धि का कारण या तो मन्दी काल (Depression Period) होता है या सरकार की जान-बूझकर अपनाई गई मुद्रा-संकुचन नीति होती है। अतः मुद्रा मूल्य-वृद्धि तथा मुद्रा-संकुचन में कोई अन्तर नही होता है क्योंकि दोनों मे मूल्य-स्तर कम हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि मुद्रा-संकुचन एक कारण होता है और इसका परिणाम मुद्रा की मूल्य-वृद्धि होता है।

(२) मूल्य-ह्रास (Depreciation):—जब मूल्य-स्तर ऊंचा हो जाता है (वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य बढ़ जाता है), तब द्रव्य का मूल्य इसी अनुपात मे कम हो जाता है अर्थात् द्रव्य की क्रय-शक्ति मे इसी अनुपात मे कमी हो जाती है, क्योंकि अब द्रव्य की एक इकाई के बदले में पहले से कम वस्तुयें व सेवायें खरीदी जा सकती हैं। मुद्रा की इस अवस्था को मुद्रा का मूल्य-ह्रास (Depreciation) कहते है। इस तरह मूल्य-ह्रास हमेशा मुद्रा की मूल्य-वृद्धि के विपरीत हुआ करता है। इस मूल्य-ह्रास का कारण या तो तेजी काल (Boom Period) होता है या सरकार की जान-बूझकर अपनाई गई मुद्रा-स्फीति की नीति होती है। अतः मूल्य-ह्रास और मुद्रा-स्फीति में कोई विशेष अन्तर नही होता है क्योंकि दोनों के उत्पन्न होने की परिस्थितिया एक-सी होती हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि मुद्रा-स्फीति एक कारण होता है और इसका परिणाम मुद्रा का मूल्य-ह्रास होता है।

(३) अवमूल्यन (Devaluation):—मुद्रा-अवमूल्यन का सम्बन्ध देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर से नही होता है। इसीलिये मुद्रा के अवमूल्यन के बाद भी द्रव्य की एक इकाई के बदले में उतनी ही वस्तुयें व सेवायें आती है जितनी कि अवमूल्यन से पहले आती थी। इस तरह अवमूल्यन का सम्बन्ध मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से नही वरन् इसके बाहरी मूल्य से होता है। यदि मुद्रा का आन्तरिक मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के रूप में नापा जाता है, तब मुद्रा का बाहरी मूल्य इसकी विदेशी विनिमय दर (Foreign Rate of Exchange) के रूप में नापा जाता है। अतः अवमूल्यन का अर्थ है मुद्रा का बाहरी मूल्य कम होना अर्थात् एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की पहले से कम मुद्रा का प्राप्त होना। यह स्मरण रहे कि अवमूल्यन में यह आवश्यक नही है कि विदेशी मुद्रा के रूप में मुद्रा का मूल्य कम हो जाने के साथ ही साथ चलन का आन्तरिक मूल्य भी कम हो जाय परन्तु यह अवश्य है कि अवमूल्यन हो जाने पर मुद्रा का मूल्य-ह्रास भी शनैः शनैः हो ही जाता है। अतः यद्यपि अवमूल्यन और मुद्रा के मूल्य-ह्रास दोनों मे ही

मुद्रा के मूल्य में कमी हो जाती है परन्तु अवमूल्यन में मुद्रा का विदेशी मूल्य कम होता है और मूल्य-ह्रास में मुद्रा का आन्तरिक मूल्य कम होता है। सितम्बर सन् १९४९ में सर्व प्रथम इङ्गलैंड ने पौंड का मूल्य डॉलर में कम किया था। इस अवमूल्यन के परिणामस्वरूप डॉलर में पौंड का मूल्य ३०.५% घटा दिया गया था। जब पौंड का अवमूल्यन हो गया, तब स्टर्लिङ्ग क्षेत्र (Sterling area) के लगभग सभी देशों ने अपनी मुद्रा का डॉलर में मूल्य गिरा दिया। इसीलिए भारत ने भी उसी समय डालर में रुपये का ३०.५% अवमूल्यन कर दिया जिससे रुपये का मूल्य ३० सैन्ट से घट कर केवल २१ सैन्ट रह गया। कनाडा ने यह अवमूल्यन केवल १०% ही किया था। पाकिस्तान ने तो सन् १९५५ तक अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के सम्बन्ध में आगे चलकर विस्तार में लिखा गया है।

अवमूल्यन के कई महत्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं:—**(क) प्रतिकूल व्यापारिक अन्तर का सुधार करना**—अवमूल्यन का यह मुख्य उद्देश्य है। जब कभी कोई देश यह अनुभव करता है कि उसके विदेशी व्यापार में सदा घाटा रहता है और वह इस घाटे को सरकारी व व्यक्तिगत हस्तक्षेप या अन्य उपायों द्वारा पूरा नहीं करने नहीं पाता है, तब वह मुद्रा का अवमूल्यन करके प्रतिकूल व्यापारिक अन्तर में सुधार कर देता है क्योंकि अवमूल्यन निर्यात को प्रोत्साहन देता है और आयात को कम कर देता है। **(ख) मुद्रा के अधिमूल्यन की त्रुटि में सुधार**—जब कभी कोई देश भूल से या अन्य किसी कारणवश अपनी मुद्रा को उचित से अधिक बाहरी मूल्य (Over-Valuation) देता है जिससे आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी होने लगती है, तब इस त्रुटि का सुधार मुद्रा का अवमूल्यन करके ही किया जाता है। **(ग) पूंजीगत वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन**—जब किसी देश को पूंजीगत वस्तुओं (Capital Goods) की निरन्तर आयात करनी पड़ती है, (चाहे वह माल उधार आये या भुगतान करके), तब इस सहायता को बराबर प्राप्त करते रहने के लिए यह आवश्यक होता है कि देश की मुद्रा का अवमूल्यन किया जाय ताकि इससे देश की निर्यात को प्रोत्साहन मिले। भारत और इङ्गलैंड ने सितम्बर १९४९ में अवमूल्यन इसी उद्देश्य से किया था। **(घ) उद्योगों को संरक्षण देने के लिए भी अवमूल्यन किया जाता है**—अवमूल्यन से देश में वस्तुओं की आयात हतोत्साहित हो जाती है क्योंकि अवमूल्यन से विदेशी वस्तुओं का मूल्य अधिक हो जाता है। परिणामतः घरेलू उद्योगों को संरक्षण (Protection) मिल जाता है।

भारत में मुद्रा-स्फीति
(Inflation in India)

प्राक्कथन—भारत में मुद्रा-स्फीति एक द्विपक्षीय समस्या रही है और आज भी इसका स्वभाव इसी प्रकार का है। एक ओर मुद्रा की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हुई है और दूसरी ओर नागरिकों के उपयोग के लिए वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति में कमी रही है। भारतीय मुद्रा-स्फीति को दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रथम, युद्ध कालीन

मुद्रा-स्फीति (War-time Inflation) और द्वितीय, युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति (Post-War Inflatoin)। भारत सरकार ने जुलाई १९४२ तक भारत में स्फीति की गम्भीरता को नहीं माना। यहां तक कि रिजर्व-बैंक के डायरेक्टर्स तक ने उस समय तक यह मानने को इन्कार कर दिया कि भारत में मुद्रा-स्फीति एक गम्भीर रूप में उपस्थित है। परन्तु प्रो० सी० एन० वकील (C. N. Vakil) ने जनवरी १९४३ में अपनी पुस्तक The Falling Rupee में तथा भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्याम दास बिरला (Ghanshyam Dass Birla) ने अप्रैल १९४३ में अपनी पुस्तिका Inflation or Scarcity में भारत में मुद्रा-स्फीति और इससे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की सत्यता पर बहुत जोर दिया और इस गम्भीर स्थिति में सुधार लाने के लिए सरकार का ध्यान आकर्षित किया। मार्च १९४४ में तो केन्द्रीय सरकार के वित्त-मन्त्री तक ने यह मान लिया कि देश में स्फीति ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। इन सब बातों ने अन्ततः केन्द्रीय सरकार तथा केन्द्रीय बैंक को विवश कर दिया कि वे इस समस्या का हल ढूंढें।

युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति
(War-Time Inflation)

<u>युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के कारण</u> (Causes of War-Time Inflation)—युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के अनेक कारण रहे हैं:—(i) **भारतीय सरकार द्वारा इंगलैंड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों (Allies) के लिये माल खरीदना:**—युद्ध के संचालन के लिए युद्धकाल में भारत सरकार ने इंगलैंड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों के लिये भारत में माल खरीदा और उन्हें भेज दिया। भारत को इस माल के बदले में स्वर्ण (Gold) या माल (Goods) मिलना चाहिए था, परन्तु इंगलैंड अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण न तो स्वर्ण दे सका और न माल ही भेज सका। भारत जो भी माल विदेशों को भेजता था, उसका मूल्य बैंक ऑफ इंगलैंड में भारत सरकार के खाते में जमा हो जाता था जिसके बदले में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज (Sterling Securities) मिल जाती थी। इस तरह भारत सरकार को जो स्टर्लिंग भुगतान में मिलता था वह इंगलैंड की सरकार को फिर से ऋण के रूप में दे दिया जाता था। युद्ध के अन्त तक भारत सरकार का इंगलैंड पर करीब १६०० करोड़ रुपये का ऋण हो गया। परन्तु जिन व्यापारियों से भारत सरकार माल लेती थी, उन्हें उनके माल का भुगतान करने के लिए सरकार ने रिजर्व बैंक से पत्र-मुद्रा ली और बैंक यह पत्र-मुद्रा स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटीज के आधार पर जारी किया करता था। इस तरह स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों (Securities) के इङ्गलैंड में बढ़ने के साथ ही साथ भारत में पत्र-मुद्रा में वृद्धि हो जाती थी। यह स्पष्ट है कि यदि भारत को स्वर्ण अथवा वस्तुयें बदले में मिलती, तब पत्र-मुद्रा की मात्रा में इतनी वृद्धि नहीं हो पाती। (ii) **मुद्रा की मात्रा में वृद्धि:**—युद्धकाल में भारतीय मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो गई, परन्तु इसी अनुपात में वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा में वृद्धि नहीं हो सकी। परिणामतः मुद्रा के

प्रसार मे जनता की क्रय शक्ति में तो वृद्धि हो गई, परन्तु वस्तुओ की पूर्ति में इसी अनुपात म वृद्धि न हो सकने के कारण मूल्य-स्तर (Price Level) म बहुत वृद्धि हो गई। जबकि अगस्त सन् १९३९में पत्र मुद्रा की मात्रा १७९ करोड रुपये थी और मूल्य निर्देशांक (Index Number) १०० था तब सन् १९४४-४५ में पत्र-मुद्रा १०८४ ८८ करोड[1] रुपये तथा मूल्य-निर्देशांक २४४ २ था[2]। सन् १९४८ मे पत्र-मुद्रा की मात्रा बढते बढते १३१० करोड रुपये हो गई। इसी प्रकार साख मुद्रा (Credit Money) भी १२६ करोड रुपये से बढकर ४४६ करोड रुपये हो गई। अत मुद्रा की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि के कारण देश म स्फीति की दशा उत्पन्न हो गई। (iii) **अनुकूल व्यापार का सन्तुलन** —युद्धकाल म भारतीय विदेशी व्यापार का सन्तुलन (Balance of Trade) भारत के अनुकूल (Favourable) रहा क्योंकि भारत से निर्यात तो अधिक हो रही थी परन्तु आयात कम थी। जबकि सन् १९३९—४० मे व्यापार का अनुकूल सतुलन १७ ९९ करोड रुपये था तब यह अगले छ वर्षों मे क्रमश ४८ ८१, ४१ ९९, ७९ ६०, ८४ २५, ९१ ३२ तथा २६ ०८ करोड रुपये था।[3] इस अनुकूल व्यापाराधिक्य के बदले भारत को या तो स्वर्ण या माल मिलना चाहिए था परन्तु ऐसा न हो सका वरन् इसके बदले मे भारत को स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज मिली और इनके आधार पर पत्र-मुद्रा का चलन बढता चला गया। (iv) **भारत सरकार के रक्षा व्यय मे वृद्धि** —भारत सरकार ने युद्धकाल म भी बहुत व्यय किया जिसके कारण भी देश म मुद्रा-प्रसार बढता ही गया। जबकि सन् १९३८-३९ म यह व्यय ४६ १८ करोड रुपये था, यह सन् १९४४-४५ मे बढकर ३९५ ४९ करोड रुपये हो गया। युद्धकाल म अकेले सुरक्षा पर लगभग १२०० करोड रुपया व्यय किया गया। इस व्यय को पूरा करने के लिये रिजर्व बैंक न स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज के आधार पर पत्र मुद्राए छापी। (v) **वस्तुओं का अभाव** —एक ओर तो पत्र मुद्रा म निरन्तर वृद्धि के कारण जनता के पास क्रय-शक्ति बढती गई और दूसरी ओर आवश्यकता की वस्तुओ का निर्यात युद्ध कार्यों के लिए होता रहा जिससे य भारतवासियो को पर्याप्त मात्रा म नही मिल सकी जिससे वस्तुओ की माग और पूर्ति का सतुलन नही होने से वस्तुओ म स्वल्पता (Scarcity) उत्पन्न हो गई और इनके मूल्य म अत्यधिक वृद्धि हो गई। खाद्यान्न की कमी ने तो एक भयकर रूप धारण कर लिया था। लडाई म पहले भारत को चीन बर्मा मलाया आदि स काफी चावल मिल जाता था परन्तु युद्धकाल म आयात बन्द हो जाने के कारण खाद्यान्न की कमी हो गई। यह कमी इस कारण भी हो गई क्योकि सरकार दक्षिणी अफ्रीका, लका तथा अन्य मध्य-पूर्व के युद्ध सेना को अनाज भेज रही थी। परिणामत खाद्य-पदार्थों के मूल्यो म अत्यधिक वृद्धि हो गइ। अत वस्तुओ की स्वल्पता के कारण भी मुद्रा-स्फीति की दशाए उत्पन्न हो गई। (vi) कोष विपत्रों या ट्रेजरी बिल्स के आधार पर

1—Report of the Reserve Bank of India on Currency and Finance for 1951 52

2—Economic Adviser s Index Number based on Controlled Prices Had they been constructed on the basis of Black Mark t Prices Index Number would have been 400

3—Report of the Reserve Bank of India on Currency and Finance for the respective years

पत्र-मुद्रा का चलन करना:— युद्धकाल में भारत सरकार ने न केवल स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज के आधार पर पत्र-मुद्रा के चलन में वृद्धि की वरन् उसने ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) के आधार पर भी मुद्राएं चलाईं। इस क्रिया को प्रो० सी० एन० वकील (C. N. Vakil) ने नग्न मुद्रा-स्फीति (Inflation in its naked form) कहा है। (vii) **सट्टे की प्रवृत्ति:**—युद्धकाल में सट्टे की प्रवृत्ति ने अकारण मूल्यों ही में अत्यधिक वृद्धि कर दी। वस्तुओं का संग्रहण (Hoarding) हो गया तथा चोर-बाजारी के कारण मूल्य-वृद्धि और भी अधिक हो गई। सरकार ने मूल्य-नियन्त्रण तथा वस्तु-वितरण की नीति अपनाई, परन्तु इससे मूल्यों में और भी वृद्धि हो गई।

युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय (Steps taken to put a check on the *War-Time Inflation*).—स्फीति के परिणामस्वरूप देश में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ़ते चले गये। यद्यपि सरकार ने युद्ध के आरम्भ होते ही ऐसे नियम बनाए जिनसे अनिवार्य वस्तुओं के मूल्य में १०% से अधिक वृद्धि नहीं होने पाये परन्तु इन नियमों से मूल्य-वृद्धि को नहीं रोका जा सका। चूंकि मूल्य-वृद्धि से जीवनोपार्जन का व्यय बढ़ जाता है, इसलिए उपभोक्ताओं, श्रमिक-संघों, समाज-सुधारकों, अर्थशास्त्रियों तथा उद्योगपतियों सभी ने इस बात की माग की कि मूल्यों में वृद्धि नहीं होनी चाहिए और इसमें रोक लगाना आवश्यक है। मूल्य-वृद्धि से शनैः शनैः समाज में चोर-बाजारी तथा सट्टेबाजी बढ़ गई और भ्रष्टाचार फैल जाने से नागरिकों का नैतिक पतन हो गया। सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को समझा और स्थिति में सुधार लाने के लिए अनेक उपाय किये, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं —(i) **नये-नये करों का लगाना:**—जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करने के लिये तथा मुद्रा को वापिस लेने, के लिए और युद्ध-व्यय की पूर्ति करने के लिए, सरकार ने नए-नए कर लगाए तथा पुराने करों में वृद्धि की। सन् १९४० में आय-कर (*Income Tax*) के साथ २५% अतिरिक्त-कर (Surcharge) लगाया गया। सन् १९४२ में अधिक लाभ-कर (Excess Profits Tax) को भी ५०% से बढ़ाकर ६६⅔% कर दिया गया तथा अतिरिक्त-कर भी २५% से बढ़ाकर ३३⅓% कर दिया गया। आय-कर में वृद्धि के अतिरिक्त दियासलाई, चीनी आदि पर लगे उत्पादन-कर (Excise Duty) में वृद्धि की गई। इस तरह जबकि सन् १९३९-४० में इन करों से प्राप्त होने वाली आय ८६.९२ करोड रुपये थी, सन् १९४५-४६ में यह रकम बढ़कर ३५३.७५ करोड रुपये हो गई। (ii) **ऋणों का लेना:**—केन्द्रीय सरकार ने अपने आप तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा ऋण प्राप्त करने के अनेकों प्रयत्न किये। डिफेंस सेविंग्स बैंक एकाऊंट (Defence Savings Bank Account) तथा नैशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट (National Savings Certificates) का प्रकाशन काफी बड़े पैमाने पर युद्धकाल में किया गया। (iii) **अनिवार्य बचत योजनायें:**—जनता के हाथ में क्रय-शक्ति को कम करने के लिए, सरकार ने अनिवार्य बचत के तरीके का भी प्रयोग किया। इस बचत पर २½% ब्याज मिलता था तथा रकम को युद्ध के एक वर्ष बाद लिया जा सकता था। सन् १९४३ में अतिरिक्त लाभ-कर (Excess Profits Tax)

का $\frac{1}{6}$ भाग अनिवार्य रूप से जमा करना पड़ता था और सन्-१९४४-४५ में यह बढ़ाकर $\frac{1}{6}\frac{1}{2}$ कर दिया गया। अतः अनिवार्य बचत योजना द्वारा सरकार ने व्यक्तिगत व्यय की मात्रा को कम कर दिया तथा व्यापारियों के अत्यधिक युद्धकालीन लाभों को गतिहीन बना दिया गया। (iv) सट्टेबाजी को बन्द करना —युद्धकाल में अनेक वस्तुओं के सट्टों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये, सोने-चाँदी के भविष्य के व्यापार पर रोक लगा दी गई। (v) मूल्य नियन्त्रण तथा उत्पादन के प्रयत्न —मूल्यों के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण सरकार को अनेक अनिवार्यताओं के मूल्य पर नियन्त्रण (Control) करना पड़ा तथा वस्तुओं के उचित तथा न्यायसंगत वितरण की भी व्यवस्था करनी पड़ी। दिसम्बर १९४२ से अन्न वितरण (Food Rationing) का प्रारम्भ किया गया। दूसरी ओर सरकार ने देश में अधिक अन्न उत्पन्न करने के लिए "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Campaign) की रचना की। अन्न के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिए भी सरकार ने हर प्रकार से मदद की। यहाँ तक कि नए उद्योगों को ५ वर्ष तक आय-कर से मुक्त कर दिया गया। (vi) स्वर्ण का बेचना —जनता के पास जो मुद्रा थी उसे खींचने के लिए केन्द्रीय बैंक ने स्वर्ण को भी बेचा। (vii) बजटों का सन्तुलन —केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने व्ययों को कम करके बजटों में सन्तुलन लाने का प्रयत्न किया। (viii) आयात नीति का ढीला करना —सरकार ने आयात नीति को भी ढीला करके वस्तुओं की आयात को प्रोत्साहन दिया ताकि देश में उपभोग-पदार्थों का अभाव मिट जाये।

युद्धोत्तर-काल में मुद्रा-स्फीति
(Inflation in the Post-War Period)

प्राक्कथन —युद्ध समाप्त हो जाने पर यह आशा की जाती थी कि वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम हो जायगा तथा इनका अभाव भी नहीं रहेगा। परन्तु आशा के विपरीत देश में शनैः शनैः वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती गई। जबकि अगस्त १९४५ में (युद्ध के समाप्त होने पर) आर्थिक-सलाहकार का निर्देशांक २४४.१ था यह धीरे-धीरे बढ़कर मार्च सन् १९४८ में ४०२.४ हो गया।

युद्धोत्तर काल में मुद्रा प्रसार के कारण (Causes of Inflation in Post War Period) —इसके कई महत्वपूर्ण कारण हैं —(i) मुद्रा का प्रसार —युद्धोत्तर काल में भी भारत सरकार को इङ्गलैण्ड की सरकार के लिए भारत में रुपया व्यय करना पड़ा जिससे रिजर्व बैंक को अधिकाधिक मात्रा में पत्र मुद्रा का चलन करना पड़ा क्योंकि इङ्गलैण्ड ने रकम भुगतान अब भी पहले की तरह स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटीज में किया (यह भुगतान स्टर्लिङ्ग में जून १९४६ तक किया गया)। इस तरह जून १९४६ के बाद जो भी पत्र मुद्रा प्रसार किया गया वह स्टर्लिङ्ग के आधार पर नहीं वरन् भारत सरकार ने अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी निजी प्रतिभूतियों (Securities) पर किया। जबकि सन् १९४५-४६ में लगभग १२१८ करोड़ रुपये की पत्र मुद्रा चलन में थी, यह रकम सन् १९४७-४८ में बढ़कर करीब १३१० करोड़ रुपए हो गई। (ii) बजटों में घाटा —

युद्धोत्तर काल में दोनों केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के बजट घाटे के बजट रहे। अगस्त १९४७ से तो केन्द्रीय बजट मे यह घाटा और भी अधिक हो गया क्योंकि (१९५० में) सरकार को शरणार्थियों के बसाने, काश्मीर-युद्ध, कोरिया का युद्ध, हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही, भारतीय दूतावासो पर तथा अन्न व अन्य कच्ची-सामग्री के क्रय मे बहुत व्यय करना पड़ा। बजट के घाटे की पूर्ति करने के लिए सरकार ने केंद्रीय बैंक से सहायता ली और पत्र-मुद्रा के चलन में वृद्धि कर दी गई। (iii) **वस्तुओं के मूल्य तथा वितरण का विनियन्त्रण**:—युद्ध के बाद देश में वस्तुओ के मूल्य तथा वितरण पर विनियंत्रण (Decontrol) की माग की गई। महात्मा गाधी ने सचय-कर्त्ताओं (Hoarders) तथा मुनाफाखोरों (Profiteers) पर बहुत भरोसा किया और उन्हें यह आशा थी कि विनियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था मे व्यापारी अपने तमाम स्टॉक बाजार मे ले आयेंगे जिससे मूल्यों में कमी हो जायगी। इसीलिये उन्होंने भी नियन्त्रणों को हटा देने की सिफारिश की। इस माग मे फलस्वरूप दिसम्बर १९४७ में अन्न पर से नियन्त्रण हटा लिये गये। परिणामतः वस्तुओ के मूल्यो में वृद्धि हो गई। जबकि दिसम्बर १९४७ मे निर्देशांक ३२१ था, यह बढ़ता-बढता अगस्त १९४८ में ३६८ हो गया। इसीलिए अक्टूबर १९४८ में सरकार को फिर नियन्त्रण लगाने पड़े। कुछ समय बाद फिर विनियन्त्रण की नीति अपना ली गई थी। (iv) **अन्न का अभाव**.—भारत के विभाजन के पश्चात् देश में भारी अन्न संकट पड़ा। गेहू व चावल उत्पन्न करने वाला काफी प्रदेश पाकिस्तान के पास चला गया जिससे भारत को विदेशों से अन्न का आयात करना पड़ा। अन्न का अभाव एक और कारण से भी हुआ। किसानो की मुद्रा आय बढ़ जाने से, उन्होने कृषि उपज की बिक्री नही की या यह बहुत कम माना में की जिससे कृषि वस्तुओं के मूल्य में बहुत वृद्धि हो गई। (v) **उत्पादन में कमी**:—एक तरफ तो नागरिको की उपभोग वस्तुओ की माग बढी और दूसरी तरफ इनका अभाव बना रहा क्योंकि देश मे उत्पादन कोई विशेष मात्रा मे नही बढ़ सका। जबकि कृषि-उत्पादन निर्देशाक सन् १९४५–४६ मे ९४ था, तब यह सन् १९४७-४८ मे ९० था, इसी तरह इन दोनो वर्षों का औद्योगिक उत्पादन निर्देशाक क्रमश. १२० तथा १०५'३ था। औद्योगिक वस्तुओ की उत्पत्ति कम हो जाने से (क्योंकि कच्ची-सामग्री की कमी रही, हड़तालो ने उत्पादन में रुकावट डाली, विनियोग के लिये पूँजी का अभाव रहा आदि) इनके मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि हो गई। (vi) **सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय**:—केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे सरकारी सिक्यूरिटीज का क्रय-विक्रय करता था जिससे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो गई। (vii) **ऋण और बचत**—युद्धोत्तर काल में सरकार ऋण लेने तथा अपने व्यय मे बचत करने मे बहुत सफल नही हो सकी जिससे भी स्फीति की दशाएं उत्पन्न हो गईं।

युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति के प्रभाव (Effects of Post-war Inflation).—मुद्रा-स्फीति के प्रभाव चाहे युद्ध हो या युद्धोत्तर काल हो दोनों में लगभग समान ही होते है। स्फीति से मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है, युद्धोत्तर काल में भी ऐसा ही हुआ। मूल्य-

वृद्धि से उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। युद्धोत्तर काल में आरम्भ में धनोत्पत्ति में वृद्धि हुई परन्तु उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो जाने के कारण, कुछ समय बाद, उत्पत्ति की मात्रा में कमी हो गई। एक तरफ मूल्य-वृद्धि के कारण और दूसरी तरफ वस्तुओं की मात्रा में कमी के कारण निश्चित आय वर्ग और विशेषकर श्रमिक वर्ग को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। श्रमिकों ने हड़तालें की और अपनी मजदूरी तथा महंगाई भत्ता बढ़वाने का प्रयत्न किया और अन्तत इनमें वृद्धि हुई जिससे वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य और अधिक हो गया। परिणामत निश्चित आय वर्ग और मुख्यत समाज के मध्यम वर्ग का जीवन-स्तर और भी अधिक कम हो गया। इनकी दशा वास्तव में दयनीय हो गई। यह एक महत्वपूर्ण-युद्धकालीन अनुभव है कि मूल्य-वृद्धि के कारण उत्पादक व व्यापारी वस्तुओं का संग्रह (Hoarding) करने लगते हैं जिससे चोर-बाजारी को प्रोत्साहन मिलने लगता है।

परन्तु युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के प्रभावों में और युद्धोत्तर काल में मुद्रा-स्फीति के प्रभावों में एक महत्वपूर्ण भेद रहा है। युद्धकाल में मूल्य-वृद्धि के कारण व्यापारियों, कृषकों तथा उद्योगपतियों को अत्यधिक लाभ हुआ, न केवल यह लाभ उत्पादन-व्यय और बिक्री-मूल्य में बहुत अधिक अन्तर हो जाने के कारण हुआ वरन् यह चोर-बाजारी (Black Marketing) तथा संग्रहण (Hoarding) के कारण भी अधिक हुआ। इस काल में उद्योगपतियों की तुलना में कृषकों को कम लाभ हुआ क्योंकि कृषि पदार्थों में नियन्त्रित-मूल्य तथा नियन्त्रित-वितरण की व्यवस्था बहुत कड़ाई से व्यवस्थित की गई थी। परन्तु युद्धोत्तर काल में इस स्थिति में भिन्नता है। इस काल में उद्योगपतियों को कम लाभ हुए हैं (युद्धकाल की तुलना में) क्योंकि एक तरफ तो कच्ची सामग्री का मूल्य बढ़ गया है और दूसरी तरफ हड़तालों के कारण उत्पादन भी कम हुआ है तथा मजदूरी भी अधिक देनी पड़ी है। इसके विपरीत कृषकों को (युद्धकाल की तुलना में) बहुत अधिक लाभ हुए हैं क्योंकि नियन्त्रित मूल्य व नियन्त्रित वितरण की व्यवस्था के हट जाने से खाद्य-पदार्थों के मूल्यों में बहुत वृद्धि हुई है।

<u>युद्धोत्तर काल में स्फीति को रोकने के उपाय</u> (Steps taken to put a check on the Post-war Inflation)—युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी मूल्यों में वृद्धि होती ही चली गई और अन्तत सन् १९४८ तक स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई। इस बढ़ती हुई गम्भीर स्थिति को रोकने के लिये सरकार ने अक्तूबर सन् १९४८ में एक योजना बनाई। इसके अतिरिक्त सरकार ने अन्य कितने ही कार्य किये जिनसे स्थिति काबू में आ गई। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(1) **भारतीय अर्थशास्त्रियों के सुझाव**—जब सरकार ने विवश होकर भारतीय अर्थशास्त्रियों से समस्या को हल करने के लिये सुझाव मांगा तब इन्होंने जो सुझाव दिये वे इस प्रकार हैं—(क) सरकारी व्यय को कम किया जाये, (ख) फालतू कर्मचारियों को हटाया जाय, (ग) सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी व्यय कम किया जाय, (घ) रक्षा-व्यय में मितव्ययिता की जाय, (ङ) जमींदारी उन्मूलन, शराब बन्दी आदि योजनाओं में शिथिलता लाई जाय, (च) आय कर की बकाया को वसूल करने का प्रयत्न किया जाय तथा इस कर की दर में वृद्धि की जाय,

(छ) छोटी बचतो को प्रोत्साहन दिया जाय आदि। इन सुझावो को सरकार ने मान लिया और इन्ही के आधार पर सरकार ने एक योजना बनाई और इसे कार्यान्वित किया। (ii) राजकीय नियन्त्रण—देश मे कृषि वस्तुओं के उचित वितरण की योजना का सितम्बर १९४८ मे दुबारा श्रीगणेश किया गया, यद्यपि इसमे युद्धकालीन कड़ाई नहीं थी। सरकार ने खाद्यान्नो के मूल्य को एक निश्चित सीमा से ऊपर न बढने देने की योजना कार्यान्वित की। इसी कारण गेहूं की भी काफी आयात की गई। कृषि-पदार्थों के अतिरिक्त अन्य औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य पर भी नियन्त्रण तथा इनके वितरण पर भी नियन्त्रण किया गया। ताकि आन्तरिक और बाहरी मूल्यों मे विषमता नही रहे और स्फीति के प्रभाव कम हो जाये, इसलिए सरकार द्वारा अनेक वस्तुओं,जिन वस्तुओ पर कर नही थे, पर-नये नये निर्यात-कर लगाये गये। इन प्रयत्नों से मूल्य स्तर में कुछ स्थिरता आ गई परन्तु यह बहुत समय तक नही रह सकी। एक लाभांश मर्यादाकरण एक्ट (Dividend Limitation Act) पास हुआ जिसके अनुसार लाभांश ६% से अधिक नही हो सकता था। (iii) बचत को प्रोत्साहन—देशमे औद्योगिक पूञ्जी को बढ़ाने के लिये देश मे बचत को प्रोत्साहन दिया गया। अगस्त १९४९ से अनिवार्य बचत योजना को कार्यान्वित किया गया। गावो से धन खीचने के लिये डाकखाने के सेविंग्स बैंक खातों (Savings Banks Accounts) का गावो मे प्रचार किया गया और आज भी यह प्रयत्न जारी है। (iv) उत्पादन को प्रोत्साहन– कृषि तथा उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक प्रयत्न किये गए। कृषको अच्छा खाद, अच्छा बीज, कम ब्याज पर तकावी ऋण आदि दिये गए। नये कारखानों को पाँच साल तक आय-कर से मुक्त कर दिया गया, कच्ची सामग्री तथा मशीनरी की आयात पर आयात-कर कम कर दिया गया तथा उद्योगों को पर्याप्त मात्रा मे पूञ्जी देने के लिए एक इण्डस्ट्रियल फाईनैंस कॉरपोरेशन की स्थापना की गई आदि। (v) बचत वाले बजट—स्फीति को कम करने के लिये सरकार ने बचत वाले बजट बनाये। इस प्रकार बजट के घाटों को नये-नये करो द्वारा पूरा किया। अकेले सन् १९५१-५२ मे बजट मे ९२'६१ करोड रुपये की बचत रक्खी गई। (vi) बैंकिंग सम्बन्धी उपाय—सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट के अनुसार हरएक बैंक के लिये उसकी कुल जमा का २५% भाग सरकारी सिक्यूरिटीज मे रखना अनिवार्य कर दिया गया है। बीमा कम्पनियो के लिए भी ऐसा ही नियम था। परिणामतः चलन की मात्रा कुछ कम हो गई। इसके अतिरिक्त नवम्बर सन् १९५१ मे बैंक दर (Bank Rate) ३ से ३½% कर दी गई। इस वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि साख का सकुचन हो गया। बैंक दर मे वृद्धि से कई वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुए। इसी के कारण मार्च सन् १९५२ मे सोने-चादी के मूल्य कम हो गये। इसी प्रकार बाजार में लगभग सब ही वस्तुओ (कपास, चीनी, मसाले आदि) के थोक मूल्य गिर गये।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१ मुद्रा के मूल्य-परिवतन से समाज पर क्या प्रभाव पड़ते है? इस पर प्रकाश

डालें। (१९६०) २ मुद्रा प्रसार पर नोट लिखिये। (१९५८ S) ३ मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन मे क्या अन्तर है स्पष्ट कीजिये। देश की आर्थिक उन्नति के लिये किन परिस्थितियो म मुद्रा प्रसार लाभदायक हो सकता है, समझाइये। (१९५८) ४ द्रव्य का कीमत मे उतार चढाव का सामाजिक व आर्थिक दशा पर क्या-क्या असर होगा? समझाकर लिखिये। (१९५७ S) ५ द्रव्य के मूल्य मे परिवर्तनो का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पडता है और यह परिवर्तन अधिक सामाजिक महत्व रखते हैं। व्याख्या कीजिये। (१९५७) 6 Describe the evils of Inflation and Deflation and examine the remedies for both the situations (1956 S) 7 Write a short note on--Inflation (1956 S, 1955) 8 Distinguish clearly between Inflation and Deflation Show how inflation can be checked (1956) 9 Write a note on—Deflation (1955 S) 10 The note issue as means of raising funds for emergencies has come to occupy a definite pl ace in a public finance but it is admittedly the worst means and one that is fraught with serious dangers" Discuss the statement and outline the adverse economic effects of the over issue of paper currency (1954)

Agra University B Com

१ मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव समाज पर क्या पडता है? (१९६०) २ मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं? किन परिस्थितियो म और किस सीमा तक उस उचित माना जा सकता है? (१९६६ S) ३ अपने देश मे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा-स्फीति के कारणो का विवेचन करिये। राज्य द्वारा किये गये उसके नियन्त्रण के उपायो का संक्षिप्त वर्णन करिये। (१९५९) 4 Describe briefly the effects of changes in the value of money on (a) agriculturists (b) salaried persons and (c) creditors (1957 S) 5 Explain the difference between—Deflation of currency (1957) 6 Discuss the evils of currency inflation on the different classes of people ina country with special reference to the Post War Period (1955) 7 Explain clearly the meaning of inflation and deflation and describe their effects on different sections of the people in the country (1955 S) 8 Discuss the advantages and dangers of paper money How can its over issue be checked? (1955)

Rajputana University, B A. &. B Sc.

1 Discuss the economic effects of Inflation and Deflation of currency (1957) 2 Distinguish clearly between--Inflation and Deflation (1956) 3 What is Inflation? How does inflation effect the mill owners cultivators and labourers? How can the evil effects of inflat ons be reduced? (1954)

Rajputana University, B Com

1 Discuss the measures adopted by the Govt of Ind a for com bating inflation (मुद्रा प्रसार) in this country (1959) 2 Money which is a source of many blessings to mankind becomes also unless we can control it a source of peril and confusion Comment (1957) 3 Infla tion (मुद्रा-स्फीति) is unjust and deflation (विस्फीति और संकुचन) is inexpedient Of the two perhaps deflation is the worst, Elucidate

(1957, 1955) 3. Give a critical estimate of the different methods of controlling paper money in India. (1956)

Sagar University, B. A.

1. What is meant by Inflation of currency ? What are its dangers and how can they be combated ? (1958) २. "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिये। (१९५७)

Sagar University, B. Com.

१. टिप्पणी लिखिए—मुद्रा-संकुचन-सुधार (Reflation) (१९५६) २. "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-संकोच अनुपयुक्त है। इन दोनों में आपस में शायद मुद्रा-संकोच सबसे बुरा है।" इस उक्ति का विवेचन कीजिये। (१९५८) २. लगातार बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के दुष्परिणामों को स्पष्ट कीजिये। बढ़ते हुए मूल्य-स्तर को स्थिर करने के लिये आप क्या सुझाव देंगे ? (१९५७) ३. नोट लिखिये—संस्फीति (Reflation) (१९५७)

Jabalpur University, B. A.

१. मुद्रा-स्फीति (Inflation) की परिभाषा कीजिए, और बतलाइये कि इसके आर्थिक परिणाम क्या हैं। (१९५८)

Jabalpur university, B. Com.

१. मुद्रा-स्फीति की स्पष्ट व्याख्या कीजिये। उसके संकेत चिन्ह और परिणाम क्या हैं, भारत की वर्तमान मुद्रा-स्फीति के कारणों पर प्रकाश डालिए। (१९५८) २. "मुद्रा स्फीति अनुचित है और मुद्रा-अपस्फीति अयोग्य है। इन दोनों में सम्भवतः अपस्फीति अधिक बुरी है।" इस कथन का विवेचन कीजिये। (१९५८) ३. नोट लिखिये—संस्फीति और उसके परिणाम। (१९५८) ४. मूल्य स्थैर्य की वास्तविक समस्या क्या है ? क्या मूल्य-स्थैर्य वांछनीय है अथवा क्या यह प्राप्तव्य (attainable) है ? अपने उत्तर के लिये स्पष्ट कारण दीजिये। (१९५८)

Vikram University, B. A. & B. Sc.

१. टिप्पणी लिखिये—मुद्रा-अपस्फीतिकरण (Disinflation) (१९५६)

Gorakhpur University, B. Com.

1. " Inflation is unjust and Deflation, inexpedient. Of the two perhaps Deflation is the worst." Discuss this and explain the defects of the three. (Pt. II. 1959) 2. Discuss the economic and social effects of changes in the value of money. Is it possible to minimise these changes ? If so how ? (Pt. I. 1959)

Banaras University, B. Com.

1. Define Inflation What are its consequences and remedies ? (1959).

Allahabad University, B. A.

१. मुद्रा-प्रसार क्या है ? भारत मे मुद्रा-प्रसार किस प्रकार सफलतापूर्वक नियन्त्रित किया जा सकता है ? (१९५७) २. मुद्रा-स्फीति की परिभाषा दीजिये। इसके आर्थिक प्रभावों की व्याख्या कीजिये। (१९५६) 1. What is inflation ? Analyse the

effects of war time inflation on Indian agriculture. (1954)

Allahabad University, B. Com.

1. *Discuss the economic and social effects of changes in the value* of money (1957) 2. Write a note on—Deflation (1957) 3 "Inflation is unjust and deflation is inexpedient of the two, perhaps deflation is worse" Examine critically this statement in the light of conditions existing during World War II. and the post war period in India (1956)

Bihar University, B. A.

1 Discuss why inflation is regarded as the worst form of taxation (1959) 2 What are the effects of inflation ? How can inflation be controlled (1958)

Bihar University, B. Com.

1 Mention the causes that bring about fluctuations in the value of money What steps would you suggest to minimise these fluctua*tions ?* (1959)

Patna University, B. A.

1 'Deficit financing leads to inflation' Discuss How can you control inflation ? (1957)

Nagpur University, B. A.

१ चलार्थ-स्फीति (Inflation of Currency) और चलार्थ-अपस्फीति (Deflation of Currency) इसमें भेद दिखलाइये और इनमें से प्रत्येक के आर्थिक परिणामों का वर्णन कीजिये। (१९५७) २ देश की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों पर मुद्रा की क्रय-शक्ति (Purchasing Power of Money) में होने वाले परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९५६)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ —(i) मुद्रा प्रसार व मुद्रा-संकुचन में क्या अन्तर है, स्पष्ट कीजिये। देश की आर्थिक उन्नति के लिये किन परिस्थितियों में मुद्रा प्रसार लाभदायक हो सकता है, समझाइये (Agra B A १९५८) (ii) मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं ? किन परिस्थितियों में और किस सीमा तक उसे उचित माना जा सकता है? (Agra, B Com. १९५८ S) (iii) मुद्रा स्फीति के संकेत-चिन्ह क्या हैं ? (Jabb B Com १९५८)।

संकेत —उत्तर के प्रथम भाग में मुद्रा-प्रसार व मुद्रा संकुचन के अर्थ बताइये और इन के भेद स्पष्ट कीजिये—मुद्रा प्रसार वह स्थिति है जिसमें मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जाती है और मूल्य-स्तर में सामान्य रूप से वृद्धि हो जाती है कैमरर, पीगू जैसे एक-दो अर्थशास्त्रियों की मुद्रा-स्फीति की परिभाषायें देकर उनका अर्थ उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। एक पैरा में संक्षेप में वे कारण दीजिये जिनमें स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जैसे मुद्रा का प्रसार, साख का प्रसार, वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में कमी आदि। इसी तरह मुद्रा-संकुचन का अर्थ बताइये—यह वह स्थिति है

जिसमें देश में मुद्रा की मात्रा उसकी माँग की अपेक्षा बहुत कम होती है और मूल्य-स्तर में सामान्य रूप से कमी हो जाती है। पीगू आदि अर्थशास्त्रियों की परिभाषायें देकर मुद्रा-संकुचन का अर्थ उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। संक्षेप मे एक पैरे में वे कारण बताइये जिन से मुद्रा-सकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जैसे—धातुमान में धातु की *कमी होना, चलन की मात्रा कम करना, करारोपण व ऋण लेने की नीति, केन्द्रीय* बैंक की साख नियंत्रण नीति आदि। उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन एक दूसरे की विरोधी स्थितियां है (तीन पृष्ठ)। द्वितीय भाग उन परिस्थितियो को बताइये जिन में मुद्रा-स्फीति न्यायोचित एवं लाभदायक है—दो चार वाक्यों में यह स्पष्ट कीजिये कि मुद्रा-प्रसार के अनेक दोष हैं और इन्हे बताकर सिद्ध कीजिये कि इन दोषो के होते हुये भी देश की आर्थिक उन्नति के लिये कभी-कभी मुद्रा-प्रसार बहुत महत्वपूर्ण होता है। उन परिस्थितियो को बताइये जब कि मुद्रा-प्रसार लाभदायक होता है—जब सरकार आर्थिक विकास की नई-नई योजनायें कार्यान्वित कर रही हो जिनसे देश के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो जाने की सम्भावना हो और सरकार के पास इन भारी-व्यय वाली योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध नही हो (सरकार अपने सामान्य साधनो से इन योजनाओं को कार्यान्वित न करने पा रही हो), तब इस स्थिति मे सरकार को मुद्रा-प्रसार साधन का सहारा लेना पड़ता है (इसे घाटे की वित्त-व्यवस्था भी कहते है)। यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था, से प्राप्त साधनो को राष्ट्र-*निर्माण व धनोत्पत्ति एव विकास के कार्यों मे उचित रूप से प्रयोग मे लाया जा रहा है,* तब मुद्रा-प्रसार बहुत उपयोगी व लाभदायक सिद्ध होगा और यह न्यायोचित व उचित भी माना जायगा। यद्यपि मुद्रा-प्रसार से आरम्भ मे मूल्य-वृद्धि हो जायगी परन्तु शनैः शनैः उत्पादन मे वृद्धि हो जाने पर मुद्रा-प्रसार का यह दोष स्वतः दूर हो जायगा। परन्तु *यदि मुद्रा-प्रसार से प्राप्त साधनों का उपयोग विकास-कार्यों मे अनुचित ढग से हो रहा* है अथवा ये अनुत्पादक कार्यों मे व्यय किये जा रहे हैं, तब लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहेगी। अतः विकास कार्यों के लिये मुद्रा-प्रसार की नीति खतरनाक सिद्ध हो सकती है। सक्षेप मे, मुद्रा-प्रसार उसी सीमा तक उचित है जब तक कि इस नीति से प्राप्त साधनो *का उपयोग विकास कार्यों पर उचित ढंग से किया जाता है* (दो-ढाई पृष्ठों मे उदाहरण सहित लिखिये)।

प्रश्न २:— (i) "द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है और यह परिवर्तन अधिक सामाजिक महत्व रखते हैं।" व्याख्या कीजिये (Agra, B A १९५७), (ii) द्रव्य की कीमत में उतार-चढ़ाव का सामाजिक व आर्थिक दशा पर क्या-क्या असर होगा ? समझाकर लिखिये (Agra, B A. १९५७ Gorakh B Com १९५६, Allahabad B. Com १९५७), (iii) लगातार बढ़ते हुये मूल्य-स्तर के दुष्परिणामों को स्पष्ट कीजिये। बढ़ते हुये मूल्य-स्तर को स्थिर करने के लिये *(या मुद्रा-स्फीति की स्थिति का मुकाबला करने के लिये)* आप क्या सुझाव देंगे ? (Sagar, B. Com. १९५७), (vi) मुद्रा-स्फीति की परिभाषा कीजिये, और बतलाइये कि

इसके आर्थिक परिणाम क्या हैं, (Allahabad B A १९५६, Jabb B. A. १९५८, Nagpur B. A. १९५७) (vi) देश की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों पर मुद्रा की क्रय शक्ति मे होने वाले परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है? (Nagpur, B A १९५६, Agra, B. Com १९५६, १९५७)।

सकेत —उक्त प्रश्नो मे दो बातें पूँछी गई हैं—द्रव्य के मूल्य मे परिवर्तन के क्या-क्या आर्थिक (इसमे उत्पादन तथा वितरण अथवा समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव भी सम्मिलित हैं) व सामाजिक प्रभाव हैं तथा बढते हुये मूल्य-स्तर को स्थिर करने (या मुद्रा-स्फीति की स्थिति का मुकाबला करने) के लिये क्या-क्या सुझाव हैं? आरम्भ मे मुद्रा स्फीति का अर्थ (किसी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री की परिभाषा भी दीजिये) लिखिये (आधा पृष्ठ) और फिर इसके समाज के विभिन्न वर्गों पर पडने वाले प्रभावो को बताइये—व्यापारी वर्ग, निश्चित आय वाला वर्ग, उपभोक्ता वर्ग, श्रमिक वर्ग, ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग। यदि प्रश्न मे केवल यह पूँछा गया है कि मुद्रा-स्फीति से देश के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पडते हैं, तब तो केवल विभिन्न वर्गों पर पडने वाले आर्थिक व सामाजिक प्रभावो को ही लिखना चाहिये, परन्तु यदि प्रश्न में मुद्रा-स्फीति के आर्थिक प्रभाव पूँछे गये हैं, तब विभिन्न वर्गों पर पडने वाले प्रभावो के अतिरिक्त अन्य आर्थिक प्रभावो को भी लिखना चाहिये, जैसे—करो व ऋणो मे वृद्धि हो जाती है, बैंकिंग व बीमे-कार्यों का विकास होता है, देश मे नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली का निर्माण होता है, देश की सुरक्षा के लिये सरकार को पर्याप्त मात्रा मे धन मिल जाता है आदि। सक्षेप मे, मुद्रा-स्फीति के सामाजिक प्रभावो को भी लिखना चाहिये, जैसे—चूँकि मुद्रा प्रसार से समाज मे धन का पुनर्वितरण होता है, यह 'अ' को लूटकर 'ब' को देता है, इस लूट मार में व्यक्ति के गुण-दोषो का यह विचार नही करता, इसलिये ऐसे व्यक्ति जिन्होंने बडे परिश्रम से धन कमाया है जब वे भी लूटे जाते हैं तब वे सरकार के प्रति विद्रोह करते हैं और इनका सरकार मे से विश्वास उठ जाता है। इनके अतिरिक्त स्फीति काल में चूँकि व्यापारियो व उत्पादको को अत्यधिक लाभ होता है, इसलिये वे और भी अधिक मात्रा मे लाभ प्राप्त करने के लिये अनैतिक कार्य करने लगते हैं, जैसे—चोर बाजारी करना, नियन्त्रित-मूल्य से अधिक मूल्य लेना, वस्तुओ में मिलावट करना आदि। यह भ्रष्टाचार व अनैतिकता व्यापारियो तक ही सीमित नही रहती वरन् इसका प्रभाव सरकारी कर्मचारियो तक पर पडता है (चार पाच पृष्ठ)? द्वितीय भाग मे उन उपायो को बताइये जिनसे बढते हुये मूल्यो के काल म मूल्य में स्थिरता आ सके अथवा मुद्रा स्फीति की दशाओ का मुकाबला किया जा सके, जैसे—मुद्रा की मात्रा कम करना, अथवा नई किस्म की मुद्रा का चलन करना, करो में वृद्धि, बैंक दर मे वृद्धि अथवा खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा साख नियत्रण करना, मूल्य नियत्रण व राशनिंग करना, उत्पादन प्रोत्साहित करना (सरकार को भी स्वय उत्पत्ति कार्य करना चाहिये) आयात का प्रोत्साहन व निर्यात हतोत्साहित करना, सन्तुलित बजट बनाना, बचत को प्रोत्साहित करना आदि (दो पृष्ठ)।

प्रश्न ३ —(i) मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-सकोच अनुपयुक्त है। इन दोनों मे आपस मे शायद मुद्रा-सकोच सबसे बुरा है।" इस उक्ति का विवेचन कीजिये

Sagar, B Com १६५८, Raj. B. Com. १६५७, १६५५, Jabb. B. Com. १६५८. Gorakh B. Com. १६५६), (ii) "Inflation is unjust and Deflation is inexpedient. Of the two, perhaps, Deflation is worse." Examine critically this statement in the light of conditions existing during world war II and the post-war period in India. (Allahabad, B. Com. 1956)

संकेत:—उत्तर में सर्वप्रथम मुद्रा-स्फीति का अर्थ बताइये—केमरा, पीगू आदि की परिभाषायें दीजिये और उनकी व्याख्या कीजिये (आधा पृष्ठ) और बताइये कि मुद्रा-स्फीति की दशा में मुद्रा के मूल्य में बहुत कमी हो जाती है अथवा मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है। मूल्य-परिवर्तन के इन प्रभावों को इस प्रकार बताइये कि यह सिद्ध हो जाय कि मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण (Unjust) है। स्फीति का समाज पर प्रभाव दो क्रियाओं द्वारा पड़ता है— धन का वितरण व धन का उत्पादन। धन का ऐसा पुनर्वितरण हो जाता है कि इसके समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं:— (i) विनियोजन-कर्ता वर्ग—मुद्रा-स्फीति से इस वर्ग को होने वाली हानि उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये, कि विनियोजन करने के लिये जो बचत की जाती है, उस बचत का मूल्य कम हो जाता है, जो लोग सरकारी प्रतिभूतियों व डिबेन्चर्स आदि में धन का विनियोग करते हैं, उनकी आय कम हो जाती है, एक ओर विनियोग-कर्ताओं की आय कम हो जाती है। और दूसरी ओर उनसे लिये जाने वाले कर की मात्रा बढ़ जाती है, फलतः पूँजी सचय हतोत्साहित होता है क्योंकि समाज में बचत तब ही होती है जबकि बचत-कर्ता को यह विश्वास हो कि उसकी बचत के मूल्य में कमी नहीं होगी। परिणामतः [illegible]सि-कार्यों के लिये पूँजी का अभाव हो जाता है। अतः स्फीति की दशा में विनियोजन के मूल्य तथा इनसे आय में जो कुछ कमी होती है, वह अन्यायपूर्ण है। (ii) उत्पादन-कर्ता व ऋणी वर्ग—स्फीति की दशा में उत्पादकों को अत्यधिक लाभ होता है क्योंकि कच्ची-सामग्री के मूल्य में तथा मजदूरी में वृद्धि सदा शनैः शनैः होती है परन्तु स्फीति के कारण वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य में शीघ्र ही बहुत अधिक मात्रा में वृद्धि हो जाया करती है। जिससे उत्पादकों के लाभ की मात्रा में बहुत वृद्धि हो जाती है। (उदाहरण दीजिये)। ऋणी को भी लाभ होता है क्योंकि जिस समय ऋण लिया जाता है उस समय द्रव्य का मूल्य अधिक और (स्फीति के कारण) जिस समय ऋण वापिस किया जाता है, उस समय मुद्रा का मूल्य बहुत कम हो जाते है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य में बहुत वृद्धि हो जाती है। वह अपनी थोड़ी सी वस्तुओं को बेचकर ही ऋण की अदायगी कर देता है। कीन्स का मत है कि उत्पादक व ऋणी दोनों को ही स्फीति की दशा में जो लाभ प्राप्त होता है चूँकि उसका उनकी योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये यह अनार्जित लाभ अन्यायपूर्ण है। (iii) निश्चित आय व ऋणदाता वर्ग-स्फीति की दशा में इन दोनों वर्गों को हानि होती है क्योंकि वे अपने द्रव्य से पहले की तुलना में बहुत कम वस्तुयें खरीदने पाते है। स्पष्ट तया मुद्रा-स्फीति का यह प्रभाव भी अन्यायपूर्ण है। (iv) धन का वितरण—स्फीति से धन का पुनर्वितरण हो जाता है, स्फीति धन को एक व्यक्ति से लेकर दूसरे व्यक्ति को

दे देती है और इस कार्य को करने मे स्फीति अधा होकर कार्य करती है अर्थात् धन का पुनर्वितरण मनुष्यो के गुणो-अवगुणो के आधार पर नही किया जाता। फलतः जिन व्यक्तियो ने अत्यधिक त्याग करके व कष्ट सहकर बचत की थी, उनसे धन छीन लिया जाता है (क्योकि उनके धन का मूल्य कम हो जाता है) और ऐसे व्यक्तियों (उत्पादक आदि) को दे दिया जाता है जिन्होने इसे प्राप्त करने के लिये कुछ भी अधिक परिश्रम नही किया है। स्पष्टतया स्फीति से धन का पुनर्वितरण बहुत ही अन्यायपूर्ण होता है (उदाहरण दीजिये) (v) अदृश्य करारोपण—सरकार नोट छापकर हीनार्थ अर्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) करती है, इससे सरकार जनता से वस्तुओ को छीनती है (उन्हे उपभोग से वंचित करती है) और इनको स्वय अपने उपभोग (सरकारी कार्यों म उपयोग) मे लाती है, गरीबो पर भार अधिक पडता है क्योकि उनकी आय मे वृद्धि तो विशेष नही होती, परन्तु वस्तुओ के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अत स्फीति क्योकि अदृश्य करारोपण है, इसलिये अन्यायपूर्ण है। (vi) कृत्रिम सम्पन्नता—स्फीति से समाज मे आर्थिक सम्पन्नता आ जाती है, मूल्यो मे शनैः शनैः वृद्धि होती रहती है और कुछ समय बाद ये मूल्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। तदुपरान्त मूल्य कम होने लगते है, मन्दी काल शीघ्र ही आ जाता है। स्पष्टतया स्फीति से चूँकि आर्थिक सम्पन्नता अल्पकालीन होती है व्यापारियो को लाभ क्षणिक होते हैं इसलिये भी यह अन्यायपूर्ण व अनुचित है (दो ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग म मुद्रा-सकुचन का अर्थ एक-दो परिभाषाओ के आधार पर बताइये (आधा पृष्ठ) और फिर मुद्रा सकुचन के आर्थिक परिणाम बताइये—(i) कृषको, उत्पादकों व व्यापारियो को, गिरते हुये मूल्यो से, सबसे अधिक हानि होती है, क्योकि उनकी द्रव्य आय तो कम हो जाती है परन्तु कर-भार व मजदूरी का भार पूर्ववत् रहता है, (ii) उत्पादन हतोत्साहित होता है, फलत. बेरोजगारी फैलती है क्योकि अनेक उद्योग बन्द हो जाते हैं, (iii) यद्यपि निश्चित आय वालो को इस दृष्टि से तो लाभ होता है कि मूल्य-स्तर गिर जाता है, परन्तु उन्हे लाभ की तुलना मे हानि अधिक होती है क्योंकि अनेक व्यक्तियो को नौकरियो पर से हटा दिया जाता है या उन्हे कम मजदूरी पर कार्य करने के लिये बाध्य किया जाता है (व्यापारिक मन्दी के कारण)। कीन्स ने इन्ही कारणो से मुद्रा सकुचन को अनुपयुक्त (Inexpedient) बताया है (एक पृष्ठ)। तृतीय भाग में बताइये कि यद्यपि मुद्रा स्फीति व मुद्रा-सकुचन दोनो ही बुरे हैं परन्तु तुलना मे मुद्रा-सकुचन अधिक बुरा है क्योकि इससे किसी भी स्थायी लाभ की आशा नहीं की जाती है। कभी कभी मुद्रा-स्फीति का उपयोग देश की आर्थिक उन्नति करने युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के सचालन, पूर्ण-रोजगार की अवस्था को उत्पन्न करने आदि में आवश्यक तथा लाभप्रद हो जाता है, परन्तु मुद्रा-सकुचन तो एक प्रतिगामी अवस्था उत्पन्न करता है जिसमे लाभ की तुलना में हानि अधिक होती है और यदि सकुचन तीव्र गति से हो जाता है तब तो समाज की आर्थिक दशा बिलकुल ही अस्त-व्यस्त हो जाती है—इसमे बेरोजगारी व बेकारी फैल जाती है, समाज का नैतिक पतन होता है, व्यापार व उद्योग

बन्द हो जाते हैं, व्यापारिक साहस मिट जाता है, राष्ट्रीय विकास में अड़चनें पड़ती हैं। फलतः चूंकि संकुचन सारे राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में उथल-पुथल मचा देता है, इस लिये कीन्स ने कहा है कि मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है, मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त है और इन दोनों में मुद्रा-संकुचन अधिक बुरा है (एक पृष्ठ)।

प्रश्न ४:–i) "The note issue as a means of raising funds for emergencies has come to occupy a definite place in public finance but it is admittedly the worst means and one that is fraught with serious dangers" Discuss the statement and outline the adverse economic effects of the over issue of paper currency. (Agra, B. A. 1954), (ii) Discuss the merits and demerits of inflation as a source of public finance (Patna B. A. 1952, 1949), (iii) 'Deficit financing leads to inflation Discuss. How can you control inflation? (Patna, B. A. 1957) (iv) Discuss why Inflation is regarded as the worst form of Taxation.? (Bihar B A 1959).

संकेत.—प्रारम्भ मे सार्वजनिक वित्त का अर्थ दो चार वाक्यों में समझाइये, यह स्पष्ट कीजिये कि कभी-कभी (विशेषकर युद्धकाल मे अथवा आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे जबकि नई-नई योजनायें कार्यान्वित की जाती हैं) राज्य की आय कम और व्यय अधिक होता है, ऐसी आर्थिक कठिनाई के समय जबकि राज्य अपने सामान्य साधनों द्वारा पर्याप्त मात्रा मे धन प्राप्त नही करने पाता है, राज्य को घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) का सहारा लेना पड़ता है (घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ तनिक विस्तार से समझाइये)। इस व्यवस्था मे देश मे मुद्रा की पूर्ति अत्यधिक बढ़ा देने के कारण मुद्रा-स्फीति की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं, मुद्रा का मूल्य (क्रय-शक्ति) कम और मूल्य-स्तर ऊंचा हो जाता है। मुद्रा की पूर्ति का एकाधिकार सरकार के हाथ मे होता है, चूंकि मुद्रा-स्फीति से अर्थ-व्यवस्था में बड़ी उथल-पुथल हो जाती है, इसलिये सरकार आसानी से मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाने के लिये तैयार नही हुआ करती है, परन्तु कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसी होती है कि आर्थिक संकट अथवा विपत्ति का सामना करने के लिए सरकार को नोट-निर्गम की रीति का सहारा लेना पड़ता है, जैसे—(i) युद्ध काल—सरकार का खर्च बहुत बढ़ जाता है, सैनिको के वेतन व युद्ध के सामान पर अत्यधिक व्यय होता है (युद्धकाल मे व्यय के बढ़ने के कारण स्पष्ट कीजिये)। ऐसे समय मे करों को एक सीमा से अधिक नही लगाया जा सकता है, ऋण भी सीमित मात्रा मे ही प्राप्त होते हैं इस स्थिति मे मुद्रा-स्फीति द्वारा धन का प्रबन्ध करना सुगम होता है। (ii) आर्थिक उन्नति—जब सरकार देश के आर्थिक विकास के लिये अत्यधिक धन का उपयोग करने वाली योजनाओं को कार्यान्वित करती है, तब भी वह अपनी मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकाधिक मात्रा में नोट छाप कर करती है। अतः स्पष्ट है कि आर्थिक संकट अथवा आपत्तिकाल मे नोट-निर्गम की रीति (मुद्रा-स्फीति) द्वारा सरकार पर्याप्त मात्रा मे धन एकत्रित कर लेती है और धन एकत्रित करने का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। मुद्रा-स्फीति का यही मुख्य लाभ है। (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे यह बताइये कि इस प्रकार की घाटे की वित्त-व्यवस्था के क्या दोष हैं—चूंकि

इस रीति से मूल्य-स्तर ऊंचा हो जाता है, इसलिये समाज.के विभिन्न वर्गों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है (प्रश्न नं० ३ में स्फीति के जिन दोषों को लिखा गया है उन्हें लिखिये) इन दोषों के कारण ही कीन्स ने मुद्रा स्फीति को अन्यायपूर्ण कहा है। यह बताइये कि मुद्रा-स्फीति की रीति एक प्रकार का करारोपण है और धन प्राप्त करने का यह तरीका सबसे खराब है क्योंकि इसमें धन का अनुचित पुनर्वितरण होता है, गरीबों पर धनियों की तुलना में अधिक भार पड़ता है आदि (दो तीन पृष्ठ)। तृतीय भाग में मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणामों से समाज को बचाने के लिये जिन उपायों का उपयोग होना है, उन्हें लिखिये (प्रश्न २ के संकेत में इन उपायों को बताया गया है) भारतीय उदाहरण संक्षेप में दिये जा सकते हैं (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ५— i) "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिये Sagar, B. A. १६५७), (ii) 'Money which is a source of many blessings to mankind, becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion" Comment (Raj. B. Com. 1957, Bihar, B. A 1954)।

संकेत —उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग में यह बताइये कि मुद्रा एक अच्छा सेवक क्यों है—वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को बताइये और यह स्पष्ट कीजिये कि मुद्रा ने इन्हें किस प्रकार दूर करके मनुष्य के विनिमय के कार्यों को सुगम बना दिया है, मुद्रा की सेवाओं के कारण ही मानव का आर्थिक व सामाजिक जीवन उन्नत हो सका है (संक्षेप में मुद्रा के महत्व को इस दृष्टि में बताइए कि इससे धन के उत्पादन, वितरण व उपभोग आदि में बहुत सहायता मिली है) यह भी संक्षेप में बताइये कि मुद्रा के कारण ही घाटे की वित्त-व्यवस्था की प्रणाली सम्भव हुई है, जिसकी सहायता से युद्धकाल व अन्य आपत्ति के समय सरकार अपनी मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती है। अतः मुद्रा मानव जाति के लिये एक वरदान है, यह समाज की एक अच्छी सेविका है (तीन पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइए कि मुद्रा धीरे धीरे समाज की सेविका के स्थान पर स्वामिनी बन गई है, आज मुद्रा का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि सारा आर्थिक जगत मुद्रा के इशारे पर चलता है, केवल इसकी मात्रा को घटाने-बढ़ाने से समाज में क्रान्ति मच जाता है, समाज पर इसका ऐसा सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक प्रभाव है कि इसी के कारण राज्य का तख्ता तक उलट जाता है, यह प्रभाव मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन (मूल्य-स्तर में उच्चावचन) द्वारा पड़ता है। इस कारण आज मुद्रा समाज की स्वामिनी बन गई है। अब यह समाज के नियन्त्रण से बाहर हो गई है, समाज को मुद्रा-स्फीति की रीति का सहारा समय-समय पर लेना पड़ता है, और एक बार स्फीति की दशायें उत्पन्न हो जाने पर समाज इसे आसानी से अपने नियन्त्रण में नहीं करने पाता है, फलतः मुद्रा-स्फीति से उत्पन्न होने वाले समस्त दोष समाज में दृष्टिगोचर हो जाते हैं (इन दोषों को विस्तार से बताइये) जिससे समाज का जीवन-अस्त-व्यस्त हो जाता है तथा सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति का भय उत्पन्न हो जाता है (तीन-चार पृष्ठ)।

प्रश्न ६:—(i) मूल्य-स्थैर्य की वास्तविक समस्या क्या है ? क्या मूल्य-स्थैर्य वांछनीय है अथवा क्या यह प्राप्तव्य (Attainable) है ? अपने उत्तर के लिये स्पष्ट कारण दीजिए (Jabb B Com. १९५८), (ii) 'Stable prices are as harmful and injurious as rapidly rising or rapidly falling prices." Discuss. (Bihar, B. A. 1955)

संकेत:—मूल्य-स्थैर्य का अर्थ समझाइये—इसका अर्थ है समाज में मूल्य-स्तर में स्थिरता, वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों में न तो वृद्धि हो और न कमी ही हो। साधारण दृष्टि से मनुष्य यह चाहेंगे कि मूल्य-स्तर में कोई हेर-फेरी नहीं हो ताकि उनका कार्य सुचारू रूप से चल सके, जीवन निश्चिन्त व सुखी रह सके, युद्धोत्तर-काल में इस विचार को अधिक पुष्टि मिलती है क्योंकि मनुष्यों को युद्धकालीन स्फीति के कुप्रभावों का कटु अनुभव होता है। परन्तु मूल्य स्थिरता अच्छी नहीं होती, इसका आर्थिक समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है—(i) प्रथम कारण यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादकों को उत्तरोत्तर (अधिकाधिक मात्रा में) लाभ प्राप्त हो, लाभ की मात्रा में कमी या कम लाभ की आशा होने पर या उद्योगपतियों के मस्तिष्क में निराशा की भावना (मूल्य-स्थैर्य के कारण) उत्पन्न हो जाने से उद्योगपतियों द्वारा विनियोग कम होता है, समाज में धन का संग्रह (Hoarding) होने लगता है, उत्पादन शनैः शनैः कम हो जाता है आर्थिक प्रगति धीमी पड़ जाती है। बेकारी व बेरोजगारी फैल जाती है। अतः मूल्य-स्थिरता से समाज अवनति की ओर अग्रसर हो जाता है। (ii) मूल्य-स्थिरता के घातक सिद्ध होने का एक दूसरा कारण भी है—पूँजीवादी समाज में मूल्य-स्थिर की दशा में ज्यों-ज्यों धन का विनियोग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इन विनियोगों से सीमान्त लाभ की मात्रा घटती जाती है (यदि किसी प्रकार का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाय), पूँजीपतियों द्वारा धन का विनियोजन अधिकाधिक होना बन्द या कम हो जाता है और समाज में उपलिखित प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। (iii) मूल्य-स्थिरता का एक घातक प्रभाव यह भी होता है कि इसकी उपस्थिति में उत्पादकों द्वारा नई-नई उत्पादन की प्रणालियों का उपयोग नहीं होता है। कारण यह है कि उत्पादक नई उत्पादन-प्रणाली का प्रयोग तभी करता है जबकि उसे उत्तरोत्तर लाभ की आशा होती है। इन प्रणालियों में जोखिम भी अधिक होती है, इसलिए वह लाभ भी अधिक मात्रा में प्राप्त करना चाहा करता है। परन्तु मूल्य-स्थिरता में लाभ के उत्तरोत्तर बढ़ने के स्थान पर इसमें शनैः शनैः कमी हो जाती है। अतः मूल्य-स्थिरता का अर्थ आर्थिक उन्नति का रुकना या कम हो जाना और एक सीमा के बाद समाज का अवनति की ओर अग्रसर हो जाना होता है, जो समाज के लिये बहुत घातक एवं हानिकारक है। (iv) मूल्य-स्थिरता में आर्थिक प्रणाली में लोच का अभाव हो जाता है, परन्तु आर्थिक उन्नति के लिये आर्थिक समाज में लोच का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि मूल्य-स्थैर्य वांछनीय नहीं है (दो-चाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग में, मूल्य-स्तर में तीव्र परिवर्तनों के समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों को बताइये—ये परिवर्तन सट्टे को जन्म देते हैं, समाज में अनिश्चित

वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। वस्तुओं के मूल्य तेजी से बढने पर धन के वितरण में भ्रान्ति मच जाती है, यद्यपि कृषक व उत्पादक व व्यापारी मालामाल हो जाते हैं परन्तु वे जो कुछ धन कमाते हैं उसका सम्बन्ध उनकी योग्यता से नही होता जिसके कारण यह स्थिति अन्यायपूर्ण कही जाती है, मूल्यो की तेजी के काल मे सरकारी हस्तक्षेप होने पर समाज मे चोर-बाजारी, नैतिक भ्रष्टाचार आदि उत्पन्न हो जाता है, निश्चित आय वर्ग पिस जाता है और उसे भरपेट भोजन नही मिलता है (मुद्रा-स्फीति अथवा मूल्य-वृद्धि के दोषों को सक्षेप मे बताइये)। इसी तरह मूल्य स्तर का नीचा हो जाना भी आर्थिक समाज के लिए घातक होता है, उत्पादन व विनियोग पर बुरा प्रभाव पडता है, व्यापारियो व उद्योगपतियो को घाटा होता है, व्यवसाय व उद्योग शनै. शनै. बन्द हो जाते हैं, यद्यपि निश्चित आय व मजदूर वर्ग को लाभ प्रतीत होता है, परन्तु यह भी भ्रमात्मक है क्योंकि यह वर्ग शीघ्र ही बेकारी के फंदे मे फस जाता है आदि। (मुद्रा-सकुचन अथवा मूल्य-ह्रास के कुप्रभावो को सक्षेप मे बताइये) अत: यह स्पष्ट है कि मूल्य-स्थैर्य के प्रभावो की तरह तेजी से बढते या घटते हुये मूल्य भी आर्थिक दृष्टि से बहुत अनुपयुक्त हैं (तीन पृष्ठ)। तृतीय भाग मे बताइये कि उचित नीति क्या होनी चाहिये—आर्थिक उन्नति की दृष्टि से न तो मूल्य-स्तर मे स्थिरता होनी चाहिये और न इसमे तेजी से घटने व बढने की ही प्रवृत्ति होनी चाहिये। कीन्स (Keynes) के मतानुसार मूल्य-स्तर में धीरे-धीरे बढने की प्रवृत्ति होनी चाहिये ताकि देश मे उत्पत्ति-कार्य मे वृद्धि हो, उत्पादकों को लाभ हो, मजदूरो को भी बेकारी का सामना नही करना पडे आदि (एक पैरा)। चतुर्थ भाग मे बताइये कि मूल्य-स्थैर्य प्राप्तव्य नही है—चूंकि समाज गतिशील है, इसलिए यदि समाज की आर्थिक प्रगति को कुछ समय के लिए रोक दिया गया, तब स्वत: ही समाज कुछ समय बाद आर्थिक अवनति की ओर अग्रसर हो जायगा, समाज एक स्थान पर टिका नही रह सकता है—या तो आगे बढेगा या पीछे को हटेगा (एक पैरा)।

प्रश्न ६:—(i) अपने देश मे द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा-स्फीति के कारणों का विवेचन कीजिए। राज्य द्वारा किए गए उसके नियन्त्रण के उपायों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए (Agra B Com १९५६), (ii) भारत मे मुद्रा-प्रसार किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है? (Allahabad B A १९५७) (iii) Discuss the measures adopted by the Govt of India for combating inflation in this country. (Raj B Com 1959)

संकेत—उत्तर के प्रथम भाग मे मुद्रा-स्फीति का अर्थ, एक-दो परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट कीजिये और सक्षेप मे इसके कुप्रभावो को बताइये (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे भारत मे मुद्रा-स्फीति के कारणो को बताइये (दो पृष्ठ)। तृतीय भाग में राज्य द्वारा अपनाये गये उन उपायो को (उदाहरण सहित) बताइये जिनसे देश में मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणामों को कम या दूर करने का प्रयत्न किया गया है, यह भी साथ ही साथ बताइये कि उन उपायो से राज्य को कहा तक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता मिली है। (तीन-चार पृष्ठ)।

अध्याय ५
निर्देशाङ्क
(Index Numbers)

प्राक्कथन—मुद्रा का मूल्य इसकी क्रय-शक्ति है। चूंकि हम मुद्रा से वस्तुएं व सेवायें खरीदते व बेचते हैं, इसलिए मुद्रा व मूल्य का सम्बन्ध वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य से होता है। मुद्रा का मूल्य (या क्रय-शक्ति) कम हो जाने पर कम वस्तुएं व सेवायें और मुद्रा का मूल्य अधिक हो जाने पर अधिक वस्तुएं व सेवाएं खरीदी जाती है अर्थात् मुद्रा का मूल्य कम हो जाने पर वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य अधिक और मुद्रा का मूल्य अधिक हो जाने पर वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम हो जाता है। इस तरह मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य का विरोधी सम्बन्ध है। अतः जब मुद्रा-मूल्य घटता है तब मूल्यों में वृद्धि और जब मुद्रा मूल्य बढ़ता है तब मूल्यों में कमी हो जाती है। यह स्मरण रहे कि जब तक स्वर्ण चलनमान (Gold currency standard) चलन में रहा मुद्रा के मूल्य में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु प्रथम महायुद्ध काल में इसके समाप्त हो जाने पर मुद्रा के मूल्य में असाधारण परिवर्तन हुए जिससे वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों में भी असाधारण परिवर्तन हुए।

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य में परिवर्तन को किस प्रकार नापा जाता है? इसका उत्तर सरल है। आजकल यह कार्य निर्देशांकों की सहायता से किया जाता है। यह स्मरण रहे कि मूल्यों में परिवर्तन का अध्ययन आर्थिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण होता है। मूल्य-उच्चावचन या मनुष्यों के सामाजिक व आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है (मुद्रा स्फीति के अध्ययन में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा जा चुका है), इसके द्वारा ही उत्पादन के विभिन्न साधनों को मिलने वाला रोजगार निर्धारित होता है, इसी से देश में उत्पादन की मात्रा व इसका स्वभाव तथा आतरिक व बाहरी व्यापार की मात्रा निर्धारित होती है आदि। इसीलिए आजकल निर्देशांकों द्वारा मूल्य परिवर्तन को एक निश्चित रूप में नापा जाने लगा है।

निर्देशांक किसे कहते हैं? (What are Index Numbers):—यह एक साधारण अनुभव की बात है कि किसी भी समय पर तमाम वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य एक साथ एक ही दिशा में न तो बढ़ते हैं और न एक ही दिशा में घटते ही हैं। यदि कुछ वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य घटते हैं तब अन्य कुछ वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य बढ़ते भी हैं। इसी तरह यदि कुछ वस्तुओं के मूल्य बहुत कम बढ़ते हैं तब अन्य वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक बढ़ते है या यदि कुछ वस्तुओं के मूल्य बहुत कम मात्रा में कम होते हैं तब अन्य वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक मात्रा में कम होते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुएं भी होती हैं जिनके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु यदि हम

विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य परिवर्तनों का औसत (Average) निकाल लें, तब हमें पता चलेगा कि इस औसत में या तो बढ़ने की प्रवृत्ति है या इसमें घटने की प्रवृत्ति होती है। सूचक अंकों का उद्देश्य इस प्रकार की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करना होता है। हम भी इस सूचक अंक या सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level) या औसत मूल्य के घट बढ़ से मुद्रा के मूल्य के घट बढ़ का अनुमान लगाते हैं। इसीलिये निर्देशांक की परिभाषायें इस प्रकार दी जाती हैं:—

(१) "सूचनांक, मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को जानने के लिए, मूल्य स्तर की वे संख्याएं हैं जिन्हें वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य के परिवर्तन दिखाने के लिए क्रम से रक्खा जाता है।"

(२) "निर्देशांक कीमत स्तर के अंकों की एक सूची होती है जिन्हें एक तालिका के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनों को सूचित करने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत के परिवर्तनों को दिखाया जा सके।"

यदि निर्देशांक बढ़ते जा रहे हैं तब इसका यह अर्थ है कि सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) ऊंचा होता जा रहा है अथवा वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों की केन्द्रीय प्रवृत्ति बढ़ने की ओर है अर्थात् मुद्रा का मूल्य कम होता जा रहा है। इसके विपरीत यदि उक्त निर्देशांक गिरते जा रहे हैं (कम हो रहे हैं) तब इसका यह अर्थ है कि सामान्य मूल्य स्तर कम होता जा रहा है अथवा वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम होता जा रहा है अर्थात् मुद्रा का मूल्य बढ़ रहा है। अतः निर्देशांकों के बढ़ने पर मुद्रा का मूल्य कम और निर्देशांकों के घटने पर मुद्रा का मूल्य अधिक हो जाता है।

यह स्मरण रहे कि सूचक अंक मुद्रा के मूल्य के पूर्ण अथवा निरपेक्ष (Absolute) मापक नहीं हैं। ये किसी पूर्व काल के मूल्य-स्तर की तुलना उत्तर काल के मूल्य स्तर से करते हैं। इस तरह निर्देशांक मूल्यों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप (Relative) को ही दिखाते हैं। किसी समय पर यह कहना कि सूचक अंक ५० है, इसमें कुछ भी अर्थ नहीं होता जब तक कि इस अंक की किसी अन्य समय के अंक से तुलना नहीं की जा सके। इस तरह उक्त अंक का तब ही कुछ अर्थ होता है जबकि हम यह भी बताते हैं कि अमुक वर्ष या माह या सप्ताह या दो दिन के औसत मूल्य-स्तर की तुलना में यह अंक ५० है (अमुक वर्ष, माह, सप्ताह या दिन का औसत-मूल्य १०० मान लिया जाता है) अर्थात् इस उदाहरण में मूल्य-स्तर पहले की तुलना में घटकर आधा रह गया है अथवा मुद्रा का मूल्य बढ़कर पहले से दुगुना हो गया है। अतः मूल्यों के सूचक अंक दो विभिन्न कालों के मूल्य-स्तरों की तुलना करने में सहायक होते हैं।

निर्देशांक न केवल मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने के लिये ही काम में आते हैं वरन् इनका उपयोग प्रत्येक आर्थिक घटना के तुलनात्मक परिवर्तन को सूचित करने के लिये होता है जैसे—उत्पादन में घट-बढ़, आयात-निर्यात में घट-बढ़, किसी वस्तु के उपभोग में घट-बढ़ आदि।

सूचक अङ्क बनाने की विधि
(Method for the Compilation of the Index Number)

निर्देशांकों को बनाना:—सूचक अंक बनाते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रक्खा जाता है:—

(१) आधार-वर्ष का चुनना (Selection of the Base year):—सूचक अङ्क अक्सर वार्षिक आधार पर बनाये जाते है। इसलिए निर्देशाङ्क बनाने के लिये सबसे पहले आधार वर्ष को चुनना होता है। आधार-वर्ष (Base year) का अर्थ उस वर्ष से होता है जिसके औसत मूल्य को अन्य वर्षों के औसत-मूल्यों की तुलना का आधार माना जाता है। चूंकि आधार-वर्ष के मूल्य अन्य वर्षों के मूल्य-परिवर्तनों की तुलना का आधार होते हैं, इसलिये इस वर्ष का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता है। यू तो हम किसी वर्ष को ही आधार-वर्ष मान सकते हैं परन्तु वास्तव मे यह एक ऐसा वर्ष माना जाता है जिसमे मूल्यों मे अधिक उतार-चढाव नही होते है तथा जिस वर्ष मे ऐसी कोई घटना नही घटती है जिससे देश की आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है अर्थात् आधार-वर्ष वह वर्ष होता है जो हर प्रकार से सामान्य वर्ष (Normal year) माना जाता है। इस दृष्टि से महायुद्ध, अकाल, बाढ़, आर्थिक संकट तथा फसल की खराबी वाले वर्ष को असाधारण वर्ष मानते है और ऐसे वर्ष को प्रायः आधार-वर्ष नही माना जाता है। इस तरह आधार-वर्ष वह वर्ष होता है जो न तो बहुत अधिक उन्नतिशील वर्ष होता है और न आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ वर्ष होता है वरन् यह एक सामान्य आर्थिक परिस्थितियों वाला वर्ष होता है। सन् १९२९ के पश्चात् भीषण मन्दी-काल (Depression Period) का प्रारम्भ हुआ, जिससे मूल्यों मे बहुत कमी हो गई। इसी तरह १९३९ के पश्चात् युद्ध के कारण, मूल्यों मे अत्यधिक वृद्धि हुई। यही कारण है कि आजकल प्रायः १९३९ का वर्ष सूचक अङ्क बनाने के लिये एक उपयुक्त आधार-वर्ष माना जाता है क्योंकि इस वर्ष की सहायता से युद्ध तथा युद्धोत्तर (Post-war) कालीन मूल्यों के परिवर्तनों की आसानी से तुलना की जा सकती है।

(२) वस्तुओं व सेवाओं का चुनाव (Selection of the Commodities and Services):—वर्ष निर्धारण के पश्चात् उन प्रतिनिधि वस्तुओं की छांट करनी होती है जिनके सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) की तुलना आधार-वर्ष के सामान्य मूल्य-स्तर से की जाती है। हमारे समाज मे द्रव्य द्वारा सैंकड़ो व हजारों वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है, इसलिये प्रत्येक वस्तु व सेवा के मूल्य का विचार करना कठिन ही नही अपितु असम्भव होता है। इस कठिनाई से बचने के लिये ऐसी वस्तुये व सेवायें चुन लेते है जो अन्य वस्तुओं व सेवाओं का प्रतिनिधित्व करती है अर्थात् यदि चुनी हुई वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बढता है, तब अन्य वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य भी बढ़ता है और चुनी हुई वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों के कम हो जाने पर अन्य वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य भी कम हो जाते हैं। परन्तु इन वस्तुओं व सेवाओं के चुनाव पर सूचक अङ्कों के बनाने के उद्देश्यों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण के लिये, यदि हम रहन-सहन खर्च सूचक अंक (Cost of Living Index Number) बना रहे हैं, तब हमें ऐसी वस्तुओं को चुनना होगा जो कि उस वर्ग के जीवन से सम्बन्धित हैं जिनका हम रहन-सहन व्यय सूचक अंक बना रहे हैं। इस तरह विभिन्न वर्गों के मनुष्यों के रहन-सहन के व्यय के परिवर्तन को नापने के लिये काम में लाई जाने वाली वस्तुयें भिन्न भिन्न होंगी। दूसरे शब्दों में रहन-सहन-व्यय सूचक अंक बनाते समय हमें यह देखना होगा कि किस श्रेणी के मनुष्य किस प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं का उपभोग करते हैं। यूं तो वस्तुओं व सेवाओं की संख्या जितनी अधिक ली जायगी उतना ही सूचक अंक अधिक ठीक बनेगा, परन्तु सुविधा की दृष्टि से प्रायः २५–३० प्रतिनिधि वस्तुओं का ही चुनाव हुआ करता है।

(३) वस्तुओं के मूल्यों का चुनाव (Selection of the Prices of the Commodities)—प्रतिनिधि वस्तुओं के चुनाव के पश्चात् इनके मूल्य आधार-वर्ष तथा अन्य जांच के वर्ष (Year of Inquiry) में मालूम किये जाते हैं। वस्तुओं के मूल्य थोक (Wholesale) भी होते हैं और फुटकर (Retail) भी। युद्ध और युद्धोत्तर काल में वस्तुओं के नियन्त्रित मूल्य (Controlled Prices) भी होते हैं और कभी-कभी चोर बाजार के मूल्य (Black Market Prices) भी होते हैं। निर्देशांक के उद्देश्य के अनुसार ही यह तय किया जाता है कि गणना में थोक मूल्य रक्खे जायें या फुटकर मूल्य या अन्य कोई दूसरा मूल्य। यदि हमें मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों को दिखलाने वाला सूचक अंक बनाना है, तब हम गणना में थोक मूल्य रक्खेंगे क्योंकि यहां पर थोक-मूल्य न केवल सही अनुमान देंगे वरन् इनका एकत्रित करना भी आसान होता है। परन्तु यदि हमें रहन-सहन-व्यय सूचक अंक (Cost of Living Index Number) मालूम करना है, तब हम इस गणना में फुटकर मूल्य रक्खेंगे क्योंकि ऐसे मूल्य ही हमें सही अनुमान देते हैं। यह तय करने के बाद कि हम थोक मूल्य गणना में रक्खें या फुटकर मूल्य, हम यह तय करेंगे कि ये मूल्य किस समय के लिये जायं—हम दैनिक अथवा साप्ताहिक मूल्य लें या मासिक मूल्य, तत्पश्चात् हम प्रतिनिधि बाजारों (Representative Markets) का चुनाव करेंगे जिनमें से हम बिल्कुल समान रूप व गुण वाली वस्तु का मूल्य मालूम करेंगे।

(४) मूल्यों को प्रतिशत में दिखाना (To Represent prices in Percentages)—प्रत्येक वस्तु व सेवा के आधार-वर्ष का मूल्य १०० रु० मानकर, गणना में ली गई तमाम वस्तुओं व सेवाओं का सूचक अंक निकालने वाले वर्ष का मूल्य, आधार-वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में निकालते हैं। उदाहरणार्थ, यदि आधार-वर्ष में चने का मूल्य २ रुपया प्रति मन है इसे हम १०० मान लेते हैं, तब बाद जांच के वर्ष में चने का मूल्य ६ रु० प्रति मन हो, तब वह प्रतिशत में $\left(\frac{१००\times६}{२}=\right)$ ३०० कहलायेगा। इस तरह हरएक वस्तु का मूल्य प्रतिशत में निकाल लेते हैं।

(५) औसत निकालना (To Strike out the Averages)—अन्त में आधार वर्ष और अन्य वर्ष के मूल्यों के प्रतिशतों (Percentages) का औसत निकाला

जाता है। आधार-वर्ष का औसत तो १०० ही रहता है, परन्तु दूसरे वर्ष का औसत १०० से अधिक या कम होता है। यह औसत (Average) ही सूचक अंक (Index Number) है। यदि यह औसत आधार वर्ष के औसत से अधिक है, तब इसका यह अर्थ है कि सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) बढ़ गया है और यदि यह औसत आधार-वर्ष के औसत से कम है, तब इसका यह अर्थ है कि सामान्य मूल्य-स्तर कम हो गया है। यहाँ पर मूल्य-स्तर में परिवर्तन प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया गया है।

एक उदाहरण—साधारण निर्देशांक

रहन सहन व्यय का एक साधारण सूचक अंक बनाने का एक उदाहरण (An Example of the construction of a Simple Cost of Living Index Number):—सन् १९३९ के आधार-वर्ष के आधार पर यह सूचक अंक बनाया गया है*:—

नम्बर	वस्तुएं	आधार-वर्ष में मूल्य १९३९	आधार-वर्ष का सू० अङ्क	सन् १९५९ मे मूल्य	सन् १९५९ का सू० अङ्क
१	गेहूं	४–०–० प्रति मन	१००	१६–०–० प्रतिमन	४००
२	चावल	२०–०–० प्रति म	१००	३०–०–० प्रतिमन	३००
३	कपड़ा	०–६–० प्रति गज	१००	०-१२-० प्रतिगज	२००
४	म० किराया	१५–०–० प्रति मा	१००	३०–०–० प्रति माह	२००
५	घी	१–०–० प्रति से	१००	६–०–० प्रति माह	६००
६	सिग्रेट	०–३–० प्रति पै	१००	०–६–० प्रति पै०	२००
७	दूध	०–२–० प्रति से	१००	०–८–० प्रति सेर	४००
औसत	—	—	$\frac{७००}{७}$ =१००	—	$\frac{२३००}{७}$ = ३२८·५

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि सन् १९५९ मे सूचक अंक ३२८·५ है (यह आधार-वर्ष की तुलना में एक प्रतिशत के रूप मे व्यक्त किया गया है, इसलिये यह अंक रुपये, आने व पाई के रूप में नही लिखा जाता है)। इसका अर्थ यह हुआ कि सन् १९३९ की तुलना में सन् १९५९ मे मूल्य-स्तर मे (३२८·५—१००·०=) २२८·५ प्रतिशत वृद्धि हो गई है। दूसरे शब्दो मे तुलनात्मक दृष्टि से सन् १९५९ मे सामान्य मूल्य-स्तर सन् १९३९ की अपेक्षा ३½ गुना हो गया है। यद्यपि उपरोक्त उदाहरण मे केवल उदाहरणार्थ ७ वस्तुओं को चुना गया है, परन्तु एक सन्तोषप्रद सूचक अंक बनाने के लिये हमे २५—३० वस्तुओं व सेवाओं को चुनना चाहिये।

नोट—परीक्षा में विद्यार्थियों को सूचक अंक की गणना करते समय केवल ६–७ वस्तुओं व सेवाओं को चुनना चाहिये वरना

* The Figures in this example are imaginary.

उनका बहुमूल्य समय गणना करने (Calculations) मे अनावश्यक ही नष्ट हो जायगा ।

साधारण निर्देशाङ्क मे दोष

साधारण निर्देशाक मे दोष (Defects in the Simple Index Number) —साधारण निर्देशाक का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे प्रत्येक वस्तु को समान महत्व दिया जाता है । परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी एक वस्तु के मूल्य मे थोडी सी वृद्धि का समाज के किसी एक वर्ग पर प्रभाव किसी दूसरी वस्तु के मूल्य म अत्यधिक वृद्धि की अपेक्षा अधिक पडा करता है क्योकि प्रथम वस्तु से इस वर्ग को दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है या प्रथम वस्तु पर यह वर्ग दूसरी की अपेक्षा कुल आय का अधिक भाग खर्च करता है । जिस वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय का अधिक भाग व्यय करता है, उसके मूल्य मे वृद्धि होने पर उपभोक्ता को इस वस्तु पर अपनी आमदनी का पहले से अधिक भाग व्यय करना पडेगा जिससे उसे उसकी आमदनी की क्रय-शक्ति पहले से अधिक कम हो जायगी परन्तु यदि वस्तु ऐसी है कि उपभोक्ता को उस वस्तु पर अपनी आमदनी का बहुत ही थोडा-सा भाग व्यय करना पडता है, तब इस वस्तु के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि हो जाने पर भी उसकी आमदनी की क्रय-शक्ति पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता है । उदाहरण के लिये, गेहू-चने के मूल्यो में थोडे से परिवर्तन का चाय, घी, दूध के मूल्यो म अधिक परिवर्तन की तुलना म समाज के निम्न वर्ग पर अधिक प्रभाव पडा करता है । परन्तु साधारण निर्देशाक मे अधिक आवश्यक या कम आवश्यक सब ही वस्तुओ के मूल्यो मे जो परिवर्तन होता है उसे एक समान भार (Weight) दिया जाता है जिससे साधारण निर्देशाक द्वारा दिखाया गया मूल्य-परिवर्तन समाज के लिय स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान प्रस्तुत नही करता है अर्थात्,साधारण निर्देशाक मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तन को ठीक ठीक नही बताता है । इस दोष को भारशील निर्देशाक बनाकर दूर किया जाता है ।

भारशील निर्देशाक (Weighted Index Number)

भारशील या महत्वानुसार निर्देशाक का अर्थ (Meaning of a Weighted Index Number)—जब हम वस्तुओ व सेवाओं को उनके महत्व के अनुसार भार देकर निर्देशाक बनाते है, तब इन्हे भारशील निर्देशाक (Weighted Index Number) कहते है । इस प्रकार के निर्देशाको म प्रत्येक वस्तु का भार (Weight) उसी परिमाण मे दिया जाता है जितना कि उपभोग म उसका वास्तव म महत्व है । ऐसी वस्तुओ को अधिक महत्व या भार दिया जाता है जिन पर कोई वर्ग अपनी आमदनी का अधिक भाग खर्च करता है और उन वस्तुओ को अपेक्षाकृत कम महत्व (Weight) दिया जाता है जिन पर मनुष्य अपनी आमदनी का बहुत कम भाग व्यय करता है । परन्तु यह भार कैसे मालूम किया जाता है । कुल व्यय मे से विभिन्न वस्तुओं के प्रतिशत व्यय के अनुसार वस्तुओ का भार (Weight) निकाला जाता है । अब पारिवारिक बजट मे

विभिन्न वस्तुओं पर किये गये व्यय के अनुसार ही उन वस्तुओं का भार निर्धारित होता है।

एक उदाहरण-भारशील निर्देशांक

रहन-सहन व्यय का एक भारशील निर्देशांक (Cost of Living Weighted Index Number)—साधारण निर्देशांक में जो उदाहरण दिया गया है, उसी के आधार पर निम्नलिखित भारशील निर्देशांक बनाया गया है। मान लो, गेहूँ व कपड़े पर घी, दूध, सिग्रेट की अपेक्षा दुगुना, चावल व मकान पर डेढ़ गुना व्यय होता है, तब उक्त उदाहरण में कुल भार १० हुआ जो गेहूँ, चावल, कपड़ा, मकान किराया, घी, सिग्रेट तथा दूध पर क्रमश: २, १½, २, १½, १, १ तथा १ हुआ, (कुल योग=१०)। वस्तुओं के इस प्रकार भार निकालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता के व्यय के बजट में विभिन्न वस्तुओं का सापेक्षिक महत्व क्या-क्या, है? प्रत्येक वस्तु का भार निकाल कर सूचक अंक निम्न प्रकार निकाला जाता है:—

संख्या	वस्तु	आधार-वर्ष मे मूल्य १९३९	आधार-वर्ष का भार निर्देशाक सहित	सन् १९५९ मे मूल्य	सन् १९५९ मे भार सहित निर्देशाक
१	गेहू	४-०-०प्र०म०	१००×२ =२००	१६-०-०प्र०म०	४००×२ =८००
२	चावल	२०-०-०प्र०म०	१००×१½=१५०	६०-०-०प्र०म०	३००×१½=४५०
३	कपड़ा	०-६-०प्र०गज	१००×२ =२००	०-१२-०प्र०गज	२००×२ =४००
४	मकान किराया	१५-०-० प्रति माह	१००×१½=१५०	३०-०-० प्रति माह	२००×१½=३००
५	घी	१-०-०प्र०से०	१००×१ =१००	६-०-०प्र०से०	६००×१ =६००
६	सिग्रेट	०-३-०प्र०पै०	१००×१ =१००	०-६-०प्र०पै०	२००×१ =२००
७	दूध	०-२-०प्र०से०	१००×१ =१००	०-८-०प्र०से०	४००×१ =४००
			जोड़ १०००		जोड़=३१५०
			औसत=१०००/१०=१००		औसत=३१५०/१०=३१५

इस उदाहरण मे भारशील निर्देशाङ्क ३१५ है। यह स्पष्ट है कि यह साधारण निर्देशाक की तुलना में कम है।

सूचक अंक बनाने में कठिनाइयाँ (Difficulties in the construction of Index Numbers):—सूचक अंकों का निर्माण करते समय हमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि तब ही हमारा अनुमान कुछ ठीक बन सकता है:-

(1) आधार-वर्ष का चुनाव :—एक अच्छा आधार-वर्ष कौन-सा होता है तथा इस वर्ष की क्या-क्या विशेषताएँ होती है इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। एक आधार-वर्ष सदा के लिए आधार-वर्ष नहीं बन जाता, इसमें समय-समय पर परिवर्तन करने पड़ते है अर्थात् कुछ समय के लिये तो एक आधार-वर्ष ठीक रहता है परन्तु कुछ समय बाद ऐसी घटनाएँ घट जाती है जबकि हमें एक नये आधार-वर्ष की छाट करनी

पड़ती है। आधार-वर्ष कौनसा लिया जाय, यह निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। एक ऐसे वर्ष के चुनाव में कठिनाई पड़ती है जिसमें कोई विषम घटना नहीं घटी हो। अतः आधार-वर्ष के चुनाव में बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिए। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विदेशों में सामान्यतः ५ वर्षों के मूल्य-स्तर का औसत लेकर उसे आधार-वर्ष मानते हैं। उदाहरण के लिए, इंगलैंड में इकोनोमिस्ट (Economist) निर्देशांक १९४५-५० के औसत-मूल्यों को आधार मानते हैं। (ii) प्रतिनिधि वस्तुओं का चुनाव—प्रतिनिधि वस्तुओं की छाँट में भी कठिनाई पड़ती है। एक ही नाम की वस्तुओं में समय-समय पर भिन्नता हो जाती है तथा इनमें गुणात्मक अन्तर भी हो जाते हैं। वस्तुओं के चुनाव पर सूचक अंक बनाने के उद्देश्य का भी प्रभाव पड़ता है। यदि हम श्रमिकों के रहन-सहन व्यय में जो अन्तर समय-समय पर हो जाता है, इसे मालूम करना चाहते हैं तब हम ऐसी वस्तुओं को छाँटना पड़ेगा जो अधिकतर अमुक श्रमिक वर्ग द्वारा उपभोग में लाई जाती हैं परन्तु यदि हम सर्वसाधारण के रहन-सहन-व्यय का अन्तर मालूम करना चाहते हैं, तब हमें सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तुओं को ही चुनकर निर्देशांक बनाना होगा। इसके अतिरिक्त वस्तुओं में देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार भी भिन्नता हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य सदा एक सी ही वस्तुएँ उपभोग में नहीं लाता, यदि पहले कोई वर्ग मिट्टी के तेल को घरों में रोशनी करने के काम में लाता था, तब वही वर्ग आज बिजली का उपयोग करता है। अतः सूचक अंक बनाते समय वस्तुओं के चुनाव में भी कठिनाई पड़ती है। (iii) मूल्यों को मालूम करना—वस्तुओं का मूल्य किस बाजार से मालूम किया जाय? क्या यह थोक मूल्य हो या फुटकर मूल्य? इसका निर्धारण भी निर्देशांक के उद्देश्य से प्रभावित होता है। प्रायः वस्तुओं के मूल्यों को ठीक-ठीक मालूम करने में भी कठिनाइयाँ होती हैं। (iv) वस्तुओं को भार देना—भारशील निर्देशांक मालूम करने के लिये हम वस्तुओं को भार देना पड़ता है। कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाए, प्रत्येक दशा में भार का चुनाव केवल अनुमानजनक ही होता है क्योंकि मनुष्यों की रुचियों में परिवर्तन के साथ ही साथ वस्तुओं का महत्व भी बदलता रहता है। (v) औसत निकालने की कठिनाई—कौन सी पद्धति से औसत निकाला जाय? क्या हम औसत अंकगणित रीति (Arithmetical Average) से निकालें या रेखागणित रीति (Geometric Mean) से। औसत निकालने की रीति में परिवर्तन करने से एक-सी ही कीमतों से अलग अलग सूचक अंक प्राप्त होते हैं। इस कारण औसत की रीति के चुनाव के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई रहती है। भार और औसत की कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल (Marshall) ने शृंखलाकारी सूचनांक (Chain Index Numbers) का सुझाव दिया है।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूचक अंक का निर्माण करने में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं जिनके कारण प्रायः सच्चे व वास्तविक सूचक अंक तैयार नहीं होने पाते हैं। यही कारण है कि ये अंक मूल्य-स्तर या मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को भी ठीक-ठीक नहीं नापने पाते हैं। यद्यपि सूचक अंकों में गणितात्मक सत्यता

(Arithmetical Truism) नहीं पाई जाती है, परन्तु इन अंकों में यह दोष होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि सूचक अंकों की सहायता से हम मुद्रा के मूल्य परिवर्तन का एक अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए मार्शल (Marshall) ने कहा है कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति को पूर्णतः सही माप लेना न केवल असम्भव है अपितु अविचारणीय भी है।"*

निर्देशांकों के प्रकार (Types of Index Numbers)

सूचक अंकों के भेद (Types of Index Numbers) :—सूचक अंकों के निम्नलिखित मुख्य भेद हैं:—

(१) थोक मूल्यों के निर्देशांक (The Wholesale Price Index Numbers):—इस प्रकार के निर्देशांक कुछ मुख्य-मुख्य वस्तुओं की थोक कीमतों (Wholesale Prices) के आधार पर तैयार किये जाते हैं। प्रायः इनको बनाने में केवल कच्चे मालों के मूल्यों को ही सम्मिलित किया जाता है। इन वस्तुओं को अक्सर दो वर्गों में बाँट लिया जाता है—या तो खाद्य-सामग्री और अन्य वस्तुओं में या कृषक और गैर-कृषक वस्तुओं में। इन सूचक अंकों के निर्माण करने में थोक मूल्यों को, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं के तुलनात्मक महत्व के अनुसार भार (Weight) दिया जाता है। अमेरिका में इस प्रकार के सूचक अंकों को तैयार करने के करीब ५५० वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं और इनके मूल्यों में भार (Weight) भी बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से दिया जाता है। यह स्मरण रहे कि मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को नापने के लिये अक्सर इन थोक मूल्यों के निर्देशांकों का ही उपयोग किया जाता है। परन्तु इन अंकों के इस प्रकार के उपयोग में तीन महत्वपूर्ण दोष हैं:—(क) ये अंक कच्चे-माल तथा अन्य अनिर्मित वस्तुओं के मूल्यों से तैयार किये जाते हैं। यह स्पष्ट ही है कि अनिर्मित वस्तुओं का आर्थिक जीवन में जो महत्व होता है वह निर्मित वस्तुओं से पूर्णतया भिन्न होता है जिसके कारण ये निर्देशांक मुद्रा के मूल्यों के परिवर्तनों को नापने के लिए ठीक नहीं माने जाते हैं। (ख) इन अंकों के तैयार करने में व्यक्तिगत सेवाओं से तथा वस्तुओं के बिक्री करने के व्यय को सम्मिलित नहीं किया जाता है जिससे ये मुद्रा की क्रय-शक्ति के ठीक-ठीक मापक नहीं होते हैं। (ग) इन अंकों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

(२) श्रमिक वर्ग जीवन-निर्वाह-व्यय सूचक अंक (Working class Cost of Living Index Numbers):—इस प्रकार के सूचक अंक उन मुख्य-मुख्य वस्तुओं के फुटकर मूल्यों (Retail Prices) के आधार पर बनाये जाते हैं जो साधारणतया श्रमिकों के उपभोग में सम्मिलित होती हैं। इन अंकों को तैयार करने में सेवाओं के मूल्यों को सम्मिलित नहीं किया जाता है और उपभोग की विभिन्न मदों को उचित भार (Weight) भी दिया जाता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश श्रम-मन्त्रालय (British Labour Ministry) ने सरकारी श्रमिक-वर्ग जीवन-निर्वाह-व्यय सूचक अंक तैयार

*"A perfectly exact measure of the purchasing power is not only unattainable but even unthinkable" —Marshall.

करने मे इस प्रकार भार (Weight) निर्धारित किये हैं-भोजन ६०, किराया १६, वस्त्र १२, ईधन व रोशनी ८ तथा अन्य फुटकर (Miscellaneous)। इस प्रकार के निर्देशाको का मजदूरियो के निश्चित करने अथवा इनमे समय-समय पर परिवर्तन करने के लिये उपयोग किया जाता है।

(३) **जीवन निर्वाह व्यय सूचनाक या उपभोग सूचक अक (Cost of Living Index Number or Consumption Index Number)** — इन सूचक अको को बनाने मे तमाम मुख्य मुख्य वस्तुओ व सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है तथा इनको उचित भार दिया जाता है। ये वस्तुयें व सेवायें प्रतिनिधिस्वरूप होती हैं क्योंकि उपभोग की तमाम वस्तुओ व सेवाओ को सम्मिलित कर लेना व्यावहारिक जीवन मे सम्भव नही होता है। इन निर्देशाको का उद्देश्य जीवन-निर्वाह व्यय मे परिवर्तन को नापना अथवा मुद्रा के मूल्य परिवर्तन को नापना ही होता है। **श्रमिक वर्ग जीवन-निर्वाह-व्यय सूचक अक तथा जीवन निर्वाह व्यय सूचक अक मे एक महत्वपूर्ण अन्तर होता है और वह यह है कि प्रथम प्रकार के निर्देशाक मे सेवाओं का मूल्य सम्मिलित नहीं किया जाता है परन्तु दूसरे प्रकार के सूचक अक मे सेवाओं का मूल्य भी सम्मिलित किया जाता है।** परन्तु इन निर्देशाको मे यह एक बड़ा दोष है कि व्यक्तिगत सेवाओ पर किये गये व्यय को कम महत्व दिया जाता है। इसीलिए इन निर्देशाको का मुद्रा की क्रय शक्ति के निश्चित मापक के रूप मे उपयोग करना उचित नही होता है।

(४) **औद्योगिक सूचनाक (Industrial Index Numbers)** —सूचक अको का उपयोग देश की औद्योगिक दशा को जानने के लिए भी किया जाता है। इस प्रकार के निर्देशाको को तैयार करने के लिए हम देश के भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धो की उत्पत्ति के अक एकत्र करते हैं। आधार वर्ष का उत्पादन १०० मानकर अन्य वर्षों के औद्योगिक उत्पादन के परिवर्तन का अनुमान सूचनाकों द्वारा लगाया जाता है। इस समय भारत मे कलकत्ते से 'कैपिटल' नामक साप्ताहिक पत्र एक औद्योगिक सूचनाक सन् १९३२ से बराबर प्रकाशित कर रहा है।

उक्त निर्देशाक के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के सूचक अक भी हैं, जैसे आय निर्देशाक, आर्थिक स्थिति के निर्देशाक आदि।

निर्देशांको के उपयोग अथवा लाभ व सीमायें

(Uses, Advantages and Limitations of Index Numbers)

निर्देशाको के उपयोग अथवा लाभ (Uses and advantages of Index Numbe) —निर्देशाक अनेक प्रकार के होते हैं। इनके अपने-अपने उपयोग तथा लाभ हैं–(1) जीवन निर्वाह व्यय सम्बन्धी-सूचक अक —इन निर्देशाको से यह पता चल जाता है कि रहन-सहन-व्यय बढ़ रहा है या घट रहा है अर्थात् श्रमियो की वास्तविक मजदूरी बढ़ रही है या घट रही है और यदि वास्तविक मजदूरी मे परिवर्तन हो रहा है तब यह परिवर्तन पहले किसी आधार-वर्ष की तुलना म किस अनुपात मे हो रहा है। इस प्रकार

की जानकारी से यह लाभ होता है कि मिल मालिक तथा श्रमिकों के मजदूरी-सम्बन्धी आपस के झगड़े आसानी से तय हो जाते हैं, औद्योगिक शांति स्थापित हो जाती है, श्रमिकों का असन्तोष दूर हो जाता है जिससे समाज में उत्पादन-उथल-पुथल नहीं होने पाती है। अतः जीवन-निर्वाह व्यय-सम्बन्धी सूचक अंक मजदूरी तथा रहन-सहन-व्यय में समायोजन (Adjustment) स्थापित करने में सहायक होते हैं। (ii) बिक्री तथा मूल्य-सूचक अंक:—किसी व्यापारी के व्यापार के आधार पर बने इन सूचक अंकों से इस व्यापारी को यह पता चल जाता है कि उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री घट रही है या बढ़ रही है और यह परिवर्तन किस अनुपात में हो रहा है अथवा कौन-कौन सी वस्तुओं की बिक्री बढ़ रही है और कौन-कौन सी वस्तुओं की बिक्री घट रही है। इसके अतिरिक्त व्यापारी को अपने माल के क्रय-विक्रय का ठीक-ठीक समय भी इनसे पता चल जाता है। यही बात मूल्यों पर भी लागू होती है। अतः बिक्री तथा मूल्य-सम्बन्धी सूचक अंक व्यापारियों, कम्पनियों तथा उत्पादकों के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। (iii) मुद्रा के मूल्य का माप:—सामान्य मूल्यस्तर सम्बन्धी सूचक अंक (General Price Level Index Number) हमें मुद्रा के मूल्य के घट-बढ़ का ज्ञान कराता है। इस प्रकार की सूचना व्यापारियों, श्रमिकों तथा सरकारों के लिए अत्यधिक लाभप्रद होती है। यदि ये अंक धीरे-धीरे बढ़ते हैं, तब इसका अर्थ है कि मूल्यों में शनैः शनैः वृद्धि हो रही है जिससे व्यापार में दृढ़ता और स्थिरता होती जा रही है। इसके विपरीत अंकों में कमी हो जाने का अर्थ है कि मूल्यों में कमी होती जा रही है तथा मंदी काल के कारण व्यापारिक उथल-पुथल हो जाने की सम्भावना उत्पन्न होती जा रही है मूल्यों में परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों। पर भी भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इस तरह इन अंकों द्वारा मुद्रा-स्फीति (Inflation) या मुद्रा-विस्फीति (Deflation) के कारण उत्पन्न होने वाले सामाजिक अन्याय (*Social Injustice*) की भी भली प्रकार जानकारी हो जाती है। सूचक अंकों द्वारा जब सरकार को मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों की जानकारी हो जाती है तब वह इसके बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए बैंक-दर, विनिमय-दर तथा साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण की नीति अपनाती है। (iv) विदेशी व्यापार-सम्बन्धी सूचक अंक:—इन अंकों से विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान हो जाता है और इस जानकारी से विदेशी व्यापार के भुगतान में सन्तुलन की अवस्था आसानी से उत्पन्न की जा सकती है। (v) उत्पत्ति सम्बन्धी निर्देशांक:—इन अंकों से पता चल जाता है कि कौन-कौन से उद्योगों में उत्पादन बढ़ रहा है और कौन-कौन से उद्योगों में उत्पादन घट रहा है। इस प्रकार की जानकारी के आधार पर ही सरकार उद्योगों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है। कारखाने के मालिकों को इन अंकों से यह पता चल जाता है कि उनके कारखानों का काम किस प्रकार का चल रहा है। (vi) ऋणी तथा ऋणदाता को लाभ:—इन अंकों द्वारा ऋणी अपने ऋण के चुकाने का आदर्श तथा उचित समय का पता लगा सकता है क्योंकि जब अंक ऋण लेने समय की तुलना में ऊंचे होते हैं, तब ऋण के चुकाने में ऋणी को लाभ होता है (*Higher the Index Number, greater is the gain for the*

debtor in repayment of the Debt and vice versa) । इसी प्रकार एक ऋणदाता इन अंकों की सहायता से अपने रुपए को उधार देने का ठीक समय पता लगा सकता है। (vi) अन्य उपयोग—रेलवे भी गाड़ियों से सम्बन्धित सूचक अंक तैयार करती है। इन अंकों से उसे पता चल जाता है कि किसी विशेष अवसर पर जैसे मेला आदि, उसे कितनी गाड़ियों को चलाना चाहिये ताकि अगली बार जनता को असुविधा नहीं होने पाये। बैंक भी समय-समय पर की जाने वाली रुपये की मांग सम्बन्धी सूचक अंक तैयार करते हैं ताकि वे ऐसे महीनों में मुद्रा की मात्रा को बढ़ा सकें जिनमें रुपये की मांग अधिक होती है। अतः अनेक व्यापारिक संस्थाओं को सूचक अंकों के अनेक प्रकार से लाभ प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष —प्रो० फिशर (Fisher) ने ठीक ही कहा है कि वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थायी रखने के लिए तथा व्यापार में स्थायित्व लाने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी होते हैं। सूचक अंकों की सहायता से यह आसानी से पता चल जाता है कि देश में व्यापारिक स्थिति कैसी है, लाभ हानि की दशा क्या है, पूंजी में किस प्रकार की गतिशीलता है, मूल्य स्तर में किस किस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं और इनसे समाज के विभिन्न वर्गों पर किस किस प्रकार के प्रभाव पड़े हैं? निर्देशांक हमें व्यापारिक, आर्थिक तथा वित्त सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में भी बहुत सहायक होते हैं। एक व्यापारी इनकी सहायता से मजदूरों के मजदूरी सम्बन्धी झगड़े आसानी से निपटा लेता है क्योंकि इनकी सहायता से मजदूरी तथा रहन-सहन व्यय में आसानी से समायोजन (Adjustment) किया जा सकता है, व्यापारी को अपने लाभ-हानि की जानकारी में भी ये बहुत सहायक होते हैं और वह इस जानकारी के आधार पर ही अपनी व्यवसायिक नीति निर्धारित करता है। कुछ व्यापारी अपने कार्यकर्ताओं की कुशलता का सूचक अंक तैयार कराते हैं और उन्हें तरक्की इन्हीं के आधार पर देते हैं। सट्टे व्यापारियों को भी सूचक अंकों से अपने व्यापार में बहुत सहायता मिला करती है। सरकार को भी इन अंकों से बहुत लाभ होता है। इन अंकों की सहायता से उसे पता चल जाता है कि मुद्रा के मूल्य में क्या परिवर्तन हुआ है, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन तथा इनके उत्पादन-व्यय की क्या स्थिति है, जीवन-निर्वाह व्यय में किस प्रकार का परिवर्तन हुआ है आदि और इस जानकारी के आधार पर वह एक उचित वित्त तथा कर—(Tax) सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है। सरकार को देश के आर्थिक नियोजन (Economic Planning) में भी बहुत सहायता मिलती है। एक राजनीतिज्ञ तथा समाज सुधारक भी इन अंकों की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति को समझ सकता है और वह राज्य की नीति की उचित आलोचना कर सकता है।

सीमायें (Limitations)

निर्देशांकों की सीमायें (Limitations of Index Numbers).—यद्यपि सूचक अंक बहुत उपयोगी है इनका प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता है और हो रहा है, परन्तु फिर भी इनमें कई महत्वपूर्ण दोष भी हैं—(i) इनसे अन्तर्राष्ट्रीय तुलना नहीं की-

जा सकती है—सूचक अंकों के आधार विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त गुण व परिमाण के अनुसार भी वस्तुएँ प्रत्येक देश मे भिन्न-भिन्न होती हैं इन कारणो से सूचक अंको की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय तुलना नही की जा सकती है। (ii) **समय का अन्तर हो जाने पर सूचक अंकों की सहायता से तुलना करना कठिन हो जाता है**—समय के बीतने पर मनुष्य के उपभोग की आदतो मे भी परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य एक तरफ यदि कुछ नई-नई वस्तुओं का उपभोग करने लगता है, तब दूसरी तरफ वह या तो कुछ वस्तुओं का उपभोग पहले से कम कर देता है या इनका उपभोग बिल्कुल ही बन्द कर देता है। आज से ३०–४० वर्ष पूर्व चाय का उपभोग लगभग नही के बराबर था, परन्तु आज इसका उपभोग घर-घर में दिन में २–३ बार होता है। इसी तरह आज से १५–२० वर्ष पहले टाई का आम रिवाज था, परन्तु आज इसका उपयोग पहले से बहुत कम हो गया है। अतः कुछ समय पूर्व उपभोग की वस्तुओं के मूल्यो के आधार पर बने सूचक अंकों की आज के उपभोग की वस्तुओं के मूल्यों पर आधारित सूचक अंको से तुलना करना उचित नही होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही मार्शल (Marshall) ने शृंखलाकारी सूचक अंक (Chain Index Numbers) बनाने का सुझाव दिया है। (iii) **सूचक अंकों का सीमित उपयोग होता है**—एक सूचक अंक किसी खास उद्देश्य से ही बनाया जाता है। इस कारण इस सूचक अंक का अन्य किसी दूसरी क्रिया के अध्ययन के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि निर्देशांक डाकखाने मे कार्य करने वाले डाकियों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के लिए बनाये गये हैं, तब इन्हीं से कलेक्ट्रेट के पेशकारो की आर्थिक दशा की जानकारी नही हो सकती है क्योंकि प्रथम तो इन दोनो वर्गों की आमदनी मे बहुत भिन्नता होती है और द्वितीय इन दोनों वर्गों की उपभोग की वस्तुओं में भी काफी अन्तर रहता है। अतः सूचक अंकों का बहुत ही सीमित उपयोग होता है। (iv) **सूचक अंक बिल्कुल सत्य परिणाम नहीं देते हैं**—सूचक अंकों में गणितात्मक सत्यता (Arithmetical Accuracy) नही पाई जाती है। इस तरह इनमें केवल समीपता (Approximation) का गुण पाया जाता है। अतः सूचक अंक बिल्कुल सत्य परिणाम नहीं देते। फिर भी ये अंक मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन का सत्य के समीप सकेत देते हैं। (v) **ये मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन की सही सूचना नहीं देते हैं**—प्रायः सूचक अंक थोक मूल्यो (Wholesale Price) के आधार पर बनाये जाते हैं क्योंकि इस प्रकार के मूल्यों की जानकारी आसानी से हो जाती है। परन्तु अधिकांश व्यक्ति वस्तुओं को फुटकर मूल्य (Retail Prices) पर खरीदते हैं। अतः थोक मूल्यो पर आधारित सूचक अंक मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन की सही सूचना नही देते। वास्तव मे इस कार्य के लिये सूचक अंक फुटकर मूल्यों पर आधारित होने चाहियें। परन्तु फुटकर मूल्यों की जानकारी में बहुत कठिनाई होती है। अतः सूचक अंक (थोक मूल्यों पर आधारित) मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन की ठीक-ठीक सूचना नही देते हैं। (vi) **भारों को मनमाने तौर पर हो दिया जाता है**—भारतीय सूचक अंकों में भार का देना स्वेच्छिक (Arbi-

trary) होता है। अतः भारों की ठीक-ठीक जानकारी में कठिनाई होने से सूचक अंक भी ठीक परिणाम नही देते।

निष्कर्ष —उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निर्देशांको के बनाने मे अनेक कठिनाइयां होती हैं तथा इनका उपयोग भी अनेक बातों से सीमित होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सूचक अंक उपयोगिता-रहित होते हैं। बैंकिंग व मुद्रा के क्षेत्र मे मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन से सम्बन्धित अनेको समस्याओ का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण होता है। सूचक अंक चाहे जितने अपूर्ण अथवा दोषपूर्ण क्यों न हो, परन्तु यह सर्वमान्य है कि आज मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनो को नापने का अन्य कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं है। जब तक इस प्रकार के परिवर्तनों को नापने का अन्य कोई दूसरा अधिक सन्तोषजनक साधन उपलब्ध नहीं होता, सूचक अंको का महत्व किसी भी प्रकार से कम नही हो सकता। तनिक सावधानी से इन अंको का निर्माण कर लेने पर ये हमे सरलता से बहुत कुछ सीमित परिणाम दे देते हैं जिससे निर्देशांक आज बहुत ही उपयोगी हैं।

भारत मे निर्देशांक
(Index Numbers in India)

भारतीय सूचक अंक (Indian Index Numbers) —भारत में सूचक अंक तैयार करने के आजकल दो मुख्य स्रोत हैं —(क) सरकारी तथा (ख) गैर-सरकारी। भारत सरकार प्रतिमास एक रिपोर्ट प्रकाशित करती है जिसमे देश की व्यापारिक दशा के सूचक अंक होते हैं। इसके अतिरिक्त सन् १९३९ से भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा भी सूचक अंक तैयार किये जाते हैं। ये अंक प्रतिमास एक पत्रिका (Bulletin) में प्रकाशित किये जाते हैं जिसमें २३ वस्तुओ के थोक सूचक अंक तथा १८ मुख्य कृषि वस्तुओ के सूचक अंक होते हैं। बम्बई तथा उत्तर-प्रदेशीय सरकारें भी बम्बई तथा कानपुर के क्रमशः थोक सूचक अंक प्रकाशित करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तीय सरकारो ने लेबर कमिश्नर्स (Labour Commissioners) भी नियुक्त कर रक्खे हैं जो सूचक अंक बनाने का काम भी करते हैं। इस तरह प्रान्तीय सरकारो द्वारा बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर, जबलपुर तथा नागपुर के मजदूरों के रहन सहन व्यय से सम्बन्धित सूचक अंक समय-समय पर प्रकाशित किये जाते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भी अपनी पत्रिका (Bulletin) में कुछ मुख्य सूचक अंक प्रतिमास प्रकाशित करता है। गैर-सरकारी स्रोतो में भारतवर्ष की कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकायें तथा अनेक व्यापारिक संस्थायें भी समय समय पर सूचक अंक प्रकाशित करती हैं। भारत मे ईस्टर्न इकोनोमिस्ट (Eastern Economist), कॉमर्स (Commerce), कैपिटल (Capital) फाईनान्स (Finance) तथा इण्डियन ट्रेड जर्नल (Indian Trade Journal) आदि-पत्र पत्रिकाओ द्वारा कुछ महत्वपूर्ण सूचकअंक प्रकाशित किये जाते हैं। इसी तरह इण्डियन चैम्बर ऑफ कामर्स (Indian Chamber of Commerce, Calcutta) ऐम्पलोयर्स ऐसोसियेशन ऑफ नोर्दर्न इण्डिया (Employer's Association of Northern India, Kanpur) आदि व्यापारिक संस्थायें द्वारा भी समय समय पर सूचक अंक प्रकाशित किये जाते हैं।

भारतीय सूचक अंकों के तैयार करने में कठिनाइयां तथा उनके दोष (*Difficulties and Defects in the Preparation of Indian Index Numbers*):--भारत में तैयार किये जाने वाले सूचक अंक प्रायः अपूर्ण तथा विश्वास रहित होते है क्योंकि इनको तैयार करने के साधन तथा तरीके दोनो ही अनुपयुक्त हैं। भारत मे भाव इकट्ठे करने के साधन असन्तोषजनक हैं तथा शिक्षित, योग्य व अनुभवी जांचकर्ताओं का पूर्ण अभाव है। जो लेखपाल या अन्य व्यक्ति इन आंकड़ों को इकट्ठा करता है उसे शायद ही यह मालूम होता हो कि वे आकड़े किस लिए इकट्ठे किए जा रहे है। लगान अधिकारी (Revenue officials) जो अन्य सरकारी कार्यों में अत्याधिक व्यस्त रहते हैं, वे तो इस ओर पूर्णतया तटस्थ रहते है। यही कारण है कि भारत मे अन्य आंकडो की तुलना मे कृषि-सम्बन्धी आंकडे तो अत्यधिक असंतोषजनक तथा अविश्वासी होते हैं। आशा है भारतीय सरकार इस कमी को शीघ्र ही बहुत कुछ दूर कर सकेगी क्योंकि विश्वसनीय आकडो के अभाव में देश मे आर्थिक नियोजन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. सूचनाक किसे कहते है, इनके द्वारा भारतीय रुपये के मूल्य मे परिवर्तन किस प्रकार नापा जा सकता है ? (१६५६ S) २. सूचनाक पर नोट लिखिये। (१६५८ S, १६५८, १६५७, १६५५S, १६५५) 3. What are Index Numbers and how are they prepared ? Show how Index Numbers can be used to measure changes in the value of money. (1956 S) 4. What are Simple Index Numbers ? How are they *constructed ? Give their uses. (1954)*

Agra University, B. Com.

१. एक साधारण निर्देशाक और एक भारसील निर्देशाक मे अन्तर बताइये। निर्देशांकों का महत्व क्या है ? (१६६०) २. नोट लिखिए--सांकेतिक (Index Numbers) (१६५६) 3 What are Index Numbers ? How do they help in measuring the value of Money ? (1958 S) 4. Explain the nature, construction and uses of *Index Numbers of prices.* (1957) 5 What are Index Numbers ? How are they prepared ? Discuss their utility. (1956) 6. Explain the purpose and method of preparing index number. What is a 'weighted index number' and why is it prepared ? (1955 S)

Rajputana University, B. A.

1. Write a note on—Index Number. (1954)

Rajputana University, B. Com.

1. Discuss the importance and purpose of weighting in constructing Index Numbers (सूचनाक या निर्देशांक) and indicate the practical difficulties in the way. (1958) 2. What is an Index Number (सूचनाक या निर्देशांक)? Examine the difficulties experienced in measuring changes in the value of money with the help of Index Numbers (1956) 3. What are the uses and *objects of a general prices index number ?* Briefly discuss the various steps involved in its construction. (1955)

Sagar University, B. A.

१. देशनांक कैसे निर्मापित किये जाते हैं ? उनके मुख्य उपयोगों को दर्शाइये

(१६५६) 2 What do you understand by Index Number ? How are they prepared? Explain their uses in the study of Economic problems (1658)

Sagar University, B Com

१ देशनांक किस प्रकार निमार्णित किए जाते हैं ? देशनांकों के निर्माण की कठिनाइयों को बताइये । (१६५६)

Jabbalpur University, B A

१ उदाहरण सहित सरल और गुरुकृत देशनाक (Simple and weighted Index Numbers) समझाइय (१६५६) २ नोट लिखिये—देशनाक (Index Numbers) । (१६५८)

Allahabad University B A

१ नोट लिखिए —सूचनाक (१६५७ १६५५) २ देशनाक क्या है ? सामान्य देशनाक का अनुगणन करने की विधि (Method of constructing) समझाइये । (१६५६)

Allahabad University B Com

1 Write a short note on—Index Numbers (1956)

Gorakhpur University B Com

I How is the variation in the value of money measured ? What are the defects in the system of Index Numbers ? To what extent can they be remedied ? (Pt II) (1959)

Bihar University, B A

1 What do you mean by the General Price Level ? How do you measure changese in it ? 1958)

Nagpur University B A

१ मुद्रा मूल्य के परिवतन का मापन कसे किया जाता है ? इनमें आने वाली कठिनाइया बतलाइय ? (१६५६) २ मुद्रा के मूल्य (Value of Money) के परिवतन मापने के लिय निर्देशाक (Index Numbers) का किस प्रकार उपयोग किया जाता है यह समझाइय । (१६५७) ३ सरल देशनाक और गुरुकृत देशनाक (Simple and Weighted Index Numbers) का क्या महत्व है ? पूणतया स्पष्ट कीजिय ।(१६५६) ३ मुद्रा (Money) की परिभाषा दीजिय । मुद्रा मूल्य में परिवतन को नापने की कोई एक व्यवहारिक रीति का वणन कीजिय । (१६५५)

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ —(i) सूचनांक किसे कहते हैं ? इनके द्वारा भारतीय रुपये के मूल्य में परिवतन किस प्रकार नापा जा सकता है? (Agra B A १६५६ S) (ii) सामान्य देशनाक का अनुगणन करने की विधि समझाइये (Allahabad B A १६५६) (iii) देशनांक कसे निर्धारित किये जाते हैं ? उनके मुख्य उपयोगों को दर्शाइये (Sagar B A १६५६), (iv) देशनांकों के निर्माण की कठिनाइयों को बताइये (Sagar, B Com १६५६) (v) मुद्रा के मूल्य के परिवतन नापने के लिये निर्देशांक का किस प्रकार उपयोग किया जाता है यह समझाइये (Nagpur, B A १६५७)

(vi) How is the variation in the value of money measured? What are the defects in the System of Index Number? To what extent can they be remedied? (Gorakh, B. Com. 1957)

संकेत:—उक्त प्रश्नों में पांच बातें पूछी गई हैं— निर्देशांकों का क्या अर्थ है? इनके अनुगणन करने की क्या विधि है? इसमें क्या-क्या कठिनाइयां पड़ती है? निर्देशांकों के क्या-क्या दोष हैं तथा इन दोषों को दूर करने के लिये क्या-क्या उपाय किये जाते हैं। इनके क्या-क्या मुख्य उपयोग हैं? प्रथम भाग में सूचनाकों का अर्थ एक-दो परिभाषाओं के आधार पर दीजिए (आधा पृष्ठ), द्वितीय भाग में इनके बनाने की विधि बताइये, जैसे आधार वर्ष का चुनाव होता है, वस्तुओं व सेवाओं का चुनाव किया जाता है, वस्तुओं के मूल्यों का चुनाव होता है, तद्परचात् मूल्यों को प्रतिशत में दिखाया जाता है और अन्त में औसत निकाला जाता है। इस तरह निर्देशांक प्राप्त हो जाता है (यह स्मरण रहे कि ये सब विधियां साधारण निर्देशांक की है। यदि भारशील सूचनांक निकाला जाता है, तब इसमें भार देने की क्रिया तथा उससे सम्बन्धित गणना में परिवर्तन की भी विधि मे लिखना होगा) साधारण निर्देशांक का एक उदाहरण दीजिये। यदि उदाहरण भारतीय है, तब इससे भारतीय रुपये के मूल्य के परिवर्तन का ज्ञान हो जाता है (दो-ढाई पृष्ठ)। तृतीय भाग में सूचक अंको को बनाने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उन्हे लिखिये जैसे—आधार-वर्ष के चुनाव में कठिनाई, प्रतिनिधि वस्तुओं के चुनाव में कठिनाई, वस्तुओं का मूल्य मालूम करने मे कठिनाई, औसत निकालने में कठिनाई और यदि भारशील निर्देशांक मालूम किया जा रहा है, तब वस्तुओं को भार देने मे कठिनाई होती है आदि। इन कठिनाइयों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालिये कि कभी-कभी सूचनांक सच्चे व वास्तविक नही होते हैं जिससे ये मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को भी ठीक-ठीक नहीं नापने पाते हैं (एक पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में निर्देशांकों के लाभ एवं उपयोग बताइये, जैसे—जीवन-निर्वाह-व्यय सूचक अंकों से पता चल जाता है कि रहन-सहन का व्यय बढ़ रहा है या घट रहा है या वास्तविक मजदूरी घट रही है अथवा बढ रही है, बिक्री व मूल्य-सम्बन्धी अंकों से पता चल जाता है कि व्यापारी की बिक्री घट रही है या बढ़ रही है अथवा किस वस्तु की बिक्री बढ रही और किस की घट रही है अथवा किस समय बिक्री बढ़ती है और किस समय यह कम होती है, सामान्य मूल्य-स्तर (या मुद्रा के मूल्य का माप) सम्बन्धी सूचक अंकों से पता चलता है कि मुद्रा का मूल्य घट रहा है, अथवा बढ़ रहा है। व्यापार सम्बन्धी विदेशी अंकों से विदेशी व्यापार तथा भुगतान के सन्तुलन की स्थिति का ज्ञान होता है, उत्पत्ति निर्देशांकों से उत्पत्ति की मात्रा मे घट-बढ का ज्ञान होता है तथा यह घट-बढ़ किस उद्योग में हो रही है। सरकार की आर्थिक सहायता देने की नीति इन्ही अंकों के आधार पर निर्धारित होती है। सूचक अंकों से ऋणी-ऋणदाताओं को भी लाभ है क्योंकि ऋणी को ऋण के भुगतान तथा ऋणदाता को ऋण देने का उचित समय पता चल जाता है, इसी तरह इन अंकों का उपयोग रेलवे, बेंक आदि भी करते हैं जिन्हें इनकी सहायता से व्यापार सम्बन्धी अनेक सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं। निष्कर्ष लिखिये और बताइये कि ये अंक व्यापारिक, आर्थिक व वित्तीय सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में बहुत

सहायक होते हैं (एक-डेढ पृष्ठ) पाचवें भाग मे सूचक अको के दोष (सीमायें) बताइये, जैसे इनसे अन्तर्राष्ट्रीय तुलना नही की जा सकती है, समय का अन्तर हो जाने पर इन अको की सहायता से तुलना नही की जा सकती है, अक किसी विशेष उद्देश्य से बनाये जाते हैं जिससे इनका सीमित उपयोग होता है, अको में गणितीय सत्यता नहीं होती है और इनमे समीपता का गुण पाया जाता है, अक्सर ये मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनो की सही-सही सूचना नही देते है, भारशील अको मे भार ठीक-ठीक नही देने पर अक ठीक परिणाम नहीं देते है आदि । निष्कर्ष निकालिये कि इन दोषो के होते हुए भी मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनो को नापने का यही एक मात्र साधन उपलब्ध है (एक पृष्ठ) ।

नोट—उक्त प्रश्नो के उत्तर में यदि भारशील अको के सम्बन्ध मे थोडा-बहुत लिख दिया जाय, तब अनुचित नहीं होगा परन्तु गणितीय उदाहरण देना अनावश्यक है ।

प्रश्न २ —(i) उदाहरण सहित सरल और गुरुकृत देशनांक समझाइये (Jabb. B. A १६५६), (ii) सरल देशनांक और गुरुकृत देशनांक का क्या महत्व है ? पूर्णतया स्पष्ट कीजिए (Nagpur, B A १६५६), **(iii) Discuss the importance and purpose of weighting in consturcting *Index Numbers* and *indicate the practical difficulties in the way* (*Raj , B. Com 1958*), (iv) "*Index* Numbers measure the changes in price-level, but the items included *in the index have different importance,* therefore the index is weighted according to the expenditures on the items (Crowther). Explain the above statement fully (*Patna, B Com. 1952*)**

संकेत—उत्तर के प्रारम्भ मे एक-दो परिभाषाओ के आधार पर सूचक अंकों का अर्थ समझाइये (एक पैरा) और यदि प्रश्न में सरल व भार युत (महत्वदर्शी) दोनों ही प्रकार के सूचक अको के बारे मे पूछा है, तब पहले सरल निर्देशांक बनाइये और फिर इसी उदाहरण के आधार पर भार-युक्त निर्देशांक बताइए । यह स्पष्ट कीजिये कि इन दोनो प्रकार से निर्देशांको को बनाने मे परिणामो म क्या अन्तर होता है (एक पृष्ठ) । फिर सक्षप म इन अको को बनाने की विधि बताइए—एक-एक या दो-दो वाक्यो म प्रत्येक ៦ ep को लिखिये परन्तु भार का अर्थ व इसके प्रयोग की रीति तथा भार देने के महत्व को तनिक विस्तार से लिखिये (एक-डेढ-पृष्ठ) । उत्तर के द्वितीय भाग में निर्देशाको के महत्व व लाभो को लिखिये (प्रश्न १ के सकेत को पढिये) । तृतीय भाग मे, अको के बनाने म जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, उन्हें लिखिए (प्रश्न १ का सकेत पढिये) ।

प्रश्न ३ —i) **How far do you believe in the reality of the General Price Level ? *How do you overcome* the plurality in the price movements while trying to measure the purchasing power of money ? (Patna B Com 1948). (ii) "General purchasing *Power of* Money is a misleading concept " Discuss (Patna, B A. 1952)**

संकेत—उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग में यह बताइये कि सामान्य मूल्य-स्तर क्या एक कल्पना मात्र व भ्रमात्मक विचार माना जाता है—समाज मे उपलब्ध विभिन्न वस्तुओ के मूल्य म घटने बढ़ने का कोई निश्चित क्रम नहीं होता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माग व पूर्ति के सापेक्षिक महत्व के अनुसार निर्धारित होता है, यद्यपि मन्दीकाल म सामान्यत समस्त वस्तुओ के मूल्य म घटने और युद्धकाल म

समस्त वस्तुओं के मूल्य में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, तथापि समस्त वस्तुओं के मूल्य मे घट-बढ़ न तो समान अनुपात में और न समान दिशा में ही होती है। मन्दीकाल में यद्यपि मूल्यों में कमी होती है, परन्तु कुछ वस्तुये ऐसी भी होती हैं जिनके मूल्य में या तो कमी नहीं होती और अगर होती भी है तब तुलना मे अनुपात से कम। इसी तरह तेजीकाल मे यद्यपि मूल्यों में वृद्धि होती है परन्तु इस काल में भी कुछ वस्तुयें ऐसी होती है जिनके मूल्य मे या तो वृद्धि नहीं होती और अगर होती भी है तब अन्य वस्तुओं की तुलना में अनुपात से बहुत कम। इसीलिये वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन की इन विशेषताओं के कारण एक सामान्य मूल्य-स्तर की कल्पना अत्यन्त भ्रमात्मक है उदाहरण सहित उत्तर लिखिये (एक-डेढ़-पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि द्रव्य की क्रय-शक्ति का माप करते समय वस्तुओ के मूल्यों में विभिन्न अनुपात में भिन्नता से उत्पन्न होने वाले दोष को किस प्रकार दूर करने का प्रयत्न किया जाता है—यह बताइये कि विभिन्न श्रेणी के मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उपभोग करते हैं(उदाहरण दीजिये)। *एक अकुशल श्रमिक की उपभोग की वस्तुयें कुशल श्रमिक से अथवा एक निर्धन वर्ग की* उपभोग की वस्तुयें धनी वर्ग से भिन्न होती है (यद्यपि कुछ वस्तुयें ऐसी भी है जिनका प्रत्येक व्यक्ति अथवा प्रत्येक वर्ग द्वारा उपभोग होता है)। अतः हम सामान्य मूल्य-स्तर मे परिवर्तन की जानकारी प्राप्त करने के लिए (अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन का माप करने के लिये) प्रत्येक वर्ग के लिये (i) भिन्न-भिन्न रूपों में सूचक अंक तैयार करते हैं और इन अंकों को तैयार करते समय, (ii) केवल उन्ही वस्तुओ को लेते है जिनका उपभोग अमुक वर्ग द्वारा किया जाता है, (iii) वस्तुओं के महत्व के अनुसार गणना में भार (Weight) का प्रयोग करते है, (iv) वस्तुओं का चुनाव सतर्कता से करते हैं, (v) प्रायः समाज मे अनेक संस्थाओ द्वारा विभिन्न वस्तुओं, विभिन्न आधार वर्षों, कुल थोक-मूल्य तव अन्य फुटकर मूल्यो के आधार पर सूचक अंक तैयार करती है जिससे प्रत्येक के निष्कर्ष मे अन्तर रहता है। इस स्थिति मे हम प्रमुख सस्थाओ के परिणामों का औसत निकालकर वस्तुओ के मूल्य मे विभिन्न दिशा व भिन्न-भिन्न अनुपात मे मूल्यो के अन्तर के दोष को दूर कर सकते है (एक-डेढ़ पृष्ठ)। अन्त में, एक पैरे मे लिखिये कि यद्यपि सामान्य मूल्य-स्तर की धारणा अत्यन्त काल्पनिक जान पड़ती है परन्तु फिर भी इसके द्वारा (अर्थात् इसके आधार पर निर्मित निर्देशांकों द्वारा) हम मुद्रा के मूल्य मे सामान्य परिवर्तनो की जानकारी प्राप्त कर लेते है और व्यापारियो, अर्थशास्त्रियों व सरकार के लिये यह जानकारी अत्यन्त महत्व की होती है (आधा पृष्ठ)।

प्रश्न ४ :—सूचक अंकों से व्यापारियो व उत्पादकों अर्थशास्त्रियो तथा सरकार को क्या-क्या लाभ होते हैं ?

संकेत :—उत्तर के आरम्भ में सूचक अंको का अर्थ एक-दो परिभाषाओं के आधार पर लिखिए (आधा पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे इन अंकों के लाभ व्यापारियों व उत्पादकों को बताइए :—(i) जीवन-निर्वाह व्यय सम्बन्धी अंको द्वारा इन्हें श्रमिकों की मजदूरी व उनके रहन-सहन व्यय में समायोजन करने मे सुगमता होती है जिससे

मजदूर-मालिक झगड़े सुगमता से तय हो जाते हैं, औद्योगिक शान्ति स्थापित हो जाती है, श्रमिकों को सन्तोष हो जाता है और वे मन लगा कर अधिकतम उत्पत्ति करने का प्रयत्न करते हैं, (ii) उत्पादन व बिक्री सम्बन्धी अंकों की सहायता से उत्पादकों को अपने व्यवसाय की स्थिति का पता चल जाता है—क्या उत्पादन बढ़ रहा है या घट रहा है ? क्या बिक्री बढ़ रही है या घट रही है ? किस समय बिक्री अधिक और कब यह कम होती है ? इन सूचनाओं के आधार पर वह ऐसी नीति अपनाने का प्रयत्न करता है कि उसकी वस्तु की अधिकतम उत्पत्ति व अधिकतम बिक्री उचित समय पर हो सके क्योंकि अंकों से उसे पता चल जाता है कि कौन सी वस्तुओं की तथा कितनी सम्भावित माँग है ? (iii) विभिन्न देशों के सूचक अंकों का अध्ययन करके व्यापारी को वहाँ के मूल्य स्तर व इसमें समय-समय पर परिवर्तन की जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसके आधार पर उसे यह पता चल जाता है कि कौन से देशों को, किस-किस समय तथा कितनी-कितनी मात्रा में वस्तुयें भेजी जायें या वहाँ से मगाई जायें ? (iv) मूल्य-स्तर में परिवर्तनों की जानकारी इन अंकों से प्राप्त हो जाती है। यदि यह परिवर्तन तेजी से हो रहा है तब इससे वे जान जायेंगे कि मुद्रा-स्फीति की दशायें उत्पन्न हो रही हैं और यदि यह परिवर्तन शनैः शनैः हो रहा है, तब वे जान जायेंगे कि सामान्य व्यापार में दृढ़ता व स्थिरता आ रही है, इस जानकारी से वे आवश्यकतानुसार अपनी व्यापारिक नीति निर्धारित कर लेंगे। अन्त में निष्कर्ष के रूप में बताइये कि सूचक अंकों से व्यापारियों व उत्पादकों को बहुत लाभ होता है (दो-ढाई पृष्ठ)। तृतीय भाग में अर्थशास्त्री को इन अंकों के अध्ययन के लाभ बताइये :—(i) इन अंकों की सहायता से उसे देश में सम्भावित मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-संकुचन आदि स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वे इनके आर्थिक व सामाजिक परिणामों को खूब समझता है। इस कारण समाज को इनके दुष्परिणामों से बचाने के लिये वह सरकार व समाज के समक्ष अनेक उपाय प्रस्तुत करने में सफल होता है। (ii) सूचक अंकों से उसे देश विदेशों में कृषि व उद्योगों में उत्पादन की स्थिति, देश में विदेशी पूंजी के विनियोग की स्थिति, आयात-निर्यात की स्थिति का पता चल जाता है और वह अपने देश में इनसे सम्बन्धित अनेक आर्थिक समस्याओं का हल सुगमता से प्रस्तुत करता है (एक-डेढ़ पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में सरकार को इन अंकों के अध्ययन से लाभ बताइये —(i) मूल्य-स्तर के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले अनेक आर्थिक व सामाजिक कुप्रभावों का सामना करने के लिए सरकार समय-समय पर अनेक उपाय अपनाने में सफल हो जाती है जैसे—बैंक दर में परिवर्तन की नीति, विनिमय-दर पर नियन्त्रण की नीति आदि। (ii) इन अंकों के अध्ययन के आधार पर मजदूर-मालिक के झगड़ों को समझ कर एक मध्यस्थ के नाते इन्हें हल करने का प्रयत्न करती है, (iii) सरकार की उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की नीति का आधार भी सूचक अंक ही होते हैं आदि (एक पृष्ठ)। अन्त में, निष्कर्ष के रूप में लिखिये कि यद्यपि सूचक अंकों के बनाने में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं और इनमें अनेक दोष भी हैं फिर भी किसी देश के आर्थिक समाज के विकास के लिये इनका बनाना व इनका उपयोग करना बहुत आवश्यक व महत्वपूर्ण होता है (एक पैरा)।

अध्याय ६

मुद्रा प्रणालियां

(Monetary Standards)

मुद्रा-मान का अर्थ (Meaning of a Monetary Standard)—जिस वस्तु या व्यवस्था द्वारा द्रव्य की क्रय-शक्ति (या मूल्य) व्यक्त की जाती है, उसे द्रव्य-मान या द्रव्य प्रमाण (Monetary Standard) कहते हैं।* वर्तमान आर्थिक जगत में मुद्रा-मान के अध्ययन का बहुत महत्व है। किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ के मुद्रा-मान पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। एक अच्छे मुद्रा-मान से देश में आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक व व्यवसायिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण कायम हो जाता है और इसके खराब होने पर देश में आर्थिक, सामाजिक, व्यवसायिक तथा व्यापारिक पतन भी हो जाता है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा-मान (Monetary Standard) और मूल्य मान (Standard of Value) में बहुत अन्तर है। मूल्य-मान का अर्थ उस मुद्रा-इकाई (Money Unit) से होता है जिसमें किसी देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापा जाता है। उदाहरण के लिए—रुपया, पौंड, डॉलर, रूबेल (Rouble रूसी मुद्रा), मार्क आदि। परन्तु मूल्यमान के बिलकुल विपरीत मुद्रा-मान में मुद्रा प्रणाली के समस्त कार्य आ जाते हैं जिससे मुद्रा-मान शब्द का अर्थ मूल्य-मान की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। इस तरह मुद्रा-मान के अन्तर्गत न केवल मूल्य-मान का ही वर्णन आता है वरन् इसके अन्तर्गत मुद्रा-सम्बन्धी नियम आते हैं, जैसे—तमाम व्यवस्था तथा सिक्कों के ढालने व पत्र-मुद्रा के छापने से सम्बन्धित विधान, मुद्रा के क्रय-विक्रय के नियम, बहुमूल्य धातुओं के क्रय-विक्रय व इनकी आयात-निर्यात सम्बन्धी नियम, साख-मुद्रा के विकास और उसके नियन्त्रण से सम्बन्धित नियम। देश की मुद्रा में स्थिरता बनाये रखने के लिए जिस व्यवस्था का निर्माण किया जाता है वह भी मुद्रा-मान में सम्मिलित होती है। अतः मुद्रा-मान के अन्तर्गत मुद्रा-नीति तथा मुद्रा के व्यवहार सम्बन्धी सभी बातें सम्मिलित की जाती हैं।

मुद्रा प्रणालियों के भेद

मुद्रा प्रणालियों के मुख्य भेद (Types of Monetary Standards):—समय-समय पर जिन मुद्रा-प्रणालियों को अपनाया गया है, वे इस प्रकार है—(i) द्विधातु मान:—इसके तीन मुख्य रूप हैं:—(क) द्विधातु मान (Bi-metallic standard), (ख) पंगु (या लंगड़ा) द्विधातुमान (Limping Standard), (ग) समानुपात द्विधातु-मान (Parallel Bi-metallic Standard), (ii) एक धातु मान—इसके दो रूप हैं

* "Any object or system in terms of which the purchasing power of money is expressed is known as the Monetary Standard."

(क) रजत मान (Silver Standard) और (ख) स्वर्ण-मान (Gold Standard)—इसके भी तीन रूप है—(च) स्वर्ण चलन-मान (Gold Currency Standard), (छ) स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) तथा (झ) स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard), तथा (iii) प्रबन्धित पत्र चलन-मान (Managed Paper Currency Standard)।

अर्थशास्त्रियों ने कुछ अन्य मुद्रा मानों के भी सुझाव दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—(i) बहुधातु-मान (Multi-Metallism), (ii) सूचनांक मान (Index Number Standard or Tabular Standard), (iii) मिश्रित धातु-मान (Symmetallism) तथा (iv) प्रादिष्ट-मान (Fiat Standard)।

(i) द्विधातु मान (*Bi-metallism*)

(क) द्विधातु मान का अर्थ और इसकी विशेषताएं (Meaning and Characteristics of Bi-metallism)—जब दो धातुओं (सोने और चांदी का ही इस प्रकार का उपयोग होता है) के सिक्के एक साथ चलन में हों और दोनों ही सिक्के प्रामाणिक सिक्के हों, तब मुद्रा की ऐसी प्रणाली को द्विधातु-मान (Bi-metallism) कहते हैं। इस प्रथा में सरकार दोनों सिक्कों की धातुओं में भी एक निश्चित अनुपात रखती है। इस तरह द्विधातु-मान की कई विशेषतायें अथवा लक्षण हैं—(i) सोने और चांदी के सिक्के साथ ही साथ चलन में होते हैं अर्थात् दोनों ही सिक्के मूल्यमापन तथा विनिमय-माध्यम का कार्य करते हैं। (ii) टकसाल द्वारा सोने और चांदी इन दोनों धातुओं के सिक्कों में एक निश्चित वैधानिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है ताकि वे एक दूसरे से इस पूर्व निश्चित अनुपात पर बदले जा सकें। (iii) सोने और चांदी दोनों ही धातुओं के बने सिक्के असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं। ऋणी अपनी इच्छानुसार सोने या चांदी किसी भी सिक्के में ऋण का भुगतान कर सकता है। (iv) सोने और चांदी दोनों धातुओं की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई (Free Coinage) होती है। कोई भी व्यक्ति इन दोनों धातुओं या इनमें से किसी एक को टकसाल में ले जाकर उसको प्रामाणित मुद्रा में परिवर्तित करा सकता है। (v) दोनों धातुओं के बने सिक्कों का बाह्य-मूल्य (Face Value) तथा आन्तरिक-मूल्य (Intrinsic Value) समान होता है। (vi) सोने और चांदी की आयात व निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। अतः जिस मुद्रा-मान में ये सब लक्षण पाये जाते हैं, वह पूर्ण द्विधातु-मान (Perfect Bi-metallic Standard) कहलाता है।

द्विधातु मान का संक्षिप्त इतिहास* (Shord History of Bi-metallism)—द्विधातु मान यूरोप के देशों में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित रहा। अमेरिका ने सर्व-

* The students are advised not to bother much with the history of the Bi-metallism as such. Only a knowledge of a few important years in the history of Bi metallism would be quite sufficient for them at this stage of their studies of the Monetary Standards.

प्रथम सन् १७४२ के मिन्ट एक्ट (Mint Act) के अनुसार द्विधातु-मान का प्रचलन किया, परन्तु इस पद्धति का परित्याग कुछ अंश में सन् १८७३ में तथा पूर्णत: १८७६ में कर दिया। फ्रांस में यह मान सन् १८०३ में स्थापित हुआ और सोने व चांदी के बीच १ : १५½ का विनिमय अनुपात रक्खा गया। लगभग ५० वर्ष तक फ्रांस में यही अनुपात रहा। इस मान का इतना प्रचार बढ़ा कि सन् १८६५ में फ्रांस, स्विटजरलैंड, बेलजियम, इटली आदि देशों ने एक लैटिन मौद्रिक संघ (Latin Monetary Union) का निर्माण तक कर लिया। परन्तु चाँदी की नई खानों के आविष्कार के कारण चाँदी की पूर्ति में वृद्धि हो गई तथा अन्य अनेक सांसारिक कारणों से इस संघ में स्वर्ण-मुद्रा का लोप होने लगा और वास्तव में ग्रेशम के नियम (Gresham's Law) के लागू होने के कारण चाँदी-मुद्रा का ही चलन रहने से सन् १८७४ में यह संघ भी टूट गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सन् १८७८ और १८९२ में दो अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-सभायें (International Monetary Conferences) हुई जिनमें द्विधातु-मान को अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर अपनाने के लिए जोर दिया गया। परन्तु इंगलैंड जैसे स्वर्ण-मान (या एक मान) वाले देशों ने इस मान का बड़ा कट्टर विरोध किया जिससे द्विधातु-मान अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर ही नहीं अपनाया गया वरन् सन् १९०० में द्विधातु-मान का सदैव के लिए अन्त हो गया। भारत, चीन आदि देश इस समय चाँदी मान पर ही थे।

द्विधातु-मान के लाभ-दोष

द्विधातु-मान के लाभ (Advantages of Bi-metallism):—उक्तलिखित द्विधातु-मान के इतिहास से यह स्पष्ट है कि अब इस मान का केवल एक ऐतिहासिक महत्व है, यद्यपि १९ वीं शताब्दी में यह मान बहुत महत्वपूर्ण था। इस मान के समर्थकों ने इस मान के निम्नलिखित लाभ बताए हैं:—

(१) मूल्य-स्तर में स्थिरता (Stability in the Price Level):—क्रय-शक्ति की स्थिरता एक अच्छी मान-पद्धति का मुख्य गुण है। द्विधातु-मान में मुद्रा के मूल्य में अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति में स्थिरता रहती है जिससे यह मान एक बहुत अच्छा मान माना जाता है। जब द्विधातु-मान का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग होता है, तब सोने व चाँदी में से किसी एक धातु का अभाव दूसरी धातु के उत्पादन से पूरा हो जाता है जिससे दोनों धातुओं की मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता रहती है। प्रो० जीवन्स (Jevons) ने इस सम्बन्ध में एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। उनका मत है कि यदि दो पियक्कड़ व्यक्तियों को जो नशे में चूर हैं और जिनमें से एक बाईं ओर को गिरता है और दूसरा दाईं ओर को, यदि इन दोनों को आपस में बांध दिया जाय तब ये कुछ समय तक एक दूसरे के सहारे अवश्य चलेंगे और एक-दूसरे को गिरने से बचायेंगे और इस तरह इन दोनों से कुछ समय तक सीधे खड़े होकर चलाना सम्भव होगा। इसी तरह सोने की कमी चाँदी के अधिक उत्पादन से या चाँदी की कमी सोने के अधिक उत्पादन से दूर होकर, द्विधातु-मान में मूल्य-स्थैर्य (Price-Stability) बना रहता है। परन्तु एक-धातु-मान में धातु की पूर्ति में घट-बढ़ होने पर मुद्रा के परिमाण में भी घट-

घट हो जाती है जिससे द्रव्य की क्रय-शक्ति भी कम-अधिक हो जाती है और मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं रहने पाती है।

(२) द्विधातु मान में मुद्रा के सुरक्षित कोषों का विस्तार हो जाता है (Expansion of Monetary Reserves)—यह सर्वविदित अनुभव है कि प्रथम महायुद्ध के बाद कई बार एक-धातु-मान वाले देशों को, सोने के सुरक्षित कोषों (Reserve Fund) की कमी के कारण, अपनी स्वर्ण की परिवर्तनशीलता को स्थगित करना पड़ा है अर्थात् ये देश कई बार अपनी साख-मुद्रा को सोने में परिवर्तित नहीं कर सके जिससे जनता का इन देशों की मुद्रा में से विश्वास उठ गया था। ताकि मुद्रा धातु में परिवर्तनशील हो, इसके लिए स्वर्ण व चाँदी की निधि (Reserves) अधिकतम होनी चाहिए। चूँकि मुद्रा सम्बन्धी कार्यों के लिए संसार में स्वर्ण का कोष पर्याप्त नहीं है, इसलिए मुद्रा को परिवर्तनशील बनाए रखने के लिए निधि (Reserves) में सोने के साथ ही साथ चाँदी भी होनी चाहिए। अतः द्विधातु-मान में मुद्रा के सुरक्षित कोषों का विस्तार हो जाता है क्योंकि सोने व चाँदी दोनों धातुओं की सुरक्षित निधि बनाकर मुद्रा की परिवर्तनशीलता की समस्या को बहुत कुछ हल किया जा सकता है।

(३) विदेशी व्यापार को सुविधा (Convenience in Foreign Trade)—द्विधातु-मान वाले देश में मुद्रा की इकाई का मूल्य सोने व चाँदी दोनों में साथ ही साथ बताया जाता है जिससे स्वर्णमान तथा रौप्यमान (Silver Standard) दोनों ही प्रकार के देशों से इस देश की विदेशी विनिमय दर (Foreign Rate of Exchange) निश्चित करने व इसके कायम रखने में सुविधा होती है। चूँकि सोने व चाँदी की आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, इसलिए द्विधातु-मान वाले देश में विदेशी विनिमय की दर में प्रतिदिन के परिवर्तन नहीं होने पाते हैं जिससे विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है। इसका कारण स्पष्ट है। इस मान में स्वर्ण व चाँदी दोनों की मुद्रायें प्रमाणित होने के कारण स्वर्णमान वाले राष्ट्रों तथा रौप्यमान वाले राष्ट्रों से व्यापारिक सम्बन्ध बहुत आसानी से स्थापित हो जाते हैं और विनिमय दर की स्थिरता सदा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया करती है।

(४) द्विधातु मान में बैंक अपनी निधि का संचालन मितव्ययितापूर्वक कर लेते हैं तथा ब्याज की दर भी कम होती है (Banks are able to manage their Reserves Economically and the Rate of Interest is also low)—द्विधातु मान का एक गुण यह भी है कि इस मान वाले देश में बैंक्स अपनी निधि (Reserves) की व्यवस्था तथा इसका संचालन बहुत सरलता व मितव्ययिता से कर लेते हैं क्योंकि सोने व चाँदी दोनों धातुओं के सिक्के असीमित विधि ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं और बैंक्स अपनी निधि (या कोष) दोनों या दोनों में से किसी एक मुद्रा में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्रा का परिमाण व चलन अधिक होने के कारण, बैंक्स रुपया भी कम ब्याज की दर पर ही दे देते हैं जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इसीलिए सन् १८७३ में द्विधातु मान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने के लिए जोर डाला गया

द्विधातु-मान के दोष (Defects of Bi-metallism):—द्विधातु-मान में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं:—

(१) द्विधातु-मान में ग्रेशम का नियम कार्यशील हो जाता है (Application of Gresham's Law):—यदि द्विधातु-मान केवल एक ही देश में अपनाया गया है, तब ग्रेशम के नियम के लागू होने की वहां सदा सम्भावना रहती है जिससे यह मान वहां सफल नहीं होने पाता है तथा इस मान को बनाए रखने के लिए सरकार को काफी कठिनाई अनुभव होती है। इसका कारण स्पष्ट है। जबकि द्विधातु-मान तमाम संसार में नहीं होकर यह केवल किसी एक देश में ही पाया जाता है, तब इस देश के लिए सोने व चाँदी में विनिमय अनुपात को बनाए रखना सम्भव नहीं होता है क्योंकि विदेशों में दोनों धातुओं की कीमतों में अलग-अलग अनुपात मे या विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं जिससे सोने व चाँदी के सरकारी विनिमय अनुपात (Mint Ratio) तथा बाजारी अनुपात (Market Ratio) में अन्तर हो जाता है। इस अवस्था में टकसाली अनुपात से अधि-मूल्यित मुद्रायें (Over Valued Currency) अवमूल्यित मुद्राओं (Under-Valued Currency) को चलन से बाहर निकाल देती हैं (या खराब मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है) क्योंकि अवमूल्यित-मुद्रा का धातु मूल्य (Metallic Value) उसके बाह्य-मूल्य (Face Value) से अधिक हो जाता है जिससे इस मुद्रा का गलाना, निर्यात या संग्रह (Hoarding) करना अधिक लाभप्रद हो जाता है। परिणामतः द्विधातु-मान वाले देश में ग्रेशम का नियम क्रियाशील हो जाने से एक धातु के सिक्के बाजार से गायब हो जाते हैं। अतः द्विधातु-मान में ग्रेशम का नियम लागू हो जाने के कारण दोनों धातुओं के सिक्के साथ-साथ चलन में नहीं रहते, कभी सोने का सिक्का चलन में रहता है तब कभी चांदी का। यही कारण है कि इस मान को बारी-बारी का मान (Alternating Standard) भी कहते हैं।

(२) लेन-देन के व्यवहारों में कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं (Difficulties in Payment Transactions):—द्विधातु-मान मे जब टकसाली अनुपात (Mint Ratio) और बाजारी अनुपात (Market Ratio) मे अन्तर हो जाता है, उस समय ऋणदाता (Creditor) अपने ऋणों का भुगतान महंगी धातु या इसकी मुद्रा में लेना पसन्द करते हैं, परन्तु ऋणी (Debtors) सस्ती धातु या इसकी मुद्रा में भुगतान करने का प्रयत्न किया करते हैं। परिणामतः ऋण-भुगतान के कार्यों मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(३) टकसाली अनुपात तथा बाजारी अनुपात में समानता रखने में कठिनाई होती है (It is difficult to maintain equality between the Mint Ratio and the Market Ratio):—द्विधातु-मान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि टकसाली अनुपात तथा बाजारी अनुपात मे समानता रहे परन्तु व्यवहार मे इस प्रकार की समानता रखना बहुत कठिन होता है।

द्विधातु-मान के दोषों का निवारण

द्विधातु मान के दोषों के निवारण के उपाय (Remedies of the Defects of Bi-metallism):—द्विधातु-मान के दोष ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण उत्पन्न होते हैं, इसीलिए इस मान के समर्थकों ने निम्नलिखित दो उपायों का सुझाव रक्खा है और इन्हीं के आधार पर सन् १८७८ और १८९२ के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलनों (International Monetary Conferences) में इस मान को अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर अपनाने का जोर दिया गया था:—

(१) टक्साली अनुपात में बाजारी अनुपात के अनुसार परिवर्तन (A change in the Mint Ratio according to the Market Ratio):—द्विधातु मान को चलन में स्थायी रखने के लिए एक सुझाव तो यह है कि जब कभी बाजारू अनुपात और टकसाली अनुपात में अन्तर हो, तब टकसाली अनुपात (Mint Ratio) में बाजार भाव के अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिये। फ्रांस ने सन् १८४७-४८ में सोने की पूर्ति बढ़ जाने पर टकसाली अनुपात में परिवर्तन करके ही अपने यहाँ द्विधातु-मान को स्थिर किया था।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु-मान की स्थापना (Establishment of the International Bi-metallism)—द्विधातु मान के दोषों का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस मान में ग्रेशम के नियम के कार्यशील हो जाने की सदा सम्भावना रहती है जिससे इस मान में द्विधातु के स्थान पर एक-धातु-मान के बन जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस दोष के कारण कोई भी एक देश अकेला द्विधातु-मान को सफलतापूर्वक नहीं अपना सकता है। परन्तु यदि संसार के तमाम प्रमुख देशों में द्विधातु-मान की स्थापना हो जाय अर्थात् यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु-मान (International Bi-metallism) स्थापित हो जाय, तब ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता को रोका जा सकता है क्योंकि तब इन सब देशों में द्विधातु-मान को कायम रखने के लिये सहयोग भी होगा। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान की सफलता के क्या कारण हैं? इसका एक ही मुख्य कारण है। इस अवस्था में द्विधातु-मान की क्षतिपूरक क्रिया (Compensatory Action of the Double Standard) बहुत ही शक्तिशाली रूप में कार्य करेगी और इस क्रिया के परिणामस्वरूप तमाम द्विधातु-मान वाले देशों में बाजारी अनुपात प्रायः टक्साली अनुपात के बराबर हो जायगा जिससे इन सब देशों में द्विधातु-मान सफलतापूर्वक कार्य करता रहेगा। इसीलिये द्विधातु-मान प्रणाली के मुख्य दोषों को दूर करने तथा इसमें सफलता लाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान (International Bi-metallism) की स्थापना के सुझाव पर १९वीं शताब्दी के अन्त में बहुत जोर डाला गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान में क्षतिपूरक क्रिया किस प्रकार कार्यशील होती है? (How does the Compensatory Action affect the International Bi-metallism?)—द्विधातु मान में क्षतिपूरक क्रिया का किस प्रकार प्रभाव पड़ता

है, इसकी जानकारी के लिये हम एक उदाहरण लेते हैं। मान लो, भारतवर्ष में द्विधातु मान है और सोने व चांदी दोनो ही धातुओं के सिक्के चलन में हैं। यह भी मान लो कि सोने व चांदी का टकसाली अनुपात (Mint Ratio) और बाजारी अनुपात (Market Ratio) एक-समान है और यह १ : १५ है। अब यह मानलो कि सोने व चांदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो गया है (क्योंकि चांदी की पूर्ति बढ़ गई है या अन्य किसी कारणवश) और यह बदल कर १:१५½ हो गया है। इस अवस्था में सोने का टकसाली मूल्य कम है जिससे सोना टकसाल को आना बन्द हो जाता है वरन् मनुष्य सोने के सिक्कों को पिघला लेते हैं और बाजार में इस सोने के बदले चांदी खरीद लेते हैं और इस चांदी को (तथा और चांदी को भी) टकसाल पर सिक्का-ढलाई के लिये भेजते है। इस प्रकार बाजार में चांदी की कमी हो जाती है क्योंकि इसका उपयोग अधिकाधिक मात्रा में सिक्के ढलवाने के लिये किया जाता है और सोने की बहुतायत हो जाती है क्योंकि इसको सिक्के ढलवाने के लिए टकसाल नहीं भेजा जाता है वरन् सिक्कों को पिघला-पिघला कर बाजार में लाया जाता है। सोने की अधिकता और चांदी की कमी के कारण बाजार में इन दोनों धातुओं का अनुपात धीरे-धीरे कम होने लगता है अर्थात् १ इकाई सोने के बदले में बाजार में चांदी धीरे-धीरे १५½ इकाइयों से कम ही मिलने लगती है और अन्ततः इनका अनुपात टकसाली-अनुपात के बराबर हो जाता है। यह स्मरण रहे कि बाजार से चांदी का टकसाल को सिक्के ढालने के लिए जाना और सोने का टकसाल से बाजार में आना क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory Action) है और यदि कोई दूसरी शक्ति इसको नहीं रोकती है तब यह प्रभाव उस समय तक कार्यशील रहता है जब तक कि बाजारी अनुपात अन्ततः टकसाली अनुपात के बराबर नहीं हो जाता है।

अब तक हमने द्विधातु-मान में क्षतिपूरक प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, यह केवल भारतवर्ष के उदाहरण से ही समझाया है। परन्तु क्षतिपूरक प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि तमाम देशों में भी सोने व चांदी का बाजारी अनुपात एक सा रहे, सिर्फ भारतवर्ष में बाजारी अनुपात १ : १५ होने से काम नहीं चलेगा। जब द्विधातु-मान अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपना लिया जाता है और सोने व चांदी की आयात व निर्यात स्वतन्त्र होती है (धातुओं को एक देश से दूसरे देश को भेजने का यातायात-व्यय बहुत ही कम हुआ करता है), तब किसी एक देश में सोने व चांदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो जाने पर विदेशों से इन धातुओं की आयात या निर्यात होकर पुन: उक्त देश में बाजारी अनुपात अन्ततः टकसाली-अनुपात के बराबर हो जाता है। इस तरह एक देश का सोने व चांदी का अनुपात किसी दूसरे देश से अधिक समय तक भिन्न नहीं रह सकता है क्योंकि किसी देश में यदि चांदी का मूल्य अधिक हो गया है, तब सारे संसार के बाजारों से चांदी उस देश को आने लगेगी और सोने के सिक्के (इनका चांदी के बदले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विनिमय होकर) विदेशों को जाने लगेंगे जिससे उक्त देश में अन्ततः चांदी का मूल्य कम हो जायेगा।

अतः द्विधातु मान के सफलतापूर्वक कार्यशील होने के लिए यह आवश्यक है कि

इसे अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपनाना चाहिये। परन्तु वास्तविकता यह है कि आज द्विधातु-मान के समर्थक बहुत कम हैं और यह मान स्वयं संसार से उठ चुका है। सब ही देशों में आज धातु मान के स्थान पर पत्र-मान (Paper Standard) प्रचलित हैं क्योंकि वर्तमान संसार में यह एक सर्वमान्य सत्य है कि आज संसार का कोई भी देश धातु मान को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं है और न किसी देश में ऐसा करने की सामर्थ्य ही है। इस लिए आज यह वाद विवाद ही तथ्यरहित है कि कोई देश कौन सा धातुमान अपनाए।

ग्रेशम का नियम

ग्रेशम का मुद्रा चलन का सिद्धान्त क्या है? (What is Gresham's Law of Circulation of Money?)—किसी एक देश में एक समय पर कितनी ही प्रकार की मुद्रायें चलन में हो सकती हैं। प्राय चांदी, सोने, निकिल व अन्य तुच्छ धातुओं के बने सिक्के तथा कागज के नोट साथ ही साथ चलन में होते हैं। धात्विक सिक्के नये व पुराने तथा प्रामाणिक व सांकेतिक सब ही प्रकार के हो सकते हैं। इसी तरह पत्र-मुद्रा भी प्रतिनिधि (Representative) परिवर्तनीय (Convertible), अथवा अपरिवर्तनीय (Inconvertible), हो सकती है। सिक्के व पत्र-मुद्रा के गुणों के दृष्टिकोण से उक्त विभिन्न प्रकार की मुद्रायें भिन्न गुण वाली होती हैं जिससे इनकी ग्राह्यता (Acceptability) भी एक समान नहीं होती है। मनुष्य इनमें से कुछ को अच्छी मुद्रा और कुछ को बुरी मुद्रा समझा करते हैं। अच्छी मुद्रा का अर्थ नये व पूर्ण मूल्य के उन सिक्कों से है जिनकी तोल व शुद्धता (Weight and Fineness) प्रमाणित होती है तथा पत्र मुद्रा के सम्बन्ध में अच्छी मुद्रा का अर्थ उन नोटों से है जो परिवर्तनीय हैं तथा नये व ठीक ठाक हैं। इसी तरह बुरी मुद्रा का अर्थ खोटे, जाली, मूल्य में कम व खराब सिक्कों से तथा अपरिवर्तनीय व फटे पुराने नोटों से होता है। यह मानव प्रवृत्ति है कि जब कभी वह कोई चीज लेता है, तब वह अच्छी से अच्छी वस्तु लेता है और जब वह कोई चीज देता है तब प्राय वह अपने पास की खराब चीज को पहले देता है। यह प्रवृत्ति मुद्रा के लेने-देने पर भी लागू होती है। इसीलिए मनुष्य कुछ मुद्राओं को दूसरी मुद्राओं की अपेक्षा लेना व अपने पास जमा करना अधिक पसन्द किया करते हैं। ग्रेशम ने इस मानसिक प्रवृत्ति को एक नियम के रूप में स्पष्ट किया है।

सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) महारानी एलीजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के आर्थिक सलाहकार थे। ये लन्दन के एक प्रसिद्ध व्यापारी थे तथा लन्दन के प्रसिद्ध रायल एक्सचेंज (Royal Exchange) की नींव भी इन्होंने ही डाली थी। एलीजाबेथ के राज्य काल में बहुत सी ऐसी मुद्रा चलन में थी जो कटी हुई थी या वजन में कम थी क्योंकि उनसे पहले के ट्यूडर शासकों (Tudor Kings) ने बहुत से निकृष्ट सिक्के चालू किये थे। इस स्थिति में सुधार करने के लिए इनके शासन काल में बहुत से नए पूर्णकाय (Full Bodied) सिक्के चलाये गए क्योंकि उनका यह विचार था कि मनुष्य धीरे धीरे पुराने, कम वजन के तथा निकृष्ट सिक्कों का परित्याग

कर देंगे और इनके स्थान पर नये-नये सिक्कों को ग्रहण कर लेंगे। परन्तु अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत हुआ—नए व पूर्णकाय सिक्को का चलन आरम्भ हो जाने पर भी, पुराने व निकृष्ट सिक्के बराबर चलन मे रहे और नये सिक्के शनैः शनैः चलन से गायब हो गए। अन्ततः महारानी एलीजबेथ ने सर टॉमस ग्रेशम से इस घटना का कारण पूछा। **ग्रेशम ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है—"खराब सिक्कों में अच्छे सिक्कों को चलन से बाहर निकाल देने की प्रवृत्ति होती है।"** (Bad money tends to drive Good money out of circulation—Sir Thomas Gresham), तब ही से अर्थशास्त्र मे यह प्रवृत्ति "ग्रेशम के नियम" (Gresham's Law) के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रेशम ने बताया कि जब कि अच्छे तथा पूर्ण वजन के सिक्के और पुराने व घिसे-पिटे सिक्के साथ ही साथ चलन में होते हैं, उस समय चूंकि देश मे भुगतान के लिए दोनों प्रकार के सिक्के एक ही मूल्य के तथा विधि-ग्राह्य होते हैं, इसीलिए खराब सिक्के चलन में रह जाते है और अच्छे सिक्के चलन से गायब हो जाते हैं। यह स्मरण रहे कि जिस प्रवृत्ति का नियम के रूप मे प्रतिपादन ग्रेशम ने किया है, उसका स्पष्टीकरण ग्रेशम के पहले भी हो चुका था। अतः यह समझना कठिन है, कि इसका नाम ग्रेशम के नाम के पीछे ही क्यो रक्खा गया। मेकलियाड ने सर्वप्रथम इस नियम का नाम "ग्रेशम का नियम" रक्खा था।

मार्शल (Marshall) ने भी इस नियम की परिभाषा बहुत ही सरल व स्पष्ट शब्दों में की है—**"यदि खराब मुद्रायें परिमाण में सीमित नहीं हैं, तब वे अच्छी मुद्राओं को चलन से निकाल देती हैं।"*** इस परिभाषा मे 'यदि परिमाण में सीमित नही है' वाक्यांश नियम की सीमा को प्रस्तुत करता है, अर्थात् नियम तब ही कार्यशील होगा जबकि खराब मुद्रायें काफी मात्रा मे होती है। इस तरह मार्शल (Marshall) ने भी यही कहा है कि जबकि खराब व अच्छी मुद्रायें साथ ही साथ चलन मे होती है, तब खराब मुद्रायें अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर निकाल देती है।

नियम के लागू होने के कारण (Causes of the application of the Law):—ग्रेशम का नियम तीन प्रकार से कार्यान्वित होता है—(i) **अच्छी मुद्रा का संग्रह** (Hoarding):—जब अच्छी और बुरी मुद्रायें साथ ही साथ चलन मे होती हैं, तब साधारणतया मनुष्य अच्छी मुद्रा को ही अपने पास गाड़कर (Hoarding) या जमा के रूप में रखते है। इसीलिये नये-नये व पूर्णकाय सिक्के (Full Bodied Coins) या नए-नए नोट अक्सर मनुष्यो द्वारा अपने पास रख लिए जाते हैं और ये पुराने व कम वजन के या टूटे-फूटे सिक्के तथा फटे-पुराने नोट अपने पास से निकाल देते हैं। परिणामतः अच्छी मुद्रा चलन मे धीरे-धीरे बहुत कम हो जाती है। (ii) **अच्छे सिक्कों का पिघलाना** (Melting):—जब कोई व्यक्ति सिक्को को पिघलाकर गहने तैयार कराता है, तब वह इस कार्य मे पूर्णकाय सिक्कों का ही उपयोग करता है क्योंकि घिसे हुए या कम वजन के सिक्को को पिघलाने में उसे हानि होगी। अतः जब अच्छे व बुरे

*"An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency." Marshall, Money, Currency and Credit.

सिक्कों का चलन साथ ही साथ होता है, तब मनुष्य अच्छे सिक्कों का उपयोग गलाने में तथा बुरे सिक्कों का उपयोग विनिमय-माध्यम के रूप में करता है। परिणामतः अन्तत बुरे सिक्कों की चलन में प्रधानता हो जाती है। (iii) **विदेशी भुगतान के लिए सिक्कों का निर्यात (Exporting for payments to Foreigners)**:—एक देश के सिक्के दूसरे देश में वैधानिक ग्राह्य (Legal Tender) नहीं होते हैं। इसीलिए विदेशी हमारे धात्विक सिक्कों को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं वरन् वे इन्हें (सिक्कों को) धातु के रूप में स्वीकार करते है। इसीलिए विदेशी हमारे सिक्कों को तौलकर लेते हैं। इस अवस्था में केवल पूर्णकाय या पूरे वजन के सिक्कों का ही निर्यात किया जाता है। अत जब नये तथा पूरे वजन के सिक्कों का विदेशी भुगतान के लिए निर्यात हो जाता है। तब देश के चलन में स्वतः ही घिसे हुए अथवा कम वजन के सिक्कों का चलन रह जाता है। सारांशत जब संग्रह करने में, पिघलाने में, तथा विदेशी भुगतान के लिए निर्यात करने में अच्छे सिक्कों का उपयोग हो जाता है, तब अच्छी मुद्रा तो चलन से निकल जाती है और केवल खराब मुद्रा ही चलन में रह जाती है। यह ही ग्रेशम के नियम की कार्य प्रणाली (Operation of Law) है।

नियम का क्षेत्र (Scope of the Law)

<u>नियम का क्षेत्र</u> (Scope of the Law) —ग्रेशम का नियम तीन परिस्थितियों में लागू होता है —

(१) एक-धातु मान के अन्तर्गत (Under Mono-metallism) :—एक-धातु-मान में केवल एक ही धातु के सिक्के चलन में रहते हैं। इन सिक्कों के वजन, उत्तमता (Fineness) व घिसावट में अन्तर हो सकता है, एक-धातु मान में भी दो अवस्थायें हो सकती है—(क) वह अवस्था जिसमें केवल प्रामाणिक व पूर्णकाय सिक्के चलन में रहते हैं। जब एक ही धातु के एक ही नियत मूल्य पर पुराने व नए सिक्के साथ ही साथ चलन में रहते है, तब पुराने, घिसे व कम वजन के सिक्के नये व पूरी तौल वाले सिक्कों को चलन से बाहर निकाल देते हैं। दैनिक जीवन में भी यही बात स्पष्ट होती है। यदि मनुष्य के पास एक नया व एक पुराना घिसा हुआ सिक्का है, तब वह पुराने व घिसे हुए सिक्के को पहले प्रयोग में लाएगा और बाद में ही अच्छे सिक्के का उपयोग करेगा यद्यपि उसे इस प्रकार का अन्तर करने में कोई लाभ नहीं होता है। इसका कारण यह भी होता है कि उसे डर रहता है कि कहीं पुराने व घिसे हुए सिक्के चलन से बाहर न हो जायें। अच्छे सिक्के-प्रचलन में इस कारण भी अदृश्य हो जाते हैं क्योंकि इन्हें दबा लिया जाता है या पिघला लिया जाता है या इनका विदेशी भुगतान के लिए निर्यात कर दिया जाता है। (ख) वह अवस्था जिसमें पूर्णकाय व सांकेतिक सिक्के साथ ही साथ चलन में रहते हैं—इस अवस्था में सांकेतिक सिक्के (Token Coins) बुरे सिक्के माने जाते हैं और पूर्णकाय सिक्के अच्छे सिक्के होते हैं। परिणामत सांकेतिक सिक्के पूर्णकाय सिक्के को चलन से बाहर निकाल देते हैं। एक धातु मान में ग्रेशम के नियम के क्रियाशील होने के कई उदाहरण हैं। ज्यों कि भारत में रानी विक्टोरिया (Queen Vic-

१ तोला सोना मिल जायगा और बाजार मे इस एक तोले सोने के बदले मे १६ तोले चादी मिल जायगी, जबकि सरकार के नियम के अनुसार टकसाल पर एक तोले सोने के बदले केवल १५ तोले चादी मिल सकती है। अत सोने के सिक्के चलन से गायब हो जायेंगे क्योंकि या तो ये दबा लिए जायेंगे या ये पिघला लिये जायेंगे या इनका निर्यात कर दिया जायगा और चलन मे वास्तव मे केवल चादी के सिक्के ही रह जायेंगे। इसके विपरीत यदि बाजारी-अनुपात (Market Ratio) बदल कर १:१४ हो जाता है, तब चादी के सिक्के चलन से गायब हो जायेंगे और केवल सोने के सिक्के ही चलन मे रह जायेंगे।

(३) पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत (Under Paper Money).—पत्र-मुद्रा की भी दो दशाएं हैं—*(क) जबकि धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा का साथ ही साथ चलन होता है*—जब कि धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा का साथ ही साथ चलन होता है, उस समय पत्र-मुद्रा खराब मुद्रा मानी जाती है और धातु-मुद्रा अच्छी मुद्रा मानी जाती है। इस अवस्था मे कागजी-मुद्रा (खराब-मुद्रा) धातु-मुद्रा (अच्छी मुद्रा) को चलन से बाहर निकाल देती है। सग्रह करने या गलाने के लिये धातु-मुद्रा का ही उपयोग होता है। यह स्मरण रहे कि जबकि पत्र-मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है, तब तो उक्त प्रवृत्ति और भी दृढ व तीव्रतर हो जाती है। इसी तरह यदि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन बहुत बढ गया है (यह घटिया मुद्रा होती है), तब तो धातु-मुद्रा का चलन और भी अधिक बन्द हो जाता है क्योंकि ऐसी दशा मे धातु-मुद्रा को या तो दबा लिया जाता है या इसे पिघला लिया जाता है। उदाहरण के लिये, सन् १९१४-१८ मे इगलैंड मे जब पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हुआ, तब स्वर्ण-मुद्राएं चलन से बाहर निकाल दी गई और चलन में मुख्यतः पत्र-मुद्रा ही रह गई। भारतवर्ष मे भी दूसरे महायुद्ध मे ऐसा ही हुआ। नोटों की मात्रा अत्यधिक हो जाने पर, चादी के रुपए चलन से गायब हो गये। **(ख) जबकि देश में केवल पत्र-मुद्रा का ही चलन रहता है**—यहा पर भी कई दशाओं की कल्पना की जा सकती है—(च) जबकि देश मे केवल एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा का चलन होता है, तब फटे-पुराने या गले-सड़े नोट (खराब मुद्रा) नये-नये नोटों को चलन मे बाहर कर देते हैं अर्थात् मनुष्य ऐसे नोटो को अपने पास रख लेते हैं और फटे-पुराने नोटो को विनिमय कार्यों के उपयोग मे लाते हैं। (छ) जबकि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money) तथा परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money) का साथ ही साथ चलन होता है, तब परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (बुरी-मुद्रा) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा पत्र-मुद्रा (अच्छी मुद्रा) को चलन से बाहर निकाल सकती है तथा (ज) जब कि परिवर्तनीय व अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रायें साथ ही साथ चलती हैं, तब अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (खराब) परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (अच्छी) को चलन से बाहर निकाल देती है।

सीमायें (Limitations)

नियम की सीमाएं—(Limitations of the Law) —ग्रेशम के नियम के कुछ अपवाद (Exceptions) भी हैं। यह नियम उपर्युक्त तीनो परिस्थितियो मे तभी लागू

हो सकता है जबकि कुछ शर्तें पूरी हो जायें। इन शर्तों को नियम की मर्यादायें कहते हैं:-(i) मुद्रा की मात्रा:—यदि किसी देश में अच्छी व बुरी मुद्रा का कुल परिमाण देश की व्यापारिक, व्यावसायिक तथा वाणिज्यिक आवश्यकतानुसार है या इससे कम है, तब ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक देश में व्यापारिक तथा अन्य विनिमय-कार्यों के लिये एक न्यूनतम मात्रा में मुद्रा की आवश्यकता हुआ करती है और यदि देश में मुद्रा इस परिमाण से कम है तब विनिमय-कार्यों में कठिनाई अनुभव होती है। ऐसी दशा में मुद्रा का संग्रह करने का कोई प्रलोभन नहीं रहता है। अतः मुद्रा की कमी के काल में अच्छी व बुरी दोनों ही प्रकार की मुद्राओं का चलन साथ ही साथ चलता रहता है और ग्रेशम का नियम कार्यशील नहीं होता है। परन्तु मुद्रा का चलन आवश्यकता से अधिक हो जाने पर, ग्रेशम का नियम चालू हो जाता है। (ii) मुद्रा बहिष्कार:—यदि घटिया मुद्रा इतनी खराब है कि कोई भी व्यक्ति इसे वस्तुओं व ऋण आदि के भुगतान में स्वीकार नहीं करता है, तब खराब मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल सकेगी वरन् अच्छी मुद्रा उल्टा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल देगी। उदाहरण के लिये, सन् १८६१-६५ में अमेरिका में गृह-युद्ध (Civil War) हुआ। उस समय कैलीफोर्निया ने अमेरिका सरकार द्वारा प्रकाशित अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (ग्रीन बैक्स) को लेने से मना कर दिया। परिणामतः कैलीफोर्निया में सोने के सिक्के ही चलते रहे जबकि अन्य देशों में शनैः शनैः कागजी मुद्रा का प्रचलन हो गया। (iii) सांकेतिक सिक्के.—यदि घटिया मुद्रा सांकेतिक मुद्रा (या परिमित कानूनी द्रव्य) है और इसकी मात्रा सीमित है तथा अच्छी मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा (अपरिमित कानूनी द्रव्य) है, तब भी ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा क्योंकि दोनों प्रकार की मुद्राओं का कार्य क्षेत्र भिन्न भिन्न है तथा मुद्रा का परिमाण कम है। अतः ये दोनों मुद्रायें साथ ही साथ चलन में रहेंगी। (iv) अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु-मान: कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर द्विधातु मान अपना लिया जाय, तब क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory Action) के कारण, ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा क्योंकि किसी एक मुद्रा के अभाव की पूर्ति दूसरी मुद्रा की अधिकता से हो जाती है।

सारांश—कुछ समय पहले जबकि सब ही देशों में किसी न किसी तरह का धातु-मान पाया जाता था, उस समय ग्रेशम के नियम के कार्यशील होने के अनेक अवसर थे। यह नियम द्विधातु-मान में विशेषकर लागू हुआ करता था। परन्तु अब तो धातु-मानों का अन्त ही हो गया है जिससे इस नियम के क्रियाशील होने के भी अवसर बहुत कम हो गये हैं। यह अवश्य है कि प्रथम महायुद्ध काल से लगभग सब ही देशों में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का चलन आरम्भ हुआ और तब ही से, ग्रेशम के नियम के क्रियाशील हो जाने के कारण, धातु मुद्रा का प्रचलन भी शनैः शनैः कम हो गया है। भारत में द्वितीय महायुद्ध काल में ग्रेशम के नियम को कार्यशील होने से रोकने के लिये ही भारत सरकार ने रानी विक्टोरिया तथा किंग एडवर्ड षष्ठम् के प्रामाणिक चाँदी के रुपये व अठन्नी को क्रमशः १ अप्रेल १९४१ तथा ३१ मई सन् १९४२ को चलन से बन्द कर दिये। इन

रुपयों में ११/१२ विशुद्ध चांदी व १/१२ अन्य धातु होती थी परन्तु २६ जौलाई सन् १९४० से चांदी की अठन्नी में १/२ विशुद्ध चांदी व आधी अन्य धातु कर दी गई और अप्रेल सन् १९४७ से गिलट का रुपया, अठन्नी तथा चवन्नी बनवाना आरम्भ किया गया।

(ख) पंगु द्विधातु-मान (Limping Standard).—इस मान को लंगड़ा मान भी कहते हैं। इस मान में द्विधातु मान की तरह सोने व चांदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधिग्राह्य होते हैं, दोनों मुद्राएं प्रामाणिक होती हैं, दोनों के बीच की विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है, परन्तु किसी एक धातु की मुद्रा टंकण (Coinage) स्वतन्त्र होता है और दूसरी धातु की मुद्रा का स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) नहीं होता है। इस मान का नाम पंगु या लंगड़ा मान इसलिए रक्खा गया है क्योंकि इसके अन्तर्गत एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती और यह सिक्का बड़ी कठिनाई से चालू रहता है अर्थात् लंगड़ाता हुआ चलता है। अक्सर इस प्रकार के मान में सोने का स्वतन्त्र टंकण होता है, परन्तु चांदी का टंकण राज्य के एकाधिकार में होता है अर्थात् चांदी की मुद्रायें प्रमाणित होते हुए भी जनता इनका टंकण कराने में स्वतन्त्र नहीं होती है। सन् १८०३ में फ्रान्स में इसी प्रकार का मान था क्योंकि इसी वर्ष सरकार ने चांदी के टंकण की स्वतन्त्रता को छीन लिया था।

(ग) समानुपात-मान-पद्धति (Parallel Standard)—इस मान को समानान्तर द्विधातु मान (Parallel Bi metallic Standard) भी कहते हैं। इस मान में द्विधातु मान की तरह सोने व चांदी दोनों धातुओं के सिक्के प्रचलन में रहते हैं, दोनों मुद्रायें प्रामाणिक तथा अपरिमित विधिग्राह्य होती हैं, तथा दोनों धातुओं के सिक्कों की ढलाई भी स्वतन्त्र होती है। परन्तु द्विधातु मान की तरह इस मान में दोनों धातुओं के बीच का विनिमय अनुपात सरकारी नियम द्वारा निश्चित किया जाता है बल्कि यह टंक-अधिकारियों द्वारा समय-समय पर बाजारी अनुपात (Market Ratio) के बराबर लाया जाता है। इस तरह टंक अनुपात (Mint Ratio) स्थिर नहीं रहता है वरन् इसमें दोनों धातुओं के मूल्यों के परिवर्तनों के साथ ही साथ परिवर्तन होता रहता है। इस मान में चांदी के बदले सोने की मुद्रायें बाजार भाव पर ही बदली जाती हैं जिसके कारण ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता। परन्तु इस मान का सबसे बड़ा दोष यह है कि दोनों धातुओं की टकसाली विनिमय दर (Mint Rate) निश्चित नहीं होती है जिसके कारण इसमें भारी परिवर्तन होते रहते हैं और जिससे व्यापार में बड़ी असुविधा होती है। सन् १६६३ में इंगलैंड ने इस मान को कुछ समय के लिए अपनाया था।

(II) एक-धातु-मान (Mono-Metallism)

एक-धातु-मान का अर्थ और इसकी विशेषतायें (Meaning and Characteristics of a Mono-metallism)—एक धातु मान वह प्रणाली है जिसमें सोने या चांदी दोनों में से किसी एक धातु के सिक्के प्रचलन में होते हैं। इस तरह एक धातु मान की विशेषतायें अथवा लक्षण हैं—(1) सोने या चांदी में से किसी एक धातु

के सिक्के प्रधान मुद्रा के रूप मे प्रचलित होते हैं। (ii) ये सिक्के मूल्य मापन का कार्य करते है। (iii) दैनिक उपयोग के लिए सांकेतिक सिक्कों (Token Coins) का चलन होता है जिनमे सीमित ग्राह्यता होती है। इन सिक्कों का मूल्य प्रधान मुद्रा से सम्बन्धित होता है। (iv) प्रधान मुद्रा मे असीमित विधिग्राह्यता होती है। (v) मुद्रा का स्वतन्त्र टंकण होता है। (vi) सांकेतिक सिक्को के बदले में किसी भी समय सोना या चांदी या प्रामाणिक मुद्रा मिल सकती है। (vii) यदि इस पद्धति में प्रधान मुद्रा सोने की है, तब यह स्वर्णमान (Gold Standard) और यदि यह चांदी की है, तब रौप्यमान या रजतमान (Sliver Standard) कहलाती है। एक धातु मान दो प्रकार का होता है।

(क) रजत-मान या रौप्य-मान (Silver Standard):—रजत-मान वह मान है जिसमें चांदी के एक निश्चित वजन व शुद्धता के सिक्कों का प्रचलन होता है जिनकी स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है तथा सिक्कों में असीमित विधि ग्राह्यता होती है। इस मान में चांदी की आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है।

चीन और भारत मे रजत मान एक बहुत लम्बे समय तक चलता रहा है। उन्नीसवी शताब्दी में यह मान अन्य देशों मे भी था भारत ने इसे सन् १८६३ मे और चीन ने इसे सन् १९३५ मे छोड़ा था। जिस समय भारत में सन् १८३५ से सन् १८६३ तक रजत मान का प्रचलन रहा, उस समय रुपया देश मे मुख्य सिक्का था, इसकी ढलाई स्वतन्त्र थी, इसका वजन १८० ग्रेन था और इसमे ११/१२ शुद्ध चांदी थी। जनता को चांदी को सिक्कों मे ढलवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसी प्रकार जनता को रुपयो को पिघलाकर चाँदी के सिक्को मे ढलवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। भारत में यह प्रणाली सन् १८७४ तक ठीक-ठीक चलती रही। परन्तु सन् १८७४ के आस-पास मैक्सिको (Mexico) मे चाँदी की नई नई खानें मिली तथा कुछ देश रजत मान को छोड कर स्वर्ण मान पर आ गए जिससे इन देशो की मुद्रा की चाँदी पिघला कर बाजारो मे आ गई। परिणामतः चाँदी की पूर्ति अत्यधिक बढ जाने के कारण, इसके मूल्य में बहुत कमी हो गई। इस दशा में सरकारों को चाँदी का स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) कायम रखने मे बहुत कठिनाई हुई क्योंकि मनुष्य बाजार से सस्ती चाँदी खरीद कर इसके बदले मे टकसाल से सिक्के ले लिया करते थे जिनके परिणामस्वरूप चाँदी मान वाले देशों में और विशेषतः भारतवर्ष मे वस्तुओ की कीमतो मे बहुत वृद्धि हो गई। मूल्यो की इस वृद्धि के कारण भारत के आयात व्यापार (Import Trade) में कठिनाई अनुभव होने लगी (क्योंकि हमें पौंड के बदले पहले की अपेक्षा अधिक रुपये देने पडते लगे) तथा गृह खर्चों (Home Charges) के भार मे भी वृद्धि हो गई जिससे भारत सरकार के लिए अपने बजट मे संतुलन लाना कठिन होने लगा। सरकार ने अधिक रुपयो की व्यवस्था अधिक कर (Tax) लगाकर की थी, परन्तु सरकार को मुद्रा की व्यवस्था करने मे बहुत कठिनाई अनुभव होने लगी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे चाँदी की उत्पत्ति तथा इसका मूल्य इतना अस्थिर हो गया कि हर्शल कमेटी (Hershall Committee) के सुझाव के अनुसार सन् १८९३ मे भारतवर्ष की

सरकार को चाँदी का स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) बन्द करना पड़ा इस तरह सन् १८९३ म रजत मान भी समाप्त हो गया और इसके स्थान पर देश में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) आ गया।

रजत मान के नियम (Rules of the Silver Standard) और इसकी कार्य-प्रणाली स्वर्णमान की ही भाँति होती है, परन्तु रजत मान में मुद्रा के मूल्य की आन्तरिक एव बाह्य स्थिरता बहुत कम होती है क्योंकि चाँदी के मूल्य में सोने के मूल्य की तुलना म बहुत उतार-चढाव होते रहते है। यही कारण है कि रजत-मान अधिक देशो म बहुत समय तक प्रचलित नही रहा और तुलना मे स्वर्ण-मान ही अच्छा समझा गया।

स्वर्णमान (Gold Standard)

(अ) स्वर्णमान की परिभाषायें (Definitions of the Gold Standard) — स्वर्णमान की अर्थशास्त्र म महत्वपूर्ण परिभाषाय दी गई हैं जिनमे से तीन का नीचे विवेचन किया गया है —

(१) प्रो० रोबर्टसन (Robertson) के शब्दों मे—"स्वर्णमान वह व्यवस्था है जिसमे कोई एक देश अपनी मुद्रा की एक इकाई का मूल्य और सोने की एक निश्चित मात्रा का मूल्य एक-दूसरे के बराबर रखता है।"[1]

(२) कैमरर के अनुसार स्वर्णमान 'वह पद्धति है जिसमे कीमतें, ऋण और मजदूरी उस मुद्रा मे व्यक्त की जाती हैं और इनका भुगतान उस मुद्रा मे किया जाता है जिसका मूल्य किसी स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार मे एक निश्चित सोने की मात्रा के बराबर होता है।'[2]

(३) कौलबोर्न (Caulborn) ने स्वर्ण-मान की परिभाषा इस प्रकार दी है—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे किसी देश की मुख्य मुद्रा की इकाई एक निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा मे बदली जा सकती है।[3]

उपर्युक्त परिभाषाओ स यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान म स्वर्ण मूल्यमापन (Measurement of value) का कार्य करता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि इस मान म स्वर्ण के सिक्के चलन म हो वरन् जो भी मुद्रा चलन म होती है उसका परिवर्तन स्वर्ण म होना आवश्यक होता है। इस तरह चाहे मुद्रा सांकेतिक है या पत्र-मुद्रा है, परन्तु यदि वह स्वर्ण म परिवर्तनीय है, तब इस व्यवस्था को स्वर्ण-मान ही

1— Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of Gold in an equality with one another'—Robertson Money P 97

2— Gold Standard is a money system where the unit of value, in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of Gold in a fine gold Market"—Kemerrer Gold and the Gold Standard P 135—36

3—"The Gold Standard is an arrangement where by the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality"—W A L Caulborn An Introduction to Money, P 117

कहते है । अतः सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "यदि किसी देश की प्रचलित मुद्रा स्वर्ण में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिवर्तनीय है, तब देश का मुद्रा-मान स्वर्ण-मान कहलायेगा।"

स्वर्णमान की विशेषतायें (Characteristics of the Gold Standard):—स्वर्ण-मान के मुख्य मुख्य गुण एवं विशेषतायें इस प्रकार हैः—(i) देश की सरकार प्रामाणिक मुद्रा की इकाई की कीमत तथा इनका वजन व शुद्धता आदि स्वर्ण में परिभाषित (या वर्णित) करती है। यह दो प्रकार से किया जाता है-या तो मुद्रा की इकाई में शुद्ध सोने की मात्रा को घोषित कर दिया जाता है या सोने का टकसाली मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है। पहला तरीका इंगलैंड ने और बाद का तरीका अमेरिका व भारत ने अपनाया था। भारत ने एक तोले सोने का सरकारी मूल्य २१ रु० ८ आने १० पाई रक्खा था। (ii) स्वर्ण-मुद्रा की इकाई सब प्रकार के भुगतानों के लिए पूर्णतया वैधानिक ग्राह्य (Legal Tender) होती है। इस तरह तमाम ऋणों व अन्य प्रसंविदों (Contracts) का भुगतान स्वर्ण में होता है या जिस मुद्रा द्वारा यह भुगतान होता है वह स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। (iii) निर्धारित मूल्य पर सरकार द्वारा अपरिमित मात्रा में सोने को खरीदने-बेचने की व्यवस्था की जाती है। (iv) स्वर्ण का स्वतन्त्र टंकन (Free Coinage) रक्खा जाता है। (v) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए सोने की आयात-निर्यात स्वतन्त्र होती है। (vi) देश में प्रचलित सभी प्रकार की मुद्रायें स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है अर्थात् देश में चालू सभी मुद्राओं की आपस में परिवर्तनशीलता सरकार द्वारा कायम रक्खी जाती है। अतः स्वर्ण-मान में देश की मुद्रा का मूल्य (यह मुद्रा चाहे सोने की हो या अन्य किसी धातु की हो या पत्र-मुद्रा हो या साख मुद्रा हो) सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रक्खा जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था सरकार द्वारा कुछ नियम बनाकर ही की जाती है।

स्वर्णमान के विभिन्न रूप (Types of Gold Standard):—स्वर्ण-मान के आजकल पाँच भेद बताये जाते हैं—(क) स्वर्ण-चलन मान, (ख) स्वर्ण-धातुमान, (ग) स्वर्ण-विनिमय मान, (घ) स्वर्ण-निधि मान तथा, (ङ) स्वर्ण-समता मान।

स्वर्ण-चलन मान (Gold Currency Standard)

(क) स्वर्णचलन-मान की विशेषतायें (Characteristics of Gold Specie or Gold Currency Standard)—इस प्रकार के स्वर्ण-मान के कई और नाम भी हैं, जैसे—स्वर्ण टंक-मान (Gold Coin Standard), स्वर्ण-मान मुख्य (Gold Standard Proper), या पूर्ण स्वर्णमान (Full Gold Standard)। स्वर्ण-मान पद्धति का प्रारम्भ इसी प्रकार के मान से हुआ था। प्रथम महायुद्ध से पहले यह मान कितने ही देशों में प्रचलित था, जैसे—इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी तथा यूरोप के कुछ अन्य देश। यद्यपि प्रथम महायुद्ध काल में सभी देशों ने इस मान का चलन बन्द कर दिया, परन्तु अमेरिका में यह मान सन् १९३३ तक प्रचलित रहा। इस मान

की विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) **स्वर्ण के सिक्कों का चलन**—*स्वर्ण-प्रचलन मान में सोने के सिक्कों का वास्तव में प्रचलन किया जाता है। देश के विधान द्वारा यह तय कर दिया जाता है कि मुद्रा की एक इकाई में इतनी मात्रा में सोना रहेगा। उदाहरणार्थ, सन् १९१४ के पहले इंगलैंड में सोने का सिक्का सावरन कहलाता था, इसका वजन १२३.२७४४७ ग्रेन था तथा, इसकी शुद्धता ११/१२ थी अर्थात् एक सावरन में ११३.००१६ ग्रेन शुद्ध सोना था और बाकी टांका (विशुद्ध धातु) था। अत: एक सावरन का मूल्य ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैंस था जबकि वास्तव में बैंक ऑफ इंगलैंड १ औंस सोने के बदले में ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस ही देता था। ये सिक्के (सावरन) प्रामाणिक व अपरिमित कानूनी द्रव्य थे तथा इनका बाह्य मूल्य (Face Value) और आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) समान रहता था। (ii) **स्वतन्त्र टंकन (Free Coinage)**—स्वर्ण-चलन मान में टकसाल जनता के लिए खुली रहती है। कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर इसके बदले में सिक्के ला सकता है।* (iii) **सरकार द्वारा सोने का क्रय-विक्रय होता है:**—*स्वर्ण-चलन मान में सरकार सोने को एक निर्धारित दर पर खरीदती-बेचती है। इंगलैंड में टकसाल १ औंस सोना ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस पर खरीदती थी और ११/१२ शुद्धता का सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैंस पर बेचती थी। इस तरह टकसाल १½ पैंस प्रति औंस सिक्का ढलाई का मूल्य लिया करती थी। सरकार द्वारा स्वर्ण के क्रय-विक्रय का परिणाम यह होता था कि सरकार सावरन का मूल्य ११३.००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के मूल्य के बराबर बनाये रखने में सफल हो जाया करती थी। इसका कारण स्पष्ट है। मान लो, बाजार में १ औंस सोने का मूल्य १ औंस सोने के सिक्के से बढ़ जाता है। इस अवस्था में मनुष्य सिक्के को पिघला लेंगे और सोना को बाजार में बेच देंगे। बाजार में स्वर्ण की पूर्ति बढ़ जाने के कारण, इसका बाजार में मूल्य कम हो जायेगा और अन्ततः पूर्ववत् सीमा पर आ जायगा। इसी तरह यदि बाजार में १ औंस सोने का मूल्य १ औंस सोने के सिक्के से कम हो जाता है, तब मनुष्य सोने को टकसाल पर ले जाकर उसके सिक्के ढलवायेंगे और इस कार्य में लाभ उठायेंगे। परिणाम यह होगा कि अन्तर मूल्यों में समानता स्थापित हो जायगी। अत: स्वर्ण-चलन मान में सरकार सोने का एक निर्धारित मूल्य पर क्रय विक्रय करके प्रामा

> **स्वर्ण-चलन मान की विशेषतायें इस प्रकार हैं :—**
>
> १. *स्वर्ण के सिक्कों का चलन।*
> २. स्वतन्त्र टंकन।
> ३. सरकार द्वारा सोने का क्रय-विक्रय होना।
> ४. सोने की स्वतन्त्र आयात-निर्यात।
> ५. *पत्र मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा का भी चलन।*
> ६. स्वर्ण मूल्य-मापन का कार्य करता है।

* 480 Ounces of Gold could be coined into 1969 Sovereigns

णिक सिक्के का नियत मूल्य (Face Valce) और इसकी धातु के वाजारी-मूल्य मे समानता स्थापित करती है। (iv) स्वर्ण की आयात-निर्यात स्वतन्त्र होती है:—स्वर्ण-चलन-मान में स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार (Free Gold Market) होता है। मनुष्य सोने का उपयोग किसी भी प्रकार से कर सकते हैं, वे इसकी आयात-निर्यात बिना किसी रोक-टोक के कर सकते है। तथा अपनी स्वर्ण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए खानो तक से सोना खरीद सकते है। वे स्वर्ण का सचय कर सकते है, स्वर्ण के सिक्को को पिघला सकते है तथा इसका टंकन करा सकते है आदि (v) **पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा का भी चलन:**—स्वर्ण-चलन-मान मे स्वर्ण की बचत के लिए पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा का भी चलन किया जा सकता है। परन्तु ये सब मुद्रायें हर समय स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है तथा इनका स्वर्ण मुद्रा से एक निश्चित सम्बन्ध रहता है क्योंकि तब ही इनकी क्रय-शक्ति को स्वर्ण की मुद्रा के मूल्य के बराबर रक्खा जा सकता है। इस तरह किसी एक प्रकार की मुद्रा दूसरी प्रकार की मुद्रा मे पूर्णतया परिवर्तनीय होती है। (vi) **स्वर्ण मूल्यमापन का कार्य करता है:**—भुगतान के लिए स्वर्ण-मुद्रा अपरिमित विधिग्राह्य होती है तथा देश मे चलन की मात्रा स्वर्ण-निधि पर आधारित होती है।

स्वर्ण-चलन-मान के लाभ-दोष

स्वर्ण-चलन-मान के लाभ (Advantages of the Gold Currency Standard)—स्वर्ण-चलन-मान के समर्थकों ने इस मान में अनेकों लाभ बताए हैं: —(i) **जनता का विश्वास** (Confidence): —स्वर्ण सर्वग्राह्य है इसलिए इसमें जनता को विश्वास होता है जिससे इस मान में भी जनता का विश्वास होता है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम, इस मान मे सिक्के का वाह्य-मूल्य (Face Value) इसके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) के बराबर होता है। द्वितीय, यदि स्वर्ण का सिक्का मुद्रा के रूप मे चलना बन्द भी हो जाय, तब सिक्के को पिघला कर उसकी धातु का उपयोग किया जा सकता है। तृतीय, यद्यपि इस मान मे साख-मुद्रा या सांकेतिक मुद्रा का भी चलन हो सकता है, तब भी जनता का इस मान मे विश्वास होता है क्योंकि ये सब मुद्रायें स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती हैं। अन्तिम, चूँकि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की मात्रा (स्वर्ण-निधि) पर निर्भर होती है, इसलिए मुद्रा के परिमाण मे अनावश्यक व अत्यधिक प्रसार का भय नही रहता है। अत इन चार कारणों से जनता का स्वर्ण-चलन-मान मे बहुत विश्वास होता है। (ii) **मुद्रा-प्रणाली की स्वयं-चालकता**

> **स्वर्ण-चलन-मान के चार लाभ हैं:—**
>
> १. जनता का विश्वास।
> २. मुद्रा-प्रणाली में स्वयं चालकता होती है।
> ३. देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे स्थिरता रहती है।
> ४. विदेशी विनिमय दर में स्थिरता रहती है।

(Automatic operation of the Monetary System) —स्वर्ण-चलन-मान मे स्वय चालकता होती है। इस मान को चालू रखने के लिए सरकार के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यक्ता नही होती है। यदि स्वर्ण-चलन मान वाले देश की सरकार मुद्रा सम्बन्धी कोई गलती भी करती है, तब इस मान मे इस गलती का सुधार अपने आप ही हो जाता है। इस मान मे स्वय चालकता किस प्रकार आती है? सरकार स्वर्ण-कोषो के सम्बन्ध मे कुछ नियम बना देती है। इन नियमो के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे स्वर्ण-कोषो के परिमाण के अनुसार घट-बढ होती रहती है। चूँकि स्वर्ण की आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है, इसलिए इसके आयात निर्यात से स्वर्ण-कोष की मात्रा भी बढती-घटती रहती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश मे वस्तुओ की आयात अधिक और निर्यात कम हुई है, तब यह देश दूसरे देशो का ऋणी रहेगा जिससे इस देश को अपने ऋण-भुगतान के लिए विदेशो को सोना भेजना पडेगा। सोने का निर्यात हो जाने पर उस देश मे स्वर्ण निधि कम हो जायगी जिससे उस देश मे मुद्रा का सकुचन हो जायगा और मूल्य स्तर (Price Level) भी गिर जायगा। अन्य देशो की तुलना में इस देश में मूल्य-स्तर नीचा होने से इस देश का विदेशी व्यापार बढ जायगा और वस्तुओ का अत्यधिक निर्यात होगा। जिससे यह देश भुगतान म सोना प्राप्त करेगा। सोने का आयात होते ही इस देश मे मुद्रा प्रसार होगा और मूल्य-स्तर भी ऊचा हो जायगा। इस तरह स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा विश्व मूल्यो मे समानता एव स्थिरता आ जायगी और यह कार्य बिना किसी के हस्तक्षेप के होता रहेगा। इसीलिए इस कार्य-प्रणाली को स्वर्ण-चलन मान की स्वय चालकता कहते हैं। (iii) **देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे स्थिरता** (Stability in the Internal Price Level):—स्वर्ण-चलन-मान मे मुद्रा-प्रणाली का आधार स्वर्ण होने से आन्तरिक मूल्य-स्तर मे स्थिरता पाई जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। मूल्य-स्तरो मे परिवर्तन का मुख्य कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति मे परिवर्तन होता है। जब हम स्वर्ण का मूल्य मापन के रूप मे उपयोग करते हैं, तब मुद्रा की क्रय शक्ति मे समय-समय पर परिवर्तन नहीं होते है क्योकि स्वर्ण की मात्रा व इसकी पूर्ति लगभग स्थिर रहने के कारण इसके मूल्य म सामयिक (Seasonal) तथा अल्पकालिक परिवर्तन नही होने पाते है जिससे स्वर्ण की मुद्रा की क्रय-शक्ति म भी बहुत उतार-चढाव नहीं होने पाता है। यह देखा गया है कि जबकि मुद्रा की क्रय-शक्ति लगभग स्थिर रहती है तब देश मे मूल्य-स्तरो मे भी स्थिरता रहती है। अत स्वर्ण-चलन-मान के पक्ष म एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इस मान म देश के अन्दर मूल्य-स्तर स्थिर रहता है और कोई भी मुद्रा-प्रणाली तब ही अच्छी कहलाती है जबकि दीर्घ-काल मे देश म मूल्य-स्तर म समानता रहती है। (iv) **विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता** (Stability in the Foreign Exchange Rates)—स्वर्ण-चलन मान म विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता रहती है जिससे स्वर्ण-मान पर आधारित राष्ट्रों के साथ व्यापार करने में सुगमता होती है। इसका कारण स्पष्ट है। जब बहुत मे देशो मे

स्वर्ण-चलन-मान होता है और इनकी मुद्राओं का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा में व्यक्त किया जाता है, तब इन सब देशों की पारस्परिक विनिमय दरों में अपने आप ही स्थिरता आ जाती है (स्वर्ण का अबाधित आयात-निर्यात इस कार्य में सहायक होता है)। स्वर्ण-चलन-मान में विदेशी विनिमय दर की स्थिरता एक ऐसा गुण था जिसका महत्व प्रथम महायुद्ध के पश्चात् और खास तौर से स्वर्ण-मान के त्यागने के बाद ही पता चलता है क्योंकि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विदेशी विनिमय दरों में अत्यधिक परिवर्तनों के कारण विदेशी व्यापार में भी बहुत कमी हो गई थी। अतः स्वर्ण-चलन मान में विदेशी विनिमय दर में स्थिरता रहती है जिससे विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में भी स्थिरता रहती है और इस विशेषता के कारण विदेशी व्यापार को भी बहुत प्रोत्साहन मिला करता है।

<u>स्वर्ण-चलन-मान के दोष</u> (Demerits of the Gold Currency Standard):—स्वर्ण-चलन मान के आलोचकों का मत है कि इस मान के जो कुछ गुण ऊपर बताये गये हैं, वे सब कल्पनात्मक हैं, दिखावटी है व वास्तविक कम है। इस मान के विरुद्ध जो आक्षेप लगाये गये है, उनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार है:—(i) स्वर्ण चलन-मान केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान है (Gold Currency Standard is only a Fair Weather Standard):—आलोचकों का मत है कि स्वर्ण-चलन-मान केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही ठीक-ठीक चलता रहता है, परन्तु आर्थिक संकट के काल में यह कार्यशील नहीं रहता जिससे इसे ऐसे समय में त्यागना पड़ता है। इसीलिये इसे केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान (Fair Weather Standard) कहते हैं। यह मान आर्थिक संकट काल में क्यों नहीं ठीक-ठीक चलने पाता? इसका एक ही कारण है। यह मान देश की मुद्रा-प्रणाली को बेलोच (Inelastic) बना देता है। इस मान में स्वर्ण कोष की मात्रा को बिना बढ़ाये मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती है। आर्थिक संकट के काल में स्वर्ण-कोष की मात्रा को बढ़ाना कठिन रहता है जिससे ऐसे समय में मुद्रा की मात्रा में प्रसार नहीं होने पाता है जबकि ऐसे समय में देश को संकट से बचाने के लिये मुद्रा-प्रसार की बहुत ही आवश्यकता हुआ करती है। परिणामतः आर्थिक संकट काल में सरकार को इस मान को त्यागना पड़ता है। (ii) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव के कारण स्वर्ण-चलन-मान में स्वयं-संचालकता नहीं रहती है (Lack of

> **स्वर्ण-चलन-मान के दोष हैं:—**
> १. स्वर्ण-चलन-मान केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान है।
> २. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव के कारण स्वर्ण-चलन-मान में स्वयं संचालकता नहीं होती है।
> ३. मूल्यों में स्थिरता नहीं रहती है।
> ४. सोने का उपयोग बहुत होता है तथा इसमें मूल्यवान धातु की हानि होती है।

Automatic working due to absence of International Co-operation) — स्वर्ण-चलन-मान का एक महत्वपूर्ण गुण यह बताया जाता है कि इसमें स्वय-सचालकता होती है, परन्तु वास्तव मे आर्थिक सकट काल मे इस मान मे यह गुण नही रहने पाया। यह तो सच है कि प्रथम महायुद्ध से पहले यह मान स्वत. सचालक था, परन्तु युद्धकाल में और इसके बाद इस मान मे यह गुण नही रहा। इस मान म यह गुण तब ही रह सकता है जबकि इस मान को कायम रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी हो। वास्तव मे प्रथम महायुद्ध काल मे और इसके बाद कुछ देशो ने स्व हित मे इस मान के नियमो का पालन नही किया और इस अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव के कारण, इस मान के स्वय-सचालकता के गुण का भी लगभग अन्त हो गया। युद्ध काल मे कई देशो ने स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये, देश म मुद्रा के परिमाण मे स्वर्ण कोष की मात्रा मे घट-बढ के अनुसार परिवर्तन नही होने दिये तथा कुछ देशो ने सोने के बहुत बडे कोष जमा कर लिये और कुछ देशों मे स्वर्ण-कोष की मात्रा मे बहुत कमी हो गई। इन परिस्थितियो मे स्वर्ण की आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लग जाने से, स्वर्ण-चलन मान का स्वय-सचालकता भी खतम हो गई। अत स्वर्ण-चलन मान मे स्वय-सचालकता का गुण भी अनुकूल परिस्थितियो (Fair Weather Conditions) मे ही पाया जाता है और आर्थिक सकट काल मे यह प्रणाली भी प्रबन्धित (Managed) हो जाती है। (iii) मूल्यों मे स्थिरता नहीं रहती है (There is no Stability in Prices) —आलोचको का मत है कि स्वर्ण-चलन-मान मे मुद्रा की एक इकाई के मूल्य को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखने की नीति स्वय मूल्यो की स्थिरता को नही रहने देती है। इसका कारण स्पष्ट है। सोने के मूल्य मे परिवर्तन हो जाने पर देश के मूल्य-स्तर मे भी अवश्य ही परिवर्तन हो जाता है और सोने के मूल्य मे परिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—नई-नई खानों की खोज व पुरानी खानों का बन्द होना, खान मे से सोना निकालने की विधि मे परिवर्तन व सुधार, सोने के उपयोग म परिवर्तन, मजदूरी की दर म परिवर्तन, आयात-निर्यात मे अन्तर आदि। इस तरह सोने की माग व पूर्ति म परिवर्तन हो जाने पर सोने के मूल्य मे परिवर्तन हो जाता है और जब स्वय मान के मूल्य मे परिवर्तन हो जाता है तब देश के मूल्य-स्तर मे स्वत ही परिवर्तन हो जाता है। अत स्वर्ण चलन मान म यह आवश्यक नही है कि मूल्यो मे तथा विदेशी विनिमय दरो म स्थिरता रहे। (iv) अन्य दोष —(क) इस मान मे स्वर्ण के सिक्कों का प्रचलन होने से मुद्रा-प्रणाली मे सोना भी अधिक लगता है। (ख) स्वर्ण के सिक्को मे घिसावट हो जाने से देश को मूल्यवान धातु की हानि होती है तथा (ग) जिन देशो म स्वर्ण का अभाव रहता है, वे इस मान को नही अपना सकते हैं जिससे इन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म काफी कठिनाई अनुभव होती है।

स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard)

(ख) स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) —स्वर्ण-धातु मान का स्वर्ण चलन-मान से बहुत कम अन्तर है और यह मान स्वर्ण-चलन-मान का एक सशोधित रूप ही है। इस मान का जन्म युद्ध काल म हुआ था। उस समय अमेरिका को

छोड़ कर अन्य सब देशों ने इस मान को अपनाया था। वास्तव में, इस मान का जन्म स्वर्ण-चलन-मान की युद्धकालीन कठिनाइयों द्वारा ही हुआ था। ये कठिनाइयाँ क्या थीं? युद्ध-काल में लगभग प्रत्येक यूरोपीय देश को अपनी मुद्रा के प्रसार करने की आवश्यकता अनुभव हुई थी, परन्तु इस प्रकार की वृद्धि के लिये उनके पास स्वर्ण का कोष पर्याप्त मात्रा मे नही था। युद्ध के कारण स्वर्ण का आयात-निर्यात भी स्वतन्त्रता-पूर्वक नही हो सका तथा कुछ सरकारों ने स्वर्ण की आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध भी लगा दिये। इन कठिनाइयो के कारण युद्धकाल मे कुछ देशों में स्वर्ण-चलन-मान का लोप हो गया और इसके स्थान पर इन देशों ने स्वर्ण-पाट-मान का अवलम्बन लिया। युद्धकाल के बाद स्वर्ण चलन-मान को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इंगलैंड तथा अन्य कितने ही देशों के विरोध के कारण इस मान को दुबारा नही अपनाया जा सका। इन देशों ने विरोध कई कारणों से किया था:—(च) युद्धकाल में प्रत्येक देश ने पत्र-मुद्रा का काफी प्रचलन किया था, इस मुद्रा को सोने का प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये सोने की अत्यधिक मात्रा की आवश्यकता पडती। यह स्वाभाविक ही है कि कोई भी देश सोने की इतनी अधिक मात्रा की व्यवस्था नही कर सकता था। (छ) उक्त समस्या का हल पत्र-मुद्रा की मात्रा को कम करके तथा इसे स्वर्ण कोष के बराबर करके भी किया जा सकता था। परन्तु मुद्रा की मात्रा में इतनी भारी मात्रा में कमी कर देने का देश की आर्थिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता (मुद्रा-संकुचन से देश में भारी मन्दी आ जाती), इसलिये कोई भी देश इस रीति को अपनाने के लिये तैयार नही था। (ज) उक्त दोनों कारणों से अधिकांश देश यह चाहते थे कि वे एक ऐसी मुद्रा-पद्धति अपनायें जिससे एक तरफ तो उन्हे मुद्रा की मात्रा में कमी नही करनी पड़े और दूसरी तरफ यह पद्धति स्वर्ण-मान का भी अवलम्बन कर सके। इस अवस्था मे समस्या का हल एक ही तरह से हो सकता था और वह यह था कि स्वर्ण-चलन-मान को त्याग कर स्वर्ण-धातु-मान अपना लिया जाये ताकि स्वर्ण कोष की थोडी सी मात्रा से ही स्वर्ण-मान स्थापित हो जाये। इस प्रकार का मान ही स्वर्ण-पाट-मान कहलाता है। संक्षेप मे, इस मान की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं:—

(i) इस मान मे सोना मूल्यमापक तो होता है, परन्तु सोने के सिक्के न तो ढाले जाते हैं और न ये चलन मे ही रहते हैं। अतः स्वर्ण विनिमय-माध्यम का कार्य नही करता है। (ii) देश के अन्दर पत्र-मुद्रा तथा अन्य निम्न धातुओं का चलन किया जाता है और इनके द्वारा ही विनिमय-माध्यम का कार्य होता है। परन्तु पत्र-मुद्रा तथा सिक्कों का मूल्य स्वर्ण मे सूचित किया जाता है। यह स्मरण रहे कि स्वर्ण-पाट-मान मे पत्र-मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण-कोष नही रक्खा जाता है, वरन् इनके पीछे केवल एक निश्चित प्रतिशत मे ही स्वर्ण कोष रक्खा जाता है, जैसे—३० प्रतिशत या ४० प्रतिशत। परन्तु तमाम पत्र-मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है। तमाम मुद्रा पत्र-मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण कोष न रहते हुए हुए भी सरकार नोटों की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता इसलिये कायम रखने मे सफल हो जाती है क्योंकि किसी समय पर कुल नोटो का एक छोटा सा प्रतिशत ही स्वर्ण में बदलने के लिए सरकार के पास

आता है। चूं कि सरकार से जनता का यह विश्वास होता है कि वह मांग करने पर पत्र मुद्रा के बदले स्वर्ण दे देगी, इसलिए कागजी नोट स्वतः चलन में रहते हैं। (iii) सरकार सभी प्रकार की मुद्राओं को एक पूर्व निर्धारित दर पर सोने की सलाख (Gold Bars) में बदलने का आश्वासन दिया करती है। परन्तु सोने में प्रतीक मुद्रा का परिवर्तन एक निश्चित वजन से कम नहीं किया जाता। इस पद्धति में सोना किसी भी कार्य के लिये लिया जा सकता है। परन्तु निश्चित वजन की सीमा निर्धारित करने का उद्देश्य ही यह था कि सोना केवल विदेशी भुगतान के लिए ही लिया जाय। इसके अतिरिक्त, एक न्यूनतम मात्रा इसलिए भी निश्चित की जाती है ताकि सोना खरीदने की प्रवृत्ति हतोत्साहित हो तथा सरकारी कर्मचारियों को सुविधा भी हो। चूं कि सरकार सोने को बेचने का वचन देती है, इसलिये इसे इस कार्य के लिए अपने पास कुछ स्वर्ण-कोष रखना पड़ता है। इंगलैंड में सन् १६२५ में तथा भारत में सन् १६२७ में उक्त पद्धति अपनाई गई थी। इंगलैंड में मुद्रा को ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पेंस प्रति औंस की दर पर चार-चार सौ औंस (Gold Bars of 400 Ounces) की सोने की छड़ों से बदला जा सकता था। इसी तरह भारत में भी मुद्रा को २१ रुपये ७ आने १० पाई प्रति तोला की दर पर चार-चार सौ औंस (१०६५ तोले की छड़) की छड़ों में बदला जा सकता था। इस तरह इंगलैंड और भारत दोनों में ही मुद्रा के बदले स्वर्ण कम से कम ४०० औंस लिया जा सकता था। (iv) इस मान में सोने की आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है जिससे सब देशों में सोने का मूल्य लगभग समान रहता है। (v) इस मान में सोने का स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) भी नहीं होता है।

इंगलैंड में स्वर्ण पाट मान सन् १६३१ तक प्रचलित रहा, परन्तु इस वर्ष इंगलैंड को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसके कारण इसी वर्ष इंगलैंड को इस मान का परित्याग करना पड़ा। भारत ने भी इंगलैंड का अनुकरण किया और इसी वर्ष भारत ने भी स्वर्ण पाट मान को त्याग दिया। अमेरिका ने इस मान को सन् १६३३ तक और फ्रांस ने इसे १६३६ तक अपनाया। परन्तु सन् १६३६ तक शनैः शनैः प्रत्येक देश ने स्वर्ण-पाट-प्रणाली को छोड़ दिया और आज यह मान कहीं भी नहीं पाया जाता है।

स्वर्ण पाट मान के लाभ-दोष

स्वर्ण-पाट-मान के लाभ (Advantages of the Gold Bullion Standard)—इस मान के समर्थकों ने इस मान में कई महत्वपूर्ण लाभ बताए हैं और इसलिये कुछ तो इसे स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा बहुत अच्छा मान मानते हैं। इसके कुल लाभ इस प्रकार हैं—(i) **स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता**—स्वर्ण पाट मान में स्वर्ण के उपयोग में तीन तरह से मितव्ययिता होती है—(क) स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में नहीं होने से घिसावट द्वारा सोना नष्ट नहीं होने पाता है। (ख) सोने के सिक्कों को ढालने में किया जाने वाला व्यय बच जाता है तथा (ग) सोने के उपयोग में बचत होती है क्योंकि अब मुद्रण के लिये बहुत अधिक मात्रा में सोने की आवश्यकता नहीं रहती—

है। इस मान में सोना केवल स्वर्ण-कोषों में जमा रहता है और सोने की मात्रा चलन की अपेक्षा निधि में कम रखनी पड़ती है। परिणामतः इस मान को वह देश भी अपना सकता है जिसके पास स्वर्ण कम मात्रा मे उपलब्ध है। यह इस कारण भी सम्भव है क्योकि इस मान में एक निश्चित मात्रा से कम सोना नही खरीदा जा सकता है और चूँकि निश्चित मात्रा से अधिक प्रत्येक व्यक्ति सोना नही खरीद सकता, इसलिये भी निधि में बहुत कम सोने की आवश्यकता हुआ करती है। अतः इन तीनो कारणों से यह कहा जाता है कि स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा स्वर्ण पाट मान में अपेक्षाकृत अधिक मितव्ययिता (Economy) रहती है। (ii) **स्वर्ण का उपयोग सार्वजनिक लाभ के लिए होता है:**—स्वर्ण-पाट-मान के समर्थकों ने यह कहा है कि इस मान का एक बहुत महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इस मान मे स्वर्ण का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये नही वरन् सामान्य व सार्वजनिक लाभ के लिये होता है। इसका कारण स्पष्ट है। स्वर्ण-चलन-मान मे सोना छोटे-छोटे व्यक्तिगत कोषो मे जमा रहता है क्योकि चलन-मान मे सोने के सिक्के व्यक्तियो के पास होते हैं। यह सर्व विदित है कि सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य साख-मुद्रा (नोट) या सांकेतिक मुद्रा का ही अधिक उपयोग करते हैं और धात्विक-मुद्रा का उपयोग कम करते हैं। परन्तु आर्थिक संकट-काल में मनुष्य न केवल नोटों का उपयोग कम और स्वर्ण-मुद्रा का उपयोग अधिक करने लगते हैं वरन् वे स्वर्ण-मुद्रा का संग्रह (Hoarding) करने लगते हैं। ऐसे सकट काल मे सोने का सग्रह व्यक्तियों के पास न होकर यदि सरकार के पास हो जाय, तब यह बहुत ही अच्छा होता है क्योंकि ऐसा हो जाने पर एक ओर तो जनता का सरकारी मुद्रा मे विश्वास बना रहता है और दूसरी ओर सोने का व्यक्तिगत हित मे उपयोग नही होकर सार्वजनिक हित में उपयोग हो सकता है। परन्तु यह तब ही सम्भव है जबकि देश मे स्वर्ण-चलन-मान के स्थान पर स्वर्ण-पाट-मान होता है क्योकि तब ही स्वर्ण-निधि सरकार के पास हो सकती है। अतः स्वर्ण-पाट-मान मे स्वर्ण का उपयोग सार्वजनिक हित मे हुआ करता है। (iii) **स्वर्ण-पाट-मान में मुद्रा में लोच होती है**—इस मान का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसमे लोचकता होती है। इस मान मे चलन और स्वर्ण-कोष की मात्रा के बीच एक निश्चित अनुपात होता है, जैसे—स्वर्ण कोष की मात्रा मुद्रा की मात्रा का ३०% या ४०% या इससे कम अधिक होता है। सरकार द्वारा आवश्यकता पड़ने पर

स्वर्ण पाट मान के लाभ हैं:—

१. स्वर्ण के उपयोग मे मितव्ययिता।
२. स्वर्ण का उपयोग सार्वजनिक लाभ के लिये होता है।
३. मुद्रा में लोच होता है।
४. विनिमय-दर मे स्थिरता होती है।
५. मुद्रा प्रणाली मे जनता का विश्वास होता है।
६. स्वर्ण-पाट मान में स्वयं संचालकता का गुण होता है।

मुद्रा की मात्रा और स्वर्ण-निधि के बीच के अनुपात में परिवर्तन कर देने पर मुद्रा की मात्रा में प्रसार व सकुचन किया जा सकता है। अत. स्वर्ण-पाट मान में व्यापारिक व औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा चलन की मात्रा में घट-बढ़ आसानी से की जा सकती है। (iv) **विनिमय दर की स्थिरता**—विनिमय दर की स्थिरता के दृष्टि-कोण से भी सोना चलन में रहने की अपेक्षा मुद्रा-अधिकारी के कोष में रहना अधिक उपयोगी होता है क्योंकि इस दशा में मुद्रा अधिकारी विनिमय दर में स्थिरता लाने में अधिक सफल होता है। (v) **मुद्रा प्रणाली में जनता का विश्वास होता है**—चूँकि सरकार माग करने पर पत्र-मुद्रा अथवा साकेतिक मुद्रा के बदले में स्वर्ण देने के लिये हर समय तैयार रहती है, इसलिए स्वर्ण-पाट-मान में जनता का विश्वास होता है तथा देश की साख (Credit) भी बनी रहती है। (vi) **स्वर्ण-पाट मान में स्वयं संचालकता का गुण होता है**—स्वर्ण-चलन-मान की तरह इस मान में भी स्वर्ण-मान के नियमों का पालन करने से स्वय-सचालकता का गुण पाया जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। जिस समय मुद्रा की माग कम होती है, मनुष्य सोना खरीदते है जिससे एक तरफ तो स्वर्ण-कोष में सोने की मात्रा कम हो जाती है और दूसरी ओर चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और यह इसकी माग के बराबर हो जाती है। इसी तरह जब देश में मुद्रा की माग अधिक होती है, तब मनुष्य अपने पास का सोना बेचते हैं और यह सोना सरकार के स्वर्ण-कोष में जमा होकर कोष की मात्रा को बढ़ा देता है। कोष की मात्रा बढ़ जाने पर मुद्रा की मात्रा भी बढ़ जाती है और पूर्ति इसकी माग के बराबर हो जाती है। इस तरह स्वर्ण चलन-मान की तरह स्वर्ण-पाट-मान में भी स्वय-सचालकता का गुण पाया जाता है और देश में मुद्रा की माग और पूर्ति का स्वत समायोजन (Adjustment) होता रहता है। परिणामत. मूल्य-स्तर तथा विनिमय की दर में भी स्थिरता कायम रहती है।

__स्वर्ण-पाट मान के दोष__ (Disadvantages of the Gold Bullion Standard)—यद्यपि प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्ण पाट-मान अपेक्षाकृत अधिक अच्छा मान समझा गया क्योंकि इस मान में सोने की अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं रहती है, परन्तु कुछ भयानक दोषों के कारण यह मान अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। स्वर्ण पाट-मान में कुछ मुख्य दोष इस प्रकार हैं— i **जनता का विश्वास कम होता है**.—स्वर्ण-चलन मान की अपेक्षा स्वर्ण पाट-मान में जनता का विश्वास कम होता है क्योंकि इस मान में स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में नहीं होते और जनता को विनिमय का कार्य-पत्र मुद्रा तथा साकेतिक मुद्रा द्वारा ही करना पड़ता है। यह अवश्य है कि तमाम मुद्रा स्वर्ण में बदली जा सकती है, परन्तु मान के इस परिवर्तन-शीलता के गुण से जनता का विश्वास बढ़ने नहीं पाता है। (ii) **मान केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान है**—स्वर्ण-चलन मान की तरह स्वर्ण-पाट मान भी केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान (Fair Weather Standard) है। आर्थिक सकट काल में यह मान ठीक-ठीक नहीं चलने पाता है। (iii) **मान में स्वय सचालकता का गुण कम और नियन्त्रित**

स्वर्ण-पाट-मान में दोष हैं:—

१. जनता का विश्वास कम होता है।
२. यह केवल एक अनुकूल परिस्थितियों का मान है।
३. मान में स्वयं-संचालकता का गुण कम और नियन्त्रित पद्धति का गुण अधिक पाया जाता है।
४. यह एक अमितव्ययी मान है।

पद्धति का गुण अधिक पाया जाता है:—इस मान में स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा स्वयं संचालकता का गुण बहुत ही पाया जाता है। वास्तव में यह एक नियन्त्रित-पद्धति (Managed System) है, क्योंकि मान में मुद्रा-अधिकारी अथवा सरकार द्वारा ही पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा और स्वर्ण-निधि का संचालन किया जाता है। अतः स्वर्ण-पाट-मान में सरकारी हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता पड़ा करती है। (iv) यह मान **अमितव्ययी भी है:**—इस मान में सोना स्वर्ण-कोष में बेकार पड़ा रहता है तथा इस मान का प्रबन्ध करने में भी बहुत व्यय होता है।

स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)

(ग) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard):—यद्यपि भारत तथा अन्य कुछ देशों में इस मान का प्रचलन २०वीं शताब्दी के आरम्भ में ही हो गया था, परन्तु मूल रूप से इस मान का प्रचलन प्रथम महायुद्ध के बाद ही हुआ था। स्वर्ण-विनिमय मान के दो मुख्य रूप हैं:—(क) **यह स्वर्ण-विनिमय-मान जिसमें स्वर्ण का कोष बिल्कुल भी नहीं रखा जाता है।** ऐसा देश अपनी स्वर्ण की सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए विदेशी स्वर्ण-कोषों पर निर्भर रहता है। (ख) **वह स्वर्ण-विनिमय-मान जिसमें कुछ स्वर्ण-कोष रखा जाता है और कुछ हिस्से के लिये अपनी जमा स्वर्ण-मान वाले देशों के अल्पकालीन विनियोग (Investments) रखे जाते हैं।** अर्थशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है कि उक्त में से कौनसा स्वर्ण-विनिमय मान है। कुछ अर्थशास्त्री स्वर्ण-विनिमय मान के उक्त दूसरे रूप को स्वर्ण-विनिमय मान के अन्तर्गत नहीं रखते हैं और वे इसका पहला रूप ही मानते हैं। परन्तु वास्तव में उक्त दोनों रूपों का उपयोग होता है और आजकल दोनों को ही स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया गया है। इस मान की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं:—

(i) स्वर्ण-विनिमय-मान में न तो स्वर्ण के सिक्कों का प्रचलन होता है और न स्वर्ण के सिक्के ही ढाले जाते हैं। यह आवश्यक है कि स्वर्ण परोक्ष रूप से मूल्य-मापन का कार्य करता है। अतः इस मान में स्वर्ण विनिमय-माध्यम का कार्य नहीं करता है। (ii) देश के आन्तरिक चलन में पत्र-मुद्रा तथा अन्य सस्ती-धातु की सांकेतिक मुद्रा का चलन किया जाता है। इन मुद्राओं का सम्बन्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा एवं शुद्धता में निश्चित किया जाता है परन्तु मुद्रा अधिकारी का यह दायित्व नहीं होता कि वह देश

की मुद्रा को स्वर्ण में बदले। सिद्धान्त में (Theoritically) तो मुद्रा अधिकारी देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने या विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) में परिवर्तित करने का उत्तरदायी होता है परन्तु वास्तव में (In Practice) सोना केवल विदेशी-भुगतानों के लिये ही दिया जाता है और वह भी केवल विदेशी विनिमय के रूप में। स्वर्ण-मुद्रा-मान मे स्वर्ण के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई होती है, स्वर्ण-धातु-मान मे स्वर्ण की छड़ों का क्रय-विक्रय होता है, परन्तु स्वर्ण-विनिमय मान में सरकार द्वारा प्रबन्धित सोने के ड्राफ्ट का असीमित बाजार होता है। दूसरे शब्दो मे, स्वर्ण-विनिमय-मान मे मुद्रा का परिवर्तन एक वैधानिक दर पर किसी दूसरे देश की मुद्रा से जो स्वर्ण-मान (स्वर्ण-चलन-मान या स्वर्ण पाट-मान) पर आधारित है किया जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन से सम्बन्ध रखने वाले नियम केन्द्रीय अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर रहते हैं। केन्द्रीय अधिकारी स्वर्ण ड्राफ्टो को साख-मुद्रा के बदले में देते हैं और ये ड्राफ्ट विदेशों मे स्वर्ण मे परिवर्तित किये जा सकते हैं। इस तरह इस मान में सरकार का उत्तरदायित्व केवल इतना होता है कि वह देश की मुद्रा को एक ऐसी मुद्रा में परिवर्तित करे जो स्वयं स्वर्ण मे परिवर्तनशील हो और एक निर्धारित दर पर विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण माग की पूर्ति करे। अत स्वर्ण-विनिमय मान में देश की मुद्रा का सोने से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Relationship) नही होता है वरन् इसका सोने से परोक्ष सम्बन्ध (Indirect Relationship) होता है क्योंकि देश की मुद्रा के बदले में विदेश मे सोना मिल सकता है। (iii) देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक विदेशी बैंकों में स्वर्ण-कोष रखती है और अपने देश मे भी एक कोष मे विदेशी विनिमय या विदेश के सिक्के रखती है। इस तरह इस मान में दो कोषों का रखना बहुत आवश्यक होता है— पहला उस देश मे जो उसे अपनाये और दूसरा विदेश मे, जिससे इस देश की मुद्रा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस मान की सफलता बहुत कुछ इन कोषों पर ही निर्भर रहती है। यह स्वाभाविक ही है कि जो देश इस मान को अपनाता है वह उस देश पर निर्भर रहता है जिससे इसने अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्थापित किया है। (iv) स्वर्ण में मुक्त बाजार (Free Market in Gold) नही होता है। सरकार द्वारा यह बाजार नियन्त्रित व नियमित (Govt Controlled and Managed) होता है जिससे कोई भी व्यक्ति सोने का न तो आयात कर सकता है और न निर्यात ही।

स्वर्ण-विनिमय मान प्रणाली का अवलम्बन सर्वप्रथम जावा मे हुआ और बाद में ही भारत, पैनामा, मैक्सिको, फिलिपाइन्स आदि देशों में हुआ था। भारतवर्ष मे सन् १६०० मे इस मान को अपनाया गया था। उस समय भारतीय रुपये को ब्रिटिश पौंड से सम्बन्धित किया गया और इसकी विनिमय दर १ शि० ४ पें० प्रति रुपया रक्खी गई। भारत सरकार ने लन्दन मे एक बहुत बड़ा कोष रक्खा था। प्रथम महायुद्धकाल मे भारत सरकार ने इस मान को बड़ी मुश्किल से चालू रक्खा और अन्तत सन् १६१७ में भारत सरकार को इसे स्थगित (Postpone) करना पड़ा। सन् १६२० में भारत में युद्ध के पश्चात् फिर प्रति रुपया २ शि० की दर पर इस मान को अपनाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा क्योंकि सरकार २ शि० प्रति रुपया की दर

पर स्टर्लिङ्ग बेचने में असमर्थ रही। इसका कारण स्पष्ट है। एक ओर चांदी का मूल्य बहुत गिर गया और दूसरी ओर देश में आयातें निर्यातों से बहुत अधिक हो गईं जिनके कारण भारत में स्टर्लिंग की मांग बहुत बढ़ गई और भारत सरकार स्टर्लिंग की इतनी अधिक मात्रा की व्यवस्था नहीं कर सकी। अन्ततः सन् १६२७ में भारत ने स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) अपना लिया।*

युद्धकाल में चांदी का मूल्य बढ़ जाने के कारण रुपयों की मांग बढ़ गई जिससे स्वर्ण-विनिमय-मान को कायम रखने में सरकार कठिनाई अनुभव करने लगी। इस मान को बनाये रखने के लिये सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State for India) ने लंदन में कौंसिल-बिल्स (Council Bills) या रुपए-बिल्स (Rupee Bills) नाम के पत्रों को ऐसे व्यक्तियों को बेचना शुरू किया जो भारत में भुगतान करना चाहते थे अर्थात् जो व्यक्ति भारत में रुपये का भुगतान करना चाहते थे, वे इन बिल्स को स्टर्लिंग देकर खरीदते थे और इन्हें भारतीय व्यापारियों को भेज देते थे जो इनके आधार पर एक निश्चित दर पर भारत सरकार से रुपया ले लिया करते थे। इसी तरह भारत सरकार ने रिवर्स कौंसिल बिल्स (Reverse Council Bills) या स्टर्लिंग-पत्र (Sterling Bills) उन भारतीय व्यापारियों को रुपये के बदले में बेचने आरम्भ कर दिये जो इङ्गलैंड में व्यापारियों को भुगतान में भेजना चाहते थे। इंगलैंड के व्यापारी इन बिल्स के आधार पर एक निश्चित दर पर अंग्रेजी सरकार से पौंड ले लिया करते थे। इस तरह उक्त बिल्स द्वारा इंगलैंड और भारत के व्यापारियों के सौदों की अदायगी बहुत आसानी से हो जाया करती थी। इन बिल्स का क्रय-विक्रय इस प्रकार किया जाता था कि भारत और इंगलैंड के बीच विनिमय की दर (Rate of Exchange) १ शि० ४ पै० प्रति रुपया

*विद्यार्थियों को स्वर्ण-विनिमय-मान तथा पत्र-मुद्रा-विनिमय-मान (Currency Exchange Standard) में भेद समझ लेना चाहिए। स्वर्ण-विनिमय-मान में देश की मुद्रा के बदले में सरकार एक ऐसी विदेशी मुद्रा देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेती है जिसके बदले में विदेश में स्वर्ण लिया जा सकता है। भारत में सन् १६२७ तक इसी प्रकार का मान रहा। परन्तु सन् १६३१ में जब इङ्गलैंड ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया, तब स्टर्लिंग स्वयं एक अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा बन गया क्योंकि इसके बदले में स्वर्ण नहीं दिया जा सकता था। इसलिये सन् १६३१ से भारत में स्वतः पत्र-मुद्रा विनिमय-मान (या पत्र-मु० मान या स्टर्लिङ्ग विनिमय मान) स्थापित हो गया क्योंकि भारतीय रु० के बदले में सरकार एक निश्चित दर पर स्टर्लिङ्ग का क्रय-विक्रय किया करती थी। सन् १६४७ तक स्टर्लिङ्ग और भारतीय रुपये दोनों का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं था जिससे विनिमय दर में काफी परिवर्तन होते रहते थे। परन्तु सन् १६४७ में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से, भारतीय रुपये का भी स्वर्ण में मूल्य परिभाषित कर दिया गया जिससे अब विनिमय दर में भी स्थिरता आ गई है। अतः सन् १६३१ से सन् १६४७ तक भारत में पत्र मुद्रा विनिमय-मान (Currency Exchange Standaru) रहा था और सन् १६४७ से स्वर्ण समता-मान (Gold Parity Standard है।

या इसके आस-पास बनी रहे। अत. भारत मे स्वर्ण-विनिमय मान के प्रचलन में कौंसिल बिल्स तथा रिवर्स कौंसिल बिल का बहुत महत्व रहा है।

स्वर्ण–विनिमय–मान के लाभ-दोष

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ (Advantages of the Gold Exchange Standard) :—इस मान के समर्थकों ने इस मान के कुछ मुख्य लाभ इस प्रकार बताये है (i) यह मान बहुत ही कम खर्चीला है —इसके कई कारण है—(क) इस मान मे सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता है जिससे देश को सोने की घिसावट से होने वाली हानि की बचत हो जाती है। (ख) सरकार पत्र-मुद्रा या अन्य सांकेतिक मुद्रा के बदले में स्वर्ण देने के लिये बाध्य नही होती है जिससे स्वर्ण कोष में बेकार मे सोना नही पड़ा रहता है। विदेशी कोषो में भी सोना बहुत कम मात्रा में जमा करना पड़ता है। परिणामत. सोने का उपयोग मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किया जा सकता है। (ग) इस मान में सोने का स्वतन्त्र बाजार (Free Market in Gold) नही होता है जिससे सोने की आयात-निर्यात का खर्च बच जाता है। अब इसको बक्सों में बन्द करने, बीमा कराने तथा यातायात पर व्यय करने की विशेष आवश्यकता नही रहती है। अतः यह मान बहुत ही मितव्ययितापूर्ण होता है। (ii) स्वर्ण विनिमय-मान बहुत लोचदार होता है :—चूं कि इस मान में मुद्रा का प्रसार सोने की उपलब्धता पर निर्भर नही होता है, इसलिये यह मान बहुत लोचपूर्ण होता है। इस मान मे मुद्रा-अधिकारी मुद्रा के बदले म स्वर्ण देने के लिये बाध्य नही होता, इसलिए मुद्रा का प्रसार देश की व्यापारिक आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। (iii) [redacted] मान मे स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त होते हैं तथा यह मान एक ऐसे देश द्वारा भी अपनाया जा सकता है जिसके पास सोना बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध है —स्वर्ण-विनिमय मान की यह विशेषता है कि बिना स्वर्ण के सिक्के चलाय स्वर्ण-मान के सब लाभ उठायें जा सकते है। इसलिये यह पद्धति एक निर्धन व कम विकसित देश के लिए बहुत उपयोगी है। (iv) सरकार विदेशी विनियोगों से लाभ प्राप्त करती है .—इस मान मे एक देश को विदेश में कोष

> **स्वर्ण–विनिमय–मान के लाभ हैं:–**
>
> १. यह मान बहुत ही कम खर्चीला है।
> २ स्वर्ण-विनिमय-मान बहुत लोचदार होता है।
> ३ इस मान मे स्वर्ण-मान के सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं और यह एक ऐसे देश द्वारा भी अपनाया जा सकता है जिसके पास सोना बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है।
> ४ सरकार विदेशी विनियोगों से लाभ प्राप्त करती है।
> ५ इस मान में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों म सुविधा रहती है।

स्थापित करना पड़ता है जिस पर इसे ब्याज प्राप्त होता है। (v) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में सुविधा रहती है :—इस मान मे सरकार पर विदेशी विनिमय की दर को नियन्त्रित व नियमित करने का दायित्व होता है। वह विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया करती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे आसानी रहे। अतः स्वर्ण-विनिमय-मान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे सुविधाजनक होता है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष (Defects of the Gold Exchange Standard):—इस मान के आलोचको ने इसमें कई दोष बताये है। इनमें से कुछ मुख्य दोष इस प्रकार है:—(i) स्वर्ण-विनिमय मान में जनता का कम विश्वास होता है :—यह मान अत्यधिक कठिन व जटिल होता है और जन साधारण इसे आसानी से समझने नहीं पाते है जिससे जनता मुद्रा-अधिकारी को सदा शका की दृष्टि से देखती है। परिणामत इस मान म जनता का कम विश्वास होता है। विश्वास के अभाव का एक कारण यह भी होता है कि सरकार मुद्रा के बदले स्वर्ण नही देती है वरन् यह केवल विदेशी भुगतान के लिये ही विदेशी विनिमय या ऐसी विदेशी मुद्रा देती है जो स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है। इस कारण यह पद्धति सैद्धान्तिक (Theoritical) प्रतीत होने लगती है, यहाँ तक कि एक शिक्षित व्यक्ति तक इसे बहुत कठिनाई से समझने पाता है। (ii) इस मान में विदेश में स्वर्ण-कोष जमा करने वाले देश को हानि का भय रहता है—स्वर्ण-विनिमय मान में विदेशी भुगतान की सुविधा के लिये विदेशी बैंक में स्वर्ण-कोष जमा करना पडता है। इस बैंक के टूट जाने (Failure of the Bank) पर उक्त कोष को जमा करने वाले देश को हानि का भय रहता है। (iii) इस मान में कोषो की अधिकता थी :—भारत में इस मान के अन्तर्गत तीन कोषो का निर्माण करना पड़ता था—स्वर्ण-मान-कोष, पत्र-मुद्रा कोष तथा भारत सरकार की इगलेड और भारत मे जमा की गई रकम। (iv) यह मान स्वयं-चालित नहीं है :—स्वर्ण-विनिमय-मान मुख्यतः राज्य द्वारा नियन्त्रित व नियमित (Controlled and Managed) मान है। चूंकि

> **स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष हैं:—**
>
> १. इस मान में जनता का कम विश्वास होता है।
> २. इस मान मे विदेश में स्वर्ण-कोष जमा करने वाले देश को हानि का भय रहता है।
> ३. इस मान में कोषों की अधिकता रहती है।
> ४. यह स्वयं-चालित मान नहीं है।
> ५. इसमे लोचकता का गुण नही है।
> ६. इस मान मे देश का चलन विदेशी चलन पर आश्रित हो जाता है।
> ७. स्वर्ण-विनिमय-मान मे आधार देश की मुद्रा-प्रणाली असुरक्षित रहती है।

राज्य को ही विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करना पड़ता है, इसलिये यह एक प्रबन्धित मान (Managed Standard) कहलाता है। (v) **इस मान में लोचकता का गुण नहीं है** :—इस मान में मुद्रा का प्रसार तो आसानी से हो जाया करता था, परन्तु यदि एक बार रुपये बन गये तब इनका प्रचलन बराबर रहता था क्योंकि इस मान में कोई भी ऐसा साधन नहीं था जिससे मुद्रा का सकुचन आसानी से हो जाय। (vi) **देश का चलन विदेशी चलन पर आश्रित हो जाता है** :—इस मान में स्वतन्त्रता का अभाव रहता है क्योंकि स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने वाले देश की मुद्रा-नीति आधार देश (Planet Country) की मुद्रा-नीति पर अवलम्बित हो जाती है। यूं तो यह व्यवस्था सस्ती व सुविधाजनक होती है, परन्तु इसमें हानि का भय भी बहुत होता है। यदि किन्हीं कारणों से आधार देश (Planet Country) को स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ जाय, तब इस देश की मुद्रा से सम्बन्धित सभी देशों को भी स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ जायगा क्योंकि इस दशा में इन सब देशों की मुद्रा के बदले में दी जाने वाली आधार-देश की मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं रहती है। अतः स्वर्ण-विनिमय-मान को अपनाने वाला देश अपने व्यापार तथा विनियोगों के लिये आधार-देश पर आश्रित हो जाता है। (vii) **स्वर्ण-विनिमय-मान में आधार-देश की मुद्रा प्रणाली असुरक्षित रहती है** :—इसका कारण भी स्पष्ट है। आधार-देश के पास स्वर्ण-कोष एक सीमित मात्रा में ही रहता है। परन्तु इस कोष पर न केवल आधार देश का ही अधिकार रहता है वरन् उन सब देशों का अधिकार होता है जिन्होंने अपनी मुद्रा प्रणाली को आधार-देश की मुद्रा से सम्बन्धित किया है। इस दशा में यदि आधार देश तथा अन्य देशों की स्वर्ण की माँग बहुत अधिक हो जाय, तब आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली संकट में पड़ सकती है। अतः स्वर्ण-विनिमय-मान में आधार-देश की मुद्रा प्रणाली का जीवन संकट में रहता है।

स्वर्ण विनिमय-मान के उपर्युल्लिखित दोषों के कारण हिल्टन-यंग-कमीशन (Hilton Young Commission) ने इस मान को भारत में अव्यवहारिक घोषित किया और इस कमीशन के सुझाव के अनुसार यह मान भारत में सन् १९२७ में समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान पर स्वर्ण-धातु मान स्थापित हुआ।

स्वर्ण–निधि–मान (Gold Reserve Standard)

(घ) स्वर्ण निधि मान (Gold Reserve Standard) —स्वर्ण निधि-मान स्वर्ण मान का ही एक संशोधित रूप है। यह मान सन् १९३६ से सितम्बर १९३९ तक कुछ पाश्चात्य देशों में प्रचलित रहा, जैसे बेल्जियम, फ्रांस, स्विटजरलैंड तथा अमेरिका। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने पर यह मान प्रचलित नहीं रह सका। इस मान की विशेषतायें इस प्रकार हैं :—(i) **सोने की आयात-निर्यात केवल सरकार द्वारा ही की जा सकती है** :—स्वर्ण-निधि मान में स्वर्ण के स्वतन्त्र बाजार का अन्त हो जाता है। व्यक्ति एवं व्यापारी स्वर्ण का आयात निर्यात नहीं कर सकते हैं। इसका एकाधिकार केवल सरकार के हाथ में होता है। सोने का आयात-निर्यात सरकार द्वारा केवल विनिमय की दर में स्थिरता लाने के लिए किया जाता है। सन् १९३६ में कुछ पाश्चात्य देशों में इसी

आशय का एक समझौता हुआ जिसके अनुसार एक देश से दूसरे देश को सोना केवल मुद्रा सम्बन्धी कार्यों के लिए आ-जा सकता था। (ii) **विनिमय-समीकरण कोषों की स्थापनाः**— विनिमय की दर में स्थिरता लाने के लिए, इस मान के अन्तर्गत सभी देशों के केन्द्रीय बैंकों ने विनिमय-समीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) की स्थापना की थी। इन कोषों को कभी-कभी विनिमय समातुलन लेखे (Exchange Equalisation Accounts) या विनिमय-कोष (Exchange Funds) के नाम से भी पुकारा जाता है। इस मान में एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष को सोना आ-जा सकता था, परन्तु सोने की इस प्रकार की आयात-निर्यात केवल सरकार द्वारा ही हो सकती थी और यह कार्यवाही जनता से पूर्णतया गुप्त रहती थी। जनता को यह मालूम भी नहीं होने पाता था कि किसी समय पर कोई देश कितना स्वर्ण खरीद बेच रहा था या किसी कोष के पास विभिन्न देशों की भिन्न-भिन्न मुद्रायें कितनी-कितनी मात्रा में किसी समय पर रहती थी (विनिमय-समीकरण कोषों द्वारा किस प्रकार देश में विनिमय की दर में स्थिरता आती थी, इस सम्बन्ध में 'विनिमय की दर' नामक अध्याय में विस्तार से लिखा गया है)। विनिमय-समीकरण कोषों में वह सोना जमा होता था जिसे वे दूसरे देशों से खरीदते थे। चूंकि इस मान में स्वर्ण एक देश के विनिमय-समीकरण कोष से दूसरे देश के समीकरण कोष को बराबर हस्तान्तरित होता रहता था, इसलिए इस पद्धति को कुछ लेखकों ने स्वर्ण-निधि पद्धति (Gold Reserve Standard) कहा है। (iii) **इस मान की एक विशेषता यह थी कि देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में बिना किसी हस्तक्षेप किए तथा ब्याज की दर में बिना कोई परिवर्तन किए, विनिमय की दर में स्थिरता लाई जा सकती थी:**— इसका कारण स्पष्ट है। सरकारें विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की माँग और पूर्ति का समायोजन (Adjustment) विनिमय-समीकरण कोषों द्वारा, गुप्त रूप में, आसानी से कर लिया करती थी और इस प्रकार का समायोजन बिना आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था में हस्तक्षेप किए ही हो जाया करता था।

> **स्वर्ण-निधि मान की विशेषतायें इस प्रकार हैं:—**
>
> १. सोने की आयात-निर्यात केवल सरकार द्वारा ही की जा सकती है।
> २. इस मान में विनिमय-समीकरण कोषों की स्थापना होती है।
> ३. इस मान में देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में बिना किसी हस्तक्षेप किए तथा ब्याज की दर में बिना कोई परिवर्तन किए, विनिमय की दर में स्थिरता लाई जाती है।

स्वर्ण-निधि-मान में उक्त गुण एवं विशेषतायें होते हुए भी यह मान द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही टूट गया क्योंकि यह मान विदेशी विनिमय (Foreign

Exchange) के क्षेत्र में युद्ध द्वारा उत्पन्न असाधारण परिस्थितियों का सामना नहीं कर सका।

स्वर्ण समता प्रणाली (Gold Parity Standard)

(न) स्वर्ण-समता प्रणाली (Gold Parity Standard)—यह मान स्वर्ण-मान का एक संशोधित एवं सबसे नवीन रूप है। इस मान का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से ही हुआ माना जाता है। स्वर्ण-चलन मान के बिल्कुल विपरीत इस मान में स्वर्ण के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है और न इस मान में स्वर्ण विनिमय-माध्यम का ही कार्य करता है। परन्तु इस मान की यह विशेषता है कि मुद्रा-अधिकारी देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय दर (Foreign Rate of Exchange) स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखने का दायित्व अपने ऊपर ले लेती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के जितने भी राष्ट्र सदस्य हैं, उन सब ही ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर कोष को सूचित कर रक्खा है, इसीलिए स्वर्ण-समता-मान (Gold Parity Standard) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समस्त सदस्य राष्ट्रों में प्रचलित माना जाता है। ऐसे राष्ट्र जिनमें यह मान पाया जाता है, वे इस मान को अपनाते हुए भी आन्तरिक मौद्रिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र रहते हैं। (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न सदस्य राष्ट्र अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय दर स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर किस प्रकार स्थापित रखते हैं, इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष नामक अध्ययन पढ़िये)।

स्वर्ण मान के नियम (Rules of the Gold Standard)

स्वर्ण-मान के दो नियम (The two Rules of the Gold Standard)—अब तक हमने स्वर्ण-मान के विभिन्न रूपों का विस्तार से विवेचन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान में स्वयं संचालकता का गुण पाया जाता है। परन्तु स्वर्ण-मान में यह गुण तभी पाया जाता है जबकि इस मान में दो नियमों का पालन किया जाता है। यही कारण है कि इन नियमों को स्वर्णमान के नियम (Rules of the Gold Standard) कहा गया है। ये दोनों नियम इस प्रकार हैं—(1) स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई जानी चाहिये (Policy of Unrestricted Trade)—स्वर्णमान ठीक ठीक प्रकार से तभी चल सकता है जबकि इसमें व्यापारिक स्वतन्त्रता होनी है अर्थात् जबकि वस्तुओं की आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगा होना है। यदि सरकार संरक्षण (Protection) की नीति अपना लेती है और वस्तुओं व स्वर्ण की आयात निर्यात पर कोटा (Quota) तथा लाइसेंस (License) आदि के रूप में व्यापारिक प्रतिबन्ध लगा देती है तब इसका परिणाम यह होगा कि भुगतानों में असमता (Inequality of Payments) उत्पन्न हो जायगी और यह असमता (Disequilibrium) स्वर्ण के आयात निर्यात द्वारा ठीक नहीं हो सकेगी। स्वर्ण मान

में स्वयं सचालक्ता (Automatic operation) का गुण तभी रहता है जबकि व्यापाराधिक्य की त्रुटियों को वस्तुओ तथा स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा ठीक होने दिया जाता है क्योकि तब ही मूल्य-स्तर में इस प्रकार का परिवर्तन हो सकेगा कि विदेशी व्यापार में सतुलन (Equilibrium in the Foreign Trade) स्थापित हो जाये। अतः व्यापाराधिक्य की त्रुटियों तथा स्वर्ण के विवरण की असमानता को ठीक करने के लिये यह आवश्यक है कि देश मे किसी भी रूप मे व्यापारिक प्रतिबन्ध नही होना चाहिये। इस प्रकार की दशा मे ही स्वर्णमान में सचालकता का गुण पाया जायगा। (ii) देश का आर्थिक ढांचा लोचपूर्ण होना चाहिये(Economic structure of the country should be Elastic):—स्वर्णमान का सफल संचालन तभी हो सकता है जबकि देश का आर्थिक ढांचा पूर्णतया लोचपूर्ण होता है अर्थात् जबकि सरकार या केन्द्रीय बैंक स्वर्ण के आयात-निर्यात से देश के मूल्य-स्तर पर पडने वाले प्रभाव को किसी भी प्रकार से कम या समाप्त करने का प्रयत्न नही करते है। स्वर्णमान मे स्वर्ण-कोषो के अनुपात मे ही मुद्रा की मात्रा में घट-बढ हुआ करती है और मुद्रा की मात्रा की इस घट-बढ़ से ही देश के मूल्य-स्तर मे घट-बढ हो जाया करती है। मूल्य-स्तर मे यह घट-बढ किस प्रकार होती है? जब किसी देश मे वस्तुओं की आयात अधिक और निर्यात कम होती है, तब इस प्रतिकूल व्यापाराधिक्य (Unfavourable Balance of Trade) को ठीक करने के लिये देश से स्वर्ण निर्यात किया जाता है, स्वर्ण का निर्यात हो जाने पर देश मे स्वर्ण-कोष की मात्रा कम हो जाती है जिससे अन्ततः देश में मुद्रा की मात्रा भी कम हो जाती है। मुद्रा की मात्रा के कम हो जाने पर मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है (मुद्रा-संकुचन का यही प्रभाव होता है)। मूल्य-स्तर के गिरजाने पर निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है और कुछ समय बाद व्यापाराधिक्य की त्रुटियो मे सुधार हो जाता है। इसी प्रकार जिस देश को सोना गया है, वहा स्वर्ण-कोष की मात्रा बढ जाने के कारण मुद्रा का परिमाण बढ जायेगा जिससे अन्ततः मूल्य-स्तर भी ऊंचा हो जायेगा। मूल्य-स्तर ऊंचा हो जाने से इस देश की आयात अधिक और निर्यात कम हो जायेगी जिससे कुछ समय बाद इस देश मे अनुकूल व्यापाराधिक्य (Favourable Balance of Trade) की स्थिति नही रहेगी। अतः सोने के आयात व निर्यात से स्वर्ण-कोष के घटने-बढने से मूल्य-स्तर पर और मूल्य-स्तर के घटने-बढने से देश की भुगतान की स्थिति पर प्रभाव पड़ा करता है। जब किसी देश मे सोने के आयात-निर्यात का उक्त आर्थिक प्रभाव पडता है तब यह कहा जाता है कि अमुक देश की आर्थिक स्थिति लोचपूर्ण है और स्वर्णमान के सफल संचालन के लिये इस प्रकार

> **स्वर्णमान के दो प्रसिद्ध नियम हैः—**
>
> १. स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई जानी चाहिये।
>
> २. देश का आर्थिक ढांचा लोचपूर्ण होना चाहिये।

की लोचपूर्ण आर्थिक स्थिति का होना आवश्यक होता है। यह स्मरण रहे कि देश की लोचपूर्ण आर्थिक स्थिति का यह भी अर्थ है कि देश में स्वर्ण को मुद्रा में और मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने की सुविधा होनी चाहिये।

अतः स्वर्णमान के सफल संचालन के लिये दो नियमों का पालन करना परमावश्यक है—(क) सरकार को स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनानी चाहिये तथा (ख) सरकार को देश का ढांचा पूर्णतया लोचपूर्ण रखना चाहिये। यदि इन नियमों का पालन नहीं किया गया, तब स्वर्णमान का संचालन भी ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा। वास्तव में, प्रथम महायुद्ध काल में और इसके बाद के काल में स्वर्णमान के नियमों का पालन नहीं हो सका जिसके कारण ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती चली गई कि बहुत से देशों को स्वर्णमान त्यागना पड़ा।

स्वर्ण-मान का खण्डन

(Breakdown of the Gold Standard)

स्वर्ण-मान के टूट जाने के कारण (Causes of the breakdown of the Gold Standard):—स्वर्ण-मान के पुनः संस्थापित हो जाने पर कुछ देशों के चलन में मूल्य-स्थैर्य (Price Stability) आ गया था जिससे १९२५–२८ के काल में इन देशों के व्यापार, विदेशी विनिमय तथा धनोत्पादन में पर्याप्त स्थिरता आ गई थी। परन्तु यह स्थिरता बहुत ही अल्पकालीन रही क्योंकि सन् १९३१ में इङ्गलैंड ने स्टर्लिंग की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को स्थगित कर दिया जिससे इसी वर्ष इङ्गलैंड में स्वर्ण-मान का अन्त भी हो गया। तत्पश्चात् १९३३ में अमेरिका ने भी डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को बन्द कर दिया। इस तरह आज सब ही देशों ने स्वर्ण-मान को एक मौद्रिक-मान के रूप में च्युत कर दिया है। स्वर्ण-मान के पतन एवं टूटने के निम्न-लिखित मुख्य कारण हैं—

(१) स्वर्ण-मान के नियमों का परित्याग (Violation of the Rules of the Gold Standard):—स्वर्ण-मान के टूटने का एक कारण यह था कि स्वर्ण-मान वाले देशों ने इस मान के नियमों का उल्लंघन किया जिससे इस मान में स्वयं संचालकता के गुण का अन्त हो गया। विभिन्न देशों में स्वर्ण-मान की सफल कार्यशीलता का एक मुख्य कारण इसकी स्वयं-संचालकता रहा है और जब स्वर्ण-मान के नियमों के भंग करने से स्वर्ण-मान में इस गुण का अन्त हो गया, तब स्वर्ण-मान के चलन में भी कठिनाई अनुभव होने लगी और अन्ततः यह मान टूट भी गया। ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान के उपलिखित दोनों नियमों का उल्लंघन किया गया था। (क) स्वर्णमान का प्रथम नियम है कि देश में स्वतन्त्र व्यापार की नीति होनी चाहिए। परन्तु फ्रांस तथा अमेरिका ऐसे देश थे जिन्होंने इस नीति को प्रथम त्यागा और वस्तुओं की आयातों तथा सोने की निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये। तत्पश्चात् इङ्गलैंड ने भी इसी नीति को अपनाया। इन देशों ने ऊंचे-ऊंचे आयात कर (Import Duties)

लगा कर विदेशों से वस्तुएं नहीं आने दीं। परिणामतः ऋणी (Debtor) देशों को सोने में ही अपने ऋणो का भुगतान करना पड़ा। (ख) स्वर्ण-मान का दूसरा नियम है कि देश का आर्थिक ढांचा पूर्णतया लोचदार होना चाहिए। परन्तु लगभग सब ही देशों ने, विशेषकर इङ्गलैंड और फ्रांस ने, स्वर्ण-मान के इस महत्वपूर्ण नियम का भी उल्लघन किया और स्वर्ण की गति का मूल्यों पर स्वाभाविक प्रभाव नहीं पड़ने दिया। जिस समय इङ्गलैंड ने स्वर्ण-मान को पुनः स्थापित किया था, उस समय स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण मे प्रतिमूल्यन (Overvaluation) कर दिया गया था जिससे इङ्गलैंड में प्रतिकूल व्यापाराधिक्य (Unfavourable Balance of Trade) हो गया और भुगतान में स्वर्ण बराबर इंगलैंड के बाहर जा रहा था। स्वर्ण-मान के नियम के अनुसार इस अवस्था में इंगलैंड मे मुद्रा-संकुचन होना चाहिये था तथा मूल्य-स्तर नीचा हो जाना चाहिये था। परन्तु इंगलैंड ने ऐसा नहीं होने दिया वरन् सरकार ने सिक्यूरिटीज (Securities) खरीद कर स्वर्ण-निर्यात का घरेलू मूल्य-स्तर पर प्रभाव नहीं पड़ने दिया अर्थात् मूल्यो को गिरने से बचाये रक्खा। सरकार की इस क्रिया का परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो इंगलैंड से सोना बराबर बाहर जाता रहा और दूसरी तरफ वस्तुओं की ऊंची लागत तथा ऊंचे मूल्य होने के कारण, इंगलैंड का माल विदेशों मे जाकर नहीं बिक सका जिससे निर्यात-व्यवसाय (Export Trade) में बहुत कमी हो गई, विनिमय-दर इंगलैंड के विपक्ष में हो गई और स्वर्ण का निर्यात इंगलैंड से और भी अधिक मात्रा मे होने लगा। इसी तरह का एक उदाहरण फ्रांस से भी मिलता है। फ्रास ने स्वर्ण-मान को पुनः स्थापित करते समय अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में अवमूल्यित (Under valuation) कर दिया था जिससे उस देश मे अनुकूल व्यापाराधिक्य (Favourable Balance of Trade) हो जाने से स्वर्ण की निरन्तर आयात होती रही। परन्तु फ्रांस की सरकार ने आयात किये गये स्वर्ण को स्वर्णकोषो मे बन्द करके इसे इस प्रकार प्रभावहीन बना दिया कि इसकी आयात से देश मे मुद्रा-प्रसार होकर मूल्य-स्तर मे वृद्धि नहीं होने पाये। सरकार हस्तक्षेप का परिणाम यह हुआ कि एक तरफ देश मे अनुकूल व्यापाराधिक्य बना रहा और दूसरी तरफ देश मे स्वर्ण का आयात बराबर होता रहा। इसी प्रकार अमेरिका ने भी आयात हुए सोने को सुरक्षित-कोषों मे बन्द करके इसे प्रभावहीन बना दिया। अतः स्वर्ण-मान के नियमों का उल्लघन करने का परिणाम यह हुआ कि भुगतान के सन्तुलन में काफी कठिनाई होने लगी, स्वर्ण का असमान वितरण हो गया तथा स्वर्ण मान की स्वयं संचालकता के गुण का अन्त हो गया। परिणामतः स्वर्ण-मान का भी अन्त हो गया।

(२) *स्वर्ण का असमान वितरण* (Maldistribution of Gold):—प्रथम युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण स्वर्ण का विभिन्न देशों में असमान वितरण हो गया और कुछ बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास इसका काफी अभाव हो गया। एक तरफ यदि अमेरिका और फ्रांस के पास बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण जमा हो गया था, तब दूसरी ओर जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के कुछ राष्ट्रों के पास इसकी अत्यधिक कमी हो गई थी।

यहां तक कि इन राष्ट्रों ने स्वर्ण के निर्यात को रोकने के लिए अनेक उपाय किये ताकि उनकी स्वर्ण पर आधारित मुद्रा-प्रणाली अस्त व्यस्त नहीं होने पाय। जिन राष्ट्रों के पास स्वर्ण की अत्यधिक आयात हुई, उन्होंने इसे प्रभावहीन बनाने के कदम उठाये और जिन राष्ट्रों के पास स्वर्ण की कमी होती जा रही थी, उन्होंने इसको बचाने के लिए उसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाए। परिणामत इन उपायो तथा प्रतिबन्धो के कारण स्वर्ण मान के स्वय सचालकता के गुण का अन्त हो गया और अन्तत इन राष्ट्रो को स्वर्ण-मान का भी परित्याग करना पड़ा।

(३) आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास (Development of Economic Nationalism) —प्रथम महायुद्ध काल मे अनेक राष्ट्रो ने ऐसी वस्तुओं की बहुत कमी अनुभव की जिन्हे वे विदेशो से मगाते थे जिससे इन राष्ट्रो के नागरिकों को युद्धकाल मे बहुत कष्ट सहना पड़ा। ऐसे राष्ट्र जो खाद्य सामग्री तथा अन्य औद्योगिक कच्ची-सामग्री के लिए विदेशो पर निर्भर रहते थे, उनकी आर्थिक दशा तो और भी खराब हो गई। इन कष्टों से बचने के लिए विभिन्न राष्ट्रो ने ऐसी नीति अपनाई कि वे उक्त क्षेत्रो में आत्म-निर्भर हो जाए। इन्होने उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया, अन्य कृत्रिम उपायो द्वारा देश मे उद्योगो के विकास की योजनायें बनाई, कोटा (Quota) तथा लाईसेंस (License) प्रणाली द्वारा आयातो को नियन्त्रित किया तथा अनेक रीतियो को अपना कर निर्यातो को प्रोत्साहित किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उक्त सब बातें स्वर्ण-मान के नियमो के विरुद्ध थी जिससे स्वर्ण-मान के स्वय-सचालकता के गुण का अन्त हो गया। अत आर्थिक राष्ट्रीयवाद के विकास के कारण भी स्वर्ण-मान का अन्त हो गया।

(४) प्रथम महायुद्ध की क्षति पूर्ति का भुगतान (Payment of the Reparations of the First World War) —प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी को विजेता तथा शक्तिशाली देशों को युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए काफी धन देना पड़ा था। कुछ देशो को अपना युद्ध-कालीन ऋण (Debt) वापिस देने के लिए भी बाध्य किया गया था, जर्मनी क्षतिपूर्ति-धन का भुगतान वस्तुओं के रूप मे करना चाहता था, परन्तु ऋणदाता (Creditor) देशो ने जर्मनी को इस धन का भुगतान सोने म ही करने के लिये बाध्य किया परिणामत क्षतिपूरक धन व युद्धकालीन ऋण के भुगतान के लिये स्वर्ण एक देश से दूसरे देश को जाने लगा। परन्तु इसका व्यापार से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के भुगतानो ने शनै शनै स्वर्ण अमेरिका को पहुँचा दिया, यद्यपि वहा पर पहले से ही स्वर्ण निधि बहुत अधिक मात्रा मे थी। दूसरी ओर जिन राष्ट्रो मे स्वर्ण निधि कम थी, वहा यह और भी कम हो गई। इन राष्ट्रो में स्वर्ण की निधि इतनी कम हो गई कि यह स्वर्ण-मान को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बहुत ही अपर्याप्त हो गई। इसीलिए ऐसे राष्ट्रो को परिस्थितिवश स्वर्ण मान को त्यागना पड़ा।

(५) अल्पकालीन पू जी का आतक (Havoc caused by the Short Period Capital) —प्रथम महायुद्ध से पहले बहुत से देश विदेशो मे, मुख्यत लाभ-प्राप्ति के लालच मे, पू जी का अल्पकालीन विनियोग (Investment) किया करते

थे। परन्तु युद्ध के पश्चात् शनैः शनैः सब ही देशों मे विदेशी-पूंजी पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गए (जैसे, विदेशी पूंजी पर ब्याज के भुगतान पर रोक, विदेशी पूंजी के भुगतान पर प्रतिबन्ध) जिससे पूंजी के ये अल्पकालीन कोष सुरक्षा (Security) तथा लाभ (Profit) की खोज मे एक देश से दूसरे देश को बहुत जल्दी-जल्दी हस्तान्तरित होते रहते थे। जिस देश में विदेशी पूंजी को अधिक सुरक्षा दिखाई देती थी, पूंजी का हस्तान्तरण उसी देश को हो जाया करता था। चूंकि इस पूंजी का आवागमन बहुत शीघ्र तथा अकस्मात होता था, इसीलिये यह पूंजी शरणार्थी पूंजी (Refugee Capital) के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस शरणार्थी-पूंजी ने अपने आवागमन से विभिन्न देशो में आतंक मचा दिया (Havoc) क्योकि इस पूंजी के हस्तान्तरण के अनुसार विभिन्न राष्ट्र अपने मूल्य-स्तर में परिवर्तन करने में असमर्थ रहते थे। इसके अतिरिक्त कुछ राष्ट्र इस पूंजी के भुगतान में यकायक इतनी अधिक मात्रा मे स्वर्ण भी नही दे सके जिसके कारण बाध्य होकर इन्हे स्वर्ण-मान को त्यागना पडा। इसका उदाहरण इंगलैंड से फ्रांस को जाने वाली अल्पकालीन पूंजी से मिलता है। जब फ्रांस ने स्वर्ण-मान पुनः स्थापित किया, तब इसने अपनी मुद्रा की स्वर्ण में कीमत घटा दी (Mark was Under valued)। परिणामतः फ्रांस निवासियो की जो पूंजी इंगलैंड मे थी उसकी मात्रा बढ गई जिससे फ्रांस के पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी इंगलैंड से मगाना आरम्भ कर दिया। परन्तु बैंक ऑफ इंगलैंड इतने कम समय में फ्रांस के पूंजीपतियों को इतनी अधिक मात्रा मे अन्तर्राष्ट्रीय अल्पकालीन पूंजी (Interrational Short Term Capital) के भुगतान मे सोना देने के लिये तैयार नही था। परिणामतः सन् १९३१ में इंगलैंड को स्वर्णमान को त्यागना पडा।

(६) सन् १९२९ की महान् मन्दी (The Great Depression of 1929) – स्वर्ण-मान पर सबसे बडा आघात सन् १९२९ की मन्दी ने किया और इस आघात को नही सह सकने के कारण अन्ततः यह मान टूट गया। यह मन्दी-काल अमेरिका मे सन् १९२९ की वाल स्ट्रीट संकट (Wall Street Crash) से आरम्भ हुआ और स्वर्ण मान के प्रचलन के कारण यह संकट तमाम संसार मे शीघ्र ही फैल गया। इस संकट के प्रारम्भ होने के कई कारण थे—विश्व के सभी देशों में मुद्रा की कमी के कारण मूल्य-स्तर गिरने लगे थे तथा वस्तुओं की मांग और इनके उत्पादन का संतुलन (Equilibrium) नष्ट हो गया था। इस संकट के कारण ही अमेरिका के स्वर्ण के सट्टा बाजार मे सटोरियों को बहुत हानि हुई जिसे सन् १९२९ का वाल-स्ट्रीट-संकट (Wall Street Crash) का नाम दिया गया है। जैसे-जैसे इस महान् मन्दी काल का प्रभाव अन्य देशों पर पडा, वैसे ही वैसे उन देशो मे भी आर्थिक संकट की दशायें उत्पन्न हो गईं। इन्ही परिस्थितियों के कारण आस्ट्रिया का केन्द्रीय बैंक भी फेल हो गया क्योंकि इसने अपने कोष का एक बहुत बड़ा भाग उद्योगों में विनियोजित किया था और इन उद्योगो को मन्दी के कारण बहुत क्षति पहुँची थी। परिणामतः यह बैंक जनता की स्वर्ण-परिवर्तन की माग को पूरा करने में असमर्थ हो गया और मुद्रा की

स्वर्ण-परिवर्तनशीलता के गुण के समाप्त हो जाने पर इस देश में स्वर्ण-मान का भी अन्त हो गया। जैसे ही आस्ट्रिया का केन्द्रीय बैंक फेल हुआ, अन्य देशो मे भी जनता की मुद्रा के बदले मे स्वर्ण की माग होने लगी और इन देशो के केन्द्रीय बैंक्स भी आर्थिक परिस्थितियो वश इस माग को पूरा करने मे असमर्थ हो गए। परिणामतः शनैः शनैः सब ही राष्ट्रो मे उनकी मुद्रा के स्वर्ण परिवर्तनशीलता के गुण का अन्त हो गया और इस गुण के समाप्त हो जाने पर उन राष्ट्रो मे स्वर्ण मान का भी अन्त हो गया।

(७) अन्य कारण :—स्वर्ण मान के टूटने के उक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं—(क) युद्धोत्तर काल मे स्वर्ण पाट मान तथा स्वर्ण मान का प्रयोग—इन मानो को अपनाने के कारण स्वर्ण मान में शिथिलता आ गई क्योंकि इन मानो में स्वय-सचालकता के गुण का अभाव था और इन मानो मे स्वर्ण की गति आवश्यक नही रही थी। (ख) मूल्यों मे दृढ़ता (Stickness of Prices)—व्यापारिक सघो, मजदूर सघो, बडी-बडी कम्पनियों तथा अन्य अनेक प्रकार की सहकारी सस्थाओ के विकास के कारण विभिन्न देशो मे उनकी स्वर्ण निधि के अनुसार मूल्य स्तर मे समय समय पर परिवर्तन नही हो सके जिससे स्वर्ण मान के स्वय सचालकता के गुण का अन्त हो गया और अन्तत इन राष्ट्रो को स्वर्ण मान को त्यागना पडा। (ग) राजनैतिक अस्थिरता (Political Instability)—युद्धोत्तर काल की राजनैतिक अस्थिरता ने भी स्वर्ण-मान के टूटने मे सहायता दी थी। घरेलू झगडे, युद्ध का भय, मुद्रा प्रणाली की सुरक्षा मे भय आदि ऐसे कारण थे जिनसे बैंकों के कोष व व्यक्तियो की पू जी विनियोग (investment) के लिए एक देश से दूसरे देश को चली जाया करती थी। सन् १९२०–३० के काल मे इन्ही कारणो से पू जी का हस्तान्तरण काफी बडे पैमाने पर हुआ था। बहुत से देश पू जी के इस प्रकार के हस्तान्तरण के लिए स्वर्ण मे भुगतान करने में असमर्थ थे जिससे इन्हे बाध्य होकर स्वर्ण मान त्यागना पडा। (घ) स्वर्ण मान एक अनुकूल परिस्थितियों का मान है (A fair weather Standard)—आर्थिक सकट काल मे स्वर्ण मान ने कभी भी साथ नही दिया था, इसलिए सकट पडने पर बहुत से दशो को इस मान को छोडना पडा था तथा (न) एक स्वर्ण मान देश अन्य सभी स्वर्ण मान देशों की आर्थिक परिस्थितियों पर आश्रित रहता है—यदि किसी एक स्वर्ण-मान देश की आर्थिक स्थिति किन्ही कारणो से खराब हो जाती है, तब इसका प्रभाव अन्य दशो पर भी पडता है। स्वर्ण मान का त्याग इस प्रकार की निर्भरता को दूर करने के लिए भी किया गया था।

सारांश—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वर्ण मान वाले देशो मे सन् १९३१ तक शनै शनै ऐसी आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितिया उत्पन्न हो गई थीं कि स्वर्ण मान का चलन असम्भव हो गया था। जबकि अमेरिका और फ्रास मे ससार के समाम स्वर्ण कोष का ६० प्रतिशत भाग एकत्रित हो गया और बाकी बचे राष्ट्रों मे यह केवल ४० प्रतिशत रह गया, तब तो स्वर्ण मान को कार्यान्वित करना और भी कठिन

हो गया था। सन् १६२६ की मन्दी एक ऐसा अन्तिम कारण बन गई जिसने स्वर्ण-मान के टूटने की प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया और अन्ततः परिस्थितिवश यह मान टूट भी गया।

स्वयं संचालित या प्रबन्धित मान

क्या स्वर्ण-मान एक स्वयं-संचालित मान था या यह एक प्रबन्धित मान था? (Was the Gold Standard an Automatic Standard or a Managed Standard ?) :—इस सम्बन्ध मे लेखकों में बडा मतभेद है कि स्वर्ण-मान एक स्वय-संचालित मान था या यह एक प्रबन्धित मान था। स्वर्ण-मान के कुछ समर्थकों का यह मत है कि यद्यपि प्रथम-महायुद्ध के पश्चात् तो इस मान मे स्वय-सचालकता के गुण मे कमी हो गई थी, परन्तु युद्ध के पूर्व यह मान पूर्णतया स्वय-सचालित था। दूसरी ओर इस मान के कुछ आलोचको का यह मत है कि यह मान जिस प्रकार कार्यशील हो रहा था उससे यह स्पष्ट है कि इस मान में पूर्णतया स्वय-सचालकता का गुण कभी भी विद्यमान नही था वरन् यह मान सदा ही कम अधिक मात्रा में एक प्रबन्धित मान (Managed Standard) था। इसका कारण स्पष्ट है। इस मान मे स्वर्ण का आवागमन केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) पर बहुत कुछ निर्भर रहता था। चाहे यह मान स्वर्ण-धातु-मान के रूप मे हो या यह स्वर्ण-विनिमय मान के रूप मे हो, यदि देश मे मूल्यो व विनिमय-दर मे स्थिरता रहती है तब यह स्थिरता स्वतः नही रहती है वरन् यह केन्द्रीय बैंक की मुद्रा की मात्रा को कम अधिक करने वाली नीति द्वारा होती है। यह अवश्य है कि आरम्भ मे इस मान मे प्रबन्ध का अंश बहुत कम था, परन्तु शनैः शनैः इस मान मे प्रबन्ध का अंश बहुत बढ गया था। खुले बाजार की नीति (Open Market Operations) का विकास भी प्रथम महायुद्ध से पहले ही हुआ था। केन्द्रीय बैंक इस नीति को अपना कर देश में मूल्यो मे स्थिरता रखखा करते थे (बैंक दर नीति और खुले बाजार की नीति के सम्बन्ध मे "केन्द्रीय बैंक" नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा गया है)। युद्धोत्तर काल मे तो बैंको ने इस नीति का बहुत ही अधिक उपयोग किया था। इसी नीति को अपनाकर ही केन्द्रीय बैंको ने स्वर्ण के आयात-निर्यात का वहाँ की आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नही पडने दिया था अतः यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान मुख्यतः एक प्रबन्धित मान (Managed Standard) था।

स्वर्ण-मान का भविष्य (Future of the Gold Standard)

क्या स्वर्ण-मान पुनः स्थापित किया जा सकता है (Can there be a Restoration of the Gold Standard ?)—सन् १६३१ में स्वर्ण-मान के परित्याग के कुछ ही वर्ष बाद द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और संसार के अधिकांश देशों मे पुनः अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा काफी बडी मात्रा मे निर्गमित (Issued) की गई जिससे मूल्यो मे बहुत अस्थिरता (Instability) आ गई। इसीलिये युद्ध काल में भविष्य के चलन-

सम्बन्धी अनेक योजनाएं बनाई गई ताकि युद्धोत्तर-काल में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान आसानी से किया जा सके। इसी समय अर्थशास्त्रियों के समक्ष एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ— **क्या स्वर्ण-मान को पुनः स्थापित किया जा सकता है?** इस प्रश्न का उत्तर जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि स्वर्ण-मान के पुनः स्थापन की क्या-क्या शर्तें हैं अर्थात् हमें जानना चाहिये कि स्वर्ण-मान की क्या-क्या आवश्यकताएं एवं शर्तें हैं जिनकी उपस्थिति में ही यह मान सफलतापूर्वक चल सकता है। स्वर्ण मान की कुछ आवश्यकतायें एवं शर्तें इस प्रकार हैं— (i) **स्वर्ण मान का अनेकों देशों द्वारा अपनाना** (Adoption of the Gold Standard by many countries) —स्वर्ण मान तभी सफल हो सकता है जबकि इसे अनेकों देश अपनाते हैं (विशेषकर बड़े-बड़े व शक्तिशाली राष्ट्र) क्योंकि तब ही स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य मापन व विनिमय माध्यम के लिये उपयोगी हो सकता है। (ii) **स्वर्ण निधि पर्याप्त होनी चाहिए तथा इसका समान वितरण होना चाहिये** (Adequate Reserves and their Equitable Distribution) – जो देश स्वर्ण मान अपनाना चाहते हैं उनके पास उनकी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण की निधि होनी चाहिये और स्वर्ण कोष पर्याप्त ही नहीं होना चाहिए वरन् इसका विभिन्न देशों में समान व न्यायपूर्ण वितरण भी होना चाहिए। यह स्पष्ट है कि एक ऐसा देश जिसके पास स्वर्ण नहीं है, वह स्वर्ण-मान नहीं अपना सकता क्योंकि स्वर्ण के अभाव में वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान नहीं कर सकेगा (iii) **विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता** (Freedom of Foreign Trade)-स्वर्ण-मान तब ही सफलतापूर्वक चल सकता है जबकि विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है। व्यापारिक स्वतन्त्रता होने पर एक ऐसा देश भी विदेशों से स्वर्ण प्राप्त कर सकेगा जिसके पास स्वयं स्वर्ण नहीं है या जिस देश के अन्दर स्वर्ण का उत्पादन नहीं होता है। (iv) **स्वर्ण-मान के नियमों का पालन होना चाहिए** (Observance of the Rules of the Gold Standard) —स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिये यह भी आवश्यक है कि इस मान के नियमों का पूर्णतया पालन होना चाहिये। स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात निर्यात होना चाहिये ताकि इसी गति से मूल्यों पर पूर्ण प्रभाव

स्वर्ण-मान को पुनः स्थापित करने की मुख्य शर्तें हैं:—

१ स्वर्ण मान को अनेक देशों द्वारा अपनाया जाना चाहिये।
२ स्वर्ण निधि पर्याप्त होनी चाहिए तथा इसका समान वितरण होना चाहिए।
३ विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।
४ स्वर्ण मान के नियम का पालन होना चाहिए।
५ राजनैतिक स्थिरता रहनी चाहिये।
६ अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कम होना चाहिये।
७ विभिन्न देशों के बीच सहयोग होना चाहिये।

पड़ सके। देश की आन्तरिक आर्थिक दशा लोचदार होनी चाहिये। स्वर्ण-निधि की गति का मूल्यों व ब्याज की दर पर पूर्ण प्रभाव पड़ने देना चाहिये। (v) राजनैतिक स्थिरता (Political Stability):—देश मे राजनैतिक अशान्ति से जनता में भविष्य के लिए भय उत्पन्न हो जाता है, मनुष्य धन का संग्रह (Hoarding) करने लगते हैं, बैंकों पर दौड़ (Run on the Banks) हो जाती है तथा पूंजी का विदेशो को निर्यात हो जाता है। स्वर्ण-निधि पर इस प्रकार का आघात, स्वर्ण-मान को शिथिल बना देता है। अतः स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिए देश मे राजनैतिक शान्ति परमावश्यक है। (vi) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कम होना चाहिये (Avoidance of the Burden of International Indebtedness):—ताकि स्वर्ण-मान सफलता से चल सके, यह आवश्यक है कि एक देश का दूसरे देश पर ऋण का भार नही होना चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है। यदि किसी देश पर विदेशी ऋण का भार बहुत है, तब इस देश की निर्यात का बहुत बड़ा भाग इस ऋण के ब्याज या मूलधन के भुगतान में ही समाप्त हो जायगा और इस देश के लिए विदेशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करना बहुत कठिन हो जायगा और अन्ततः इन वस्तुओं की आयात के लिए उसे अपनी स्वर्ण-निधि को बाहर भेजना पड़ेगा। परिणामतः इस देश में स्वर्ण-मान शिथिल हो जायगा (vii) देशों के बीच सहयोग होना चाहिए (International Co-operation):—स्वर्ण-मान मे स्वयं संचालकता का गुण तभी रह सकता है जब इस मान को अपनाने वाले विभिन्न राष्ट्रों में सहयोग भी हो।

क्या हम उपरलिखित शर्तों को आधुनिक संसार में पूरा कर सकते हैं? आर्थिक राष्ट्रीयवाद के वर्तमान युग मे उक्त तमाम शर्तों को पूरा करना कठिन ही नही है वरन् यह असम्भव भी है और इसीलिए स्वर्ण-मान की पुनः स्थापना भी सम्भव नही है। क्राऊथर (Crowther) ने ठीक ही कहा है कि आज के स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के युग में कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली सफलीभूत नही हो सकती है।* कीन्स (Keynes), गुस्टव (Gustav), तथा कैसेल (Cassel) जैसे विद्वान अर्थशास्त्रियों ने भी यह मत प्रकट किया है कि स्वर्ण के मूल्य मे अस्थिरता (Instability of the Price of Gold) के कारण इसका अब मौद्रिक क्षेत्र मे बहुत कम महत्व रह गया है जिसके कारण भविष्य मे स्वर्ण-मान की पुनः स्थापना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो गई है और इसीलिए इन्होने भविष्य मे स्वर्ण-मान के स्थान पर प्रबन्धित पत्र-मुद्रा-मान (Managed Paper Currency Standard) को ही अधिक सम्भव बताया है। इसके अतिरिक्त इस समय अमेरिका के पास संसार का ¾ भाग सोना है। इस निधि का उचित वितरण तब ही हो सकेगा जबकि विभिन्न राष्ट्रों के बीच निर्बाध व्यापार होगा और भिन्न-भिन्न राष्ट्र *मुद्रा-स्फीति की नीति का त्याग कर देंगे। यह स्पष्ट है कि अमेरिका, फ्रांस व इङ्गलैंड* जैसे देश अपनी संरक्षण की नीति की उपेक्षा कभी भी सहन नही करेंगे। अतः स्वर्ण-

* "It is impossible to have an International Financial System alongside a Commercial System that is fiercely and jealously national."—
G. Crowther, Outline of Money; P. 319.

मान का भविष्य अन्धकारमय है और इसका पुराने ढग पर पुन संस्थापन नहीं किया जा सकता है।

स्वर्ण-मान और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

क्या अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष के निर्माण करने से ससार में पुन स्वर्ण-मान की स्थापना हो गई है? (Is the establishment of the International Monetary Fund a return to the Gold Standard?) —यह तो स्पष्ट है कि पुराने ढग का स्वर्ण मान दुबारा स्थापित नही किया जा सकता है, परन्तु प्रबन्धित-पत्र-मुद्रा-मान मे दो महत्वपूर्ण दोष हैं। प्रथम, इस मान मे चलनाधिक्य (Over Issue of Currency) का सदा भय रहता है जिससे इस मान मे जनता का कम विश्वास होता है। द्वितीय, पत्र मान मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे कठिनाई होती है क्योंकि कोई भी देश किसी अन्य देश की पत्र मुद्रा को भुगतान म स्वीकार करने के लिए तैयार नही होता है। इसीलिए द्वितीय महायुद्ध काल मे अमेरिका व युनाइटेड किंगडम जैसे स्वर्ण उत्पादक देश अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर किसी ऐसी मुद्रा-प्रणाली को सहयोग देने के लिए तैयार नही थे जिसमे स्वर्ण को प्रमुख स्थान नही दिया गया है क्योंकि इन देशो का स्वार्थ ही इसमे है कि सोने का मूल्य दृढ बना रहे। यही नही, जनता का विश्वास भी दीर्घ-काल मे ऐसी मुद्रा-प्रणाली म ही हो सकता है जिसका आधार स्वर्ण है।

स्वर्ण मान के परित्याग के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन देन मे बहुत सी कठिनाइया उत्पन्न हो गई थी तथा द्वितीय महायुद्ध ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया था। इस समस्या को हल करने के लिए सन् १९४४ म ब्रटेन वुड्स (Bretton Woods) मे सब प्रमुख देशो का एक सम्मेलन बुलाया गया था। इस सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग की एक योजना स्वीकार की थी जिसके अन्तर्गत एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) का निर्माण हुआ। ब्रिटन वुड्स की इस योजना के उद्देश्य थे—अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे स्थिरता रखना, विदेशी विनिमय दर म स्थैर्य लाना तथा विभिन्न राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति करने मे सहायता देना। इस योजना की यह विशेषता है कि इसके अन्तर्गत स्वर्ण मान के सब लाभ तो प्राप्त होते है, परन्तु इसम जो कुछ दोष थे उनका निवारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से किया गया है। इतना होते हुए भी प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक मुद्रा प्रणाली को राष्ट्र हित म सचालित कर सकता है। इस योजना मे स्वर्ण की भी अधिक आवश्यकता नही रहती क्योंकि आन्तरिक चलन मे तो पत्र-मुद्रा व साकेतिक मुद्रा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M. F.) द्वारा किया जाता है। यह योजना इस प्रकार की है कि यद्यपि इसके द्वारा स्वर्ण मान की तो स्थापना नही हुई है, परन्तु स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर तथा विनिमय दरो का आधार बना दिया गया है (इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र आवश्यकतानुसार अपनी विदशी विनिमय दर मे समय-समय पर कोष की अनुमति से परिवर्तन कर सकता है)।

इस तरह सोना आज भी मौद्रिक जगत में प्रमुख कार्य कर रहा है। इस नई व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान निम्न प्रकार है—

(i) प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यंश (Quota) का २५% या अपने पास के सोने का १०% सोना कोष में जमा करना पड़ता है। (ii) प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित करना पड़ता है और इसी के आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं। (iii) जब कोष के पास किसी दुर्लभ-मुद्रा (Scarce Currency) की कमी हो जाती है, तब यह कोष इस मुद्रा को स्वर्ण के बदले खरीद सकता है तथा (iv) कोष ने स्वर्ण का मूल्य ३५ डालर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया है। इसमें वृद्धि हो जाने की सम्भावना है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के लाभ-दोष

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के लाभ (Advantages of the International Gold Standard) :—स्वर्ण-मान के विभिन्न रूपों तथा इनमें से प्रत्येक के गुण-दोषों के विस्तारपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान का उपयोग व महत्व, देशी चलन के आधार के रूप में, इतना अधिक नहीं है जितना कि इसका उपयोग व महत्व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मान और विनिमय-माध्यम के रूप में संसार को प्राप्त होता है। जहाँ तक आन्तरिक मौद्रिक आवश्यकताओं का प्रश्न है, प्रत्येक देश पत्र-मुद्रा मान को अच्छी प्रकार से चला सकता है क्योंकि देश के नागरिक इस बात पर कम ध्यान दिया करते हैं कि मुद्रा परिवर्तनशील है या नहीं और वे पत्र-मुद्रा को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार किया करते हैं। परन्तु प्रत्येक देश को विदेशों से व्यापारिक व वाणिज्यिक सम्बन्ध भी स्थापित करने पड़ते हैं। ऐसे देश को जिसने बिना किसी मूल्यवान धातु को अपनी पत्र-मुद्रा का आधार बनाये, देश में पत्र मुद्रा मान का प्रचलन कर रक्खा है, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में बहुत कठिनाई सहनी पड़ती है क्योंकि विदेशी पत्र-मुद्रा में प्राय: विश्वास नहीं रक्खा करते हैं और इसे अपनी वस्तुओं के मूल्य के भुगतान में स्वीकार नहीं किया करते हैं। यही कारण है जिसकी वजह से आन्तरिक कठिनाइयाँ होते हुए भी संसार के अधिकांश देशों ने स्वर्णमान को अपनाया था क्योंकि ये देश इस बात को भली प्रकार जानते थे कि स्वर्ण सर्वग्राह्य होने के कारण देश की मुद्रा-प्रणाली के लिये ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् यह अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मान व अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है। अतः स्वर्ण-मान का प्रमुख महत्व इसके अन्तर्राष्ट्रीय उपयोगिता के कारण ही है। यही कारण है कि स्वर्णमान को पुनः संस्थापित नहीं करते हुए भी आज की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-व्यवस्था में स्वर्ण को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के लाभ इस प्रकार बताये गये हैं:—(i) स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्य मान का कार्य करता है (Gold acts as an International Medium of Exchange and International Standard of Value):—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान में स्वर्ण को विनिमय के माध्यम और मूल्य मान के रूप में सर्वग्राह्यता प्राप्त होती है। चूँकि स्वर्ण का आयात-निर्यात हो

सकता है, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व इसके भुगतानो मे बहुत सुविधा हो जाती है। जिस देश के पास स्वर्ण होता है उसके पास विदेशो से वस्तुयें व सेवायें खरीदने के लिए क्रय शक्ति होती है। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुविधाजनक हो जाता है। (ii) विदेशी विनिमय दर से स्थिरता (Stability in Foreign Rate of Exchange) —स्वर्ण मान से विनिमय दरो मे भी स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। इस मान मे प्रत्येक देश अपनी मुद्रा-इकाई का मूल्य विशुद्ध स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा मे घोषित कर देता है तथा एक पूर्व निर्धारित दर पर स्वर्ण के क्रय विक्रय का दायित्व अपने ऊपर लेता है। इस दशा मे एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा मे बहुत आसानी से जाना जा सकता है। परिणामतः विनिमय की दरो मे उच्चावचन (Fluctuations) की सीमायें बहुत ही सकुचित होती हैं क्योंकि जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) या स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) को पार कर जाती है, तब स्वर्ण का वास्तव मे हस्तान्तरण होने लगता है। (इस सम्बन्ध मे विदेशी विनिमय नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा गया है)। अत स्वर्ण मान मे विनिमय की दर मे बहुत स्थिरता रहती है जिससे आयात व निर्यातकर्त्ताओ, बैंकर्स तथा विनियोगकर्ताओ को बहुत लाभ होता है क्योकि इस दशा मे उन्हे विनिमय की दर म परिवर्तन के कारण हानि का भय नही रहता है। (iii) मूल्य स्तर मे स्थिरता होती है —(Stability in the Price Level) —स्वर्ण मान में मूल्य-स्तर में भी समानता रहती है जिसमे प्रत्येक देश को समान आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने का अवसर मिलता है और अन्तत अन्तराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इसका कारण स्पष्ट है। स्वर्ण-कोषो का आवागमन होन से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर म सतुलन स्थापित हो जाता है। (स्वर्ण मान की स्वय सचालकता के गुण को स्पष्ट करते समय इस सम्बन्ध म विस्तार से लिखा जा चुका है)। (iv) स्वर्ण-मान मुद्रा-स्फीति (Inflation) की प्रवृत्ति को रोकता है —इसका कारण यह है कि मुद्रा स्वर्ण या स्वर्ण पर आधारित मुद्रा म परिवर्तनीय होती है। अत मुद्रा का परिमाण बहुत कुछ सोने की मात्रा मे सीमित होता है। जनता का इस मान मे विश्वास का भी यही कारण है।

> **एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के लाभ हैं:—**
>
> १ स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्य-मापन का कार्य करता है।
> २ इस मान मे विदेशी विनिमय दर की स्थापना होती है।
> ३ मूल्य-स्तर मे स्थिरता होती है।
> ४. यह मान मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के दोष (Defects of the International Gold

Standard):—अन्तर्राष्ट्रीय विचार से स्वर्ण-मान में दोष इस प्रकार बताये जाते है— (i) स्वर्ण-मान में प्रान्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता की बलि देकर विनिमय दर में स्थिरता लाई जाती है—स्वर्ण-मान के आलोचकों का मत है कि स्वर्ण-मान मे विभिन्न राष्ट्र विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिये प्रान्तरिक मूल्य-स्तर मे समय-समय पर परिवर्तन इस प्रकार करते है कि इसका अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर से समायोजन (Adjustment) हो जाय। ऐसा क्यों किया जाता है? इसका एक ही मुख्य कारण है। स्वर्ण-मान मे विदेशी विनिमय दर में बहुत परिवर्तन नहीं हो सकता है क्योंकि यदि यह दर स्वर्ण आयात व स्वर्ण-निर्यात बिन्दुओं को पार कर जाती है, तब वास्तव में स्वर्ण का हस्तान्तरण होने लगता है। इसलिये जब कभी किसी स्वर्ण-मान देश मे असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो जाती है, तब इस देश को विनिमय दर के इस असन्तुलन को, प्रान्तरिक मूल्य-स्तर में परिवर्तन करके ही ठीक करना पड़ता है। प्रतः जब दो या दो से अधिक स्वर्ण-मान देशों मे मूल्यों मे अन्तर हो जाता है, तब इन्हे विनिमय की दर में स्थिरता लाने के लिये, मूल्यो मे समानता लानी पड़ती है। इस तरह यदि दूसरे देशो की तुलना में किसी देश मे मूल्य नीचे है तब इस देश का मूल्य नीचा करना पड़ता है। संक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण-मान मे विदेशी व्यापार के हितों की रक्षा करने के लिये प्रान्तरिक अर्थ-व्यवस्था के हितो का बलिदान करना पड़ता है। (ii) स्वर्ण मान वाले किसी देश के आर्थिक संकट का प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ता है—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान का एक बहुत महत्वपूर्ण दोष यह है कि इसमे स्वर्ण के आवागमन से किसी एक देश के आर्थिक संकट बहुत आसानी से दूसरे देश को स्थानान्तरित हो जाते हैं। किसी एक देश से स्वर्ण का निर्यात हो जाने पर इस देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। मुद्रा-संकुचन से मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है तथा निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। इसी तरह जिस देश को सोना जाता है उस देश की अर्थ-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। मुद्रा-प्रसार से मूल्य-स्तर ऊंचे हो जाते है जिससे निर्यात हतोत्साहित होने हैं और आयात को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामतः इस देश से स्वर्ण का निर्यात होने लगता है। इसी तरह सोने के आवागमन से राजनैतिक अव्यवस्था

एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के दोष हैः—

१. इस मान मे प्रान्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता की बलि देकर विनिमय दर मे स्थिरता लाई जाती है।
२. स्वर्ण-मान वाले किसी एक देश के आर्थिक संकट का प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ता है।
३. स्वर्ण-मान मे वस्तुओं के मूल्य भी स्थिर नहीं रहते।
४. स्वर्णमान मे प्रत्येक देश अपनी प्रान्तरिक मुद्रा-नीति में स्वतन्त्र नहीं होता।
५. स्वर्ण-मान मे मुद्रा-प्रणाली महगी व बेलोचदार होती है।

उत्पन्न हो जाती है, राज्यो को नये-नये नियम बनाने पडते हैं, श्रमिको मे अशान्ति हो जाती है, ब्याज की दरो मे घट बढ हो जाती है, तथा पूँजी का एक देश से दूसरे देश को सुरक्षा व लाभ के हित मे हस्तान्तरण होने लगता है आदि। अतः स्वर्ण मान मे स्वर्ण का आवागमन केवल उसी राष्ट्र को प्रभावित नहीं करता है जिससे स्वर्ण का निर्यात हुआ है वरन् यह स्वर्ण प्राप्त करने वाले अन्य स्वर्णमान देशों की अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। (iii) **स्वर्ण मान मे वस्तुओ के मूल्य भी स्थिर नहीं रहते हैं**—जब कभी खानों से स्वर्ण का उत्पादन अधिक हो जाता है, मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है और जब कभी स्वर्ण का उत्पादन अपेक्षाकृत कम हो जाता है, मूल्यो मे कमी हो जाती है। उन्नीसवी शताब्दी का अनुभव ऐसा ही रहा है। आस्ट्रेलिया व कैलिफोर्निया मे खानो से स्वर्ण का अधिक उत्पादन हो जाने पर, सब ही देशों के मूल्यो मे वृद्धि हो गई थी। (iv) **स्वर्ण-मान मे प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक मुद्रा-नीति मे स्वतन्त्र नहीं होता है।**—इस मान मे यह भी सम्भव है कि किसी एक देश को एक ऐसी मुद्रा-नीति भी अपनानी पड़े जो देश हित मे नहीं होती है। (v) **स्वर्ण-मान मे मुद्रा प्रणाली महगी व बेलोचदार होती है।**—चू कि मुद्रा का परिमाण सोने की मात्रा पर निर्भर रहता है, इसलिए मुद्रा-प्रणाली न केवल बहुत महगी होती है वरन् इसमे लोच के गुण का अभाव रहता है।

(iii) पत्र-मुद्रा-मान या प्रबन्धित पत्र-मुद्रा-मान

(Paper Currency or Managed Paper Currency Standard)

पत्र मुद्रा मान की विशेषताएं (Salient Features of the Paper Currency Standard)—इस मान को कभी-कभी प्रबन्धित पत्र-चलन-मान (Managed Paper Currency Standard) भी कहते हैं। इस मान की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है— (i) देश म पत्र मुद्रा तथा सस्ती धातु के सिक्को का प्रचलन होता है। सिक्को का स्वतन्त्र मुद्रा (Free Coinage) नही होता है। (ii) पत्र-मुद्रा देश की मुख्य एव प्रमाणिक मुद्रा होती है तथा यह अपरिमित विधिग्राह्य होती हैं। पत्र-मुद्रा ही विनिमय-माध्यम का कार्य करती है। (iii) इस मान मे पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या अन्य किसी धातु मे निर्धारित नही किया जाता है अर्थात् पत्र मुद्रा स्वर्ण या अन्य किसी धातु मे परिवर्तनीय नही होता है। (iv) इस मान म चलन (Currency) का प्रबन्ध एव नियमन (Regulation) सरकार या किसी अन्य केन्द्रीय मुद्रा-चलन-अधिकारी (Central Currency Issuing Authority) द्वारा किया जाता है। यह अधिकारी चलन का नियन्त्रण व नियमन इस प्रकार करता है अर्थात् यह मुद्रा की मात्रा मे इस प्रकार घट बढ करता रहता है कि देश म मूल्यो मे स्थिरता (Stability of Prices) बनी रहे। मुद्रा अधिकारी की इस क्रिया को ही 'चलन का प्रबन्ध' (Management of the Currency) कहा गया है।* मूल्य-स्थैर्य तब ही सम्भव होता है जबकि मुद्रा

*विद्यार्थियो को प्रबन्धित पत्र मुद्रा मान तथा प्रबन्धित-स्वर्ण मान मे भेद समझ लेना चाहिये। प्रथम में मुद्रा अधिकारी को नई मुद्रा बनाने का पूर्ण अधिकार एव स्वतन्त्रता

की पूर्ति इसकी माग के बराबर की जाती है। (५) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के लिये इस मान मे भी मुद्रा-अधिकारी को स्वर्ण का थोड़ा सा कोष रखना पड़ता है क्योकि विदेशी किसी देश की पत्र मुद्रा को स्वीकार नही किया करते हैं। यह अवश्य है कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (I. M F.) की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो के भुगतान में बहुत सुविधा हो जाती है जिससे अब प्रत्येक देश को उक्त भुगतानो के लिये अपने पास स्वर्ण-निधि रखने की कोई विशेष आवश्यकता नही रही है।

सन् १९२९ की महान मन्दी (Great Depression of 1929) के बाद जिन देशों ने स्वर्ण-मान का परित्याग किया था उन्होने पत्र-मुद्रा-मान को ही अपनाया था। भारत और इंगलैंड ने भी ऐसा ही किया था।

पत्र-मुद्रा मान के गुण-दोष

पत्र-मुद्रा-मान के गुण (Merits of the Paper Currency Standard):– पत्र-मुद्रा-मान के समर्थकों ने इस मान में कई गुण बताए है, जो इस प्रकार हैं:–(i) मूल्यों में स्थिरता:—मुद्रा अधिकारी या केन्द्रीय बैंक आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा मे घट-बढ़ कर के देश मे मूल्यों में स्थिरता स्थापित कर सकता है और इस कार्य के लिये उसे अपने पास स्वर्ण-निधि रखने की आवश्यकता नहीं रहती है। (ii) मुद्रा प्रणाली के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—इस मान में मुद्रा किसी धातु पर आश्रित नही रहती है जिससे मुद्रा-अधिकारी मुद्रा प्रणाली के प्रबन्ध में स्वतन्त्र रहता है। किसी दूसरे देश की मुद्रा पर निर्भर नही रह कर प्रत्येक देश अपनी इच्छानुसार अपनी मुद्रा का प्रबन्ध कर सकता है। (iii) देश में उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग होने की सम्भावना रहती है—श्रीमती रोबिन्सन (Mrs. Robinson) का मत है कि स्वर्णमान की प्रवृत्ति मुद्रा-संकुचन की ओर रहती है जिससे देश मे बेकारी व बेरोजगारी रहती है तथा उत्पत्ति के साधनों का भी पूर्ण उपयोग नही होने पाता है। परन्तु पत्र-मुद्रा-मान मे प्रत्येक देश अपनी मुद्रा-नीति इस प्रकार निर्धारित कर सकता है कि देश में उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग हो सके क्योकि इस मान मे देश को अन्य किसी देश पर निर्भर रहने की

पत्र-मुद्रा-मान के मुख्य गुण हैं:–

१. मूल्यों मे स्थिरता रहती है।
२. मुद्रा-प्रणाली में प्रबन्ध की स्वतन्त्रता रहती है।
३. देश के उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग होने की सम्भावना रहती है।

होती है और वह इसकी मात्रा में स्वेच्छानुसार घट बढ़ कर सकता है। परन्तु प्रबन्धित स्वर्ण मान में मुद्रा अधिकारी मुद्रा की मात्रा में स्वर्ण मात्रा के अनुसार ही घट-बढ़ कर सकता है इस मान में मुद्रा अधिकारी स्वेच्छानुसार अथवा अपरिमित मात्रा में नई मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकता है। अतः प्रबन्धित पत्र-चलन मान ही वास्तव में एक सुसंचालित व प्रबन्धित मान है।

या उसका अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः पत्र-मुद्रा मान आर्थिक संकट उत्पन्न करने के स्थान पर देश में आर्थिक विकास करने की सुविधायें प्रदान करता है क्योंकि देश में बदलती हुई आर्थिक दशाओं के अनुसार मुद्रा नीति में भी उचित परिवर्तन किया जा सकता है। इस तरह पत्र-मुद्रा-मान पूर्णतया लोचदार होता है और यह गुण स्वर्ण-मान में नहीं पाया जाता है।

पत्र मुद्रा-मान के दोष (Demerits of the Paper Currency Standard)–पत्र-मुद्रा मान के आलोचकों ने इस मान में कई मुख्य दोष बताए हैं, जो इस प्रकार हैं:–(1) मुद्रा प्रसार का भय होता है:—पत्र-मुद्रा-मान का सबसे बड़ा दोष यह है कि इस मान में मुद्रा प्रसार का सदा भय रहता है क्योंकि मुद्रा किसी धातु से सम्बन्धित नहीं होती है। युद्ध या अन्य आर्थिक संकट के समय केन्द्रीय बैंक या सरकार अधिकाधिक मात्रा में नोट छापकर अपना काम चलाने का प्रयत्न किया करती है। मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाने से देश की आर्थिक दशा अस्त-व्यस्त हो जाती है, मुद्रा में से जनता का विश्वास उठ जाता है तथा आर्थिक प्रणाली में असमानता पैदा हो जाती है। धातु-मान में अन्य कोई भी दोष भले ही हो परन्तु उसमें मुद्रा-प्रसार के भय का दोष नहीं होता है क्योंकि इस मान में मुद्रा का निर्माण एक सीमित मात्रा में ही किया जा सकता है (धातु-निधि से अधिक साख-मुद्रा का निर्माण नहीं हो सकता है)। इस तरह अपरिवर्तनीय कागजी-मुद्रा के सभी दोष पत्र-मुद्रा-मान में पाये जाते हैं। (11) विदेशी विनिमय दर में स्थिरता नहीं रहती है — पत्र-मुद्रा-मान में मुद्रा का किसी भी धातु से सम्बन्ध नहीं होता है जिससे देश की मुद्रा का अन्य किसी देश की मुद्रा-प्रणाली से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् देश की मुद्रा-इकाई और विदेश की मुद्रा-इकाई में कोई प्रत्यक्ष (Direct) सम्बन्ध नहीं होता है। स्वर्ण-मान में यह गुण है कि स्वर्ण-मान वाले देशों की मुद्रा में स्वर्ण के माध्यम द्वारा एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध रक्खा जाता है जिससे विनिमय की दर में भी बहुत उच्चावचन (Fluctuation) नहीं होने पाता है। परन्तु पत्र-मुद्रा-मान में विनिमय की दर में बहुत अधिक मात्रा में परिवर्तन हो सकते हैं अर्थात् देश के आन्तरिक मूल्यों की भांति विनिमय दर के परिवर्तनों की भी कोई सीमा नहीं होती है। परिणामतः इस मान में विदेशी व्यापार में सदा अड़चनें पड़ने की सम्भावना रहा करती हैं क्योंकि व्यापार में अनिश्चितता का वातावरण रहता है। इसीलिए इस दोष को दूर करने के लिए आजकल लगभग प्रत्येक देश विनिमय-नियन्त्रण की नीति

पत्र-मुद्रा-मान के मुख्य दोष हैं।

१. इस मान में मुद्रा-प्रसार का भय होता है।
२ विदेशी विनिमय दर में स्थिरता नहीं रहती है।
३ किसी एक देश की आर्थिक स्थिति का दूसरे देशों पर प्रभाव पड़ता है।
४ पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं होने पाता है।

(Policy of Exchange Control) अपनाने लगा है ताकि विनिमय की दर में अधिक उच्चावचन नहीं हो सके। (iii) एक देश की आर्थिक स्थिति का दूसरे देशों पर प्रभाव पड़ता है:—जिस प्रकार स्वर्ण-मान में किसी एक देश की आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का प्रभाव अन्य दूसरे सभी स्वर्ण-मान देशों पर पड़ा करता है, ठीक इसी प्रकार पत्र मुद्रा-मान में भी एक देश की आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन का प्रभाव अन्य दूसरे देशों की आर्थिक दशाओं पर पड़ा करता है। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का प्रभाव तब ही बहुत पड़ता है जबकि विभिन्न देशों में व्यापारिक स्वतन्त्रता होती है। परन्तु पत्र-मान के युग में वास्तव में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं पाई जाती है जिससे पत्र-मान का यह दोष बहुत अधिक प्रभावपूर्ण नहीं रह गया है। (iv) पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं होने पाता है:—स्वर्ण-मान में पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन बहुत आसानी से हो जाया करता था, परन्तु पत्र-मुद्रा-मान में अनेक कठिनाइयों के कारण पूंजी के आवागमन में बाधा पड़ती है।

स्वर्ण-मान के परित्याग के पश्चात् जब पत्र-मुद्रा-मान विभिन्न देशों में अपनाया गया तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व लेन-देन में बहुत सी कठिनाइयां अनुभव की गईं। द्वितीय महायुद्ध काल में लगभग तमाम देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रचलन किया गया जिसने उक्त कठिनाइयों में और भी तीव्रता ला दी। इसीलिए इस समस्या को हल करने के लिए सन् १९४४ में ब्रिटेन वुड्स (Bretton Woods) में प्रमुख राष्ट्रों का एक मौद्रिक सम्मेलन बुलाया गया। एक योजना के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (*I. M. F.*) और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (*I. B. R. D.*) की स्थापना की गई है जिन्होंने पत्र-मुद्रा-मान की कठिनाइयों को एक बहुत बड़े अंश तक दूर कर दिया है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अब इन्हीं संस्थाओं द्वारा किया जाता है। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में स्थिरता लाना, विदेशी-विनिमय दर में स्थिरता लाना, विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति में सहायता देना, विदेशी पूंजी के आवागमन में सहायता देना, अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को प्रोत्साहित करके इनकी मात्रा को बढ़ाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व मौद्रिक सहयोग के लिए अनुकूल दिशायें उत्पन्न करना है। *अतः आजकल ब्रेटेन वुड्स संस्थाओं द्वारा पत्र-मुद्रा-मान के महत्वपूर्ण दोषों के प्रभाव* को बहुत कुछ समाप्त कर दिया गया है।

एक अच्छे मुद्रा-मान के गुण

(Essentials of a good Monetary System)

अच्छे द्रव्य-मान के लक्षण (Essentials of a Good Currency System)—

यह कहना काफी कठिन है कि एक अच्छे द्रव्य-मान के क्या-क्या गुण हैं क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न मानों ने अच्छी प्रकार कार्य किये हैं। एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में चाहे यह धातु-मुद्रा पर या पत्र-मुद्रा पर आधारित हो, कुछ गुणों का होना आवश्यक है जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) मूल्य में स्थिरता (Stability of Value) — एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली की यह विशेषता होनी है कि यह मुद्रा

के आन्तरिक व बाहरी मूल्यों में स्थिरता रखती है। देश के अन्दर वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक उच्चावचन (Fluctuation) होना एक अच्छी मुद्रा प्रणाली के लक्षण नहीं होते हैं। इसी तरह एक अच्छा मुद्रा-मान वही है जो विदेशी विनिमय दर में स्थिरता रखता है क्योंकि विनिमय दर की परिवर्तनशीलता अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न करके विदेशी व्यापार के लिए घातक हो जाती है। अतः एक स्वस्थ मुद्रा मान को मुद्रा के आन्तरिक व बाह्य मूल्य में स्थिरता रखनी चाहिये क्योंकि तब ही देश में व्यापारिक औद्योगिक व आर्थिक विकास हो सकता है। यह मूल्य स्थिरता तब ही रह सकती है जबकि सरकार का मुद्रा के निर्गमन (Issue) पर कड़ा नियन्त्रण होता है। (ii) सरलता (Simplicity) —मुद्रा प्रणाली सरल और साधारण होनी चाहिये ताकि व्यापारी, उद्योगपति व जन-साधारण उसे आसानी से समझ सकें क्योंकि मुद्रा प्रणाली की जटिलता इसके प्रबन्ध के व्यय को बढ़ा देती है और इसके प्रचलन में अकुशलता तथा त्रुटियों का भी भय रहता है। इसके अतिरिक्त जब चलन प्रणाली सरल होती है और जनता उसे भली भाँति समझती है, तब इसमें जनता का विश्वास भी स्वतः शीघ्रता से हो जाता है। इस दशा में मुद्रा-अधिकारी को समाज के विभिन्न वर्गों का चलन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए सहयोग भी आसानी से मिल जाता है। (iii) लोचकता (Elasticity) —चलन प्रणाली में सरलता और शीघ्रतापूर्वक प्रसार व सकुचन का गुण भी होना चाहिये। यदि मुद्रा में लोच का अभाव है तब देश को आर्थिक सकट काल में बहुत कठिनाई होगी और इसमें देश के उद्योग व व्यापार को बहुत क्षति पहुँचेगी। इसी तरह यदि मुद्रा में सकुचन का गुण नहीं है तब देश को अत्यधिक मुद्रा प्रसार से उत्पन्न होने वाले दोषों का सदा भय रहेगा। अतः मुद्रा मान में आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि या कमी हो जाने का गुण होना चाहिये क्योंकि तब ही देश में मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है। (iv) मितव्ययिता (Economy) —विनिमय का माध्यम सस्ता होना चाहिये ताकि देश को इसके प्रचलन में अधिक व्यय नहीं करना पड़े। धात्विक मान में सोने व चाँदी के सिक्कों के प्रचलन से सिक्कों की घिसावट द्वारा देश को काफी हानि होती है और स्वर्ण व चाँदी के कोषों का निर्माण करने के लिए अनावश्यक ही इन धातुओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। एक निर्धन देश के लिए धात्विक मान तो और भी अधिक अमितव्ययी हो जाता है। इसलिए व्यय पूर्ण मुद्रा प्रणाली अच्छी होते हुए भी यह देश के लिये भार बन जाती है। अतः मितव्ययिता एक अच्छी चलन प्रणाली

> **एक अच्छे मुद्रा-मान के लक्षण हैं.—**
>
> १ मूल्य की स्थिरता।
> २ सरलता।
> ३ लोचकता।
> ४ मितव्ययिता।
> ५ परिवर्तनशीलता।
> ६ स्वयं सचालकता।
> ७ मुद्रा प्रणाली अनिश्चितता से मुक्त होनी चाहिये।

का आवश्यक गुण होता है। (v) परिवर्तनशीलता (Convertibility):—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली का यह उद्देश्य होना चाहिये कि उसमें पत्र-मुद्रा सोने व चाँदी मे परिवर्तनीय रह सके। इस प्रकार की परिवर्तनशीलता के दो मुख्य लाभ होते हैं—प्रथम, मुद्रा-प्रणाली मे जनता का विश्वास रहता है तथा द्वितीय, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे सुविधा रहती है। आजकल प्रत्येक देश मे मुद्रा का प्रचलन सरकार की साख (Credit of the Govt.) पर निर्भर रहता है। इसलिए देश मे मुद्रा के बदले मे बिना सोना दिये भी काम चल जाता है, परन्तु विदेशी भुगतानों के लिए थोड़ा-बहुत सोना अवश्य देना पड़ता है। उदाहरणार्थ, अल्पकालीन प्रतिकूल व्यापाराधिक्य (Unfavourable Balance of Trade) को दूर करने के लिये सोना कभी-कभी उपयोग में लाया जाता है, इसलिये प्रत्येक सरकार को इतना सोना अवश्य अपने पास रखना चाहिये कि इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे कठिनाई नही होने पाये। इस तरह बहुत कम स्वर्ण-निधि रख कर मुद्रा की यह परिवर्तनशीलता रक्खी जा सकती है। अतः एक अच्छी चलन-प्रणाली को मुद्रा की परिवर्तनशीलता रखनी चाहिये। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से स्वर्ण मे भुगतान की आवश्यकता बहुत ही कम हो गई है। (vi) स्वयं संचालकता (Automatic Operation):—अच्छी मुद्रा-प्रणाली मे स्वयं-संचालकता का भी गुण होता है। वही मुद्रा-व्यवस्था अच्छी होती है जिसमे उद्योग व व्यापार की आवश्यकतानुसार स्वतः घटने-बढने का गुण होता है अर्थात् जिसमे सरकारी हस्तक्षेप कम से कम होता है क्योकि सरकार के अत्यधिक हस्तक्षेप से जनता का मुद्रा-चलन मे विश्वास बहुत कम हो जाता है। स्वर्ण-चलन-मान (Gold Currency Standard) मे तो यह गुण विद्यमान था जिसके कारण यह प्रणाली बहुत अच्छी मानी जाती थी। परन्तु आजकल इस गुण का महत्व अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया है क्योकि स्वर्णमान के परित्याग से जिस मान की स्थापना हुई है व सरकारी नियन्त्रण व नियमन (Regulation) से ही कार्यशील रहती है जिससे इसे प्रबन्धित-मान (Managed Standard) का नाम दिया गया है। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि पत्र-मुद्रा-मान प्रबन्धित-मान होते हुए भी इसके संचालन मे सरकारी हस्तक्षेप अत्यधिक नही होना चाहिये क्योंकि तब ही जनता का पत्र-मान मे विश्वास बना रह सकता है। (vii) मुद्रा-प्रणाली अनिश्चितता से मुक्त होनी चाहिये (Freedom from Uncertainty):—मुद्रा-मान में किसी भी प्रकार की अनिश्चितता नहीं रहनी चाहिये अर्थात् मुद्रा-मान की प्रत्येक बात विधान द्वारा स्पष्ट होनी चाहिये। अतः मुद्रा-प्रणाली सरकार की इच्छानुसार नही चलनी चाहिये क्योकि यदि प्रत्येक बात विधान द्वारा स्पष्ट नही की गई है तब जनता का प्रणाली मे विश्वास कम हो जायगा।

सारांश:—उपर्युल्लिखित एक अच्छे-मान के गुणों को ध्यान में रखकर तथा देश की आर्थिक परिस्थितियों का विचार करके ही, यह तय किया जाना चाहिये कि किसी

देश के लिए कौन-सा मान उपयुक्त होगा। इस निर्णय पर द्रव्य-नीति (Monetary Policy) तथा जनता का स्वभाव व आदत का भी प्रभाव पड़ता है।

एक अच्छे मान के उल्लिखित गुण भारत की वर्तमान चलन-पद्धति में कहां तक पाये जाते हैं? (To what extent do we find the Essentials of a Good Monetary System present in our Indian Currency System?) —भारतीय चलन पद्धति में एक अच्छे मुद्रा मान के उपरोक्त गुणों में से अनेक गुण पाये जाते हैं। यह पर्याप्त रूप में मितव्ययी (Economical) तथा सुनिश्चित (Certain) है। इसमें लोचकता (Elasticity) भी है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से भारतीय चलन-पद्धति में परिवर्तनशीलता (Convertibility) के गुण की कोई विशेष आवश्यकता ही नहीं रही है। परन्तु भारतीय मुद्रा मान में कई दोष पाये जाते हैं। यह बिल्कुल भी सरल (Simplicity) नहीं है और यह साधारण जनता की समझ के बाहर है। इसके अतिरिक्त इसमें आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता का बाह्य स्थिरता की वेदी पर बलिदान कर दिया गया है।

कुछ अन्य मुद्रा-मान
(Some other Monetary Standards)

(१) बहु धातु मान (Multi metallism) —इस प्रणाली के अन्तर्गत बहुत-सी धातुओं का उपयोग एक ही साथ मूल्य मान के रूप में किया जाता है। प्रत्येक धातु के सिक्के प्रामाणिक तथा असीमित विधि ग्राह्य होते हैं। सिक्कों की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई भी होती है। सरकार तमाम सिक्कों के बीच की विनिमय-दर विधान द्वारा निश्चित कर देती है। ऋणी को किसी भी धातु के सिक्कों में ऋण के चुकाने का अधिकार होता है। परन्तु व्यवहार में यह मुद्रा प्रणाली बहुत कठिन है। इसका कारण स्पष्ट है। विभिन्न धातुओं के मूल्य में समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं जिससे सरकार को इन धातुओं के बीच की विनिमय दर को स्थायी बनाये रखना अत्यधिक कठिन होता है। इसी कारण इस मान को अब तक किसी भी देश ने नहीं अपनाया है। यह अवश्य है कि इस मान में यह गुण है कि मूल्यों में स्थिरता बहुत आसानी से न केवल स्थापित की जा सकती है वरन् इसे स्थिर बनाये रखने की भी बहुत सभावना रहती है।

(१) सूचनाक-मान (Tabular or Index Number Standard) —इस प्रणाली का सुझाव फिशर (Fisher) ने दिया है। इस मान में एक आधार-वर्ष (Base year) चुन लिया जाता है और इस वर्ष के मूल्यों के आधार पर सामान्य मूल्यों के सूचक अंक (General Price Index Number) बनाए जाते हैं। इस आधार वर्ष के अंकों की सहायता से भविष्य में देश में मुद्रा का मूल्य नियत्र किया जाता है। इस तरह इस मान में देश की मुद्रा का मूल्य स्थिर रखने के लिए ही सूचक अंक बनाए जाते हैं। यह स्मरण रहे कि इस मान में एक बार निर्धारित किया गया मुद्रा

का मूल्य सदा के लिए स्थिर नहीं रहता है। जब कभी देश में मूल्यों में परिवर्तन हो जाते हैं, तब इस परिवर्तन के साथ ही साथ मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है जिससे भविष्य के लेन-देन में समता रहती है और ऋणदाता अथवा ऋणी दोनों में से किसी भी पक्ष को हानि नहीं होती है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। मान लो, देश में आधार वर्ष की तुलना में सामान्य-मूल्यों का सूचक अंक ५% बढ़ गया है क्योंकि मूल्य बढ़ गया है तब इसका यह अर्थ हुआ कि मुद्रा का मूल्य ५% घट गया है। परिणामतः सरकार स्वर्ण के विधान द्वारा नियत मूल्य में भी ५% कमी कर देगी जिससे देश में मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी और इससे साख-मुद्रा में भी कमी हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि मुद्रा का मूल्य और अधिक कम नहीं होने पायेगा। इसी प्रकार यदि वस्तुओं का मूल्य कम हो गया है (यह कितना कम हुआ है, इसका ज्ञान सूचक अंक से पता चल जाता है) तब स्वर्ण के मूल्य में आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। यद्यपि इस प्रणाली का यह गुण है कि इसमें मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है, परन्तु यह मान सैद्धांतिक (Theoretical) अधिक है और व्यावहारिक (Practical) कम है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, इस मान में सूचक अंक मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को सूचित करते हैं, परन्तु यह सूचना ठीक नहीं होती है क्योंकि सूचक अंक स्वयं ठीक नहीं बनाये जाते हैं जिससे ये वास्तविक स्थिति को बताने में असमर्थ होते हैं। द्वितीय, इस मान में सामान्य सूचक अंक केवल भूतकालीन होते हैं जिससे वर्तमान तथा भविष्य में इनका उपयोग केवल अनुमान-जनक फल देता है। ये अंक ऐसे वर्तमान कारणों का विश्लेषण करने में असमर्थ होते हैं जिनसे मूल्यों में परिवर्तन हुआ है। परिणामतः ये अंक एक निश्चित व ठीक-ठीक निष्कर्ष नहीं देने पाते हैं। तृतीय, इस मान में सरकार को सूचक अंकों को बार-बार बनाना पड़ता है जिससे इस मान के प्रचलन में बहुत कठिनाई पड़ती है। इन सब दोषों के कारण निर्देशांक-मान को कभी-भी किसी देश ने नहीं अपनाया है।

(३) मिश्रित-धातु-मान (Symmetallism):—सन् १८८१ में प्रो० मार्शल (Marshall) ने इस मान का सुझाव दिया था। द्विधातु-मान का हम विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं। इसके असफल होने का कारण प्रायः ग्रेशम का नियम था। मार्शल एक ऐसी मुद्रा-पद्धति को अपनाना चाहता था जिसमें द्विधातु-मान के सब गुण हों और ग्रेशम के नियम के क्रियाशील होने की तनिक भी सम्भावना नहीं हो। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उसने जिस मान का सुझाव दिया था उसमें कई विशेषताएँ थीं—(क) सोने व चांदी दोनों धातुओं को एक ही साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग में लाया जाए *ताकि द्विधातु-मान के सब गुण प्राप्त हो सकें।* (ख) देश में मुद्रा को सोने व चांदी में बदलने की सुविधा नहीं होनी चाहिये। (ग) सोने व चांदी को एक निश्चित अनुपात में मिलाकर एक छड़ (Bar) तैयार कराई जाये और देश में मुद्रा को केवल इस मिश्रित-धातु की छड़ में परिवर्तन की ही सुविधा दी जानी चाहिये। देश में सिक्कों का प्रचलन भी इसी धातु का होता है। इस तरह इस मान में किसी व्यक्ति को

अपनी पत्र-मुद्रा के बदले मे दोनों ही धातुए लेनी पड़ेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि ग्रेशम का नियम इस मान पर क्रियाशील नही हो सकेगा क्योंकि सोने व चादी की कीमतो के तुलनात्मक परिवर्तनों का इस मान पर कोई भी प्रभाव नही पड सकेगा। अनुभव से पता चलता है कि मार्शल का यह सुझाव व्यावहारिक (Practical) नहीं था। यही कारण है कि किसी भी देश ने इस सुझाव को उपयुक्त नहीं समझा और इस मान को किसी भी देश मे नही अपनाया गया।

(४) प्रादिष्ट-मान (Fiat Standard).—जिस देश में प्रादिष्ट मुद्रा (या आज्ञा प्राप्त मुद्रा) होती है (Fiat Money), उसी देश मे इस प्रकार का मान पाया जाता है। श्री केन्ट (Kent) के अनुसार प्रादिष्ट-मुद्रा मे तीन गुण होते हैं—(क) इस मुद्रा का पदार्थ के रूप मे मूल्य या मुद्रा का वस्तु मूल्य लगभग कुछ भी नही होता है। (ख) यह मुद्रा ऐसी किसी भी वस्तु मे परिवर्तनीय नही होती जिसका मूल्य प्रादिष्ट-मुद्रा के अ कित मूल्य के बराबर हो और (ग) इस मुद्रा की क्रय शक्ति किसी भी वस्तु की क्रय शक्ति के समान नही रक्खी जाती है। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि प्रादिष्ट मुद्रा ऐसी पत्र मुद्रा होती है जो न तो किसी वस्तु मे और न स्वर्ण मे ही परिवर्तनीय होती है और इस मुद्रा की क्रय-शक्ति भी न तो किसी वस्तु द्वारा और न स्वर्ण द्वारा ही नियत की जाती है। अत यदि कोई मुद्रा स्वर्ण म तो परिवर्तनशील नही है परन्तु इसके मूल्य को यदि स्वर्ण की निश्चित इकाई की समानता मे रक्खा जाता है तब हम ऐसी मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा नही कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा का निर्माण दो प्रकार से किया जाता है—(क) सरकार द्वारा जान-बूझकर ऐसे नोटो को निर्गमित (Issue) करना जो मुद्रा-अधिकारी द्वारा स्वर्ण या अन्य किसी वस्तु मे परिवर्तनीय (Convertible) नही होते हैं। इसलिए प्रादिष्ट-मुद्रा का माध्यम मुख्यत कागज ही होता है। (ख) सरकार द्वारा (यदि देश एक धातु मान पर है) मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता को समाप्त कर देना। इस तरह देश म प्रादिष्ट मुद्रा का प्रचलन इन दोनो मे से किसी एक या दोनो रीतियो को अपना कर किया जाता है। सन् १८६२ से सन् १८७९ तक अमेरिका म प्रादिष्ट मान (Fiat Standard) ही चलन म था। उस समय अमेरिका मे गृह युद्ध चल रहा था। इस गृह-युद्ध काल म ग्रीनबैक्स (Greenbacks) जारी किए गए थे, परन्तु ये स्वर्ण म परिवर्तनीय नही थे और इनका मूल्य भी सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर नियत नही किया गया था।

प्रादिष्ट-मान के गुण-दोष

प्रादिष्ट-मान के गुण (Merits of the Fiat Standard)—इस मान मे कई गुण हैं—(1) वर्तमान समय मे प्रादिष्ट मुद्रा मान को सरकारी नीति का एक स्थायी आधार बनाना उपयुक्त है—आजकल अधिकाश अर्थशास्त्रियों का ऐसा ही मत हो गया है। उनका कहना है कि प्रादिष्ट-मान को इस कारण नही अपनाना चाहिये क्योंकि सरकारें धातु मान को अपनाने म कठिनाई अनुभव करती हैं वरन् इस मान को अपने

निजी गुणों के कारण ही ग्रहण करना चाहिये। इस मत के समर्थन में तर्क इस प्रकार दिया जाता है—धातु-मान में मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता केवल एक भ्रम है तथा यह कहना भी भ्रम ही है कि धातु-कोष मुद्रा के प्रति जनता में विश्वास उत्पन्न कर देता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। ये दोनों बातें साधारण परिस्थितियों में तो ठीक ही हैं, परन्तु ऐसी परिस्थितियों में तो किसी भी प्रकार की मुद्रा का चलन हो सकता है। जब देश में असाधारण परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती है, तब धातु-मान तक में मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त हो जाती है और स्वर्ण कोष समाप्त हो जाने पर जनता का इस मुद्रा में से विश्वास भी हट जाता है। इस तर्क के आधार पर प्रादिष्ट-मान के समर्थकों ने कहा कि तब फिर हम प्रादिष्ट-मुद्रा को ही क्यों नही प्रामाणिक-मुद्रा के रूप में अपना लें। (ii) साधनों का पूर्ण उपयोग तथा देश का उचित आर्थिक विकास—प्रादिष्ट-मान एक पूर्णतया प्रबन्धित पत्र-मुद्रा-मान (Managed Paper Currency Standard) होता है जिससे इस मान में मुद्रा का प्रसार व संकुचन बहुत आसानी से किया जा सकता है। इस कारण सरकार एक ऐसी मौद्रिक-नीति आसानी से अपना सकती है जिससे देश के उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग हो सके तथा राष्ट्र में हर ओर उचित आर्थिक विकास हो सके। अतः प्रादिष्ट-मान में सरकार देश की आर्थिक-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से आसानी से रोक सकती है क्योंकि इस मान में स्वर्ण का बिना कोष रक्खे ही मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है। इस मान में मुद्रा में लोच (Elasticity) भी बहुत होती है। (iii) यह मान प्रबन्ध को स्वतन्त्रता देता है:—प्रादिष्ट-मान का एक और गुण है और वह यह है कि इस मान में प्रबंध को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है जिससे एक देश की मौद्रिक व आर्थिक नीति किसी दूसरे देश पर आश्रित नही होती है।

प्रादिष्ट-मान के दोष (Defects of the Fiat Standard)—इस मान में दो मुख्य दोष हैं—(i) मुद्रा के अत्यधिक प्रसार का भय रहता है:—इस प्रकार के प्रसार से देश की आर्थिक प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है, देश में अशान्ति फैलती है तथा मुद्रा में से जनता का विश्वास हट जाता है। परन्तु धातु-मान में यह सबसे बड़ा गुण है कि इसमें मुद्रा की मात्रा मुद्रा-अधिकारी के धातु-कोष से सीमित होती है। (ii) विनिमय दर में अस्थिरता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावटें:—चूंकि प्रादिष्ट-मुद्रा-मान में देश की पत्र-मुद्रा का बहुमूल्य धातुओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, इस लिये इन मुद्रा का अन्य देशों की मुद्राओं से भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। परिणामत. दो देशों के बीच विनिमय की दर में परिवर्तन की कोई सीमा नहीं होती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार में उलझनें एवं रुकावटें पड़ती हैं।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. स्वर्ण विनिमय-प्रमाप की कार्यवाही की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। इस कार्यवाही में काउनलिफ कमिटी तथा रिजर्व काउनसिल्स के महत्व पर प्रकाश डालें

(१९६०) २ स्वर्ण-मान पर नोट लिखिये। (१९५९ S, १९५८) ३ स्वर्ण मान क्या है, स्पष्ट कीजिये। अन्य मानो की अपेक्षा यह किस प्रकार उत्तम है ? उदाहरण सहित समझाइये। (१९५८ S) ४ नोट लिखिये—स्वर्ण विनिमय मान। (१९५८) ५ स्वर्ण मान के नियम पर नोट लिखिये। (१९५७ S) ६ स्वर्ण मान पद्धति का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिये। (१९५७) ७ "जब अच्छे द्रव्य और बुरे द्रव्य मुद्रा मे प्रचलित हैं और दोनो मे से किसी से भी ऋण या भुगतान किया जा सकता है, तो अच्छे द्रव्य को या तो गला लेते हैं, या देश के बाहर भेज देते हैं।" ऊपर लिखित नियम की विवेचना कीजिये। (१९५७) 8 What are the tests of a good monetary system ? How far are these satisfied in India ? (1956 S) 9 Point out the characteristics of the various forms of Gold Standard (1956 S) 10 Discuss the advantages and disadvantages of the Gold Standard. (1956 S 1955 S) 11 ' The case for the Gold Standard is a case for a strict *de jure* Gold Standard, with each country following "the rules" so that no gold currency becomes distrusted " Explain and comment (1956) 12 India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India Explain carefully and examine the existing Indian currency system (1956) 13 What is meant by managed currency ? Examine the advantages and disadvantages of the same (1956) 14 What are the essentials of a good monetary system in a country with mixed economy—both agricultural and industrial (1955)

Agra University, B. Com.

१ एक अच्छी चलन प्रणाली के गुण क्या हैं ? भारतीय चलन प्रणाली मे वे गुण कहा तक पाये जाते हैं ? (१९६०) २ नोट लिखिये—स्वर्ण विनिमय मान और स्वर्ण पाट मान। (१९६०) ३ तुलनात्मक द्विधातु मान चलन-पद्धति की व्याख्या करिये और उसके गुण-दोष की विवेचना करिये (१९५९ S) ४ टिप्पणी लिखिये—स्वर्ण पाट मान (Gold Bullion Standard) (१९५९ S, १९५७ S) ५ स्वर्ण मान के प्रयोग (Working) का आलोचनात्मक परीक्षण करिये। उसकी विफलता के क्या कारण थे ? (१९५६) ६ नोट लिखिये—ग्रेशम का नियम (१९५६, १९५८, १९५६, १९५५ S) 7 Explain the difference—Gold Standard and Gold Bullion Standard (1958 S, 1954) 8 Write a note on Bi metallism (1958 S, 1957 9 Discuss the essentials of a good currency system Does the Indian Currency System satisfy the tests of a good currency system ? (1957 S, 1956, 1955) 10 Explain the difference between—Gold Exchange Standard and Sterling Exchange Standard (1957) 11 Describe the essential features of bi metallism and discuss whether prices are steadier under bi metallism or under mono-metallism (1956 S) 12 Write a note on - Compensatory action of the double standard (1956 S). 13 Write a note on— Gold Exchange Standard (1956 S) 14 Write a note on Sterling Exchange Standard (1956) 15 Examine the working of the Gold Exchange and Gold Bullion Standards in India before World War II 1955 S)

Gorakhpur University. B Com.

1 Describe the essential features of Bi metallism, and discuss its

advantages and disadvantages. (Pt. I. 1959) 2. Write a note on—Compensatory action of the Double Standard (Pt II 1959).

Rajputana University, B. A. & B. Sc.

1. Explain what do you mean by Gold Standard (स्वर्ण-मान) and state under what conditions it works smoothly? (1958) 2 Discuss the essential conditions which you think necessary for successful working of 'Gold Standard'. What led to the abondonment of 'Gold Standard' by countries? (1957) 3. Distinguish between— Mono-Metalism and Bi-metallism. (1956) 4 Write a short note on— Gresham's Law (1955) 5. Write a note on—Bi-metallism (1955) 6. Write a note on- Gold Standard. (1954)

Rajputana University, B. Com.

1. Enumerate and explain the functions of Gold Standard (स्वर्ण-मान) Is the managed paper currency system an improvement over it? If so, give reasons. (1959) 2. Write a short note on-Council and Reverse-Council Bills (1959) 3. Examine carefully the working of the Gold Standard (स्वर्ण-मान) and indicate the reasons for its break-down. (1958) 4. Examine critically the working of the Gold Exchange Standard (स्वर्ण विनिमय मान) Discuss the position of Gold under it. What are the objections against it? (1957) 5. Give a critical estimate of the Gresham's Law of Money Take necessary illustrations from the Indian currency system. (1956) 6. Discuss the essential features of bi-metallism and examine whether bi-metallic standards keep prices Steadier then monometallic Standard. (1955) 7. Discuss the limitation of Gold Standard in the context of an expansionist economy. What led to its breakdown in the inter-war period? Explain. (1955) 8. Examine the relative merits of Gold Standard and managed currency system as Stabilisers of Price and Foreign Exchange Rates. (1954) 9. Write a note on— Gresham's Law of Circulation of money (1954).

Sagar University, B. A.

1. Is it possible to have Gold Standard without Gold Currency? Give reasons for your answer and explain the merits and demerits of such a Standard. (1958) २. नोट लिखिए—प्रतिबन्धित चलार्थ। (१९५७)

Sagar University, B Com.

१. द्विधातु-मान का क्या अर्थ है? द्विधातु-मान में ग्रेशम का नियम किस प्रकार कार्यशील होता है? (१९५९) २. एक अच्छे मुद्रा-मान की क्या-क्या मुख्य विशेषतायें हैं? वर्तमान युग में प्रबन्धित पत्र-मुद्रा-मान की लोकप्रियता के क्या कारण हैं? (१९५९) ३. स्वर्ण-विनिमय-मान और स्वर्ण-पाट-मान के अन्तरों को बताइये। (१९५९) ४. नोट लिखिए—ग्रेशम का नियम। (१९५८) ५ अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप बिना किसी रुकावट के सरलतापूर्वक कार्य कर सके, इसके लिये कौन सी अनिवार्य शर्तों का होना आवश्यक है, उनकी विवेचना कीजिये। उन कारणों की परीक्षा कीजिये जिनके फलस्वरूप १९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप समाप्त हो गया? (१९५४)

Jabalpur University, B. A.

१. स्वर्ण प्रमाप की प्रमुख विशेषताएं बतलाइये। (१९५८)

Jabalpur University, B. Com.

१ द्विधातुता अथवा द्विधात्वी मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध में 'ग्रेशम सिद्धान्त' की विवेचना कीजिये। इस सिद्धान्त के कार्य के क्या कोई अपवाद हैं? (१९५८)

Vikram University, B. A. & B. Sc.

१ द्विधातुता से आपका क्या अभिप्राय है? इसके गुणों तथा अवगुणों का विवेचन कीजिये। (१९५९)

Vikram University, B. Com

1 Describe the essential features of Bi metallism. Discuss fully whether Bi metallism keeps prices steadier than mono metallism? (1959) 2 Write a short note on— Managed Currency. (1959)

Bihar University, B. A.

1 Discuss the present position of gold in monetary affairs Can Gold Standard be restored? (1959) 2 Describe the different kinds of Gold Standard Can Gold Standard secure Stability of prices? (1958).

Bihar University, B. Com.

1. Describe the advantages and disadvantages of Gold Standard and say how far its shortcomings have been overcome? (1959) 2 Describe the functions of Gold Standard Do you advocate its re-introduction? (1958)

Patna University, B. A.

1 Gold Standard failed primarily because it could not reconcile Exchange Stability with Price Stability" Discuss (1957).

Allahabad University, B. A.

१ नोट लिखिए—स्वर्ण विनिमय मान। (१९५७)

Allahabad University, B. Com.

1. Write a note on— Gresham's Law (1957) 2 Write a note on— Gold Standard (1957) 3. Write a note on— Bi metallism (1957) 4 Describe briefly the working of the Gold Standard system after 1914 especially the form in which it has been found acceptable in the post war world (1956)

Banaras University, B Com

1 Examine the working of the Gold Standard and indicate the reasons for its breakdown (1959) 2 Write a note on— Bi metallism (1959

Nagpur University, B. A.

१ स्वर्ण प्रमाप की कार्ययन्त्रणा (Mechanism) का वर्णन कीजिये। क्या यह माना जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की प्रस्थापना स्वर्ण प्रमाप पुनः एक बार प्रयोग में लाने के बराबर है? (१९५६) २ स्वर्ण प्रमाप की प्रमुख विशेषताओं को समझाइये और इसके गुण-दोषों का विवेचन कीजिए। (१९५८) ३ स्वर्ण विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard) किसे कहते हैं? वह स्वर्ण-चलार्थ प्रमाप (Gold Currency Standard) से किन बातों में भिन्नता रखता है? (१९५६) ४. ग्रेशम का नियम समझाइये। पत्र मुद्रा और रजत टंक (Paper Money and Silver Coins) किन परिस्थितियों में एक साथ प्रचलित रह सकते हैं। (१९५५)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १:—(i) What are the essentials of a good monetary system in a country with mixed economy—both agricultural and industrial ? (Agra, B. A. 1955), (ii) How far are these (tests or essentials) satisfied in India ? (Agra, B A 1956, Agra, B. Com. 1957, 1956, 1955), (iii) एक अच्छे मुद्रा-मान की क्या-क्या मुख्य विशेषतायें हैं ? वर्तमान युग में प्रचलित पत्र-मुद्रा-मान की लोकप्रियता के क्या कारण हैं ? (Sagar, B. Com. १६५६)

संकेत :—उत्तर के प्रारम्भ में दो-चार वाक्यों में मुद्रा-मान का अर्थ लिखिये, और फिर बताइये कि एक अच्छे मुद्रा-मान की क्यों आवश्यकता पड़ती है—कि किसी देश की आर्थिक स्थिरता व आर्थिक विकास वहां पर प्रचलित मुद्रा-मान पर निर्भर रहता है, कि देश का सामान्य मूल्य-स्तर व विदेशी विनिमय की दर का भी वहां के मान से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, इस कारण यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश में एक बहुत ही अच्छा मुद्रा-मान होना चाहिये, यद्यपि यह कहना कठिन है कि कौन-सा मान सबसे अच्छा है क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न मानों ने सफलता पूर्वक कार्य किया है, तथापि आज की परिस्थितियों में वही मुद्रा-मान सर्वोत्तम माना जाता है जिसमें निम्न गुण पाये जाते हैं:—मूल्य की स्थिरता, सरलता, लोचकता, मितव्ययिता, परिवर्तनशीलता, स्वयं संचालकता तथा अनिश्चितता का अभाव (प्रत्येक गुण एवं विशेषता का अर्थ विस्तार से समझाइये) (तीन-चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि ये गुण भारत की वर्तमान मुद्रा-प्रणाली में कहां तक पाये जाते हैं ?—कि भारत की वर्तमान मुद्रा-प्रणाली अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा पर आधारित है, (भारतीय चलन में कौन-कौन सी मुद्राएं हैं तथा इनका निर्गम किस प्रकार तथा किसके द्वारा किया जाता है संक्षेप में लिखिये) कि भारतीय मुद्रा का सोने-चांदी से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, कि अप्रत्यक्ष रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय कोष का सदस्य होने के नाते, भारतीय मुद्रा का सोने से सम्बन्ध अवश्य है आदि। उपरोक्त गुणों में से अनेक गुण भारतीय मुद्रा-प्रणाली में पाये जाते हैं—इसमें मितव्ययिता व निश्चितता का गुण है (सोने-चांदी के सिक्कों का प्रचलन नहीं है, न रिजर्व बैंक को बहुत अधिक मात्रा में इन मूल्यवान धातुओं को ही रखने की आवश्यकता होती है, सोने-चांदी के कम प्रयोग से मितव्ययिता है, फिर घिसावट-व्यय से भी हानि नहीं होती है क्योंकि अधिकांश चलन नोटों के रूप में है, रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार मुद्रा-चलन किया जाता है जिससे मुद्रा-प्रणाली सुनिश्चित भी है अर्थात प्रणाली केवल भारतीय सरकार की इच्छानुसार नहीं चलती है जिससे जनता का मुद्रा-प्रणाली में विश्वास है) यह लोचदार है (हमारे देश की मौद्रिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा-मात्रा में समय-समय पर वृद्धि या कमी होती रहती है। लोच का गुण प्रत्येक अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रणाली में पाया जाता है, इस कारण भारतीय प्रणाली में भी यह गुण विद्यमान है) यह स्वयं चालित प्रणाली भी है (स्वर्णमान में तो यह गुण पाया ही जाता था परन्तु पत्र-मुद्रा मान में भी प्रणाली स्वयं चालित बनाई जा

सकती है। बिना भारतीय सरकार के हस्तक्षेप के रिजर्व बैंक मुद्रा प्रणाली को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इसमें आवश्यकतानुसार समय समय पर वृद्धि या कमी होती रहती है) वर्तमान युग में द्रव्य का सोने-चादी मे परिवर्तनशीलता के गुण का महत्व बहुत कम रह गया है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से तो भारतीय मुद्रा पद्धति मे परिवर्तनशीलता के गुण की कोई आवश्यकता ही नही रही (दो ढाई पृष्ठ)। अन्त मे, सक्षेप मे यह बताइये कि भारतीय मुद्रा-प्रणाली मे उक्त गुण होते हुये भी अनेक दोष हैं, जैसे—(i) इसमे मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति है—सरकार के भरसक प्रयत्न करने पर भी युद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे अत्यधिक मुद्रा प्रसार हुआ है, योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सरकार ने घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति को अपनाया है जिससे अनिवार्यतः मुद्रा प्रसार होता है। (ii) इसमे सुरक्षा का बहुत कम ध्यान रक्खा गया है—रिजर्व बैंक केवल २०० करोड रुपये के सुरक्षित कोष जिसमे स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्के (स्वर्ण व स्वर्ण के सिक्को की कीमत ११५ करोड रुपये से कम नहीं) तथा विदेशी प्रतिभूतियो के आधार पर पत्र-मुद्रा का निर्गम करता है। (iii) यह बहुत जटिल प्रणाली है—इसमे सरलता के गुण का अभाव है, यह साधारण जनता की समझ के बाहर है। (iv) आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता का बाह्य मूल्य की स्थिरता पर बलिदान कर दिया गया है जो अनुचित है। इन दोषों के होते हुए भी भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली अन्य बहुत से देशो की तुलना मे अच्छी है, सुव्यवस्थित है, सुदृढ है (आधा या एक पृष्ठ)।

नोट —प्रबन्धित पत्र मुद्रा-मान की लोकप्रियता के लिए अगला प्रश्न पढ़िये।

प्रश्न २—(i) प्रबन्धित मुद्रा मान से आप क्या समझते हैं? इसके गुण-दोषों की व्याख्या कीजिये (Agra B A १९५६), (ii) वर्तमान युग मे प्रबन्धित पत्र मुद्रा मान की लोकप्रियता के क्या कारण हैं? (Sagar B. Com १९५६) (iii) Examine the relative merits of Gold Standard and managed currency system as stabilisers of prices and foreign exchange rates (Raj, B Com 1954), (iv) Enumerate and explain the functions of Gold Standard Is the managad paper currency system an improvement over it? If so give reasons (Raj, B Com 1959)

सकेत —उत्तर के आरम्भ मे प्रबन्धित पत्र-मुद्रा मान का अर्थ तथा इसकी विशेषतायें बताइये जैसे—यह वह मुद्रा प्रणाली है जिसमे देश की प्रधान व प्रामाणिक मुद्रा कागज की होती है। यह पत्र मुद्रा अपरिवर्तनशील होती है—इसके बदले मे सोने चादी के सिक्के प्राप्त नही किये जा सकते हैं और न इनके प्रकाशन का आधार कोई धातु ही होती है, मुद्रा प्रणाली प्रबन्धित होती है अर्थात् मुद्रा अधिकारी आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा मे कमी-वृद्धि करता रहता है, इसमे मुद्रा की क्रय शक्ति को समानता किसी भी वस्तु की क्रय शक्ति से नही रक्खी जाती है अर्थात् इस प्रणाली मे मुद्रा की कमी या वृद्धि के अनुसार इसकी क्रय शक्ति मे घट बढ होती रहती है, नोटो मे असीमित ग्राह्यता होती है व नोट मूल्य मान व मुद्रा-मान दोनो का ही कार्य करते हैं सस्ती धातु के सिक्को का प्रचलन किया जाता है और इनका स्वतन्त्र मुद्रण नही होता

है, प्रबन्धित मुद्रा-मान की इन विशेषताओं को विस्तार से लिखिये (एक-डेढ पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे पत्र-मुद्रा-मान के गुणों को लिखिये—कि इस प्रणाली मे अत्यधिक लोच है (देश की व्यापारिक व औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा-मात्रा मे घट-बढ की जा सकती है क्योंकि मुद्रा का आधार सोना-चांदी नही है) यह सस्ती व मितव्ययिता पूर्ण है (न तो धातु घिस कर क्षीण होती है और न सिक्कों की ढलाई पर अधिक व्यय होता है) धातु की बचत तथा प्रणाली के प्रबन्ध में स्वतन्त्रता होती है (पत्र-मुद्रा का आधार सोना-चांदी धातु अथवा अन्य किसी देश की मुद्रा नहीं होती है जिससे एक ओर इसमें बचत का गुण और दूसरी ओर इस प्रणाली मे स्वतन्त्र प्रबन्ध का गुण होता है) देश में मूल्य की स्थिरता लाई जा सकती है (क्योंकि मुद्रा-मात्रा मे आवश्यकतानुसार घट-बढ की जा सकती है) उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग, बाकारी आदि (उचित मुद्रा नीति अपनाकर इन उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है) व्यवहारिक दृष्टि से सरल व सुविधाजनक है (पत्र मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से ले जाया जा सकता है आदि) आर्थिक संकट के समय उपयोगी होती है (घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा सरकार आर्थिक संकट का सामना करने पाती है) प्रबन्धित मुद्रा-मान के इन गुणों को विस्तार से लिखिये और बताइये कि कीन्स ने इन्ही गुणों के कारण इस मान को सर्वोत्तम मुद्रा-मान बताया है। इन्ही गुणों के आधार पर बताइये कि यह प्रणाली वर्तमान समय मे सबसे अधिक लोकप्रिय हो गई है। स्वर्ण-मान प्रणाली की विशेषताओं व इनके दोषों को बताइये और पत्र मान की विशेषताओं व इनके गुणों से तुलना करके बताइये कि ये दोष इस प्रणाली मे नही पाये जाते हैं जिसके कारण पत्र-मान प्रणाली स्वर्ण-मान से अधिक उत्तम है (तीन-चार पृष्ठ) तृतीय भाग मे यह बताइये कि चूंकि स्वर्ण-मान मे लोच का अत्यधिक अभाव होता है और पत्र-मुद्रा-मान मे लोच का गुण होता है (लोचकता के गुण को सविस्तार समझाइये) इसलिये उचित मौद्रिक नीति अपना कर पत्र-मान मे मूल्य-स्थैर्य लाया जा सकता है परन्तु तुलना मे स्वर्ण-मान मे यह गुण नही है। यद्यपि स्वर्ण-मान मे विनिमय की दर मे स्थैर्य आसानी से लाया जा सकता है और पत्र-मान मे यह दोष है कि इसमें विनिमय की दरों मे स्थैर्य लाने की कोई व्यवस्था नहीं है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से समस्या हल हो गई है (आधा पृष्ठ)। चतुर्थ भाग मे पत्र-मुद्रा मान के दोषों को लिखिये —मुद्रा-प्रसार का भय, विदेशी विनिमय-दर मे अस्थिरता, चूंकि पत्र-मुद्रा का चलन देश की सीमाओ तक ही सीमित रहता है, इसलिये पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन मे कठिनाइया पडती हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कठिनाई होती है, प्रणाली मे जनता का कम विश्वास होता है, प्रबन्धित पत्र-मुद्रा सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है (इन दोषों को विस्तार से लिखिये) अन्त मे निष्कर्ष के रूप मे बताइये कि इन दोषों के होते हुये भी पत्र-मुद्रा-मान वर्तमान युग मे, सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उक्त दोष पत्र-मुद्रा प्रणाली के नहीं हैं वरन् ये इस प्रणाली के दोष पूर्ण संचालन के है (एक-डेढ पृष्ठ)।

प्रश्न ३:—(i) "जब अच्छे द्रव्य और बुरे द्रव्य मुद्रा में प्रचलित हैं और दोनों में से किसी से भी ऋण का भुगतान किया जा सकता है, तो अच्छे द्रव्य को या तो गला

लेते हैं, या देश के बाहर भेज देते हैं।" ऊपर लिखित नियम की विवेचना कीजिये (Agra B. A. १६५७) (ii) द्विधातुमान का क्या अर्थ है ? द्वि-धातु मान में ग्रेशम का नियम किस प्रकार कार्यशील होता है ? (Sagar, B. Com १६५६), (iii) द्विधातुता अथवा द्विधात्वी मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध में 'ग्रेशम सिद्धान्त' की विवेचना कीजिये। इस सिद्धान्त के कार्य के क्या कोई अपवाद हैं ? (Jabb , B Com १६५८) (iv) Give a critical estimate of Gresham's Law of Money Take necessary illustrations *from the Indian currency system* (Raj, B. Com 1956)

सकेत —उत्तर के आरम्भ में परिचय स्वरूप दो चार वाक्यों में बताइये कि ग्रेशम का नियम सर टॉमस ग्रेशम ने किन परिस्थितियों में प्रतिपादित किया था और फिर एक दो परिभाषाओं (ग्रेशम व मार्शल आदि के वाक्य) के आधार पर नियम की व्याख्या कीजिए (आधा एक पृष्ठ)। द्वितीय भाग में ग्रेशम के नियम का कार्यक्षेत्र बताइये—कि यह नियम एक धातु मान व द्विधातु मान में तथा धातु-मान व पत्र-मुद्रा-मान में किस प्रकार लागू है (दो-ढाई पृष्ठ)। तृतीय भाग में नियम की सीमायें बताइये—कि यह नियम उस समय क्रियाशील नहीं होता (i) जबकि चलन की मात्रा कुल माँग से कम हो, (ii) जब देशवासी बुरी मुद्रा को स्वीकार नहीं करें तथा (iii) जबकि बुरी मुद्रा को सांकेतिक व अच्छी मुद्रा को प्रमाणिक सिक्कों के रूप में रक्खा जाता है (एक-डेढ़ पृष्ठ)। अन्त में एक पैरे में निष्कर्ष स्वरूप पुन ग्रेशम के नियम के शब्दों को दुहराइये और बताइये कि नियम क्या है और कब क्रियाशील होता है ? (दो-चार वाक्य)। चतुर्थ भाग में भारतीय मुद्रा के इतिहास से उदाहरण लेकर ग्रेशम के नियम की पुष्टि कीजिये—(i) ग्रेशम का नियम उस समय भारत में क्रियाशील हुआ था जबकि रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के शासन काल के सिक्कों के साथ ही साथ जरज षष्टम (King George VI) के सिक्के प्रचलन में आये। विक्टोरिया के सिक्कों में अधिक चाँदी थी इसलिये वे सिक्के अच्छे और चूंकि जार्ज षष्टम के सिक्कों में कम चाँदी थी, इसलिये ये सिक्के बुरे मान गये। फलत बुरे सिक्कों ने अच्छे सिक्कों को प्रचलन से बाहर कर दिया। (ii) द्वितीय युद्धकाल में जब १ रु० का अपरिवर्तनशील कागजी नोट जारी किया गया, उस समय भारत में जो चाँदी का सिक्का प्रचलन में था उसमें काफी चाँदी थी। फलत १ रु० के नोटों ने इन सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया। बाध्य होकर सरकार को चाँदी के सिक्कों में चाँदी की मात्रा कम करनी पड़ी और इस तरह के नये सिक्के जारी करने पड़े। कुछ समय बाद सरकार को ऐसे सिक्के जारी करने पड़े जिनमें चाँदी की मात्रा बिल्कुल भी नहीं थी और साथ ही साथ बिना चाँदी के सिक्कों को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। फलत इन नये बिना चाँदी के १ रु० के सिक्कों में और कागज के १ रु० के नोटों में कुछ भी अन्तर नहीं रह गया है। अत: इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि ग्रेशम का नियम भारत में भी क्रियाशील हो चुका है (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ४—(i) स्वर्ण मान के प्रयोग (Working) का आलोचनात्मक परीक्षण

करिये। उसकी विफलता के क्या कारण थे? (Agra, B. Com. १९५६, Raj., B Com. १९५८), (ii) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप बिना किसी रुकावट के सरलतापूर्वक कार्य कर सके, इसके लिये कौन सी अनिवार्य शर्तों का होना आवश्यक है, उनकी विवेचना कीजिये।उन कारणों की परीक्षा कीजिए जिनके फलस्वरूप सन् १९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप समाप्त हो गया। (Sagar, B. Com. १९५४, Patna, B. A, १९५२) **(iii) The case for the Gold Standard is a case for a strict de Jure Gold Standard, with each country following 'The rules" so that no gold currency becomes distrusted". Explain and comment. (*Agra*, B. A. 1956), (iv) Explain what do you mean by Gold Standard and state under what conditions it works smoothly? (Raj, B A. 1958) (v) What led to the abondonment of "Gold Standard" by countries? (Raj., B A.1957, Bihar, B A 1956 B. Com. 1956) (vi) Discuss the limitations of Gold Standard in the context of an expansionist economy. What led to its breakdown in the inter war period? (Raj, B. Com. 1955) (vii) 'The Gold Standard has been described as a "fair weather device". Why? Describe the causes that were responsible for its breakdown in 1931. How far do you think its reintroduction possible and desirable? (Bihar, B Com. 1958, 1954) (viii) Is national planning compatible with automatic Gold Standard? (Patna, B. A. 1952)**

संकेत:—उपरोक्त प्रश्नो मे मुख्यतः छः बातें पूछी गई है—स्वर्ण-मान किसे कहते हैं? स्वर्ण-मान का कार्य संचालन किस प्रकार होता है? स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिये कौन-कौन सी शर्तें हैं? स्वर्ण-मान की असफलता के क्या-क्या मुख्य कारण रहे है जिनके कारण विभिन्न देशो को इस मान को त्यागना पड़ा था? क्या स्वर्ण-मान पुनः प्रयोग मे लाया जा सकता है अथवा क्या इसे पुनः प्रयोग मे लाना सम्भव तथा उचित है? क्या स्वःचालित स्वर्ण-मान मे राष्ट्र का विकास आयोजित अर्थ-व्यवस्था के आधार पर सम्भव है? प्रथम भाग मे स्वर्ण-मान का अर्थ समझाने के लिये मुद्रा-मान की एक या दो परिभाषाये (रोबर्टसन, केमरट आदि की परिभाषाये) लिखिये और इनका अर्थ समझाइये तथा संक्षेप मे स्वर्ण मान की विशेषताओं को लिखिए(एक पृष्ठ)। *द्वितीय भाग मे स्वर्ण-मान के कार्य संचालन को संक्षेप मे बताइये*—स्वर्ण-मान मे या तो स्वर्ण के सिक्के चलन मे होते है और नोट स्वर्ण या स्वर्ण के सिक्को मे परिवर्तनशील होते हैं अथवा यदि स्वर्ण के सिक्के चलन मे नही रहते, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए सोना प्राप्त करने की व्यवस्था होती है अथवा देश की मुद्रा किसी ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्धित होती है जो स्वर्ण-मान पर होता है। स्वर्ण-मान इन्ही तीनो मे से किसी एक रूप मे समय-समय पर, परिस्थितियो के अनुसार, *प्रचलन मे रहा। परन्तु इन सब मे यह विशेषता रही कि स्वर्ण का आयात-निर्यात* स्वतन्त्र रूप मे होता था तथा सरकारें एक निश्चित दर पर सोने का क्रय-विक्रय करती थी जिससे देशो के मध्य विनिमय-दर स्वाभाविक रूप मे स्थापित होती रहती थी और इनमे उच्चावचन एक निश्चित सीमा के अन्दर ही होता रहता था जिन्हे स्वर्ण का आयात निर्यात बिन्दु कहते है। देश मे सोने की आयात अधिक होने पर व्यापारी इसके बदले सरकार (टकसाल) से मुद्रा ले लिया करते थे जिससे मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाया

करती थी (मुद्रा मात्रा की वृद्धि से मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी और मूल्य स्तर बढ़ जाया करते थे), फलतः निर्यात हतोत्साहित और आयात प्रोत्साहित हो जाया करते थे। परिणामतः सोना विदेशों को जाने लगता था, मुद्रा का संकुचन हो जाता था, मूल्य स्तर नीचे हो जाते थे। इस तरह यद्यपि विनिमय की दर में परिवर्तन नहीं होता था परन्तु आन्तरिक मूल्य स्तरों में उच्चावचन होता रहता था और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलता रहता था। इसी को स्वर्ण-मान की स्वय संचालकता कहते हैं (इसे विस्तार से उदाहरण सहित समझाइये) (दो पृष्ठ)। तृतीय भाग में उन शर्तों को बताइये जिनकी उपस्थिति में स्वर्ण मान का संचालन होता रहता था—(i) व्यापारिक स्वतन्त्रता—देशों के बीच वस्तुओं व सोने की आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक होनी चाहिये ताकि भुगतान का असन्तुलन वस्तुओं की गतियों से व्यवस्थित हो जाय तथा स्वर्ण की आवाजाही केवल छोटे अन्तरों को पूरा करने के लिये हो, (ii) स्वर्ण मान वाले देशों का आर्थिक ढाचा पूर्णतया लोचदार होना चाहिये—ताकि वस्तुओं के मूल्य तथा मजदूरी आदि में स्वर्ण की आयात निर्यात के अनुकूल परिवर्तन हो सके, (iii) स्वर्ण की आवाजाही के प्रभावों को केन्द्रीय बैंक व सरकारों को अप्रभावी नहीं बनाना चाहिये—जब सोने की आयात हो रही हो, तब इन्हें मूल्य स्तर में वृद्धि तथा जब सोने की निर्यात हो रही हो, तब मूल्य स्तर में कमी होने देना चाहिये, (iv) स्वर्ण मान वाले देशों के बीच उचित सहकारिता होनी चाहिये आदि (इन स्वर्ण-मान के नियमों को विस्तार से समझाइए) यह बताइये कि यदि स्वर्ण मान के नियमों का पालन किया जाय, तब तो यह मान सफलतापूर्वक चल सकता है वरना नहीं, इसीलिए इन्हें स्वर्ण मान की शर्तें अथवा सीमायें कहते हैं (दो ढाई पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में बताइये कि सन् १६३१ में स्वर्ण मान के टूटने के क्या क्या मुख्य कारण थे—जैसे स्वर्ण मान के नियमों का परित्याग किया गया स्वर्ण का असमान वितरण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास, प्रथम महायुद्ध की क्षति पूर्ति का भुगतान, अल्पकालीन पूंजी की आवाजाही सन् १६२६ की महान् मन्दी से उत्पन्न परिस्थितियाँ तथा राजनैतिक अस्थिरता व मूल्यों में दृढ़ता आदि (इन सब कारणों को उदाहरण सहित लिखिये) (तीन चार पृष्ठ)। इन्हीं कारणों से यह कहा जाता है कि स्वर्ण मान एक "अच्छे दिनों का मित्र है" (Fair Weather Standard) अर्थात् जब तक स्वर्ण मान के नियमों का पालन किया जाता है, यह मान चलता रहता है और जैसे ही सामान्य स्थिति में परिवर्तन हो जाता है (इन नियमों का पालन नहीं होने के कारण) वैसे ही स्वर्ण मान भी सफलतापूर्वक नहीं चलने पाता और इसके संचालन में दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा जनता का इसमें से विश्वास हट जाता है (आधा पृष्ठ)। पांचवें भाग में बताइए कि क्या स्वर्ण मान की पुनः स्थापना सम्भव व उचित है—कारण देकर बताइये कि स्वर्ण-मान (शुद्ध स्वर्ण-मान) की पुनः स्थापना न तो सम्भव है और न उचित ही है—आधुनिक युग में आर्थिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन हो गया है, जैसे उत्पादन-प्रणाली बहुत दूर फेर वाली तथा उन्नत हो गई है जिसमें उत्पादन की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण

मुद्रा की मात्रा मे भी वृद्धि करने की बहुत आवश्यकता हो गई है, परन्तु स्वर्ण-मान मे मुद्रा की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि नही हो सकती है (सोने की मात्रा सीमित होने के कारण) मजदूर संघ बहुत समठित हो गए है (ये मजदूरी कम नही होने देंगे), युद्ध के कारण विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक-व्यवस्था की लोच बहुत कुछ समाप्त हो गई है, राष्ट्रों में वैमनस्य की भावना है जिससे प्रत्येक राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनना चाहता है, स्वतन्त्र विदेशी व्यापार की सम्भावना नही रही है, सोने की स्वतन्त्र आयात-निर्यात नही हो सकती है तथा संसार का अधिकांश सोना अमेरिका जैसे देश में जाकर एकत्रित हो गया है, आज राष्ट्रों की मौद्रिक नीति का उद्देश्य आन्तरिक मूल्य-स्तर का स्थैर्य हो गया है (स्वर्ण मान में मूल्य-स्तर के उच्चावचन को रोका नही जाता था, यह खराब भी नही माना जाता था वरन् इस उच्चावचन से ही स्वर्ण-मान कार्यशील होता था) इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मौद्रिक अधिकारी द्वारा कभी मुद्रा-प्रसार तब कभी मुद्रा-संकुचन किया जाता है, परन्तु स्वर्ण मान स्वःचालित होता है जिसमे मुद्रा स्फीति (सोने की मात्रा सीमित होने के कारण भी यह नहीं किया जा सकता है) व संतुलन नही किया जा सकता है। इन सब को विस्तार से समझाकर निष्कर्ष निकालिये कि स्वर्णमान की पुनः स्थापना न तो सम्भव है और न उचित ही है (एक-डेढ पृष्ठ)। छटे भाग में कारण सहित बताइये कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे स्वर्ण-मान का संचालन असम्भव है—आर्थिक योजनाओं का उद्देश्य रहता है आन्तरिक आर्थिक उन्नति तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक है—आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता अथवा मूल्य-स्तर का इस प्रकार नियमन व नियन्त्रण कि पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम करे। परन्तु स्वर्ण-मान एक अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति है, जिसमें राष्ट्रीयता को त्यागना पड़ता है, आन्तरिक मूल्य-स्तर के उच्चावचन पर हम कोई प्रतिबन्ध नही लगा सकते हैं (विनिमय दर की स्थिरता के नाम पर हमे आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता को त्यागना पडता है) इसी तरह जबकि स्वर्ण-मान मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है, आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे इन दोनो पर ही नियन्त्रण रखा जाता है। स्वर्ण-मान का आधार हर और स्वतन्त्रता है, परन्तु आयोजित अर्थ-व्यवस्था का आधार हर और नियन्त्रण है। चूंकि स्वर्ण-मान नियन्त्रण एवं नियमन सह नही सकता है, अतः एक आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे स्वर्णमान की स्थापना नही हो सकती है। चूंकि वर्तमान युग आयोजित-व्यवस्था का है, इस कारण भी स्वर्ण-मान की पुनः स्थापना सम्भव व उचित नही है। अत. जैसा कि कीन्स ने कहा है प्रबन्धित पत्र मुद्रा प्रणाली ही वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो मे सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से तो इस मत की और भी अधिक पुष्टि हो गई है क्योंकि इसने सीमित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान को स्थापित कर दिया है, राष्ट्रो को स्वर्ण-मान के सब लाभ प्राप्त होने लगे है और इसके दोषो से वे वंचित है (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ५ :—(i) स्वर्ण-मान पद्धति का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिये (Agra B. A. १९५७), (ii) स्वर्ण-विनिमय मान और स्वर्ण-पाट मान के अन्तरों को बताइये (Sagar, B Com १९५९), (iii) स्वर्ण-प्रमाप की कार्य यन्त्रणा (Mechanism)

का वर्णन कीजिए। क्या यह माना जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की प्रस्थापना से स्वर्ण-प्रमाप पुन एक बार प्रयोग में लाने के बराबर है? (Nagpur B. A. १६५६), (iv) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप किसे कहते हैं? यह स्वर्ण चलार्थ प्रमाप से किन बातों मे भिन्नता रखता है? (Nagpur, B A १६५६). (v) Describe the advantages and disadvantages of Gold Standard and say how far its shortcomings have been overcome? (Bihar, B. Com 1959) (vi It is possible to have Gold Standard without Gold Currency? Give reasons for your answer and explain the merits and demerits of such a standard (Sagar, B. A. 1958).

संकेत —उक्त प्रश्नो मे चार बातें पूछी गई हैं—स्वर्ण-मान के विभिन्न रूप क्या-क्या हैं तथा इनमे से प्रत्येक की क्या-क्या विशेषताएं और भिन्नतायें हैं? क्या बिना स्वर्ण-मुद्रा के चलन के स्वर्ण-मान का चलन हो सकता है? स्वर्ण-मान के गुण दोष क्या-क्या है? क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से स्वर्ण मान की पुन स्थापना कही जा सकती है? प्रथम भाग मे स्वर्ण मान का अर्थ एक-दो परिभाषाओं के आधार पर दीजिये, इसके तीनो रूपो (स्वर्ण-चलन मान, स्वर्ण-पाट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान) का अर्थ और विशेषताओं को बताइये तथा इनकी तुलना कीजिये (ढाई-तीन पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे यह बताइये कि बिना स्वर्ण-मुद्रा के चलन के भी स्वर्ण-मान का चलन हो सकता है और हुआ भी है, जैसे स्वर्ण-पाट-मान व स्वर्ण विनिमय-मान मे। इन मानो के गुण-दोषों को बताइये (डेढ दो पृष्ठ)। तृतीय भाग मे यह बताइये कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना कब तथा किन उद्देश्यो से हुई कि इसमे स्वर्ण के रूप मे अभ्यश (Quotas) किस प्रकार लिये गये हैं तथा कोष मे स्वर्ण का क्या स्थान है?—यह स्पष्ट कीजिये कि इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो म स्थिरता लाना, विदेशी विनिमय दर मे स्थैर्य लाना तथा विभिन्न राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति करने मे सहायता देना आदि है। कोष की स्थापना से स्वर्ण-मान के सब लाभ प्राप्त हो गय हैं और इसमे जो दोष थे उनका निवारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से सम्भव हो गया है—विभिन्न राष्ट्र अपनी आन्तरिक मुद्रा प्रणाली का सचालन व मूल्य स्तर का नियमन राष्ट्र हित मे कर सकते हैं, मुद्रा प्रणाली के सचालन के लिये भी अब स्वर्ण की बहुत आवश्यकता नही रही है क्योकि आन्तरिक चलन मे पत्र मुद्रा व साकेतिक सिक्के होते हैं और विदेशी भुगतान कोष द्वारा किया जाता है। अत कोष की स्थापना यद्यपि शुद्ध स्वर्ण मान की स्थापना नही कही जा सकती है तथापि इसने अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर-तथा विनिमय दरो का आधार बना दिया है (स्वर्ण मान का भी यही प्रमुख गुण था)। इस तरह कोष से स्वर्ण मान के सब गुण प्राप्त होने लगे है ('विस्तृत अध्ययन के लिय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' नामक अध्ययन पढिये) (एक डेढ पृष्ठ)।

प्रश्न ६.—(i) 'Gold Standard failed primarily because it could not reconcile exchange stability with price stability." Discuss (Patna, B A 1957 (ii) Describe the different forms of Gold Standard Can Gold Standard secure stability of prices? (Bihar, B. A. 1958)

संकेत:—प्रारम्भ में दो चार वाक्यों मे स्वर्णमान का अर्थ व विशेषतायें बताइये। फिर इसका कार्य संचालन लिखिये और यहाँ पर विशेषतया स्पष्ट कीजिये कि स्वर्ण मान मे विनिमय की दर में स्थैर्य रहता है (इसमे स्वर्ण आयात-निर्यात बिन्दुओं के बीच में ही परिवर्तन होता है) परन्तु देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे विदेशी व्यापार अथवा स्वर्ण की आयात-निर्यात की स्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। (यहाँ पर केवल स्वर्ण चलन मान का ही कार्य सचालन लिखिये—इसके अन्य रूपों के बारे मे लिखना अनावश्यक है) और फिर स्वर्ण मान के नियमों के बारे में बहुत संक्षेप मे लिखिये—कि इन शर्तों की उपस्थिति मे ही स्वर्ण-मान कार्यशील होता है (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग में बताइये कि स्वर्ण-मान में इसके नियमों के अनुसार स्वर्ण व वस्तुओं की आयात-निर्यात आदि पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है। मुद्रा का प्रसार व संकुचन स्वर्ण की आयात-निर्यात पर निर्भर रहता है आदि जिसके कारण इस मान मे आन्तरिक मूल्य-स्तर मे स्थिरता लाना सम्भव नही होता है अर्थात् विनिमय-दर की स्थिरता के लिये देश के आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता का बलिदान किया जाता है। सन् १९३१ के बाद की परिस्थितियों से उदाहरण देकर बताइये कि उस समय विनिमय-दर की स्थिरता की तुलना मे आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता लाना अधिक महत्वपूर्ण हो गया था। चूंकि स्वर्ण-मान मे यह सम्भव न था, इसलिये यह टूट गया (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ७:—(i) द्विधातु-मान चलन पद्धति की व्याख्या करिये और इसके गुण-दोष की विवेचना करिये। (Agra B. Com. १९५६, Vikram, B. A. १९५९, Gorakhpur, B. Com. १९५९) (ii) Describe the essential features of be metallism and discuss whether prices are steadier under bi metallism or under mono-metallism (Agra, B Com. 1956, Raj., B. Com. 1955, Vikram. B. Com. 1959)

संकेत:—उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग मे द्विधातु मान का अर्थ, विशेषतायें तथा इसके गुण-दोषों को लिखिये (चार पाँच पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे, द्विधातु मान मे क्षतिपूरक क्रिया को संक्षेप मे समझाकर बताइये कि चूंकि एक धातु का अभाव दूसरी धातु की अधिक पूर्ति से दूर हो जाता है (अन्तर्राष्ट्रीय स्तर द्विधातु मान को अपनाने पर) इसलिये दोनों धातुओं के मूल्यों मे स्थिरता रहती है। फलतः मूल्य-स्तर मे भी स्थैर्य रहता है। परन्तु एक धातु मान मे धातु की पूर्ति मे घट बढ होने पर, मुद्रा की पूर्ति मे घट बढ हो जाती है जिससे द्रव्य की क्रय-शक्ति मे भी घट-बढ हो जाती है और इस तरह मूल्य स्तर में स्थिरता नही रहती है। अतः एक धातु-मान की तुलना मे द्विधातु-मान मे मूल्यो मे अधिक स्थिरता रहती है (दो-ढाई पृष्ठ)।

अध्याय ७

नोट–निर्गम के सिद्धांत तथा रीतियाँ
(Principles and Methods of Note Issue)

नोट-निर्गम के सिद्धांत (Principles of Note Issue)

नोट-निर्गम के दो मुख्य सिद्धात हैं जो विभिन्न पक्षों द्वारा प्रकट किये गये हैं। ये दोनो सिद्धात एक-दूसरे के पूर्णतया विपरीत हैं और इन दोनों के समर्थक अपने-अपने सिद्धात को ठीक बताते हैं। ये दोनो सिद्धात इस प्रकार हैं—(i) करेन्सी या मुद्रा-सिद्धात तथा (ii) बैंकिंग सिद्धान्त।

(१) करेन्सी या मुद्रा सिद्धात (Currency Principle) :—इस सिद्धान्त को कभी-कभी सुरक्षा-सिद्धात (Security Principle) भी कह देते हैं। करेन्सी या मुद्रा-सिद्धा त बतलाता है कि देश मे नोटों के चलन की सुरक्षा (Security) तथा जनता का इनमे विश्वास (Confidence) के हेतु नोटों की मात्रा के बराबर धात्विक निधि (Metallic Reserve) रक्खी जानी चाहिये। इस तरह इस सिद्धान्त के अनुसार देश मे जितनी रकम के नोट निर्गमित किय जाते हैं, उतनी ही रकम के बराबर बहुमूल्य धातु-मुद्रा चलन-अधिकारी (Note Issuing Authority) के पास जमा रहनी चाहिये अर्थात् मुद्रा-सचालक को नोटो के पीछे १००% सोने चाँदी की आड रखनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि पत्र-मुद्रा की निकासी का उद्देश्य केवल यही है कि नोटो की निकासी करके धातु मूल्य का प्रयोग कम कर दिया जाय ताकि समाज को विनिमय का एक सुविधाजनक माध्यम उपलब्ध हो जाये और मूल्यवान धातुओं की भी घिसावट मे बचत हो जाये। अत करेन्सी सिद्धान्त पर आधारित पत्र मुद्रा चलन म नोटो का प्रसार एव सकुचन धात्विक-निधि की कमी अथवा अधिकता पर निर्भर रहता है।

गुण-दोष

करेन्सी सिद्धान्त के गुण दोष —मुद्रा सिद्धात मे दो गुण पाये जाते हैं— (i) मुद्रा चलन पूर्णतया सुरक्षित रहता है —चू कि नोटो की निकासी का आधार १००% बहु-मूल्य धातु निधि होती है, इसलिए इसमें सुरक्षा (Security) का गुण पाया जाता है क्योंकि इसमे चलनाधिक्य (Over Issue) का कोई भय नहीं रहता है। (ii) *जनता का विश्वास* —चू कि नोट बहुमूल्य धातुओ मे सदा परिवर्तनीय (Convertible) होते हैं, इसलिये इस सिद्धान्त के आधार पर चलित मुद्रा-प्रणाली मे जनता का विश्वास (Confidence) भी बहुत होता है। परन्तु इस सिद्धान्त के दो मुख्य दोष भी हैं —लोच का अभाव —इस सिद्धान्त के अनुसार निर्मित मुद्रा-प्रणाली मे लोच (Elasticity) का बहुत अभाव रहता है क्योंकि नोटो की मात्रा को व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार घटाया-बढ़ाया नही जा सकता है वरन् चलन का प्रसार व सकुचन धात्विक-निधि की

अधिकता या कमी पर निर्भर रहता है। एक अच्छे चलन का यह गुण होता है कि उसमें मुद्रा का प्रसार व संकुचन व्यापारिक आवश्यकताओं, न कि सोने व चादी की खानों की उत्पत्ति के अनुसार हो सकता है ताकि देश में व्यापार व उद्योग के विकास में बाधा नही पड़े। अतः इस सिद्धान्त ने साख (Credit) की महत्ता को नही पहचाना है और यह मुद्रा की लोच को उसकी सुरक्षा की वेदी पर बलिदान कर देता है। (ii) अमितव्ययिता :—इस सिद्धान्त के आधार पर बनाई गई मुद्रा-प्रणाली में अमितव्ययिता का भी दोष पाया जाता है क्योंकि इसमें सोने व चांदी की बचत नही होती है। इसमें सोना व चादी सुरक्षित निधि के रूप में बेकार पड़ा रहता है।

(२) बैंकिंग सिद्धांत (Banking Principle) :—इस सिद्धान्त को कभी कभी लोच-नियम (Elasticity Principle) भी कह देते हैं। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि मुद्रा मे लोच होनी चाहिए अर्थात् विनिमय-माध्यम का कार्य सुचारु रूप से करने के लिए मुद्रा में देश की व्यापारिक आवश्यकतानुसार प्रसार व संकुचन का गुण होना चाहिए। यह तब ही सम्भव है जब कि नोट-निर्गम अधिकारी नोटो की निकासी तथा नियमन (Regulation) के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। यह कार्य प्रायः एक बैंक द्वारा ही अच्छा किया जाता है क्योंकि वह सदा व्यापारी वर्ग तथा जनता के सम्पर्क मे रहता है। जब बैंक्स नोट चलाने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र छोड़ दिए जाते हैं, तब वे अपने आप ही बहुत सोच-विचार करके नोटो का प्रसार करते हैं और नोटों मे जनता का विश्वास एवं इनमें परिवर्तनशीलता का गुण बनाये रखने के लिए स्वयं ही उचित मात्रा मे रक्षित-निधि (Reserve Fund) रखते हैं ताकि जनता की मांग होने पर वे नोटों के बदले मे धातु-मुद्रा दे सकें। अतः बैंकिंग-सिद्धान्त यह बताता है कि देश में नोटों की निर्गमित मात्रा के शत-प्रतिशत बराबर सोना-चांदी के रूप में निधि नहीं रखनी चाहिए वरन् एक बैंक देश में नोटों का कितना चलन करे और इनके लिए कितनी रक्षित-निधि रक्खे इस सम्बन्ध में उसे पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए ताकि मुद्रा-प्रणाली में लोच रहे और साख-पद्धति का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सके।

गुण-दोष

बैंकिंग सिद्धान्त के गुण-दोष :—इस सिद्धान्त के दो मुख्य गुण हैं:—(i) चलन-प्रणाली में अत्यधिक लोच रहती है :—बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण गुण इसकी लोचकता (Elasticity) है। इसमे मुद्रा-अधिकारी के लिए यह सम्भव है कि वह देश की व्यापारिक व औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा मे घट-बढ़ कर सके। इसका कारण स्पष्ट है। उसे नोटों की निकासी के लिए १००% बहुमूल्य धातुओं की निधि नही रखनी पड़ती है वरन् वह कुल नोटों का एक निश्चित भाग ही सोने व चांदी के रूप में रखता है और इसी से नोटों की परिवर्तनशीलता कायम रखता है। यह इसलिए सम्भव है क्योंकि बैंक को अनुभव से यह

पता है कि एक निश्चित काल में कुल नोटो का एक निश्चित भाग ही सोने व चादी मे बदलने के लिए पेश किया जाता है चू कि इन नोटो के बदले बहुमूल्य धातुयें देने के लिए व्यवस्था कर दी जाती है, इसलिए एक ओर तो जनता का इनमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है और दूसरी ओर चलन के प्रसार व सकुचन की बहुत सम्भावना रहती है। (ii) बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत —चू कि बैकिंग सिद्धान्त पर निर्मित मुद्रा-प्रणाली मे धातु निधि नोटो की कुल मात्रा की निकासी की तुलना मे बहुत कम रक्खी जाती है, इसलिए इस प्रणाली मे सोने-चादी के उपयोग म बहुत बचत होती है और देशको इसकी घिसावट के कारण भी क्षति बहुत कम सहनी पडती है परन्तु इस सिद्धात मे दो दोष भी पाये जाते हैं। (i) चलनाधिक्य का भय (Danger of Over Issue) —चू कि नोटों की निकासी के पीछे १०० प्रतिशत धातु-निधि नही रक्खी जाती है, इसलिये इस प्रणाली मे नोटो के प्रति निर्गम का भय रहता है। (ii) सुरक्षा मे कमी रहती है —उक्त कारण से इस प्रणाली मे सुरक्षा की भी कमी पाई जाती है।

दोनों मे से कौन-सी प्रणाली अच्छी है ? —ससार की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था मे यह कहना कि उक्त म स कौन सी मुद्रा प्रणाली अच्छी है, कठिन नहीं है। करेन्सी सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छी भले ही हो, परन्तु इसमें व्यवहारिकता के गुण का अभाव है। कोई भी देश अपने नोटो की कुल मात्रा के पीछे १०० प्रतिशत बहुमूल्य धातुओ की निधि नही रख सकता है क्योंकि प्रथम तो इन धातुओ की कमी है और फिर इनका विभिन्न देशो के बीच बहुत असमान वितरण हुआ है। फिर, इस प्रणाली मे लोच का अभाव होने से यह देश के व्यापारिक व औद्योगिक विकास में बाधा-स्वरूप रहेगी। यही कारण है कि आजकल सभी राष्ट्रो ने अपनी-अपनी मुद्रा-प्रणाली का निर्माण बैकिङ्ग सिद्धान्त के आधार पर किया है क्योंकि इसमे कम अधिक मात्रा मे धातु निधि की व्यवस्था करके एक तरफ सुरक्षा व जनता के इसमे विश्वास की व्यवस्था की जाती है और दूसरी ओर इसमे अत्यधिक लोच का गुण पाया जाता है। एक अच्छी पत्र-मुद्रा-चलन प्रणाली वही मानी जाती है जिसम सुरक्षा व लोच दोनो ही गुणो का सङ्गम होता है और बैकिङ्ग सिद्धान्त के आधार पर निर्मित पत्र मुद्रा प्रणाली इस गुण को पूर्णतया सन्तुष्ट करती है। इसीलिए ससार के समस्त देशो ने बैकिङ्ग सिद्धान्त पर आधारित एक सकुचित व नियन्त्रित पत्र मुद्रा प्रणाली को अपनाया है।

अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि पत्र-मुद्रा-चलन की कौन कौन सी विधिया हैं तथा इनमें सुव्यवस्था किस प्रकार लाई जाती है ?

नोट–निर्गम की विधियां (Methods of Note Issue)

नोट-निर्गम की छः मुख्य रीतियाँ हैं —(i) निश्चित असुरक्षित नोट-चलन की रीति, (ii) अधिकतम असुरक्षित नोट चलन की रीति, (iii) अनुपातिक निधि पद्धति, (iv) वह अनुपातिक पद्धति जिसमे न्यूनतम स्वर्ण-निधि रहती है (v) साधारण जमा पद्धति तथा (vi) सरकारी बॉड्स जमा पद्धति।

(१) निश्चित असुरक्षित नोट चलन की रीति (Fixed Fiduciary Sys-

करने पर इनके पीछे शत् प्रतिशत् सोने की निधि रखनी पडती है। यदि आर्थिक सकट के समय मे देश म मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करनी है, तब इसके दो ही तरीके हैं—प्रथम, विदेशो से सोना मगाकर स्वर्ण निधि कोष को बढाया जाय और फिर नोटों की निकासी मे वृद्धि की जाय या द्वितीय, इस प्रणाली के नियमो को तोड दिया जाय। प्रथम मे दोष यह है कि स्वर्ण की आयात करने म बहुत कठिनाई होती है और द्वितीय म दोष यह है कि प्रणाली के नियमो को बार बार तोडने से इसके प्रति जनता का विश्वास कम हो जाता है। अत इस प्रणाली म लोच का अभाव है। (ii) सुगमता का अभाव — इस प्रणाली म सुगमता का भी अभाव है क्योकि यदि किसी कारणवश कोष म से सोने या चादी की धातु कम हो जाय, तब चलन मे से उतनी ही मूल्य की पत्र मुद्रा कम करनी पडती है चाहे उस समय मुद्रा की माग कितनी ही अधिक क्यो न हो। अत इस पद्धति की कार्य प्रणाली मे सुगमता का अभाव रहता है। परन्तु इस प्रणाली के समर्थकों का मत है कि नोट निर्गमन की इस विधि के वेलचकीलेपन के दोष को असाधारण परिस्थितियों मे नोटो के अरक्षित भाग की सीमा को कानून द्वारा आगे को बढा कर दूर किया जा सकता है (जैसा कि इङ्गलैंड मे वास्तव म समय समय पर हुआ है)। परन्तु ऐसा कार्य करने पर जनता का नोटो मे कम विश्वास हो सकता है क्योंकि नोटों की अरक्षित सीमा का बढाना बैंक अथवा नोट निर्गम अधिकारी की आर्थिक कमजोरी का चिन्ह है।

(२) अधिकतम अनुरक्षित नोट चलन की रीति (Fixed Maximum Fiduciary System) —यह रीति सन् १८७० से सन् १९२८ तक फ्रास मे प्रचलित रही और वहाँ पर नोट निकासी की अधिकतम सीमा ५,८४,३१० लाख फ्रैंक (Francs) थी। इङ्गलैंड मे भी इसी रीति को अपनाने के लिए मैकमिलन कमेटी (Macmillan Committee) ने सुझाव रक्खा था। इस रीति मे सरकार एक विधान-द्वारा पत्र मुद्रा की एक निश्चित सीमा तय कर देती है और देश का मुद्रा अधिकारी या केन्द्रीय बैंक केवल इस निर्धारित सीमा तक बिना किसी प्रकार के धातु कोष के नोटो का चलन कर सकता है। इस तरह इस रीति मे धात्विक-निधि का पत्र मुद्रा चलन से कुछ भी सम्बन्ध नही होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि इस रीति मे मुद्रा-अधिकारी को निर्धारित अधिकतम सीमा के परे नोटो की निकासी करने का बिलकुल भी अधिकार नहीं होता है, चाहे वह इसके लिए शत प्रतिशत् स्वर्ण निधि की व्यवस्था करने के लिये ही क्यो न तैयार हो। इसमे सन्देह नहीं कि सरकार नोट निकासी की अधिकतम सीमा बहुत सोच-विचार के बाद निश्चित करती है और इस प्रकार का निर्णय लेते समय वह देश की व्यापारिक व वाणिज्यिक आवश्यकताओं का भी ध्यान रखती है। यह स्मरण रहे कि सरकार उक्त अधिकतम सीमा इतनी अवश्य रखती है कि देश की साधारण चलन की आवश्यकताए बिना किसी कठिनाई के पूरी हो सकें। यह सीमा औसत आवश्यकता से अधिक ही बाँधी जाती है और आवश्यकता पडने पर इस अधिकतम सीमा मे भी परिवर्तन कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, फ्रास मे जब कभी पत्र मुद्रा की मात्रा अधिकतम सीमा के पास पहुँचती थी, तब सरकार मुद्रा प्रणाली मे लोच रखने के हेतु

नोट निकासी की अधिकतम सीमा को भी आगे को बढ़ा दिया करती थी।

गुण-दोष:—इस पद्धति में कई गुण हैं:— (i) स्वर्ण को निधि में बन्द रखने की आवश्यकता नहीं रहती है:— इस रीति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें सोने-चाँदी को अनावश्यक रूप में धातु-निधि मे बाँध कर डालने की आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मुद्रा-अधिकारी धातु-निधि के रूप में सोना या चाँदी बिल्कुल भी नहीं रखता है। मुद्रा-अधिकारी नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए इस पद्धति में भी प्रायः कुछ बहुमूल्य-धातु कोष में रखता है, परन्तु निधि की मात्रा का निर्णय केन्द्रीय बैंक या मुद्रा अधिकारी की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है। इसीलिए यह पद्धति बहुत सरल व सस्ती है। (ii) मुद्रा-प्रणाली में लोच रहती है—चूंकि सरकार देश की व्यापारिक व वाणिज्यिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही अधिकतम नोट निकासी की सीमा निर्धारित करती है, इसीलिए इस पद्धति में आवश्यक लोच भी पाया जाता है। इस प्रणाली में चलनाधिक्य (Over Issue) का भी भय नहीं रहता है। (iii) सरकार की ख्याति बनी रहती है:–इस पद्धति में सरकार की ख्याति (Goodwill) कम नहीं होती क्योंकि जनता का यह विश्वास रहता है कि मुद्रा-अधिकारी निर्धारित सीमा में अधिक मात्रा में नोटों की निकासी नहीं कर सकती है। परन्तु इस प्रणाली में कई दोष भी हैं —(i) पद्धति व्यवहार में या तो अधिक स्थूल (Rigid) या बहुत अधिक लचकीली हो जाती है:— यदि सरकार नोट निकासी की अधिकतम सीमा में परिवर्तन नहीं करती है, तब यह पद्धति देश के बढ़ते हुए व्यापार की माँग को सन्तुष्ट नहीं करने पाती है क्योंकि नोटों का चलन आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता है। इस दृष्टि से यह स्थूल या कम लचीली पद्धति बन सकती है। इसके विपरीत यदि सरकार इस पद्धति का दुरुपयोग करती है अर्थात् केवल आय प्राप्त करने के लिए यदि वह समय-समय पर अधिकतम सीमा में वृद्धि कर देती है जिसके परिणामस्वरूप नोटों की मात्रा व व्यापार व व्यवसाय की आवश्यकता से अधिक हो जाती है, तब स्फीति (Inflation) के सब दुष्परिणाम प्रकट होने लगेंगे और इस दृष्टि से यह प्रणाली अत्यधिक लोचदार हो जाती है। अतः अधिक स्थूल या अधिक लचकीली मुद्रा-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण होती है। (ii) यह एक रूढ़िवादी प्रणाली है.—यह प्रणाली नोट-निर्गम के बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) की अपेक्षा नोट निर्गम के करेन्सी सिद्धान्त (Currency Principle) पर अधिक निर्भर रहती है जिसके कारण यह एक रूढ़िवादी प्रणाली मानी जाती है।

(३) अनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System):—इस रीति को सबसे पहले अमेरिका, फ्रांस (सन् १६२८ में अधिकतम अरक्षित पद्धति को त्याग कर तथा जर्मनी में अपनाया गया था। सन् १६२७ के हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों के आधार पर इसे भारत ने भी ग्रहण किया था और रिजर्व बैंक के एक्ट में इस पद्धति को स्थान दिया गया था। (परन्तु सन् १६५६ से भारत में आनुपातिक स्वर्ण-कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम स्वर्ण-कोष प्रणाली (Minimum Gold

Reserve System) को अपनाया गया है)। यह पद्धति इंगलैंड में भी प्रचलित है। प्रथम महायुद्ध के बाद ही यह पद्धति अधिक लोकप्रिय हुई है। इस पद्धति में बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) का अवलम्बन किया गया है। इस पद्धति में नोटों की कुल मात्रा तथा धातु निधि का अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है अर्थात् कुल नोटों का कितना न्यूनतम प्रतिशत भाग धातु या धात्विक द्रव्य के रूप में रक्खा जायगा, यह निश्चित कर दिया जाता है और शेष अरक्षित नोटों (Fiduciary Issue) की आड़ में सरकारी प्रतिभूतियां (Securities) या व्यवसायिक बिल्स (Commercial Bills) या अन्य प्रकार के स्वीकृत विनियोगों (Gilt edged Securities and Investments) या प्रमाण पत्रों को रक्खा जाता है। अतः इस प्रणाली में कुल जारी किये गये नोटों का एक निश्चित प्रतिशत ही धातु निधि के रूप में रक्खा जाता है, जैसे— ३०% या ४०% या इससे कम या अधिक और इस प्रतिशत को रखने के बाद केन्द्रीय बैंक को देश की व्यापारिक मांग के अनुसार नोट निर्गम करने का अधिकार दे दिया जाता है। यह प्रतिशत सरकार की अनुमति से कम या अधिक की जा सकती है। बाद में चलकर कुछ देशों ने ऐसा भी प्रबन्ध कर लिया था कि अगर निश्चित की गई प्रतिशत में केन्द्रीय बैंक के पास धातु कोष नहीं है तब भी वह नोट निर्गम कर सकता है परन्तु उसे धातु कोष की कमी पर भारी जुर्माना देना पड़ता है।

गुण दोष—इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण इसकी लोचकता (Elasticity) है। इसके अतिरिक्त इसमें जनताधिक्य पर रोक-थाम मितव्ययिता तथा परिवर्तनशीलता के गुण भी पाये जाते हैं। इस पद्धति में लचकीलेपन के गुण का अनुमान इस बात से लग जाता है कि बैंक के पास एक धातु का सिक्का होने पर वह कागजी द्रव्य को २½ या ३ गुना बढ़ा सकता है इसी प्रकार एक धातु का सिक्का कम हो जाने पर बैंक को २½ या ३ गुनी पत्र मुद्रा कम करनी पड़ती है। यही नहीं आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण निधि का प्रतिशत घटाकर पत्र मुद्रा का आवश्यक विस्तार किया जा सकता है या निश्चित की गई प्रतिशत से कम धातु कोष होने पर भी केन्द्रीय बैंक कुछ जुर्माना देकर नोट जारी कर सकता है। इस प्रकार की प्रथा में मुद्रा प्रणाली में बहुत ही ज्यादा लोच हो जाता है। बैंक या मुद्रा अधिकारी नोटों की परिवर्तनशीलता भी बहुत आसानी से बनाये रखता है क्योंकि एक तरफ उसके पास निधि में सोना चांदी होता है और दूसरी तरफ तमाम नोट भी एकदम परिवर्तन के लिए प्रस्तुत नहीं किये जाते हैं। परन्तु इस पद्धति में अनेक दोष भी हैं— (i) सोना चांदी बेकार में पड़ा पड़ा रहता है—कीन्स (Keynes) के मतानुसार इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि नोट निर्गम करने वाले अधिकारी के पास एक काफी बड़ी रकम का सोना चांदी धातु कोष के रूप में बेकार में पड़ा पड़ा रहता है। (ii) मुद्रा का प्रसार करना तो सरल होता है, परन्तु इस के संकुचन में कठिनाई अनुभव होती है—इस प्रणाली में धातु के एक सिक्के के कम हो जाने पर २½ या ३ गुने नोटों में कमी तुरन्त होनी चाहिये परन्तु अनुभव से पता चलता है कि नोटों के चलन में कमी तुरन्त नहीं होने पाती है और ये नोट कुछ समय तक

प्रचलन में रहते हैं क्योंकि बैंक इन नोटों का प्रचलन तब ही बन्द कर सकता है जबकि ये इसके पास वापिस आ जायें। परिणामतः रक्षित कोष की अनुपातिक दर का हर समय पालन नहीं होने पाता है।

(४) वह अनुपातिक पद्धति जिसमें न्यूनतम स्वर्ण-निधि रहती है (Proportional System with a Maximum Gold Reserve):—यह रीति उक्त तीसरी अनुपातिक निधि पद्धति का ही एक संशोधित रूप है। इस पद्धति में भी नोटों की कुल मात्रा का एक निश्चित अनुपात स्वर्ण व चांदी निधि के रूप में रक्खा जाता है। परन्तु इस रीति में यह विशेषता है कि इस धातु-निधि का एक निश्चित व न्यूनतम भाग तो धातु के रूप में रक्खा जाता है और शेष किसी दूसरे देश के साख-पत्रों (Foreign Securities) अथवा विदेशी बैंकों की हुण्डियों एवं विनिमय बिल्स के रूप में रक्खा जाता है। इस निधि मे सोने-चांदी की जो मात्रा देश मे रक्खी जाती है, उसकी मात्रा निश्चित होती है और इसमें किसी भी समय कमी नहीं आने पाती है। उदाहरणार्थ, भारत मे सन् १९५६ से पहले रिजर्व बैंक के नोट प्रकाशन विभाग में नोटों की कुल मात्रा का कम से कम ४०% भाग धातु-निधि (इसमें सोने के सिक्के, सोनो तथा स्टर्लिंग साख-पत्र रहते थे) और ६०% अन्य प्रतिभूतियों के रूप मे रहता था। सोने की मात्रा किसी भी समय ४० करोड़ रुपये (२१ रु० ३ आने १० पाई प्रति तोले के हिसाब से) से कम नहीं होने दी जाती थी।

गुण-दोष.—इस पद्धति मे कई गुण है:— (i) सोने की बचत:— इस रीति का बहुत बड़ा लाभ यह है कि इसमें सोने की बचत होती है। (ii) अनुपातिक निधि पद्धति के सब लाभ प्राप्त होते हैं:— इसमें लोच है, मितव्ययिता है तथा परिवर्तनशीलता का भी गुण है। परन्तु इसमे वे सब दोष भी है जो अनुपातिक निधि पद्धति मे पाये जाते हैं।

(५) साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit System):—यह वह पद्धति है जिसमे नोट-निर्गम अधिकारी को नोटों की कीमत के बराबर सोना-चांदी एक कोष मे जमा रखना पड़ता है। इस तरह इस पद्धति मे नोट प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Currency) के रूप मे प्रचलित रहते है क्योंकि इनकी आड़ में १००% धातु-निधि रहती है। गुण-दोषः—इस पद्धति में जनता का अत्यधिक विश्वास होता है क्योंकि इसमे नोट पूर्णतया परिवर्तनीय होते है। इसमे मुद्रा-प्रसार का भी भय नहीं रहता है क्योंकि नोटो के निर्गम के लिए शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना पड़ता है। परन्तु इस पद्धति का यह दोष है कि इसमे धातु की बचत नहीं होती है जिससे इसमें अमितव्ययिता है और न इसमे लोच ही पाई जाती है क्योंकि मुद्रा प्रसार के लिये सोने-चांदी की बहुत थोड़ी मात्रा मे कोषो की आवश्यकता पड़ती है। इन सब दोषों के कारण ही यह पद्धति मान्य नहीं रही है।

(६) सरकारी बॉंड्स जमा पद्धति (The Bonds Deposit System):—भारत सरकार ने इस पद्धति को कुछ प्रदेशों मे १९०२ में अपनाया था, परन्तु १९०५ में विदेशी

विनिमय सकटकाल मे इसे छोडना पड़ा । इसी तरह अमेरिका ने भी सन् १९१३ से पहले इस रीति को अपनाया था । परन्तु इस प्रणाली की अत्यधिक अस्थिरता तथा लोचहीनता के कारण इसे त्याग दिया । यह वह पद्धति है जिसमे केन्द्रीय बैंक नोटो के निर्गम के लिये धातु-कोष नही रखता है वरन् वह नोटो की निकासी सरकार साख-पत्रो (Bonds) तथा ट्रेजरी बिल्स (कोषागार-विपत्र) के आधार पर करता है। सरकार इन बिल्स को बैंक को दे देती है जो उन्हे प्रतिभूति मान कर उनके मूल्य के बराबर नोट जारी कर देता है । यू तो सरकार को इन बिल्स पर ब्याज मिलता है, परन्तु इन बिल्स के जारी करने का मुख्य उद्देश्य ब्याज कमाना नही वरन् पत्र-मुद्रा की सुव्यवस्था करना है । गुण दोष —इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमे चलनाधिक्य (Over Issue) का भय कम रहता है क्योंकि बैंक सरकारी बौंड्स या ट्रेजरी बिल्स को खरीदे बिना नोटो का निर्गम नही कर सकता है । परन्तु इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि इसमे लोच की बहुत कमी रहती है ।

(७) न्यूनतम निधि प्रणाली (Minimum Deposit Method) —भारत मे इस समय न्यूनतम निधि प्रणाली का ही प्रचलन है । इस प्रणाली मे धात्विक निधि की एक निश्चित व न्यूनतम मात्रा निर्धारित कर दी जाती है और केन्द्रीय बैंक को यह छूट होती है कि वह इस न्यूनतम निधि को रखकर, चाहे जितनी मात्रा मे नोटो का निर्गम कर सकता है । सन् १९५६ मे रिजर्व बैंक ऑफ इडिया एक्ट मे सशोधन करके भारत सरकार ने इस पद्धति को अनुपातिक नोट-निर्गम प्रणाली के स्थान पर ग्रहण किया ।

गुण दोष —इस प्रणाली के गुण इस प्रकार है —(i) लोचकता —इस प्रणाली में अन्य सब प्रणालियो की तुलना में सबसे अधिक लोच है क्योंकि रिजर्व बैंक केवल कम से कम २०० करोड रुपये का स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्के (ये दोनो कम से कम ११५ करोड रुपए के होने चाहियें) तथा विदेशी प्रतिभूतियो के आधार पर मनचाही मात्रा म नोटो का निर्गम कर सकता है, (ii) सोने की बचत —इस प्रणाली मे भी सोने की बहुत बचत होती है । (iii) मितव्ययिता —यह प्रणाली बहुत मितव्ययी भी है क्योंकि इसमे कितने ही प्रकार के कोष न रहकर केवल एक कोष रहता है तथा इसमे भी बहुत कम मात्रा मे स्वर्ण रक्खा जाता है । इस प्रणाली मे कई दोष भी है —(i) मुद्रा प्रसार की सम्भावना —इस प्रणाली मे अन्य प्रणालियो की तुलना म मुद्रा प्रसार का सबसे अधिक भय रहता है । वास्तव म भारत मे घाटे की वित्त-व्यवस्था का कुशल सचालन इसी प्रणाली से सम्भव भी हुआ है । (ii) जटिलता—मुद्रा-प्रणाली बहुत अधिक कृत्रिम व प्रबन्धित होती है जिससे यह जन-साधारण के आसानी से समझ मे भी नही आती है ।

पत्र मुद्रा चलन (या निकासी) की कौन सी रीति सबसे अच्छी है ? (Which is the best system of Note Issue ?) —नोट निर्गम की उपरोक्त रीतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मे यदि कुछ गुण हैं, तब उसमे कुछ दोष भी है । इसीलिये यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि पत्र-मुद्रा-चलन की कौन सी रीति सब से अच्छी है ? एक अच्छी पत्र मुद्रा चलन पद्धति वही है जिसमे ये गुण पाये जाते हैं—

(i) लोचकता, (ii) मितव्ययिता, (iii) परिवर्तनशीलता तथा (iv) चलनाधिक्य (Over Issue) पर रोक। किसी भी देश की पत्र-मुद्रा मे लोचकता (Elasticity) इसलिए आवश्यक है कि देश की व्यापारिक व वाणिज्यिक आवश्यकताओं के अनुसार इसमे घट-बढ हो सके। नोटों की निकासी इस प्रकार होनी चाहिए कि इससे मूल्यवान धातुओं के उपयोग मे बचत हो और इनका अन्य कोई दूसरा लाभप्रद उपयोग हो सके। अतः पत्र-मुद्रा-चलन की वही रीति अच्छी है जिसमे कम से कम मात्रा में सोने-चाँदी की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् इसमे मितव्ययिता (Economy) का गुण होना चाहिये। परन्तु मितव्ययिता का यह अर्थ नही है कि पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय नही हो वरन् नोटों की निकासी की रीति ऐसी होनी चाहिये कि उसमें नोटो मे परिवर्तनीयता का भी गुण हो क्योकि यदि नोटो के बदले मे मांगने पर सोना-चादी नही दिया जाता तो जनता का मुद्रा-प्रणाली मे से विश्वास हट जाता है। इसलिये मुद्रा अधिकारी को नोटों मे परिवर्तनीयता का गुण रखने के लिये कुछ न कुछ सोना या चांदी अपनी निधि मे रखना चाहिए। यह आवश्यक है कि इस प्रकार की निधि पर सरकारी निरीक्षण व नियन्त्रण होना चाहिए। अन्त मे, एक अच्छी पत्र-मुद्रा-चलन-रीति वही है जिसमें नोटों के चलनाधिक्य (Over Issue) पर रोक-थाम रहती है। इस दृष्टि से भी नोटो की आड मे कुछ न कुछ धातु-निधि रखनी भी आवश्यक है।

अब हमें यह देखना है कि एक अच्छे पत्र-मुद्रा चलन के उपर्युल्लिखित गुण कि प्रकार किस मुद्रा-व्यवस्था मे प्राप्त किये जा सकते है। उक्त सब गुणो को प्राप्त करने के लिए पत्र-मुद्रा निर्गम का कार्य केन्द्रीय बैंको को सौप देना चाहिये और उसे यह पूर्ण अधिकार दे देना चाहिये कि वह नोटो की मात्रा तथा धातु निधि का प्रबन्ध स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकता है। यह अवश्य है कि सरकारी हस्तक्षेप भी दो प्रकार से होना चाहिये, एक ओर तो सरकार को न्यूनतम स्वर्ण-निधि की मात्रा निश्चित कर देनी चाहिये और दूसरी ओर सरकार को नोटो की मात्रा की अधिकतम सीमा तय कर देनी चाहिये। अतः मुद्रा-प्रणाली की सुरक्षा व परिवर्तनशीलता की दृष्टि से न्यूनतम धात्विक-कोष तथा पत्र-मुद्रा की अधिकतम सीमा सम्बन्धी यदि कोई नियम बना भी दिया जाय, तब इस नियम मे भी मुद्रा-बाजार, सोने चाँदी की उपलब्धता, देश की व्यापारिक व बैंकिंग स्थिति आदि के अनुसार समय-समय पर संशोधन एवं परिवर्तन की भी व्यवस्था होनी चाहिये ताकि केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-चलन का नियन्त्रण सदा देश-हित मे सरलता मे हो सके।

यह स्मरण रहे कि कोई भी नोट निर्गम की प्रथा किसी देश के लिए हमेशा के लिए अच्छी नही कही जा सकती है। किसी समय पर देश मे कौनसी प्रथा अपनाई जाय, यह देश मे उस समय सोने की पूर्ति, मुद्रा-बाजार की दशा, व्यापारिक आवश्यकतायें तथा जनता का स्वभाव आदि पर निर्भर रहता है। यदि नोट निर्गम का कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है, तब इसके कार्यों पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये। नोट निर्गम प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि इसमें न तो सुरक्षा का नियम

बैंकिंग नियम के लिए बलिदान किया गया है और न बैंकिंग नियम का सुरक्षा के नियम के लिए बलिदान किया गया है अर्थात् मुद्रा प्रणाली में करेन्सी के दोनों सिद्धान्तों का समुचित ध्यान रक्खा गया है।

पत्र-मुद्रा का सचालन कौन करे ?

(Who should Issue the Paper Currency ?)

प्राक्कथन —यह एक सदा ही विवाद-ग्रस्त प्रश्न रहा है कि देश मे पत्र-मुद्रा का संचालन बैंक करे या सरकार करे इसी तरह यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है कि देश मे पत्र-मुद्रा का निर्गम एक बैंक करे या अनेक बैंक करें। अर्थशास्त्रियों मे एक वर्ग वह है जो नोटों की निकासी व सचालन का कार्य सरकार द्वारा किये जाने के पक्ष मे है और दूसरा वर्ग वह है जो नोटों की निकासी व सचालन का कार्य बैंक या बैंकों के द्वारा किये जाने के पक्ष मे है।

सरकार द्वारा नोट निर्गमन का कार्य

सरकार द्वारा नोट निर्गमन का कार्य करने के पक्ष में दलीलें (Arguments in favour of Government Issuing the Notes)—सरकार द्वारा नोटों की निकासी के पक्ष मे अनेक तर्क दिये जाते हैं जिनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं— (i) जनता का विश्वास :—सरकार की साख अधिक होती है, इसलिए सरकार द्वारा प्रकाशित नोट बैंकों द्वारा प्रकाशित नोटों से अधिक विश्वसनीय होते हैं। जब तक जनता का राज्य मे विश्वास है, तब तक सरकारी नोटों मे अविश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। (ii) परिवर्तनशीलता —सरकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह नोटों की आड मे कोई धातु-कोष (Metallic Reserve) रक्खे क्योंकि राष्ट्र की सारी सम्पत्ति और राष्ट्र की सारी प्रतिष्ठा नोटों की परिवर्तनीयता का कार्य करती है। परन्तु बैंकों के नोटों मे इतनी अधिक सुरक्षा और परिवर्तनीयता नहीं पाई जाती है। (iii) मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध की सुविधा :—बैंकों की अपेक्षा सरकार के पास मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध करने की अधिक सुविधायें रहती हैं क्योंकि उसके पास विशेषज्ञ होते हैं और वह इनके द्वारा समय-समय पर समाज की मौद्रिक आवश्यकताओं का पता लगाती रहती है। इसके अतिरिक्त सरकार के हाथ मे नियम बनाने का अधिकार भी होता है। परिणामत सरकार देश की मुद्रा की मात्रा तथा साख व्यवस्था पर उचित नियन्त्रण रखने मे सफल रहती है और वह इसमे आवश्यकता पड़ने पर, अन्य संस्थाओं की अपेक्षा बहुत जल्दी ही घटत-बढ़त भी कर सकती है। (iv) लाभ का उपयोग समाज हित में होता है —नोट निर्गम के कार्य से काफी लाभ हुआ करता है और यह लाभ जनता का इन नोटों मे विश्वास के कारण ही उत्पन्न हुआ करता है। अत: नोट-निर्गम के लाभों का उपयोग भी जनता या समाज हित मे ही होना चाहिये। जब नोटों की निकासी हिस्सेदारों के बैंकों द्वारा की जाती है, तब तो यह लाभ व्यक्तिगत हिस्सेदारों को प्राप्त हो जाता है परन्तु जब नोट निर्गम का कार्य सरकार द्वारा किया जाता है, तब इस कार्य से जो लाभ प्राप्त होता है वह सरकारी खजाने मे जमा हो जाता है

और इसका उपयोग देश-हित एवं समाज हित में किया जाता है। (v) सरकार का बैंक के नोट निर्गम के कार्यों में सदा से ही बहुत नियन्त्रण रहा है :—उन देशों में जहाँ नोटों की निकासी बैंकों द्वारा की जाती है, इस सम्बन्ध में बनाये गए नियमों पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है और सामान्यतया सरकारी आज्ञा ही आखिरी आज्ञा रहती है। अतः जिस कार्य के सम्बन्ध में सरकार का निर्णय ही अन्तिम निर्णय होता है, तब वास्तव में यह कार्य पूर्णरूप से ही सरकार द्वारा क्यों न किया जाय? इसके अतिरिक्त मुद्रा की व्यवस्था का कार्य बहुत प्राचीन काल से ही राज्य द्वारा किये जाने में लाभ है। (vi) अनुचित नोट-निर्गम नीति के प्रभाव बहुत घातक एवं गम्भीर होते हैं —इसलिए एक अनुचित व अव्यवस्थित नोट-निर्गम की नीति से देश को बहुत हानि हो सकती है। तब इस कार्य को किसी संस्था पर छोड़ देना बहुत हानिकारक हो सकता है क्योंकि यह संस्था राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने निजी स्वार्थ में कार्य कर सकती है।

बैंक द्वारा नोट-निर्गम का कार्य

बैंक द्वारा नोट-निर्गम का कार्य करने के पक्ष में दलीलें (Arguments in favour of a Bank or Banks Issuing Notes) —उक्त के विपरीत वे व्यक्ति हैं जो नोट निर्गम का कार्य बैंकों द्वारा किये जाने के पक्ष में हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने जो दलीलें दी हैं, वे इस प्रकार हैं:—(i) चलन में लोच :—बैंक द्वारा नोट-प्रकाशन की प्रणाली में आवश्यक लोच (Elasticity) रहती है क्योंकि वह देश की व्यापारिक व वाणिज्यिक आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की मात्रा में घट-बढ़ करता रहता है। बैंक्स ये कार्य सरकार की अपेक्षा अधिक सुगमता से इस कारण करने पाते हैं क्योंकि उनका देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग से सदा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और वे देश की मौद्रिक आवश्यकताओं का अनुमान तुरन्त व सुगमता से लगा लेते हैं। इसके विपरीत सरकार का उक्त से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है जिससे सरकार द्वारा चलाई गई मुद्रा-प्रणाली में लोच का अभाव रहता है क्योंकि वह देश की व्यवसायिक आवश्यकता के आधार पर निर्मित नहीं होती है। (ii) बैंकों द्वारा नोट-निर्गम का कार्य बहुत ही अच्छी प्रकार से किया जाता है :—बैंक सरकार की तुलना में नोट निर्गम का कार्य बहुत ही सुव्यवस्थित ढंग से कर सकता है। इसका कारण स्पष्ट है—सरकारी काम में ढिलाई रहती है, प्रत्येक निर्णय बहुत ही विलम्ब से लिया जाता है जिससे कोई कार्य ठीक समय पर हो जाय, यह बहुधा असम्भव ही रहता है। परिणामतः किसी समय पर मुद्रा की बहुत आवश्यकता होते हुए भी, यदि नोट निर्गम का कार्य सरकार द्वारा किया जाता है तब उसकी पूर्ति प्रायः उचित समय पर नहीं होने पाती है। (iii) मौद्रिक-नीति स्वस्थ आर्थिक विचारों पर आधारित रहती है :—जब कभी बैंक द्वारा नोट निर्गम का कार्य किया जाता है, तब देश की मौद्रिक नीति प्रायः देश हित में हुआ करती है। परन्तु सरकार द्वारा नोट निर्गम में यह दोष है कि देश की मौद्रिक नीति आर्थिक विचारों पर आधारित नहीं होकर यह राजनैतिक तथा

वित्तीय आवश्यकताओं पर आधारित हो जाती है। प्रजातन्त्र में विशेषकर प्रत्येक राजनैतिक दल जनता से प्रशंसा प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है। इसलिये यह सम्भव है कि सरकार नये-नये करों को न लगाकर अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति मुद्रा प्रसार से पूरी कर सकती है और यह नीति देश के लिये बड़ी हानिकारक सिद्ध हो सकती है। अतः सरकार द्वारा नोट निर्गम की रीति में यह दोष सम्भव है कि देश की मौद्रिक नीति आर्थिक आवश्यकताओं के स्थान पर राजनैतिक प्रभावों एवं वित्तीय आवश्यकताओं पर आधारित हो सकती है। (iv) **बैंक बैंकिंग के नियमों का पालन करता है** —सरकार की अपेक्षा बैंक नोट निर्गम सम्बन्धी बैंकिंग के नियमों का *अधिक अच्छी प्रकार से पालन करता है जिससे बैंक द्वारा नोट निर्गम में चलनाधिक्य* (Over Issue) का भय कम रहता है। परन्तु जब नोट प्रकाशन का कार्य सरकार द्वारा किया जाता है, तब यह बैंकिंग के नियमों का उल्लंघन करके अपने बजट की हानि नोट छाप कर पूरा करने का प्रयत्न किया करती है जिससे समाज को मुद्रा-स्फीति से प्राप्त होने वाली हानि का सदा भय रहता है। (v) **बैंक द्वारा नोट निर्गम की रीति में भी जो लाभ होता है, इसका अधिकांश भाग सार्वजनिक हित में व्यय होता है** —जब बैंक नोट निर्गम का कार्य करता है और इस कार्य में उसे जो कुछ लाभ होता है, वह इसका थोड़ा बहुत भाग ही अपने हिस्सेदारों में बाटता है और शेष भाग सरकारी खजाने में जमा होता है जिसका सार्वजनिक हित में उपयोग होता है। अतः *बैंक द्वारा नोट निर्गम की रीति में भी लाभ, सरकार द्वारा नोट निर्गम की रीति की तरह, सार्वजनिक कार्यों में व्यय होता है।*

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि **बैंक द्वारा नोट निर्गम की रीति के पक्ष में जो तर्क है, वे सरकार द्वारा नोट निर्गम की रीति के विपक्ष में तर्क हैं और इसी तरह सरकार द्वारा नोट प्रकाशन के पक्ष में जो तर्क हैं वे बैंक द्वारा नोट निर्गम के विरुद्ध तर्क हैं।** सरकार द्वारा नोट निर्गम के जो दोष हैं उनसे यह स्पष्ट है कि नोट-निकासी का कार्य बैंकों द्वारा ही किया जाना चाहिये ताकि (अ) पत्र मुद्रा चलन में लोच (Elasticity) रह अथवा मुद्रा प्रसार व मुद्रा संकुचन इसकी मांग के अनुसार हो सके तथा (आ) देश में साख पर उचित नियन्त्रण रह सके (*साख नियन्त्रण का कार्य सरकार द्वारा ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता है*)। सरकार की अपेक्षा बैंक उक्त कार्य इसलिए अच्छी प्रकार से कर सकता है क्योंकि उसका देश के व्यापारियों एवं उद्योग *पतियों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है और वह देश की मौद्रिक आवश्यकताओं का बहुत* आसानी से अनुमान लगा लेता है। यदि सरकार केवल कानून द्वारा बैंकों को कुछ सोना चाँदी धातु-निधि के रूप में जमा रखने के लिए बाध्य कर दे, तब तो बैंकों द्वारा नोट निर्गम की रीति में भी सुरक्षा (Security) रहती है तथा इसमें परिवर्तनशीलता (Convertibility) का भी गुण रहता है। अतः **बैंक द्वारा नोट निर्गम की रीति में मौद्रिक प्रणाली में सुरक्षितता, लोचकता, चलनाधिक्य पर रोक, परिवर्तनशीलता तथा स्वरूपश्ना का गुण पाया जाता है।** इसके अतिरिक्त इसमें मितव्ययिता का भी गुण

रहता है और यदि सरकार नोट-निर्गम सम्बन्धी उचित नियम बना दे तथा बैंकों के नोटों की परिवर्तनशीलता की सरकार की ओर से गारन्टी कर दी जाय, तब तो बैंकों द्वारा जारी किये गये नोटों की प्रतिष्ठा सरकारी नोटों की प्रतिष्ठा से किसी भी तरह से कम नहीं हो सकती है जिससे मुद्रा-प्रणाली में किसी भी प्रकार का जनता का अविश्वास नहीं रह सकता है। अतः बैंक द्वारा नोट निर्गम की व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त रहती है। यही कारण है कि आजकल समस्त देशों में नोट प्रकाशन का कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है और केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों व सरकार का प्रतिनिधित्व करता है।

एकाकी नोट-निर्गम प्रणाली अथवा अनेक नोट-निर्गम प्रणाली (Single Note-Issue System Versus Multiple Note-Issue System)

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा नोट-निर्गम का कार्य:—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नोट-निर्गम का कार्य सरकार द्वारा नहीं वरन् बैंक द्वारा किया जाना चाहिए। परन्तु इस निर्णय के बाद यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि नोट निर्गम का कार्य क्या किसी एक बैंक द्वारा किया जाना चाहिये या यह कार्य अनेक बैंकों द्वारा किया जाना चाहिये ? दूसरे शब्दों में, देश में नोट-निर्गम की क्या एकाकी-नोट-निर्गम प्रणाली (Single Note Issue System) होनी चाहिए या यह अनेक-नोट-निर्गम प्रणाली (Multiple Note Issue System) होनी चाहिये ? कुछ समय पहले नोट-निर्गम का कार्य एक ही देश में अनेकों बैंको द्वारा किया जाता था, जैसे—भारत में नोटों की निकासी का कार्य प्रेजीडेन्सी बैंको द्वारा किया जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था में अनेक दोष थे:—(i) समानता का अभाव :—विभिन्न बैंकों द्वारा संचालित मुद्राएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं जिससे इसमें समानता का अभाव था और इस कारण खरी व खोटी मुद्रा भी पहचानी नहीं जाती थी। (ii) बैंकों में प्रतिस्पर्धा :—किस बैंक की मुद्रा अपेक्षाकृत अधिक माँगी जाती है, इस सम्बन्ध में भी बैंकों में आपस में प्रतिस्पर्धा रहती थी और इस प्रकार की स्पर्धा जनहित की दृष्टि से हानिकारक रहती थी। (iii) मुद्रा-चलन-निधि में मितव्ययिता नहीं है :—प्रत्येक बैंक अपने पास अपने नोटों की मात्रा के अनुसार कुछ न कुछ पत्र-मुद्रा-चलन निधि रखता है जिससे नोट-निर्गम की इस रीति में निधि के रखने में मितव्ययिता नहीं होती है। (iv) नोट-निर्गम नीति में भिन्नता रहती है :—चूँकि नोटों की निकासी विभिन्न बैंकों द्वारा की जाती है, इसलिये मुद्रा-संचालन की नीति में बहुत भिन्नता पाई जाती है। इन दोषों के कारण ही आजकल नोट-निकासी की प्रवृत्ति एकाकी पद्धति की ओर है और अधिकांश देशों में नोट-निर्गम का कार्य वहाँ के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है। नोट-निर्गम की एकाकी प्रणाली (Single Note Issue System) के कई लाभ हैं:—(i) धातु-निधि में मितव्ययिता :—इस पद्धति में धातु-निधि केवल एक बैंक में ही केन्द्रित रहती है जिससे इसमें मितव्ययिता (Economy) रहती है तथा संकट के समय में इसका

अधिक सप्रभावी व लाभप्रद उपयोग हो सकता है। (ii) मुद्रा प्रणाली का नियन्त्रण व नियमन सुगम हो जाता है—चू कि पत्र-मुद्रा-चलन की नीति केवल एक केन्द्रीय बैंक द्वारा ही नियन्त्रित व नियमित रहती है, इसलिये इस प्रकार के चलन मे जनता का विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त बैंक का मुद्रा-नीति पर नियन्त्रण भी अधिक सप्रभाविक तथा व्यापक होता है और बैंको में नोट-निर्गम के सम्बन्ध मे आपस मे प्रतियोगिता भी नहीं होती है जिससे नोट-प्रकाशन सुरक्षा की सीमा का लाघने नही पाता है। (iii) पत्र मुद्रा में एकरूपता:—चू कि नोटों का सचालन एक केन्द्रीय सस्था द्वारा किया जाता है, इसलिये मुद्रा प्रणाली मे एकरूपता रहती है अर्थात् नोट की बनावट, साइज व मूल्य समान रहते हैं तथा इनमे लोच व गति (Velocity) भी समान होती है। इसके अतिरिक्त खरी व खोटी मुद्रा भी आसानी से पहचान ली जाती है।

उपर्युक्त अनेक नोट प्रकाशन प्रणाली के दोषो और एकाकी नोट-प्रकाशन प्रणाली के लाभो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि तुलना म एकाकी नोट-प्रकाशन प्रणाली (Single Note Issue System) ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। यदि यह बात भी ली जाय कि नोट प्रकाशन का एकाधिकार एक ही बैंक के पास रहना चाहिये, तब यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि यह एकाधिकार कौन से बैंक के पास होना चाहिए ? यह स्पष्ट है कि देश के अन्य अनेक बैंको की तुलना मे नोट-निकासी का कार्य वहाँ का केन्द्रीय बैंक ही अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है। इसीलिए भारत, इगलैंड, फ्रांस तथा जर्मनी आदि देशो मे नोट-प्रकाशन का एकाधिकार वहाँ के केन्द्रीय बैंको को सौंप दिया गया है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A & B Sc

1 What principles should govern the note issue in a country ? In this connection examine the provisions of the Reserve Bank of India Act (1956) 2 Expl in the different methods of note issue Which of these do you prefer ? Give reasons for your answer (195 O.S.) 3 Explain briefly the principles on which note issue should be regulat ed in a country (1955) 4 Write a note on Currency Principle VS Banking Principle of Note Issue (1954)

Agra University, B Com

१ पत्र मुद्रा के सचालन को नियन्त्रित करने के विभिन्न उपायों (Methods) का आलोचनात्मक परिचय दीजिये। उनमें से हमारे देश न किसका अपना है और क्यों ? (१६५६ S) २ नोट लिखिये—बहुमुखी पत्र-मुद्रा सचालन प्रणाली (Multiple Note Issue System) (१६५६) 3 Explain the principal methods of note issue and discuss their relative merits and demerits (1958 S) 4 Explain the difference between Currency Principle and Banking Principle of Note Issue (1957S, 1956S) 5. Explain the Various systems of note-issue Which of these systems has been adopted in India ? (1957, 1954) 6. Explain the difference between-fixed fiduciary and proportional

reserve system of note-issue. (1955) 7. Write a note on-Elasticity of Currency. (1955)

Rajputana University, B. Com

1. Write a note on—*Methods of Note Issue.* (1958)

Sagar University, B A.

१. किसी देश में नोट निर्गम पर नियन्त्रण रखने वाले सिद्धांतों का विवरण दीजिये। भारत की नोट निर्गम पद्धति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये। (१९५९)

Sagar University, B. Com.

१. सरकार द्वारा नोट-निर्गम और बैंक द्वारा नोट निर्गम के सापेक्षिक लाभों को बताइये। (१९५९) २. टिप्पणी लिखिये—निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली (१९५९) ३. नोटों के प्रकाशन को नियन्त्रित करने वाली विभिन्न पद्धतियों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए। आपकी सम्मति में उनमे से कौन सी पद्धति सबसे अधिक संतोषजनक है? (१९५८) ४. नोट लिखिये—अनुपातिक निक्षेप विधि (Proportional Reserve System) (१९५७).

Allahabad University, B. Com.

1. Discuss the merits and defects of different systems of regulating note issue. How is the note issue in this country controlled by the Reserve Bank of India? (1957) 2 Write a note on-Proportional System of note issue. (1958)

Gorakhpur University, B. Com.

1. *Point out clearly the comparative merits of the Fixed Fiduciary Issue System and Proportional Reserve System of note issue in light of the recent changes in the currency regulation of the country* (i. e. India), (Pt. II. B. Com)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ - (i) किसी देश में नोट निर्गम पर नियन्त्रण रखने वाले सिद्धान्तों का विवरण दीजिये। भारत की नोट निर्गम पद्धति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये (Sagar, B A. (१९५९), (ii) **What principles should govern the note-issue in a country? In this connection examine the provisions of the Reserve Bank of India Act. (Agra B. A 1956) (iii) Explain briefly the principles on which note-issue should be regulated in a country Agra B A 1955). (iv) Explain the difference between Currency principle and Banking Principle of Note Issue (Agra, B. Com 1957, 1956) (v) Which of them principles do you prefer for India and why? (Patna, B. A.** ***1949, Bihar B. A. 1954).***

संकेतः—उत्तर के प्रथम भाग में नोट निर्गम के दोनों सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये और उनकी विशेषताओं को बताइये—कि नोट छापने के दो सिद्धान्त माने जाते हैं बैंकिंग सिद्धान्त व करेन्सी सिद्धान्त), कि समय-समय पर नोट छापने की जो रीतियाँ एवं प्रणालियाँ अपनाई गई हैं, वे इन्हीं दोनों सिद्धान्तों में से किसी एक पर अथवा

मिश्रित रूप में दोनों पर आधारित रही हैं (जैसे-अनुपातिक सुरक्षित प्रणाली में दोनों सिद्धान्तों की विशेषतायें हैं, परन्तु यह रीति बैंकिंग सिद्धान्त की ओर अधिक झुकी हुई है, भारत के उदाहरण से स्पष्ट कीजिये) कि जैसे जैसे राष्ट्रों की आर्थिक मौद्रिक परिस्थितियाँ बदलती रहीं वैसे ही वैसे उस देश ने अपनी मुद्रा प्रणाली में भी परिवर्तन किया (भारत में सन् १९५६) में जो परिवर्तन हुआ उसका उदाहरण दीजिये) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में उक्त दोनो सिद्धान्तों के गुण दोषों को सविस्तार तुलनात्मक ढंग से लिखिए (तीन-चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि यह कहना कठिन है कि भारत के लिये अथवा किसी भी देश के लिये उक्त दोनों सिद्धान्तों में से कौन-सा सिद्धान्त श्रेष्ठ है क्योंकि दोनों में ही गुण हैं अथवा दोष हैं (सुरक्षा व लोच के गुणों के आधार पर इस तथ्य को पुनः स्पष्ट कीजिये)। इसलिए धातु की कमी के कारण केवल करेन्सी सिद्धान्त अपनाना कठिन है और सुरक्षा पर रोक व मुद्रा प्रसार की दृष्टि से केवल बैंकिंग सिद्धान्त को अपनाना वाञ्छनीय नहीं है पर जब कभी सरकार नोट निर्गम की ऐसी प्रणाली अपनाती है कि उसमें उक्त दोनों सिद्धान्तों का सम्मिश्रण होता है, तब यही व्यवस्था सर्वोत्तम मानी जाती है। जब न्यूनतम मात्रा में अथवा एक निश्चित प्रतिशत में सुरक्षित कोष रखने की व्यवस्था होती है, तब इस प्रणाली में सुरक्षा के साथ ही साथ लोच का गुण भी उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये नोट छापन की सब ही अच्छी पद्धतियों में उक्त दोनो सिद्धान्तों का मिश्रण किया गया है (एक-डेढ़ पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में भारत में नोट निर्गम की वर्तमान रीति का वर्णन कीजिये ("भारत में नोट निर्गम का इतिहास तथा वर्तमान—स्थिति" नामक अध्याय पढ़िये)। भारतीय वर्तमान रीति का वर्णन करते समय यह बताइये कि सन् १९५६ के संशोधन ने भारतीय रीति को किस प्रकार अधिक लोचपूर्ण बना दिया है, कि इसने सुरक्षा के अंश को कम कर दिया है और लोच के अंश को बढ़ा दिया है। इस तरह निष्कर्ष निकालिये कि अब प्रत्येक देश में चलन सिद्धान्त की अपेक्षा बैंकिंग सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता है और सब ही देशों की नोट निर्गम की रीति मूलतः बैंकिंग सिद्धान्त का अनुसरण करती है (तीन पृष्ठ)।

प्रश्न २—(i) पत्र मुद्रा के संचालन को नियंत्रित करने के विभिन्न उपायों का आलोचनात्मक परिचय दीजिये। उन में से हमारे देश ने किसको अपनाया है और क्यों (Agra, B. Com. १९५९, ५८) (ii) आप की सम्मति में उनमें से कौन सी पद्धति सबसे अधिक सन्तोषजनक है ? (Sagar, B. Com १९५८), (iii) नोट निर्गम की विभिन्न रीतियों की व्याख्या कीजिये। इनमें से कौन सी आपको अधिक पसन्द है ? कारण सहित उत्तर दीजिये। (Agra, B A १९५६) (iv) **Discuss the merits and defects of different systems of regulating note issue How is the note issue in this country controlled by the Reserve Bank of India ? (Allahabad, B Com 1957).**

संकेत—आरम्भ में परिचय स्वरूप एक पैरे में लिखिये कि समय-समय पर, विभिन्न देशों में, नोट निर्गम की भिन्न भिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं अथवा प्रत्येक राष्ट्र

ने समय समय पर अपनी आर्थिक व मौद्रिक परिस्थितियों के अनुसार नोट-निर्गम की रीति में संशोधन किये हैं (भारतीय उदाहरण सन् १९५६ का संशोधन), कि नोट-निर्गम की सर्वोत्तम् रीति कौन-सी है, इसका भी कोई निश्चित उत्तर देना कठिन है क्योंकि प्रत्येक देश की आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक व मौद्रिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और किसी राष्ट्र को इन्हीं के अनुकूल नोट-निर्गम की रीति को अपनाना पड़ता है, कि कोई एक रीति जो एक देश के लिये उपयुक्त होती है वही रीति दूसरे देश के लिए अनुपयुक्त हो सकती है, यह अवश्य है कि प्रत्येक रीति को नोट निर्गम के करेन्सी व बैंकिंग दोनो ही सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए और वास्तव में समय-समय पर प्रचलित तथा वर्तमान नोट-निर्गम की रीतियों ने ऐसा किया भी है अतः वही रीति सर्वश्रेष्ठ है जिसमें लोचकता, मितव्ययिता, परिवर्तनशीलता तथा चलनाधिक्य पर रोक आदि गुण पाये जाते हैं (दो पृष्ठ)। द्वितीय भाग में नोट-निर्गम की विभिन्न रीतियों को उनके गुण-दोषों सहित लिखिये जैसे—निश्चित असुरक्षित नोट-निर्गम प्रणाली, अधिकतम सुरक्षित नोट-चलन की रीति, अनुपातिक निधि प्रणाली, बाँड्स जमा पद्धति तथा न्यूनतम निधि प्रणाली। (पांच छः पृष्ठ)। तृतीय भाग में भारत में अपनाई गई न्यूनतम निधि प्रणाली का वर्णन कीजिए और बताइये कि सन् १९५६ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करके इस नई प्रणाली को क्यों अपनाया गया ? यह निष्कर्ष निकालिये कि वर्तमान आर्थिक व व्यापारिक परिस्थितियों में भारत में प्रचलित रीति ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें सुरक्षा के साथ ही साथ लोच का भी गुण है। ("भारत में नोट-निर्गम का इतिहास तथा इसकी वर्तमान स्थिति" नामक अध्याय पढ़िये) (दो-ढाई पृष्ठ)।

प्रश्न ३—सरकार द्वारा नोट-निर्गम और बैंक द्वारा नोट निर्गम के सापेक्षिक लाभों को बताइये (Sagar, B. Com. १९५१)।

संकेतः—उत्तर में सरकार द्वारा तथा बैंकों द्वारा नोट निर्गम के कार्यों के पक्ष में दलीलें दीजिये और अन्त में सुरक्षितता, लोचकता, चलनाधिक्य पर रोक, परिवर्तनशीलता आदि गुणों की दृष्टि से यह निष्कर्ष निकालिये कि सरकार की तुलना में केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट-निर्गम व नियन्त्रण की पद्धति अधिक उपयुक्त है इसीलिए समस्त देशों में नोट-निर्गम का कार्य वहाँ के केन्द्रीय बैंक कर रहे हैं। (पांच पृष्ठ)।

चुने प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रत्येक अध्याय के अन्त में विभिन्न परीक्षाओं में पूछे गये प्रश्न क्रमवार दिये गये हैं। विद्यार्थियों को विषय की तैयारी करते समय इन प्रश्नों को समय-समय पर कई बार पढ़ना चाहिये तथा यह विचार करना चाहिये कि अमुक प्रश्न के उत्तर में क्या लिखा जायगा ? ऐसे प्रश्न जो परीक्षा में कई बार आ चुके हैं या परीक्षोपयोगी हैं, उनके उत्तर के सकेत भी अध्याय के अन्त में दिये गये हैं। विद्यार्थियों को सकेत (HINTS) दिये गये प्रश्नों को बहुत ही ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये और इन्हें अपनी परीक्षा के लिए विशेष रूप से याद करना चाहिए।

उत्तर कैसे लिखें ?

प्रस्तुत पुस्तक के अन्त में एक नये परिशिष्ट में विद्यार्थियों को यह बताया गया है कि उन्हें अपने उत्तर किस प्रकार लिखने चाहियें। निन्यानवे फी सदी विद्यार्थी इस बात को जानते ही नहीं कि एक उच्च कोटि के उत्तर की क्या-क्या विशेषतायें हैं तथा उन्हें किस प्रश्न के उत्तर का प्रारम्भ किस प्रकार करना चाहिए ? इस परिशिष्ट में उन बातों की ओर सकेत किया गया है जिनको ग्रहण करके मुद्रा और बैंकिंग का बहुत ही साधारण ज्ञान रखने वाला विद्यार्थी भी परीक्षा में उच्च-स्तर के नम्बर ला सकता है। अत उच्च श्रेणी में पास होने के लिए इस परिशिष्ट का अध्ययन आवश्यक है।

"The Present day banker has three ancestors: merchants, money-lender and goldsmith. A modern bank is something of each of these. It is said that money has two properties. It is flat so that it can be piled up, and it is round so that it can circulate. The progeny of money-lender are concerned with flat money, piled up money, savings. The progeny of the goldsmith are concerned with round money; circulating money, cash."

—*Crowther.*



भाग १ : : खण्ड २

बैंकिंग

(Banking)

[अध्याय ८. साख और साख-पत्र, ९. बैंक्स—विकास, परिभाषा, कार्य तथा वर्गीकरण, १०. बैंक की विनियोग नीति तथा स्थिति विवरण, ११. बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध, १२. इकाई बैंकिंग या शाखा बैंकिंग, १३. केन्द्रीय बैंकिंग, १४. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, १५. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक।]

THESE QUOTATIONS CAN HELP YOU IN YOUR EXAMINATIONS

(A) *It (credit) is an exchange which is complete, after the expiry of a certain period of time—after payment* — Gide

The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money goods services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation — Thomas

(B) *Bank (Commercial Bank) is an establishment which makes to individual such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use* — Kinlay

A banker is one who in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it — Hart

(C) *A Central Bank has been described as the people's agency to govern their supply of currency and credit free from any undue influence of politics or profits* — L C Jain

An ordinary bank is run on business lines with a view of earning profits and a central bank on the other hand is primarily meant to shoulder the responsibility of safeguarding the financial and economic stability of the country it acts only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary consideration — De-Kock

Clearing House is a general organisation of banks of a given place having of its main purpose the off setting of cross obligations in the forms of cheques — Taussig

DO NOT FORGET IT

1 It is the quality and not the quantity that counts with the Examiner Hence be clear and to the point Do not be vague and irrelevant

2 How to write is more important than what to write in order to secure more marks (Read Appendix)

3 Good handwriting is an asset these days

अध्याय ८

साख और साख-पत्र

(Credit and Credit Instruments)

साख का अर्थ

साख किसे कहते हैं ? (What is Credit ?):—हिन्दी शब्द 'साख' का अंग्रेजी मे पर्यायवाची शब्द 'क्रेडिट' (Credit) है जिसकी उत्पत्ति 'Credo' अर्थात् 'विश्वास' शब्द से हुई है। चूंकि "Credo" शब्द का अर्थ "मैं विश्वास करता हूँ" (I Believe) है, इसलिये 'साख' शब्द का अर्थ 'विश्वास' या 'यकीन' या 'भरोसा' (Trust or Confidence) होता है। अंग्रेजी भाषा में Credit शब्द का उपयोग कितने ही अर्थों में किया जाता है जिनमे से एक है व्यापार की ख्याति (Good will of the Business)। परन्तु अर्थशास्त्र में 'साख' शब्द का उपयोग संकुचित अर्थ (Narrow point of view) में होता है अर्थात् अर्थशास्त्र में इस शब्द का सम्बन्ध सदा ही 'उधार लेने-देने' या 'स्थगित भुगतान' से होता है। अर्थशास्त्र मे 'साख' शब्द की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है—

(१) 'साख किसी भी व्यक्ति की वह शक्ति है जिसके प्रलोभन से कोई अन्य व्यक्ति अपनी आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) का उपयोग या धन का उपयोग करने की अनुमति उस व्यक्ति को देता है और वह व्यक्ति उन आर्थिक वस्तुओं को इनके देने वाले को भविष्य में किसी निश्चित अवधि में लौटाने की प्रतिज्ञा करता है।' इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि साख किसी भी व्यक्ति की वह शक्ति या परिस्थिति है जिसके बल पर वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से धन या वस्तुएं किसी अवधि के लिए ले लेता है। अतः मनुष्य की इस शक्ति एवं परिस्थिति को ही साख (Credit) कहते हैं।

(२) जीड (Gide) के शब्दों में "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जीड (Gide) ने समय पर विशेष जोर दिया है। परन्तु प्रो० टॉमस (Thomas) उस विश्वास पर जोर देते हैं जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य मे करके अपनी कुछ वस्तुएं दूसरे को देता है, फिर चाहे ये वस्तुएं मुद्रा, माल, सेवा या साख ही क्यों न हों।[2]

1—"It is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time—after payment" —Gide.

2—"The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that 'Something' consists of money, goods, services or even *Credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name* and reputation" —Dr, S. E. Thomas; Elements of Economics,

साख की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि साख इस प्रकार का विनिमय-कार्य होता है जिसमे ऋणदाता (Creditor) ऋणी (Debtor) को वर्तमान समय मे कुछ वस्तुयें या रुपये या सेवाएँ प्रदान करता है और विश्वास करता है कि ऋणी (Debtor) कुछ समय पश्चात् उसे उतने ही मूल्य के रुपये ब्याज सहित वापिस कर देगा। इस तरह ऋणी वर्तमान समय म रुपये वस्तुएँ व सेवायें प्राप्त करता है और उतने ही मूल्य की मुद्रा ब्याज सहित कुछ अवधि के बाद, लौटाने का वचन देता है।

साख के आधार

साख के आधार (Basis of Credit) —किसी व्यक्ति की साख किन किन बातो पर निर्भर होती है इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों म बहुत मत भेद है। इन्हीं बातों को कभी कभी साख के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Credit) भी कहते हैं। अक्सर साख के कुछ मुख्य आधार माने जाते हैं जो इस प्रकार हैं— (i) विश्वास (Confidence) —कुछ लेखकों का यह विचार है कि विश्वास ही साख का एकमात्र आधार है। यदि किसी मनुष्य को रुपया उधार लेने वाले मनुष्य के बारे म यह विश्वास नहीं है कि वह उसके ऋण को लौटा देगा तब वह ऐसे व्यक्ति को रुपया उधार नहीं देगा (मित्रता या पैतृक सम्बन्ध मे यह बात लागू नही होती है)। अत ऋणी मे विश्वास साख का एक महत्वपूर्ण आधार है। (ii) सामर्थ्य (Capacity) —ऋणी में विश्वास का आधार उसकी व्यवसाय को सफल बनाने की सामर्थ्य या क्षमता (Efficiency) होती है। इस तरह किसी व्यक्ति की साख पर रुपया या वस्तुयें तब ही मिलती हैं जबकि ऋणदाता का उसकी भुगतान करने की योग्यता में विश्वास होता है या जब कि ऋणदाता को ऋणी की आर्थिक दशा में विश्वास होता है। ऋणी की शिक्षा व उसका अनुभव उसकी सामर्थ्य को प्रभावित करता है। यह स्वाभाविक ही है कि एक शिक्षित योग्य तथा अनुभवी ऋणी मे ऋण की अदायगी की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता होती है जिससे उसकी साख भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। (iii) चरित्र (Character) —ऋणी का चरित्र भी उसकी साख का एक महत्व पूर्ण आधार होता है। यदि ऋणी अपनी सच्चाई के लिए प्रतिष्ठित है तथा उसने भूतकाल में सदा ही ठीक ठीक समय पर वायदे के अनुसार ऋण का भुगतान किया है और उसका सामान्य चरित्र निष्कलंकित है तब ऐसे व्यक्ति की साख बहुत ज्यादा

> **साख के मुख्य आधार हैं—**
>
> १ विश्वास।
> २ सामर्थ्य।
> ३ चरित्र।
> ४ ऋणी की पूँजी और सम्पत्ति।
> ५ ऋण की रकम।
> ६ साख की समय अवधि।

होती है। इस तरह मनुष्य की सच्चाई, ईमानदारी व चरित्रता का उसकी साख पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है। (iv) ऋणी की पूंजी और सम्पत्ति (Capital and Wealth):—बड़ी मात्रा में ऋणों के लिये बैंकों पर निर्भर रहना पड़ता है। बैंक से ऋण प्राप्त करने या साख-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उधार लेने वाले की पूंजी या उसके आर्थिक साधन एवं सम्पत्ति बहुत महत्व के होते हैं क्योंकि रुपया उधार देने से पहले बैंक यह अच्छी प्रकार से देख लेता है कि ऋणी के पास उपयुक्त मात्रा में प्रतिभूतियाँ (Securities) हैं या नहीं। ऋणी के पास जितनी अधिक पूंजी होती है, उसकी साख उतनी ही अधिक होती है जिससे वह उतना ही अधिक ऋण लेने में सफल हो जाता है। ऋणी की पूंजी अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है। उसकी पूंजी अथवा सम्पत्ति में जितनी अधिक तरलता (Liquidity) होती है अर्थात् वह बाजार में जितनी आसानी से बिकने योग्य होती है या व्यापारी इसे जितनी जल्दी से नकद में परिवर्तित कर सकता है (जैसे स्टॉक, बॉण्ड्स आदि) ऋणी की साख उतनी ही अधिक मानी जाती है इसीलिए जब ऋणी की पूंजी व सम्पत्ति अचल होती है या वह अक्रय होती है, तब ऋणदाता ऐसे व्यक्ति को ऋण देने में संकोच करता है। परन्तु साख में पूंजी या सम्पत्ति के रूप में प्रतिभूति या जमानत (Security) का होना अत्यावश्यक नहीं होता है। कभी-कभी ऋण वैयक्तिक प्रतिभूति (Personal Security) या वैयक्तिक साख (Personal Credit) पर भी दे दिया जाता है। (v) ऋण की रकमः—साख इस बात पर भी निर्भर होती है कि साख-सौदे (Credit Transactions) में कितनी रकम का आदान-प्रदान होता है। अनिश्चित मात्रा में ऋण का कोई अर्थ नहीं होता है। अतः ऋण की रकम का साख पर बहुत प्रभाव पड़ता है। साख की समय-अवधिः—साख-सौदा तब ही माना जाता है जब वर्तमान आर्थिक वस्तुओं का भुगतान एक निश्चित अवधि के बाद किया जाता है। अतः ऋण का कितने समय पश्चात् भुगतान होगा, इसका भी साख पर प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि जबकि किसी सौदे (Transaction) में उक्त तत्व पाये जाते हैं, तब ही वह सौदा साख-सौदा (Credit Transaction) कहलाता है।

साख के भेद

साख के भेद (Types of Credit).—साख के वर्गीकरण की कई रीतियाँ हैं:—ऋणी की स्थिति के अनुसार वर्गीकरण, ऋणदाता की स्थिति के अनुसार वर्गीकरण, ऋण की समय-अवधि के अनुसार वर्गीकरण तथा ऋण के उपयोग के अनुसार वर्गीकरण। वास्तविक वर्गीकरण वही है जो कि साख के उपयोग के आधार पर किया जाता है। निम्नलिखित में साख के कुछ मुख्य भेद दिये गये हैं:—(i) उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादनकर्ताओं की साख (Consumer's Credit and Producer's Credit):—साख का वर्गीकरण उपभोग्य साख (Consumption Credit) तथा उत्पादकीय-साख (Production Credit) में किया जाता है। उपभोग्य साख में क्रय-शक्ति अथवा वस्तुओं के ऋण उपभोक्ताओं को उनके उपभोग के

कार्यों के लिए दिए जाते हैं। इस प्रकार के ऋण से ऋणी कोई आय प्राप्त नहीं करता है जिसके कारण ऋण के मूलधन (Principal) तथा ब्याज के भुगतान की व्यवस्था उसे अपनी अन्य आय में से करनी पड़ती है क्योंकि इनका भुगतान वह लिए हुए ऋण से नहीं कर सकता है। उसने जो भी ऋण लिया है उसका उपयोग वह केवल अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति में करता है। दूकानदारों द्वारा उपभोक्ताओं को दिया गया उधार [क्रय विक्रय पद्धति (Hire-Purchase System) भी इसके अन्तर्गत है], साहूकारों अथवा बैंकों द्वारा उपभोग-कार्यों के लिए दिये गये ऋण जिनकी वापिसी छोटी छोटी किश्तों में की जाती है आदि, उपभोग्य साख के उदाहरण हैं। उपभोग्य-साख के बिल्कुल विपरीत उत्पादकीय-साख (Production Credit) है। इस प्रकार की साख में उन सब ऋणों को सम्मिलित किया जाता है जो व्यक्तियों, कम्पनियों तथा फर्मों द्वारा उत्पादन कार्यों के लिए प्राप्त किये जाते हैं। ऋणी को इस प्रकार के ऋण से आय प्राप्त होती है और वह मूलधन तथा ऋण के ब्याज का भुगतान इस आय में से ही दिया करता है। वर्तमान आर्थिक जगत में इस प्रकार के ऋणों का बहुत महत्व है। (ii) व्यापारिक साख (Commercial Credit) — इस प्रकार की साख को वाणिज्य-साख भी कहते हैं। प्रत्येक व्यवसायी को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता हुआ करती है—दीर्घकालीन और अल्पकालीन। व्यापारिक-साख का सम्बन्ध अल्पकालीन ऋण से होता है अर्थात् इसका सम्बन्ध चालू व्यापारिक कार्यों से होता है। प्रत्येक व्यवसायी को कच्ची सामग्री खरीदने, श्रमिकों को मजदूरी देने, विज्ञापन करने एवं तैयार माल के बेचने तथा सरकारी टैक्स आदि देने के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ा करती है। ऐसे ऋण प्रायः एक महीने से छः महीने के लिए होते हैं क्योंकि इसके बाद तो उत्पादक अपने माल को बेचकर धन प्राप्त कर लिया करता है। इन ऋणों का भुगतान व्यवसाय की आय से किया जाता है तथा इनका आधार ऐसी तरल सम्पत्ति (कच्ची सामग्री तथा तैयार माल) होती है जिसे हर समय आसानी से बेचकर ऋण का भुगतान किया जा सकता है। (iii) औद्योगिक-साख (Industrial Credit) —उद्योगपतियों को भूमि, मकान, मशीन व औजार आदि खरीदने के लिए दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता हुआ करती है। यह ऋण तब ही लिया जाता है जबकि कारखाने वालों के पास उक्त कार्यों के लिए अपर्याप्त पूंजी होती है। इस प्रकार के ऋणों का भुगतान भी व्यवसाय की आय से ही होना है। यदि व्यापार में उद्योगपति को सफलता मिल जाती है और वस्तुओं को बेचकर उसे पर्याप्त आय प्राप्त हो जाती है जिसका कुछ हिस्सा वह संचित भी कर लेता है, तब

> **साख के मुख्य भेद हैं:—**
>
> १ उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादनकर्ताओं की साख।
> २ व्यापारिक साख।
> ३ औद्योगिक साख।
> ४ बैंक साख।
> ५ व्यक्तिगत साख और सार्वजनिक साख।

तो ऋणी अपने ऋण का भुगतान समय से पूर्व करके ही अपने ऋण के भार से मुक्त होने का प्रयत्न किया करता है। चूंकि विनियोग (Investment) कार्यों के लिए ऋण बहुत लम्बी अवधि के लिए लिये जाते हैं, इसलिये इन्हें एक विशेष प्रकार के साख-पत्र जिन्हें प्राधि-बांड (Mortgage Bonds) कहते हैं, इनके उपयोग से लिया जाता है। ये बांड क्या है? जब ऋणी किसी कागज पर यह इकरारनामा लिख देता है कि वह ऋण की अदायगी वर्णित शर्तों पर करेगा तथा अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग जमानत (Security) के बतौर ऋणदाता के पास गिरवी (Mortgage) रख देता है और इस सम्पत्ति का अधिकार भी कुछ शर्तों द्वारा ऋणदाता को दे देता है, तब इस प्रकार के पत्र को प्राधि-बांड (Mortgage Bond) कहते हैं। यह स्मरण रहे कि यदि ऋणी प्राधि-बांड में वर्णित शर्तों को ठीक-ठीक तरह से पूरा कर देता है, तब अपनी तमाम सम्पत्ति पर उसका स्वतन्त्र अधिकार रहता है वरना उसका उक्त सम्पत्ति पर से स्वामित्व का अधिकार समाप्त हो जाता है। प्राधि-बांड (Mortgage Bond) के आधार पर लिया गया ऋण कभी-कभी विनियोग-साख (Investment Credit) कहलाता है। (iv) बैंक-साख (Bank Credit):—बैंक-साख के अन्तर्गत वे सब साख-पत्र (Credit Instruments) आ जाते हैं जिन्हें बैंक को जारी करने का अधिकार होता है। इस प्रकार की साख में नोट, बैंक के डिबेंचर्स (Debentures), बांड्स (Bonds), रोक-साख पत्र (Letters of Credit), मांग जमा (Demand Deposits), समय जमा (Time Deposits) तथा बैंकों की स्वीकृतियाँ (Banker's Acceptances) सम्मिलित हैं। बैंक-साख के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचलित नोट, उनकी जमा दायित्व (Deposit Liabilities) भी हैं। अतः प्रत्येक बैंक अपनी साख उधार देता है और इसे ही हम बैंक-साख कहते हैं। (v) व्यक्तिगत साख और सार्वजनिक साख (Private Credit and Public Credit):—सरकार के अलावा तमाम व्यक्तियों व संस्थाओं द्वारा लिए गए ऋण व्यक्तिगत-साख मे आते हैं। इस तरह व्यक्तियों तथा संस्थाओं की साख को व्यक्तिगत-साख कहते हैं। इसके अन्तर्गत बैंक-साख, उपभोग्य-साख, व्यापारिक-साख आदि हैं। सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है या जब सरकार वस्तुओ व सेवाओ को इस वायदे पर लेती है कि इनके मूल्य का भुगतान भविष्य मे कर दिया जायगा तब इन्हें सरकारी साख के अन्तर्गत रखते हैं।

साख की मात्रा को प्रभावित करने वाली बातें (Factors influencing the amount of Credit in a Country):— वर्तमान आर्थिक जगत मे देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए साख की बहुत आवश्यकता होती है। जिस देश मे साख-व्यवस्था जितनी अधिक विशाल व विस्तृत होती है आर्थिक दृष्टि से उस देश मे उतना ही अधिक विकास हो जाने की सम्भावना रहती है क्योकि आज के युग मे औद्योगिक-संगठन इस प्रकार का हो गया है कि साख इसके लिए जान है। किसी देश मे साख का विस्तार जिन बातो पर निर्भर रहता है उनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार है:— (i) लाभ की मात्रा (Rate of Return):—विनियोगों (Investments) पर लाभ

की मात्रा (या दर) जितनी अधिक होती है तथा विनियोग जितने अधिक सुरक्षित होते है, साख का विस्तार भी उतना ही अधिक हो जाता है क्योंकि इस दशा मे ऋणदाता को ऋण देने की तत्परता भी अधिक होती है। (ii) व्यापार की दशायें (Trade Conditions) —साख की मात्रा पर व्यापार की दशाओ का भी बहुत प्रभाव पडता है। तेजी व व्यापारिक समृद्धि के काल मे (Boom Period) व्यापारी बहुत बडी मात्रा मे रुपया उधार लेकर व्यवसाय में लगाते है क्योंकि इस काल मे उन्हे लाभ काफी हो जाता है। ऐसे समय मे व्यापार व व्यवसायो मे अत्यधिक विस्तार हो जाने से पूँजी की बहुत आवश्यकता पडा करती है जिससे ब्याज की दर में भी वृद्धि हो जाती है। अधिक लाभ कमाने के लालच से पूँजीपति व बैंक्स आदि सस्थायें साख का काफी प्रसार कर दिया करती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि उत्पादको को लाभ होने से वे उनका रुपया अवश्य ही लौटा देंगे। परन्तु मन्दी काल (Depression Period) मे उक्त के बिल्कुल विपरीत प्रभाव पडा करता है। व्यापार सुस्त पड जाता है, लाभ की मात्रा कम हो जाती है, व्यापार जोखिम मे पडने लगते हैं, ब्याज की दर कम हो जाती है आदि। इन सब कारणों से पूजीपति व बैंक्स बहुत कम मात्रा मे पूजी उधार दिया करते हैं। (iii) राजनैतिक दशायें (Political Conditions)—देश मे राजनैतिक स्थिरता आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न करती हैं जिससे उत्पत्ति कार्यों के लिए ऋण की माग बढ़ जाती है और साख का विस्तार हो जाता है। इसके विपरीत राजनैतिक अस्थिरता देश मे अनिश्चित वातावरण उत्पन्न कर देती है जिससे उत्पत्ति-कार्य हतोत्साहित होते हैं और कोई भी व्यक्ति अपनी पूँजी नये-नये कार्यों मे नही लगाता है। इस तरह जिस देश में स्थायी सरकार नही होती, मन्त्रियो द्वारा डरा देने वाले भाषण होते है, समाज मे अशान्ति होती है, वहां व्यापारियों द्वारा नये-नये व्यवसाय नही खोले जाते तथा पुराने व्यवसायो मे भी अधिक पूँजी का विनियोग नही किया जाता है जिससे साख का प्रसार नही होने पाता है। अत: शान्ति व राजनैतिक स्थिरता के समय म साख का बहुत विस्तार हुआ करता है। (iv) सट्टे के कार्य (Speculative Activities) —सटोरियो (Speculators) की क्रियाओ का भी साख की मात्रा पर काफी प्रभाव पडा करता है। जब सटोरिये भविष्य मे मूल्यो मे वृद्धि की आशा करते हैं, तब सट्टे बाजार मे बहुत चहल पहल हो जाती है, व्यापारियो द्वारा नये-नये सौदे खरीदे जाते हैं। इन कार्यों के लिए ऋण की माग बढ जाती है, जिससे साख का विस्तार हो जाता है। इसके विपरीत जब सट्टे बाजार मे मन्दी होती है, तब सटोरियो द्वारा ऋण की माग कम हो जाने के कारण साख का सकुचन हो जाता है। (v) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति (Monetary Policy of the Central Government) — यदि केन्द्रीय-बैंक की सस्ती-मुद्रा-नीति है अर्थात् वह बैंक दर (Bank Rate) कम करके कम ब्याज की दर पर ऋण दिलाना चाहता है ताकि देश में अधिक आर्थिक विकास हो सके, तब देश मे साख का प्रसार होगा। इसके विपरीत यदि बैंक दर अधिक है या केन्द्रीय बैंक की नीति ही इस प्रकार की है कि व्यापारियो को कम ब्याज की दर पर रुपया उधार नहीं मिल सकता है, तब देश मे साख का सकुचन होगा। अत

सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का देश में साख की मात्रा पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा करता है। (vi) **बैंकिंग-प्रणाली का विकास** (Development of the Banking System).—वर्तमान आर्थिक समाज में अधिकांश साख का निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि जिस समाज में बैंकिंग-प्रणाली जितनी अधिक विकसित होती है, वहाँ पर साख का विस्तार भी उतना ही अधिक हो जाने की सम्भावना रहती है। (vii) **देश की चलन व्यवस्था** (Currency, System) **तथा साख-मुद्रा के उपयोग की प्रथा एवं आदतः**—इनका साख की मात्रा पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि किसी देश में जितना अधिक राजनैतिक, औद्योगिक, व्यापारिक व आर्थिक विकास होता है उस देश में साख का प्रसार भी उतना ही अधिक हो जाता है।

> **साख की मात्रा को प्रभावित करने वाली मुख्य बातें हैं:—**
> १. लाभ की मात्रा।
> २. व्यापार की दशायें।
> ३. राजनैतिक दशायें।
> ४. सट्टे के कार्य।
> ५. केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति।
> ६. बैंकिंग-प्रणाली का विकास।
> ७. देश की चलन-व्यवस्था तथा साख-मुद्रा के उपयोग की प्रथा एवं आदत।

साख और पूंजी (Credit and Capital)

क्या साख पूंजी है? (Is Credit Capital?):—इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में काफी वाद-विवाद है कि "क्या साख पूंजी है"? तथा "क्या साख भूमि व पूंजी की तरह एक पृथक् उत्पत्ति का साधन है"? एक ओर तो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मैकलिओड (Macleod) हैं जिन्होंने कहा है कि "मुद्रा और साख दोनों ही पूंजी हैं। व्यापारिक साख एक प्रकार की व्यापारिक पूंजी है।"* मैकलिओड के इस प्रकार के मत का एक ही कारण है। आधुनिक आर्थिक जगत में उत्पादन से उपभोग तक की सब क्रियायें साख पर ही अवलम्बित हैं। साख-पत्रों (चैक और बिल-ऑफ एक्सचेंज) का द्रव्य के समान प्रयोग होता है। प्रभाव में ये पत्र पूंजी के समान कार्य करते प्रतीत होते हैं अर्थात् इनका उपयोग और अधिक मात्रा में उत्पत्ति करने में किया जाता है। इसलिए मैकलिओड जैसे अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि "साख ही पूंजी है।" परन्तु मैकलिओड (Macleod) के उक्त विचार भ्रमपूर्ण हैं। इसके तीन मुख्य कारण हैं.—(क) साख न तो पूंजी है और न यह पूंजी का निर्माण ही करती है जिसके कारण यह कहना कि पूंजी साख है गलत है। साख क्या है? साख ऋणी की वह शक्ति या परिस्थिति है जिसके आधार पर वह ऋणदाता से रुपया, वस्तुएं या सेवाएं इस वायदे पर प्राप्त कर लेता है कि एक निश्चित अवधि के बाद वह इनके मूल्य के

*"Money and Credit are both Capital, Mercantile Credit is Mercantile Capital"— Macleod Elements of Banking Chap. IV.

बराबर रकम (ब्याज सहित) का भुगतान कर देगा। इस तरह 'साख' धन या वस्तुओं को एक ऐसे मनुष्य से जो इनका उचित उपयोग नहीं कर रहा है, एक ऐसे मनुष्य के पास हस्तान्तरित कर देती है जो इनका उचित उपयोग कर सकता है। मानलो, ऋणी को साख द्वारा धन प्राप्त नही होता है, तब ऋणी की 'साख' उसको धनोत्पत्ति में कुछ भी सहायता नही दे सकती है। इसका यह अर्थ हुआ कि यद्यपि ऋणी के पास 'साख' है परन्तु उत्पादन के अन्य साधनो की तरह 'साख' उसे उत्पादन करने मे सहायक नहीं होती है अर्थात् ऋणी की 'साख' उसे वस्तुओं का निर्माण करने में मदद नही करती है। इस कारण यह साराश निकाला जाता है कि साख न तो पूँजी है और न यह उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन ही है। तब साख है क्या ? यह एक साधन (Means) है और साध्य (End) नही है अर्थात् मनुष्य इसके द्वारा केवल उत्पत्ति के अन्य साधन प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दो मे, साख अन्य व्यक्ति की पूँजी का उपयोग करने का अधिकार है परन्तु यह स्वय पूँजी नही है। इसे एक उदाहरण से इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं—मानलो, राम ने श्याम को १०० रु० उधार दिये हैं। राम १०० रु० का मालिक है यद्यपि उसकी यह रकम श्याम के पास है। समाज मे धन की कुल मात्रा केवल १०० रु० है, यह दुगुनी तिगुनी नही हो जाती है। साख द्वारा राम से १०० रु० का श्याम के पास हस्तान्तरण हो गया है, साख इस हस्तान्तरण का केवल एक साधन-मात्र है। परन्तु यदि श्याम को राम से १०० रु० प्राप्त नही हो, तब श्याम की साख उसको उत्पादन मे सहायता नही कर सकती है। इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि साख उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन नही है जिससे यह धनोत्पत्ति नही कर सकती है और इसीलिये हम इसे पूँजी नहीं कह सकते हैं। श्री जे० एस० मिल (J S Mill) ने उक्त मत का समर्थन किया है और कहा है कि, "उधार देने से नई पूँजी का निर्माण नहीं होता है ऐसा करने पर केवल उस पूँजी का जो पहले से ही ऋणदाता के पास थी ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो केवल दूसरे की पूँजी का उपयोग करने का अधिकार है, इससे उत्पत्ति के साधनों मे वृद्धि नहीं की जा सकती है परन्तु इनका केवल हस्तान्तरण ही हो सकता है।[1] श्री रिकार्डो (Ricardo) ने भी उक्त मत को इन शब्दों मे प्रमाणित किया है—"साख पूँजी का निर्माण नहीं करती उससे केवल यह निश्चित होता है कि पूँजी का उपयोग किसके द्वारा होगा।[2] अत मिल व रिकार्डो के विचारो स यह स्पष्ट है कि साख ही पूँजी है या साख से पूँजी का निर्माण होता है, यह भ्रमात्मक व अशुद्ध धारणा है। (ख) साख एक उत्पादन विधि मात्र है —जिस प्रकार विनिमय व श्रम विभाजन केवल उत्पादन की रीतियाँ हैं और इनके द्वारा वस्तुओ म उपयोगिता वृद्धि की जाती है, ठीक इसी प्रकार साख भी उत्पादन की एक रीति

1—'New Capital is not created by the mere fact of lending only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower Credit being only the permission to use the Capital of another person The means of production cannot be increased by it but only be transferred —J S Mill Principles of Political Economy

2— Credit does not create Capital it only determines by whom that Capital should be employed '—Ricardo Principles of Political Economy and Taxation

मात्र है और इसके द्वारा भी वस्तुओं मे उपयोगिता की वृद्धि की जाती है। अतः जिस प्रकार हम श्रम-विभाजन तथा विनिमय-क्रियाओं को पूँजी एवं उत्पत्ति के पृथक् साधन नही कहते हैं, ठीक इसी प्रकार हम साख को भी पूँजी एव उत्पत्ति का एक पृथक् साधन नहीं कह सकते हैं। (ग) साख-पत्र (Credit Instruments) पूँजी का केवल प्रतिनिधित्व करते हैं, ये उस पूँजी का जिसका ये प्रतिनिधित्व करते हैं एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास केवल हस्तान्तरण करते हैं। इस तरह साख-पत्र धन के हस्तान्तरण का केवल एक साधन है। परन्तु इससे साख स्वयं पूँजी नही हो जाती है यद्यपि धन में उत्पादकता व गतिशीलता इस हस्तान्तरण द्वारा ही हुई है। अतः उक्तलिखित कारणों से आज इस मत के अनेकानेक समर्थक हो गये हैं कि "साख न तो पूँजी है और न यह उत्पत्ति का एक पृथक् साधन ही है।"

साख और मूल्य (Credit and Prices)

साख और मूल्य का सम्बन्ध (Relationship of Credit and Price):—अर्थशास्त्रियों में इस सम्बन्ध मे भी बड़ा वाद-विवाद है कि साख और मूल्यों मे आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। एक तरफ मिल (Mill) तथा उसके समर्थकों का मत है कि साख के प्रसार व सकुचन का वस्तुओ और सेवाओं के मूल्य पर ठीक उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार मुद्रा के प्रसार व संकुचन का वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यो पर पड़ता है। इसका एक ही कारण बताया जाता है। साख-पत्रों में मुद्रा की तरह क्रय-शक्ति होती है अर्थात् मुद्रा की तरह साख-पत्रों द्वारा भी वस्तुओ और सेवाओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। इसीलिये किसी समय पर मुद्रा की कुल मात्रा में (क) चलन की वास्तविक मात्रा तथा (ख) साख की मात्रा, इन दोनों का समावेश होता है। यही कारण है कि आजकल सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण (Credit Control) व साख-नियमन (Credit Regulation) की एक सुनिश्चित नीति अपनाई जाती है ताकि देश मे आवश्यकता से अधिक मुद्रा का चलन (साख-प्रसार द्वारा) नही हो सके क्योंकि ऐसा हो जाने पर देश की आर्थिक दशा अस्त-व्यस्त हो जाया करती है। परन्तु मिल (Mill) के विचारों के बिल्कुल विपरीत प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री वॉकर (Walker) तथा लौगलिन (Laughlin) के विचार हैं। इनका मत है कि साख का वस्तुओ और सेवाओं के मूल्य पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता है। इसका कारण यह बताया गया है कि यद्यपि साख-पत्रो मे क्रय-शक्ति तो होती है परन्तु इनमे निस्तारण-शक्ति (Liquidation Power) नहीं होती है। दूसरे शब्दों में, साख-मुद्रा द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है उसमे एक क्रिया का दूसरी क्रिया से सन्तुलन हो जाता है जिससे साख-पत्रो द्वारा लेन-देन का मूल्यो पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता है।

परन्तु सत्य उक्त दोनो अन्तिम मतो (Extreme Views) के बीच मे ही है। स्वर्गीय जे० एम० कीन्स (J. M. Keynes) के अनुसार साख सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव तो डालता है, परन्तु इतना नहीं जितना की चलन में करेन्सी कर पड़ता है। एक तरफ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनकी प्रवृत्ति मूल्य मे वृद्धि करना है और दूसरी तरफ ऐसी

शक्तियाँ हैं जिनकी प्रवृत्ति मूल्यों में कमी करना है। यह अवश्य है कि साख-पत्रों को देकर यदि ऋणी पूर्णतः भुगतान के दायित्व से मुक्त हो जाते तब साख-पत्रों का मूल्यों पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ता जिस प्रकार कि चलन (Currency) का पड़ता है, परन्तु साख पत्रों में 'चलन' जैसा विश्वास व निस्तारण-शक्ति नहीं होती है। अन्ततः इन सभी साख पत्रों का भुगतान नकद में करना पड़ता है। इस प्रकार का भुगतान करने के लिए सभी बैंकों को अपने पास नकद कोष (Cash Reserves) रखने पड़ते हैं। बैंकों के पास जितना-जितना नकद-कोष बढ़ता जाता है, वे शनैः शनैः उतनी ही अधिक मात्रा में साख-मुद्रा का प्रसार कर देते हैं। जब बैंक अपने पास नकद-कोष रखते हैं तब स्वाभाविक ही है कि वास्तविक चलन की मात्रा इन नकद-कोषों की मात्रा के बराबर कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि साख मुद्रा का निर्माण होते समय समाज में दो प्रवृत्तियाँ साथ ही साथ कार्यशील हो जाती हैं। एक तरफ साख-पत्रों की मात्रा के बढ़ने से मूल्यों में वृद्धि की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है, परन्तु यह वृद्धि उसी अनुपात में नहीं होती जिस अनुपात में साख-पत्रों का निर्माण किया गया है और दूसरी तरफ मूल्यों में कमी हो जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है। क्योंकि इन पत्रों के निस्तारण के लिये बैंकों को अपने पास नकद-कोष रखना पड़ता है जिसकी प्रवृत्ति मूल्यों को कम करने की होती है। इस तरह साख-पत्रों का निर्माण होना मूल्यों में वृद्धि (स्फीतिक प्रवृत्ति) और नकद-कोषों का रक्खा जाना मूल्यों में कमी हो जाने की प्रवृत्ति (विस्फीतिक प्रवृत्ति) स्थापित करते हैं। चूंकि नकद-कोषों की तुलना में साख-पत्रों की मात्रा कई गुनी अधिक होती है इसलिए अन्ततः साख पत्रों की प्रवृत्ति वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि करने की ही पाई जाती है। अतः वॉकर (Walker) का यह मत कि साख का मूल्यों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, भ्रमात्मक व गलत है। समाज में जैसे-जैसे साख का प्रसार होता है, मूल्य भी वैसे ही वैसे अधिक हो जाते हैं।

साख के कार्य व इसकी उपयोगिता (Functions and Utility of Credit)—वर्तमान युग में साख का इतना अधिक महत्व है कि इसे हम औद्योगिक-प्रणाली का हृदय तथा उद्योग व व्यापार का रक्त कहते हैं। पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में तो इसका महत्व और भी अधिक है। साख के कार्यों के आधार पर इससे जो लाभ बताये जाते हैं, उनमें से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(i) बहुमूल्य-धातु की बचत—साख द्वारा साख-पत्रों का निर्माण होता है। साख-पत्र बहुमूल्य धातु तथा धातु-मुद्रा के प्रयोग में बचत करते हैं। चूंकि व्यापारी वर्ग भुगतान का कार्य प्रायः साख-पत्रों द्वारा ही करते हैं, इसलिए कागजी नोटों की भी कम आवश्यकता पड़ा करती है। (ii) विनिमय माध्यम में वृद्धि हो जाती है—साख-पत्रों का विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग होता है जिससे देश में विनिमय-माध्यम की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इससे देश में व्यापार व व्यवसाय सुविधाजनक हो जाते हैं। (iii) पूंजी की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है—समाज में ऐसे बहुत से व्यक्ति होते हैं जिनके पास रुपया तो होता है परन्तु वे इसका उचित उपयोग नहीं कर पाते हैं या वे इसके उपयोग की उनमें क्षमता एवं योग्यता ही नहीं होती है। निष्क्रिय (Passive)

या अनुपयोगी पूंजी बंक द्वारा ऐसे उत्पादकों के पास पहुँच जाती है जो इसका उत्पादक कार्यों में उपयोग करते हैं। अतः साख द्वारा धन गतिशील हो जाता है और जब यह एक पक्ष से दूसरे पक्ष को उत्पत्ति-कार्यों के लिये हस्तान्तरित हो जाता है, तब पूंजी की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो जाती है जिससे समाज का बहुत हित होता है। (iv) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सहायता:—बिल ऑफ एक्सचेंज जैसे साख पत्रों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्य प्रकार के लेन-देनों के भुगतान में सुविधा होती है। (v) देश में दूर-दूर के स्थानों तक भुगतान:—साख-पत्रों द्वारा देश में दूर-दूर के स्थानों तक बड़ी से बड़ी रकम का भुगतान सुविधापूर्वक तथा बहुत कम व्यय पर हो जाता है। ये भुगतान बिना वास्तव में कोष दिये ही हो जाते हैं। (vi) बचत को प्रोत्साहन.—साख से बचत को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि बैंक्स छोटी से छोटी रकम तक को जमा पर प्राप्त कर लेते हैं। अतः साख से पूंजी की मात्रा बढ़ जाती है। (vii) देश के आर्थिक विकास में अत्यधिक सहायता मिलती है—उधार लेने की सुविधा व्यापारियों व उद्योगपतियों को नये-नये क्षेत्रों में साहस लेने के लिए प्रोत्साहन देती है। इसके अतिरिक्त जब किसी व्यापारी द्वारा उत्पादित वस्तु की माग असाधारण समय में बहुत बढ़ जाती है, तब वह पूंजी उधार लेकर अपने व्यवसाय को बढ़ा लेता है। अतः देश की आर्थिक, व्यवसायिक व वाणिज्यिक उन्नति में साख व साख-पत्रों का बहुत महत्व होता है। (viii) मूल्यों में स्थिरता:—सरकार या केन्द्रीय बैंक देश में साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण करके मूल्य-स्तर में स्थिरता लाती है जिससे देश को बहुत लाभ होते हैं। (ix) मुद्रा-प्रणाली में लोच:—साख निर्माण का कार्य बैंकों द्वारा किया जाता है। ये देश की आन्तरिक व विदेशी व्यापार की माग के अनुसार साख की मात्रा में प्रसार व संकुचन समय समय पर करते हैं। अतः साख प्रणाली में लोच स्थापित किया जाता है। (x) उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम उपयोग—साख पत्रों द्वारा सरकार अपनी आय

> **साख के कार्य एवं उपयोगिता है:—**
>
> १. बहुमूल्य धातु की बचत।
> २. विनिमय-माध्यम में बचत हो जाती है।
> ३. पूंजी की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है।
> ४. अन्तर्राष्ट्रीय-भुगतान में सहायता मिलती है।
> ५. सुदूर के स्थानों तक भुगतान सुगमता से हो जाता है।
> ६. बचत को प्रोत्साहन मिलता है।
> ७. देश के आर्थिक-विकास में अत्यधिक सहायता मिलती है।
> ८. मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है।
> ९. साख से मुद्रा-प्रणाली में लोच सम्भव होता है।
> १०. इससे उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो जाता है।
> ११. आर्थिक-सकटों का आसानी से मुकाबला किया जा सकता है।

में वृद्धि कर लिया करती है। इनके उचित उपयोग से उत्पत्ति के तमाम साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो जाता। (xi) आर्थिक सकटों का आसानी से मुकाबला किया जाता है —साख से व्यक्ति तथा सरकार अपनी क्षणिक कठिनाइयों को दूर कर लेती है। अत उक्त से यह स्पष्ट है कि वर्तमान विशालकाय आर्थिक ढाचे को चलाने के लिए साख का बहुत महत्व होता है। व्यक्ति व सरकार दोनों को ही इससे बहुत लाभ होता है।

साख से हानियां (Dangers of Credit) —साख के दुरुपयोग से जो हानियाँ हो सकती हैं, उनमे से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं —(i) साख के अत्यधिक प्रसार का सदा भय रहता है —साख प्रणाली का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि तेजी काल में इसमें अत्यधिक प्रसार और मदी काल मे अत्यधिक सकुचन हो जाता है। साख के प्रसार से स्फीतिक दबाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे मूल्यों मे वृद्धि हो जाती है और साख के सकुचन से विस्फीतिक दबाएँ उत्पन्न होती हैं जिससे मूल्यों म कमी हो जाती है। इस तरह साख के समय-समय पर प्रसार व सकुचन से व्यापार म अनिश्चितता आ जाती है और आर्थिक स्थिति ग्रस्त व्यस्त हो जाती है। यह भी स्मरण रहे कि साख पर मानव नियन्त्रण होता है, यदि यह नियन्त्रण दोषपूर्ण है तब इससे समाज को अत्यधिक क्षति होने की सम्भावना रहती है। (ii) अपव्ययिता का डर —जब समाज मे ऋण आसानी से मिल जाता है, तब यह अपव्ययिता को प्रोत्साहन देता है। अन्तत इससे समाज का नैतिक स्तर भी बहुत नीचा हो जाता है। अत साख प्रणाली तब ही तक अच्छी है जब तक यह मनुष्य के नियन्त्रण मे रहती है परन्तु यदि यह मनुष्य पर ही विजय प्राप्त कर लेती है, तब यह मनुष्य को बर्बाद कर देती है। इसीलिए कुछ ने कहा है—"Credit is a good servant but a bad master when it teaches its misuse" (iii) साख द्वारा बहुत से व्यापारी, उद्योगपति तथा सरकारें अपनी अयोग्यता व अदक्षता को छिपाने में सफल हो जाती हैं —जब रुपया आसानी से मिलने लगता है तब अयोग्य तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यापारो तक म अधिकाधिक मात्रा म रुपये का विनियोजन (Investment) होने लगता है। ऐसे व्यवसायों के व्यापारी अपनी कमजोरियों को छुपाकर, ऋण द्वारा प्राप्त पूँजी से ऊपरी तरीकों से तो अपने व्यवसाय में

साख से हानियां हैं:—

१ साख के अत्यधिक प्रसार का सदा भय रहता है।
२ इससे अपव्ययिता का डर रहता है।
३ बहुत से व्यापारी, उद्योगपति तथा सरकारें अपनी अयोग्यता व अदक्षता को छिपाने मे सफल हो जाती हैं।
४ आय के असमान वितरण की सम्भावना रहती है।
५ उत्पादनाधिक्य की समस्या का भय रहता है।
६ एकाधिकारी सस्थाओं के बन जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है।

लाभ दिखाते हैं परन्तु वास्तव में वे आर्थिक संकट में फसे हुए होते हैं और मन्दी काल में तनिक सी आर्थिक उथल-पुथल में ही नीचे गिर जाते हैं। ऐसे व्यापारियों की क्रियाओं से देखने में तो देश में आर्थिक प्रगति होती है, परन्तु यह आर्थिक समृद्धि पूर्णतया खोखली होती है। इन दशाओं में व्यापार में असफलता हो जाने पर ऋणदाताओं का रुपया मारा जाता है। परन्तु यदि ऐसे व्यवसायियों को ऋण आसानी से नहीं मिलता तब उनके व्यवसाय बहुत पहले ही बन्द हो जाते और ऋणदाताओं को अधिक हानि नहीं होने पाती। (iv) आय का असमान वितरण:—साख द्वारा पूंजी का संचय कुछ ही व्यक्तियों व संस्थाओं के पास हो जाता है। जब समाज का अधिकांश धन कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो जाता है, तब इस प्रकार की दशा से सामाजिक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि ऐसे व्यक्ति व संस्थायें अनुचित व्यापारिक तरीके अपनाकर मजदूरों व उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं। (v) उत्पादनाधिक्य की समस्या का भय रहता है:—देश में साख की मात्रा अधिक हो जाने पर उत्पादन बढ़ जाता है, परन्तु कभी-कभी यह इतना अधिक बढ़ जाता है कि इससे समाज में उत्पादनाधिक्य (Over-production) की समस्या अधिक उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः मूल्य-स्तर गिरने लगते हैं जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। (vi) एकाधिकारी संस्थाओं के बन जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है:—चूंकि साख-प्रणाली में पूंजी कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो जाती है, इससे देश में एकाधिकारी (Monopoly) संस्थाओं का निर्माण होने लगता है और यह प्रवृत्ति देश के लिए बहुत अहितकर होती है। यही नहीं, जब किसी देश में एकाधिकार की प्रवृत्ति बहुत अधिक बलशाली हो जाती है, तब एकाधिकारी ही देश की सरकार पर अपना नियन्त्रण कर लेते हैं और यह स्थिति जन-साधारण के लिए बहुत ही हानिकारक होती है।

सारांश—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि साख से समाज को बहुत लाभ प्राप्त होते हैं, तब इसी से समाज को बहुत हानि भी हो सकती है। परन्तु साख से समाज को हानि तब होती है जबकि वह इसका असावधानी से उपयोग करता है। अतः देश में एक सुयोग्य तथा सुनिश्चित अधिकारी द्वारा ही साख का नियन्त्रण व नियमन (Regulation) होना चाहिए क्योंकि तब साख से समाज को होने वाली बहुत सी हानि दूर हो जायगी। यही कारण है कि आजकल यह कार्य प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है।

साख-पत्र (Credit Instruments)

साख-पत्रों का अर्थ (Meaning of Credit Instruments):—साख-पत्रों से अभिप्राय उन सब नोटों, पत्रों, परचों तथा साधनों से होता है जिनका साख-मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता है। ये वे पत्र होते हैं जिनके आधार पर ऋण का आदान-प्रदान होता है तथा जिनके माध्यम द्वारा वस्तुओं व सेवाओं का आसानी से क्रय-विक्रय होता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि साख-पत्र मुद्रा की तरह कार्य करते हैं, परन्तु मुद्रा (बैंक, नोट तथा सिक्के) और साख-पत्रों में कुछ महत्वपूर्ण भेद हैं:—करेन्सी नोट तथा धात्विक

सिक्कों में कानूनन ग्राह्यता (Acceptability) होती है, परन्तु साख-पत्रों में मुद्रा की तरह कानूनन ग्राह्यता नहीं होती है। इन पत्रों को लेने वाले व्यक्ति एवं संस्था की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर होता है कि वह अपने भुगतान में इन पत्रों को स्वीकार करे या स्वीकार नहीं करे। चूंकि इन पत्रों की ग्राह्यता ऐच्छिक होती है, इसीलिए इन पत्रों का प्रचलन भी प्रायः बहुत ही सीमित क्षेत्र मे होने पाता है। आधुनिक समाज में अनेक प्रकार के साख पत्रों का उपयोग किया जाता है, परन्तु हम नीचे कुछ प्रमुख* साख पत्रों का ही वर्णन कर रहे हैं :—

(१) रुक्का या प्रतिज्ञा पत्र या प्रण पत्र (Promissory Note)—भारतीय परक्राम्य-विलेख विधान (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार रुक्के की परिभाषा इस प्रकार है—"यह वह लिखित पत्र होता है जिसमे इसके लिखने वाला, इसमें लिखी हुई राशि, इसमें दिये हुये किसी व्यक्ति या पक्ष को या उसके आदेशानुसार या उसके वाहक (Bearer) को, बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा करता है।" इस साख-पत्र में दो पक्ष होते हैं—एक लिखने वाला और दूसरा रुपये पाने वाला। यह एक सबसे सरल व सीधा-सादा साख-पत्र है जो प्रायः केवल रुपये के लेन-देन के काम में ही आता है। रुक्के तीन प्रकार के होते हैं—(i) बैंक प्रतिज्ञा-पत्र (Bank Promissory Note)—यह वह प्रण-पत्र होता है जिसको कि किसी देश का केन्द्रीय बैंक मांग/नकदी पर जारी करता है और इसका भुगतान वाहक (Bearer) की मांग पर तुरन्त कर दिया जाता है जैसे—भारत का दस रुपये का नोट जिसका प्रचलन रिजर्व बैंक ने किया है। (ii) करेंसी प्रतिज्ञा पत्र (Currency Promissory Note)—यह वह प्रण पत्र है जिसे देश की सरकार के अर्थ विभाग (Finance Department), मुद्रा अधिकारी (Controller of Currency) या सरकारी खजाने (Treasury) ने प्रचलित किया है जैसे—भारतवर्ष में १ रु० का नोट जिसे भारतीय सरकार के अर्थ विभाग ने प्रचलित किया है। इस तरह बैंक प्रण पत्र और करेंसी प्रण-पत्र में एक ही अन्तर है—प्रथम यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा चालू किये जाते हैं, तब द्वितीय देश की सरकार के अर्थ विभाग या मुद्रा सचालक द्वारा जारी किये जाते हैं। अन्य सभी बातों में दोनों एक समान हैं। (iii) व्यापारिक प्रण पत्र (Commercial Promissory Note):—यह पत्र किसी सरकार द्वारा नहीं लिखा जाता है बरन् यह व्यापारिक मनुष्यों या बैंकों के द्वारा प्रचलित होता है। यह वह शर्त वाला लिखित प्रण पत्र है जिस पर लिखने वाला हस्ताक्षर करके (देनदार) इसे लेनदार को दे देता है, व्यापारिक प्रण पत्र और विनिमय बिल में एक ही मुख्य अन्तर है। प्रथम में देनदार लिखता है और हस्ताक्षर करके उसे लेनदार को दे देता है। परन्तु द्वितीय में लेनदार लिखता है और स्वीकृति के लिए देनदार के पास भेज देता है और देनदार इसको स्वीकृति करके फिर वापिस लेनदार के पास भेज देता है।

(२) हुण्डी (Hundi)— कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि हुण्डियों का प्रयोग

* For a detailed study of these Credit Instruments read any book on Banking and Currency meant for the Intermediate Class Students.

हमारे देश में १०वीं शताब्दी से ही है। हुण्डियाँ स्थानीय भाषा (Local Language) में लिखी जाती हैं और ये मनुष्यों के स्वभाव तथा रीति-रिवाज के कारण साख-पत्र का कार्य करती है। बैंकों, व्यापारियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा इनका प्रयोग किया जाता है। विनिमय-बिल की तरह इन पर भी टिकट (Stamp) लगाया जाता है। हुण्डियाँ प्रकृति में बहुत कुछ विनिमय-बिल की तरह की होती हैं। जब हुण्डी का भुगतान हो जाता है, तब इसे खोखा कहते हैं। हुण्डियाँ भी कई प्रकार की होती हैं :—(i) **दर्शनी हुण्डी**:—यह वह हुण्डी होती है जिसका मांग पर तुरन्त भुगतान होता है। (ii) **मुद्दती हुण्डी**:—यह वह हुण्डी होती है जिसका भुगतान एक निश्चित अवधि के बाद किया जाता है। हुंडी मे भुगतान की तारीख लिखी हुई होती है। (iii) **देखनहार हुण्डी**:—यह वह हुण्डी है जिसका भुगतान इसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को ही कर दिया जाता है। (iv) **धनीजोग हुण्डी**:—यह वह हुंडी है जिसका भुगतान केवल एक निश्चित पाने वाले को ही होता है। (v) **नामजोग या फरमान जोग हुण्डी**:—यह वह हुण्डी है जिसका भुगतान पाने वाले धनी के आदेशानुसार किया जाता है। इस प्रकार की हुण्डी मे बेचान (Endorsement) की आवश्यकता हुआ करती है। (vi) **शाहजोग हुण्डी**:—यह वह हुण्डी है जिसका भुगतान केवल किसी आदरणीय व्यापारी को ही हो सकता है।

(३) **बैंक ड्राफ्ट** (Bank Draft) :—यह विनिमय बिल की भांति एक साख-पत्र है। ड्राफ्ट वह पत्र है जो एक बैंक अपनी किसी शाखा (Branch) पर या अन्य किसी बैंक को लिखता है और उसे आज्ञा देता है कि उस पत्र मे लिखी हुई रकम किसी निश्चित व्यक्ति को या उसके आदेशित व्यक्ति को दे दी जाये। ड्राफ्ट देशी या विदेशी दोनों प्रकार के होते है। इस तरह इन पत्रों द्वारा द्रव्य बहुत आसानी से और कम खर्चे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बैंकों द्वारा पहुँचाया जा सकता है। भारतीय परक्राम्य विधान (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार इनको चैक के समान ही समझा जाता है। व्यापार मे और विशेषतः विदेशी व्यापार में इनका बहुत महत्व होता है।

(४) **साख-प्रमाण-पत्र** (Letters of Credit):—जैसा कि इस पत्र के नाम से ही स्पष्ट है कि साख-प्रमाण-पत्र एक व्यक्ति, फर्म या बैंक द्वारा लिखा हुआ एक ऐसा पत्र है जिसमें किसी अन्य व्यक्ति, फर्म या बैंक से यह प्रार्थना की जाती है कि वे पत्र मे अंकित व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा के अन्दर किसी भी अंश तक साख प्रदान कर दें। इन पत्रों में एक तिथि भी लिखी जाती है और साख इस तिथि तक ही प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है। ये साख-प्रमाण-पत्र दो प्रकार के होते हैं–(i) साधारण साख-प्रमाण-पत्र (Ordinary Letter of Credit)—यह वह पत्र है जिसे अवसर एक फर्म या बैंक के नाम ही लिखा जाता है। (ii) चलायमान साख-प्रमाण पत्र (Circular Letters of Credit):—यह वह पत्र है जिसे बैंक की अनेक शाखाओं तथा अन्य सम्बन्धित बैंकों को लिखा जाता है। यह स्मरण रहे कि उक्त दोनों प्रकार के साख-प्रमाण-पत्रों के आधार पर ऋण नकदी मे (Cash) या विनिमय-पत्रों के रूप में लिया

जा सकता है। रुपया पाने वाले रुपया चाहे बैंक की एक शाखा से लें या कई जगह से लें, परन्तु रकम जितनी साख पत्र में लिखी गई है उससे अधिक नहीं ली जा सकती है। रुपया देने वाला इन पत्रों की पीठ पर लिख देता है कि उसने कितना रुपया दिया है।

(५) यात्रियों के चैक (Traveller's Cheques)—इस प्रकार के चैक यात्रियों के लिए बहुत उपयोगी हैं क्योंकि यात्री इनको प्रस्तुत करके बैंक निकालने वाले बैंक की किसी भी शाखा या इससे सम्बन्धित संस्था से रुपया ले सकता है। यात्री के चैक का भुगतान करने वाली जितनी अधिक संस्थायें या बैंक की शाखाएँ होती हैं, यात्री को इस प्रकार के चैक उतने ही अधिक उपयोगी होते हैं। प्रत्येक चैक पर उसकी निश्चित रकम छपी रहती है। इस प्रकार के चैकों पर एक ऐसा नियत स्थान होता है जहाँ पर रुपये लेने वाले को भुगतान करने वाले बैंक के सामने अपने हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। इन चैकों को जारी करने वाला बैंक प्रत्येक चैक पर चैक के लेने वाले के भी हस्ताक्षर करा देता है। इस तरह रुपये का भुगतान करने वाला बैंक रुपये लेने वाले के हस्ताक्षर मिला लेता है और अपने आप यह निश्चय कर लेता है कि चैक का भुगतान उचित व्यक्ति को ही दिया जा रहा है या नहीं। इस तरह इन चैकों के खो जाने या धोखेबाजी से हानि की कम सम्भावना हो जाती है।

(६) ट्रेजरी बिल्स या कोषागार विपत्र या सरकारी हुण्डियां (Treasury Bills)—सरकार अल्पकालीन ऋण प्राप्त करने के लिए ही ट्रेजरी बिल्स को जारी किया करती है। इन बिल्स की अवधि ३, ६, ९ या १२ महीने होती है अर्थात् अवधि समाप्त हो जाने पर सरकार इन बिल्स का भुगतान कर देती है। ये बिल्स सरकार द्वारा क्यों जारी किये जाते हैं? इसका एक ही कारण है। सरकार के आमदनी प्राप्त करने का समय प्रायः निश्चित ही होता है, परन्तु इस आमदनी प्राप्त करने से बहुत पहले ही सरकार को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता पड़ा करती है। इसीलिए इस अल्पकाल के लिए सरकार ऋण लिया करती है। इस प्रकार के ऋण लेने का प्रायः क्या तरीका है? सरकार ट्रेजरी बिल्स को बेचती है। इनके लिए यह टेण्डर (Tenders) मांगती है, जिन्हें वह हर मंगलवार के दिन खोलती है। जिस टेण्डर में कम से कम ब्याज व बट्टे की दर की मांग की जाती है, वह स्वीकार कर लिया जाता है। इस स्वीकृति के बाद स्वीकृत टेण्डर वाले को निश्चित रकम का भुगतान करने पर सरकार ट्रेजरी बिल्स दे देती है। यह स्मरण रहे कि सरकार किसी भी टेण्डर को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होती है। सरकार द्वारा स्वीकार किए गए किसी टेण्डर (या बिल्स) की रकम उसमें दिये गये बट्टे या ब्याज की दर पर निर्भर होती है और इन बिल्स का भुगतान बराबर मूल्य (Par Value) पर होता है। इस प्रकार इन दोनों रकमों का अन्तर वह ब्याज है जिसे ऋणदाता सरकार को दिये गये रुपयों पर प्राप्त करता है।

(७) बुक क्रेडिट या पुस्तकीय-साख (Book Credit) :—जब कोई व्यापारी अपना माल उधार बेचता है या कोई बैंक ऋण देता है, तब ये दोनों उधार दी गई रकम को अपने खाते में दिखाते हैं। इस प्रकार के ऋण को ही हम पुस्तकीय-साख कहते हैं। यह स्मरण रहे कि हिसाब की पुस्तकों में इस प्रकार लिखा हुआ ऋण कानूनी रूप से भी उधार मान लिया जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के उधार पर ऋणी के दस्तखत हों। वर्तमान व्यापारिक जगत में बुक-क्रेडिट के रूप में ऋणों का बहुत महत्त्व है क्योंकि साख के एक बहुत बड़े ढाँचे के आधार पर ही आज के व्यापार चलते हैं। बुक क्रेडिट के रूप में दिये गये उधारों का बहुत-कुछ आपसी ऋणों के समायोजन (Adjustment) से ही भुगतान हो जाता है। यदि इस प्रकार के समायोजन के पश्चात् भी किसी एक पक्ष पर कुछ उधार रह जाता है, तब इसका भुगतान प्रायः नकदी द्वारा हो जाता है। बैंकों के आपस के ऋणों का भुगतान समाशोधन-गृहों (Clearing House) द्वारा ही होता है।

(८) चैक (Cheques):—भारतीय परक्राम्य विधान (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार चैक की परिभाषा इस प्रकार है—"**चैक बैंक में रुपया जमा करने वाले व्यक्ति का, अपने बैंक के लिये एक लिखित आदेश है, जिसमें वह बैंक को यह आदेश देता है कि चैक में लिखित रकम को, उसमें लिखित व्यक्ति को या उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति को या इसके धारक (Bearer) को, माँगने पर प्रदान करे।**"* तमाम साख-पत्रों में चैक सबसे अधिक परिचित व महत्वपूर्ण है क्योंकि वर्तमान आर्थिक जगत में इसका सबसे अधिक उपयोग होता है। चैक सदैव एक बैंक के लिये ही लिखा जाता है और बैंक को इसका भुगतान तुरन्त ही करना होता है। चैक में तीन पक्ष (Parties) होते हैं—(i) चैक जारी करने वाला या आहर्ता (Drawer or Maker), (ii) वह पक्ष जिसे आदेश दिया जाता है या आहार्यी (Drawee) तथा (iii) वह पक्ष जिसे रुपये का भुगतान किया जाता है या आदाता (Payee)। चैक की सात मुख्य विशेषताएँ होती हैं—(i) चैक बिना किसी शर्त वाला आदेश होता है अर्थात् इसके भुगतान पर किसी भी प्रकार की शर्त नहीं लगाई जाती है। (ii) यह सदैव एक लिखित आदेश होता है। (iii) चैक सदा ही किसी एक बैंक-विशेष पर लिखा जाता है। (iv) इसमें भुगतान की जाने वाली रकम को साफ-साफ तथा स्पष्ट रूप में लिखा जाता है। (v) चैक पर आदेश देने वाले व्यक्ति या इसको जारी करने वाले व्यक्ति या आहार्ता (Drawer or Maker) के हस्ताक्षर होते हैं। (vi) बैंक चैक में लिखित रकम का भुगतान तुरन्त ही माँग पर कर देता है तथा (vii) चैक का भुगतान निर्देशित व्यक्ति अथवा उसके आदेश के अनुसार ही किया जाता है।

चैक कई प्रकार के होते हैं:–(i) **बैयरर चैक या धारक चैक** (Bearer Cheque):—**यह वह चैक है जिसका भुगतान निर्देशित व्यक्ति को अथवा ऐसे अन्य किसी भी व्यक्ति को हो सकता है जो इसे बैंक में प्रस्तुत करता है।** इस प्रकार के चैक पर चैक में लिखे हुए व्यक्ति

*"A Cheque is a Bill of Exchange drawn on a banker payable on demand."

या आदाता (Payee) के हस्ताक्षर आवश्यक नहीं होते हैं। बैंक केवल सुरक्षा की दृष्टि से ही रुपया प्राप्त करने वाले के हस्ताक्षर करा लेता है। अतः इस प्रकार का चैक पूर्णतया हस्तान्तरीय होता है और इसका भुगतान कोई भी ले सकता है। (ii) आर्डर चैक या आदेश चैक (Order Cheque) —यह वह चैक है जिसमें लिखी रकम केवल उसी व्यक्ति को मिल सकती है जिसका नाम चैक पर लिखा है। इसलिये इस चैक को भुनाने के लिये आदाता (Payee) के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। परन्तु इस प्रकार के चैक का भुगतान उस व्यक्ति को भी हो सकता है जिसके लिये आदाता चैक के पीछे आदेश देता है। एक बैयरर चैक बहुत आसानी से आर्डर चैक में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसा करने के लिये चैक पर बैयरर शब्द को या तो एक लाईन द्वारा काट दिया जाता है या काट कर आर्डर शब्द लिख दिया जाता है। परन्तु जिन चैकों पर बैयरर के स्थान पर आर्डर शब्द छपा होता है, वहाँ ऐसा नहीं किया जाता है। (iii) रेखांकित चैक (Crossed Cheque) —जब किसी चैक पर बाईं ओर चैक के ऊपरी हिस्से में दो आड़ी रेखायें खींचकर अंग्रेजी में "& Co" लिख दिया जाता है, तब हम ऐसे चैक को रेखांकित चैक कहते हैं। अन्य साधारण चैकों का नकद में भुगतान बैंक के काउन्टर (Counter) पर सरलता से लिया जा सकता है, जिससे ऐसे चैकों को खुले चैक (Open Cheques) कहते हैं। परन्तु रेखांकित चैक का भुगतान किसी भी व्यक्ति द्वारा नकद में नहीं लिया जा सकता है। इस प्रकार के चैक में लिखित रकम आदाता (Payee) या अन्य किसी आदेश प्राप्त व्यक्ति के खाते में ही हस्तान्तरित की जा सकती है। यह अवश्य है कि इस प्रकार के हस्तान्तरण के पश्चात् जब चाहे तब इस रकम को आसानी से निकाला जा सकता है। अतः रेखांकित चैक के खो जाने या चुराये जाने से किसी भी व्यक्ति को कुछ भी हानि नहीं होती है क्योंकि यदि धोखे से कोई व्यक्ति इन चैकों का रुपया प्राप्त भी कर लेता है, तब बैंक को यह आसानी से पता चल जाता है कि अमुक चैकों का रुपया किस व्यक्ति या संस्था के खाते में जमा हुआ है और बैंक उस खाते में से रुपया वापिस भी ले सकता है। रेखांकित चैक भी कई प्रकार के होते हैं—(क) साधारण रेखांकित चैक (General Crossed Cheque) —इस प्रकार का चैक वह है जिस पर दो साधारण व आड़ी रेखाएँ खींच दी जाती हैं। कभी कभी इन दोनों रेखाओं के बीच में "& Co" या 'Not Negotiable' लिख दिया जाता है। जब चैक पर "Not Negotiable" लिखा होता है तब इसका अर्थ यह नहीं है कि चैक हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है वरन् इसका यह अर्थ है कि हस्तान्तरणकर्ता केवल उसी प्रकार के अधिकार का हस्तान्तरण कर सकता है जैसा कि उसे स्वयं प्राप्त है। (ख) विशेष रेखांकित चैक (Special Crossed Cheque) — यह वह चैक है जिस पर रेखांकन (Crossing) तो पूर्ववत् होता है, परन्तु साथ ही साथ भुगतान लेने वाले बैंक का नाम भी लिखा हुआ होता है। विशेष रेखांकन का लाभ यह है कि यह चैक को और भी अधिक सुरक्षित बना देता है क्योंकि इस चैक का भुगतान तब ही किया जायगा जबकि यह चैक उसी बैंक द्वारा भुगतान के

लिये प्रस्तुत किया जायगा जिसका कि नाम लाइनों के बीच में लिखा हुआ है।
(ग) केवल एकाउन्ट पेयी चैक ('Account Payee only' Cheques) :—जब रेखांकित चैक की दोनों लाइनों के बीच में "Account Payee Only" लिखा हुआ होता है, तब इससे भी चैक बहुत सुरक्षित हो जाता है क्योंकि चैक में लिखी रकम का भुगतान केवल आदाता (Payee) के खाते में ही जमा किया जा सकता है। इसलिए यदि आदाता (Payee) का किसी भी बैंक में खाता (Account) नहीं है, तब चैक का भुगतान लेने के लिये उसको किसी बैंक में खाता खोलना पड़ेगा और तब ही इस खाते द्वारा उसे रुपयों का भुगतान हो सकेगा। अतः इस प्रकार के रेखांकन में चैक की बहुत सुरक्षा हो जाती है।

(६) बिल ऑफ एक्सचेंज (Bill of Exchange):—भारतीय परक्राम्य विधान (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार बिल ऑफ एक्सचेंज की परिभाषा इस प्रकार है :—"वह एक ऐसा लिखित पत्र है जिस पर इसे लिखने वाले के हस्ताक्षर रहते हैं और जो उसमें लिखित किसी व्यक्ति से किसी अन्य व्यक्ति को उसके आदेशानुसार या उसके वाहक (Bearer) को उसमें लिखित रकम किसी शर्त के बिना देने की आज्ञा देता है।"* प्रत्येक विनिमय बिल (Bill of Exchange) में तीन पक्ष होते हैं—प्रथम, आहार्ता (Drawer or Maker):—वह व्यक्ति जो बिल को दूसरे व्यक्ति पर लिखता है और अपने हस्ताक्षर करके स्वीकृति के लिये भेज देता है। द्वितीय, आहार्यी (*Drawee or Acceptor*):—*वह व्यक्ति जिस पर बिल लिखा* जाता है और जो उसे स्वीकार करता है। तृतीय, आदाता (Payee):—वह व्यक्ति जिसे बिल की रकम मिलती है। परन्तु ऐसी अवस्था जिसमें जबकि बिल की रकम आहार्ता (Drawer) को ही मिलती है, तब बिल में केवल दो ही पक्ष होते हैं—आहार्ता और आहार्यी। प्रत्येक विनिमय बिल में आठ विशेषतायें होती हैं–(i) बिल ऑफ एक्सचेंज एक बिना शर्त वाला आज्ञा-पत्र है। (ii) यह लिखित में आदेश होता है। (iii) यह ऋणदाता (Creditor) द्वारा ऋणी (Debtor) के ऊपर लिखा जाता है। (iv) इस पर बिल जारी करने वाले या आहार्ता (Drawer or Maker) के हस्ताक्षर होते हैं। (v) बिल पर आहार्यी (Drawee) या जिस पर बिल जारी किया गया है, उसकी स्वीकृति को संकेत करने के लिये हस्ताक्षर होते हैं। (vi) बिल का माग पर या कुछ अवधि के पश्चात् भुगतान किया जाता है। (vii) बिल की रकम द्रव्य के रूप में निश्चित होती है। (viii) बिल किसी विशेष मनुष्य या उसके आदेशित व्यक्ति को या वाहक (Bearer) को भुगतान के लिये दिया जाता है।

बिल ऑफ एक्सचेंज दो प्रकार के होते हैं:—(i) देशी विनिमय बिल (Inland Bill of Exchange) :—यह एक ऐसा बिल होता है जो जिस देश में लिखा जाता है, उसी देश में उसका भुगतान होता है। इसीलिए जो बिल देश के ही किसी व्यापारी

* "An Instrument in writing containing an unconditional order signed by the maker directing a certain person to pay a certain sum of money only to, or to the order of a certain person or to the bearer of the instrument."

के ऊपर लिखा जाता है, वह देशी विनिमय बिल कहलाता है। (ii) विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange)—यह एक ऐसा बिल होता है जो एक देश में लिखा जाता है लेकिन इसका भुगतान दूसरे देश में किया जाता है। यह स्मरण रहे कि बिल का आहार्ता (Drawer) या आहार्यी (Drawee) दोनों में से कोई भी एक विदेशी है तो भी वह विदेशी बिल होगा। एक विदेशी बिल की तीन प्रतिलिपियां (Copies) होती हैं। यदि पहली या दूसरा प्रतिलिपि खो जाये, तब तीसरी प्रतिलिपि काम में लाई जा सकती है। बिल ऑफ एक्सचेंज की यह विशेषता होती है कि तीन दिन का समय बिल के पकने की तारीख (Date of Maturity) में जोड़ दिया जाता है। व्यापारिक भाषा में हम 'रियायती दिन' (Days of Grace) कहते हैं। प्रथा के अनुसार बिल तीन महीने की अवधि का होता है अर्थात् बिल लिखने की तिथि के ९० दिन पीछे उसका भुगतान करना आवश्यक होना है। परन्तु जब कभी दर्शनी बिल (Demand Bills) लिखे जाते हैं, तब इनका भुगतान मांगने पर तुरन्त ही किया जाता है। यह स्मरण रहे कि कोई भी विनिमय बिल परक्राम्य पत्र (Negotiable Instrument) या वैध बिल (Legal Bill) नहीं होता जब तक कि आहार्यी (Drawee) उसे स्वीकृत (Accept) करके उस बिल पर हस्ताक्षर नहीं कर देता है। यदि कभी ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है कि बिल के पक जाने की अवधि पर बिल का भुगतान नहीं होता है, तब हम इसे बिल का अनादर (Dishonour) कहते हैं और ऐसी दशा में बिल के भुगतान का दायित्व (Liability) इसके लिखने वाले या आहार्ता (Drawer) पर होता है।

व्यापारिक व वाणिज्यिक क्षेत्र में बिल ऑफ एक्सचेंज या विनिमय बिल्स का बहुत महत्व होता है क्योंकि व्यापारी तथा उद्योगपतियों को इनसे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं —(i) विनिमय बिल्स की सहायता से खरीदार बिना नक़दी (Cash) में तुरन्त भुगतान किए माल खरीद लेता है। जब तक बिल के पकने (Date of Maturity) का समय आता है, यह व्यापारी इस माल को बेचकर रकम प्राप्त कर लेता है और समय आने पर बिल का भुगतान कर देता है। (ii) निर्यातकर्ताओं (Exporters) को भी विनिमय बिल्स से अपने व्यापार में बहुत सहायता मिलती है क्योंकि इन्हें अपने देश में अपने माल का अपनी मुद्रा में मूल्य मिल जाता है। (iii) विनिमय बिल्स के प्रयोग से बहुमूल्य धातुओं को एक देश से दूसरे देश में भेजने का व्यय बच जाता है और बीमे के व्यय की भी बचत हो जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में बिल्स ऑफ एक्सचेंज का बहुत महत्वपूर्ण कार्य होता है। (iv) विनियोगकर्ताओं (Investors) के बिल्स ऑफ एक्सचेंज एक तरल व सुविधाजनक साधन होते हैं जिनमें वे काफी बड़ी मात्रा में अपनी पूंजी का विनियोजन (Investment) करते हैं। ये व्यक्ति इन बिल्स में इस कारण भी पूंजी का विनियोग करते हैं क्योंकि इन्हें इनकी परिपक्वता (Maturity) से बहुत पहले भी भुनाया जा सकता है। इनके इस गुण के कारण ही यह कहा जाता है कि विनिमय बिल्स में बहुत तरलता (Liquidity) होती है। (v) बिल्स अपने स्वामी

को एक निश्चित रकम, निश्चित स्थान व समय पर प्राप्त करने का अधिकार देते हैं। बिल्स का स्वामी अपने इस अधिकार को खरीद-बेच सकता है अर्थात् यदि परिपक्वता (Maturity) से पहले रुपये की आवश्यकता पड़ती है, तब बिल्स को बैंको द्वारा भुनाया जा सकता है।

विनिमय बिल्स की कार्य-प्रणाली के लिए 'विनिमय की दर' (Rate of Exchange) नामक अध्याय को

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. Com.

1. Explain the meaning of the term 'credit' and discuss the part it plays in modern business. (1958)

Allahabad University, B Com.

1. (a) How can the use of cheques be made popular in an under-developed country ? (b) How would you find out whether endorsement on cheques are in order or not ? (1957) 2. Write a note on—Bills fo Exchange. (1957) 3. Write a note on—Buy Low & Sell High. (1957) 4. Describe the circumstances under which banker's authority to pay cheques is terminated. (1956) 5. Write a note on—Buy high, sell low. (1956)

Rajputana University, B. A & B. Sc.

1. Write a note on—Bills of exchange. (1955) 2. What is credit and how do commercial banks create credit. (1954)

Rajputana University. B. Com.

1. Write a not on—Does credit create capital ? Examine. (1955)

Sagar University, B. A.

१. टिप्पणी लिखिये—विनिमय-पत्र (१६५६)

अध्याय ६

बैंक्स—विकास, परिभाषा, कार्य तथा वर्गीकरण
(Banks—Origin, Definition, Functions and Classification)

बैंकिंग का विकास (Evolution of Banks)

बैंक्स का उद्गम (Origin of Banks):—बैंक शब्द "Banco" से निकला है। "Banco" शब्द का प्रचलन इटली में सन् ११७१ में Venice नगर में प्रथम बैंकिंग-गृह की स्थापना के पश्चात् हुआ था। प्राचीन इटली में Banco शब्द का अर्थ "बेंचों पर बैठकर द्रव्य बदलना" था। प्राचीन काल में यूरोप, भारत तथा अन्य देशों में सुनार (Goldsmith) या सर्राफ व धनी लोग बेंचों पर बैठकर मुद्रा-परिवर्तन

(Money Exchange) का कार्य किया करते थे। ये मुद्रा-परिवर्तन करने वाले व्यक्ति मुद्रा का परिवर्तन करने के हेतु अपने पास देश-विदेश की मुद्रा बहुत बड़े पैमाने पर रक्खा करते थे ताकि जब कोई भी व्यक्ति (विशेषतः विदेशी यात्री या व्यापारी) उनके पास मुद्रा-परिवर्तन करने आये, तब वे उसकी इच्छानुसार उसे मुद्रा दे सकें। इनके इस प्रकार के कार्य से यात्रियों तथा व्यापारियों को बहुत सुविधा होती थी। जब कोई महाजन असफल या दिवालिया हो जाया करता था, तब उसकी बेंच को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते थे। Banco को तोड़ने से ही अंग्रेजी शब्द Bankrupt (दीवालिया) की उत्पत्ति हुई है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि अंग्रेजी शब्द Bank जर्मन शब्द Back से बना है जिसका अर्थ है मिश्रित-स्कन्ध-कोष (Joint Stock Fund)। परन्तु अंग्रेजी शब्द Back का इटेलियन भाषा में अर्थ Banco ही है।

प्राचीन काल में मुद्रा सोने व चांदी की अथवा मूल्यवान धातुओं की हुआ करती थी जिससे इन सर्राफों को अपने धन की रक्षा करने की व्यवस्था करनी पड़ती थी। शनैः शनैः जनता का इन मुद्रा-परिवर्तन करने वालों (Money Exchangers) में बहुत विश्वास हो गया जिससे ऐसे व्यक्ति जिनके पास धन था, वे सुरक्षा की दृष्टि से अपने रुपये इन सर्राफों के पास अमानत (धरोहर) के रूप में जमा करने लगे। इन व्यक्तियों को यह सुविधा थी कि वे जिस समय चाहें अपने उपयोग के लिये अपने रुपये वापिस ले सकते थे। इस अमानत के बदले सर्राफ मुद्रा जमा करने वाले व्यक्तियों को रसीद (Receipts) दे दिया करते थे। सर्राफ व सुनार मुद्रा को सुरक्षित रखने के कार्य के बदले में आरम्भ में कुछ शुल्क (Fees) लिया करते थे। सर्राफ अपने पास के धन को ऋण के रूप में दूसरों को ब्याज के रूप में दिया करते थे। इनको शनैः शनैः यह अनुभव हुआ कि मनुष्य जितना धन इनके पास अमानत के रूप में जमा (Deposit) करते थे, उसमें से बहुत ही कम वे निकालते थे और बाकी रकम इनके पास बेकार पड़ी रहती थी। सर्राफों ने अपने पास पड़ी इस बेकार रकम को भी ऋण पर देना आरम्भ कर दिया और जमाकर्ताओं से न केवल उनकी अमानत पर शुल्क (Fees) लेना बन्द कर दिया बल्कि उनकी अमानत पर उन्हें ब्याज देना आरम्भ कर दिया। परिणामतः उनकी अमानतें धीरे-धीरे बहुत बढ़ गईं। यह स्वाभाविक ही है कि जमाकर्ताओं को दी जाने वाली ब्याज की दर ऋणियों से ली जाने वाली ब्याज की दर से कम ही होती थी। ब्याज की दरों का यह अन्तर ही सर्राफों का लाभ होता था। इस तरह जमा बैंकिंग (Deposit Banking) प्रणाली का आरम्भ हुआ।

ऊपर यह बताया गया है कि सर्राफ जमाकर्ताओं को उनकी अमानत प्राप्त करने की रसीद (Receipts) दिया करते थे। चूंकि जनता का इन सर्राफों में बहुत विश्वास था, इसलिए कालान्तर में ये रसीदें, बगैर मुद्रा में परिवर्तित हुये ही एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास लेन-देन के भुगतान के रूप में हस्तान्तरित होने लगीं। इस तरह सर्राफों की ये रसीदें चैक (Cheque) का काम करने लगीं। कभी-कभी ये सर्राफ ऋणी को उधार में सोना या वास्तव में मुद्रा देने के बजाय, उसे रसीदें (माँग पर

रुपया उधार देने का वचन (Promise to pay the bearer on demand) ही दे देते थे जिनका चलन समाज में इन सर्राफों की साख के क्षेत्र मे सोने के सिक्कों की तरह होता था। इसीलिए कभी-कभी ये रसीदें ऋण-भुगतान तक में स्वीकार की जाने लगी। ये रसीदें ही पत्र-मुद्रा या नोटो (Bank Notes) का प्राथमिक रूप था। इस व्यापार में अधिकाधिक लाभ होता देखकर अनेक नये-नये व्यक्ति भी उक्त व्यवसाय करने लगे जिससे शनैः शनैः बैंकिंग व्यवस्था का बहुत विकास हो गया। सन् १६६४ से बैंक ऑफ इंगलैंड (Bank of England) की स्थापना हुई जिससे उक्त प्रणाली को एक वैज्ञानिक रूप मिल गया। सन् १६०८ तक नोट निर्गमित (Issue) करने का अधिकार या तो सरकार के हाथ में आ गया या देश का केन्द्रीय बैंक इस कार्य को करने लगा। शनैः शनैः अट्ठारहवी शताब्दी के अन्त तक "चैक प्रणाली" का अत्यधिक विकास हो गया और इसने एक वैज्ञानिक रूप ले लिया। जब बैंकिंग का कार्य मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियो (Joint-Stock-Companies) द्वारा किया जाने लगा, तब तो बैंकिंग व्यापार ने और भी अधिक उन्नति की क्योंकि इन कम्पनियो का आधार सीमित दायित्व (Limited Liability) प्रणाली था। बैंक प्रणाली मे इतना अधिक विकास हुआ है कि ये वर्तमान आर्थिक व व्यापारिक जगत के एक आवश्यक अंग हो गये है।

भारत में बैंकिंग का विकास (Evoluton of Banking in India):— भारत में भी यूरोप के सर्राफो व सुनारो की तरह बहुधा जैन तथा वैश्य जाति के मनुष्य बैंकिंग का कार्य किया करते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' तथा 'मनुस्मृति' मे भी बैंकिंग-पद्धति का उल्लेख मिलता है। १३ वी शताब्दी मे टेवर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री ने भारत के विषय मे लिखते हुये इस बात का उल्लेख किया है कि 'बहुधा प्रत्येक देहात में एक मुद्रा-परिवर्तनकर्ता (Money Exchanger) रहता था जिसे सर्राफ कहते थे और ये मुद्रा का परिवर्तन तथा इसके हस्तान्तरण (Remittance) का कार्य करते थे।' कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि ये सर्राफ बैंकिंग का जो कुछ भी कार्य करते थे वह उसी समय के ज्यूज (Jews) के बैंकिंग कार्यों से बहुत बढ़ा-चढ़ा था। हुण्डियों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी हमारे प्राचीन साहित्य में बहुत कुछ लिखा हुआ है। यह अवश्य है कि उस समय के सर्राफों या बैंकर्स के दो ही मुख्य कार्य थे—रुपया जमा पर प्राप्त करना (Acceptance of Deposits) तथा रुपया उधार देना (Granting of Loans) परन्तु अंग्रेजी ढग पर बैंको की स्थापना तथा इनका विकास अंग्रेजो के भारत मे आने के बाद ही हुआ है। (इस सम्बन्ध में 'भारत मे मिश्रित पूंजी के बैंक्स' शीर्षक नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा गया है)। अत एक तरह से यह कहा जा सकता है कि भारत मे वर्तमान बैंको का उद्गम भी अंग्रेजो शासन का प्रतीक है।

परिभाषायें (Definitions)

बैंक की परिभाषा (Definition of a Bank):—आधुनिक बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं (इनका उल्लेख आगे किया गया है) इसीलिए इन विभिन्न,

प्रकार के कार्यों को करने वाली संस्था—बैंक, की एक ठीक ठीक व नप तुले शब्दों मे परिभाषा करना बहुत ही कठिन व गुरुतर कार्य है। यही कारण है कि विभिन्न लेखकों ने एक बैंक की भिन्न भिन्न परिभाषाये दी हैं। नीचे इनमे से कुछ प्रसिद्ध एव महत्वपूर्ण परिभाषाओ का ही विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है—

(१) दी शौरटर आक्सफोर्ड इगलिश डिक्सनरी (The Shorter Oxford English Dictionary) ने आधुनिक बैंकिंग को इस प्रकार प्रभावित किया है—'बैंक एक ऐसी संस्था है जो अपने ग्राहकों से प्राप्त या उनकी (ग्राहकों) ओर से प्राप्त धन को अपने संरक्षण (Custody) में रखती है। इसका मुख्य कार्य उनके (ग्राहकों) द्वारा बैंक पर जारी किए गए ड्राफ्टों (Drafts) का भुगतान करना है और इसका (बैंक) लाभ उस द्रव्य के प्रयोग द्वारा उत्पन्न होता है जो इसके पास निरुपयोगी (Unemployed) बच जाता है। * इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि बैंक वह संस्था है जो जमा पर रुपया प्राप्त करती है और जो इस जमा (Deposits) का माँग पर भुगतान करती है।

(२) सन् १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने बैंक की एक उचित व ठीक परिभाषा दी है। इस एक्ट के अनुसार कोई भी संस्था अपने नाम के आगे 'बैंक, 'बैंकर' या बैंकिंग शब्द का उपयोग तभी कर सकती है जबकि उसमे कुछ बात होती है और वे इस प्रकार है—बैंक या बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो 'जनता से उधार देने के लिए या इसका विनियोजन (Investment) करने के लिए मुद्रा को जमा (Deposits) पर प्राप्त करती है और जो इसको मागने पर या चैक, ड्राफ्ट, आर्डर (Order) तथा अन्य किसी प्रकार से भुगतान करती है। †

फिडले शिरास (Findlay Shirras) ने 'बैंकर उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को बताया है जिसके पास कोई ऐसा व्यापारिक स्थान हो जहा द्रव्य या करेन्सी की जमा द्वारा साख का कार्य किया जाता है और जिसकी जमा का ड्राफ्ट, चैक या आर्डर द्वारा भुगतान किया जाता हो या जहा स्टाक बौंड, बुलियन और विपत्रों पर द्रव्य उधार दिया जाता हो या जहा प्रण-पत्र (B/E and P/E) बट्टे पर या बचने के वास्ते लिये जाते हो। ‡ प्रो० शिरास की यह परिभाषा यद्यपि बहुत विस्तृत है परन्तु यह सतोषप्रद मानी जाती है क्योकि उसने इसम न केवल बैंक के उधार लेने और उधार

*— An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers Its essential duty is to pay their drafts on it its profits arise from the use of the money left unemployed by them —The Shorter Oxford English Dictionary

†— The accepting for the purpose of lending of investment of deposits of money from public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft order or otherwise '—The Indian Companies Act 1949

‡—Findlay Shirras has defined a banker as a person firm or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency subject to be paid or remitted upon draft cheques order or where money is advanced or loaned on stocks bonds bullion and B/E and P/N are received for discount and sale '

देने के कार्य वरन् साख उत्पन्न करने और एजेन्सी के कार्य भी सम्मिलित किये है। कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि प्रो० फिंडले शिरास (Findlay Shirras) की बैंक की यह परिभाषा ठीक नही है क्योंकि उसने इस परिभाषा में बैंक द्वारा करेन्सी के विनिमय तथा द्रव्य द्वारा व्यापार को सहायता पहुँचाने के कार्यों का समावेश नही किया है। परन्तु इस दोष के होते हुए भी शिरास की बैंक की परिभाषा आज सर्वमान्य व सवस्वीकृत है।

(४) एक अन्य लेखक ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी है—"बैंक वह संस्था है जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करती है।" (Bank is an Institution dealing in money and credit)। बैंक की यह परिभाषा बहुत ही सक्षिप्त तथा सुन्दर है। जिस प्रकार समाज मे अनेकों दूकानें होती हैं और ये अनेक वस्तुओ का क्रय-विक्रय करती हैं, ठीक इसी प्रकार बैंक भी एक ऐसी दूकान है जो मुद्रा तथा साख का क्रय-विक्रय करती है। यह अवश्य है कि द्रव्य व साख मे व्यापार करने वाली दूकान का कार्य-क्रम अपेक्षाकृत अधिक जटिल तथा वैज्ञानिक होता है। परन्तु मुद्रा व साख के व्यवसाय (इनके क्रय-विक्रय) का क्या अर्थ है? मुद्रा के क्रय का अर्थ ऋण लेना और मुद्रा के बेचने का अर्थ ऋण देना होता है। इन दोनो दशाओं मे मुद्रा का मूल्य ब्याज के रूप मे दिया जाता है। चूंकि व्यक्ति भी ऋण का लेन-देन करते हैं, इसलिए इस दृष्टिकोण से एक बैंक और एक लेन-देन करने वाला व्यक्ति एक समान होते है। परन्तु इनमे इस समानता के होते हुए भी हम व्यक्ति को बैंक नही कहते क्योंकि व्यक्ति साख का क्रय-विक्रय नही करता है और बैंकों का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य होता है। इस तरह साहूकार और बैंक मे एक खास अन्तर होता है जिससे हम यह कह सकते है कि प्रत्येक बैंक साहूकार का कार्य करता है, परन्तु प्रत्येक साहूकार बैंक का कार्य नही करता है। बैंक द्वारा साख के क्रय-विक्रय का क्या अर्थ है? बैंक जो भी ऋण देता है वह उसके पास जमा के रूप मे (Deposits) रह जाता है और इस प्रकार बैंक अपने ग्राहक की साख का निर्माण करता है। इस क्रिया को बैंक द्वारा साख का विक्रय कहते हैं। जब ग्राहक चैक काटते हैं और जब यह चैक बैंक के पास भुगतान के लिए आता है, तब ग्राहक की साख बैंक की साख मे हस्तान्तरित हो जाती है। इस क्रिया को बैंक द्वारा साख का क्रय कहते हैं। स्पष्टतया साख का इस प्रकार का क्रय-विक्रय साहूकारो द्वारा नही किया जाता है जिसके कारण इन्हे बैंक्स नहीं कहते हैं।

निष्कर्ष:— ऊपर बैंक की केवल चार मुख्य परिभाषाए दी गई है, परन्तु बैंक की और बहुत सी परिभाषाएं हैं।[*] इन सभी परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक व संस्था है जिसके दो मुख्य कार्य होते है—प्रथम, जनता से जहा

*१—किनले (Kinley) के अनुसार, "बैंक एक ऐसी सस्था है जो सुरक्षा का ध्यान रखते हुए ऐसे व्यक्तियो को ऋण देती है जिन्हें इसकी आवश्यकता है और जिसके पास व्यक्ति अपना ऐसा रुपया जमा कर देते हैं जो उनके पास फालतू होता है।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(Deposit) पर रुपया प्राप्त करना और द्वितीय, माँग होने पर चैक, ड्राफ्ट या अन्य किसी पत्र द्वारा जमा हुई रकम का भुगतान करना। विभिन्न लेखकों की बैंक की परिभाषाओं से यह भी पता चलता है कि प्रत्येक लेखक ने परिभाषा के स्थान पर वर्णन

("Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use"—Kinley)। इस परिभाषा का यह दोष है कि इसमें बैंक के केवल उधार लेने और उधार देने के कार्यों पर ही बल दिया गया है परन्तु बैंक के अन्य कई महत्वपूर्ण कार्य भी हैं (जैसे, साख उत्पन्न करना, एजेन्सी के कार्य करना आदि) जिनकी इस परिभाषा ने अवहेलना की है। इसीलिये किनले की परिभाषा दोषपूर्ण है।

२—डा० एच० एल० हार्ट (H L Hart) ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है—"बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत, रुपया प्राप्त करता है और जिसे वह उन व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है जिन्होंने या जिनके खाते में यह रुपया जमा किया गया है।" ("A banker is one who in the ordinary course of his business, receives money which he pays by *honouring cheques of persons from whom or on whose* account he receives it"–Dr H L Hart)। प्रो० किनले की तरह डा० हार्ट की बैंक की परिभाषा भी दोषपूर्ण है क्योंकि उन्होंने भी बैंक के समस्त कार्यों का अपनी परिभाषा में समावेश नहीं किया है।

३—वाल्टर लीफ (Walter Leaf) ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी है—"बैंक वह व्यक्ति या संस्था है जो हर समय जमा के रूप में द्रव्य लेने को तैयार हो और जो जमा करने वालों को उनके लिखे हुए चैकों द्वारा वापिस करती हो।" ("A Bank is that institution or individual who is always ready to receive money *on deposits to be returned against the cheques of their* depositors"—Walter Leaf)। उक्त की भाँति इस परिभाषा में भी दोष हैं।

४—जौन पैगट (John Paget) ने बैंक की परिभाषा देते समय बहुत निश्चित रहने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी है—"कोई भी व्यक्ति या संस्था [सम्मिलित (Corporate) या व्यक्तिगत रूप में] बैंकर नहीं कहला सकता जब तक कि वह (i) द्रव्य को जमा (Deposits) के रूप में नहीं लेता है, (ii) चालू खाते में रुपया जमा नहीं करता है, (iii) चैकों को निर्गमित करने और अपने ऊपर लिखे हुए चैकों के बदले में द्रव्य देने का कार्य नहीं करता है, (iv) चैकों को चाहे वे सादे हों या रेखांकित हों (Uncrossed or Crossed) अपने ग्राहकों के लिये एकत्रित (Collect) नहीं करता है। यह कहा जा सकता है कि चाहे ये सब उपरोक्त कार्य एक व्यक्ति या बहुत से सम्मिलित व्यक्तियों (Corporate Body)

(शेष अगले पृष्ठ पर)

को अधिक महत्व दिया है अर्थात् प्रत्येक अर्थशास्त्री ने बैंक की परिभाषा देते समय इनके ऐसे कार्यों एवं ऐसे व्यवसायो को गिनवाने का प्रयत्न किया है जोकि बैंक के लिये आवश्यक होते हैं जिससे उनकी परिभाषाओं में सरलता के स्थान पर जटिलता का पुट आ जाता है।

कार्य तथा सेवायें

(Functions and Services)

आधुनिक बैंक के कार्य तथा सेवायें (Functions and Services of a Modern Bank):—अर्थशास्त्र मे जब कभी भी केवल बैंक शब्द का प्रयोग होता है,

द्वारा किये जाते हैं, परन्तु कोई भी बैंकर या बैंक नही कहला सकता, जब तक कि वह निम्न शर्तें पूरी न करता हो—(1) बैंकिंग उसका मान्य या ज्ञात व्यवसाय हो, (ii) वह अपने आपको बैंकर या बैंक मानता हो और जनता भी ऐसा ही समझती हो, (iii) उसका विचार भी ऐसा कार्य (बैंक का) करके रुपया कमाना हो, (iv) यह *व्यवसाय (बैंकिंग) उसका गौण (Subsidiary) व्यवसाय न हो बल्कि यह मुख्य* व्यवसाय हो।" ("No one and no body, corporate and otherwise, can be a banker who does not:—(i) take deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques, crossed and uncrossed, for his customers and *it might be said that even if all the above functions are performed* by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he or it fulfills the following conditions—(i) Banking is his or its known occupation, (ii) he or it must profess to be a banker or bank and the public take him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so and (iv) this business is not subsidiary"—John Paget.) । यह तो स्पष्ट है कि जॉन पैगट ने अपनी परिभाषा में बहुत ही निश्चित व ठीक रहने का प्रयत्न किया है, परन्तु फिर भी उसकी बैंक की परिभाषा मे एक दोष है। यह दोष मुख्यतः कानून की दृष्टि से पाया जाता है। पैगट ने *बैंक के चार कार्य बताये हैं, परन्तु यदि कोई व्यक्ति या बैंक इनमे से केवल एक* कार्य को ही कर रहा है, तब व्यवहारिक रूप में वह भी बैंक कहलायेगा, चाहे वह बैंकर के रूप में प्रसिद्ध हो या नही भी प्रसिद्ध हो या वह अपने आप को ऐसा मानता हो या नही भी मानता हो और चाहे उसका व्यापार गौण (Subsidiary) हो या मुख्य हो क्योंकि कानून की दृष्टि से इन सब बातों का कोई महत्व नहीं होता है।

परन्तु जहा तक बैंक के मुख्य कार्यों का सम्बन्ध है—जमा (Deposit) पर रुपया प्राप्त करना और माग पर इनका भुगतान करना, उक्त सभी परिभाषाओ में पाये जाते हैं। इसलिए उक्त बैंक की सब ही परिभाषाएं आजकल सर्वमान्य तथा सर्वस्वीकृत हैं।

तब इसका अभिप्राय विशेषतः व्यापारिक बैंक (Commercial Bank) से होता है क्योंकि वर्तमान समाज में इस प्रकार के बैंक ही बहुत प्रचलित है और इनके कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। सामान्य रूप से एक आधुनिक बैंक के निम्नलिखित मुख्य कार्य है—

(१) जमा पर रुपये प्राप्त करना (Acceptances of Deposits).—जमा पर रुपया प्राप्त करने का कार्य प्रत्येक आधुनिक बैंक का एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। समाज मे अधिकांश व्यक्ति अपनी आमदनी में से कम-अधिक मात्रा में रुपया बचाकर रखते हैं। यू तो ऐसे व्यक्ति इस बचत का स्वयं ही उत्पादक प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यदि यह बचत बहुत कम मात्रा में है या सग्रहकर्ता में व्यवसायिक बुद्धि या जोखिम उठाने की शक्ति नही है, तब वे इसे किसी संस्था में चोरी का डर या ब्याज के लालच से जमा कर देते हैं। इस तरह धन संचय करने वालो को अपनी बचत पर आमदनी प्राप्त होने के अतिरिक्त उन्हें यह भी सुविधा होती है कि आवश्यकता पडने पर वे इस रकम को बैंक से वापिस ले सकते हैं। बैंक व्यापार के लिए रुपया मुख्यतः दो प्रकार से प्राप्त करता है—प्रथम, शेयर्स या बैंक के अंश (Shares) बेचकर और द्वितीय, जमा पर रुपया प्राप्त करके। परन्तु बैंक जिस रुपये से व्यापार करते हैं, उसका एक बहुत बडा भाग जमा के रूप में प्राप्त होता है और बहुत थोडा भाग ही शेयरहोल्डर्स या अंशधारियों (Shareholders) का होता है। बैंक के पास जमा (Deposits) कई प्रकार के खातो से प्राप्त होती है:—(i) निश्चितकालीन जमा खाता (Fixed Deposit Accounts) —यह एक ऐसा खाता (Account) होता है जिसमें रकम एक निश्चित समय के लिए जमा की जाती है। यह समय प्रायः ३ महीने से ५ वर्ष तक का होता है। परन्तु बैंक ग्राहकों की सुविधा के लिए इस प्रकार के खातो मे से रकम, अवधि समाप्त होने से पहले भी कुछ कटोती काट कर (Discount) दे दिया करता है। इस प्रकार की जमाओं (Deposits) पर ब्याज की दर भी साधारणतया ऊंची होती है क्योंकि बैंक भी इस रकम को बिना किसी हिचकिचाहट के एक निश्चित अवधि के लिए उधार दे सकता है। रुपया जमा करते समय जमाकर्ता (Depositor) को एक रसीद दी जाती है, परन्तु यह रसीद हस्तांतरित नहीं (Not Negotiable) की जा सकती है और न इसका चैक की तरह उपयोग ही हो सकता है। इसीलिए खाते में से रुपया वापिस लेते समय जमा-रसीद (Deposit Receipt) को वापिस लौटाना पड़ता है। कभी कभी इस प्रकार के खाते में रुपया विशेष शर्तों पर भी जमा किया जाता है। (ii) सेविंग बैंक के खाते (Savings Bank Accounts)—इस प्रकार का खाता प्रायः उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त होता है जो कभी-कभी व बहुत छोटी छोटी मात्राओं में रुपया जमा करना चाहते हैं। इस खाते मे रुपया तो हफ्ते में मन चाहे जितनी बार जमा किया जा सकता है, परन्तु इसमें वापिस लेने का अधिकार बहुत सीमित होता है। अक्सर हफ्ते मे एक या दो बार ही रुपया निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस खाते में से रुपया निकालने की एक अधिकतम

सीमा (Maximum Limit) भी होती है और यदि ग्राहक इस निर्धारित सीमा से अधिक रकम निकालना चाहता है, तब उसे बैंक को पहले से ही नोटिस देना पड़ता है। सेविंग बैंक के खाते मुख्यतः निश्चित व कम आय वाले गृहस्थियों की सुविधा के लिए तथा उनमें धन-संचय की आदत जाग्रत करने के लिए खोले जाते हैं। इन खातों पर निश्चित कालीन जमा की अपेक्षा ब्याज की दर कम होती है और अक्सर यह दर १ से २ प्रतिशत तक होती है। जब खाते में जमा की गई रकम, बैंक द्वारा निश्चित की हुई सीमा से ऊपर चली जाती है, तब बैंक ग्राहकों को सीमित रूप से खाते में चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा (Restricted Cheque Facilities) भी प्रदान कर देता है। कभी कभी बैंक बचत की आदत को प्रोत्साहित करने के लिए एक गुल्लक (A Small Safe) भी बैंक ग्राहकों को दे दिया करते है जिसमे वे अपने घर पर समय-समय पर अपनी छोटी-छोटी बचत डालते रहते हैं। समय-समय पर ऐसे व्यक्ति इन गुल्लकों को बैंक मे ले जाते हैं और बैंक अपनी चाबी से इसे खोलकर इसमें जमा की गई रकम को निकाल लेते हैं और ग्राहक के खाते मे जमा कर देते हैं। इस प्रकार की सुविधा प्राप्त खातों में ब्याज की दर केवल नाम मात्र की ही होती है। युद्ध से पूर्व दी सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया (Central Bank of India) ने इसी प्रकार के खाते के अन्तर्गत ग्राहकों को एक ऐसी घड़ी (Watch) दी थी जिसे नियमपूर्वक १ आना प्रतिदिन उसमें डालने पर ही चलाया जा सकता था। इसी तरह कुछ बैंकों ने विवाह खाते (Marriage Accounts) खोले थे जिनसे भी नागरिकों में बचत को प्रोत्साहन मिलता था। (iii) अनिश्चितकालीन जमा (Deposits for an Indefinite Period):—यह एक ऐसा खाता होता है जिसमे जमा की गई रकम, कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर, कभी भी निकाली नही जा सकती है। जमाकर्ता केवल इस रकम के ब्याज को ही निकाल सकता है। चूंकि बैंक इसका दीर्घकालीन तथा स्थायी विनियोग (Investment) कर सकते हैं, इसलिये इस जमा पर ब्याज की दर भी सबसे ऊंची होती है। परन्तु व्यापारिक बैंकों के जीवन मे इस प्रकार की जमा का बहुत कम महत्व होता है क्योंकि ऐसे खाते बहुत कम ही खुला करते है। (iv) चालू खाते (Current Accounts):—यह एक ऐसा खाता है जिसमे जमाकर्ता अपनी इच्छानुसार कभी भी रुपया जमा कर सकता है और कभी भी इसे अंशतः या पूर्णतः निकाल सकता है। इसीलिये ये खाते व्यापारियों तथा बड़ी-बड़ी संस्थाओं की सहायता के लिए ही होते हैं जिन्हें दिन भर में कितने ही चैक जारी करने पड़ते हैं तथा हजारों व लाखों रुपयों का प्रति दिन लेन-देन करना पड़ता है। इन खातों से रुपया चैक द्वारा निकाला जाता है और अक्सर बैंक इन खातों पर कुछ भी ब्याज नहीं देते हैं वरन् चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा एवं प्रबन्ध के लिये प्रति छः माह कुछ मामूली रकम (Incidental Charges) तक ग्राहकों से ले लेते है। यह अवश्य है कि कुछ बैंक इस खाते पर भी जमा की रकम एक निश्चित मात्रा से नीचे नहीं गिरने पर, कुछ मामूली ब्याज दे देते हैं परन्तु जब कभी जमा की रकम इस निश्चित राशि से कम हो जाती है, तब ये बैंक इन दोनों के अन्तर पर उल्टा ग्राहक से ब्याज ले लेते हैं।

(२) ऋण देना (Advancing of Loans)—ऋण देना या अग्रिम देना (Advances) *व्यापारिक बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है।* यह संस्था जमाकर्त्ताओं (Depositors) का रुपया प्राय: उत्पत्ति कार्यों के लिए उत्पादकों को उधार दिया करती है। जमा करने वालों को दी जाने वाली ब्याज की दर ऋणियों से ली जाने वाली ब्याज की दर से बहुत कम होती है। इन दोनों का अन्तर ही बैंक का एक मध्यस्थ के रूप में कार्य करने का लाभ है। बैंक उचित जमानत या धरोहर (Security) मिलने पर ही ऋणी को रुपया उधार देता है ताकि रुपया न लौटाये जाने पर वह इस जमानत को बेचकर रुपया प्राप्त कर सके। यह स्मरण रहे कि एक बैंक केवल जमा द्वारा प्राप्त रकम को ही उधार नहीं देता वरन् स्वयं जमा की उत्पत्ति (Creation of Deposits) करके भी ग्राहकों को जमा की गई रकम से कई गुनी अधिक रकम उधार दे देता है। यह क्रिया किस प्रकार से होती है? बैंक जो भी ऋण देते हैं, वह प्राय: नकद में नहीं दिया जाता है वरन् बैंक ऋणी के नाम का एक चालू खाता (Current Account) खोलकर उसमें ऋण की रकम जमा कर देते हैं और ऋणी को एक चैक-बुक दे देते हैं। *परिणामतः ऋणी समय-समय पर आवश्यकतानुसार चालू खाते में* से रुपया निकाल सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था का लाभ यह है कि द्रव्य के स्थान पर बैंक की साख का बहुत हद तक प्रयोग किया जाता है क्योंकि ग्राहकों को समस्त ऋण एक साथ नहीं मिलता वरन् वह उस समय ही मिलता है जबकि उसे इसकी आवश्यकता होती है जिससे साख के उपयोग में बहुत बचत हो जाती है। इसी को अर्थशास्त्र में कहते हैं कि "ऋण जमा की उत्पत्ति करते हैं।" (Loans Create Deposits)। यह स्मरण रहे कि प्रत्येक बैंक को इस प्रकार के ऋणों से ही अपनी आय या लाभ का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। इसीलिए किसी बैंक की सफलता भी बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहती है कि वह अपने ऋणों की किस प्रकार व्यवस्था करता है क्योंकि ऋण-सम्बन्धी दोषपूर्ण नीति अपनाने पर बैंक के फेल तक हो जाने का भय उत्पन्न हो सकता है। बैंक्स कभी-कभी व्यक्तिगत जमानत (Personal Security) पर या दो और दो से अधिक व्यक्तियों की सम्मिलित जमानत (Joint Security) पर रुपया उधार देते हैं। परन्तु अधिकांश ऋण बिक्री-साध्य जमानत पर ही दिये जाते हैं। प्रत्येक बैंक कई प्रकार से ऋण देने का कार्य करता है—

नकद साख (Cash Credit)—नकद साख द्वारा रुपया उधार देने की प्रणाली का जन्म स्कॉटलैंड (Scotland) में हुआ था। वहाँ पर इस प्रणाली ने व्यापारियों की बहुत सहायता की जिससे स्कॉच मनुष्यों (Scottish People) की आर्थिक समृद्धि भी बहुत बढ़ी थी। नकद-साख द्वारा ऋण देना एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें बैंक्स अपने ग्राहकों को बॉण्ड्स (Bonds) या व्यापारिक माल (Commercial Goods) या अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर ऋण दे देते हैं। यदि ऋण व्यापारिक माल की जमानत पर दिया गया है तब बैंक्स इस माल को अपने गोदामों (Godowns) में रख लेते हैं। जब ऋणी रुपया लौटा देते हैं तब बैंक्स

भी माल को छोड़ (Release) देते हैं। अक्सर बैंक्स गोदाम में जमा किये गये माल की जमानत पर इसके मूल्य का ७५% से अधिक ऋण नहीं देते है। यह इसलिए किया जाता है ताकि यदि व्यापारी रुपया लौटाने में असमर्थ हो जाय या माल के मूल्य में थोड़ी-बहुत कमी हो जाये, तब माल के बेचने पर बैंक को हानि नहीं उठानी पड़े। भारतीय व्यापारियों के लिये ऋण लेने की यह प्रणाली बहुत ही सुविधाजनक सिद्ध हुई है, इसीलिये वे इसे बहुत पसन्द करते है। (ii) अधिविकर्ष सुविधायें (Over-Draft Facilities):—जब कभी कोई बैंक अपने ग्राहक को उसके खाते मे जितनी रकम जमा है उससे अधिक रुपये निकालने की अनुमति दे देता है, तब इसे अधि-विकर्ष सुविधा कहते हैं। बैंक इस प्रकार के अन्तर पर सूद लिया करता है। सूद की दर भी बहुत ऊंची होती है क्योंकि बैंक इस प्रकार के ऋण को हतोत्साहित किया करता है। यह सुविधा केवल अल्पकालीन ही हुआ करती है। बैंक अपने ग्राहकों को इस प्रकार की सुविधा देते समय प्रायः उचित जमानत भी लिया करता है। नकद-साख और अधि-विकर्ष सुविधा मे एक ही अन्तर है। प्रथम प्रणाली का उपयोग तो कोई भी व्यक्ति कर सकता है, परन्तु द्वितीय प्रणाली का उपयोग केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो बैंक में रुपया जमा करके अपने नाम में खाता खोलता है। इसके अतिरिक्त अधि-विकर्ष सुविधा केवल पुराने तथा प्रसिद्ध ग्राहकों को ही दी जाती है। (iii) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances):—प्रत्येक बैंक एक उचित जमानत (Security) मिलने पर रुपया उधार देने का कार्य भी करता है। इस प्रकार का ऋण एक पूर्व निश्चित काल के लिए दिया जाता है। जब तक ऋण का पूर्णतया भुगतान नही हो जाता, तब तक ऋण का अन्त नहीं माना जाता है। ऋण कभी भी चालू नही रहता है अर्थात् यदि ऋणी ने ऋण के कुछ भाग का भुगतान कर दिया है और तत्पश्चात् यदि वह इस भुगतान की गई रकम को फिर उधार लेना चाहता है, तब वह इस रकम को वापिस नहीं ले सकेगा जब तक कि बैंक उसे एक नया ऋण प्रदान नहीं करता है। परन्तु नकद-साख तथा अधि-विकर्ष (Over Draft) के रूप मे दिये गये ऋण मे इस प्रकार की बाधा नहीं होती है। यह स्मरण रहे कि बैंक जब कभी इस प्रकार के ऋण देता है, तब वह ऋणी को रुपया नकद मे न देकर उसके नाम का एक चालू खाता खोल देता है और उसमे दी गई रकम को जमा कर देता है जिससे बैंक अपने बहुत थोड़े से नकद-कोष (Cash Reserves) से बहुत बड़ी मात्रा में ऋण देने मे सफल हो जाता है। (iv) हुण्डियां तथा अन्य व्यापारिक बिलों का भुगतान (Discounting of Hundies and Other Trade Bills):—बैंक द्वारा व्यापारियों को रुपया उधार देने की यह भी एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। बैंक हुण्डियों, विनिमय बिलो तथा अन्य व्यापारिक बिलो को भुनाकर व्यापारियों को ऋण दिया करते हैं। ये ऋण अल्पकालीन (प्रायः तीन महीने) होते हैं और समुचित जमानत के आधार पर ही दिये जाया करते हैं। हुण्डी तथा बिल्स पर बैंक कितना बट्टा (Discount) लेते हैं ? यह दो बातो पर निर्भर रहता है—प्रथम, बिल की परिपक्वता

की अवधि (Time of Maturity) तथा द्वितीय, बिल की जोखिम (Risk)। यह स्मरण रहे कि व्यापार में अधिकांश सौदे साख-सौदे (Credit Transactions) होते हैं। परन्तु विक्रेता या उत्पादक की भी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती कि वह असीमित मात्रा में साख पर सौदा बेचता रहे। इसलिए वह साख पर सौदा बेचकर खरीदने वाले के नाम एक बिल या हुण्डी जारी कर देता है। खरीदार इस हुण्डी को स्वीकार कर लेता है (Acceptance of Hundies) और स्वीकार करके इसे वापिस विक्रेता के पास भेज देता है। तत्पश्चात् विक्रेता इस हुण्डी को अपने बैंक से भुना लेता है अर्थात् बैंक हुण्डी की अवधि का सूद काटकर बाकी रकम हुण्डी भुनाने वाले व्यापारी को दे देता है। जब हुण्डी पक जाती है (On Maturity of the Hundi) तब, बैंक इसका अंकित मूल्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वास्तव में वस्तु विक्रेता के स्थान पर बैंक ही खरीदार को वस्तु साख पर बेचते हैं क्योंकि बैंक विक्रेता को हुण्डी द्वारा उसके माल का भुगतान कर देता है।

(३) **एजेन्सी कार्य** (Agency Functions)—एक बैंक अपने ग्राहकों के लिये एजेन्सी के भी कार्य करता है। इनमें से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(i) **विनिमय साध्य साख-पत्रों का भुगतान एकत्रित करना** (Collection of Negotiable Instruments)—बैंक के पास उसके ग्राहक समय समय पर विनिमय साध्य साख पत्र (Negotiable Instruments) इसलिए भेजा करते हैं ताकि बैंक उनकी ओर से इनकी रकम को एकत्रित करें। चैक, विनिमय बिल, प्रण पत्र (Promissory Notes) आदि विनिमय साध्य साख पत्रों के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं। (ii) **ग्राहकों की ओर से रुपए का भुगतान करना**—बैंक अपने ग्राहकों की ओर से और उनके आदेशानुसार किराए, बीमे की प्रीमियम, ऋणों की किस्तें, आय कर, व्याज तथा चन्दे आदि का भुगतान करते हैं और इस कार्य के लिये मामूली कमीशन लेते हैं। (iii) **भुगतानों को प्राप्त करना**—बैंक अपने ग्राहकों की ओर से तथा उनके आदेशानुसार भुगतान भी प्राप्त करते हैं, जैसे लाभांश (Dividend) तथा व्याज वसूल करना, किराया वसूल करना, ऋण की रकम प्राप्त करना आदि। बैंक इस कार्य के लिए भी कुछ मामूली सा कमीशन लेते हैं। (iv) **प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय** (Sale and purchase of Securities)—बैंक अपने ग्राहकों की ओर से और उनके आदेशानुसार प्रतिभूतियों (Securities) का क्रय विक्रय करते हैं। (v) **रुपए का हस्तान्तरण** (Remittance Facilities)—बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान या बैंक की एक शाखा से दूसरी शाखा के पास रुपए भेजने की सस्ती व शीघ्रगामी (Quick) सुविधाएं भी देते हैं। ये सुविधायें ड्राफ्ट (Drafts), तार द्वारा हस्तान्तरण (Telegraphic Transfers) तथा डाक हस्तान्तरण (Mail Transfers) द्वारा दी जाती हैं। (vi) **मुख्तार की तरह काम करना** (To Act as Attorney)—बैंक अपने ग्राहकों की ओर से प्रतिनिधि या मुख्तार (Attorney) की तरह भी कार्य करते हैं। ये उनकी ओर से उत्तर साधक (Executors) तथा न्यासी (Trustee) की तरह भी कार्य करते हैं।

ये अपने ग्राहकों की ओर से पास-पोर्ट तथा यात्रा-सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त करने के लिए भी पत्र-व्यवहार करते हैं।

(४) बैंकों की अन्य उपयोगी सेवाएं (Miscellaneous and General Utility Services of the Banks):—बैंक अपने ग्राहकों द्वारा बताई गई अन्य बहुत सी सेवाओं का भी सम्पादन करता है जिनसे व्यवसायी वर्ग को बहुत लाभ पहुँचा है। इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य सेवायें इस प्रकार हैं—(i) साख-प्रमाण-पत्रों तथा यात्रियों के चैकों को जारी करना (Issue of Letters of Credit and Traveller's Cheques)—कुछ बैंक अपने ग्राहकों के लिए साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit) तथा यात्रियों के चैक (Traveller's Cheques) जारी करते है। इन साख प्रमाण-पत्रों की सहायता से व्यापारी विदेशों में आसानी से माल उधार खरीद लेते हैं क्योंकि विदेश का अज्ञात व्यापारी भी बैंक के इन ग्राहकों की साख से परिचित हो जाता है। यात्रियों के चैकों द्वारा व्यक्तियों को विभिन्न स्थानों पर आवश्यकतानुसार मुद्रा मिल जाती है। (ii) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय (Dealing in Foreign Exchange)—कुछ बैंक अपने ग्राहकों के लिए विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का भी कार्य करते हैं जिससे ये विदेशी व्यापार के लिए बहुत सहायक होते हैं। प्रायः यह कार्य एक विशेष-प्रकार के बैंकों द्वारा (विदेशी विनिमय बैंक्स) ही किया जाता है। परन्तु भारत में कुछ प्रसिद्ध व्यापारिक बैंक अपने अन्य बैंकिंग कार्यों के साथ ही साथ विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय का कार्य भी करते है। (iii) निर्णयकर्ता के रूप में कार्य करना (To Act as Referees)—कभी-कभी व्यापारी बैंक के ग्राहकों के सम्बन्ध में धन-सम्बन्धी पूछ ताछ करते है। बैंक इस प्रकार की सूचना काफी जाँच पड़ताल करके तथा बड़ी सावधानी से दिया करते है। इस सूचना से व्यापारियों को यह पता चल जाया करता है कि जिन व्यक्तियों के साथ वे अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति तथा साख कैसी है। इस प्रकार की जानकारी व्यापारियों को व्यापार में बहुत सहायता पहुँचाती है। (iv) व्यापारिक सूचना तथा आंकड़े इकट्ठा करना (Compilation of Statistics):—कुछ बड़े-बड़े बैंक व्यापार सम्बन्धी अनेक आँकड़े व सूचनायें एकत्रित करते है और या तो इन्हें प्रकाशित करके या माँगने पर इन्हें अपने ग्राहकों तक पहुँचा देते है। इस प्रकार की सूचनायें इनके ग्राहकों के व्यापार को बढ़ाने में बहुत सहायक होती है। (v) सुरक्षा सम्बन्धी कार्य (Safe Custody Functions).—बैंक अपने ग्राहकों को जेवर, दस्तावेज तथा अन्य मूल्यवान कागज व वस्तुएं तिजोरी (Safe Deposit Vaults) में रखने की सुविधायें देते हैं। इनकी एक ताली ग्राहक के पास होती है। बैंक की जिम्मेदारी केवल इनको सुरक्षित रखने की है और बैंक इस कार्य के लिये ग्राहकों से कुछ मामूली-सा कमीशन ले लेता है। (vi) सरकार तथा अन्य संस्थाओं के ऋणों का अभिगोपन करना (Under-writing Business).—बैंक सरकार तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं के ऋणों का अभिगोपन भी करता है जिससे इन्हें ऋणों के प्राप्त करने में बहुत सुविधा

हो जाती है। बैंक इस कार्य के लिये बहुत थोड़ा सा कमीशन लिया करता है। (viii) धन सम्बन्धी सलाह (Advice in Financial Matters)—बैंक्स अपने ग्राहकों को विशेष धन-सम्बन्धी सलाह (Expert advice in Financial Matters) भी देते हैं।

निष्कर्ष—बैंकों के कार्यों एवं सेवाओं के सम्बन्ध में जो कुछ भी ऊपर लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान आर्थिक जगत में देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिये बैंकों का एक विशेष महत्व है क्योंकि व्यापार एवं व्यवसाय सम्बन्धी कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसे एक बैंक अपने ग्राहकों के लिए सम्पन्न नहीं करता है। ये जनता में धन संचय की आदत उत्पन्न करते हैं, निरुपयोगी धन को इकट्ठा करके उसका उचित विनियोग (Investment) करते हैं, ऋण देकर साख पत्रों का निर्माण करते हैं, साख-व्यवस्था को सुसंगठित करते हैं तथा देश में अपने ग्राहकों की अनेक प्रकार से सेवायें करके उन्हें व्यापार व व्यवसाय में उत्तेजना देते हैं।*

साख का निर्माण (Creation of Credit)

साख की उत्पत्ति कैसे होती है ? (How is Credit Created ?)—बैंकों का साख के निर्माण का कार्य एक महत्वपूर्ण कार्य है। साख का निर्माण कई तरह से किया जा सकता है—(i) बैंक नोटों के निर्माण द्वारा साख सृजन करना (To create Credit by issuing Notes)—बैंक नोटों को निर्गमित करके साख का निर्माण करते हैं। एक समय था जबकि प्रत्येक बैंक को नोट निर्गमित करने का अधिकार था। परन्तु आजकल लगभग सब ही देशों में यह अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया है जिसका नोट निर्गमन (Note Issue) पर एकाधिकार होता है। बैंक जितने भी नोट जारी करता है, उनके पीछे एक कोष रक्खा जाता है जिसमें कुछ मूल्यवान धातु और शेष अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियाँ (Approved Securities) रहती हैं। इस तरह नोट जारी करने वाले बैंक साख उत्पन्न करते हैं और इस साख द्वारा व्यवसायियों को क्रय शक्ति प्रदान करते हैं। (ii) नकद-जमा तथा साख जमा द्वारा साख का निर्माण करना (Creation of Credit through Cash Deposits and Credit Deposits)—साख के निर्माण की यह रीति अत्यधिक महत्वपूर्ण रीति है। सेयर्स (Sayers) ने ठीक ही कहा है कि "बैंक्स केवल एक द्रव्य जुटाने वाली संस्थायें नहीं हैं वरन् वे द्रव्य की निर्माता (Manufacturer of Money) भी हैं।"† प्रत्येक बैंक कुछ न कुछ रकम नकद जमा (Cash Deposit) के रूप में प्राप्त करता है। वह इस जमा का

* Banks organise and control the issue and currency of Credit Instruments they regulate the granting of banks credit in the form of advances and loans they facilitate the investment of loanable capital and make possible its distribution and use to the best advantage they provide currency when and where it is required and transfer surplus currency from some area to places that are short of supplies" —*Principles of Banking S E Thomas*

† "Banks are not merely purveyors of money, but also, in an important sense, manufacturers of money"—Sayers

एक निश्चित प्रतिशत नकद कोष (Cash Reserves) में रखकर बाकी रुपया ऋण के रूप में दे देता है। बैंकों द्वारा उधार दिया हुआ द्रव्य ग्राहकों को फौरन नहीं दिया जाता वरन् यह रकम उनके खाते में जमा करदी जाती है जिसे साख-जमा (Credit Deposits) कहते हैं। बैंक इन ऋणियों को इस रकम को चैक या अन्य प्रकार के साख-पत्रों की सहायता से निकालने की सुविधा दे देता है। इस तरह बैंक जितना अधिक ऋण देता है, उतनी ही अधिक मात्रा में उसके पास जमा प्राप्त हो जाती है (Loans create Deposits) और बैंक के पास जितनी अधिक जमा प्राप्त होती है वह उतना ही अधिक ऋण दे देता है (Deposits create Loans or Loans are the Children of Deposits)। इस तरह यह स्पष्ट है कि बैंक को जो भी जमा प्राप्त होती है, चाहे यह नकद-जमा (Cash Deposit) हो या साख-जमा (Credit Deposit) हो, उसका यह कुछ भाग अपने पास रखकर, शेष को ग्राहकों को उधार दे देता है और इस विधि द्वारा साख का एक बहुत बड़ा ढांचा तैयार कर देता है। प्रत्येक बैंक इस कार्य को करके बहुत बड़ी मात्रा में लाभ उठाया करता है और यह उसके लाभ का एक प्रमुख साधन है। यह बात एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है:—मानलो, किसी बैंक में कोई व्यक्ति १०० रु० जमा करता है। बैंक को इस जमा पर कुछ ब्याज देना पड़ेगा इसलिये वह इस रकम को उधार दे देता है ताकि वह स्वयं भी कुछ ब्याज कमा सके। ऋणी को जो भी रकम वह उधार देता है, वह उसके नाम के एक चालू खाते में जमा कर देता है और उसे चैक द्वारा निकालने का अधिकार दे देता है। प्रत्येक बैंक को अपने अनुभव से पता रहता है कि वह कुल दायित्व (Total Liabilities) का कितना प्रतिशत नकद-कोष (Cash Reserves) में अपने पास रक्खे ताकि वह चैकों या अन्य साख-पत्रों के बदले में मांग होने पर रुपया नकद दे सके। यह प्रतिशत भिन्न-भिन्न देशों मे और विभिन्न बैंकों मे पृथक्-पृथक् होता है। भारत में कुल दायित्व का नकद मे अनुपात (Percentage of Cash to Total Liabilities) प्रायः अन्य देशों से ऊंचा रहता है क्योंकि यहां के निवासियों में चैक के प्रयोग की कम आदत है, परन्तु इङ्गलैंड और अमेरिका में चैक आदि पत्रों का इतना अधिक प्रयोग होता है कि चैक ही वहां की मुद्रा है। इसीलिये हार्टले विदर्स ने कहा है कि "आधुनिक अंग्रेजी व्यवसाय तथा वित्त का द्रव्य चैक है और लन्दन के द्रव्य-बाजार में जिस साख का व्यवहार होता है वह केवल चैक लिखने का अधिकार है।"* अत. मानलो, सामान्यतया भारत में बैंक अपने कुल दायित्व का २०% नकद कोष मे रखते है। इस तरह उक्तलिखित बैंक अपने पास २० रु० रखकर शेष ८० रु० उधार दे देगा। उधार दी गई ८० रु० की रकम बैंक के पास साख-जमा (Credit Deposit) के रूप में जमा हो जाती है। बैंक इस साख-जमा का पुनः २०% अपने पास नकद-कोष मे रखकर बाकी ६० रु० उधार दे देगा। इस प्रकार बैंक बार-बार

* The money of modern English Commerce and Finance is the cheque, and the credit dealt in the London Money Market is the right to draw a cheque—Hartley Whithers : The Meaning of Money.

साख-जमा प्राप्त करके उसका एक निश्चित प्रतिशत अपने पास नकद कोष में जमा करके बाकी भाग उधार देता चला जायगा और अन्ततः इस विधि द्वारा अपनी नकद-जमा (Cash Deposit) का ५–६ गुनी रकम उधार देने में सफल हो जायगा अर्थात् उक्त बैंक अपनी १०० रु० की नकद जमा के आधार पर वह लगभग ५०० रुपये या ६०० रुपये बहुत आसानी से उधार दे देगा। यह स्पष्ट है कि एक बैंक नकद-कोष में अपने कुल दायित्व का जितना कम प्रतिशत रखता है वह उतनी ही अधिक रकम ऋण में देने में सफल हो जाता है। उधार दी जाने वाली इतनी बड़ी रकम से प्राप्त होने वाली ब्याज की कुल रकम, १०० रु० जमा करने वाले व्यक्ति को दी जाने वाली ब्याज की रकम से कई गुना ज्यादा होती है। बैंक का एक मध्यस्थ के रूप में यही लाभ है।

यह स्मरण रहे कि व्यापारी (ऋणी) अपने चालू खाते में से चैक या अन्य साख-पत्र द्वारा ही रुपया निकालते हैं। यह चैक प्रायः किसी व्यक्ति को उसकी रकम के भुगतान में दिया जाता है। वह व्यक्ति जिसे चैक मिला है, बैंक से इस चैक का प्रायः नकद रुपया नहीं लेता वरन् इसे या तो इसी बैंक में या अन्य किसी बैंक में जिसमें उसका खाता खुला हुआ है, जमा करता है। परन्तु बैंक में केवल किताबी जमा-खर्च (Book Enteries) ही होने पाता है और बैंक का नकद कोष (Cash Reserves) पूर्ववत् ही रहता है। यदि चैक किसी दूसरे बैंक में जमा किया गया है, तब भी बैंकों के आपस के दायित्व के भुगतान की पद्धति के अनुसार इनका भुगतान हो जाता है। प्रायः एक बैंक से दूसरे बैंक को नकद रुपया कम भेजा जाता है और यदि दिया जाता भी है तब दूसरे बैंक का नकद कोष बढ़ जाने पर वह बैंक पहले से अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर देता है और वह बैंक जिसका नकद कोष कम हो जाता है, उसे साख की मात्रा कम करनी पड़ती है। अतः बैंक की इस रीति से साख निर्माण करने की शक्ति पर नकद जमा, साख-जमा तथा कुल दायित्व का नकद कोष में कितनी प्रतिशत रकम जमा की जाती है, इन सब बातों का प्रभाव पड़ता है।

बैंक्स साख निर्माण न केवल नकद-जमा अथवा साख जमा के द्वारा करते हैं वरन् ये अधि-विकर्षण की सुविधाएं (Overdraft facilities) देकर भी साख का सृजन (Creation of Credit) करते हैं। यह सुविधा केवल उन प्रतिष्ठित व्यापारियों को दी जाती है जिनका बैंक में खाता होता है तथा जो अपनी साख के लिये प्रसिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त बैंक्स प्रतिभूतियों (Securities) को खरीदकर तथा इसका भुगतान अपने चैकों द्वारा करके भी साख का निर्माण करते हैं। जिन देशों में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो गई है वहां पर इस बैंक के निर्मित हो जाने से व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण शक्ति में बहुत ही वृद्धि हो गई है क्योंकि केन्द्रीय बैंक इन बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर उनकी प्रतिभूतियों (Securities) को भुनाकर (Discount) इन्हें आर्थिक सहायता दे देता है जिससे ये बैंक्स इस बात से निश्चित हो जाते हैं कि जब कभी उनके पास रुपये की कमी हो जायगी तब उन्हें केन्द्रीय बैंक से सहायता मिल सकेगी।

में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करना है तथा अपने कार्यों का आधार दृढ़ बनाना है, तब उसे उक्त सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है।

बैंकिंग का महत्व
(Importance of Banking)

बैंकों के लाभ (Usefulness of Banks):—वर्तमान युग में किसी देश की बैंकिंग प्रणाली वहां की उत्पत्ति, व्यापार व व्यवसाय एवं समस्त आर्थिक ढांचे की धमनी केन्द्र (Nerve Centre) होती है। इनके द्वारा ही देश में तमाम वित्त-व्यवस्था सचालित होती है तथा इन्ही के द्वारा तमाम साख-व्यवस्था सगठित होती है। इसीलिये बैंक तथा बैंकिंग का वर्तमान समाज के लिए बहुत महत्व होता है। बैंक्स के कार्यों पर दृष्टि डालने से इनका महत्व स्पष्ट हो जाता है। सक्षेप मे बैंक्स के कार्य इस प्रकार हैं.—(i) धन एकत्रित करके उत्पत्ति कार्यों में लगाना:—प्रत्येक बैंक समाज के उन व्यक्तियों व संस्थाओं से धन एकत्रित करता है जिनके पास यह फालतू पड़ा होता है या कम उपयोगी होता है और इसे उन व्यक्तियों को उधार देता है जिन्हे इसकी बहुत आवश्यकता होती है। इस तरह बैंक्स मध्यस्थ (Middlemen) का कार्य करके देश व समाज की बहुत सेवा करते है क्योंकि ये धन सचय करने वालो और उत्पादकों को आपस में मिलाकर एक ओर धन-संग्रह को प्रोत्साहन देते है और दूसरी ओर उत्पादन और उत्पादकों को आर्थिक सहायता देते है। अतः बैंक्स देश मे औद्योगिक पूंजी का निर्माण करके राष्ट्र के औद्योगिक, व्यापारिक व आर्थिक विकास मे बहुत सहायक होते हैं। (ii) मुद्रा का स्थानान्तरण:—बैंक्स एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत कम व्यय पर धन का हस्तान्तरण करने मे सहायता प्रदान करते हैं। बैंको द्वारा धन का हस्तान्तरण सुरक्षित तथा सुविधाजनक भी होता है। (iii) बैंक्स बैंकिंग की आदत जाग्रत करते हैं—देश में बैंकिंग की आदत (Banking Habits) को जन्म देकर ये चैक जैसे सस्ते विनिमय के माध्यम का निर्माण करते हैं जिससे न केवल देश में विनिमय के माध्यम का पर्याप्त प्रसार हो जाता है वरन् बहुमूल्य धातुओं के उपयोग मे भी बचत हो जाती है। इसके अतिरिक्त धन गिनने, जाचने तथा हस्तान्तरित करने मे भी बहुत सुविधा रहती है। (iv) मुद्रा प्रणाली में लोच:—बैंकों द्वारा देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच उत्पन्न हो जाती है क्योंकि ये देश मे आवश्यकतानुसार साख का प्रसार व सकुचन समय-समय पर करते है। इस तरह साख-मुद्रा (Credit Money) के तमाम लाभ बैंकिंग प्रणाली द्वारा ही प्राप्त हो सके हैं। (v) संरक्षण-सम्बन्धी कार्य:—बैंक्स अपने ग्राहकों को लोहे की आलमारियों के छोटे छोटे खानो (Safe Deposit Vaults) मे बहुमूल्य वस्तुयें रखने की सुविधा बहुत मामूली शुल्क (Fees) लेकर प्रदान करते हैं। (vi) ऐजन्सी का कार्य:—बैंक्स अपने ग्राहकों की ओर से अनेक प्रकार के कार्य करते है—भुगतान का लेन-देन करना, ऋण व्यवस्था करना, हिस्सों तथा ऋण-पत्रों को खरीदना-बेचना, उत्तर-साधक (Executor), ट्रस्टी (Trustee) तथा प्रतिनिधि (Representative) के रूप मे कार्य करना, विभिन्न कम्पनियों की हिस्सा पूंजी का

निर्गम (Issue) तथा अभिगोपन (Underwriting) करना, व्यापारियो की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना, आर्थिक सूचनायें तथा व्यापारिक आकडे एकत्र करके प्रकाशित करना, आदि। ऐसे कार्यों को करके ये अपने ग्राहको को चिन्ताओ से मुक्त कर देते हैं। (vii) विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करना, यात्रियों के चैक तथा गश्ती साख-पत्र जारी करना.—बैंक्स के इन कार्यों से विदेशी व्यापार को बहुत सहायता मिलती है।

बैंको के उत्तलिखित कार्यों से यह स्पष्ट है कि देश मे औद्योगिक विकास की कोई भी योजना बैंकिंग के विकास के बिना सफल नही हो सकती है। इसलिये समुचित आर्थिक विकास की दृष्टि से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे बैंक्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बैंकों का वर्गीकरण (Classification of Banks)

प्राक्कथन—बैंको के कार्य, इनका सगठन तथा स्वभाव विभिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं जिससे इनका स्पष्ट वर्गीकरण करना बहुत कठिन होता है क्योंकि एक बैंक जो एक कार्य-विशेष करने मे निपुण है दूसरे कार्य भी, जो किसी दूसरे बैंक के क्षेत्र मे आते हैं, कर सकता है और कभी-कभी किया भी करता है। अतः कुछ परिस्थितियो मे वर्गीकरण की एक स्पष्ट रेखा खीचना सम्भव नहीं होती है।* परन्तु फिर भी बैंको को उनके स्पष्ट कार्यों के आधार पर निम्न प्रकार से वर्गित किया जा सकता है:—(i) व्यापारिक बैंक्स (Commercial Banks)—ये वे बैंक्स हैं जो मुख्यत व्यापारियो को अल्पकालीन ऋण तथा अग्रिम (Advances) प्रदान करते हैं। प्रायः ऋण की अवधि ३ महीने की होती है, परन्तु कभी कभी ऋण १२ महीने के लिये दे दिया जाता है। ये ऋण अथवा अग्रिम बौंड्स, सिक्यूरिटीज, विनिमय बिल्स, तैयार माल तथा अन्य उपयुक्त तरल सम्पत्ति (Liquid Assets) के आधार पर दिया करते हैं। भारत मे अधिकाश मिश्रित पूजी वाले बैंक्स (Joint Stock Banks) इसी प्रकार के हैं। परन्तु भारत मे ये बैंक्स न केवल व्यापार की वित्तीय-व्यवस्था मे सहायक होते हैं वरन् ये अन्य बहुत से कार्य भी करते हैं, जैसे—ग्राहको को विदेशी विनिमय दिलवाना, दीर्घ-कालीन औद्योगिक कार्यों के लिये ऋण देना आदि। (ii) औद्योगिक बैंक्स (Industrial Banks):—ये बैंक्स औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करते हैं। यह कार्य ये दीर्घ-कालीन तथा अर्धदीर्घ-कालीन जमा प्राप्त करके सम्पन्न किया करते हैं। इनके द्वारा ऋण भी दीर्घकालीन दिया जाता है जिससे कारखाने वाले मशीन, बिल्डिंग तथा फर्नीचर आदि के लिये इन्ही से ऋण लेते हैं। ऋण देने के अतिरिक्त ये बैंक्स और भी बहुत से कार्य करते हैं, जैसे—औद्योगिक कम्पनियो के शेयर्स को खरीदना-बेचना, इन कम्पनियो को आर्थिक सलाह देना आदि। इस प्रकार के बैंकों ने जर्मनी और

*"There is no line of demarcation with regard to the functions which a bank has to perform An exchange bank may engage itself in commercial business as well, while indigenous bankers may not only invest their capital in long term industrial loans but also in side business as well."

जापान में बहुत सफलता प्राप्त की है, (जर्मनी के औद्योगिक बैंक व्यापारिक बैंक का भी कार्य करते हैं) परन्तु भारत में इस प्रकार के बैंक्स नही पाये जाते हैं। यह अवश्य है कि इण्डसट्रियल फाईनेन्स कॉरपोरेशन्स (Industrial Finance Corporations) इन बैंकों जैसे ही कार्य कर रहे हैं क्योकि ये उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देते हैं। (iii) विदेशी विनिमय बैंक्स (Foreign Exchange Banks):—इन बैंकों को केवल "विनिमय बैंक्स" (Exchange Banks) भी कहते हैं। ये बैंक्स विदेशी बिल्स का क्रय विक्रय करके विदेशी भुगतान में सहायता पहुँचाते हैं। यह कार्य मुख्यतः बिल्स ऑफ एक्सचेंज द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अक्सर विनिमय बैंक्स बैंकों के और भी लगभग सभी प्रकार के कार्य किया करते हैं। भारत में इस समय पूर्णतया भारतीय विनिमय बैंक कोई भी नही है। भारतवर्ष में विदेशी बैंकों की शाखायें ही मुख्यतः विदेशी बिल्स के क्रय विक्रय का कार्य करती हैं, परन्तु हाल में ही कुछ भारतीय व्यापारिक बैंकों ने भी इस कार्य को करना आरम्भ कर दिया है। (iv) कृषि बैंक्स (Agricultural Banks):— कृषकों की वित्त की आवश्यकता दो प्रकार की होती है—प्रथम, बीज, खाद, फसलों की बिक्री के लिये अल्पकालीन ऋण तथा द्वितीय, भूमि के खरीदने या इसमें स्थायी सुधार करने के लिये दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता पड़ा करती है। परन्तु कृषक ऋण लेने के लिये कोई खास सिक्यूरिटी जमानत के रूप में नही देने पाता है क्योकि वह निर्धन है और उसके पास इस प्रकार की कोई स्वीकृत प्रतिभूतियां (Securities) भी नही होती हैं। परिणामतः कृषि की वित्त-व्यवस्था करने के लिये हमें एक पृथक् से बैंक की आवश्यकता पड़ती है और कृषि बैंक इस प्रकार की आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति करता है। कृषि-सम्बन्धी दो प्रकार के बैंक्स होते हैं-प्रथम, सहकारी साख-समिति (इसे सहकारी बैंक भी कह सकते हैं) जो अल्प-कालीन ऋण देने की व्यवस्था करती है तथा द्वितीय, भूमि-बन्धक बैंक्स (Land Mortgage Banks) जो दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करते हैं। इस समय भारत में दोनों ही प्रकार के बैंक्स पाये जाते हैं। सहकारी बैंक्स (Co-operative Banks) या सहकारी साख-समिति का निर्माण दस या दस से अधिक व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है। ये समितियां प्रान्तीय सहकारी बैंक्स या केन्द्रीय बैंक से रुपया उधार ले सकती हैं। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य कृषकों को कम ब्याज की दर पर अल्प-कालीन ऋण प्रदान करना है। भारत में इस प्रकार की समितियां बहुत पाई जाती हैं। इनका निर्माण असीमित दायित्व के आधार पर प्रायः किया जाता है। प्रान्तीय सरकार द्वारा इन समितियों पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। कुछ समय से भारत में इन समितियों के स्थान पर बहु-धंधीय सहकारी साख-समितियां (Multipurpose Co-opertive Societies) का निर्माण किया जा रहा है जो ऋण देने के अतिरिक्त अन्य बहुत से कार्य भी करती हैं। भूमि बन्धक बैंक्स (Land Mortgage Banks) कृषि कार्यों के लिये ५ वर्ष से १० वर्ष तक का ऋण देते हैं और कभी-कभी ऋण की अवधि ५० वर्ष तक होती है। ऋण जमीन को गिरवीं रखकर दिया जाता है। परन्तु इन ऋणों

का उद्देश्य भूमि में स्थायी सुधार करना, पशु खरीदना, कुए व बाढ़ा बनवाना, बाढ़-नियन्त्रण की व्यवस्था करना, चकबन्दी करना आदि हुआ करता है। अत इन बैंको द्वारा दिया गया ऋण सदा दीर्घकालीन हुआ करता है। भारत म इस प्रकार की समितियाँ या बैंक्स पाये जाते हैं। इनका निमाण सहकारी तथा मिश्रित पूजी कम्पनी दोनो ही आधार पर किया जाता है। इन दोनो मे ही सीमित दायित्व होता है। (v) पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक (Post Office Savings Banks)—भारतीय डाकखाने इस प्रकार के खाते खोलने की सुविधा देकर ऐसे व्यक्तियो को जिनकी आमदनी बहुत कम होती है धन सचय करन के लिय प्रोत्साहन देते हैं। (vi) देशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) —इनको देशी बैंक भी कहते हैं। महाजन व साहूकार हमारे देश म कोने-कोने मे पाये जाते हैं। ये आन्तरिक व्यापार व कृषि कार्यों को विशेषकर आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। (vii) केन्द्रीय बैंक (Central Bank) —किसी देश में यह बैंक सख्या म केवल एक होता है यद्यपि यह स्वय अपनी कितनी ही शाखायें खोल सकता है। नोट निगम (Note Issue) पर इस बैंक का एकाधिकार होता है यह बैंको का बैंक तथा सरकार का बैंक होता है। जब कभी सरकार को रुपयो की आवश्यकता होती है तब यह बैंक सरकार को भी ऋण दे देता है। यह देश म साख का नियन्त्रण तथा नियमन करता है सरकार को आर्थिक तथा वित्तीय (Financial) मामलो म सलाह देता है तथा देश म आर्थिक तथा वित्तीय सूचनाओ व आकडो को एकत्रित करके इन्हे प्रकाशित करता है। यह बैंक देश की बैंकिंग-व्यवस्था को समुचित ढङ्ग से उन्नत करने का जुम्मेदार होता है। इन सब कार्यो से देश के केन्द्रीय बैंक को राष्ट्रीय बैंक कहा जाता है। भारत मे ऐसे बैंक का नाम 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया' है।

यह स्मरण रहे कि इन सब बैंको का विस्तृत वणन 'भारतीय बैंकिंग' नामक अध्याय मे किया गया है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B A & B Sc.

१ व्यवसायिक बैंको के कामो की व्याख्या करें। वतमान आर्थिक व्यवस्था म उनका क्या महत्व है? (१९६०) २ व्यापारिक बैंको के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। उद्योग के लिय वे किस प्रकार अधिक सहायक हो सकते है, समझाइये। (१९५९ S) ३ साख की परिभाषा दीजिये और बतलाइये कि व्यापारिक बैंक इसका निर्माण किस प्रकार करते है? (१९५८) ४ व्यापारिक बैंको के मुख्य कार्य क्या हैं? क्या इन बैंको को उद्योग धन्धो के लिये स्थायी पूजी व्यवस्था करना उचित है? (१९५८ S) 5 Give the main functions of commercial banks and show how they create credit? (195 S) 6 Write a note on—Fixed Deposits (1956 S) 7 How does a bank create credit? Examine the limitations on the power of banks to create credit (19 6 8 Banking consists of receiving other people's money and lending it out again to the

which enable the bankers to create a vast credit structure" Explain. (1958) ४ केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य बैंक के कार्यों म अन्तर समझाइए। (१९५७) ५ बैंक साख कैसे उत्पन्न करते है ? साख उत्पन्न करने मे बैंक की शक्ति कैसे सीमित है ? (१९५७)

Sagar University, B Com

१ 'ऋण साख का निर्माण करते हैं' (Loans Create Credit) इस मत की व्याख्या कीजिए और बतलाइए कि बैंकों या अधिकोषो के द्वारा साख निर्माण कर सकने की क्या सीमायें हैं ? (१९५४)

Jabalpur University, B A.

१ वाणिज्य-अधिकोष (Commercial Bank) प्रत्यय निर्मिती (Creation of credit) किस प्रकार करता है ? प्रत्यय निर्माण की शक्ति किस तरह सीमित होती है ? (१९५६) २ व्यापारी बैंको (Commercial Banks) के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए और समझाइये किसी देश की औद्योगिक उन्नति मे ये किस प्रकार सहायक हैं ? (१९५८)

Jabalpur University, B. Com.

१ "ऋणो से प्रत्यय उत्पन्न होता है' (Loans Create Credit)। इस कथन की विवेचना कीजिए और अधिकोषो के प्रत्यय निर्माण की परिसीमाओं का निर्देशन कीजिए। (१९५८)

Vikram University, B. A. & B. Sc

१ बेंकों के विभिन्न प्रकारो के नाम लिखिये तथा उनके कृत्या (Functions) का स्वरूप भी बताइये (१९५९)

Banaras University, B Com

1 Discuss briefly the functions of a modern bank and explain the main considerations that guide a bank in investing its funds (1959) 2 Write a note on—Derivative Deposits (1959)

Bihar University, B Com.

1 Examine the economic functions of commercial banks Can you suggest some special functions to be discharged by the commercial banks in India to make them more useful ? (1959) Cash Reserve is the foundation of all credit that can be created by a bank" Do you agree with the above statement ? Give reasons for your answer (1959 Ad Bank & Cur)

Nagpur University, B A.

१ व्यापारी अधिकोषो के साख निर्मिति के कार्य का वर्णन करते हुये उसकी सीमायें बतलाइये (१९५६) २ प्रत्यय निर्माण (Creation of Credit) से आप क्या समझते हैं ? वाणिज्य अधिकोष की प्रत्यय निर्माण शक्ति का परिसीमन करने वाले कारणो को समझाइए। (१९५८)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ —(1) व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। उद्योग के

लिये ये किस प्रकार अधिक सहायक हो सकते हैं, समझाइये (Agra, B. A. १९५६, Jabb., B. A. १९५८) (ii) क्या इन बैंकों को उद्योग-धन्धों के लिये स्थायी पूंजी की व्यवस्था करना उचित है ? (Agra B A. १९५८) (iii) मिश्रित पूंजी के बैंक देश के आर्थिक विकास के लिये किस प्रकार सहायक होते हैं ? (Agra, B. A. १९५५) (iv) बैंकों के विभिन्न प्रकारों के नाम लिखिये तथा उनके कृत्यों (Functions) का स्वरूप भी बताइये (Vikram, B. A. १९५६) (v) What is a commercial Bank ? Discuss the services it renders to industry and trade and point out the sources of its profits (Agra, B Com. 1957, Raj., B A. 1958)

संकेत:—उक्त प्रश्नों में छः बातें पूछी गई हैं—व्यापारिक बैंक किसे कहते हैं ? बैंकों के विभिन्न प्रकारों के नाम बताइये, बैंक के कार्य क्या-क्या हैं ? बैंक्स उद्योगों व व्यापार तथा देश के आर्थिक विकास में कहाँ तक सहायक होते हैं ? क्या बैंकों को उद्योग-धन्धों में स्थायी रूप में अपनी पूंजी का विनियोग करना उचित है ? बैंकों के लाभ के क्या स्रोत हैं ? प्रथम भाग में व्यापारिक बैंक का अर्थ एक-दो परिभाषाओं के आधार पर बताइये (आधा पृष्ठ)। द्वितीय भाग में बैंकों के विभिन्न प्रकारों के नाम तथा इनके कार्य संक्षेप में बताइये, जैसे—व्यापारिक बैंक्स, औद्योगिक बैंक्स, सहकारी बैंक्स, विदेशी विनिमय बैंक्स, कृषि बैंक्स, केन्द्रीय बैंक, भूमि बन्धक बैंक्स (एक पृष्ठ)। तृतीय भाग में बैंक के मुख्य-मुख्य कार्य बताइये (यह स्मरण रहे कि जबकि प्रश्न में 'बैंक के कार्य' पूछे जाय तब केवल व्यापारिक बैंकों के कार्यों का उल्लेख करना चाहिये) जैसे—जमा प्राप्त करना (यहाँ विभिन्न प्रकार के खातों की विशेषताओं को बताइये), धन उधार देना (उधार देने की विभिन्न रीतियों को बताइये, जैसे—नकद उधार, अधि-विकर्षण हिस्से व माल की जमानत पर ऋण परन्तु यहाँ पर बैंकों द्वारा साख-सृजन की रीति को विस्तार से मत लिखिये) हुण्डियों व विनिमय-पत्रों को भुनाना तथा अन्य पंचमेल कार्य (जैसे-मुद्रा का हस्तान्तरण, बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना, एजेन्सी कार्य आदि) (चार-पांच पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में बैंकों के लाभ एवं महत्व को लिखिये तथा बताइये कि ये उद्योगों व व्यापार को किस प्रकार सहायता प्रदान करते हैं—यहाँ पर साख-पत्रों जैसे—चैक, ड्राफ्ट, बिल्स आदि के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले लाभों को लिखिये, यह स्पष्ट कीजिए कि साख-पत्र सस्ते व सुगम विनिमय के माध्यम के साधन हैं, कि इनसे व्यापारिक कार्यों में सुविधा मिलती है, कि बैंक्स कम्पनियों के हिस्सों का क्रय-विक्रय तथा इन पर ब्याज व लाभांश वसूल करने का भी कार्य करते हैं, कि बैंक्स उद्योगपतियों, कम्पनियों व व्यापारियों के एजेन्ट के रूप में कार्य करते हैं कि बैंक्स साख-सृजन करके व्यापारियों व उद्योगों की धन की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, बैंक्स देश में पूंजी के सचय को प्रोत्साहित करते हैं, यह रकम बैंकों के पास विभिन्न खातों में जमा के रूप में जमा हो जाती है, बैंक्स इस जमा-धन के आधार पर साख-सृजन करते हैं तथा उत्पादकों को पूंजी उधार देते हैं, बैंक अनुत्पादक क्षेत्रों से धन को एकत्रित करके इसे उत्पादक क्षेत्रों को उपलब्ध कराते हैं जिससे देश में वाणिज्य

व्यापार का विकास होता है अथवा देश की आर्थिक उन्नति होती है, कि बैंक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करके देश के विदेशी व्यापार को सुगम बना देते हैं आदि (एक-डेढ़ पृष्ठ) । पाँचवे भाग मे यह बताइये कि व्यापारिक बैंको को देश के उद्योग-धन्धो मे स्थायी रूप से पूँजी का लगाना अनुचित है—कि बैंको के पास अस्थाई अथवा अल्पकालीन जमा प्राप्त होती है जिसे जमाकर्ता जब चाहे तब निकाल सकता है (सिवाय अल्पकालीन जमा खातो मे), कि इस प्रकार की अस्थाई जमा के आधार पर यदि बैंको ने दीर्घ कालीन अथवा स्थायी रूप मे पूँजी का विनियोजन कर दिया, तब वे अपने आपको सकट मे डाल लेंगे आदि बैंक के विनियोग के सिद्धान्तों को सक्षेप मे लिखकर, उनके आधार पर उक्त मत की पुष्टि की जा सकती है (आधा पृष्ठ) । छठे भाग मे सक्षेप मे बैंको के लाभ के स्रोत बताइये—कम ब्याज पर जमा प्राप्त करके अधिक ब्याज की दर पर ऋण देना, हुण्डियो व बिलो को भुनाना, एजेन्सी कार्यों आदि मे कमीशन लेना आदि ।

प्रश्न २—(i) साख की परिभाषा कीजिए और बतलाइये कि व्यापारिक बैंक इसका निर्माण किस प्रकार करते हैं ? (Agra, B A १९५१), (ii) अधिकोषों द्वारा किस प्रकार साख निर्माण किया जाता है ? उनकी क्या सीमायें हैं ? (Agra, B Com. १९५९, Jabb., B A. १९५९, Bihar B A. 1956, 1955) (iii) पत्र मुद्रा और बैंक मुद्रा के भेदों को स्पष्ट रूप से समझाइये । बैंकों के ऊपर बैंक मुद्रा के निर्माण मे कौन से प्रतिबन्ध हैं ? (Sagar B A १९५६ , (iv) "Banking consists of receiving other people's money and lending it out again to the people who deposited it The banker really borrows the depositor's money, usually for nothing and than lends the same money back again on interest " Comment on this statement (Agra, B A 1955), (v) "Every loan creates a deposit". How does it happen ? (Agra, B Com. 1956, Sagar, B Com 1954 Jabb. B. Com 1958), (vi) Show how such credit can be useful for the economic planning of a country ? Raj , B A 1959, 1956 , (vii) ' If all the insured people conspire to die on the same day, the insurance companies will fail, banking similarly is based on certain assumptions which enable the bankers to create a vast credit structure ' Explain (Sagar, B. A 1958), (viii) ' Bank Deposits have, in modern times, changed from Deposits of Cash to Deposit of Credit " (Allahabad B A 1953, Agra B A 1952)

सकेत —उपरोक्त प्रश्नो मे छ बातें पूछी गई हैं—साख किसे कहते हैं ? बैंक-मुद्रा और पत्र मुद्रा मे क्या भेद है ? क्या प्रत्येक ऋण जमा को जन्म देता है और कैसे ? व्यापारिक बैंक साख का निर्माण किस प्रकार तथा किन मान्यताओ के आधार पर करते हैं ? *बैंक-मुद्रा के निर्माण या साख-सृजन की सीमायें क्या हैं ?* बैंको द्वारा साख-सृजन देश के आर्थिक नियोजन मे किस प्रकार सहायक है ? प्रथम भाग मे दो-चार वाक्यों मे एक दो परिभाषाओं के आधार पर 'साख' शब्द का अर्थ समझाइये (आधा पृष्ठ) । द्वितीय भाग मे पत्र-मुद्रा और बैंक-मुद्रा मे भेद बताइये—पत्र-मुद्रा की

परिभाषा दीजिये, बताइये कि यह पत्र मुद्रा (नोट) सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की जाती है और इस पर वायदा छपा रहने पर नोट निर्गम अधिकारी इसके बदले में देश की प्रधान मुद्रा देता है, कि आधुनिक युग में इसके अनेक लाभों के कारण समस्त राष्ट्रों में पत्र-मुद्रा का निर्गम होता है, यह प्रायः तीन प्रकार की होती है—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा, परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (इनके सम्बन्ध में सक्षेप में लिखिये)। इसके विपरीत बैंक-मुद्रा वह मुद्रा है जिसका निर्माण किसी बैंक द्वारा किया जाता है, जैसे—चैक, ड्राफ्ट, बिल्स आदि। जबकि पत्र-मुद्रा कानूनी ग्राह्य होती है यह बैंक मुद्रा (या इस प्रकार की साख-मुद्रा) कानून की दृष्टि से सर्वग्राह्य नहीं होती वरन् ऐच्छिक होती है, जबकि पत्र-मुद्रा का निर्गम प्रायः आजकल केवल देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया है अथवा उसका पत्र-मुद्रा (नोट) के निर्गम पर एकाधिकार होता है, बैंक मुद्रा का निर्गम प्रत्येक बैंक द्वारा किया जाता है (पत्र-मुद्रा व बैंक-मुद्रा के गुण-दोषों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है, सक्षेप में स्पष्ट कीजिये) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। तृतीय भाग में बताइये कि वर्तमान बैंकिंग की कार्य-प्रणाली ही ऐसी है कि "प्रत्येक ऋण जमा को जन्म देता है"—कि बैंक जब व्यापारियों को रुपया उधार देता है, तब वह इसे नकद के रूप में फौरन नहीं देता (यद्यपि ऐसा भी किया जा सकता है वरन् वह इस ऋण की रकम को ऋणी के नाम के खाते में जमा कर देता है (यह नया खाता वह अपने पास खोल लेता है) और ऋणी को यह अधिकार देता है कि वह जब चाहे तब चैक (या अन्य प्रकार से) द्वारा इस रकम को खाते में से निकाल सकता है, इस तरह बैंक जितना अधिक ऋण देता है, उतनी ही अधिक मात्रा में उसके पास जमा (Deposits) की रकम प्राप्त होती है और बैंक के पास जितनी रकम जमा होती है, वह उतनी ही अधिक मात्रा में ऋण दे देता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक ऋण जमा को जन्म देता है (उदाहरण देकर इस मत की पुष्टि कीजिये) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में बताइये कि बैंकस साख-सृजन का कार्य किस प्रकार करते हैं—(i) नोट-निर्गम द्वारा—नोट-निर्गम का कार्य आजकल देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया है। इस कारण व्यापारिक बैंकस इस नीति द्वारा साख-निर्माण का कार्य नहीं करते हैं। यह अवश्य है जो बैंकस आज भी नोट निर्गम का कार्य करते हैं वे साख-सृजन करते हैं। (ii) नकद-जमा व साख-जमा द्वारा साख का निर्माण—व्यापारिक बैंकस इस रीति द्वारा साख-सृजन करते हैं यह बताइये कि साख-सृजन के लिये बैंकस सर्वप्रथम साख को जमा खातों के रूप में उत्पन्न करते हैं। अर्थात् बैंकों के पास जो धन नकद-जमा के रूप में प्राप्त होता है, उसे वे ऋण के रूप में देते हैं और इन ऋणों की रकम को साख-जमा के रूप में अपने पास जमा कर लेते हैं तथा ऋणियों को इस रकम को चैक द्वारा निकालने का अधिकार दे देते हैं। इस तरह नकद-जमा को बैंक साख जमा में परिणत कर देते हैं। (इसे उदाहरण सहित विस्तार से समझाइये)। साख-सृजन का कार्य तीन मान्यताओं पर आधारित है—(i) सभी ग्राहक अथवा जमा-कर्ता एक ही समय पर रुपया बैंक से नहीं निकालते हैं, (ii) जो रुपया निकाला जाता

है वह अधिकांशत चैकों द्वारा निकाला जाता है, (iii) ये चैक दूसरे बैंक मे अथवा इसी बैंक की दूसरी शाखा के खाते मे जमा होते है जिससे केवल कागज की लिखा पढ़ी होती है और वास्तव मे रुपये के लेन-देन की आवश्यकता बहुत कम होती है (उदाहरण दीजिये), (iii) बैंक अपने अनुभव के आधार पर यह तय कर लेता है कि कितने मनुष्य वास्तव मे कितना रुपया निकालने के लिये आते है या वह प्रतिदिन कितने रुपये का -वास्तव मे लेन-देन करता है। इस अनुभव के आधार पर, यह मानकर कि उसे अमुक रकम से अधिक धन की किसी दिन भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, वह अपनी जमा-राशि मे से इस रकम को तो अपने पास नकद मे रख लेता है और शेष उधार दे देता है (आवश्यकता पड़ने पर वह अन्य बैंकों या केन्द्रीय बैंक से रुपया मगा सकता है)। इन मान्यताओं को विस्तार से समझाकर बताइये कि इन्ही के आधार पर प्रत्येक बैंक साख-सृजन का कार्य करता है (तीन-चार पृष्ठ)। पाँचवें भाग में बताइये कि उक्त साख-सृजन की क्या-क्या सीमायें हैं—जैसे–देश मे मुद्रा की कुल मात्रा, जनता में बैंकिंग की आदत (नकदी को बैंकों मे जमा करने तथा चैक के उपयोग की आदत), कुल दायित्व या नकद-कोष मे प्रतिशत व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय बैंक के पास जमा की रकम, केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति अच्छी जमानत की उपलब्धि, देश की आर्थिक स्थिति, आदि (तीन-चार पृष्ठ)। छठे व अन्तिम भाग मे बताइये कि बैंको द्वारा साख-सृजन देश के आर्थिक नियोजन मे बहुत सहायक होता है—कि वर्तमान व्यापार व उद्योगों के लिए अल्पकालीन ऋण (एक वर्ष या इसके आस पास) की अत्यधिक आवश्यकता रहती है, कि व्यापारी व कम्पनियाँ अपनी स्थायी पूँजी की व्यवस्था तो अन्य साधनों एव तरीको से कर लती हैं और दिन प्रतिदिन की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति व्यापारिक बैंकों द्वारा कर लेती हैं, इसलिए इनकी संख्या व कार्यों मे अत्यधिक उन्नति हुई है, एक ओर साख सृजन का कार्य सम्पन्न करने के लिए बैंक्स अनुत्पादक धन को एकत्रित करके इसे देश क उत्पत्ति कार्यों में लगाते है और दूसरी ओर देश मे मुद्रा की मात्रा आवश्यकतानुसार वृद्धि करके ये देश क आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करते हैं। आर्थिक नियोजन क काल म एक ओर देश मे नई नई कम्पनियो व उद्योगों के निर्माण की व्यवस्था की जाती है उनके अल्पकालिन धन की आवश्यकता की पूर्ति बैंकों द्वारा साख सृजन से किया जाता है और दूसरी ओर, ऐसे काल मे चू कि अत्यधिक मुद्रा प्रसार होता है, ये जनता के हाथो मे से अतिरिक्त मुद्रा को खीचते हैं जिससे इस धन का उपभोग क स्थान पर उत्पादन-कार्यों म प्रयोग होता है (इससे मुद्रा-स्फीति की दशाओं म रोक लगती है, देश के मूल्य-स्तर मे स्थिरता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, योजना के सफल होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है आदि), केन्द्रीय बैंक भी बैंकों की साख-सृजन शक्ति को नियन्त्रित करके, इसका देशहित म प्रयोग करते है आदि। अत बैंकों के साख-सृजन के कार्य एव शक्ति का आर्थिक नियोजन के काल मे बहुत लाभ एव महत्व है (दो-ढाई पृष्ठ)।

प्रश्न ३ :—(i) केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य बैंक के कार्यों में अन्तर समझाइये (Sagar, B. A १६५७) (ii) **Explain fully the difference between Commercial and Central Banking and state the functions of a Commercial Bank.** (Sagar, B A. 1958)

संकेत:—उत्तर के आरम्भ में केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक की प्रकृति व अर्थ में अन्तर बताइये, जिन सिद्धान्तों पर दोनों बैंक कार्य करते हैं उन्हें भी संक्षेप में बताइये। तत्पश्चात् दोनों के कार्यों को बताते हुए, इनके कार्यों में अन्तर बताइये (पाँच-छः पृष्ठ)।

प्रश्न ४ :—(i) '**Banks are not merely purveyors (Supply) of money but also in an important sense, manufacturers of money.**" Discuss. (Bihar, B. A. 1956), (ii) **In what sense is it true to say that the main function of a bank is to exchange its own credit for its customer's credit ?** (Allahabad, B. A. 1940) (iii) "**The Bank does not create money out of air, it transmutes other forms of wealth into money**" Discuss.

संकेत:—उत्तर के आरम्भ में दो-चार वाक्यों में बैंक का अर्थ लिखिये और संक्षेप में बताइये कि साख-निर्माण का कार्य प्रत्येक बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है (यहाँ बैंक के अन्य कार्यों को लिखने की आवश्यकता नहीं है) (एक पृष्ठ)। द्वितीय भाग में बताइये कि बैंक प्रायः सम्पत्ति या प्रतिभूतियों (शेयर-बॉण्ड्स आदि) की जमानत के आधार पर ऋण दिया करता है, उसे ऋणी की साख में विश्वास होता है कि वह निर्धारित समय में ही ऋण की अदायगी कर देगा, वह ऋण नकद रूप में नहीं देता वरन् ऋण की रकम को ऋणी के नाम में अपने पास एक खाते में जमा कर लेता है और ऋणी को इस रकम को चेक द्वारा निकालने का अधिकार दे देता है। ऋणी इस प्रकार के चेक इस कारण स्वीकार करते हैं कि उन्हें विश्वास होता है कि बैंक उनके चेकों को स्वीकार करके रकम का भुगतान कर देगा। अतः बैंक नकद में रुपया न देकर ऋणी की साख के बदले में अपनी साख दे देता है और इस तरह ऋणी की सम्पत्ति के विभिन्न प्रकारों (प्रतिभूतियाँ, शेयर्स, माल) को मुद्रा के रूप में बदल देता है। इसी को बैंक द्वारा साख-सृजन कहते हैं (एक उदाहरण द्वारा विस्तार से बताइये कि बैंक किस प्रकार तथा किन मान्यताओं के आधार पर साख-सृजन करता है) संक्षेप में, बैंक की साख-निर्माण शक्ति की सीमायें भी बताइये तथा अन्त में बैंक के साख-निर्माण कार्य के आर्थिक महत्व को भी संक्षेप में बताइये (पाँच-छः पृष्ठ)।

अध्याय १०

बैंक की विनियोग नीति तथा स्थिति विवरण

(The Investment Policy and the Balance-Sheet of a Bank)

बैंक की पूंजी (Capital of the Bank)

एक बैंक पूंजी किस प्रकार प्राप्त करता है ? (How does the Bank obtain Capital?) —प्रत्येक बैंक के पूँजी प्राप्त करने के कई महत्वपूर्ण साधन होते हैं।

(1) अंश पूंजी (Share Capital) —वर्तमान समाज में बैंकों का निर्माण मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियां (Joint Stock Companies) के आधार पर किया जाता है। इस तरह प्रत्येक बैंक के कुछ हिस्सेदार होते हैं जो बैंक के कुछ निश्चित रकम के शेयर्स खरीदते हैं। बैंक का संचालक मण्डल (Board of Directors) आरम्भ में ही यह तय कर लेता है (यद्यपि इसमें बाद में भी परिवर्तन हो सकता है) कि बैंक व्यापार का संचालन कितनी पूँजी से आरम्भ करेगा तथा बैंक की कुल अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) कितनी होगी। इस पूँजी का कुछ भाग बैंक जनता को खरीदने के लिए देते हैं, जितनी रकम के अंश (Shares) जनता को खरीदने के लिए दिये जाते हैं, उसे निर्गमित पूंजी (Issued Capital) कहते हैं। इन निर्गमित अंशों में से जनता जितने अंश खरीदेगी, उस भाग को प्रार्थिक पूंजी (Subscribed Capital) कहते हैं। इस प्रार्थिक पूंजी का जितना भाग चुकता होगा, उसे दत्त-पूंजी (Paid up Capital) कहते हैं। बैंक की वास्तविक पूंजी यही होती है। संचालक मण्डल यह भी तय कर दिया करता है कि कोई एक व्यक्ति अधिक से अधिक कितने शेयर्स खरीद सकता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी विधान १९४९ (Indian Banking Campanies Act

> किसी बैंक को पूञ्जी के साधन हैं:—
>
> १ अंश पूँजी।
> २ जमा-धन।
> ३ ऋण।
> ४ साख का निर्माण करने की शक्ति।
> ५ सुरक्षित-कोष।

---

* आगरा यूनिवर्सिटी के बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये परीक्षा की दृष्टि से यह अध्याय अधिक लाभप्रद नहीं है। अतः उन्हें इस अध्याय को केवल एक सरसरी निगाह से ही पढ़ना चाहिये।

1949) के अनुसार बैंक को प्रार्थित-पूंजी (Subscribed Capital) अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) की आधी से कम नहीं होनी चाहिये और दत्त-पूंजी (Paid-up Capital) भी प्रार्थित पूंजी की आधी से कम नहीं होनी चाहिये। पूंजी में केवल साधारण हिस्से (Ordinary Shares) होने चाहियें। इस तरह अंशों (Shares) की बिक्री से प्राप्त राशि ही बैंक की वास्तविक पूंजी होती है और कभी-कभी बैंक की कुल पूंजी का एक बड़ा भाग अंश-पूंजी (Share Capital) के रूप में होता है। (ii) जमा-धन (Deposits):—यह बैंक की पूंजी का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है। यह हम पढ़ चुके है कि बैंक के दो ही महत्वपूर्ण कार्य हैं—जनता से धन प्राप्त करना तथा इसे व्यापारियों को उधार देना। बैंक के ऋणों में जमा धन का भाग बहुत बड़ा हुआ करता है। जमाकर्ता कुछ शर्तों पर अपना धन बैंक में जमा कर देते हैं और इन शर्तों के अनुसार जब चाहे तब अपना रुपया वापिस ले लेते है। जनता का बैंक में जितना अधिक विश्वास होता है, बैंक को जमा-धन (Deposits) उतना ही अधिक मात्रा में उपलब्ध हो जाता है और इस तरह एक अच्छे बैंक की पहचान ही यह है कि उसे कितना जमा-धन प्राप्त हुआ है। बैंक जमा-धन कितने ही प्रकार के खातों द्वारा प्राप्त करता है —चालू खाते, निश्चित कालीन खाते, अनिश्चित कालीन खाते, सेविंग्स बैंक खाते आदि। प्रत्येक खाते में रुपया जमा करने तथा इसको निकालने के सम्बन्ध में अलग-अलग शर्तें होती हैं। इन खातों में जमाकर्ता छोटी से छोटी रकम से लेकर बड़ी से बड़ी रकम जमा कर सकता है। अतः जमा-धन (Deposits) द्वारा बैंक्स एक बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी प्राप्त करते हैं। (iii) ऋण (Loans):—प्रत्येक बैंक न केवल जमा-धन (Deposits) के रूप में ऋण लेता है वरन् वह प्रत्यक्ष रूप में भी ऋण लेता है। ये ऋण व्यक्तियों से ले लेकर संस्थाओं से लिये जाते है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक्स तथा अन्य विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं को समय-समय पर ऋण दिया करता है। यह स्मरण रहे कि कोई भी बैंक साधारण परिस्थितियों में ऋण नहीं लेता है वरन् वह असाधारण परिस्थितियों में या संकट काल में जब कभी वह जमाकर्ताओं की रुपयों की मांग अपने निजी साधनों से पूरा नहीं करने पाता है, तब ही उसे ऋण लेने की आवश्यकता पड़ा करती है। इसीलिए बैंक्स इस प्रकार के ऋण बहुत अल्पकाल के लिए ही लेते हैं और संकट के टल जाने पर तुरन्त ही वापिस कर देते हैं। (iv) साख का निर्माण (Credit Creation):—बैंक में जमाकर्ता का यह विश्वास होता है कि मांग होने पर वह सदा ही रुपये का भुगतान कर देगा। बैंक्स जमाकर्ताओं के इस विश्वास का लाभ उठाकर बहुत बड़े पैमाने पर साख का सृजन कर देते हैं। इसीलिए निर्मित-साख से व्यवसाय करना बैंक की एक विशेषता होती है। साख-सृजन द्वारा बैंकों को एक बहुत बड़े पैमाने पर पूंजी उपलब्ध हो जाती है और इसी से वे लाभ भी बहुत उठाते हैं। इस सम्बन्ध में कि बैंक्स साख का निर्माण कैसे करते हैं और उनकी इस शक्ति की क्या-क्या सीमाएं हैं, पिछले अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है। (v) सुरक्षित कोष (Reserve

Fund) —प्रत्येक बैंक को अपने तमाम कार्यों को सम्पन्न करके अवसर कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होता है। इस लाभ का दो प्रकार से उपयोग होता है—प्रथम, इसका कुछ भाग अंशधारियों (Shareholders) को लाभांश (Dividend) के रूप में बांट दिया जाता है और द्वितीय, लाभ का शेष भाग सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है। यह स्मरण रहे कि लाभांश एक निश्चित सीमा में बांटा जाता है। परिणाम यह होता है कि रक्षित कोष का आकार शनै शनैः बढ़ता जाता है। इस कोष का उपयोग प्रायः असम्भाव्य हानि (Contingent losses) की पूर्ति तथा प्रति वर्ष दिए जाने वाले लाभ को समान रखने के लिए किया जाता है। विधान के अनुसार प्रत्येक बैंक को इस प्रकार का कोष रखना अनिवार्य होता है। भारत में भी सन् १९४९ के बैंकिंग विधान के अनुसार रक्षित-कोष (Reserve Fund) की रकम दत्त-पूंजी (Paid-up Capital) के बराबर होनी चाहिए। इसीलिए इस कानून ने प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का २० प्रतिशत भाग रक्षित कोष में जब तक यह दत्त-पूंजी (Paid up Capital) के बराबर नहीं हो जाय, स्थानान्तरित करना अनिवार्य कर दिया है। रक्षित कोष में जितना अधिक धन एकत्रित होता चला जाता है, उतना ही बैंक के ग्राहकों को बैंक की सुरक्षा का प्रमाण मिलता है और इससे बैंक के संचालकों की बुद्धिमत्ता का भी परिचय मिल जाता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि आरम्भ में बैंक को कार्यशील पूंजी (Working Capital) दत्त-पूंजी (Paid up Capital) से प्राप्त होती है और जैसे-जैसे रक्षित कोष की मात्रा बढ़ती जाती है, बैंक की कार्यशील पूंजी में भी वृद्धि होती है। ताकि रक्षित-कोष किसी भी समय बैंक के उपयोग में लाया जा सके, इसीलिए इसका विनियोग (Investment) केवल प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों (First Class Securities) में किया जाता है।

बैंकों की विनियोग-नीति

(Investment Policy of a Bank)

प्राक्कथन —प्रत्येक बैंक को लाभ अपनी पूंजी के उचित विनियोगों से होता है। ऊपर हमने यह जान ही लिया है कि बैंक को पूंजी किन-किन साधनों से उपलब्ध होती है। जब वह इस पूंजी का लाभप्रद तरीके से विनियोग करता है, तब ही वह लाभ कमाता है। बैंक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह पूंजी का इस प्रकार विनियोग करे कि वह किसी भी समय मांग होने पर जमाकर्त्ताओं की रकम का भुगतान कर सके क्योंकि मांग होने पर यदि बैंक भुगतान नहीं कर सका तब जनता का उसमें से विश्वास उठ जायगा और आर्थिक स्थिति अच्छी होते हुये भी उसे व्यापार बन्द करना पड़ेगा। परन्तु क्या बैंक अपनी तमाम पूंजी को अपने पास नकद में रख सकता है? नहीं। वह कभी भी ऐसा नहीं कर सकता है क्योंकि इसका उद्देश्य लाभ कमाना ही होता है। इसीलिये बैंक की पूंजी को निश्चित उपयोगों एवं विनियोगों (Investments) में बांटा जाता है, जैसे—नकद-कोष, तरल आदेय (Liquid Assets) आदि। एक बैंक अपनी तमाम पूंजी या धन विभिन्न विनियोगों पर किस

आधार पर बाटता है ? यह स्मरण रहे कि इस बंटवारे के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही हो सकता है, परन्तु फिर भी बैंक को बडी सावधानी से कार्य करना पडता है और वह पूँजी का विनियोग कुछ सामान्य बातों को ही ध्यान मे रखकर करता है। एक बैंक जो भी बातें ध्यान मे रखकर अपनी निजी विनियोग की नीति निर्धारित करता है, वह तमाम देशो मे एक-सी नही होती है क्योकि विभिन्न देशों मे जनता की आदत व्यापारिक एव औद्योगिक परिस्थितियाँ, बिल-बाजार की दशायें भिन्न-भिन्न होती हैं। इसीलिये द्रव्य के विनियोग के लिये बैंक अधिकारियो मे सबसे अधिक दूरदर्शिता (Foresight) अनुभव (Experience) और अनुमान (Judgement) की आवश्यकता है। बैंजहॉट (Bagehot) के शब्दो मे, "साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी (Caution) न कि भीरुता (Timidity) आधुनिक बैंकिंग का सार (Essence) है।*

विनियोग—नीति के सिद्धान्त
(Principles of a Sound Investment Policy)

बैंक की विनियोग-नीति के सिद्धान्त (Principles of a Sound Banking Investment Policy) :—इन्ही को हम कभी-कभी व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्त (Principles of Commercial Banking) भी कह देते है। व्यापारिक बैंक अपने धन का विनियोग करते समय निम्न बातें ध्यान मे रखते हैं अर्थात् बैंकों की विनियोग-नीति के निम्न आधार हैं:—

(१) धन की सुरक्षा (Safety of the Funds):—विनियोग चाहे जितना लाभदायक क्यो न हो, परंतु बैंको को धन की सुरक्षा का विचार कभी नही भूलना चाहिये। यदि सुरक्षा का ध्यान नही रक्खा गया, तब बैंक का जीवन स्वयं सकट मे पड जायेगा। सुरक्षा की बलि पर बैंक को लाभ के पीछे कभी भी नही दौड़ना चाहिये। कुछ व्यक्तियो का यह विचार है कि बैंक पूर्ण सुरक्षा के बिना कभी भी ऋण नही देते, परन्तु वास्तविकता यह है कि कभी-कभी ऐसा नही होता है। अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्धा होने पर कभी-कभी बैंको को कम विश्वसनीय जमानतो पर या व्यक्तिगत जमानत तक पर ऋण देना पड जाता है। अतः बैंक की आर्थिक दशा समुचित रखने के लिये ग्राहको को दिये गये ऋण पूर्णतया सुरक्षित होने चाहियें। विनियोगों की रक्षा भी कई बातो पर निर्भर रहती है— (i) बैंक को अपना तमाम द्रव्य किसी एक विशेष व्यक्ति या विशेष उद्योग-धन्धे को ही उधार नही देना चाहिए क्योकि व्यक्ति या धन्धे की असफलता बैंक को बहुत घातक सिद्ध हो जायगी। कुछ देशो मे कानून एक अधिकतम सीमा निश्चित कर देता है। जिस तक एक बैंक एक व्यक्ति को साख दे सकता है। (ii) बैंक को ऋण देने से पहले ग्राहक की जमानत (Security) के बाजार मूल्य की जांच पूर्णतया करली चाहिये ताकि ऋण की अदायगी नही होने पर जमानत

* "Adventure is the life of Commerce, but caution, if not timidity, is the essence of modern banking"—Bagehot

मे रक्खी हुई वस्तुओ की बिक्री से बक को हानि नही होने पाये। (iii) बैंक को अपने रुपये को अल्पकाल के लिये तथा अस्थाई आवश्यकताओ की पूर्ति क लिये ही देना चाहिये। (iv) बक को सस्ती साख नीति (Cheap Credit Policy) नही अपनानी चाहिये क्योंकि सस्ती साख नीति ऋणियो को अमितव्ययी (Extravagant) बना देता है। (v) ऋण देने से पहले ऋणी के आचरण (Conduct) की जाच पूरी तरह कर लेनी चाहिये। यदि बक न ऋण देते समय इन सब बातो का ध्यान रक्खा तब ऋण मे सुरक्षा के नियम की सतुष्टि हो जायगी।

(२) **कोष की तरलता** (Liquidity of Funds) —बैंक का विनियोग बिक्री के योग्य (*Marketability of Investment*) होना चाहिये अर्थात् इसम तरलता होनी चाहिय। यदि विनियोग म इस प्रकार की तरलता नही हुई तब बक को आवश्यकता के समय अपने विनियोग से धन वापिस नही मिल सकेगा और उसका जीवन सकट म पड जायगा। अत बैंक के विनियोग ऐसे होने चाहियें कि इन्हे शीघ्रता से नकदी म बदला जा सके। तरलता की दृष्टि से भी ऋण अल्पकालीन होन चाहियें। इसीलिये बैंक को अपना धन इमारतो, अचल सम्पत्ति तथा अविक्री साध्य सिक्यूरिटीज म नही बन्द करना चाहिये क्योकि ऐसा करने पर विनियोग की तरलता समाप्त हो जायगी। इसीलिय श्री एम० एल० टैनन (M L Tannan) ने ठीक ही कहा है कि **एक सफल बैंकर को विनिमय बिल तथा आधि (Mortgage) मे अन्तर समझ लेना चाहिये।** * इसका अर्थ यह है कि विनिमय बिल तो एक अल्पकालीन साख पत्र होता है जो प्राय ३ महीने म परिपक्व (Mature) हो जाता है तथा आवश्यकता पडने पर इसे केन्द्रीय बक से भी भुनाया जा सकता है या अन्य किसी बक को बेचकर इसका रुपया प्राप्त किया जा सकता है परन्तु आधि (Mortgage) मे इसके बिल्कुल विपरीत गुण पाये जाते है। यह बहुत ही अतरल आदेय Non Liquid Asset है और यदि बैंक का अधिकाश धन इसी प्रकार के आदेयो (Assets) म लगा है तब इस बक को आर्थिक सकट का सदा भय रहेगा क्योकि जमाकर्ताओ की नकदी की माग होने पर वह आसानी स इनका भुगतान नही कर सकेगा। इसीलिये बक को अपना धन सरकारी या प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो (Govt or First Class Securities या उत्तम किस्म के हिस्सो या ऋण पत्रो (Shares and Debentures म लगाना चाहिये। अत एक बक को तरल आदेयो Liquid Assets) म अपना धन लगाना अत्यावश्यक होता है। स्टीड (Stead का कथन है कि बैंक क ऋण केवल कार्यवाहक पूजी की पूर्ति करने के लिए हैं न कि स्वय अचल पूजी बनने के लिए। (Bank s Advances are only to Supplement the working capital and not to become fixed capital —Stead)

(३) **जोखिम की विविधता** (Diversification of Risk) —प्रत्येक बक को

* A Successful banker is he who can distinguish between a Bill of Exchange and a Mortgage —*M L Tannan Banking Law and Practice in India*

अपने धन के विनियोग की जोखिम मे विविधता रखनी चाहिये। यह तब ही सम्भव है जबकि वह अधिकाश धन एक ही प्रकार के ऋण, व्यवसाय, प्रतिभूति (Security) एवं विनियोग मे नही लगाकर विभिन्न प्रकार के ऋणों, व्यवसायों, प्रतिभूतियो में लगाता है। बैंकों के लिये यह भी उचित है कि वे बडी मात्रा मे थोडे से ग्राहकों को ऋण देने की अपेक्षा, थोडी और मध्यम मात्रा मे अधिक ग्राहकों एवं उद्योगों को ऋण दें क्योंकि यदि तमाम अंडे एक टोकरी में नही रक्खे जाते है तब इनके फूटने का भय नही रहता है। इससे यह भी लाभ होता है कि बैंक के पास नकदी का सदा एक ऐसा प्रवाह (Flow of Funds) रहता है कि उसे ग्राहको की नकदी की मांग पूरा करने मे कभी भी कठिनाई नही होती है। इसके अतिरिक्त यदि अधिकाश धन का विनियोग एक ही उद्योग या व्यवसाय मे कर दिया गया और यदि यह व्यवसाय घाटे में आ गया, तब उद्योग के असफल हो जाने पर बैंक भी स्वतः फेल हो जायगा।

(४) विनियोग की उत्पादकता (Productivity of the Investment):—बैंक को अपने धन का इस प्रकार विनियोग करना चाहिये कि उसे इससे एक अच्छी और स्थायी आय प्राप्त हो सके। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्रत्येक बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना होता है और उसकी आय मुख्यतः उसके विनियोगो से ही प्राप्त होती है। इसलिए उसके आदेय (Asset) की उत्पादकता जितनी अधिक होगी, वह इसे उतना ही अधिक पसन्द करेगा। परन्तु लाभ के साथ ही साथ बैंक को सुरक्षा का भी ध्यान रखना चाहिए क्योंकि सुरक्षा की बलि पर लाभ कमाना घातक हो सकता है। जो धन बैंक विनियोगों मे लगाता है, वह उसका निजी नही होता है वरन् यह ग्राहको से लिया हुआ होता है जिसकी सुरक्षा एव भुगतान की जिम्मेदारी बैंक पर होती है। इसीलिए बैंक को कभी भी सट्टे-व्यवहारों मे नही पडना चाहिए।

(५) प्रतिभूतियों की बिक्री-साध्यता (Marketability of the Securities):—बैंक का विनियोग ऐसा होना चाहिये कि इसे आसानी से बेचकर धन प्राप्त किया जा सके। इस नियम का पालन भी सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता है। इसीलिये प्रथम श्रेणी के शेयर्स या स्टॉक (First-class Shares and Stocks), तैयार माल (Ready Goods) तथा ऋण-पत्रो पर दिये गए ऋण आसानी से प्राप्त किये जा सकते है। इस प्रकार के विनियोगो मे तरलता तथा सुरक्षा दोनो ही गुण पाये जाते हैं क्योंकि इनमे पूर्णतया बिक्री-साध्यता (Marketability) का गुण पाया जाता है। इसके विपरीत अचल सम्पत्ति (Immovable Property) मे इस प्रकार का गुण नही पाया जाता है।

अन्य सिद्धान्त :—(i) करों से मुक्ति (Freedom from Taxes) :—बैंक को अपने धन को ऐसी सिक्यूरिटीज मे लगाना चाहिए जो आय-कर या अन्य दूसरे करों से पूर्णतया मुक्त हों। (ii) विनियोगो के मूल्य में स्थिरता (Stability in the Price of Investments) :—बैंक को धन का विनियोग ऐसे विनियोगो मे करना चाहिये जिनके मूल्य मे अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रहती है। यदि विनियोग ऐसे है,

जिनके मूल्य में अस्थिरता रहती है, तब इनके मूल्यों में अचानक कमी हो जाने पर बैंक को बहुत हानि का भय रहेगा।

विनियोग की पद्धति (Investment of a Bank)

प्राक्कथन —बैंक अपने धन का दो प्रकार से विनियोग करता है—(अ) अलाभकर विनियोग (Profitless Investments) तथा (आ) लाभकर विनियोग (Profitable Investments)। प्रत्येक बैंक को अपना धन दो ही प्रकार से लगाना आवश्यक होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि बैंक अपने धन का वितरण इन दोनों विनियोगों में किस अनुपात में करते हैं? इस सम्बन्ध में कोई नियम तो नहीं है, परन्तु यह अवश्य है कि बैंक इस प्रकार का निर्णय बड़ी सावधानी (Caution) से लिया करता है। निर्णय लेते समय उसे सुरक्षा और लाभ दोनों ही दृष्टिकोण के बीच समायोजन (Adjustment) करना होता है। बैंक को लाभहीन विनियोग सुरक्षा (Security) तथा तरलता (Liquidity) के दृष्टिकोण से रखने पड़ते हैं, ताकि जब कभी जमाकर्ताओं की धन की माँग हो, वे उसका आसानी से भुगतान कर सकें। परन्तु दूसरी ओर बैंक को लाभकर विनियोग इसलिये आवश्यक होते हैं क्योंकि लाभ कमाना उसका मुख्य उद्देश्य होता है। उसे न केवल दैनिक कार्य के लिये ही धन की आवश्यकता होती है बल्कि उस पर शेयरहोल्डर्स (Shareholders) को उनके शेयर्स पर लाभांश (Dividend) बाटने का भी दायित्व होता है। इसके अतिरिक्त उसे एक ऐसे रक्षित कोष (Reserve Fund) का भी निर्माण करना होता है जिसका बैंक में संकटकाल में उपयोग हो सके और इस तरह बैंक की विफलता का भय उत्पन्न नहीं होने पाये। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बैंक को सुरक्षा की बलि देकर अधिकतम लाभ कमाने की स्वार्थमयी नीति अपनानी चाहिये। यदि उसने ऐसा किया तब बैंक के फेल हो जाने का सदा भय रहेगा जिसमें न केवल अंशधारियों को भारी हानि की सम्भावना रहेगी वरन् बैंक के फेल हो जाने में देश और समाज को भी बड़ी क्षति हो जाने का डर रहेगा। अतः यह स्पष्ट है कि बैंक को अपने धन का विनियोग लाभकर और अलाभकर विनियोगों में बड़ी बुद्धिमत्ता तथा सावधानी से करना पड़ता है।

(अ) लाभहीन विनियोग (Profitless Investments)

(अ) अलाभकर विनियोग (Profitles- Investments) —बैंक के इस प्रकार के विनियोग (क) नकद कोष (Cash Reserves) तथा (ख) मृत स्कन्ध (Dead Stocks) के रूप में होते हैं।

(क) नकद कोष (Cash Reserves).—किसी बैंक का नकद कोष वह कोष होता है जो बैंक अपने पास या अन्य बैंकों के पास अपने दायित्वों (Liabilities) के भुगतान के लिए रखता है। बैंक के नकद कोष जनता में विश्वास उत्पन्न करते हैं क्योंकि इनमें अधिकतम तरलता (Liquidity) होती है। परन्तु बैंक अपने तमाम धन को तरलता की दृष्टि से नकद कोष के रूप में ही नहीं रख सकते क्योंकि उन्हें दिन

प्रतिदिन का व्यय करने तथा अंशधारियों को उनके अंश (Shares) पर लाभांश (Dividend) बाटने के लिए लाभ उत्पन्न करना आवश्यक होता है और यह लाभप्रद विनियोगो द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । यह आवश्यक है कि बैंक के तमाम विनियोगों मे नकद-कोषों (Cash Reserve) का सबसे अधिक महत्व होता है क्योंकि नकदी से अधिक तरलता किसी भी विनियोग मे नही होती है। यह स्मरण रहे कि आजकल बैंक के नकद-कोष मे न केवल वह रकम सम्मिलित होती है जो बैंक अपने पास आलमारियों में संचित रखता है वरन् इसमे वह रकम भी गिनी जाती है जो बैंक अन्य दूसरे बैंकों मे या केन्द्रीय बैंक में जमा रखता है और जिसे वह जब चाहे तब निकाल सकता है ।

नकद-कोष सम्बन्धी सिद्धान्त
(Principles of Cash Reserves)

बैंकों के नकद-कोष को निर्धारित करने वाली बातें (Factors determining Cash Reserves of a Bank) :—उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया है कि बैंक के विनियोगो मे नकद-कोष का बहुत महत्व है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रत्येक बैंक किन नियमों के आधार पर अपने पास नकद-कोष रक्खें ? यह स्मरण रहे कि बैंको के नकद-कोषो के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही है जिनको पूर्ण रूप से सब स्थानो या सब बैंको पर काम में लाया जा सके। इसीलिये पृथक्-पृथक् लेखकों के इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत है। यह निधि मुख्यतः बैंक के पूर्व अनुभव, उसकी दूरदर्शिता तथा उस क्षेत्र की व्यापारिक स्थिति पर निर्भर होती है जहाँ पर बैंक स्थित है। परिणामतः विभिन्न बैंक्स इसको भिन्न-भिन्न परिमाण में अपने पास रखते है। यद्यपि बैंक के नकद-कोष के सम्बन्ध मे कोई दृढ़ नियम नही बनाया जा सकता है परन्तु फिर भी कुछ ऐसे सामान्य नियम एव बातें बताई जा सकती हैं, जिन बातो को ध्यान मे रखने का परिणाम यह हो सकेगा कि बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर नकदी भुगतान करने मे किसी प्रकार की भी कठिनाई अनुभव नही हो सकेगी।[1] ये नियम एव बातें इस प्रकार है :—(i) वैधानिक आवश्यकतायें :—कुछ देशों में बैंको के नकद-कोषों की न्यूनतम सीमा के सम्बन्ध मे नियम बने हुये होते हैं। भारत मे भी ऐसा ही है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक्ट के अनुसार अनुसूचीबद्ध-बैंको (Scheduled Banks) को

> **बैंकों के नकद कोष को निर्धारित करने वाली कुछ मुख्य बातें हैं:—**
> १. वैधानिक आवश्यक्तायें।
> २. ग्राहकों की आदत तथा स्थानीय व्यापारिक संस्थाए ।
> ३. समाशोधन-गृहो की उपलब्धता ।
> ४. खातों की प्रकृति ।
> ५. जमा की मात्रा ।
> ६. दूसरे बैंकों की नकद-कोष नीति ।
> ७. विनियोगो की प्रकृति ।

1—Also read "Banking Law & Practice" by M. L. Tannan, p. 196—199.

अपने माग-दायित्व (Demand Liabilities) का ५ प्रतिशत और अपने समय-दायित्व (Time Liabilities) का २ प्रतिशत हर समय रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पडता है। अन्य बैंको के लिये भी यह नियम है कि ये भी अपने माग-दायित्व का ५ प्रतिशत और काल-दायित्व का २ प्रतिशत नकद कोष अपने पास या रिजर्व बैंक के पास या कुछ अपने पास और बाकी रिजर्व बैंक के पास जमा रक्खें (अनुसूची बैंक्स की तरह इन्हे यह रकम रिजर्व बैंक के पास अनिवार्य रूप से नही रखनी पडती है)। परिणामत बैंक्स इस न्यूनतम सीमा के बराबर तो हर समय नकद कोष रखते ही हैं, परन्तु वास्तव मे व्यवहार मे इन्हे इस न्यूनतम सीमा से बहुत अधिक नकद कोष अपने पास रखना पडता है। यह स्मरण रहे कि जबकि इङ्गलैंड मे नकद कोष कुल जमा का १० प्रतिशत या ११ प्रतिशत है, तब भारत मे यह अपेक्षाकृत बहुत कम है।[2] अत कुछ व्यक्तियो का मत है कि भारत मे एक सुसचालित बैंकिंग पद्धति के निर्माण के लिये इस वैधानिक अनुपात मे वृद्धि होनी चाहिए। (ii) ग्राहको की आदत तथा स्थानीय व्यावारिक अवस्थायें.—ग्राहको की आदत तथा क्षत्र-विशय की व्यावसायिक दशाओ का भी बैंक के नकद-कोष पर प्रभाव पडा करता है। यदि मनुष्यों मे बैंकिग की आदत (Banking Habits) काफी उन्नत हो गई हैं अर्थात् वे अपने लेन देन मे चैक तथा अन्य साख पत्रो का बहुत उपयोग करते हैं, तब बैंक बहुत कम मात्रा मे ही नकद कोष रखकर अपना काम चला लेगे। इसके विपरीत मनुष्यो को भुगतान के लिये यदि नकदी की सदा आवश्यकता रहती है, तब बैंको को भी अपने पास काफी बडी मात्रा मे नकद-कोष रखना पडेगा। भारत मे इसी प्रकार की दशा पाई जाती है। जिससे बैंको को अपेक्षाकृत अधिक नकद-कोष अपने पास रखना पडता है। इसी तरह क्षेत्र की व्यवसायिक दशाओं का भी नकद कोष पर प्रभाव पडता है। जिस क्षेत्र मे बैंक स्थित है, यदि वहा पर सट्ट व्यवहार अधिक किये जाते हैं या यह औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्यों का क्षेत्र है जिससे इस क्षेत्र मे विनिमय के कार्य जल्दी-जल्दी किये जाते है, तब बैंक्स को अपने पास अधिक मात्रा मे नकद कोष रखना पडेगा। परन्तु एक कृषि प्रधान क्षत्र मे बैंक अपने पास बहुत कम मात्रा मे नकद-कोष रखकर ही काम चला लेगा। (iii) समाशोधन गृहों की उपलब्धता —जिस क्षेत्र में समाशोधन-गृह (Clearing House) होता है, वहाँ बैंक्स को अधिक मात्रा मे नकद-कोष नही रखने पडते क्योंकि अधिकाश चैक इस समाशोधन गृह मे होकर ही आते-जाते हैं जिससे बैंको मे आपस मे भुगतान प्राय बहुत ही कम मात्रा मे धन का हस्तान्तरण करके हो जाता है। इस गृह के अभाव मे बैंक्स को प्रत्येक चैक का भुगतान नकद मे करना पडता। भारत मे समाशोधन-गृहो के अभाव के कारण बैंको को काफी बडी मात्रा मे धन अपने पास रखना पडता है। (iv) खातों की प्रकृति —बैंक का

2--In Argentina, it is 8% of the Time and 16% of the Demand Liabilities in Denmark, it is 10% of the Time and 25% of the Demand Liabilities, whereas in India it is 2% of the Time and 5% of the Demand Liabilities (Statutory Limit) but in practice, it is 10 to 15% of the Total Liabilities at the present time

पूंजी के बराबर होनी चाहिए (Reserve Fund should be equal to Paid-up Capital)। इसीलिए यह भी अनिवार्य कर दिया गया है कि जब तक संचित कोष बैंक की दत्त-पूंजी के बराबर नही हो जाय, प्रत्येक ऐसे बैंक को अपने वार्षिक लाभ का २० प्रतिशत भाग संचित-कोष मे हस्तान्तरित (Transfer) करना होगा। यह कोष बैंक की कुल सम्पत्ति (Total Assets) दत्त-पूंजी (Paid-up Capital) तथा अन्य देय (Other Liabilities) से मिलाकर जितना अधिक होता है, उतना ही ग्राहकों को बैंक की सुरक्षा का प्रमाण तथा बैंक के चलाने वालों का बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है क्योंकि इस कोष का निर्माण तब ही होता है जबकि बैंक क्षमता से कार्य कर रहा हो। इस तरह वास्तव मे यह कोष बैंक के हिस्सेदारो (Shareholders) का है क्योंकि इसकी उत्पत्ति बैंक के लाभ से हुई है। इसीलिए किसी भी समय यह उनके हित के लिये उपयोग में लाया जा सकता है, जैसे—हिस्सेदारो के लाभांश (Dividend) की दर समान रखने के लिए या उन्हें अधिलाभांश (Bonus on Shares) देने के लिए इस कोष का विनियोग (Investment) प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों (First Rate Securities) के खरीदने मे किया जाता है ताकि इस कोष का उपयोग किसी भी समय किया जा सके। यद्यपि आरम्भ में बैंक की कार्यशील पूंजी केवल इसकी दत्त-पूंजी ही होती है, परन्तु तत्पश्चात् रक्षित-कोष के निर्माण से इसकी कार्यशील पूंजी मे भी वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी नये-नये शेयर्स के निर्गमन (Issue) से जो प्रीमियम (प्रब्याजि) प्राप्त होती है (Premium on New Issues of Shares) वह भी रक्षित-कोष मे जमा कर दी जाती है।

यह स्मरण रहे कि कभी-कभी कुछ बैंक्स अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ बनाने के लिये गुप्त रक्षित-कोष (Secret Reserves) तक का निर्माण कर लेते है। इस प्रकार के कोष का उल्लेख बैंक अपने स्थिति विवरण (Balance Sheet) मे नही करता है। इस कोष का निर्माण बैंक अपनी स्थायी सम्पत्ति को, इसके वास्तविक मूल्य से कम मूल्य पर लेखा-पुस्तको (Account Books) मे दिखलाकर करता है। उदाहरण के लिये, प्रत्येक बैंक में लाखो रुपए का फर्नीचर, अलमारियाँ तथा बिल्डिंग्स हुआ करती हैं, परन्तु यदि वह बैंक लेखा-पुस्तको मे इनका मूल्य या तो दिखाए ही नही या बहुत कम दिखाता है, तब इस प्रकार से गुप्त संचित-कोष (Secret Reserves) का निर्माण हो जाता है जिसका उपयोग आर्थिक संकट के समय किया जाता है।

(३) जमा धन और अन्य खाते (Deposits and other Accounts):—किसी बैंक मे जनता का कितना विश्वास है यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमे जमा-रकम कितनी है और किसी बैंक मे जमा की रकम उसके स्थिति विवरण से पता चल जाती है। प्रत्येक बैंक के पास जमा कई प्रकार से प्राप्त होती है जिनमें बचत-खाते (Saving Bank Accounts) चालू-खाते (Current Accounts) तथा निश्चित अवधि खाते (Fixed Deposit Accounts) मुख्य हैं। इन तीनो प्रकार के खातो से बैंक को कार्यशील-पूंजी (Working Capital) मिलती है। वह

इन खातों से प्राप्त रकम का कुछ भाग अपने पास नकद कोष (Cash at Hand) में रखकर शेष का विनियोग (Investment) करके बहुत लाभ कमाता है। जमा-धन की सुरक्षा की जिम्मेदारी बैंक पर होती है। इसीलिए वह इस रकम का विनियोग बड़ी सावधानी से करता है क्योंकि इस रकम की कभी भी माग हो सकती है और यदि माग होने पर बैंक रुपया वापिस नहीं कर सका तब जनता का उसमें से विश्वास उठ जायगा और तब सम्भव है कि बैंक का अस्तित्व ही मिट जाय। सन् १९४९ से पहले भारतीय बैंक अपने स्थिति-विवरण (Balarce Sheet) में जमा के मद में विभिन्न प्रकार के खातों में प्राप्त रकम को भिन्न-भिन्न नहीं दिखलाते थे जिससे इस मद में जमा कुल रकम बैंक की व्यापारिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बतलाती थी। परन्तु सन् १९४९ के विधान ने अब यह अनिवार्य कर दिया है कि बैंक्स अपने स्थिति-विवरण में विभिन्न खातों में जमा की रकम को भिन्न भिन्न दिखलायें। जब इन खातों में जमा रकम अलग-अलग दिखलाई जाती है, तब निसन्देह विवरण से इस देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हो सकता है। यह जानकारी कैसे प्राप्त हो सकती है? व्यापारिक तेजी-काल (Boom Period) में अन्य सब खातों की अपेक्षा चालू-खातों (Current Accounts) में जमा अपेक्षाकृत अधिक पाई जायगी क्योंकि नये नये व्यवसाय व उद्योग खुलने से तथा पुराने व्यवसायों में समृद्धि आ जाने से बैंकों में चालू खातों में जमा की रकम बहुत बढ़ जाया करती है। इसके विपरीत मन्दी-काल (Depression Period) में चालू खाता में जमा की रकम कम हो जायगी। अतः विभिन्न खातों में जमा के अनुपात (Ratios) न केवल देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक परिस्थिति की गति विधि क्या है, इसका परिचय दे देते हैं वरन् ये बैंक व्यापार की पूरी पूरी सूचना भी दे देते हैं।

(४) ग्राहकों के लिए स्वीकृतियां तथा अन्य प्रतिज्ञायें (Acceptances for Customers and other obligations)—इस मद (Item) में उन पत्रों एवं साख-पत्रों का समावेश होता है जो बैंक अपने ग्राहकों से संग्रहण (Collection) के लिए लेता है। बैंक इन पत्रों की रकम को वसूल करने के बाद अपने ग्राहकों के खाते में जमा कर देता है। चूंकि ग्राहक इस रकम को पत्र के संग्रहण (Collection) के बाद जब चाहे तब निकाल सकता है, इसलिए बैंक की यह रकम देनदारी (Liability) होती है। इसके अतिरिक्त इस शीर्षक में उस रकम को भी दिखाया जाता है जिसके मूल्य के विनिमय बिल्स बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार कर लिए हैं। स्वीकार किये हुये बिलों का रुपया ग्राहक से मिल जाता है और बिल का भुगतान कर दिया जाता है। परन्तु जब तक बिल का भुगतान नहीं हो जाता, यह बैंक की देन ही रहती है।

(५) लाभालाभ लेखा (Profit and Loss Account)—बैंक को जो कुछ भी लाभ हुआ है, वह इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखाया जाता है। यह भी दिखाया जाता है कि इस लाभ का विभाजन शेयर-होल्डर्स में किस प्रकार किया गया है। चूंकि

लाभ शेयर-होल्डर्स को देना होता है, इसलिये लाभ की रकम बैंक के लिये भी देय (Liability) होती है।

बैंक की लेनदारी या आदेय (Assets of a Bank)

प्राक्कथनः—बैंक के स्थिति-विवरण के दाईं खम्ब (Column) में उस रकम का ब्योरा दिया जाता है, जो बैंक को प्राप्त करनी होती है। इस खम्भ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक ने अपनी पूंजी का किस प्रकार उपयोग किया है, अपने दायित्वों (Liabilities) के भुगतान के लिए उसने अपने पास कितनी रकम नकद-कोष (Cash Reserves) में रखी है तथा कितनी रकम तरल सम्पत्ति (Liquid Assets) के रूप में रखी है। इस खम्भ में भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्पत्ति उनकी तरलता के अनुसार क्रमशः दी जाती है—

(१) नकदी (Cash in Hand)—प्रत्येक बैंक अपनी देनदारी के भुगतान के लिये अपने पास कुछ नकद रोकड़ (Cash) रखता है ताकि ग्राहकों की मांग होने पर वह भुगतान कर सके। बैंक अनुभव से यह जानता है कि कुल जमा देय का एक अंश ही निकाला जाता है। वह केवल इस भुगतान के लिए ही अपने पास नकद में रुपया रखता है और बाकी जमा को उधार दे देता है या इसका इस प्रकार से विनियोग (Investment) करता है कि उसे जहाँ तक हो सके आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही रुपया वापिस मिल सके। नकद-रोकड़ "बैंक की सुरक्षा की प्रथम दीवार" (First Line of Defence of a Bank) कहलाती है।

(२) अन्य बैंकों व केन्द्रीय बैंक में जमा (Cash at other Banks including the Central Bank):—प्रत्येक बैंक की कुछ रोकड़ अन्य बैंकों व केन्द्रीय बैंक में जमा रहती है। कुछ देशों में प्रत्येक अनुसूचीबद्ध बैंक (Scheduled Bank) को कानूनन कुछ रकम वहाँ के केन्द्रीय बैंक में जमा करनी होती है। जो रकम इस प्रकार अन्य बैंकों या केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहती है, वह भी नकद-कोष (Cash in Hand) की तरह ही होती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक इस जमा की रकम को अपने भुगतानों के उपयोग में ला सकता है।

(३) अभियाचित या अल्पकालिक ऋण (Money at Call or Short Notice) :—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन सब धनों को सम्मिलित किया जाता है जो मांगने पर तुरन्त मिल जाते हैं। प्रत्येक बैंक कुछ ऋण अति अल्पकाल के लिये और कुछ ऋण इस शर्त पर देते हैं कि उनका भुगतान याचना या सूचना पाते ही कर दिया जायगा। इसी तरह कुछ ऋण ऐसे होते हैं जो सूचना पाने के २४ घण्टे से ७ दिन के अन्दर वापिस किये जाते हैं। इस प्रकार के ऋण प्रायः अपहार-गृहों (Discount Houses), बिल दलालों (Bill Brokers) तथा शेयर्स-दलालों (Stock Brokers) को उचित प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर ½% से, ¾% प्रतिवर्ष ब्याज की दर पर दिये जाते हैं। इस प्रकार के ऋण अन्य अच्छे बैंकों को भी दिये जाते हैं। बैंक

इस प्रकार के विनियोगों में रुपया लगाकर, उस रकम को जो वे देय (Liabilities) भुगतान के लिये अपने पास रखते हैं उस पर तक ब्याज कमा लेते हैं। बैंक के अभियाचित ऋण प्राय तीन प्रकार के होते हैं—(i) रात्रि के उपयोग के लिये दिया गया ऋण — यह वह ऋण है जो बैंक अपने व्यापार के अन्त में केवल रात्रि के उपयोग के लिए देते हैं और जिसका भुगतान दूसरे दिन बैंक के कार्य के आरम्भ होने से पहले हो जाता है। इस प्रकार के ऋण सट्टा व्यवहारों (Speculative Businesses) के लिए ही प्राय लिए जाते हैं। (ii) बिना किसी पूर्व सूचना के माँग पर वापिस लिये जाने वाला ऋण —बैंक कुछ धन इस शर्त पर भी उधार देते हैं कि इसका भुगतान बिना किसी पूर्व सूचना के केवल माँग होने पर किया जायगा। वास्तव में इसे ही "याचना पर भुगतान होने वाला ऋण" (Money at Call) कहते हैं तथा (iii) अल्प-कालिक ऋण —बैंक कुछ धन इस शर्त पर उधार देते हैं कि इसका भुगतान सूचना पाते ही २४ घण्टे से ७ दिन के अन्दर किया जायगा। अत अभियाचित ऋण बैंक की सुरक्षा की दूसरी दीवार (Second Line of Defence) है।

( ) बिलों को भुनाने व खरीदने से विनियोग (Bills Discounted and Purchased) —इस शीर्षक के अन्तर्गत बैंक का वह विनियोग आता है जो वह बिलों या ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) के भुनाने या खरीदने में लगाता है। प्राय बैंक प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों (First Rate Securities) को ही भुनाता है अथवा खरीदता है। इन बिलों में प्राय इस तरकीब से रुपए का विनियोग होता है कि एक के बाद दूसरे बिल का भुगतान होता रहे जिससे किसी भी समय उसके पास नकद रुपये की कमी नहीं रहे। परन्तु बैंक आवश्यकता पड़ने पर इन पत्रों को बेचकर या इनको केन्द्रीय बैंक से पुन भुनाकर रुपया प्राप्त कर सकता है। इसीलिए य बैंक की सुरक्षा की तीसरी दीवार (Third Defence Line) कहलाती है। बिलों का भुनाना प्रत्येक बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है जिससे बैंक के अधिकांश धन का इन विपत्रों के भुनाने में ही विनियोजन हो जाता है। भारत में बिल-बाजार (Bill Market) सुसचालित एव सुसगठित नहीं होने के कारण भारतीय बैंक विदेशों के बैंकों की तुलना में उक्त मद में बहुत कम रुपये का विनियोग करने पाते हैं। ज्यकि विदेशों में इस शीर्षक के अन्तर्गत अधिकोषों की कार्यशील पूजी (Working Capital) का २५–३० प्रतिशत भाग विनियोजित होता है तब भारत में इसी मद के अन्तर्गत कार्यशील पूजी का २–३ प्रतिशत विनियोग होता है।

(५) ग्राहकों को ऋण व अग्रिम (Loans and Advances to Customers) —प्रत्येक बैंक अपने धन को ग्राहकों को ऋण व अग्रिम के रूप में देकर भी सबसे अधिक लाभ कमाता है। ये ऋण काफी ऊँची ब्याज की दर पर दिये जाते हैं, प्राय ब्याज की दर ६ प्रतिशत से ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष होती है और ऋण की अवधि भी ६ से ६ महीने हुआ करती है। ऋणों तथा अग्रिम के साथ यह शर्त होती है कि माँग पर उनका भुगतान करना होगा। परन्तु बैंक इन ऋणों पर निर्भर नहीं रह सकता है क्योंकि यदि

आर्थिक संकट काल में उसने सब ग्राहकों से ऋण का भुगतान मांग लिया तब एक तरफ तो जनता का बैंक में से विश्वास उठ जायगा और दूसरी तरफ जो व्यापारी ऋण को यकायक मांग पर चुकाने में असमर्थ होंगे वे दिवालिये (Bankrupt) हो जायेंगे जिससे देश की आर्थिक स्थिति को बड़ी क्षति हो जायगी। परन्तु बैंक्स को भी इस प्रकार का ऋण व्यापारियों को देना ही पड़ता है क्योंकि इन विनियोगों पर उसे सब से अधिक लाभ मिलता है। यह मद बैंक की सुरक्षा की चौथी दीवार (Fourth Line of Defence) कहलाती है।

(६) विनियोग (Investments):—इस मद में उन विनियोगों का समावेश है जो सरकारी प्रतिभूतियों, सम-सरकारी प्रतिभूतियों (Semi-Govt. Securities), अन्य जन-उपयोगी संस्थाओं के ऋण-पत्रों तथा औद्योगिक व व्यापारिक कम्पनियों के शेयर्स अथवा ऋण पत्रों में किया जाता है। जब बैंक इस प्रकार के पत्रों में विनियोग करता है तब उसे सरकारी प्रतिभूतियों व ऋण पत्रों पर व्याज मिलता है और कम्पनियों के शेयर्स पर लाभांश (Dividend) मिलता है। इस तरह उक्त विनियोग से बैंकों को लाभ मिलता है। इस प्रकार की प्रतिभूतियों में जोखिम तो अधिक नहीं होती, परन्तु तरलता (Liquidity) की बहुत कमी होती है क्योंकि संकट के समय बैंक को इन्हें नकद में परिवर्तित करने में बड़ी कठिनाई पड़ा करती है। इसका कारण स्पष्ट है। जिस काल में मुद्रा की अधिक आवश्यकता रहती है, उस समय प्रतिभूतियाँ आसानी से बेची भी नहीं जा सकती है क्योंकि उस समय मुद्रा बाजार में मुद्रा का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त जब प्रत्येक बैंक अपनी प्रतिभूतियों (Securities) को बेचने का प्रयत्न करता है, तब इनके मूल्य में भी बहुत कमी हो जाती है जिसका आर्थिक प्रभाव भी बहुत खराब रहता है क्योंकि जनता का बैंकों में से विश्वास उठ जायगा और अन्ततः व्यापार में अनिश्चितता आ जायगी। यही कारण है कि रुपये की आवश्यकता पर भी व्यापारिक बैंक्स प्रायः इन सिक्यूरिटीज को बाजार में नहीं बेचा करते हैं वरन् वे इनको केन्द्रीय बैंक के पास गिरवी रखकर उससे रुपया उधार ले लिया करते हैं। अतः बैंक के इस प्रकार के विनियोग में यद्यपि तरलता (Liquidity) अपेक्षाकृत बहुत कम होती है परन्तु ये बहुत लाभप्रद होते है और आवश्यकता पड़ने पर बैंक इनको पुनः भुनाकर रुपया प्राप्त कर सकता है।

(७) ग्राहकों की देय स्वीकृतियां (Liabilities of the Customers for Acceptances):—इस मद में उन बिलों या पत्रों की सारी रकम दिखाई जाती है जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार किया है। यह स्मरण रहे कि आस्तियाँ (Assets) खण्ड के अन्तर्गत जो रकम "ग्राहकों की देय स्वीकृतियां" के अन्तर्गत दिखलाई गई है, उसका सन्तुलन (Balancing) देनदारी (Liabilities) खण्ड के अन्तर्गत "ग्राहकों के लिए स्वीकृतियां" में दिखलाई गई रकम से हो जाता है।

(८) बैंक के मकान, फर्नीचर तथा अन्य सम्पत्ति (Houses, Furniture and

समावेश होता है। यह मद आदेय (Assets) खम्भ में सबसे अन्त मे होता है क्योंकि यह सबसे कम तरल सम्पत्ति होती है और इसका नकद मे परिवर्तन भी बैंक के बन्द हो जाने पर ही किया जाता है। ऐसी अचल सम्पत्ति में बैंक के कार्य-स्थान की बिल्डिंग, फर्नीचर, आलमारियां आदि के मूल्य का समावेश होता है। यह सब सम्पत्ति बैंक की मृत-प्रतिभूति (Dead Security) के रूप मे होती है। इस प्रकार की जो भी सम्पत्ति होती है प्रायः उसका मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से बहुत कम ही दिखाया जाता है जिससे बैंक आकस्मिक हानि की पूर्ति के लिए "गुप्त निधि" (Secret Reserves) का निर्माण कर लेता है। इस मद मे प्रतिवर्ष जो भी नवीन सम्पत्ति खरीदी जाती है, वह भी पृथक् से दिखलाई जाती है। इसी तरह सम्पत्ति का प्रतिवर्ष जो भी अवमूल्यन होता है यह भी पृथक् से दिखलाया जाता है।

बैंक के स्थिति-विवरण बनाने के लाभ
(Advantages of the Construction of the Balance-sheet of a Bank)

बैंक के स्थिति विवरण के बनाने, अध्ययन तथा विश्लेषण के लाभ—किसी भी बैंक के सलपट के अध्ययन एवं विश्लेषण से हम निम्नलिखित बातों की जानकारी प्राप्त होती है—(i) **बैंक की वर्तमान आर्थिक स्थिति की जानकारी**—किसी भी बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति का सही अनुमान उसके चिट्ठे एवं आंकड़ों से उपलब्ध होता है क्योंकि इसमें बैंक की सम्पूर्ण लेनदारी और देनदारी का विस्तृत विवरण होता है इसी से बैंक की सम्पूर्ण पूंजी, उसके विनियोग व पूंजी की तरलता तथा व्यापारिक कुशलता का पता लग जाता है। यदि बैंक के ऋणों, विनियोगों तथा जमा धन में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, तब इससे स्पष्ट है कि व्यापार प्रगति के पथ पर है। अतः बैंक के चिट्ठे से हम उसकी व्यापारिक गति विधि की समुचित जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। (ii) **बैंक की आर्थिक स्थिति में सुधार की जानकारी**—प्रत्येक बैंक मे चिट्ठा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है। दो-तीन वर्षों के चिट्ठों की तुलना करने से यह आसानी से पता चल जाता है कि इन दो-तीन वर्षों मे बैंक की आर्थिक स्थिति मे कोई सुधार हुआ है या नहीं या इसकी स्थिति पहले की तुलना मे

> **स्थिति-विवरण बनाने के लाभ हैं—**
>
> १ बैंक की वर्तमान आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त हो जाती है।
>
> २ बैंक की आर्थिक स्थिति में पिछले कुछ वर्षों में जो सुधार हो सका है उसकी जानकारी प्राप्त हो जाती है।
>
> ३ बैंक मे जनता के विश्वास का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।
>
> ४ इनकी सहायता से दो या अधिक बैंकों की आर्थिक स्थिति की तुलना सम्भव है।
>
> ५ बैंक की सुरक्षा तथा आदेयों की तरलता की जानकारी प्राप्त हो जाती है।

खराब तो नही हो गई है। (क) यदि बैंक का संचित-कोष (Reserve Fund) बढ़ता जा रहा है, तब तो इससे स्पष्ट है कि बैंक का आधार दृढ है तथा इसके कार्यों में प्रगति हो रही है। अतः बैंक के रक्षित कोष को देखकर हम इसकी स्थिति को समझ लेते है। इसी तरह यदि प्रतिवर्ष बैंक का लाभांश (Dividend) बढता जा रहा है, तब तो बैंक का कार्य सुसचालित व सुसगठित है वरना बैंक की दशा खराब होती जा रही है। (iii) **बैंक में जनता के विश्वास का प्रमाण:**—बैंक मे जनता का कितना विश्वास है इसका प्रमाण भी तलपट के अध्ययन एवं विश्लेषण करने से मिल जाता है। यदि बैंक की जमा-पूंजी (Total Deposits) का दत्त-पूंजी (Paid-up Capital) से अनुपात बढता जा रहा है या कुल जमा का कुल पूंजी से अनुपात बढ गया है, तब इससे स्पष्ट है कि बैंक की कार्यशील-पूंजी मे वृद्धि होती जा रही है जिससे बैंक को भी लाभ अधिक होगा। बैंक को जितना अधिक लाभ होगा, उतना ही लाभांश (Dividend) तथा रक्षित-कोष बढ़ जायगा। परिणामतः जनता का बैंक में विश्वास अधिक हो जायगा। (iv) **दो या अधिक बैंकों की आर्थिक स्थिति की तुलना:**—दो या अधिक बैंकों मे से कौन-सा बैंक अच्छा है, इसकी जानकारी भी उन सब बैंकों के स्थिति-विवरण (Balance Sheet) की तुलना करके की जा सकती है। एक अच्छा बैंक वह है जो जमा पर कम ब्याज देता है और इसी प्रकार ऋण तथा अन्य विनियोगो पर कम ब्याज लेता है। यह स्मरण रहे कि ऋणों पर ब्याज की दर जितनी कम होगी, उनमे उतनी ही अधिक सुरक्षा (Security) होगी। (v) **बैंक की सुरक्षा (Security) तथा प्रादेयों की तरलता (Liquidity of Assets):**—किसी भी बैंक के चिट्ठे के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी देनदारी (Liabilities) किस-किस प्रकार की है, धन का विनियोग किस-किस प्रकार से किया गया है, प्रादेयो की तरलता किस प्रकार की है, विनियोग और जमा का क्या अनुपात है आदि। तरलता की दृष्टि से विनियोग प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों मे तथा शीघ्र नकदी मे परिवर्तनीय होने चाहियें। सुरक्षा की दृष्टि से ऋणों की रकम जमा की रकम से अधिक नही होनी चाहिये। इन सब बातों की जानकारी हो जाने पर बैंक की सुरक्षा का ज्ञान स्वतः हो जाता है क्योंकि हमें उसके व्यापार के स्वरूप की समुचित जानकारी हो जाती है।

बैंको के स्थिति-विवरण के उक्त लाभ होने के कारण ही सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट ने चिट्ठा बनाने की एक निश्चित विधि निर्धारित कर दी है और अब प्रत्येक भारतीय बैंक इसी रीति के अनुसार अपना तलपट बनाता है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

1 What are the tests of the soundness of a Bank? Is there any necessary relation between the size of a bank and its soundness? (1956 S)

Agra University, B. Com.

१ किसी अधिकोष के सरक्षित रोकड़ (Cash Reserves) को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण कारणों की व्याख्या करिये (१६५६) 2 Write a note on—Liquid Assets of a Bank (1957, 1954) 3. Describe the functions of a Commercial Bank What are the sources of its profits and what considerations guide the investments of its funds ? (1956 S) 4. Explain the functions of a Commercial Bank and discuss in this connection the importance of cash reserves and investment policies. (1955 S) 5 Write a note on—Money at Call and Short Notice. (1955)

Allahabad University, B Com.

1 (a) By what principles should a banker be guided in granting credits to his customers ? (b) What investments are most suitable from the point of view of a commercial bank ? (1957) 2 Consider if it would be advisable for a commercial bank to give advances against agricultural produce Is this mode popular in India ? (1957) [redacted] Estimate the value of discounting bills Show how a banker can protect himself against the risks of bills discounting ? (1956) 4 "The Secret of Successful banking is to distribute resources between the various forms of assets in such a way as to get a sound balance between liquidity and profitability Discuss critically. (1956) 5 (a) What are the main functions of the branch manager of a bank ? (b) Explain why banks do not consider immovable properties as good security for advances ? (1956)

Rajputana University, B. Com.

1 You are the branch manager of the Bank of Bikaner Ltd. Jaipur with Rs 20 lakhs to invest. Describe the various channels for such investment and indicate the various points which you would consider while selecting securities for employment of the funds (1959) 2 Briefly discuss the functions of a modern bank and explain the main considerations that guide a banker in investing his funds (1958)

Sagar University, B. A.

१ टिप्पणी लिखिये—ऋण देते समय बैंकों की सावधानियां । (१६५६)

Sagar University, B Com

१ एक अधिकोष का काल्पनिक स्थिति-विवरण (Balance-Sheet) बनाकर यह बताइये कि उसके भिन्न भिन्न पदों का क्या महत्व है ? (१६५८)

Banaras University, B. Com

1 Discuss briefly the functions of a modern bank and explai the main considerations that guide a bank in investing its fund (1959)

Jabalpur University, B. Com.

१ अधिकोषों के स्थिति-विवरण के दोनों ओर के मुख्य पदों (Items) को बताइये और उसमें परिसम्पत् (Assets) के विन्यास में तरलता को प्राथमिकता तथ देयधन (Liabilities) के विन्यसन में आनुता को प्राथमिकता देने के विचारों का

स्पष्टीकरण कीजिये (Explain the part played by the considerations of 'liquidity' in arranging in order of priority, the assets and those of 'urgency', in arranging Liabilities.)। स्थिति-विवरण के कुछ पदो (Items) को प्रति-पक्ष-प्रवृत्तियों यथा 'per contra enteries' के स्थान मे क्यो दर्शाया जाता है ? (Why are some items shown on both sides of balance sheets viz per contra enteries ?) (१६५८) २. व्यापारी अधिकोष विनियोग नीति की विवेचना कीजिये तथा दर्शाइये कि एक आधुनिक बैंक अधिकतम लाभ की कामना के साथ अपने कोष (Funds) की तरलता (Liquidity) का संयोग कैसे करता है ? (१६५७) ३. "एक अच्छे बैंक को चाहिए कि वह तरलता तथा लाभदायकता के बीच सन्तुलन बनाये रखे।" व्याख्या कीजिए। (१६५५) ४. वाणिज्य अधिकोष की तरलता और सुरक्षिता किन बातों पर निर्भर है ? विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिये। (१६५४)

Bihar University, B. A.

1. Draw an imaginary balance sheet of a commercial bank and explain the items mentioned therein. (1959, 1953) 2. "Solvency alone, without liquidity of assets, is not adequate for the sound position of a bank". Discuss the statement and explain how banks keep their assets liquid ? (1956.

Bihar University, B. Com.

1. Analyse the concept of "liquidity" in relation to the assets of commercial banks, How far do the provisions of the Indian Banking Companies Act ensure the "liquidity" of Indian Commercial Banks ? (1958)

Nagpur University, B. A.

१. वाणिज्य-अधिकोषो (Commercial Banks) की रोक्ता (Liquidity) और सुरक्षिता (Safety) किन कारणों (Factors) से निर्धारित होती है, वह समझाइये। (१६५७)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ —(i) एक अच्छे बैंक को चाहिये कि वह तरलता तथा लाभदायकता के बीच सन्तुलन बनाये रखे।" व्याख्या कीजिये (Jabb. B. Com. १६५५), (ii) वाणिज्य-अधिकोषों की रोक्ता (Liquidity) और सुरक्षिता (Safety) किन कारणों से निर्धारित होती है, समझाइये (Nagpur, B. A. १६५७, Jabb., B. Com. १६५४) (iii) "Solvency alone, without liquidity of assets, is not adequate for the sound position of a bank." Discuss the statement and explain how banks keep their assets liquid ? (Bihar B. A. 1956) (iv) "Efficient management of a Commercial Bank consists in the proper balancing of the conflicting principles of liquidity and profitability". Explain (Bihar, B. A 1953) (v) "The secret of successful banking is to distribute resources between the various forms of assets in such a way as to get a sound balance between liquidity and

profitability " Discuss critically (Allahabad, B Com. 1956) (vi) "The policy of commercial bank may be *regarded as a compromise* between three conflicting aims " Discuss the above statement and the *three aims* (*Patna*, B. Com 1951) (*vii*) *Analyse critically the* concept of "liquidity" in relation to the "assets" of commercial banks What are its chief criteria ? How far the provisions of the present Banking Companies Act ensure the liquidity of the, assets of the Indian Commercial Banks ? (Bihar, B Com 1953) (viii) Explain the functions of a Commercial Bank and discuss in this connection the importance of cash reserves and investment policies (Agra, B. Com 1955)

संकेत:—उत्तर के प्रारम्भ मे परिचय स्वरूप *लिखिये कि एक बैंक अनेक साधनो* से पूँजी प्राप्त करता है, जैसे—अ शो को बेचकर, नकद-जमा, साख-जमा आदि से, परन्तु इनमे सबसे महत्वपूर्ण साधन ग्राहको की नकद-जमा तथा साख-जमायें हैं, कि बैंक को अपनी पूँजी का विनियोग न केवल अधिकतम लाभ की दृष्टि से करना होता है वरन् उसे पूँजी इस प्रकार रखनी होती है कि ग्राहको द्वारा किसी समय भी माग होने पर, वह उसकी अदायगी कर सके कि ग्राहको मे विश्वास उत्पन्न करने की दृष्टि से वह तमाम धन को केवल नकद रूप मे नही रख सकता (यदि ऐसा करे तब विश्वास तो अधिकतम हो जायगा) क्योकि उसका उद्देश्य लाभ कमाना भी होता है, लाभ कमाने के उद्देश्य से उसे पूँजी *का अनेक प्रकार से उपयोग करना पड़ता है* (उदाहरण दीजिए) । वह अपनी पूँजी का इन विभिन्न तरीको मे उपयोग कुछ सिद्धान्तो के आधार पर ही करता है (इन सिद्धान्तों के प्रयोग मे भी विभिन्न देशो अथवा विभिन्न बैंको की अपनी निजी परिस्थितियो के अनुसार भिन्नता होती है), कि बैंक की साख-निर्माण शक्ति *अथवा बैंक-मुद्रा के निर्माण की शक्ति अथवा ऋण देने की क्षमता बहुत कुछ* उसकी साख एव विश्वास (मांगे जाने पर धन का भुगतान होने का आश्वासन) पर निर्भर रहती है—बैंक की साख नष्ट होने पर उसका व्यवसाय समाप्त हो जाता है, फिर चाहे उसके पास स्थूल सम्पत्ति के रूप मे कितना ही धन क्यों न हो, इसी कारण बैंक को अपनी सम्पत्ति तरल रूप म रखना अत्यावश्यक होता है ? (दो पृष्ठ) । *द्वितीय* भाग मे विनियोग के अनेक सिद्धान्तो का जिक्र करते हुये तरलता, लाभदायकता व सुरक्षिता के सिद्धान्तों की विस्तार मे तथा तुलनात्मक रूप मे भारतीय उदाहरणा सहित व्याख्या करनी चाहिए—तरलता—इस दृष्टि से बैंक के पास जो कुछ भी नकद रूप मे धन होता है उसमें अत्यधिक तरलता होती है, *यदि समस्त धन इस रूप म रहे कि बैंक* जमाकर्ताओं को व्याज तथा अ शधारियो को लाभ व नैतिक व्यय कहाँ से चलायेगा ? बैंक का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना है इसलिये बैंक अपना धन केवल नकद रूप म नही रख सकता इसके विपरीत बैंक को सुरक्षा व तरलता के गुणो का बलिदान करके धन का विनियोजन इस प्रकार भी नही करना चाहिए कि लाभ तो अधिक प्राप्त होने की सम्भावना हो परन्तु फिर चाहे धन डूब जाये अथवा सकट के समय उसे बेचकर धन प्राप्त नहीं किया जा सके या इस बिक्री से बहुत कम धन प्राप्त हो सके (उदाहरण

दीजिये) इस कारण प्रत्येक बैंक को विनियोग के साधनों का चुनाव करते समय लाभ, तरलता व सुरक्षा (इसमें बिक्री से घाटा नहीं होना भी सम्मिलित है) इन तीनों ही सिद्धान्तों को ध्यान में रखना पड़ता है (दो पृष्ठ)। तृतीय भाग में बताइए कि सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने बैंक के विनियोगों की तरलता को कैसे बनाये रखने का प्रयत्न किया है, जैसे—(i) एक्ट के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी कुल जमा का २० प्रतिशत नकद मुद्रा, सोना तथा स्वीकृत ऋण-पत्रों (Approved Securities) के रूप में रखना अनिवार्य कर दिया गया है। (ii) बैंक के कुल स्थायी जमा का २ प्रतिशत तथा चालू खाते की जमा का ५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य कर दिया गया है आदि (आधा पृष्ठ)।

प्रश्न २:—किसी अधिकोष के संरक्ष्य रोकड़ (Cash Reserves) को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण कारणों की व्याख्या करिए (Agra, B Com. १९५१)।

संकेत:—प्रारम्भ में परिचय-स्वरूप बताइये कि प्रत्येक बैंक अपने पास कुछ न कुछ धन नकद में रखता है ताकि ग्राहकों की धन की माँग होने पर वह भुगतान कर सके, कि विनियोग में तरलता के सिद्धान्त की दृष्टि से नकद में धन रखने से अमुक सिद्धान्त की सबसे अधिक पुष्टि होती है, कि प्रत्येक बैंक को किन नियमों के आधार पर नकद में धन रखना चाहिये, इनमें देश-देश व भिन्न-भिन्न बैंकों की परिस्थितियों के अनुसार भिन्नता होती है, कि यह निधि मुख्यतः बैंक के पूर्व अनुभव, दूरदर्शिता, देश की व्यापारिक स्थिति, बैंक की निजी आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहती है जिसके कारण भिन्न-भिन्न बैंक्स विभिन्न परिमाण में अपने पास नकद कोष रखते हैं कि सामान्यतया कुछ नियम अवश्य ऐसे हैं जिनके आधार पर बैंक्स अपने पास नकद निधि रखते हैं, जैसे—वैधानिक आवश्यकतायें, ग्राहकों की आदत व क्षेत्र की व्यवसायिक स्थिति, समाशोधन-गृहों की उपलब्धता, जमा धन की मात्रा, खातों की प्रकृति, अन्य बैंकों की नकद-कोष नीति, विनियोगों की प्रकृति आदि (प्रत्येक को विस्तार से उदाहरण सहित लिखिए) (पाँच-छः पृष्ठ)।

प्रश्न ३:—(i) एक अधिकोष का काल्पनिक स्थिति विवरण बनाकर यह बताइये कि उसके भिन्न-भिन्न पदों का क्या महत्व है? (Bihar, B. A १९५६, Sagar; B. Com १९५८), (ii) अधिकोषों के स्थिति-विवरण के दोनों ओर में मुख्य पदों को बताइये और उसमें परिसम्पत् के विन्यास में तरलता को प्राथमिकता तथा देय-धन के विन्यसन में आधिक्ता को प्राथमिकता देने के विचारों का स्पष्टीकरण दीजिए। स्थिति-विवरण के कुछ पदों को प्रति-पक्ष प्रवृत्तियों यथा "per contra enteries" के स्थान पर क्यों दर्शाया जाता है? (Jabb. B. Com १९५८)।

संकेत—उत्तर के प्रारम्भ में स्थिति-विवरण का अर्थ समझाइए। फिर किसी काल्पनिक बैंक का स्थिति-विवरण बनाइए और उसमें दोनों ओर लिखित मदों की व्याख्या कीजिए। तदपश्चात् विनियोग के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए बताइए कि तरलता, सुरक्षा व लाभदायकता के सिद्धान्तों की पुष्टि अमुक स्थिति-विवरण में किस प्रकार की गई है (पाँच-छः पृष्ठ)।

अध्याय ११

बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध*

(Relationship between the Bank and the Customer)

बैंक और ग्राहक की परिभाषायें

<u>बैंक और ग्राहक की परिभाषायें</u> (Definitions of a Bank and a Customer)—बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इन दोनों का अर्थ भी समझ लें। 'बैंक और उनके कार्य' नामक अध्याय में हमने बैंक की विभिन्न लेखकों द्वारा दी गई बैंक की परिभाषायें दी हैं। संक्षेप में, बैंक वह व्यक्ति अथवा संस्था है जो मुद्रा व साख में व्यवसाय करती है अर्थात् जो द्रव्य का लेन-देन तथा साख का क्रय विक्रय करती है। इस तरह बैंक वह व्यक्ति अथवा संस्था है जो जनता से धन जमा पर प्राप्त करती है और इसका भुगतान चैक आदि पत्रों द्वारा मांगने पर करती है। परन्तु ग्राहक (Customer) की परिभाषा काफी विवादपूर्ण है और यह समय-समय पर भिन्न भिन्न दी गई है। साधारणतया ग्राहक उस मनुष्य, फर्म, कम्पनी या किसी कानूनी संस्था को कहते हैं जिसका किसी बैंक में खाता होता है और जिसे रुपया बैंक द्वारा या किसी दूसरी प्रकार से, बिना पूर्व सूचना के, निकालने का अधिकार होता है। ग्राहक बनाने के लिए दो बातों का होना जरूरी है—प्रथम, बैंक और ग्राहक के बीच स्वाभाविक व्यवहार (Habitual dealings) होना चाहिये। जिस प्रकार किसी दूकान के एक आकस्मिक (Casual) खरीदार और एक ऐसे ग्राहक में जो नियमित रूप से वस्तुयें खरीदता है, भेद होता है उसी प्रकार बैंक से कभी-कभी सौदा करने वाले में और नियमित रूप से सौदा करने वाले ग्राहक में भेद होता है। यहां पर बैंक के ग्राहक (Customer of a Bank) का अभिप्राय केवल एक ऐसे पक्ष से है जिसका बैंक से स्वाभाविक व्यवहार (Habitual dealings) रहता है अर्थात् जो पक्ष नियमित रूप से बैंक से सौदे करता है। द्वितीय, खाता नियमित बैंकिंग व्यापार से सम्बन्धित होना चाहिये अर्थात् वही पक्ष बैंक का ग्राहक माना जाता है जिसके बैंक से सौदे आर्थिक (Financial) तथा नियमित (Continuous) रूप में होते हैं। आर्थिक सौदे का अभिप्राय है कि ग्राहक का बैंक में किसी भी प्रकार का खाता (Account) है और वह इस खाते में समय-समय पर रुपया जमा करता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर इसे निकालता भी रहता है। यह स्मरण रहे कि बैंक का

*आगरा यूनिवर्सिटी के बी॰ ए॰ के विद्यार्थियों के लिए परीक्षा की दृष्टि से यह अध्याय लाभप्रद नहीं है। अतः उन्हें यह अध्याय नहीं पढ़ना चाहिये।

ग्राहक बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति-विशेष काफी समय से बैंक के साथ व्यवसाय करे अर्थात् ग्राहक और बैंक के बीच में किसी निश्चित समय तक व्यवहार होना ही चाहिये, यह आवश्यक नहीं है*। अतः बैंक का ग्राहक कोई भी ऐसा व्यक्ति एवं संस्था हो सकती है जिसका बैंक में इस प्रकार का खाता है कि उसमें से चैक या अन्य विधियों द्वारा रुपया निकाला जा सकता है। इस तरह बैंक का ग्राहक वही पक्ष होता है जो बैंक में रुपया जमा करता है, चाहे यह रुपया नकद जमा (Cash Deposit) या साख जमा (Credit Depósit) के रूप में होती हो। इसीलिए बैंक के ग्राहक उसमें नकद रुपया जमा करने वाले जमाधारी (Depositors) तथा ऋणी (Debtors) दोनों ही होते हैं।

ग्राहकों के प्रकार (Types of Customers)

बैंक के ग्राहकों के प्रकार (Types of Customers of a Bank):—प्रत्येक बैंक के अनेक प्रकार के ग्राहक होते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) व्यक्ति तथा उसका एजेन्ट (A person and his Agent):–बैंक किसी व्यक्ति के नाम खाता खोल सकता है। यह अवश्य है कि खाता खोलने से पहले वह उसके चरित्र, उसकी साख व आर्थिक स्थिति, ईमानदारी तथा व्यवसायिक प्रसिद्धि के बारे में खूब जाँच-पड़ताल कर लेता है। यही कारण है कि बैंक किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ग्राहक बनाने से पहले, उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है। इसीलिए बैंक अपने नये ग्राहक से उसका परिचय (Introduction) मांगता है या स्वयं इस भावी ग्राहक के बारे में अपने पुराने ग्राहकों से या अन्य बैंकों से गुप्त जांच किया करता है। बैंक का ग्राहक अपना एक एजेन्ट (Agent) भी नियुक्त कर सकता है, परन्तु बैंक मुख्य ग्राहक से इस आशय की लिखित आज्ञा ले लेता है जिसके आधार पर एजेन्ट को बैंक के खाते से रुपया निकालने या अन्य व्यवहार का अधिकार मिल जाता है। कभी-कभी व्यक्ति न केवल अपने निजी नाम में ही खाता खोलता है वरन् वह दूसरों (विशेषकर पत्नि या अपने व्यवसाय में साझी) के साथ मिलकर बैंक में खाता खोलता है जिसे हम संयुक्त खाता (Joint Account) कहते हैं। (ii) संघ तथा मिश्रित पूंजी की कम्पनियां (Joint Stock Companies)—प्रत्येक बैंक में कुछ खाते क्लब, मजदूर संघ, संयुक्त या मिश्रित पूंजी की कम्पनियों, सभाओं, संघों तथा अन्य व्यापारिक फर्मों के भी होते हैं। (iii) नाबालिग (Minors)—बैंक का ग्राहक एक नाबालिग भी हो सकता है। चूंकि एक नाबालिग विचारयुक्त निर्णय नहीं ले सकता, इसलिए उसका खाता प्रायः उसके संरक्षकों द्वारा ही चलाया जाता है।

* Sir John Paget has emphasissed the importance of "Duration of time" between the relationship of a Bank and its Customer. But there are persons like Lord Duredin who have rejected the Principle of Duration of Time between the Bank & its Customer—"The word customer signifies a relationship in which duration of time is not of essence."

बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध

(Relationship Between the Bank and the Customer)

प्राक्कथन — एक बैंक और ग्राहक के बीच में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं— (अ) ऋणदाता और ऋणी का सम्बन्ध, (आ) प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध तथा (इ) धरोहर धारी और धरोहर धर्ता का सम्बन्ध। नीचे प्रत्येक का विस्तार से वर्णन किया गया है —

(अ) ऋणदाता और ऋणी का सम्बन्ध (Relationship of Creditor and Debtor)—सर जॉन पैगट (Sir John Paget) के अनुसार बैंक और ग्राहक के बीच सबसे मुख्य एवं महत्वपूर्ण सम्बन्ध ऋणी (Debtor) और ऋणदाता (Creditor) का होता है। प्रत्येक बैंक यदि एक समय ऋणी (Debtor) होता है तब दूसरे समय वही बैंक ऋणदाता (Creditor) भी होता है। इसी प्रकार ग्राहक भी ऋणी तथा ऋणदाता हो सकते हैं —(i) एक बैंक उस समय ऋणी माना जाता है जबकि वह जमाधारियों (Depositors) से जमा पर रुपया प्राप्त करता है। इस अवस्था में जमाधारी या बैंक का ग्राहक ऋणदाता होता है। अतः बैंक तथा ग्राहक का क्रमशः ऋणी तथा ऋणदाता का सम्बन्ध उस समय स्थापित हो जाता है जबकि जमाधारी (ग्राहक) बैंक में कुछ रकम अपने नाम के खाते में जमा कर देता है। (ii) परन्तु एक बैंक उस समय ऋणदाता (Creditor) माना जाता है जबकि वह ग्राहक को अधि विकर्ष (Over Draft) या नकद साख (Cash Credit) या अन्य प्रकार से ऋण देता है। इस अवस्था में ग्राहक बैंक का ऋणी (Debtor) होता है। अतः प्रत्येक बैंक अथवा बैंक का ग्राहक यदि एक समय ऋणी है तब वह दूसरे समय ऋणदाता होता है।

बैंकर और ग्राहक के उपलिखित सम्बन्ध की कुछ विशेषतायें होती हैं जो सामान्यतया अन्य साहूकारों और ऋणी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं पाई जाती हैं। ये विशेषतायें इस प्रकार हैं —(i) ऋण के भुगतान करने की स्वतन्त्रता — जब ग्राहक बैंक में रुपया जमा करता है तब बैंक ऋणी और ग्राहक ऋणदाता है। बैंक में जमा किया गया धन ऋण है। इस ऋण का स्वभाव उस ऋण के समान है जो एक सामान्य व्यक्ति या साहूकार (Money Lender) द्वारा किसी व्यक्ति या ऋणी (Debtor) को दिया जाता है अर्थात् जो अधिकार साहूकार या महाजन को अपने ऋणी पर प्राप्त होते हैं बिल्कुल वही अधिकार बैंक के ग्राहक के बैंक पर प्राप्त होते हैं। इतनी समानता होने हुए भी बैंक के ऋण में और साहूकार के ऋण में एक अन्तर रहता है और वह यह है कि एक साधारण ऋणी ऋण की रकम को महाजन को जब चाहे वापिस कर सकता है और अपने ऋण से मुक्त हो सकता है क्योंकि ऋण के भुगतान के सम्बन्ध में कोई ऐसी शर्त नहीं होती है कि ऋणी अपने ऋण को अमुक समय से पहले नहीं चुका सकता है अर्थात् ऋणी जब चाहे तब ऋण का भुगतान करते

में स्वतन्त्र होता है। परन्तु बैंक अपने ग्राहक (जमाकर्ता) का जमा-धन (ऋण) जब चाहे तब वापिस नहीं कर सकता है क्योंकि यह धन उसके पास जमानत के रूप में नहीं होता वरन् यह ऋण के रूप में होता है, जिसका वह लाभ कमाने की दृष्टि से अनेक प्रकार से उपयोग करता है। बैंक (ऋणी) अपने ग्राहक (ऋणदाता) का खाता (Account) ग्राहक की प्रार्थना पर ही बन्द किया करता है और ग्राहक द्वारा बिना रुपये की माग किए, यह उसके रुपये का भुगतान नहीं कर सकता है। अत एक साधारण ऋण के भुगतान की स्वतन्त्रता एवं प्राथमिकता ऋणी में होती है परन्तु बैंक के ऋण में भुगतान की स्वतन्त्रता एवं प्राथमिकता ऋणी (बैंक) में नहीं होती है। (ii) ऋण का उपयोगः—एक साधारण ऋण साहूकार द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही दिया जाता है और ऋणी ऋण की रकम का उपयोग केवल पूर्व निर्धारित शर्तों के अनुसार ही कर सकता है। परन्तु बैंक (ऋणी) के पास जो धन जमा होता है उसके उपयोग के सम्बन्ध में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है, वह इसका जब चाहे तब और जिस प्रकार से चाहे उस प्रकार से उपयोग कर सकता है अर्थात् धन के उपयोग के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। उस पर केवल एक ही जिम्मेदारी होती है कि ग्राहकों (ऋणदाता) की माग पर उसे रुपये का भुगतान करना पड़ेगा। (iii) ऋणदाता द्वारा रुपए की समय-समय पर मांग और इसका भुगतानः—एक साधारण ऋण साहूकार द्वारा किसी निश्चित अवधि के लिये दिया जाता है जिससे वह ऋणी को इस अवधि से पहले ऋण का भुगतान करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है। परन्तु बैंक के ग्राहक (जमाकर्ता या ऋणदाता) को यह अधिकार होता है कि वह पूर्व निर्धारित शर्तों के आधार पर चैक तथा अन्य पत्रों द्वारा अपनी जमा की गई रकम (ऋण) को वापिस ले सकता है। विधान के अनुसार बैंक के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह ग्राहक की आज्ञानुसार उसके खाते में से उसके द्वारा मांगी हुई रकम का भुगतान करे अर्थात् जैसे ही बैंक के पास चैक या अन्य पत्र आयें, तब वह इनका भुगतान करे (यदि चैक इसके निर्गमित होने के छः महीने के अन्दर ही प्रस्तुत किया गया है, यदि चैक बैंक के कार्य करने के समय में ही पेश किया गया है, यदि खाते में पर्याप्त रुपया है आदि)। यदि बैंक ने अकारण (Without any valid reason) ही किसी चैक का अनादर किया है, तब वह बैंक पर मान हानि का दावा तक कर सकता है। (iv) ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सूचनाः—प्रत्येक बैंक अपने ग्राहक के खाते से सम्बन्धित तमाम बातों को गुप्त (Secret) रखता है। परन्तु अन्य किसी बैंक, सुरक्षा-गृहों (Protecting Houses) या ग्राहक द्वारा अन्य किसी अधिकृत व्यक्ति या संस्था से की गई धन सम्बन्धी पूछ ताछ का वह उत्तर दे देता है, यदि इस प्रकार दी गई सूचना देशहित या व्यापार के हित में है। बैंक को सूचना देते समय बड़ा सावधान रहना पड़ता है क्योंकि तनिक भी गलत सूचना दे देने पर उसके ग्राहकों को बहुत हानि हो सकती है। बैंक को यह सूचना तब भी देनी पड़ती है जबकि इसकी मांग न्यायालयों द्वारा की जाती है, या सूचना देना बैंकों के हित में होता है या यह जनहित

व समाजहित तथा व्यवसायिक हित में है या ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सूचना देना स्वयं बैंक के हित में होता है या जब ग्राहक स्वयं ऐसी सूचना प्राप्त करने के लिए अपने बैंक का हवाला देता है। परन्तु एक साधारण ऋण में इस प्रकार की बातें न तो गुप्त ही रहती हैं और न ये पूछी ही जाती हैं।

(आ) <u>प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध</u> (Relationship of Agent and Principal) —बैंक और ग्राहक का दूसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध एक प्रतिनिधि या आढ़तियें (Agent) और प्रधान या मालिक (Principal) का है। आधुनिक काल में प्रत्येक बैंक न केवल रुपया जमा पर प्राप्त करने और इसके उधार देने का कार्य करता है वरन् वह अपने ग्राहकों का अनेक प्रकार से एजेन्ट का भी कार्य करता है। संक्षेप में, प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों का एजेन्ट के रूप में इस प्रकार कार्य करता है—चैकों का भुनाना व संग्रहण (Collect) करना, विनिमय बिल्स को ग्राहकों की ओर से स्वीकार करना तथा संग्रहण करना, धन का हस्तान्तरण करना, शेयर्स व ऋण-पत्रों का क्रय-विक्रय करना, ब्याज व मूलधन व शेयर्स पर लाभांश एकत्रित करना या इनका भुगतान करना, प्रिमियम व ऋण व ब्याज की किश्तों को वसूल करना या इनका भुगतान करना, ग्राहकों की ओर से प्रन्यासी (Trustee), मुख्तार (Attorney), उत्तर-साधक (Executor) आदि के रूप में कार्य करना ("बैंक और इसके कार्य" नामक अध्याय में इनके बारे में विस्तार से लिखा जा चुका है)। वर्तमान व्यापारिक व वाणिज्यिक जगत में बैंक के उक्त कार्यों की संख्या तथा इनका महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इन कार्यों से एक ओर तो ग्राहकों को अनेक सुविधाएं उपलब्ध हो जाती हैं और दूसरी ओर बैंकों को भी इन कार्यों को सम्पन्न करके कम-अधिक लाभ प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि बैंक एजेन्सी के सब कार्य अपने प्रधान ग्राहक के आदेशानुसार तथा प्रतिनिधिस्वरूप करता है जिसमें उसके सब कार्यों के लिये ग्राहक ही उत्तरदायी (Responsible) होता है। यह अवश्य है कि यदि बैंक लापरवाही से कार्य करता है या अपने अधिकार से बाहर काम करता है या अपने अधिकारों का दुरुपयोग (Misuse) करता है या सौदों व व्यवहारों में बेईमानी करता है, तब इन सब का उत्तरदायी बैंक भी होता है।

(इ) <u>धरोहर धारी और धरोहर-धर्ता का सम्बन्ध</u> (Relation of Bailee and Bailer) —बैंक और ग्राहक का तीसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध धरोहर धारी (Bailee) और धरोहर-धर्ता (Bailer) के रूप में है। कुछ आधुनिक बैंक्स अपने ग्राहकों के जेवर, सोना, चाँदी, हीरे जवाहरात, बहुमूल्य प्रतिभूतियां (Securities) तथा अन्य पत्र अपने पास धरोहर के रूप में रखते हैं और इस तरह बैंक्स इन वस्तुओं के संरक्षक (Custodian) के रूप में कार्य करते हैं। इन बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने का कार्य बैंक को धरोहर धारी या जामिन (Bailee) या प्रन्यासी (Trustee) बना देता है और ग्राहक को जिसने उक्त वस्तुओं को बैंक में सुरक्षित रक्खा है धरोहर धर्ता या जमानतदार (Bailer) या लाभदारी (Beneficiary) बना देता है। बैंक इन

वस्तुओं को प्रायः एक मुहरबन्द लिफाफे या मुहर लगे हुए ताले-बन्द बक्स में लेता है और जमानत द्वारा वापिस मांगे जाने पर इसी दशा में वापिस कर देता है। बैंक्स इस संरक्षण कार्य को कभी-कभी निःशुल्क (Free) करते हैं और कभी-कभी इसके लिए कुछ शुल्क (Fees) भी ले लेते हैं। बैंकों की जिम्मेदारी पूर्ण होती है, यदि उनके संरक्षण में वस्तु खो जाय या नष्ट हो जाय, तब वे इसके उत्तरदायी होते हैं और वस्तु की कीमत चुकाते हैं। इसी तरह यदि वे वस्तुओं को अनाधिकृत व्यक्ति (Unauthorised Person) को लौटा देते हैं, तब भी वे इसके उत्तरदायी होते हैं। यही कारण है कि बैंक जिस समय एक धरोहर-धारी के रूप में कार्य करता है, बहुत ही सावधानी से कार्य करता है।

बैंक की अपने ग्राहकों के प्रति विशेष जिम्मेदारियां:—प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों से उल्लिखित सम्बन्ध तो रखता ही है परन्तु व्यवहारिक जीवन में उसे अपने ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ भी निभानी पड़ती हैं। इनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) चैकों का भुगतान करना:—प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों द्वारा जारी किये गये चैकों के भुगतान करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। परन्तु वह यह जिम्मेदारी अपने ऊपर तब ही लेता है जबकि चैक हर प्रकार से ठीक होते हैं तथा ग्राहक के खाते में पर्याप्त रकम जमा होती है। (ii) बैंकर का साधारण ग्रहणाधिकार:—(Banker's General Lien):—यदि कोई पूर्व समझौता नहीं हुआ है, तब बैंक अपने ग्राहक के हिसाब में कोई भी रकम या भुगतान बाकी रहने पर, ग्राहक का उसके पास जमा माल या सरक्षण में रखी हुई उसकी प्रतिभूतियों (Securities) को रोक सकता है। इस प्रकार के ग्रहणाधिकार (Right of Lien) पर समय की मियाद के कानून (Law of Time Limitation) द्वारा कोई रुकावट नहीं पड़ती है। (iii) ग्राहक के खातों की गोपनीयता (Secrecy of the Accounts of the Customers)·—बैंक की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने ग्राहकों की बातों को गुप्त रखे। इसका कारण स्पष्ट है। ग्राहक की आर्थिक स्थिति की गुप्त बातों के खुल जाने पर उसकी साख तथा व्यापार को बहुत हानि हो सकती है। यही कारण है बैंक सामान्यतया अपने ग्राहकों के खातों का विवरण प्रकाशित नहीं होने देते है। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें बैंक को गुप्त सूचनाओं तक को बताना पड़ता है, जैसे—न्यायालय द्वारा मांग होने पर, बैंक के अपने निजी हित में, जन-हित व समाज हित में, ग्राहक द्वारा ऐसी सूचना देने के लिये अधिकार प्राप्त हो जाने पर, आदि। (iv) आकस्मिक व्यय (Incidental Charges):—जब तक बैंकर और ग्राहक का आपस का सम्बन्ध रहता है, तब तक बैंक को अपने ग्राहक से आवश्यक मात्रा में आकस्मिक व्यय वसूल करने का अधिकार होता है। ग्राहक भी इसे देने से मना नहीं कर सकता है। (v) चक्रवृद्धि ब्याज (Compound Interest)—ब्याज प्रत्येक छः माह के बाद लगाया जाता है। किसी पूर्व समझौते के अभाव में, बैंक को अपने ग्राहकों को दिये हुए ऋण पर चक्रवृद्धि ब्याज लेने का अधिकार होता है। (vi) समय-सीमा-विधान (Time Limitation Law)

—बैंक अपने ग्राहकों को यह गारण्टी दिया करता है कि चाहे ग्राहक को अपनी जमा तथा ब्याज निकाले तीन साल हो गये हो, परन्तु उसे अपने खाते में से रुपये निकालने का पूर्ण अधिकार रहेगा। इस तरह बैंक यह आश्वासन दिया करता है कि जमाकर्ताओं द्वारा जमा की हुई राशि पर समय-सीमा नियम (Time-Limitation Law) लागू नहीं होगा। यह स्मरण रहे कि समय-सीमा नियम के अनुसार यदि कोई रकम तीन वर्ष से निकाली नहीं गई है, तब यह अशोधनीय होती है। परन्तु बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध में इस प्रकार का समय-सीमा नियम लागू नहीं होता है।

अध्याय १२

इकाई बैंकिंग या शाखा बैंकिंग*

(Unit Banking or Branch Banking)

प्राक्कथन—बैंको के कार्यों एवं सगठन के आधार पर हम इन्हे दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम, व्यापारिक बैंकिंग (Commercial Banking) तथा द्वितीय, विनियोग बैंकिंग (Investment Banking)। व्यापारिक बैंक्स केवल अल्पकाल के लिए तथा उत्पादन कार्यों के लिये ऋण देते हैं और ग्राहकों से जो धन जमा पर प्राप्त करते हैं वह भी अल्पकालीन होता है। इसके विपरीत विनियोग बैंक्स दीर्घकाल के लिए तथा उत्पादन कार्यों के लिये ऋण देते हैं और ग्राहकों से जो धन जमा पर प्राप्त करते हैं वह भी दीर्घकालीन होता है। व्यापार बैंकिंग प्रथा को हम दो मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—(अ) शाखा बैंकिंग तथा (आ) एकक बैंकिंग प्रथा।

शाखा बैंकिंग (Branch Banking)

(अ) शाखा बैंकिंग का अर्थ (Meaning of Branch Banking)—वह प्रणाली जिसमें बैंकिंग कम्पनी की बहुत सी शाखायें (Branches) तमाम देश में या कम से कम देश के एक बहुत बड़े भाग में फैली रहती हैं, शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) कहलाती है। इस प्रकार की प्रथा इंगलैण्ड, भारतवर्ष, कैनाडा, जर्मनी व आस्ट्रेलिया आदि देशों में पाई जाती है। कुछ लेखकों ने शाखा बैंकिंग को बैंकिंग की विकेन्द्रित पद्धति (Decentralised System of Banking) कहा है। इंगलैण्ड में पाच ही ऐसे बड़े-बड़े बैंक हैं जिनका देश की अधिकांश बैंकिंग संस्थाओं पर आधिपत्य पाया जाता है। इंगलैंड में इन्हें "महान् पाँच" (The Big Five) के नाम से पुकारा जाता है।

---

* आगरा यूनिवर्सिटी के बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये परीक्षा की दृष्टि से यह अध्याय उपयोगी नहीं है। अतः उन्हें इस अध्याय को नहीं पढ़ना चाहिये।

शाखा बैंकिंग के लाभ और दोष

शाखा बैंकिंग पद्धति के लाभ (Advantages of the Branch Banking System)—शाखा बैंकिंग पद्धति मे एकक बैंकिंग प्रणाली की तुलना मे कई महत्वपूर्ण लाभ हैं—(i) बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के लाभ—शाखा बैंकिंग प्रणाली में श्रम विभाजन पद्धति का उपयोग होता है, जिससे इसमे श्रम-विभाजन प्रणाली के समस्त लाभ उपलब्ध हो जाते हैं। शाखा बैंकिंग में क्योंकि एक विशालकाय बैंक होता है और उसकी विभिन्न स्थानो पर शाखायें होती हैं, इसलिए बैंक का सगठन विशाल होता है तथा इसके पास पूंजी काफी बड़ी मात्रा में होती है। बैंक अपने कार्यों के सचालन के लिये बड़ी-बड़ी तनख्वाहों पर कुशल तथा विशेषज्ञ प्रबन्धक रख सकता है जिससे बैंक के कार्यों का सम्पादन वैज्ञानिक आधार पर किया जा सकता है। चूंकि बैंक की सब शाखाओं का सचालन एक केन्द्रीय कार्यालय से होता है, इसलिए इसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। अतः शाखा बैंकिंग में बड़े पैमाने की बचत आसानी से उपलब्ध हो जाती है। (ii) शाखा बैंकिंग में अपेक्षाकृत कम मात्रा में रक्षित कोष (Lower Cash Reserves) रखने पड़ते हैं—जब एक बैंक विशाल होता है और इसकी स्थान-स्थान पर अनेक शाखायें होती हैं, तब यह प्रत्येक शाखा में बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे ही नकद-कोष (Cash Reserve) रखकर अपने कार्य का सपादन कर सकता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक की एक शाखा से रुपया दूसरी शाखा को हस्तान्तरित किया जा सकता है। परन्तु यदि बैंक ऐसा है कि इसकी शाखायें नहीं हैं और यदि हैं भी, तब ये बहुत ही कम संख्या में हैं, तब इसे अपने कार्य को चलाने के लिये अपेक्षाकृत बहुत बड़ी मात्रा में अपने पास नकद-कोष रखना होगा। अतः व्यवसाय के विस्तार की तुलना मे शाखा बैंकिंग मे इकाई बैंकिंग की अपेक्षा बहुत कम मात्रा

> **शाखा बैंकिंग के मुख्य लाभ हैं:—**
>
> १. इस प्रणाली मे बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त होते हैं।
> २. इसमे अपेक्षाकृत कम मात्रा मे रक्षित-कोष रखना पड़ता है।
> ३. मुद्रा का हस्तान्तरण सस्ता व सुगमता से हो जाता है तथा ब्याज की दर की असमता दूर हो जाती है।
> ४. व्यवसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है।
> ५. स्थान स्थान पर बैंकिंग की सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं।
> ६. बैंक अपने साधनों का अच्छी प्रतिभूतियों में विनियोग करने में सफल हो जाते हैं।
> ७. कर्मचारियों की ट्रेनिंग की सुविधा रहती है।

में रक्षित-कोष रखना पडता है जिससे बैंक्स काफी बडी मात्रा मे साख-सृजन करके लाभ कमाते हैं। (iii) मुद्रा का हस्तान्तरण सस्ता व सुगमता से हो जाता है तथा ब्याज की दर की असमानता दूर हो जाती है—शाखा बैंकिंग मे द्रव्य का हस्तान्तरण (Remittance of Funds) सरल, सस्ता तथा तीव्रगति से हो जाता है क्योकि बैंक की एक शाखा से धन का हस्तान्तरण इसकी दूसरी शाखा को हो सकता है। इस प्रणाली मे एक जगह का अधिक धन ऐसे स्थान को जहाँ धन का अभाव है, स्थानान्तरित हो जाया करता है जिससे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे वहा की मौसमी (Seasonal) आवश्यकतानुसार धन का वितरण हो जाता है। परिणामत विभिन्न क्षेत्रो मे ब्याज की दर मे समानता की प्रवृत्ति पाई जाती है। (iv) व्यवसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है—शाखा बैंकिंग मे बैंक का कुल व्यवसाय किसी एक क्षेत्र में केन्द्रित न होकर यह बहुत बडे क्षेत्र मे फैला हुआ होता है। इसी तरह बैंक के विनियोग भी किसी एक उद्योग मे न होकर अनेक उद्योगो मे होते हैं। परिणामत एक उद्योग व स्थान की हानियो का दूसरे उद्योग व स्थान के लाभों से समायोजन (Adjustment) होता रहता है। (v) स्थान-स्थान पर बैंकिंग की सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं:—शाखा बैंकिंग पद्धति मे बैंको की शाखायें छोटे-छोटे नगरो, अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रो तक मे खुल जाती हैं जिस से एक तरफ बंको मे स्थायित्व (Stability) रहता है और दूसरी तरफ देश का अत्यधिक आर्थिक हित होता है। अत शाखा बैंकिंग मे देश मे उन क्षेत्रो तक मे बैंकिंग की सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं जहा स्वतन्त्र रूप मे बैंक के खुलने की सम्भावना नही होती है। (iv) प्रतिभूतियों का चुनाव सभव हो जाता है—शाखा बैंकिंग मे बैंको के कर्मचारी सुयोग्य व कुशल होते हैं, तथा इनके पास विनियोग के लिये द्रव्य की मात्रा भी बहुत होती है। परिणामत बैंक्स अपने साधनो का अच्छी प्रतिभूतियों मे ही विनियोग करते हैं। (vii) कर्मचारियों की ट्रेनिंग—शाखा बैंकिंग मे बैंको का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है जिससे इस पद्धति मे कर्मचारियो को बैंकिंग की सबसे उत्तम ट्रेनिंग मिल जाती है।

शाखा बैंकिंग पद्धति के दोष (Defects of the Branch Banking System)—मुख्य-मुख्य दोष इस प्रकार हैं—(i) प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण की कठिनाई—शाखा बैंकिंग मे प्रत्येक बैंक विशालकाय होता है, इसकी कभी-कभी सैकडो शाखायें होती हैं। इस कारण बैंक के प्रबन्ध व निरीक्षण तथा नियन्त्रण की अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रत्येक शाखा को मुख्य कार्यालय पर निर्भर रहना पडता है जिसमे समय की भी बहुत हानि होती है। दूसरे शब्दो मे, शाखा बैंकिंग में बडे पैमाने की उत्पत्ति के लगभग सभी दोष पाये जाते हैं। (ii) प्रारम्भन प्रेरणा का अभाव होता है—शाखा बैंकिंग मे बैंक की प्रत्येक शाखा लगभग प्रत्येक समस्या पर अपना निजी निर्णय नही ले सकती है, उसे प्रत्येक समस्या पर निर्णय अपने प्रधान कार्यालय से पूछ कर एव अनुमति लेकर करना पडता है। परिणामत शाखायें अपने क्षेत्र की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अपनी कार्य-विधि आसानी से नही अपनाने पाती हैं।

इसीलिए यह कहा जाता है कि शाखा बैंकिंग में कार्य के लोच और प्रारम्भन की प्रेरणा का अभाव (Lack of Initiative) रहता है। (iii) देश की आर्थिक स्थिति पर कुछ ही व्यक्तियों का एकाधिकार हो जाता है:—शाखा बैंकिंग प्रणाली में अत्यधिक केन्द्रीयकरण (Centralisation) हो जाता है जिससे देश की आर्थिक स्थिति कुछ व्यक्ति-विशेषों के एकाधिकार में चली जाती है। देश की समृद्धि व जन-साधारण के आर्थिक हित के दृष्टिकोण से यह स्थिति खतरनाक सिद्ध हो सकती है। (iv) यह प्रणाली व्ययपूर्ण होती है:—बैंक की प्रत्येक नई शाखा के खुलने पर बैंक के नियन्त्रण व प्रबन्ध का व्यय बढ़ जाता है। यदि प्रधान कार्यालय ने बैंक की नई-नई शाखाओं के खोलने के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित नीति नहीं अपनाई है, तब शाखाओं के नियन्त्रण व प्रबन्ध पर इनकी आय से व्यय अधिक हो जायगा। (v) बैंकिंग सेवाओं का अनावश्यक दुहराव हो जाता है:—शाखा बैंकिंग पद्धति में जब बैंकों में आपस में प्रतियोगिता होती है, तब प्रत्येक बैंक दूसरे बैंकों की देखा-देखी प्रत्येक नगर एवं क्षेत्र में अपनी शाखा खोलने लगता है, जिससे प्रायः छोटे-छोटे नगरों में, बैंकिंग की सुविधा का अनावश्यक दुहराव (Duplication) हो जाता है और तब आपस में प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक बैंक को हानि होने लगती है। (iv) बैंक की किसी एक शाखा के दोष का अन्य तमाम शाखाओं पर प्रभाव पड़ता है:—आर्थिक संकट काल में जब बैंक की किसी एक या कुछ शाखाओं को हानि होती है, तब इसका प्रभाव बैंक की अन्य शाखाओं पर भी पड़ता है।

> **शाखा बैंकिंग के मुख्य दोष हैं:—**
>
> १. इस प्रणाली में प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण की कठिनाई होती है।
> २. प्रारम्भन-प्रेरणा का अभाव होता है।
> ३. देश की आर्थिक स्थिति पर कुछ ही व्यक्तियों का एकाधिकार हो जाता है।
> ४. यह प्रणाली व्ययपूर्ण होती है।
> ५. बैंकिंग सेवाओं का अनावश्यक ही दुहराव हो जाता है।
> ६. बैंक की किसी एक शाखा का अन्य तमाम शाखाओं पर प्रभाव पड़ता है।

एकक या इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

एकक या इकाई बैंकिंग का अर्थ.—(Meaning of Unit Banking):—वह प्रणाली जिसमें बैंक के आर्थिक कार्य साधारणतया एक ही कार्यालय तक सीमित रहते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ की शाखायें एक सीमित क्षेत्र में हो सकती हैं, एकक या इकाई बैंकिंग प्रणाली (Unit Banking System) कहलाती है। इस प्रणाली में धनों के हस्तान्तरण (Remittance of Funds) तथा कार्यों की सुविधा के लिए विभिन्न बैंकों में आपस में सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार की पद्धति अमेरिका में पाई जाती है

जहा बैंकिंग कार्य एक ही बैंक तक सीमित है। इकाई बैंक्स शाखा बैंकिंग पद्धति की तुलना मे बहुत छोटे पैमाने पर कार्य करते है। इकाई बैंकिंग पद्धति मे एकक बैंक्स अपने नकद कोषो (Cash Reserves) को पास वाले बड़े शहर के किसी बड़े बैंक मे जमा कर देते है। (इन बैंको को Correspondent Banks कहते हैं)। इन बैंको की सहायता से ही द्रव्य देश के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को हस्तान्तरित किया जाता है। एकक बैंकिंग प्रणाली (Unit Banking System) के समर्थकों ने इस प्रणाली का समर्थन इस सिद्धान्त के आधार पर किया है कि एक बैंक का प्रारम्भन तथा इस पर स्वामित्व स्थानीय व्यक्तियो का ही होना चाहिये क्योकि जिस क्षेत्र मे बैंक है उसका कार्य स्थानीय उद्योगपतियो, कृषको तथा व्यापारियो से ही सम्बन्धित होता है और इस तरह एकक प्रणाली मे एक बैंक का स्थानीय आर्थिक और सामाजिक सगठन के साथ एकीकरण (Co ordination) हो जाता है। यही कारण है कि अमेरिका मे हम विभिन्न स्थानो पर छोटे-छोटे व स्वतन्त्र बैंक पाते हैं और इनका स्वामित्व भी स्थानीय पाया जाता है। परन्तु इन सब पर वहा के केन्द्रीय बैंक की देख-रेख (Supervision) रहती है।

एकक बैंकिंग के लाभ व दोष

एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण हैं:—

१ इस प्रणाली मे प्रबन्ध तथा नियन्त्रण की सुविधा रहती है।
२ एक अकुशल व कमजोर बैंक जीवित नही रहने पाता है।
३ कार्यों मे दीर्घ-सूत्रता नही रहती है।
४ स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रक्खा जाता है।
५ एकाधिकारी सस्थाओ के निर्माण पर रोक रहती है।
६ यह प्रणाली स्वतन्त्र व्यवसाय के सिद्धान्त के अनुकूल है।

<u>इकाई बैंकिंग के लाभ</u> (Advantages of the Unit Banking System)—मुख्य-मुख्य लाभ इस प्रकार हैं—(1) प्रबन्ध तथा नियन्त्रण की सुविधा—शाखा बैंकिंग की तरह एकक बैंकिंग म निरीक्षण, नियन्त्रण तथा प्रबन्ध की कोई समस्या नही रहती है क्योकि इस प्रणाली मे देश भर मे अनगिनत शाखाओ का जाल नही बिछा हुआ होता है। (ii) एक अकुशल व कमजोर बैंक जीवित नहीं रहने पाता है—शाखा बैंकिंग म यदि किसी बैंक की किसी शाखा का काय सन्तोषजनक नही है, तब भी यह शाखा अन्य शाखाओ की सहायता से जीवित रहती है। परन्त इकाई बैंकिंग पद्धति मे ऐसा होना सम्भव नही है। यदि बैंक अकुशल एव कमजोर (Weak Bank) है, तब यह स्वत ही अधिक समय तक जीवित नही रह सकेगा। (iii) कार्यो मे दीर्घ सूत्रता (Red Tapism) नहीं रहती है—एकक बैंकिंग का यह गुण है कि इसम कार्यो मे दीर्घ-सूत्रता से उत्पन्न होने वाली हानि नहीं होती है। अधिकारी-वर्ग दिन-

प्रतिदिन की समस्याओं के सम्बन्ध में शीघ्रता से ही निर्णय ले लेते हैं। (iv) **स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रक्खा जाता है**:—एकक बैंकिंग प्रणाली मे अधिकारियो का स्थानीय व्यापारिक समस्याओ के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत ज्ञान होता है क्योकि इस पद्धति मे अधिकारियो का स्थानीय जनसख्या से प्रत्यक्ष व व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है। शाखा बैंकिंग स्वभाव से ही ऐसी होती है कि उसमे स्थानीय जनसख्या के हितो का अपेक्षाकृत कम ध्यान रक्खा जाता है। अतः एकक बैंकिंग मे चूंकि बैंक की कार्य-विधि तथा इसका सचालन स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार होता है, इसलिए इस प्रणाली से कल्याण बहुत होता है। (v) **एकाधिकारी संस्थाओं के निर्माण पर रोक**.—इकाई बैंकिंग मे बैंक छोटे-छोटे होते है जिससे बडी-बडी एकाधिकारी बैंकिंग सस्थाओ का निर्माण नही होने पाता है। (vi) **इकाई बैंकिंग स्वतन्त्र व्यवसाय के सिद्धान्त (Principle of Free Enterprise) के अनुकूल होता है।**

<u>एकक बैंकिंग प्रणाली के दोष</u> (Defects of the Unit Banking System):-मुख्य-मुख्य दोष इस प्रकार है:—(i) **जोखिम का वितरण नहीं होने पाता है**:—शाखा बैंकिंग मे व्यवसाय की जोखिम का बहुत फैलाव हुआ करता है क्योकि बैंक का कार्य-क्षेत्र विभिन्न क्षेत्रों तथा उद्योगों से सम्बन्धित होता है। परन्तु एकक बैंकिंग मे जोखिम के फैलाव के अभाव के कारण तनिक से संकट में बैंको के फेल हो जाने तक का भय रहता है। (ii) **कोषों का हस्तान्तरण कठिन तथा व्ययपूर्ण होता है**:—बैंक की स्थान-स्थान पर अपनी निजी शाखायें नही होने के कारण कोषो के हस्तान्तरण मे कठिनाई रहती है और यह व्ययपूर्ण भी होता है। (iii) **विभिन्न क्षेत्रों में ब्याज की दर में भिन्नता पाई जाती है**:—एकक बैंकिंग पद्धति मे चूंकि धन के स्थानान्तरण की कोई उचित व्यवस्था नही होती है, इसलिए इस प्रथा मे पुराने व समृद्ध क्षेत्रो मे ब्याज की दर कम और नए, अविकसित तथा असमृद्ध क्षेत्रो मे ब्याज की दर अधिक पाई जाती है (क्योकि इस क्षेत्र मे आर्थिक एव औद्योगिक विकास के लिए धन की आवश्यकता अधिक रहती है)। (iv) **बैंकिंग सुविधाओं का अधिक प्रसार नहीं होने पाता है**.—एकक बैंकिंग प्रणाली मे बहुत छोटे-छोटे नगरो या अविकसित क्षेत्रों मे नये-नये व स्वतन्त्र बैंको की स्थापना में कठिनाई होती है क्योकि इन क्षेत्रो पर प्रायः बैंको की

> **एकक बैंकिंग प्रणाली के दोष हैं:—**
>
> १. इस प्रणाली मे जोखिम का वितरण नही होने पाता है।
> २. कोषो का हस्तान्तरण कठिन तथा व्ययपूर्ण होता है।
> ३. विभिन्न क्षेत्रों मे ब्याज की दर मे भिन्नता पाई जाती है।
> ४ बैंकिंग सुविधाओ का अधिक प्रसार नही होने पाता है।
> ५. इस प्रणाली मे बैंको के कार्यों मे भी कुशलता नही रहती है।

इतना व्यवसाय नहीं मिलने पाता है कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक खड़े रह सकें। परिणामतः एकक बैंकिंग प्रणाली में बैंकिंग सुविधाओं का अधिक विस्तार नहीं होने पाता है। (v) **कार्यों में भी कुशलता नहीं रहती है**—एकक बैंकिंग प्रणाली में चूंकि बैंक छोटे-छोटे होते हैं, इसलिये इनकी कार्य विधि भी नवीनतम ढंग की नहीं होने पाती है और कार्य विधि में सुधार भी आसानी से नहीं होने पाता है।

एकक-बैंकिंग-पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय :—एकक बैंकिंग पद्धति के उपर्लिखित दोषों की ओर अमेरिका में ध्यान आकर्षित हुआ, इसीलिये इन दोषों को दूर करने के लिये अमेरिकन एकक बैंकिंग पद्धति में कई महत्वपूर्ण सुधार किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—(i) **शाखाओं को खोलने का अधिकार** :—अमेरिका में एकक बैंकिंग प्रणाली का अवलम्बन होते हुए भी अब बैंकों को अपनी शाखायें खोलने का अधिकार दे दिया गया है ताकि बैंकों को शाखा बैंकिंग प्रणाली के कुछ लाभ भी उपलब्ध हो सकें। (ii) **शृंखलाकारी बैंकिंग पद्धति को प्रोत्साहन** (Encouragement to the Chain Banking System) :—शाखा बैंकिंग के कुछ लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से अमेरिकन बैंकर्स ने शृंखलाकारी (Chain) बैंकिंग पद्धति को अपनाया है। इसका अर्थ यह है कि एक साथ ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का अनेक बैंकों पर सामूहिक स्वामित्व होता है, यद्यपि प्रत्येक बैंक की पूंजी, इनका प्रबन्ध तथा इनके कर्मचारी पूर्णतया पृथक् पृथक् होते हैं। (iii) **कोरसपोन्डेन्ट बैंक्स का निर्माण करना** (Establishment of Correspondent Banks) :—एकक बैंकिंग प्रणाली में बैंक्स अपने नकद-कोषों को पास वाले बड़े शहर के किसी बड़े बैंक में जमा कर दिया करते हैं। इस प्रकार के बड़े-बड़े बैंकों को ही कोरसपोन्डेन्ट बैंक्स (Correspondent Banks) का नाम दिया गया है। जब छोटे छोटे बैंक्स इन बड़े बैंकों में खाता खोलकर अपना कुछ धन जमा कर देते हैं, तब स्वतः ही इनका एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। कभी-कभी ये बड़े-बड़े बैंक्स छोटे बैंकों को आर्थिक व व्यवसायिक सलाह भी देते हैं, समय-समय पर इन्हें एक से दूसरे के पास धन को हस्तान्तरित (Remittance of Funds) करने में मदद करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी आर्थिक सहायता भी करते हैं। परिणामतः छोटे-छोटे बैंकों का आपस में बड़े बैंक के माध्यम द्वारा सम्बन्धीकरण हो जाता है और ये शाखा बैंकिंग के लाभ उठाने लगते हैं।

निष्कर्ष :—यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है कि शाखा बैंकिंग और एकक बैंकिंग में से कौन सी पद्धति अधिक अच्छी है ? प्रो० टॉमस (Thomas) के अनुसार इन दोनों पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ये दोनों ही दोषपूर्ण हैं, परन्तु एकक बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग अधिक उत्तम है। अमेरिका में उसकी निजी परिस्थितियों के कारण ही एकक बैंकिंग प्रणाली सफलतापूर्वक चल सकी है और आज भी चल रही है, परन्तु अन्य ऐसे देशों में जहाँ प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) बहुत कम है, बैंकिंग का विस्तार अभी लगभग नहीं के बराबर हुआ है तथा देश आर्थिक व औद्योगिक एवं व्यापारिक दृष्टि से बहुत कम

विकसित है, एकक बैंकिग प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकती है। ऐसे देशो के लिये तो शाखा बैंकिग प्रणाली ही अधिक उपयुक्त है।

भारत और शाखा बैंकिग-प्रणाली (India and the Branch Banking System):—भारतवर्ष ने इंगलैंड का अनुकरण करते हुये शाखा बैंकिग पद्धति को ही अपनाया है और देश के बैंकिग इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि यह पद्धति देश के लिये बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई है। अमेरिका मे सन् १९२९-३३ में जब बैंकों को महान् अवसाद (Depression) का सामना करना पड़ा था, उस समय वहाँ की एकक बैंकिग पद्धति उस बैंकिग सकट को सहन नही कर सकी और थोड़े से ही समय में अनेक बैंक टूट गये थे। उसी समय इंगलैंड के बैंको ने उस संकट का बड़ी सफलतापूर्वक सामना किया था और इंगलैण्ड के बैंक यह सब कुछ अपनी शाखा बैंकिग पद्धति के कारण ही कर सके थे। यही कारण है कि एकक बैंकिग प्रणाली का जन्मदाता देश अमेरिका सन् १९१३ के पश्चात् शनैः शनैः शाखा बैंकिग की ओर बढ़ा है और आज यह कौरस्पौन्डेन्ट बैंकिग पद्धति (Correspondent Banking System) द्वारा शाखा बैंकिग के लाभ उठा रहा है। भारत मे भी सन् १९४७ मे देश के विभाजन के पश्चात् पंजाब नेशनल बैंक तथा सैन्ट्रल बैंक को बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ा था, परन्तु इन दोनो बैंको ने उस संकट का सफलता से मुकाबला किया। इसका कारण भी यही था कि इन बैंको की सम्पत्ति एक विनियोग देश के अन्य क्षेत्रों मे भी फैले हुए थे। अतः हमारे देश की आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से शाखा बैंकिग पद्धति बहुत ही उपयुक्त है।

परीक्षा-प्रश्न

Rajputana University, B. Com.

1. Write a note on—Unit versus Branch Banking. (1955)

Bihar University, B. A.

1. Discuss the relative merits and demerits of branch and unit banking systems. (1955)

Bihar University, B. Com.

1. Compare the advantages and disadvantages of 'Unit Banking' and 'Branch Banking'. (1953)

Patna University, B. A.

1. Discuss the advantages and the disadvantages of unit and branch banking. Which of them is suitable for India ? (1957)

Allahabad University, B. Com.

1. Write a note on—Branch Banking in India. (1956)

अध्याय १३

केन्द्रीय बैंकिंग

(Central Banking)

प्राक्कथन—यद्यपि केन्द्रीय बैंकिंग का विकास बहुत समय पहले ही हो चुका था, परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को एक वैज्ञानिक रूप बीसवीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ है। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व में आर्थिक संकट की समस्या ने बड़ा विशाल रूप लिया जिससे सन् १९२० में ब्रूसल्स (Brussels) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ जिसने प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया। परिणामतः कुछ ही समय में लगभग सब ही बड़े-बड़े देशों में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई। भारत में भी सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) नाम का एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया गया। एक केन्द्रीय बैंक को केन्द्रीय बैंक इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसका देश के बैंकिंग व मौद्रिक ढांचे में एक केन्द्रीय (महत्वपूर्ण) स्थान होता है, यह अन्य सब बैंकों का सिरताज होता है और उनके लिये एक मित्र (Friend), दार्शनिक (Philosopher) तथा पथ प्रदर्शक (Guide) का कार्य करता है। चूंकि सभी बैंक्स अथवा अन्य आर्थिक संस्थाएं इस बैंक पर निर्भर रहती हैं और इसी के आदेशानुसार कार्य करती हैं, इसलिये इसे केन्द्रीय बैंक कहते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

केन्द्रीय बैंक की परिभाषायें (Definitions of a Central Bank)—विभिन्न विद्वानों ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी है। द्रव्य की तरह केन्द्रीय बैंक की परिभाषा भी इसके विभिन्न कार्यों पर जोर देकर की गई है। नीचे हम कुछ मुख्य मुख्य परिभाषाएं दे रहे हैं—

(१) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो देश में मुद्रा व साख का जन साधारण के हित में सम्बन्ध स्थापित करके तथा इनका देश हित में नियन्त्रण करके, देशी व विदेशी मूल्यों में स्थिरता (Stability) लाती है और बैंकों व बैंकिंग व्यवस्था का विकास तथा संगठन करती है। देश में आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) स्थापित करने वाली संस्था का नाम ही केन्द्रीय बैंक है।"

(२) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो अन्य बैंकों तथा साख संस्थाओं की मुद्रा तथा साख की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, जो बैंकों के बैंक तथा सरकारी बैंक का कार्य करती है, जो राष्ट्र के आर्थिक हितों की रक्षा करती है तथा जो देश की मुद्रा तथा साख पद्धति का इस प्रकार नियन्त्रण करती है जिससे कि देश के आन्तरिक मूल्य स्तरों तथा विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व स्थापित हो सके, देश की बेकारी दूर

हो सके और उसकी वास्तविक आय के स्तर में वृद्धि हो सके। अतः केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो केन्द्रीय बैंक के कार्य करे।"

(३) बैंक ऑफ इन्टरनेशनल सेटिलमेन्ट्स (Bank of International Settlements) के विधानानुसार "केन्द्रीय बैंक उस बंक को कहते हैं जो देश की साख तथा चलन-प्रणाली की देख-रेख करे।" ("A Bank regulating the Volume of Currency and Credit of a Country"—Bank of International Settlements)।

उपर्लिखित केन्द्रीय बैंक के कार्यों के आधार पर दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट है कि केन्द्रीय बंक के कार्य अन्य सब प्रकार के बैंको से मूलतः भिन्न होते हैं। ताकि यह बैंक अपने कार्यों को समुचित रूप से कर सके, इसलिये सरकार द्वारा इसे कुछ विशेष अधिकार भी मिले होते हैं—नोट निर्गम (Issue) का एकाधिकार, सरकार का बैंकर के रूप में कार्य करना और सरकारी कोष को अपने पास रखना, बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करना तथा उन्हे सकटकाल मे सहायता देना, चलन-निधि को रखना, बैंकों के नकद-कोष को रखना, आदि। ताकि केन्द्रीय बैंक अपने इन विशेष अधिकारो का दुरुपयोग नही कर सके, इसीलिये उस पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगे होते हैं, जैसे—वह व्यापारिक बैंक से प्रति-स्पर्धा नही कर सकता है, लाभ कमाना उसका प्रमुख उद्देश्य नही है, जन-हित व राष्ट्र-हित की रक्षा करना तथा सरकार की मौद्रिक तथा आर्थिक नीति को सफल बनाना उसका प्रधान कर्तव्य है। इसीलिए यह अनिवार्य है कि केन्द्रीय बैङ्क सरकार के नियन्त्रण मे कार्य करे।

एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Necessity of a Central Bank):-आधुनिक आर्थिक समाज मे केन्द्रीय बैंक का बहुत महत्व है। इसके तीन प्रमुख कारण हैं: —(i) साख के निर्माण पर नियन्त्रण (Credit Control):—प्रत्येक बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण (Credit Creation) है। बैंक के इस कार्य से न केवल समाज व राष्ट्र का बहुत आर्थिक हित है बल्कि बैंक स्वय भी काफी बडी मात्रा मे लाभ उठा लेता है (इस सम्बन्ध मे 'बैंक और इसके कार्य' नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा जा चुका है)। परन्तु किसी देश मे साख के अधिक निर्माण से जनता व देश की सुरक्षा खतरे मे पड सकती है। इसलिये आवश्यकता इस बात की रहती है कि साख का निर्माण देश हित में एक सीमित मात्रा मे ही होना चाहिए। परन्तु यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि बंको की साख-निर्माण शक्ति पर कौन नियन्त्रण करे? यह कहा जा सकता है कि साधारणतया प्रत्येक बैंक अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ही साख का निर्माण करता है, वह स्वय ही अपने पास पर्याप्त मात्रा मे नकद-कोष (Cash Reserves) रखता है ताकि ग्राहकों की माग होने पर उनके चेको आदि पत्रो का भुगतान कर सके, तब किसी केन्द्रीय बैंक की क्या आवश्यकता है? परन्तु वास्तव मे बैंक, यदि उनकी साख-निर्माण शक्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं है, अधिक लाभ कमाने के लालच मे,

अपनी सुरक्षा को खतरे में डालकर आवश्यकता से अधिक साख का निर्माण कर देते हैं। इससे न केवल अमुक बैंक को तथा उसके अंशधारियों (Shareholders) को हानि होने का भय रहता है वरन् इसका देश की समस्त आर्थिक स्थिति तथा बैंकिंग-व्यवसाय पर भी बुरा प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि किसी एक बैंक में से जनता का विश्वास उठ जाने पर, अन्य बैंकों में से भी जमाकर्ता (Depositors) अपनी जमा निकालने लगते हैं जिससे अच्छे एवं सुसचालित बैंकों का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है इससे यह स्पष्ट है कि किसी बाहरी व्यक्ति तथा संस्था द्वारा देश में साख का नियन्त्रण होना चाहिए। यह बाहरी संस्था कौन सी हो, यह एक स्वाभाविक प्रश्न है ? यह बाहरी संस्था एक केन्द्रीय बैंक ही होना चाहिये। इसके दो मुख्य कारण हैं—प्रथम, साख सम्बन्धी जनता की आवश्यकताओं को केन्द्रीय बैंक ही ठीक-ठीक माप सकता है। द्वितीय, साख-नियन्त्रण का कार्य उसी के द्वारा ठीक-ठीक किया जा सकता है जिसमे ऊँची श्रेणी की योग्यता एवं यान्त्रिक-क्षमता (Technical Efficiency) होती है। इस प्रकार की योग्यता एवं क्षमता न तो किसी एक व्यक्ति में होती है और न सरकारी कर्मचारी में ही हो सकती है। परन्तु केन्द्रीय बैंक में इस प्रकार की योग्यता व क्षमता पाई जाती है जिससे साख-नियन्त्रण के कार्य के लिये देश का केन्द्रीय बैंक ही सबसे उपयुक्त संस्था होती है। (ii) **बैंकों को आर्थिक सहायता**—केन्द्रीय बैंक आर्थिक संकट के समय देश के बैंकों को आर्थिक सहायता भी देते हैं। जिस देश में केन्द्रीय बैंक नहीं पाया जाता है, वहां पर बैंक्स अक्सर तनिक-सी आपत्ति पड़ जाने पर फेल हो जाया करते हैं। (iii) **सरकार को मौद्रिक नीति को सफल बनाने का कार्य**—एक केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग-प्रणाली पर इस प्रकार का नियन्त्रण रखता है कि राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति सफल बन सके। उक्त के अतिरिक्त एक केन्द्रीय बैंक कितने ही अन्य कार्य करता है जिनसे भी इसका महत्व एवं आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।

केन्द्रीय बैंक की इतनी अधिक आवश्यकता एवं महत्व होते हुये भी प्रथम महायुद्ध से पहले केवल अमेरिका व इंगलैंड जैसे कुछ ही देशों में इस प्रकार का बैंक था, परन्तु सन् १९२० में ब्रूसेल्स (Brussels) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ जिसने प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया और तब से ही शनैः शनैः विभिन्न देशों में इस प्रकार के बैंक का निर्माण होता जा रहा है।

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास

केन्द्रीय बैंक का विकास (Growth of Central Banking)—वर्तमान केन्द्रीय बैंकिंग का सूत्रपात स्वीडन (Sweden) के Riks Bank की स्थापना से माना जाता है। परन्तु एक सबसे पहले आदर्श केन्द्रीय बैंक का श्रेय बैंक आफ इंगलैंड (Bank of England) को ही है। इस बैंक की स्थापना सन् १६९४ में सरकार को रुपये उधार देने के लिये की गई थी। सन् १८३३ में इसके नोट कानूनी ग्राह्य द्रव्य (Legal Tender Money) घोषित कर दिये गये। सन् १८४४ के बैंक एक्ट (Bank

Act) ने अन्य दूसरे बैंकों के नोटों की संख्या सीमित कर दी। बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने सन् १८२६ से ही देश के अन्य भागों में अपनी शाखाएं खोलनी आरम्भ कर दी थी। तब ही से यह सरकारी बैंक और बैंकर्स-बैंक के रूप में कार्य करने लगा। सन् १८५४ से इसने समाशोधन-गृह (Clearing House) के रूप में काम करना आरम्भ कर दिया। इसने बैंकों को रुपया उधार देने तथा देश की चलन-प्रणाली के मूल्य को स्थिर रखने का कार्य भी लगभग आरम्भ से ही किया है। संक्षेप में, इङ्गलैण्ड में धीरे-धीरे बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड एक पूर्ण केन्द्रीय बैंक बन गया। यह स्मरण रहे कि स्वीडन का Riks Bank आरम्भ में एक गैर-सरकारी बैंक था, परन्तु सन् १७१८ में सरकार ने इसे एक सरकारी बैंक बना दिया। शनैः शनैः अन्य देशों में भी केन्द्रीय बैंक स्थापित हो गये। फ्रांस में १८०० में, हॉलैण्ड में १८१४ में, आस्ट्रिया में १८१७ में, रूस में १८६० में, जर्मनी में १८७५ में, भारतवर्ष में १९३५ में, आयरलैण्ड व थाईलैण्ड में १९४२ में तथा पाकिस्तान में सन् १९४८ में केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई थी। यद्यपि लगभग सभी प्रगतिशील देशों में १९वीं शताब्दी में केन्द्रीय बैंक स्थापित हो गये थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो आर्थिक मन्दी (Depression) का काल आया, उस संकट काल में विभिन्न देशों में अनेक बैंक डूब गये जिसके परिणामस्वरूप जन-हित तथा साख-मुद्रा पर उचित नियन्त्रण करने के लिये केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता विभिन्न देशों में अनुभव हुई। इसीलिये सन् १९२० के ब्रुसेल्स (Brussels) के मुद्रा-सम्मेलन के पश्चात् चीन, पीरू, चीली, कनाडा, हंगरी, आस्ट्रेलिया, टर्की, पोलैण्ड आदि अनेक देशों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई। आजकल सब ही प्रगतिशील देशों में केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक बना दिये गये हैं। भारत में भी सन् १९४९ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया पूर्णतया सरकारी बैंक बना दिया गया।

केन्द्रीय बैंकिंग सिद्धांत तथा व्यापारिक बैंकिंग सिद्धांतों की तुलना (Comparison of Central Banking Principles and Commercial Banking Principles)

केन्द्रीय बैंकिंग सिद्धान्त (Central Banking Principles)	व्यापारिक बैंकिंग सिद्धान्त (Commercial Banking Principles)
समानतायें (Similarities)	
१. केन्द्रीय बैंक को अचल पूंजी (Fixed Capital) के लिये रुपया उधार नहीं देना चाहिये।	१. व्यापारिक बैंकों को भी अचल-पूंजी के लिये रुपया उधार नहीं देना चाहिये।
२ केन्द्रीय बैंक को मृत-प्रतिभूतियों (Dead Securities) जैसे—खान, मकान व कारखाने की बिल्डिंग आदि पर ऋण नहीं देना चाहिये।	२ व्यापारिक बैंकों को भी मृत-प्रतिभूतियों पर ऋण नहीं देना चाहिये।

२ केन्द्रीय बैंक को रुपया केवल अल्पकालीन ऋण के रूप में ही देना चाहिये ताकि आदेयो (Assets) में अधिकतम तरलता (Liquidity) रह सके। यह अवश्य है कि केन्द्रीय बैंक की सम्पत्ति में द्रव्यता व्यापारिक बैंको की सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक होनी चाहिये।

३ व्यापारिक बैंको को भी रुपया केवल अल्पकालीन ऋणों के रूप में ही देना चाहिये ताकि इनके आदेयो में भी तरलता रह सके।

असमानतायें (Dissimilarities)

१ लाभ प्राप्त करना केन्द्रीय बैंक का प्राथमिक (Primary) उद्देश्य नही होना चाहिये। यह उसका गौण (Secondary) उद्देश्य होता है। यही कारण है कि यह बैंक जमा (Deposits) पर ब्याज नही देता है। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) स्थापित करना तथा बैंकिंग को सुव्यवस्थित व सुसंगठित करना होता है।

१ व्यापारिक बैंको का प्राथमिक उद्देश्य लाभ कमाना होना चाहिये। इसलिये ये अधिक जोखिम के कार्यों तक में रुपये का विनियोग कर देते हैं। परन्तु केन्द्रीय बैंक जोखिम के कार्यों में रुपये का विनियोग नही करता है जिससे यह अन्य बैंको से प्रतियोगिता नही करता है।

२ केन्द्रीय बैंक को सबसे बड़े व अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) या साख के कोष (Reservoir of Credit) के रूप में कार्य करना चाहिये। देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थायें इसी के पास रुपये की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पहुँचा करती हैं। परन्तु इस बैंक को इन संस्थाओं से आर्थिक सहायता की आशा नही करनी चाहिये।

२ व्यापारिक बैंक इस प्रकार के बड़े व अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य नही करते हैं और न इन्हें इस रूप में कार्य ही करना चाहियें।

३ केन्द्रीय बैंक की नीति क्रियाशील (Active Policy) होनी चाहिये। जब कभी राष्ट्र में कोई आर्थिक उलझन उत्पन्न हो जाये या देश में साख रचना या साख संकुचन इसकी निजी नीति के अनुकूल नहीं हो, तब इसे तमाम स्थिति को चुपचाप ही सहन नही करना चाहिये

३ व्यापारिक बैंक देश में मुद्रा व साख की स्थिति में सुधार करने के लिए इस प्रकार की नीति नहीं अपना सकते हैं।

वरन् क्रियात्मक नीति अपना कर बिगड़ी हुई दशा को तुरन्त सुधार देना चाहिये।	
४. केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-चलन पर एकाधिकार होना चाहिये। इसे सरकार के बैंक तथा बैंकों के बैंक के रूप भी कार्य करना चाहिये ताकि यह देश की साख, मुद्रा व बैंकिंग-व्यवस्था पर अपना उचित नियन्त्रण रख सके।	४. व्यापारिक बैंक्स इस प्रकार के कार्य नहीं कर सकते हैं और न इन्हें ये कार्य करने ही चाहियें।
५. केन्द्रीय बैंक को किसी राजनैतिक दल के प्रभाव में कार्य नहीं करना चाहिये ताकि यह देश-हित में निष्पक्ष नीति अपना सके।	५ व्यापारिक बैंक्स किसी राजनैतिक या किसी एक व्यक्ति-विशेष के प्रभाव में रहकर भी सुचारु रूप से कार्य कर सकते हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of a Central Bank)

केन्द्रीय बैंक कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न विचार प्रगट किये हैं। यदि किसी अर्थशास्त्री ने किसी एक कार्य पर बल दिया है, तब दूसरे अर्थशास्त्री ने अन्य किसी दूसरे कार्य पर, परन्तु फिर भी बैंक के छः निम्नलिखित कार्य बतलाए जाते हैं—(अ) नोट निर्गम का एक-मात्र अधिकार, (आ) सरकार के बैंक के रूप में कार्य, (इ) बैंकों का बैंक, (ई) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष का संरक्षक, (उ) सूचनाओं और आंकड़ों को एकत्रित करना और प्रकाशित करना तथा (ऊ) साख-मुद्रा का नियन्त्रण।

[अ] नोट निर्गम का एक-मात्र अधिकार
(Monopoly of Note Issue)

केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य सस्ती और उपयुक्त चलन प्रणाली की व्यवस्था करना तथा उसका मूल्य स्थिर रखना होता है (A Central Bank Supplies Cheap and Adequate Currency and maintains its Value)—केन्द्रीय बैंकिंग पद्धति के विकास से पहले नोट निर्गम (Issue) का कार्य या तो राज्य द्वारा या व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता था। राज्य द्वारा नोट निर्गम का कार्य सफलतापूर्वक नहीं किया जाता था। व्यापारिक बैंकों द्वारा नोट जारी करने की प्रथा में भी कई दोष थे—(i) इनके नोटों में भिन्नता पाई जाती थी जिससे मुद्रा-व्यवस्था ठीक नहीं रहती थी। (ii) बैंक्स नोट अपनी साख के अनुसार ही जारी किया करते थे, परन्तु इन बैंकों की साख सीमित रहने के कारण, इन नोटों की मात्रा भी सीमित रहती थी तथा (iii) व्यापारिक बैंक्स जनता की माँग होने पर प्रायः नोटों के बदले द्रव्य देने में असमर्थ रहते थे। परिणामतः यह अनुभव किया गया कि राज्य तथा व्यापारिक बैंक्स

दोनों ही नोट-निकासी के कार्य के लिये अनुपयुक्त थे। इसलिए मुद्रा तथा मूल्यों की अव्यवस्था को दूर करने के लिये प्रत्येक देश में मुद्रा चलन का एक मात्र अधिकार शनैः शनैः केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया है। केन्द्रीय बैंक का यह कार्य इतना मुख्य माना जाने लगा है कि कुछ केन्द्रीय बैंकों ने अपने आपको दो विभागों में बाट लिया है—प्रथम बैंकिंग विभाग (Banking Department) तथा द्वितीय, ईश्यु-विभाग (Issue Department)। बैंकिंग विभाग बैंक के साधारण कार्य करता है और ईश्यु विभाग (निर्गम-विभाग) नोट-निर्गम का कार्य करता है। सबसे पहले सन् १८४४ में बैंक ऑफ इंगलैंड को नोट निर्गम का कार्य सौंपा गया था, परन्तु आजकल नोट चलाने का अधिकार लगभग सभी देशों ने अपने-अपने केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया है। इसके कई मुख्य कारण हैं —(i) मुद्रा प्रणाली में अनुरूपता —देश की मुद्रा प्रणाली में समानता (एव अनुरूपता (Uniformity) लाने तथा इस पर उचित नियन्त्रण रखने के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि नोट निर्गम का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास ही होना चाहिए। इससे व्यापार व व्यवसाय में सुविधा भी बहुत रहती है। (ii) मुद्रा प्रणाली में लोच —केन्द्रीय बैंक को नोट-निकासी का अधिकार सौंप देने से मुद्रा प्रणाली में लोच आ जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। जब नोट निर्गम का कार्य व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता है तब नोटों की मात्रा के सम्बन्ध में निर्णय, इसका प्रचलन तथा देश की व्यापारिक आवश्यकताओं में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। परन्तु जब नोट निर्गम का अधिकार केन्द्रीय बैंक के पास रहता है, तब उसे पता रहता है कि किसी समय पर प्रचलन में नोटों की मात्रा व्यापार के लिये यथेष्ठ है या कम अधिक है और इस दशा में वह नोटों की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा बढ़ा सकता है—(iii) साख-निर्माण शक्ति पर नियन्त्रण —वर्तमान समय में व्यापारिक बैंकों द्वारा साख का निर्माण करने की शक्ति पर नियन्त्रण रखने की समस्या बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। यह अनुभव किया गया है कि केन्द्रीय बैंक को नोट निकासी का कार्य सौंप देने से देश में साख नियन्त्रण की समस्या भी बहुत कुछ सुलझ जाती है क्योंकि साख-मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि के लिये चलन (Currency) की वृद्धि की आवश्यकता हुआ करती है। अत साख के सकुचन व प्रसार पर उचित नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक द्वारा आसानी से किया जा सकता है। (iv) नोटों के प्रति जनता का विश्वास—किसी ऐसे बैंक को जिसे जनता का सरंक्षण प्राप्त है, नोट निर्गम का एकाधिकार सौंप देने का यह लाभ भी होता है कि नोटों के प्रति जनता का बहुत विश्वास हो जाता है। (v) राज्य को मुद्रा निर्गम का लाभ प्राप्त होता है —नोट निर्गम एक लाभदायक व्यवसाय है। जब नोट-निकासी का कार्य किसी एक बैंक को ही सौंप दिया जाता है, तब नोट-निर्गम व्यवसाय से जो लाभ होता है वह बहुत आसानी से सरकारी कोष में भेजा जा सकता है। (vi) मुद्रा के आन्तरिक और बाह्य मूल्य में स्थिरता —केन्द्रीय बैंक को जब नोट-निकासी का एक मात्र अधिकार मिल जाता है, तब वह देश में मुद्रा का आन्तरिक व बाह्य मूल्य बहुत आसानी से स्थिर रख सकता है। परिणामत विदेशी विनिमय की

करता है। सकट काल में सरकार ट्रैजरी बिल्स (Treasury Bills) बेचकर जनता से रुपया प्राप्त किया करती है। ऐसे समय में बैंक इन सरकारी बिलों को चाहे ये प्रत्यक्ष (Directly) आये हों या अन्य बैंकों द्वारा आये हों भुनाकर (Discount) सरकार की आर्थिक सहायता किया करता है। अनुभव से पता चला है कि सरकारें कभी-कभी केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की सुविधा का अनुचित लाभ उठाती हैं। ये अत्यधिक ऋण लेकर देश में मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न कर देती हैं। यही कारण है कि आजकल सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक से लिये जाने वाले ऋण की मात्रा पर रोक लगाने के लिये कानून द्वारा कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं जो प्राय सकट काल मे ढीले करने पड़ते हैं। केन्द्रीय बैंक सरकार के एजेन्ट व बैंकर के रूप में तमाम सरकारी कोषों की व्यवस्था करता है, सरकारी माल तथा विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) का क्रय विक्रय करता है, सरकार के बिनाह पर रुपया प्राप्त करता है, ऋण या ऋण पर ब्याज या अन्य किसी प्रकार के रुपयों का भुगतान करता है, सरकार की ओर से द्रव्य का हस्तान्तरण (Remittance) करता है, तथा सरकार को विभिन्न प्रकार की मुद्रा सम्बन्धी सुविधाएँ देता है। सरकार जितने भी ऋण जारी करती है, उनकी व्यवस्था तथा उनका हिसाब किताब व भुगतान यह बैंक ही करता है। सरकार के बैंकर के नाते ही यह बैंक विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की व्यवस्था एव व्यापार करता है तथा सरकार की ओर से देश विदेश के मुद्रा सौदे (Monetary Transactions) करता है। चूकि यह ठीक सरकार के नियन्त्रण मे कार्य करता है तथा इसको नोट-निगम का एक-मात्र अधिकार प्राप्त होता है, इसलिये यह सरकार को उसकी मौद्रिक व बैंकिंग नीति सफल बनाने में सहायता देता है। यह स्मरण रहे कि सरकार की उल्लिखित लगभग तमाम सेवाएँ केन्द्रीय बैंक नि शुल्क करता है क्योंकि यह सरकारी कोष पर कोई ब्याज नहीं देता है। इन तमाम कार्यों के करने से केन्द्रीय बैंक का द्रव्य बाजार (Money Market) पर भी पूरा नियन्त्रण हो जाता है और मुद्रा के मूल्य में भी बहुत उच्चावचन (Fluctuation) नहीं होने पाता है।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया भी भारत व राज्य सरकारों का बैंक है और सरकारों का बैंकर होने के नाते यह उल्लिखित तमाम कार्य करता है।

[इ] बैंकों का बैंक (Banker's Bank)

केन्द्रीय बैंक देश मे बैंकों का बैंक होता है (A Central Bank acts as a Banker's Bank)—देश के केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जैसा कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। इसलिये एक केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक होने के कारण उनकी मुख्यत तीन प्रकार से सहायता करता है—

(१) केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के नकद कोष (Cash Reserves) का कुछ भाग अपने पास जमा के रूप में रखता है—प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपने पास कुछ नकद कोष के रूप म रुपया रखना पड़ता है ताकि वह ग्राहकों की माँग होने पर उनके धन की अदायगी कर सके। ये बैंक इस कोष को मुख्यत दो रूप म रखते हैं—प्रथम, अपने पास

नकद में (Cash at Hand) तथा द्वितीय, केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप में (Deposits with the Central Bank)। इस तरह किसी बैंक का नकद कोष (Cash Reserves) इन दोनों प्रकार की रकमों का योग होता है। केन्द्रीय बैंक में रक्षित कोष के कुछ अंश को जमा करने की प्रणाली का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है। प्रारम्भ में तो इस प्रकार की जमा रखना व्यापारिक बैंकों की इच्छा पर निर्भर था, परन्तु धीरे-धीरे अधिकांश देशों में इस प्रकार की जमा रखने के सम्बन्ध में कानूनी बन्धन लगा दिये गये हैं। भारत में भी बैंकों को अपने कुल दायित्व का कुछ प्रतिशत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में जमा करना पड़ता है। बैंकों द्वारा अपने रक्षित कोष का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक में जमा करने की प्रणाली के कई लाभ हैं। (*i*) साख-प्रणाली में लोच उत्पन्न हो जाती है (Elasticity in the Credit Structure):—बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक में अपनी रोक-निधि (Cash Reserve) का कुछ अंश जमा कर देने से उनकी साख-निर्माण शक्ति अत्यधिक लोचदार हो जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। जबकि किसी बैंक की कुछ रकम केन्द्रीय बैंक में जमा रहती है, वह अपने पास की रकम के आधार पर अधिक से अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकेगा क्योंकि वह जानता है कि वह आवश्यकता पड़ने पर ग्राहकों की रुपए की माँग को केन्द्रीय बैंक की सहायता से पूरा कर सकेगा। केन्द्रीय बैंक भी इस प्रकार के केन्द्रीय कोष (Central Fund) को किसी एक या अधिक बैंकों की सहायता के लिये बड़ी सुविधा से प्रयोग में ला सकता है। इस तरह केन्द्रीय बैंकों को व्यापारिक बैंकों की साख-निर्माण नीति तथा ऋण-नीति को नियन्त्रित करने का अवसर प्राप्त होता है। (*ii*) बैंकों के नकद कोष का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है:—केन्द्रीय बैंक के पास नकद-कोष का कुछ भाग जमा रखने की प्रणाली का दूसरा लाभ यह है कि इस प्रथा में व्यापारिक बैंकों के पास एक बहुत बड़ी मात्रा में धन बचा नहीं पड़ा रहता है वरन् वह एक स्थान पर केन्द्रित हो जाता है जिससे इसके उपयोग के क्षेत्र का बहुत विस्तार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जबकि बैंक का कोष एक ऐसी संस्था में एकत्रित हो जाता है जो राष्ट्रीय आर्थिक हित की उत्तरदायी होती है, तब आर्थिक संकट या अन्य किसी मौसमी संकट (Seasonal Crisis) के काल में इस राशि का अत्यन्त उचित रूप से उपयोग हो जाता है तथा (*iii*) नकद-कोष के उपयोग में बहुत मितव्ययिता आ जाती है:—इस प्रथा में बैंकों का आपस का लेन-देन केन्द्रीय बैंक के द्वारा होने लगता है और यह लेन-देन बहुत कुछ बिना द्रव्य के प्रयोग करे ही हो जाता है क्योंकि एक बैंक दूसरे बैंक को भुगतान केन्द्रीय बैंक के नाम चैक लिखकर कर देता है। केन्द्रीय बैंक केवल एक खाते में से रुपया निकाल कर दूसरे खाते में जमा कर देता है जिससे नकद-कोष के वास्तव में हस्तान्तरण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः इस प्रणाली से भुगतान में बहुत मितव्ययिता हो जाती है। संक्षेप में, जब हम केन्द्रीय बैंक के नोट निर्गम के एकमात्र अधिकार के साथ उसको व्यापारिक बैंकों की रक्षित-निधि को नियन्त्रित करने की शक्ति को जोड़ देते हैं, तब हम यह अनुभव करते हैं कि केन्द्रीय बैंक के पास अपने कार्यों को समुचित रूप से करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हो जाते हैं।

(२) केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है (A Central Bank acts as a Lender of the Last Resort):—केन्द्रीय बैंक को अन्तिम

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि निकासी-गृह को (४००+१८०+४२५=) १००५ रु० का हिसाब तय करना है। यदि बैंक क और ग क्रमशः २० और ७५ रु० ख बैंक को दे दें, तब तीनों बैंकों का आपस का भुगतान (२०+७५=)९५ रु० की रकम ले-देकर पूरा हो जाता है। इस कार्य को सुविधापूर्वक करने के लिए प्रत्येक बैंक के कर्मचारी, उक्त सूची बनाकर, एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, जहाँ वे एक दूसरे पर जारी किये गये चैकों का भुगतान (Off Setting) करके, शेष राशि को केन्द्रीय बैंक के नाम चैक जारी करके अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

समाशोधन-गृह के लाभ (Advantages of Clearing Houses) — इन गृहों के कई लाभ हैं-(i) बैंकों का आपस का भुगतान बहुत सरल हो जाता है—एक बैंक का दूसरे बैंक से लेने-देने का कार्य व्यक्तिगत के स्थान पर सामूहिक हो जाने से यह भुगतान का कार्य बहुत ही सरल एवं सुगम हो जाता है। (ii) मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता होती है —समाशोधन गृहों से बैंकों के परस्पर दायित्व का भुगतान केवल आधिक्य का आदान-प्रदान करके ही हो जाता है। यह भुगतान किस प्रकार होता है ? यह भुगतान केन्द्रीय बैंक या समाशोधन गृह के नाम चैक जारी करके होता है। केन्द्रीय बैंक या समाशोधन गृह में बैंकों के खाते खुले होते हैं, जिससे निकासी-गृह चैक प्राप्त होने पर एक बैंक के खाते में से रुपया निकाल कर (Debit) दूसरे बैंक के खाते में रुपया जमा (Credit) कर देता है। इस क्रिया में, वास्तव में, न तो केन्द्रीय बैंक को और न अन्य बैंकों को ही रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को मंगाना या भेजना पड़ता है। अतः बैंकों के पारस्परिक दायित्वों का भुगतान केन्द्रीय बैंक या समाशोधन गृह के द्वारा होने से देश में मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता होती है। (iii) बैंक्स बहुत कम मात्रा में नकद कोष रखकर साख की काफी बड़ी मात्रा में निर्माण कर देते हैं —गृहों के विकास से एक बहुत बड़ा लाभ यह भी हुआ है कि बैंक्स अपने पास नकद कोष (Cash Reserves) बहुत कम मात्रा में साख का निर्माण कर देने में सफल हो जाते हैं जिससे देश का व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग बहुत उन्नत होता है।

भारत में समाशोधन गृह

भारत में समाशोधन गृह (Clearing Houses in India)— भारतवर्ष में निकासी-गृहों का विकास हाल ही में हुआ है। सन् १९२० में इम्पीरियल बैंक (वर्तमान स्टेट बैंक) की स्थापना हुई थी और तब ही से देश में बैंकिंग व्यवस्था सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित हो सकी है। इससे पहले की अर्थ व्यवस्था ही ऐसी थी कि आर्थिक व्यवहारों में बैंकों का प्रयोग बहुत कम होता था जिसके कारण निकासी कोठियों की विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं हुई थी। परन्तु सन् १९२० के आस-पास जब देश में एक तरफ इम्पीरियल बैंक स्थापित हो गया और दूसरी तरफ चैकों का प्रयोग बहुत बढ़ गया, तब निकासी गृहों की बहुत आवश्यकता महसूस हुई। परिणामतः उस समय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि स्थानों पर ये गृह स्थापित हुए और इम्पीरियल बैंक के निरीक्षण में ये गृह स्वतन्त्र संस्थाओं के रूप में कार्य करने लगे। परन्तु जब सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना हो गई, समाशोधन का कार्य व इसकी व्यवस्था रिजर्व बैंक के हाथ में

ला गया। चूंकि रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार अनुसूचीबद्ध-बैंकों (Scheduled Banks) को अपनी मांग-देय (Demand Liabilities) का ५% और काल-देय (Time Liabilities) का २% भाग रिजर्व बैंक में कानूनन जमा करना पड़ता है, इसलिये ये बैंक आपस [redacted] दायित्वों का भुगतान रिजर्व बैंक पर चैक काटकर बहुत आसानी से कर देते है। आजकल भारत मे कुल २२ समाशोधन-गृह है। ऐसे स्थानों पर जहां रिजर्व बैंक द्वारा आयोजित व नियन्त्रित कोठियां नही हैं, वहाँ बैंकों के परस्पर भुगतान का कार्य स्थानीय स्टेट बैंक के माध्यम द्वारा किया जाता है। जिन स्थानों पर गृह स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं, उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं, यद्यपि इनका नियन्त्रण तथा व्यवस्था रिजर्व बैंक की स्थानीय शाखा या इसके अभाव में स्टेट बैंक की स्थानीय शाखा द्वारा की जाती है। इस प्रकार के स्वतन्त्र गृहों के सदस्य विनिमय बैंक, स्टेट बैंक तथा संयुक्त पूँजी वाले तमाम अनुसूचीबद्ध-बैंक्स (Scheduled Banks) होते हैं। गृहों की सदस्यता अन्य दूसरे बैंकों के लिए भी खुली हुई होती है, परन्तु अन्य बैंक्स गृहो के सदस्य तब ही बन सकते हैं जबकि इन्हे तीन-चौथाई सदस्य बैंको की अनुमति प्राप्त हो जाती है तथा जब ये पूँजी सम्बन्धी कुछ शर्तें भी पूरी करते हैं। समाशोधन-गृह के संचालन के लिये प्रत्येक सदस्य बैंक को निरीक्षक-बैंक (यह रिजर्व बैंक या स्टेट बैंक होता है) [redacted] पास एक निश्चित रकम जमा करनी पड़ती है ताकि इस तरह जारी किये गये चैकों द्वारा एक बैंक दूसरे बैंक का भुगतान कर सके। इन स्वतन्त्र समाशोधन गृहों का प्रबन्ध व्यवस्थापक समितियों (Management Committees) द्वारा किया जाता है जिसमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक की स्थानीय शाखाओ का भी एक-एक प्रतिनिधि रहता है। इनके अतिरिक्त इन समितियों मे अन्य सदस्यों के निर्वाचित प्रतिनिधि भी होते हैं। बम्बई व कलकत्ते जैसे बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों में एक से अधिक समाशोधन-गृह पाये जाते हैं जिनमे बैंकों का आपस का भुगतान भी दिन में दो तीन बार होता है। कलकत्ते और बम्बई में समाशोधन-गृह काफी उन्नति कर चुके हैं। कलकत्ते के दो बड़े गृहो के नाम हैं—कलकत्ता क्लियरिंग बैंक्स एसोसियेशन (Calcutta Clearing Banks Association) तथा मेट्रोपोलिटन क्लियरिंग हाउस (Metropolitan Clearing House)। अतः समाशोधन-गृहो की बनावट व कार्यों से यह स्पष्ट है कि किसी देश में बैंकिंग-व्यवस्था के विकास के लिये वहां पर इन गृहो का विकास अत्यावश्यक है क्योंकि ये व्यक्तिगत व्यवहार के स्थान पर सामूहिक व्यवहार प्रणाली को प्रतिपादित करते हैं।

[ई] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष का संरक्षण (Custodian of the Nation's Reserves of International Currencies)

<u>केन्द्रीय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष [redacted] संरक्षक के रूप में भी कार्य करता है</u> (A Central Bank acts as a Custodian of the Nation's reserves of International Currencies):—प्रत्येक केन्द्रीय बैंक प्रायः दो प्रकार के कोष रखता है:—आन्तरिक (Internal) और बाह्य (External)। आन्तरिक कोष

देश के आन्तरिक चलन की अमानत के रूप में रखा जाता है और बाह्य कोष विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये प्रयोग में लाया जाता है। आन्तरिक-कोष रखने की रीति का उदय कागजी नोट चलने के कारण हुआ था क्योंकि इनको, माँग पर, सोने के सिक्कों में परिवर्तित करना पड़ता था। सन् १९३१ में स्वर्ण-मान के टूट जाने के पश्चात् आन्तरिक-कोष में स्वर्ण का प्रतिशत बहुत कम हो गया। द्वितीय महायुद्ध ने तो कुछ देशों के स्वर्ण के इस प्रतिशत को और भी कम कर देने के लिये बाध्य कर दिया। यहाँ तक कि फिनलैंड (Finland) और बलगेरिया (Bulgaria) ने तो सोने की जगह विदेशी-विनिमय का प्रयोग आरम्भ कर दिया है। धीरे-धीरे लगभग सब ही देशों में उनके आन्तरिक-कोष में स्वर्ण के स्थान पर विदेशी विनिमय का भाग बढ़ता जा रहा है। देश का केन्द्रीय बैंक आन्तरिक-कोष तथा बाह्य-कोष दोनों का ही संरक्षक होता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष के उचित नियन्त्रण का महत्व बहुत बढ़ता जा रहा है क्योंकि कोई भी देश भुगतान के विपरीत सन्तुलन (Unfavourable Balance of Payment) की दशा में, इस कोष का प्रयोग करके ही देश की मुद्रा के बाह्य-मूल्य में स्थिरता कायम रख सकता है। यह अवश्य है कि केन्द्रीय बैंक चूंकि नोट-प्रकाशन का कार्य करता है, इसलिये उसे एक न्यूनतम रिजर्व स्वर्ण तथा विदेशी-विनिमय में रखना पड़ता है और वह इस न्यूनतम रिजर्व का उपयोग भुगतान के सन्तुलन को ठीक करने में नहीं कर सकता है।

[उ] सूचनाओं और आँकड़ों को एकत्रित करना और प्रकाशित करना (To collect and publish Statistical and other material)

केन्द्रीय बैंक आर्थिक सूचनाओं और आँकड़ों को एकत्रित करता है तथा इन्हें समय-समय पर प्रकाशित करता है (A Central Bank collects and publishes Statistics & other Economic Informations)—धीरे धीरे केन्द्रीय बैंक का यह एक आवश्यक कार्य हो गया है कि वह देश की आर्थिक सूचनाओं और आँकड़ों को एकत्रित करे और यदि आवश्यक हो तब इन्हें जन-हित में प्रकाशित करे। जब केन्द्रीय बैंक देश में बैंकिंग, मुद्रा तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित करता है, तब इनसे देश की आर्थिक प्रगति का वेग बहुत कुछ ठीक ठीक जाना जा सकता है। देश में आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को सफल बनाने के लिये तो उक्त सूचनायें एवं आँकड़े अत्यावश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन इन आँकड़ों की सहायता से बहुत आसानी से किया जा सकता है।

[ऊ] साख-मुद्रा का नियन्त्रण (Control of Credit Money)

केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा एवं साख के ढाँचे का नियमन तथा नियन्त्रण करता है (A Central Bank Regulates and Controls the Credit-money or Credit-structure of the country)—साख-मुद्रा एवं साख के ढाँचे का उचित नियमन तथा नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख व महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। यह कहना बहुत कुछ ठीक ही है कि केन्द्रीय बैंक का यह इतना अधिक महत्वपूर्ण कार्य

है कि इसके अन्य कार्यों का सूत्रपात भी इसी कार्य से हुआ है क्योंकि इस बैंक के लगभग तमाम कार्यों का अन्तिम उद्देश्य मुद्रा की मात्रा (इसमें साख-मुद्रा भी सम्मिलित है) पर उचित नियन्त्रण रखना होता है। साख-मुद्रा यदि एक समय पर समाज की सेवा करती है तब यही मुद्रा, यदि इस पर उचित नियन्त्रण नहीं रक्खा गया है, समाज को अत्यधिक हानि भी पहुँचा सकती है। केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण रखकर देश में सामान्य मूल्य-स्तर में स्थिरता रख सकता है, विनिमय की दर में स्थैर्य ला सकता है, उत्पत्ति तथा रोजगार में वृद्धि करवा सकता है तथा देश में व्यापार में बहुत प्रसार किया जा सकता है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण की आवश्यकता समस्त संसार में समझी जाती है। केन्द्रीय बैंक देश में साख-मुद्रा के नियमन तथा नियन्त्रण के लिये किन-किन तरीकों को अपनाता है तथा साख-नियन्त्रण के क्या-क्या उद्देश्य होते हैं, इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे चलकर विस्तार से लिखा गया है।

निष्कर्ष—केन्द्रीय बैंक के जिन कार्यों का वर्णन ऊपर किया गया है वे ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाते हैं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि एक केन्द्रीय बैंक के केवल इतने ही कार्य होते हैं क्योंकि इसके कार्यों में निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों तक में इस सम्बन्ध में मतभेद है कि एक केन्द्रीय बैंक के कार्य किस सीमा तक निर्धारित किये जायें। परन्तु व्यवहार में प्रत्येक देश के केन्द्रीय बैंक के कार्यों का बहुत विस्तार हो गया है और होता जा रहा है। संक्षेप में, आजकल किसी केन्द्रीय बैंक के क्या-क्या कार्य हैं, अथवा क्या-क्या कार्य होने चाहियें, यह बैंक ऑफ इंगलैंड के एक भूतपूर्व गवर्नर ने भारतीय चलन और वित्त आयोग (Royal Commission on Indian Currency and Finance, 1926) के सामने गवाही देते हुए इन शब्दों में बताया था:—"केन्द्रीय बैंक को नोट-निर्गम का एकाधिकार होना चाहिये, विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Currency) का प्रसार (निकासी) करने अथवा इसे चलन से हटाने का एक-मात्र अधिकारी यही होना चाहिये, इसके पास सरकार के तमाम कोष रहने चाहियें, यह देश के तमाम बैंकों और उनकी तमाम शाखाओं के सभी शेष-धन (Balances) का धारक (Holder) होना चाहिये, यह सरकार का एक ऐसा एजेन्ट (अभिकर्ता) होना चाहिये कि इसके द्वारा ही सरकार की तमाम देशी और विदेशी आर्थिक क्रियायें सम्पन्न की जा सकें, केन्द्रीय बैंक का यह भी कर्तव्य होना चाहिये कि यह देश के चलन के आन्तरिक और बाह्य-मूल्य में स्थिरता को यथासम्भव बनाये रखते हुये चलन-प्रणाली में उपयुक्त विस्तार व संकुचन करे, संकट काल में एवं आवश्यकता के समय यही एकमेव एक ऐसा स्रोत होना चाहिये जो सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) या अन्य स्वीकृत (Approved) अल्प-कालीन प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्रदान कर सके या जो अन्य मान्य विपत्रों (Bills) का पुनः बट्टा (Re-discount) करके अग्रिम (Advances) के रूप में संकट कालीन साख (Emergency Credit) प्रदान कर सके।"* यह एक महत्वपूर्ण कथन (Statement) है

* "It should have the sole right of note-issue, it should be the channel, and the only channel, for the out-put and the in-take of legal tender currency.

जिसमें प्रत्येक केन्द्रीय बैंक के तमाम वर्तमान कार्यों का समावेश है।

केन्द्रीय बैंक और मुद्रा-नीति
(The Central Bank and the Monetary Policy)

मुद्रा नीति का अर्थ (Meaning of Monetary Policy) —कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये मुद्रा की मात्रा के विस्तार और संकुचन के प्रबन्ध को ही मुद्रा नीति (Monetary Policy) कहते हैं। वर्तमान आर्थिक प्रणाली में इस प्रकार की मुद्रा-नीति का सम्बन्ध मुख्यतया बैंक के साख के विस्तार व संकुचन से ही है क्योंकि इनके द्वारा ही प्रधानतया आधुनिक द्रव्य का निर्माण होता है। इस तरह वास्तव में मुद्रा-नीति का अभिप्राय बैंकों द्वारा निर्मित साख का नियन्त्रण (Credit Control) ही है। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली में शनैः शनैः बहुत विकास हुआ है और सरकारों ने अपनी मुद्रा-नीति को इस बैंक द्वारा ही कार्यान्वित किया है। यही कारण है कि आज साख नियन्त्रण का कार्य केन्द्रीय बैंक का एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि यह आधुनिक बैंकों की सभी सेवाओं को ही सम्मिलित नहीं करता बल्कि सारे द्रव्य बाजार का नियन्त्रण तथा स्थिरता भी इसी में सम्मिलित है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य
(Objects of Credit Control)

मुद्रा नीति या साख-नियन्त्रण के उद्देश्य (The Objectives of Monetary Policy or Credit Control) —साख-नियन्त्रण का अर्थ है—साख की पूर्ति का देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार संतुलित समायोजन करना क्योंकि यदि व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार साख की पूर्ति नहीं होती है, तब या तो मूल्य-स्तर गिरेगा या ऊँचा हो जायगा जिससे देश को हानि होती है। आजकल साख नियन्त्रण के निम्न-लिखित तीन मुख्य उद्देश्य हैं* -(1) आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाना (Stabilisation of

---

it should be the holder of all the Govt balances, the holder of all the reserves of other banks and branches of banks in the country It should be the agent so to speak through which the financial operations at home and abroad of the Govt would be performed It would further be the duty of the Central Bank to effect as far as it could suitable contraction and suitable expansion, in addition to aiming generally at Stability, and to maintain that Stability within as well as without When necessary, it would be the ultimate source from which necessary credit might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities or Government paper'—Governor, Bank of England

* साख नियन्त्रण नीति का एक चौथा उद्देश्य स्वर्ण-निधि को बचाना (Protection of the Gold Reserves) भी होता है। स्वर्ण मान के टूट जाने पर इस उद्देश्य का महत्व बहुत कम हो गया है क्योंकि अब भुगतान के असन्तुलन को ठीक करने के लिये स्वर्ण का आयात-निर्यात प्राय नहीं होता है। परन्तु जिस समय विभिन्न देशों ने स्वर्ण मान अपना रक्खा था, उस समय क केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति का यह भी एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था कि देश की स्वर्ण निधि देश से बाहर नहीं जाने पाये (क्योंकि स्वर्ण-मान में स्वर्ण की आयात निर्यात पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता

Internal Prices):—स्वर्ण-मान के टूट जाने के पश्चात् तमाम संसार में मूल्य-स्तर को स्थिर रखने के हेतु साख-नियन्त्रण के प्रश्न को बहुत प्रधानता दी गई है। यदि किसी देश में साख की पूर्ति वहाँ की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं है, तब यह स्थिति देश-हित में नहीं होगी क्योंकि साख की पूर्ति आवश्यकता से कम होने पर मूल्य-स्तर गिरेंगे और साख की पूर्ति आवश्यकता से अधिक होने पर मूल्य-स्तर बढ़ेंगे। किसी देश के मूल्य-स्तर में सदैव घट-बढ़ का वहाँ के उत्पत्ति-कार्यों पर बुरा प्रभाव पड़ा करता है। इसीलिये केन्द्रीय बैंक साख-व्यवस्था को नियन्त्रित व सुसंगठित करके आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः साख-नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है मूल्यों में स्थायित्व लाना। **(ii) विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाना** (Stability in Foreign Rate of Exchange):—साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय की दर में स्थायित्व लाना भी हो सकता है क्योंकि विनिमय-दर की स्थिरता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज भी यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है कि क्या केन्द्रीय बैंक को विदेशी विनिमय की दर की स्थिरता की अपेक्षा देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता पर अधिक ध्यान देना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है। बहुत बड़े पैमाने पर विदेशी व्यापार करने वाला देश स्वभावतः ही विनिमय-दर की स्थिरता पर अधिक ध्यान देगा। एक ऐसा देश जिसका विदेशी व्यापार बहुत कम होता है वह देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देगा। परन्तु आजकल लगभग प्रत्येक केन्द्रीय बैंक देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता पर अधिक ध्यान देता है और विनिमय-दर को अपने आप परिस्थितियों के अनुसार हो जाने के लिये छोड़ देता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विनिमय-दर की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता है। अतः केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण की नीति का उद्देश्य देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा विनिमय की दर में स्थायित्व बनाए रखकर देश का समुचित आर्थिक-विकास करना होता है। **(iii) देश के उत्पादन तथा रोजगार में स्थायित्व रखना** (Stability in Production and Employment).—केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण की नीति का उद्देश्य व्यापारिक कार्यों (Business Activity) में स्थायित्व स्थापित करना भी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि देश में एक ऐसी साख-नियन्त्रण एवं मुद्रा-नीति अपनाई जाती है कि इससे राष्ट्र के समस्त भौतिक व मानसिक साधनों का पूर्ण उपयोग हो जाय, व्यापार व उद्योग में निरन्तर विस्तार होता रहे, अत्यधिक मंदी या अत्यधिक तेजी का काल नहीं आवे,

> **साख नियन्त्रण के मुख्य उद्देश्य हैं :—**
> १. आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाना।
> २. विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाना।
> ३. देश के उत्पादन तथा रोजगार में स्थायित्व लाना।

है)। अतः स्वर्ण-मान में केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण-नीति का उद्देश्य देश की स्वर्ण-निधि की रक्षा करना भी होता है।

अति उत्पादन या न्यूनतम उपभोग की अवस्था उत्पन्न नहीं होने पाये, आदि। अतः साख-नियन्त्रण की नीति का उद्देश्य उत्पादन और रोजगार में उच्चावचन (Fluctuation) को दूर करके इनमें स्थिरता लाना हुआ करता है।

साख-नियन्त्रण की विधियाँ (Methods of Credit Control)

प्राक्कथन—केन्द्रीय बैंक ने सरकार की मुद्रा-नीति को सफल बनाने अथवा देश में साख का नियमन (Regulation) व नियन्त्रण करने के हेतु समय-समय पर अनेक रीतियाँ अपनाई हैं। इनमें से दो मुख्य हैं—प्रथम, बैंक दर नीति तथा द्वितीय खुले बाजार की क्रियायें। इन दो रीतियों के अतिरिक्त और भी कई ऐसी रीतियाँ हैं जिन्हें अपनाकर के केन्द्रीय बैंक ने देश में साख नियन्त्रण की नीति को कार्यान्वित किया है। यह स्मरण रहे कि आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक ने न केवल किसी एक ही रीति को अपनाया है बल्कि कभी-कभी उसने एक ही समय पर दो या अधिक रीतियों को भी अपनाया है। केन्द्रीय बैंक ने जिन साख नियन्त्रण की रीतियों को समय-समय पर अपनाया है, वे इस प्रकार हैं—(अ) बैंक दर की नीति, (आ) खुले बाजार की क्रियाएँ तथा (इ) अन्य रीतियाँ।

(अ) बैंक दर की नीति (Bank Rate Policy)

बैंक दर की नीति का अर्थ और इसके प्रभाव (Meaning and effects of the Bank Rate Policy):—"बैंक दर ब्याज की वह न्यूनतम दर है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को प्रथम श्रेणी के बिलों को पुनः भुनाने या स्वीकृत प्रतिभूतियों (Securities) पर ऋण या अग्रिम (Advance) देने की सुविधा देता है।" कुछ देशों में बैंक दर (Bank Rate) को केन्द्रीय बैंक की कटौती की दर (Discount Rate) कहते हैं। यहाँ पर 'बैंक दर' तथा 'बाजार-दर' (Market Rate) में भेद समझ लेना चाहिये।* "बाजार दर ब्याज की उस दर को कहते हैं जिस दर व्यापारिक बैंक्स, डिस्काउन्ट-गृह (Discount Houses) तथा अन्य ऋणदाता संस्थाएं मुद्रा बाजार में हुण्डियों या अन्य स्वीकृत बिलों को भुनाती हैं या जिस पर वे संस्थाएँ प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर ऋण या अग्रिम (Advance) देती हैं।" इस तरह बैंक दर और बाजार दर इन दोनों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि बैंक दर तो केन्द्रीय बैंक की पुनः बट्टा (Re-discount) दर होती है, परन्तु बाजार दर मुद्रा बाजार की अन्य ऋणदाता संस्थाओं का बट्टा (Discount) करने की दर होती है। परन्तु बैंक-दर और बाजार दर का आपस का क्या सम्बन्ध होता है? इन दोनों दरों का आपस में घनिष्ट

*The students should clearly understand the distinction between the Bank Rate, Market Rate, Rate of Interest, Deposit Rate and the Call Rate, Bank Rate (Discount Rate) is the rate at which the Central Bank discouts the First Class Bills of the *Lending Institutions of the Money Market Market Rate* is [illegible] Bills or Hundis of the customers or grant loans to Debtors Rate of Interest is the rate of the yield of the Long Term Investment Deposit Rate is the rate which is paid by the Commercial and other Banks on the deposits of the Depositors Call Rate is the rate at which the money is advanced to Brokers Houses etc, for very very short periods and on the condition that the money would be returned either on Demand or within the stipulaetd period

संबंध होता है, जब बैंक दर बढ़ा दी जाती है तब बाजार दर भी बढ़ जाती है और जब बैंक दर कम कर दी जाती है तब बाजार दर में भी कमी हो जाती है। यह स्मरण रहे कि बैंक दर साधारणतया बाजार दर से अधिक होती है। इसका कारण स्पष्ट है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार की अन्य ऋणदाता संस्थाओं के लिये केवल एक अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में ही कार्य करता है अर्थात् जब इन संस्थाओं को ऋण अन्य किसी दूसरे स्रोत से नहीं मिल पाता है, तब ही ये केन्द्रीय बैंक के पास अपनी आर्थिक कठिनाई में उससे सहायता लेने के लिये आती हैं। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर एक दण्ड के रूप में वसूल किया जाता है। परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि जब मुद्रा बाजार की अन्य ऋणदाता संस्थाओं को केन्द्रीय बैंक से एक ऊंचे ब्याज की दर पर रुपया उधार मिलता है, तब वे स्वयं भी अपने ग्राहकों से बाजार दर (Market Rate) पहले से ऊंची मांगने लगते हैं। परिणामतः अन्ततः बाजार दर भी शनैः शनैः बढ़कर बैंक दर के बराबर हो जाती है। इस दशा में यह स्वभाविक ही है कि साख का प्रसार और अधिक नहीं होने पाता है। इसी बात को हम यूं भी कह सकते हैं कि बाजार दर सामान्यतया बैंक दर से कम ही होती है, परन्तु इसमें बैंक दर के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति रहती है और वास्तव में कभी-कभी ये दोनों दरें बराबर हो जाती हैं।

बैंक दर में परिवर्तन द्वारा समाज पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे इस तथ्य पर आधारित हैं कि केन्द्रीय बैंक के बैंक दर के परिवर्तन से मुद्रा-बाजार की अन्य तमाम द्रव्य दरों में भी परिवर्तन हो जाता है। इसी को हम बैंक दर की नीति का सिद्धान्त (Theory of the Bank Rate Policy) कहते हैं। यदि बैंक दर बढ़ा दी जाती है, तब समाज में सभी प्रकार की ब्याज की दरें ऊंची हो जाती हैं, ऋणों का लेना महगा तथा कम लाभदायक हो जाता है, जिससे साख-संकुचन हो जाता है। इसके विपरीत जब बैंक दर घट जाती है, तब समाज में अन्य ब्याज की दरों में कमी हो जाने के कारण ऋणों का लेना लाभदायक होता है जिससे साख का प्रसार हो जाता है। परन्तु बैंक दर के परिवर्तन का अन्य द्रव्य दरों पर प्रभाव तब ही पड़ता है जबकि देश का द्रव्य-बाजार विकसित एवं सुसंगठित होता है। एक सुसंगठित व पूर्ण विकसित मुद्रा बाजार में बैंक-दर में जिस ओर परिवर्तन होता है ब्याज की अन्य दरों में भी परिवर्तन उसी ओर होता है अर्थात् बैंक दर में वृद्धि हो जाने पर बाजार-दर (Market Rate) या ऋण देने की अन्य दरें भी बढ़ जाती हैं और बैंक-दर के कम हो जाने पर ये दरें भी कम हो जाती हैं। अतः बैंक-दर और बाजार में ब्याज की अन्य दरों में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

बैंक-दर में परिवर्तन के प्रभाव (Effects of a Change in the Bank Rate):- बैंक-दर में परिवर्तन के मुख्य मुख्य प्रभाव इस प्रकार पड़ते हैं:—(i) साख का संकुचन और प्रसारः—बैंक-दर में परिवर्तन का मुद्रा की मांग पर प्रभाव पड़ा करता है। जब देश में बैंक दर बढ़ा दी जाती है, तब मुद्रा की मांग कम हो जाती है और जब बैंक-दर घटा दी जाती है तब मुद्रा की मांग बढ़ जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। बैंक दर के बढ़ जाने से ब्याज की अन्य दरें बढ़ जाती हैं जिस से व्यापारियों को ऋण लेना लाभप्रद नहीं

बैंक-दर मे परिवर्तन के मुख्य प्रभाव हैं.—

१. साख का सकुचन या साख का प्रसार होता है।

२ आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा मजदूरी मे कमी या वृद्धि होती है।

३ विनियोग के लिये पूजी या तो विदेशों से आने लगती है या वह विदेशों को जाने लगती है।

४. विनिमय की दर या तो देश के अनुकूल हो जाती है या वह देश के प्रतिकूल हो जाती है।

रहता है और वे ऋण लेना कम कर देते हैं। इसी तरह बैंक दर के कम हो जाने पर ब्याज की अन्य दरें कम हो जाती हैं जिससे व्यापारियो को ऋण लेना लाभप्रद हो जाता है और वह पहले से अधिक ऋण लेने लगते हैं अत बैंक दर के बढने पर साख सकुचन (Credit Contraction) और बैंक दर के कम हो जाने पर साख का प्रसार (Credit Expansion) हो जाता है। (ii) आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा मजदूरी पर प्रभाव —बैंक दर में वृद्धि हो जाने पर साख सकुचन हो जाता है, उत्पादक उत्पत्ति-कार्यों में रुपया ऋण लेकर लगाना बन्द या कम कर देते हैं, उत्पत्ति कार्य हतोत्साहित होते हैं तथा व्यापारिक और औद्योगिक कार्यों में शिथिलता आ जाती है। परिणामत आन्तरिक मूल्य-स्तर और मजदूरी कम होने लगती है। इसके विपरीत बैंक-दर में कमी हो जाने पर साख का प्रसार हो जाता है तथा औद्योगिक व व्यापारिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है, यहाँ तक कि सट्टे-व्यवहारो को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है। परिणामत आन्तरिक मूल्य स्तर और मजदूरी धनै धनै बढने लगती है। (iii) विनियोग के लिए पूंजी के प्रवाह पर प्रभाव —बैंक-दर में परिवर्तन का विनियोग (Investment) के लिये पूजी के प्रवाह (Flow of Capital) पर भी प्रभाव पड़ा करता है। बैंक-दर के बढ़ जाने पर बाजार में ब्याज की अन्य दरें बढ जाती हैं जिससे देश में अल्पकालीन विनियोग के लिये विदेशों से पूजी आने लगती है। इसके विपरीत जब बैंक-दर कम हो जाती है, तब ब्याज की अन्य दरो के भी कम हो जाने के कारण इस देश से विनियोग के लिये पूजी का प्रवाह (Flow of Capital) विदेशों की ओर हो जाता है। (iv) विनिमय की दर पर प्रभाव (Effects on the Foreign Rate of Exchange)—बैंक दर के परिवर्तन का विनिमय की दर पर भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा करता है। जब बैंक दर बढ जाती है, तब ब्याज की दरो के बढ जाने से विदेशों से पूजी का प्रवाह इस देश की ओर हो जाता है जिससे इस देश का अनुकूल भुगतान का सन्तुलन (Favourable Balance of Payment) हो जाता है और विनिमय की दर भी इस देश के अनुकूल (Favourable Rate of Exchange) हो जाती है। इसके विपरीत जब बैंक दर कम हो जाती है, ब्याज की अन्य दरें कम हो जाती हैं, पूजी का विदेशों की ओर प्रवाह हो जाता है, भुगतान का सन्तुलन इस देश के प्रतिकूल हो जाता है और तब इस देश की विनिमय की दर भी प्रतिकूल हो जाती है। इस अवस्था में यदि यह देश स्वर्ण मान पर है, तब स्वर्ण देश से बाहर जाने लगेगा।

अतः यह स्पष्ट है कि बैंक-दर के घट-बढ़ का देश की साख-व्यवस्था व साख-मात्रा, व्यापारिक व औद्योगिक कार्य, रोजगार, आयात-निर्यात, आन्तरिक मूल्य-स्तर व मजदूरी, विनियोग के लिये पूंजी का प्रवाह, विदेशी विनिमय की दर व भुगतान के सन्तुलन आदि पर प्रभाव पड़ा करता है।

बैंक दर में वृद्धि या कमी के कारण
(Causes of the Increase or Decrease in the Bank Rate)

बैंक दर में वृद्धि कब की जाती है ? (When is the Bank Rate Increased ?)—किसी देश में वृद्धि के चार मुख्य कारण हुआ करते हैं:— (i) अन्य देशों में बैंक दर में वृद्धि—जबकि अन्य देशों में बैंक दर में वृद्धि होने लगती है, तब देश की विनिमय पूंजी का एवं अन्य पूंजी का विदेशों को निर्यात होने लगता है। अतः बैंक-दर में वृद्धि इस पूजी के निर्यात को रोकने के लिये की जाती है ताकि विनियोग-पूजी का प्रवाह (Flow of Capital for Investment) विदेशों की ओर होने से रुक जाये और इस पूंजी का विनियोग देश में ही बना रहे। (ii) विनिमय-दर में सुधार—जब विदेशी विनिमय दर देश के विपक्ष में होती है, तब इसे ठीक करने अथवा इसे देश के पक्ष में करने के लिये बैंक दर में वृद्धि की जाती है। (iii) स्वर्ण-निधि की सुरक्षा—जिस समय स्वर्ण आन्तरिक या बाह्य कारणों से निधि से बाहर (Drain on Reserve) जाने लगता है, तब बैंक दर में वृद्धि करके स्वर्ण के निर्यात पर रोक लगाई जाती है। (iv) सट्टे व्यवहारों पर रोक—जिस समय देश में सट्टे व्यवहारों का अत्यधिक जोर हो जाता है, तब इनसे देश को एक बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक हानि का भय उत्पन्न हो जाता है। सटोरिये अपने व्यापार के लिये बैंकों से ऋण लेते हैं और ये बैंक्स उल्टे केन्द्रीय बैंक, से ऋण लेते हैं। ऐसी अवस्था में केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर में वृद्धि कर देते हैं ताकि सटोरियों को सट्टे व्यवहारों के लिये कम ब्याज की दर पर रुपया उधार नहीं मिल सके।

> **बैंक दर में वृद्धि कब की जाती है—**
> १. अन्य देशों में बैंक-दर में वृद्धि हो जाने पर।
> २. विनिमय-दर में सुधार की आवश्यकता होने पर।
> ३. स्वर्ण निधि की सुरक्षा के लिये।
> ४. सट्टे व्यवहारों पर रोक लगाने के लिये।

बैंक दर में कमी कब की जाती है ? (When is the Bank Rate Decreased ?)—किसी देश में बैंक दर में कमी के तीन मुख्य कारण हुआ करते हैं—(i) मुद्रा-बाजार में रुपये की कमी—यदि मुद्रा-बाजार में ऋण पर दी जाने वाली मात्रा में कमी है, परन्तु केन्द्रीय बैंक के पास इस कार्य के लिये राशि पड़ी है, तब वह बैंक दर में कमी करके मुद्रा बाजार में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ा देता है जिससे देश में साख का प्रसार हो जाता है और व्यापारियों को उत्पत्ति-कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में धन मिल जाता है। (ii) मुद्रा-बाजार में मुद्रा की मांग का निर्माण करना—यदि देश में केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक्स तथा अन्य ऋणदाता संस्थाओं के पास एक बहुत बड़ी

> बैंक दर में कमी करने के कारण तीन हैं—
> १. मुद्रा-बाजार में रुपये की कमी को दूर करने के लिये।
> २. मुद्रा-बाजार में मुद्रा की माँग का निर्माण करने के लिये।
> ३. विदेशी पूँजी की आयात को हतोत्साहित करने के लिये।

मात्रा में इसलिये रुपया एकत्रित हो गया है क्योंकि मुद्रा बाजार में रुपये की माँग बहुत कम है, तब केन्द्रीय बैंक व्यापारियों तथा उत्पादकों की रुपये की माँग का निर्माण करने के लिये बैंक दर में कमी कर देता है ताकि बैंकों तथा अन्य ऋणदाता संस्थाओं के पास पड़ी फालतू पूँजी का उचित विनियोग (Investment) हो जाय। (iii) विदेशी पूँजी की आयात—जब विदेशी पूँजी का आयात काफी मात्रा में हो रहा हो और पूँजी की यह आयात देश-हित में नहीं हो या जब इस आयात-पूँजी का देश में समुचित उपयोग नहीं हो सकता हो, तब केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को कम करके देश को इस अवांछनीय पूँजी की आयात के कुप्रभाव से बचा लिया करता है और तब देश पर विदेशी-पूँजी के ऋण का भार नहीं पड़ने पाता है।

बैंक-दर नीति की सीमायें
(Limitations of the Bank Rate Policy)

<u>बैंक दर नीति की सफलता की शर्तें</u> (Conditions for the Success of the Bank Rate Policy)—बैंक दर की सफलता की दो मुख्य शर्तें हैं—(i) बैंक दर में परिवर्तन के अनुसार अन्य ब्याज की दरों में परिवर्तन—बैंक दर नीति साख नियन्त्रण की अनेक रीतियों में से एक महत्वपूर्ण रीति है। इस नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि बैंक दर में परिवर्तन के साथ-साथ बाजार की ब्याज की अन्य दरों में भी परिवर्तन उसी ओर होना चाहिए जिस ओर बैंक दर में परिवर्तन हुआ है। यदि बैंक दर में वृद्धि होती है तब अन्य दरों में भी वृद्धि और यदि बैंक दर में कमी होती है तब अन्य दरों में भी कमी होनी चाहिये। केवल इस दशा में ही बैंक दर अपनी साख-संकुचन अथवा साख-प्रसार की नीति में सफल हो सकती है। परन्तु यह शर्त भी तभी पूरी हो सकती है जब कि देश का मुद्रा-बाजार (Money Market) पूर्ण रूप से विकसित एवं सुसंगठित होता है। यदि कोई देश ऐसा है, जैसे—भारत जहाँ पर मुद्रा-बाजार पूर्णतया विकसित एवं सुसंगठित नहीं है तब बैंक दर का परिवर्तन अन्य ब्याज की दरों में आवश्यक परिवर्तन करने में असफल रहेगा। (ii) देश की अर्थ व्यवस्था में लोच—बैंक दर की नीति की सफलता के लिये दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णतया लोचदार (Elastic) होनी चाहिये। एक लोचदार अर्थ-व्यवस्था में बैंक-दर में परिवर्तन का प्रभाव मूल्यों पर, मजदूरी पर, मुद्रा आय पर, उत्पादन पर, व्यापार पर, स्वर्ण की आयात-निर्यात पर, ब्याज की दरों पर तथा अन्य आर्थिक घटनाओं पर पड़ा करता है। यदि देश की अर्थ-व्यवस्था लोचदार नहीं है, तब बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव उक्त पर नहीं पड़ेगा और तब बैंक दर की नीति कार्यान्वित नहीं हो सकेगी अर्थात् यह नीति अपने साख-नियन्त्रण के उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेगी।

बैंक-दर नीति के महत्व में कमी हो जाने के कारण (Causes for the declining Importance of the Bank Rate Policy)—लगभग प्रत्येक देश में बैंक दर की नीति द्वारा साख-नियन्त्रण करने का महत्व पहले से बहुत कम हो गया है एवं यह नीति प्रभावशाली (Effective) नहीं रही है। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:— (i) अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव:—बैंक दर की नीति की सफलता की एक महत्वपूर्ण शर्त यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्था मे लोच होना चाहिये। यदि लोच नही है, तब बैंक दर मे परिवर्तन का प्रभाव मजदूरी, मूल्य, उत्पादन-कार्य आदि पर नही पड़ेगा और साख-संकुचन अथवा साख-प्रसार का इन सबसे समायोजन (Adjustment) नही हो सकेगा अर्थात् बैंक दर का परिवर्तन देश की सारी अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव नही डाल सकेगा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था में लोच शनैः शनैः बहुत कम हो गया है जिसके कारण धीरे-धीरे बैंक दर नीति भी अप्रभावी (Ineffective) हो गई है। (iii) साख नियन्त्रण की अन्य सप्रभाविक विधियाँ—केन्द्रीय बैंकों ने साख-नियन्त्रण की अन्य विधियों विशेषतः खुले बाजार की क्रियाओं को अधिक प्रभावी अनुभव किया है। परिणामतः वे बैंक दर नीति का अपेक्षाकृत कम उपयोग करने लगे हैं जिससे इस नीति का पहले से कम महत्व हो गया है*। (iii) आदेयों की तरलता (Liquidity of Assets):—पिछले १५–२० वर्षों से व्यापारिक बैंक्स अपनी सम्पत्ति (Assets) को प्रत्यधिक तरल (Liquid) रूप मे रखने लगे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि ये अपने ग्राहकों की द्रव्य की मॉंग की पूर्ति प्रायः स्वयं अपने साधनों से पूरी करने लगे हैं और इन्हें केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती है। यही कारण है कि ये केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर से प्रभावित नही होते हैं। अतः केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति का महत्व कम हो गया है। (iv) ब्याज की दर में वृद्धि:—बैंक दर में वृद्धि के प्रभाव को कभी-कभी व्यापारिक बैंक्स अपने जमाकर्ताओं (De-

> **बैंक दर नीति के महत्व में कमी के कारण हैं:—**
>
> १. वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव है।
> २. साख-नियन्त्रण की अन्य सप्रभाविक विधियों का उपयोग होता है।
> ३. बैंकों के आदेयों की तरलता।
> ४. बैंक्स द्वारा अपनी जमाओं पर ब्याज की दर में वृद्धि।
> ५. बैंक-दर में परिवर्तन का प्रभाव तत्कालीन नही होता है।
> ६. राष्ट्रों की सुलभ मुद्रा नीति।
> ७. ऋणदाता संस्थाओं की केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता में कमी।

* इस बात को हम एक छोटे से उदाहरण से समझा सकते हैं। भुगतान का संतुलन (Balance of Payment) स्थापित करने के लिये बैंक-दर नीति एक अच्छी नीति मानी जाती थी, परन्तु इस कार्य के लिए आज यह एक अच्छी नीति नहीं मानी जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। विनिमय-दर में स्थिरता बैंक दर में परिवर्तन द्वारा स्थापित की जा सकती है, परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन से समाज में बेरोजगारी या

positors) को उनकी जमा (Deposits) पर अधिक ब्याज देकर भी दूर कर देते हैं। जब बैंक्स अपने जमाकर्ताओं को उनकी जमा पर दी जाने वाली ब्याज की दर मे वृद्धि कर देते हैं, तब इन्हें पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे राशि प्राप्त हो जाती है जिससे ये पहले की अपेक्षा और भी अधिक मात्रा म साख का निर्माण करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि केन्द्रीय बैंक, बैंक दर म वृद्धि करके साख-सकुचन करना चाहता था, परन्तु वास्तव मे बैंक दर की वृद्धि से साख का प्रसार हो जाता है। अत बैंक ब्याज की दर मे वृद्धि करके बैंक दर की वृद्धि को अप्रभाविक कर देते हैं। इसीलिये बैंक दर की नीति का महत्व कम हो जाता है। (v) बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव तत्काल नहीं होता —बैंक दर का महत्व इस कारण भी कम है क्योंकि इसके परिवर्तन का प्रभाव तुरन्त नही होता है। चूंकि इस प्रकार की नीति को प्रभावित होने म कुछ समय लगता है, इसलिये यह सम्भव है इस बीच मे साख नियन्त्रण की अमुक नीति की आवश्यकता ही नहीं रहे। मौद्रिक क्षेत्र मे वही नीति प्रभाविक व लाभदायक हो सकती है जिसका प्रभाव शीघ्र ही तथा अल्पकाल में पड़ता है। चूंकि बैंक दर मे इस प्रकार की तुरन्त प्रभाविकता का अभाव है, इसलिये बैंक दर नीति का महत्व शनै शनै पहले से बहुत कम हो गया है। (vi) सुलभ मुद्रा नीति — ससार के लगभग सब ही देशों ने सस्ती व सुलभ मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) अपना ली है। परिणामत इस नीति को सफल बनाने के लिये बैंक दर को नीचा ही रखा जाता है और यह ही आजकल प्रत्येक देश की आर्थिक नीति का आधार है। इस प्रकार की नीति अपना लेने से बैंक दर मे परिवर्तन का अब कुछ भी महत्व नहीं रह गया है। परिणामत बैंक दर की नीति का महत्व भी बहुत कम हो गया है। (vii) ऋणदाता सस्थाओं की केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता —बैंक दर नीति तब ही सफल हो सकती है जबकि देश के बैंक्स एव अ य ऋणदाता सस्थायें आवश्यकता के समय ऋणों के लिये केन्द्रीय बैंक पर निभर रहती हैं। परन्तु व्यवहार मे प्रथम श्रेणी के बैंक्स (First Rate Banks) आवश्यकता के समय ऋण अथवा अग्रिम केन्द्रीय बैंक से नहीं लेते, जिससे बैंक-दर का परिवर्तन उनकी कार्य-प्रणाली में बाधक नहीं होता है। इसीलिये उक्त परिस्थिति मे बैंक-दर प्रभावी नही रहती है और यह उसके महत्व को कम कर देती है।

बैंक दर नीति का सक्षिप्त इतिहास (Brief History of the Bank Rate Policy) —सन् १९१४ से पूर्व स्वर्ण-मान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति

अन्य मानव कष्ट का भय रहता है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त व्यस्त हो सकती है। परन्तु वर्तमान सरकारें भुगतान में स तुलन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बैंक दर में परिवर्तन के स्थान पर विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) की नीति को अधिक उपयुक्त समझती हैं क्योंकि इससे देश की आतरिक अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त नही होती है और इस नीति में सफलता भी अधिक मिलती है। अन कभी कभी बैंक दर की नीति के स्थान पर साख नियन्त्रण की अन्य नीतियां अधिक प्रभावी सिद्ध होती हैं जिससे बैंक दर नीति का प्रभाव कम हो जाता है।

साख-नियन्त्रण का बहुत ही महत्वपूर्ण साधन था। यही कारण है कि इंगलैंड में विशेषतः सन् १९१४ से पूर्व इस नीति का अधिक सफलता से प्रयोग हुआ था। परन्तु इस नीति को संसार के अन्य देशों में इतनी अधिक सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि उन देशों की न तो आर्थिक स्थिति ही लचकीली थी और न मुद्रा बाजार ही सुसंगठित और पूर्ण रूप से विकसित था। यद्यपि आज भी इस नीति का उपयोग प्रत्येक देश में होता है, परन्तु कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें बैंक दर नीति अप्रभावी हो जाती है। यही कारण है कि स्वर्ण-मान के सन् १९३१ में टूट जाने के बाद से साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। यह स्मरण रहे कि विभिन्न समयों पर जिन अन्य प्रणालियों का उपयोग हुआ है, वे या तो बैंक-दर से सम्बन्धित होती थीं या इनके सहायक शस्त्र के रूप में उपयोग में लाई जाती थीं। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध काल से पहले बैंक दर नीति का महत्व अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया था, परन्तु युद्ध के बाद इसका केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति में महत्व फिर से बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। सन् १९५० से संसार के बहुत से देशों में मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति के रूप में केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर नीति का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। इसीलिये संसार के अनेक राष्ट्रों ने समय-समय पर देश में प्रचलित बैंक-दर में वृद्धि की है।

(आ) खुले बाजार की क्रियायें
(Open Market Operations)

खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ और इसके प्रभाव (Meaning and Effects of Open Market Operations) :— प्रथम महायुद्ध से पहले लगभग सब ही देशों में (जर्मनी के अतिरिक्त) यह विश्वास था कि देश की चलन व साख-प्रणाली को ठीक करने का बैंक दर ही एक उपाय है। परन्तु जर्मनी ने तो प्रथम महायुद्ध से पहले भी खुले बाजार की रीति (Open Market Operations) को प्रयोग में लाना आरम्भ किया था। वास्तव में इस रीति का एक वैज्ञानिक रूप में प्रयोग प्रथम महायुद्ध के बाद से ही हुआ है। खुले बाजार की क्रियाओं का क्या अर्थ है? "विस्तृत अर्थ में खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ है केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा मुद्रा बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों या प्रतिभूतियों का खरीदना व बेचना, परन्तु संकुचित अर्थ में इसका अर्थ है केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा मुद्रा-बाजार में केवल सरकारी प्रतिभूतियों (Govt. Securities) का खरीदना व बेचना।" गत ३०—३५ वर्षों से साख-नियन्त्रण की इस रीति का महत्व बहुत बढ़ गया है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि बैंक-दर की रीति अब बहुत कम प्रभावी हो गई है।

व्यवहार में खुले बाजार की क्रियाओं से एक केन्द्रीय बैंक साख व चलन प्रणाली को किस प्रकार प्रभावित करता है? यह क्रिया इस प्रकार कार्यशील होती है :— जिस समय मुद्रा बाजार में द्रव्य की बाहुलता होती है और केन्द्रीय बैंक इस द्रव्य की मात्रा को कम करना चाहता है, तब वह मुद्रा-बाजार (अर्थात् खुले बाजार में) में सिक्युरिटीज व अन्य ऋण-पत्रों को बेचना आरम्भ कर देता है। केन्द्रीय बैंक की इस क्रिया को खुले

बाजार की क्रियायें कहते हैं। चूँकि जनता का केन्द्रीय बैंक में अन्य सभी बैंकों की अपेक्षा अधिक विश्वास होता है इसलिए मनुष्य बचत करके या बैंकों से रुपया निकालकर या इन बैंकों के नाम चैक जारी करके या अपने दिये हुए ऋणों को वापिस लेकर, केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियों (Securities) को खरीदते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा घट जाती है तथा व्यापारिक बैंकों के नकद-कोष (Cash Reserves) कम हो जाते हैं जिससे बैंकों के पास ऋण पर दी जाने वाली राशि कम हो जाती है और बैंक्स पहले की अपेक्षा बहुत कम मात्रा में ही ऋण देने पाते हैं। इस दशा में बैंक्स तथा अन्य ऋणदाता संस्थाओं को साख-मुद्रा के संकुचन की नीति को अपनाने के लिये बाध्य होना पड़ता है और ये संस्थायें अपने ऋणियों (Debtors) से ऋण का भुगतान मांगने लगती हैं या ऋण मांगने वालों को ऋण कम मात्रा में देने लगती हैं। मुद्रा की मात्रा में कमी के कारण उत्पादक कम मात्रा में कच्ची सामग्री खरीदने पाते हैं तथा उत्पत्ति के साधनों की क्रय-शक्ति भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य में कमी हो जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है जिससे व्यवसाय हतोत्साहित होते हैं। अत केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को बेचने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख-संकुचन (Credit Contraction) के रूप में प्रकट हो जाता है। इसके विपरीत जब मुद्रा बाजार में ऋण पर दी जाने वाली राशि की कमी होती है और केन्द्रीय बैंक देश के आर्थिक हित में इस राशि की मात्रा को बढ़ाना चाहता है, तब वह प्रतिभूतियों व ऋण पत्रों को खरीदना आरम्भ कर देता है। केन्द्रीय बैंक की इस प्रकार की खुले बाजार की क्रिया से जनता के हाथ में द्रव्य की अधिक मात्रा चली जाती है क्योंकि यह बैंक ऋण-पत्रों का भुगतान नकद में या चैक द्वारा करता है। पत्र-विक्रेता बहुधा इन चैकों या नकदी को अपने बैंक में जमा कर देता है जिससे व्यापारिक बैंक में जमा या स्वयं उसके पास नकद कोष (Cash Reserves) बढ़ जाता है। बैंकों तथा अन्य ऋण-दाता संस्थाओं के पास जितना अधिक नकद-कोष होता है, वे उसका कई गुना रुपया उधार देकर साख का सृजन (Credit Creation) कर देती हैं जिससे मूल्यों में वृद्धि हो जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है और व्यापार प्रोत्साहित होते हैं। उत्पादकों को अपने उत्पादन कार्य में जितना अधिक लाभ होने लगता है, वे साख मुद्रा (Credit Money) की उतनी ही अधिक मांग करने लगते हैं। अत केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख-प्रसार (Expansion of Credit) के रूप में प्रकट हो जाता है।

साराश यह है कि खुले बाजार की क्रियाओं या ऋण-पत्रों व सिक्यूरिटीज (प्रतिभूतियों) के क्रय विक्रय द्वारा केन्द्रीय बैंक देश में साख पर दी जाने वाली राशि में बाहुलता या कमी ला सकता है और वास्तव में केन्द्रीय बैंक अपनी खुले बाजार की क्रियाओं की नीति को इस प्रकार कार्यशील किया करता है कि देश में रोजगार (Employment), उत्पादन (Production), सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level), व्यापार तथा उद्योग धन्धों आदि में सन्तुलन (Balance) स्थापित होकर देश का आर्थिक ढाँचा दृढ़ व सुसगठित हो जाय।

खुले बाजार की क्रियाओं की नीति किन परिस्थितियों में कार्यान्वित होती है ? (Under what conditions is the Open Market Operations Policy adopted ?):—ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं:— (i) स्वर्ण-मान में स्वर्ण की आयात व निर्यात के प्रभाव को विफल करना (To Sterlise the influence of Imports and Exports of Gold)—स्वर्ण-मान में स्वर्ण की आयात व निर्यात के प्रभाव को विफल बनाने के हेतु खुले बाजार की क्रियाओं की नीति अपनाई जाती है। स्वर्ण-मान में सोने की आयात होने पर मुद्रा व साख-मुद्रा का परिमाण बढ़ जाने से मूल्य-स्तर बढ़ जाते हैं। यदि यह मूल्य-वृद्धि देश हित में नहीं है, तब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्रों व सिक्यूरिटीज को बेचकर देश में द्रव्य की मात्रा कम कर देता है जिससे वस्तुओं की मूल्य वृद्धि पर रोक लग जाती है। इसी प्रकार यदि देश से सोने का निर्यात हो गया है तब मुद्रा व साख-द्रव्य की मात्रा कम होने से मूल्य स्तर गिरने लगता है। यदि वस्तुओं का मूल्य-ह्रास देश हित में नहीं है, तब केन्द्रीय बैंक सोने की निर्यात के प्रभावों को विफल करने के हेतु ऋण-पत्र व सिक्यूरिटीज खरीदने लगता है जिससे अन्ततः मूल्य में कमी होने की प्रवृत्ति पर रोक लग जाती है। (ii) पूंजी [illegible] निर्यात पर रोक—यदि किसी देश में विनियोग की जाने वाली पूंजी की बाहुलता है और यह विदेशों को विनियोग के लिये जा रही है, तब केन्द्रीय बैंक इस क्रिया का उपयोग करके (ऋण-पत्रों व सिक्यूरिटीज को बेचकर) मुद्रा बाजार से अतिरिक्त राशि (Surplus Money) को खींच लेती है। प्रायः यह क्रिया तब ही कार्यान्वित की जाती है जबकि देश से राशि विदेशों को जा रही हो। (iii) बैंकों पर दौड़ (Run on the Banks)—जब कभी किसी संकट काल में या मुद्रा-बाजार में घबराहट के कारण सब ही बैंकों पर मुद्रा निकालने के लिये दौड़ होने लगती है, तब केन्द्रीय बैंक इन ऋणदाता संस्थाओं की सहायता के हेतु तथा मुद्रा व द्रव्य-बाजार में जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिये बैंकों की हुण्डियों व अन्य पत्रों को पुनः भुनाने के अतिरिक्त ऋण-पत्रों व सिक्यूरिटीज को खरीद कर जनता को अधिक मात्रा में रुपया दे देता है जिससे समाज में मुद्रा सम्बन्धी आपत्ति व बैंकों का आर्थिक संकट टल जाता है या दूर हो जाता है। (iv) मुद्रा-बाजार में मुद्रा की कमी—फसल कटने या बोने, विवाह या त्यौहार के समय या ऐसे समय जबकि जनता के पास रुपए की कमी होने लगती है, तब केन्द्रीय बैंक जनता के ऋण-पत्रों को खरीद कर द्रव्य-बाजार में मुद्रा की मात्रा बढ़ा देता है ताकि साख-संकुचन

खुले बाजार की क्रियाओं की नीति किन दिशाओं में अपनाई जाती है:—

१. स्वर्ण-मान में स्वर्ण की आयात-निर्यात के प्रभाव को विफल करने के लिए।
२. पूंजी के विदेशों को निर्यात पर रोक लगाने के लिये।
३. बैंकों पर दौड़ को हतोत्साहित करने के लिये।
४. मुद्रा-बाजार में मुद्रा की कमी को दूर करने के लिए।
५. बैंक-दर के अप्रभावी होने पर साख पर उचित नियन्त्रण लाने के लिये।

तथा मूल्य-ह्रास के कारण समाज के आर्थिक व्यवहारों में किसी प्रकार की गड-बड उत्पन्न नही होने पाये। (v) बैंक दर के अप्रभावी होने पर—जब कभी बैंक दर की घट-बढ़ से साख पर उचित नियन्त्रण नही होन पा रहा हो या नियन्त्रण प्रभावी (Effective) नही हो, तब बैंक दर मे घट-बढ के साथ ही साथ खुले बाजार की क्रियाओ का भी उपयोग किया जाता है। जब कभी बैंक दर के बढने पर मुद्रा-बाजार की अन्य ऋणदाता सस्थाय ब्याज की दर नही बढाती हैं क्योंकि उनके पास राशि काफी मात्रा में है, तब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में ऋण पत्रो (Securities) को बचकर बैंकों की इस अतिरिक्त निधि को कम कर देना है जिसके परिणामस्वरूप ये सस्थाएँ ब्याज की दर बढ़ाने के लिय बाध्य हो जाती हैं।

खुले बाजार की रीति या बैंक-दर रीति
(Open Market Operations vs Bank Rate Policy)

खुले बाजार की रीति तथा बैंक-दर की तुलना (Comparison between the Open Market Operations and the Bank Rate Policy) —स्मरण रहे कि सन् १९३२ तक खुले बाजार की रीति का उपयोग बहुत कम किया जाता था, परन्तु शनै शनै इस रीति का महत्त्व बहुत बढ गया है। इसके दो कारण हैं —(i) दृढ़ (Rigid), प्रत्यक्ष (Direct) तथा चपल (Active) रीति —बैंक दर की नीति की अपेक्षा खुले बाजार की रीति अधिक दृढ प्रत्यक्ष तथा चपल होती है। बैंक दर में परिवर्तन का ब्याज की अल्पकालीन दरो पर प्रभाव तुरन्त और ब्याज की दीर्घकालीन दरो पर यह प्रभाव शनै शनै तथा परोक्ष रूप मे पडा करता है, परन्तु खुले बाजार की क्रियाओ का अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार की ब्याज की दरों पर प्रभाव तुरन्त और प्रत्यक्ष रूप म पडा करता है। इस कारण खुले बाजार की रीति के प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं। (ii) खुले बाजार की रीति की स्वतन्त्र कार्यशीलता—इस रीति की यह विशेषता है कि बिना बैंक दर रीति की सहायता लिये या बिना बाजार दर (Market Rate) मे परिवर्तन किये, इस रीति द्वारा चलन व साख प्रणाली पर उचित नियन्त्रण किया जा सकता है जिसम इस रीति में स्वतन्त्र कार्यशीलता का गुण पाया जाता है। अर्थशास्त्रियो में खुले बाजार की रीति के इस गुण के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद भी हैं। एक तरफ लार्ड कीन्स (J M Keynes) तथा कुछ अन्य अग्रेजी अर्थशास्त्रियो के अनुसार खुले बाजार की रीति, बिना किसी अन्य साख नियन्त्रण करने वाले तरीके की सहायता के लिए, साख व चलन प्रणाली पर उचित नियन्त्रण कर सकती है, तब दूसरी ओर इस विचार के बिल्कुल विपरीत हाट्रे (Hawtray) के अनुसार देश की चलन व साख प्रणाली पर तब ही उचित नियन्त्रण हो सकता है जबकि खुले बाजार तथा बैंक-दर दोनो रीतियो का साथ ही साथ प्रयोग किया जाता है। यह सच है कि यदि इन दोनों रीतियों का साथ ही साथ प्रयोग किया जाय तब केन्द्रीय बैंक के चलन-प्रणाली के सन्तुलित करने के उद्देश्य को भली प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है।

खुले बाजार रीति की सीमायें
(Limitations of the Open Market Operations)

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलताओं की शर्तें (Conditions for the

success of the Open Market Operations):—खुले बाजार की क्रियाएँ कुछ शर्तें पूरी होने पर ही प्रभावोत्पादक हो सकती हैं और ये शर्तें इस प्रकार हैं—(i) सिक्यूरिटीज व अन्य ऋण-पत्रों की मांग व पूर्ति होनी चाहिये—केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की रीति तब ही सफल हो सकती है जबकि अल्प या दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) व अन्य ऋण-पत्रों की सदा मांग अथवा पूर्ति रहती है। अतः उक्त क्रिया की सफलता के लिये सिक्यूरिटीज तथा अन्य ऋण-पत्रों का बाजार पूर्णतया विकसित तथा सुसंगठित होना चाहिये। (ii) केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं से अन्य बैंकों की निधि प्रभावित होनी चाहिए—खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिये दूसरी महत्वपूर्ण शर्त यह है कि इन क्रियाओं से बैंक तथा अन्य ऋणदाता संस्थाओं की निधि (Cash Reserves) प्रभावित होनी चाहिए। यदि केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटीज बेचता है, तब बैंकों की निधि कम होनी चाहिए, परन्तु यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा इन ऋण-पत्रों के बेचने पर भी बैंकों की निधि कम नहीं होने पाये। यह परिस्थिति तब ही उत्पन्न होती है जबकि चलार्थ मुद्रा (Money in Circulation) में से कुछ नोट या मुद्रा बैंक में वापिस आ जाती है या बैंक में सोना आ गया है या मनुष्यों ने अपने आसंचित कोषों को खाली कर दिया है जिससे ये बैंकों में जमा हो गये हैं या देश में शोधनाधिक्य अनुकूल (Favourable Balance of Payments) है और विदेशों से बराबर रुपया आ रहा है और यह बैंकों में जमा हो रहा है। इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदता है, तब बैंकों की निधि में वृद्धि होनी चाहिये, परन्तु यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक की इस क्रिया के बावजूद भी अन्य बैंकों की निधि में वृद्धि नहीं होने पाये। यह परिस्थिति तब ही उत्पन्न होती है जब कि देश में नोटों या मुद्रा के अत्यधिक-संग्रह (Hoarding of Currency) की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है या देश से पूँजी का निर्यात होता है या शोधनाधिक्य देश के प्रतिकूल (Unfavourable Balance of Payments) है। अतः खुले बाजार की क्रियाएं तब ही सफल हो सकती हैं जबकि इन क्रियाओं के साथ ही साथ बैंकों की निधि भी प्रभावित होती है। (iii) व्यापारिक बैंकों की ऋण देने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए:—खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता की तीसरी

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता की शर्तें:—

१. सिक्युरिटीज व अन्य ऋण पत्रों की सदा मांग व पूर्ति होनी चाहिये।
२. केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं से अन्य बैंकों की निधि प्रभावित होनी चाहिये।
३. व्यापारिक बैंकों की ऋण देने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
४. ऋणों की मांग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
५. केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने अथवा बेचने की शक्ति असीमित होनी चाहिए।
६. मुद्रा-बाजार का पूर्ण विकास होना चाहिए।

महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस समय केन्द्रीय बैंक इस रीति को अपनाता है, उस समय व्यापारिक बैंकों की ऋण देने की नीति में कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए। परन्तु वास्तव में व्यापारिक बैंक्स अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया करते हैं। बैंक्स किसी समय साख प्रसार या साख संकुचन न केवल अपने पास के नकद कोष के आधार पर बल्कि देश की आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों का सोच विचार करके ही किया करते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक ऋण पत्रों (Securities) को खरीद कर या भुनाकर बैंकों का नकद कोष साख प्रसार के उद्देश्य से बढ़ा देता है, परन्तु यदि ये बैंक्स मुद्रा बाजार में घबराहट (Panic) या अविश्वास (Lack of confidence) से अपने ग्राहकों की बढ़ी हुई मुद्रा की मांग के कारण इस नकदी के आधार पर साख निर्माण नहीं करते वरन् अपना नकद कोष बढ़ा लेते हैं तब केन्द्रीय बैंक अपनी नीति में सफल नहीं हो सकेगा। अतः बैंकों की निधि में घट बढ़ से क्रमशः साख का संकुचन व प्रसार होने पर ही केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाएं सफल हो सकती हैं। (iv) ऋणों की मांग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये—खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता की चौथी शर्त यह है कि जिस समय केन्द्रीय बैंक इस नीति को अपनाता है तब उत्पादकों की ऋण लेने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए अर्थात् बैंकों की निधि घटने-बढ़ने पर उत्पादकों की ऋण की मांग भी क्रमशः घटनी-बढ़नी चाहिये। परन्तु कभी कभी उत्पादक अपनी ऋण लेने की नीति में परिवर्तन कर दिया करते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक ने साख प्रसार के उद्देश्य से अन्य बैंकों का नकद कोष ऋण पत्र खरीद कर बढ़ा दिया है, परन्तु यदि देश की अनिश्चित आर्थिक व राजनैतिक दशा या मूल्यों के कम होने और भविष्य में इनके और अधिक गिरने की सम्भावना से उत्पादक कम ब्याज की दर पर भी ऋण लेना स्वीकार नहीं करते, तब केन्द्रीय बैंक अपनी साख प्रसार की नीति में सफल नहीं होने पाता है। इस अवस्था में व्यापारिक बैंकों के पास रुपया फालतू पड़ा रहेगा और केन्द्रीय बैंक का साख प्रसार का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि तेजी काल (Boom Period) में तो केन्द्रीय बैंक अपनी साख संकुचन-नीति से मूल्यों में कमी करने में सफल हो जाता है परन्तु [redacted]दीकाल (Depression Period) में केन्द्रीय बैंक के लिए साख निर्माण करना बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि बैंक्स किसी उत्पादक को रुपया उधार लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। यह अवश्य है कि कुछ समय तक ब्याज की दर में कमी रहने पर साख का प्रसार होने ही लगता है। अतः खुले बाजार की क्रिया की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों की निधि घटने बढ़ने पर द्रव्य बाजार में भी मुद्रा की मांग क्रमशः घटनी बढ़नी चाहिये। (v) केन्द्रीय बैंक को प्रतिभूतियों को खरीदने अथवा बेचने की शक्ति असीमित होनी चाहिए—केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता इस बात पर भी निर्भर रहती है कि केन्द्रीय बैंक कितनी प्रतिभूतियां खरीद सकता है या उसके पास बेचने के लिए कितनी प्रतिभूतियां अथवा ऋण-पत्र हैं। चूंकि वास्तव में किसी भी केन्द्रीय बैंक के पास असीमित मात्रा में पूंजी प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए नहीं होती और न उसके पास अत्यधिक मात्रा में ही प्रतिभूतियां बेचने के लिए होती हैं, इसलिए दोनों ही दशाओं में केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं में सीमितता होती है। (vi) मुद्रा बाजार का पूर्ण विकास होना चाहिए—केन्द्रीय बैंक अपनी खुले

बाजार की क्रियाओं में तब ही सफल होता है जबकि देश में मुद्रा-बाजार का पूर्ण विकास हो जाता है, यह सुसंगठित व सुव्यवस्थित होता है, ऋणदाता संस्थाओं का केन्द्रीय बैंक से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जनता में बैंकिंग आदत जाग्रत हो जाती है, उत्पादक प्रायः बैंकों तथा अन्य ऋणदाता संस्थाओं से ही उत्पत्ति-कार्य के लिए रुपया उधार लेते हैं और इन्हीं पर पूर्णतया निर्भर रहते हैं आदि। अतः जिस देश में इन सब बातों में जितनी अधिक कमी होती है, केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं का कार्य-क्षेत्र भी उतना ही अधिक सीमित हो जाता है।

सारांश:—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि खुले बाजार का सिद्धांत (Theory of Open Market Operations) तब ही सफल हो सकता है जबकि उल्लिखित शर्तें पूरी की जायें। इसीलिये इन शर्तों को खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाएँ (Limitations of the Open Market Operations) भी कहते हैं। परन्तु यह स्मरण रहे कि इन सीमाओं के होते हुये भी प्रत्येक केन्द्रीय बैंक की शक्ति व साधन इतने विशाल होते हैं कि साख-नियंत्रण की रीतियों का प्रभाव अवश्यमेव ही दृष्टिगोचर हो जाता है। भारतवर्ष में यद्यपि अभी तक एक अच्छे व सुसंगठित मुद्रा-बाजार का पूर्ण विकास नहीं हो सका है और न तमाम ऋणदाता संस्थाएँ ही केन्द्रीय बैंक के पूर्ण नियन्त्रण में हैं परन्तु फिर भी रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण की नीति बैंक-दर की अपेक्षा खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा अधिक प्रभावी हुई है। खुले बाजार की रीति के बढ़ते हुये महत्व के कारण ही इंगलैंड और अमेरिका जैसे देशों ने खुले बाजार की रीति का कार्य-क्रम चलाने के लिये केन्द्रीय बैंक के अन्तर्गत विशेष संस्थाएँ स्थापित कर दी हैं ताकि उक्त कार्य सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सके।

(इ) साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियाँ
(Other Methods of Credit Control)

अन्य रीतियाँ (Other Methods):—बैंक-दर और खुले बाजार की क्रियाओं के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण के लिए अन्य कई तरीके अपनाता है जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) बैंकों की रक्षित-निधि के अनुपात में परिवर्तन, (ii) साख का राशनिंग करना, (iii) सीधी कार्यवाही की रीति, (iv) नैतिक दबाव अथवा समझाने की रीति, (v) विज्ञापन तथा प्रचार, (vi) उपभोक्ता-साख का नियमन तथा (vii) ऋणों की सीमा-आवश्यकता में परिवर्तन।

(१) बैंकों की रक्षित-निधि के अनुपात में परिवर्तन करना (Variation in the Bank Reserve Ratios):—प्रो० कीन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तक A Treatise on Money में सर्वप्रथम इस रीति का सुझाव रखा था और आज यह साख-नियन्त्रण की एक महत्वपूर्ण रीति मानी जाती है। आजकल लगभग प्रत्येक बैंक को अपनी कुल जमा का कुछ न्यूनतम भाग (प्रत्येक केन्द्रीय बैंक इस न्यूनतम भाग या इस न्यूनतम प्रतिशत को निर्धारित कर देता है) केन्द्रीय बैंक के पास कानूनन रक्षित-निधि (Reserve Fund) के रूप में जमा करना पड़ता है। इस निधि को जमा करने के बाद किसी बैंक के पास जो कुछ भी शेष नकद-कोष (Cash Reserve) रह जाता है, वह इसी के आधार

पर और इसी के द्वारा साख-निर्माण का कार्य करता है - अर्थात् बैंकों की साख निर्माण शक्ति इस कोष नकद कोष से सीमित होती है। इस तरह किसी बैंक के पास जितनी अधिक राशि साख-जमा (Credit Deposits) या अन्य प्रकार की जमा के रूप में प्राप्त होती है, उसे उतनी ही अधिक राशि केन्द्रीय बैंक के पास जमा करनी पड़ती है। आधुनिक युग में सभी केन्द्रीय बैंकों को अपने-अपने देशों ने व्यापारिक बैंकों के नकद-कोष की न्यूनतम-सीमा (Minimum Statutary Limits of Cash Reserves) में परिवर्तन करने का अधिकार दे दिया गया है। यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की कुल जमा के वैधानिक अनुपात (Percentage of the Total Deposits in a Bank with the Central Bank) में वृद्धि कर देता है, तब इन बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि जमा करनी पड़ेगी, जिससे इन बैंकों का नकद-कोष (Cash Reserves) कम हो जायगा और इनकी साख निर्माण शक्ति भी इस नकद-कोष से मर्यादित होने के कारण घट जायगी। इसी तरह जब केन्द्रीय बैंक इस वैधानिक अनुपात को घटा देता है, तब अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास बहुत कम मात्रा में राशि जमा करनी पड़ती है जिससे इनका नकद कोष बढ़ जायगा और ये अधिक मात्रा में साख का निर्माण करने में सफल हो जायेंगे। इस अवस्था में ऋणियों व उत्पादकों को ऋण अधिक सुगमता से तथा कम ब्याज की दर पर मिल जायगा। अतः केन्द्रीय बैंक उक्त वैधानिक अनुपात को घटाकर मुद्रा बाजार में मुद्रा या साख-द्रव्य की कमी को बहुत-कुछ दूर कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उक्त वैधानिक अनुपात में वृद्धि करके मुद्रा बाजार में मुद्रा या साख द्रव्य की बाहुलता एवं प्रचुरता को कम कर सकता है। अतः केन्द्रीय बैंक बैंकों की रक्षित निधि के वैधानिक अनुपात में परिवर्तन करके देश में साख व चलन की मात्रा पर उचित नियन्त्रण कर सकता है। बैंक-दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं के बाद यह एक तीसरी महत्वपूर्ण रीति है।

यह स्मरण रहे कि इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम सन् १९३३ में अमेरिका में हुआ था। इस सन् में वहाँ के Federal Reserve System के बोर्ड ऑफ गवरनर्स (Board of Governors) को यह अधिकार दिया गया था कि वे व्यापारिक बैंकों की वैधानिक न्यूनतम रक्षित कोष की सीमा में परिवर्तन कर सकते हैं ताकि देश में अनुचित साख का प्रसार व संकुचन नहीं होने पायें क्योंकि यह सभी मानते हैं कि यदि व्यापारिक बैंकों के पास अनावश्यक कोष रहते हैं तब साख नियन्त्रण का कोई भी तरीका प्रभावी नहीं रह सकता है। यही कारण है कि इन अतिरिक्त कोषों (Surplus Funds) को केन्द्रीय बैंक के पास जमा करके अप्रभावी बना दिया जाता है। यद्यपि उक्त रीति का उपयोग सर्वप्रथम अमरिका में हुआ था, परन्तु तत्पश्चात् इसका अन्य देशों में भी काफी विस्तृत उपयोग हुआ है। कुछ व्यक्तियों का मत है कि यह रीति खुले बाजार की क्रियाओं से भी अधिक प्रभावोत्पादक होती है। चूंकि यह रीति बहुत कठोर होती है और इसका प्रभाव बैंकों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है, इसलिए इसके उपयोग करने में केन्द्रीय बैंक पर बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है और इसे इसका उपयोग बहुत सावधानी से करना पड़ता है।

(२) साख का राशनिंग करना (Rationing of Credit):—बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियायें बहुत कठोर तथा सख्त होती हैं जिसके कारण इनका सब ओर बड़ा विरोध हुआ है। परन्तु साख-राशनिंग की रीति उक्त के बिल्कुल विपरीत बहुत निर्बल तथा सर्वप्रिय रीति है। यह सर्व विदित है कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिये अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में कार्य करता है। आपत्ति काल में तमाम ऋणदाता संस्थाएं केन्द्रीय बैंक का सहारा लेती हैं। ऐसे समय में यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की साख की माँग को पूर्णतया पूरा नहीं करे वरन् इसका राशन कर दे या उधार दी जाने वाली रकम पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दे, तब बैंकों की ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाने से उनकी साख-निर्माण शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। केन्द्रीय बैंक की इस नीति को साख का राशनिंग कहते हैं। केन्द्रीय बैंक साख का राशनिंग तीन प्रकार से कर सकता है—(क) किसी बैंक की पुनः भुनाने की सुविधा बिल्कुल समाप्त करके या (ख) किसी बैंक की पुनः भुनाने की सीमा (Rediscounting Limit) पर बाधा (Restriction) लगाकर या (ग) विभिन्न बैंकों या विभिन्न व्यवसायों के लिये साख का अभ्यंश (Quota) निश्चित करके। अतः जब केन्द्रीय बैंक साख-राशनिंग की नीति अपना लेता है तब साख का विस्तार या संकुचन नहीं होने पाता है क्योंकि इसकी मात्रा तो पूर्व निश्चित होती है और कोई भी बैंक अपने निर्धारित कोटे से न तो कम और न अधिक साख-निर्माण कर सकता है। यह स्मरण रहे कि यद्यपि साख-राशनिंग की कटि-रीति बहुत प्रभावी होती है परन्तु केन्द्रीय बैंक को इस रीति को कार्यान्वित करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि उसे विभिन्न व्यवसायों की ऋण की आवश्यकताओं तथा इनसे सम्बन्धित साख के निर्माण का अनुमान लगाना पड़ता है और फिर इस अनुमान के आधार पर विभिन्न बैंकों के कोटे निर्धारित करने पड़ते हैं। केन्द्रीय बैंक ये कार्य बहुत आसानी से नहीं कर पाता है।

(३) सीधी कार्यवाही की रीति (Direct Action Method).—जब मुद्रा-बाजार की ऋणदाता संस्थाएं अथवा बैंक्स एक ऐसी नीति अपनाते हैं जो केन्द्रीय बैंक की घोषित नीति के विरुद्ध होती है, तब प्राय. केन्द्रीय बैंक ऐसी संस्थाओं के विरुद्ध प्रत्यक्ष व सीधी कार्यवाही की नीति अपनाता है। इस प्रत्यक्ष, सीधी व दबाव डालने वाली कार्यवाही के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक इन असहयोगी संस्थाओं की या तो हुंडियां व बिल्स भुनाना बन्द कर देता है या इन्हें कम कर देता है या कुछ विशेष प्रकार के ऋण-पत्रों को ही पुनः भुनाता (Rediscount) है या उन्हें सट्टे व्यवहारों (Speculative Activities) तथा अनावश्यक व्यवहारों के लिये कम मात्रा में ऋण देने के लिये आदेश दे देता है। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार के आदेश प्राय ऐसे समय में देता है जबकि वह साख संकुचन की आवश्यकता समझता है या वह यह महसूस करता है कि साख का उचित उपयोग नहीं हो रहा है या इसका प्रसार अपरिमित मात्रा में हो रहा है।

(४) नैतिक दबाव अथवा समझाने की रीति (Method of Moral Persuation):—यह भी एक सीधी कार्यवाही की नीति होती है। इस रीति का आधार यह है कि केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-बाजार में बहुत महत्व होता है और यह अन्य ऋणदाता

संस्थाओं का नेतृत्व करता है जिससे अन्य बैंकिंग संस्थाएं भी उसकी नीति को सफल बनाने के लिये उसको स्वच्छापूर्वक सहयोग देती हैं। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक इन संस्थाओं पर नैतिक दबाव डालकर, इन्हें समझा बुझाकर तथा इनसे प्रार्थना करके, उन्हें साख सम्बन्धी नीति को केन्द्रीय बैंक के अनुकूल बनाने के लिये प्राय बाध्य कर देता है। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से यह प्रार्थना किया करता है (उन पर वह नैतिक दबाव भी डाला करता है) कि वे सटोरियों (Speculators) को रुपया उधार देने के लिये उससे रुपया उधार नहीं मांगें या वह इनसे यह प्रार्थना किया करता है कि वे उससे अधिक मात्रा में साख नहीं मांगें। इस तरह नैतिक दबाव अथवा समझाने की रीति अपनाने से केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों का एच्छिक व सक्रिय सहयोग आसानी से प्राप्त हो जाता है और इनके इस सहयोग से केन्द्रीय बैंक अपनी साख व चलन प्रणाली के नियन्त्रण की नीति में भी आसानी से सफल हो जाता है। यह रीति इसलिये अच्छी मानी जाती है क्योंकि इसमें मित्रता के भाव से प्रार्थना की जाती है, बैंकों के सम्मुख उनकी नीति के दुष्परिणाम स्पष्ट कर दिये जाते हैं जिससे वे स्वत अपनी नीति में परिवर्तन कर देते हैं तथा यह एक व्यक्तिगत पहुँच (Personal Approach) की रीति है परन्तु इस रीति का यह दोष है कि इसको केवल उसी दशा में सफलता मिल सकती है जहाँ पर बैंक व अन्य ऋणदाता संस्थाएं बहुत थोड़ी सी संख्या में हैं। ऐसे देश में जहा ये संस्थाएं बहुत अधिक संख्या में होती हैं इनका और केन्द्रीय बैंक का सम्बन्ध घनिष्ट नहीं हो सकता है जिससे देश में केन्द्रीय बैंक की नैतिक दबाव व समझाने की रीति अधिक प्रभावी नहीं हो सकती है।

(५) विज्ञापन तथा प्रचार की रीति (Method of Publicity) —यह भी एक प्रकार की समझाने की ही रीति है। इस नीति का आधार यह विचार है कि किसी भी नीति को तब ही सफल बनाया जा सकता है जबकि उसके पक्ष में एक प्रभाविक जनमत (Effective Public Opinion) तैयार कर दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक प्रचार एवं विज्ञापन द्वारा अपनी नीति के प्रति इस प्रकार का जनमत तैयार करने का प्रयत्न किया करता है। इसलिये वह समय समय पर मुद्रा बाजार की दशा का पुनर्विचार (Review) तथा व्यवसाय, उद्योग, व्यापार आयात निर्यात व राजस्व सम्बन्धी आंकड़े व विवरण प्रकाशित करके भी मुद्रा बाजार पर अपना प्रभाव स्थापित किया करती है। इस प्रकार की सूचनाएँ प्रकाशित करके केन्द्रीय बैंक यह दिखाने का प्रयत्न किया करता है कि देश के आर्थिक हित में कौन कौन सी नीति अधिक उपयुक्त है तथा कौन कौन सी ऋणदाता संस्थाएं एवं बैंक्स उक्त नीति का पालन कर रहे हैं और कौन कौन सी संस्थाएं उक्त नीति का पालन नहीं कर रही हैं। साख नियन्त्रण के लिए इस रीति का उपयोग अमरिका और जर्मनी में बहुत अधिक हुआ है और कभी कभी कुछ मनुष्यों ने यह तक महसूस किया है कि इस प्रकार के विज्ञापन एवं प्रचार में बहुत सा रुपया बेकार में व्यय किया जाता है। आजकल इस रीति का प्रयोग काफी विस्तार से प्रत्येक देश में किया जाता है।

(६) उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer Credit) —

द्वितीय महायुद्ध काल में सर्वप्रथम अमेरिका ने इस रीति का उपयोग किया था, परन्तु आजकल लगभग सब ही देशों में यह साख नियन्त्रण की एक बहुत लाभदायक प्रणाली बन गई है। इस प्रणाली मे केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह ऐसे नियम बनाए कि इनके आधार पर उपभोक्ताओं को थोड़ा थोड़ा करके साख सुविधाएं प्राप्त हो जायें। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रत्येक ऋण का कुछ भाग नकदी के रूप में देना पड़ता है जिससे साख निर्माण एक निश्चित सीमा से अधिक नही होने पाता है। उदाहरण के लिये, कनाडा में इस प्रकार की किश्त-साख पर एक ऐसा नियन्त्रण लगाया गया था कि इसके अन्तर्गत अधिकतम टिकाऊ उपयोग्य माल (Durable Consumer's Goods) के क्रय मूल्य का २०% नकद रूप में दिया जाता था और इसकी अवधि १८ महीनों तक सीमित थी।

(७) प्रतिभूति ऋणों की सीमा-आवश्यकता में परिवर्तन (Changes in Margin Requirements on Security Loans).—इस प्रणाली का भी उपयोग सर्वप्रथम अमेरिका मे हुआ है। इस रीति का मुख्य उद्देश्य केन्द्रीय बैंको को प्रतिभूतियो में सट्टे के लिए प्रयोग की जाने वाली साख की राशि पर नियन्त्रण करने मे सहायता देना होता है। प्रत्येक बैंक प्रतिभूतियों (Securities) में सट्टे-व्यवहारो के लिये सटोरियों को ऋण दिया करता है। ताकि इस प्रकार के व्यवहारों को एक सीमित मात्रा में ही ऋण एवं साख मिल सके, इसलिये केन्द्रीय बैंको को व्यापारिक बैंकों द्वारा उक्त कार्यों के लिये दिये जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध मे, नियम बनाने के अधिकार दिये गये हैं। इस तरह उक्त रीति का प्रयोग मुख्यतः सट्टे-व्यवहारो के लिये दी जाने वाली साख पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये ही किया जाता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को समय-समय पर यह आदेश दिया करता है कि वे प्रतिभूतियो मे सट्टे व्यवहारों के लिये दिये जाने वाले ऋण के लिए कितनी सीमा (Margin) रक्खें ताकि बैंकों को ऐसे ऋणों में जोखिम नही होने पाये। केन्द्रीय बैंक ऋणो की सीमा-आवश्यकता (Margin Requirements) मे समय-समय पर परिवर्तन करके ऐसे कार्यों के लिये साख के अत्यधिक प्रयोग पर रोक लगा देता है ताकि ऐसे कार्यों के लिए एक नियन्त्रित मात्रा में ही साख मिल सके। अनुभव से पता चला है कि प्रतिभूतियो में सट्टे पर प्रतिबन्ध लगाने की उक्त रीति बहुत प्रभावोत्पादक होती है।

सारांश:—उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साख नियन्त्रण की अनेक रीतियां हैं जिनका प्रयोग करके केन्द्रीय बैंक देश में साख का प्रसार व संकुचन करता है। केन्द्रीय बैंक के लिये यह अनिवार्य नही है कि वह केवल एक रीति को ही अपनाये अपितु अनुभव से यह भी पता चला है कि यदि केन्द्रीय बैंक केवल एक रीति को अपनाता है, तब उसकी साख-नियन्त्रण की नीति अधिक प्रभावशाली नही होती। उक्त रीतियों में से कुछ तो ऐसी हैं जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष व तुरन्त प्रकट हो जाता है और कुछ ऐसी हैं जो अत्यधिक कठोर तथा दृढ़ हैं और जिनका प्रभाव परोक्ष व दीर्घकाल में दृष्टिगोचर होता है। तब एक केन्द्रीय बैंक को कौन-सी रीति या रीतियां अपनानी चाहियें? केन्द्रीय बैंक का साख-नियन्त्रण की रीति के सम्बन्ध में निर्णय बहुत कुछ देश की आर्थिक व्यवस्था

पर निर्भर रहता है। सच तो यह है कि प्राय उल्लिखित तमाम विधियों का आवश्यकतानुसार समुचित व सन्तुलित प्रयोग करने पर ही केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियन्त्रण की नीति मे सफल होने पाता है।

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व तथा प्रबन्ध
(Ownership and Management of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व तथा प्रबन्ध के सम्बन्ध मे मतभेद (Difference of Opinion regarding the Ownership and Management of the Central Bank) —मौद्रिक इतिहास से ऐसा कोई भी उदाहरण नही मिलता है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि किसी भी देश मे केन्द्रीय बैंक पूर्णतया स्वतन्त्र रहा हो अर्थात् प्रत्येक काल मे केन्द्रीय बैंक पर सरकार का किसी न किसी प्रकार से कम-अधिक मात्रा में नियन्त्रण अवश्य रहा है। केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न भी सरकारी नियन्त्रण से सम्बन्धित है। जो व्यक्ति केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता के पक्ष में हैं, वे इसे या तो व्यक्तिगत (Private) या व्यापारिक बैंकों के स्वामित्व मे रखना चाहते हैं। उन्नीसवी शताब्दी मे केन्द्रीय बैंकिंग विज्ञान का जन्म होते समय सभी अर्थशास्त्री प्राइवेट (Private) केन्द्रीय बैंकों के पक्ष मे थे और इनका यह मत था कि इन बैंकों पर किसी भी प्रकार राज्य का नियन्त्रण नही होना चाहिये। इन्होने इसका कारण यह बताया कि यदि केन्द्रीय बैंको पर राज्य का नियन्त्रण हो गया तब इनका राजनैतिक शोषण होगा तथा ये सरकार की मनमानी वित्त सम्बन्धी नीति का साधन बन जायगे। इसलिए आरम्भ मे जितने केन्द्रीय बैंक स्थापित हुए, वे सब व्यक्तिगत हिस्सेदारो (Shareholders) के बैंक थे। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व के पक्ष मे हैं। इसलिए जिन देशों में इस विचारधारा को अधिक बल मिला है, वहा पर केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण हो गया है। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों के विचार से केन्द्रीय बैंक के सफल सचालन के लिए राजकीय नियन्त्रण एव निर्देशन अत्यावश्यक है। इसके कई कारण हैं—(अ) विदेशी भुगतानों को अदा करने का सरकार पर बढा हुआ उत्तरदायित्व, (आ) सरकार की युद्धकालीन बढती हुई आर्थिक आवश्यकताएँ, (इ) मुद्रा-बाजार की बढती हुई साख की माँग, (ई) सरकार का साख, व्यापार, रोजगार तथा उत्पत्ति आदि के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे उत्तरदायित्व, (उ) आर्थिक मामलो मे सरकार का बढता हुआ हस्तक्षेप, (ऊ) देशो मे प्रबन्धित पत्र मुद्रा-मान (*Managed Paper Currency Standard*) तथा (ए) केन्द्रीय बैंक को नोटों के प्रचलन से प्राप्त लाभ। अत इन सब कारणो से आज केन्द्रीय बैंक की मुद्रा नीतियों तथा उनके प्रबन्ध मे सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन किया जाता है।

श्री डी-कोक (De-Cock) ने केन्द्रीय बैंकों को उनके स्वामित्व के अनुसार सात भागो मे बाँटा है—*(i) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी कुल पूँजी सरकारी है।* (ii) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी समस्त पूँजी साधारण व्यक्तिगत अशधारियो की है। (iii) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी समस्त पूँजी व्यापारिक बैंको द्वारा दी गई है। (iv) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी पूँजी सरकार तथा जन-साधारण दोनों ही द्वारा दी गई है। (v) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी पूँजी सरकार तथा व्यापारिक बैंको दोनो द्वारा दी गई है, जैसे

अरजेन्टाइना रिपब्लिक का केन्द्रीय बैंक। (vi) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी पूंजी सरकार, जन-साधारण तथा व्यापारिक बैंकों तीनों द्वारा दी गई है तथा (vii) ऐसा केन्द्रीय बैंक जिसकी पूंजी जन-साधारण और व्यापारिक बैंकों दोनों की है। इंगलैण्ड, फ्रांस, स्वीडन, कनेडा, भारत और एशिया के केन्द्रीय बैंक्स पूरे तौर से सरकार के स्वामित्व में हैं। इसके विपरीत जर्मनी, जापानी, नार्वे तथा हंगरी के केन्द्रीय बैंक्स व्यक्तिगत अंशधारियों (Private Shareholders) के स्वामित्व में हैं। परन्तु अमेरिका का फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) पूर्णरूप से व्यापारिक बैंकों के स्वामित्व में है। यह अवश्य है कि वर्तमान युग में बहुमत केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है। यह स्मरण रहे कि केन्द्रीय बैंकों का स्वामित्व तथा प्रबन्ध कभी-कभी साथ ही साथ नहीं भी रहता है क्योंकि बहुत से केन्द्रीय बैंक्स ऐसे हैं जिनके प्रबन्ध (Management) में तो सरकारें मुख्य भाग लेती हैं परन्तु इनके हिस्से निजी व्यापारियों के हाथ में होते हैं।

Nationalisation Recent

केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of the Central Bank)

प्राक्कथन:—प्रत्येक देश के सुव्यवस्थित आर्थिक जीवन के लिये वहां के केन्द्रीय बैंक का कार्य बहुत महत्वपूर्ण होता है। यह बैंक नोट-निर्गम (Note Issue) का कार्य करता है, साख का देशहित में नियन्त्रण करता है, यह सरकार व बैंकों का बैंक होता है तथा यह सरकार को समय-समय पर आर्थिक सलाह देता है। देश की आर्थिक स्थिति उन्नत व संगठित करने का दायित्व भी इसी बैंक पर होता है। चूंकि केन्द्रीय बैंक अनेक महत्वपूर्ण कार्य किया करता है, इसलिये इसका संचालन प्रायः विशेषज्ञों (Experts) द्वारा ही किया जाता है यद्यपि आज भी कुछ देशों में केन्द्रीय बैंक्स व्यक्तिगत हिस्सेदारों (Private Shareholders) के बैंक्स हैं, परन्तु वर्तमान युग में बहुमत केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में दलील :—(Arguments in Favour of Nationalisation):—राष्ट्रीयकरण के समर्थकों ने अपने मत का समर्थन इस प्रकार किया है :—
(i) केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक उपयोगिता की संस्था (Public Utility Concern) होती है, इसलिए इस पर सरकार का ही पूर्ण स्वामित्व होना चाहिए :— केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जिसे अपने कार्यों पर पूर्ण एकाधिकार प्राप्त होता है तथा इस पर देश के समुचित आर्थिक विकास का दायित्व होता है। ऐसी संस्था जन हित तथा देश-हित में तभी कार्य कर सकती है जबकि इस पर सरकार का पूर्ण स्वामित्व होता है।
(ii) लाभ का उपयोग राष्ट्र हित में हो सकता है — कुछ ऐसे केन्द्रीय बैंक्स भी हैं जो हिस्सेदारों (Shareholders) के बैंक्स हैं। केन्द्रीय बैंक यद्यपि जमाकर्ताओं (Depositors) को उनकी जमा पर कुछ भी ब्याज नहीं देता है, परन्तु फिर भी इसके पास एक बहुत बड़ी मात्रा में धन एकत्रित हो जाता है और वह इस धन का उपयोग करके बहुत बड़ी मात्रा में लाभ कमाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को अपने तरीके से अनेक प्रकार से लाभ प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय बैंक अपने लाभ का सरकार द्वारा सीमित

लाभांश (Dividend) अपने हिस्सेदारों को बाटता है और शेष सरकारी कोष में जमा कर देता है। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का मत है कि लाभ हिस्सेदारों में न बटकर यह समाज के हित में ही उपयोग में लाया जाना चाहिये और यह तब ही हो सकता है, जबकि बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनका मत है कि जब लाभ हिस्सेदारों को न्यूनतम दिया जाता है और वास्तव में केन्द्रीय बैंक एक सरकारी बैंक के रूप में कार्य करता है तब जो बात प्रयोग में है, उसे कानून का रूप दे देना ही अच्छा है। (iii) बैंक के कार्यों में क्षमता आ जाती है —केन्द्रीय बैंक के अधिकांश कार्य ऐसे हैं जिन पर उसका एकाधिकार होता है। यदि यह बैंक पूर्णतया सरकारी प्रबन्ध व नियन्त्रण में आ जाय, तब तो यह बैंक अपना कार्य अधिक सुचारु रूप से कर सकेगा। अतः कार्यकुशलता की दृष्टि से भी केन्द्रीय बैंक पर सरकार का स्वामित्व आवश्यक है। (iv) केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का स्वभाव ऐसा है कि इन बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिये —प्रत्येक केन्द्रीय बैंक के अधिकांश कार्य ऐसे होते हैं जिनका सरकार से सम्बन्ध होता है, जैसे— सरकार की आय-व्यय की व्यवस्था करना, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना, मुद्रा व चलन की व्यवस्था करना आदि। ये सब ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं कि यदि इन्हें ठीक ठीक नहीं किया जाय, तब इससे राष्ट्र को भारी आर्थिक हानि हो सकती है। इसीलिये आजकल केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का पक्ष बहुत बलवती होता जा रहा है। अब तो समाजवाद के युग में केन्द्रीय बैंक ही नहीं वरन् अन्य सब प्रकार की बैंकिंग संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण की आवाज हर ओर सुनाई देती है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में दलीलें (Arguments against Nationalisation)— ये मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं —(i) बैंक का कार्य संचालन ठीक ठीक नहीं होता है — केन्द्रीय बैंक का कार्य इतना जटिल हो गया है कि यह केवल विशेषज्ञों द्वारा ही सुचारु रूप से किया जा सकता है। प्रजातन्त्र में जो भी मन्त्री चुनाव से राजस्व मन्त्री के पद को ग्रहण करता है, यह आवश्यक नहीं है, कि उसे बैंकिंग सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान हो जिसके परिणामस्वरूप उसे अपने स्थायी कर्मचारियों के हाथ में रहकर ही कार्य करना पड़ेगा। अतः यह सम्भव है कि बैंक का संचालन ठीक-ठीक नहीं होने पाये। परन्तु एक व्यक्तिगत अंशधारियों वाले केन्द्रीय बैंक में कार्य का संचालन एक ऐसे बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स द्वारा किया जाता है जो बैंकिंग के कार्य में बहुत दक्ष होते हैं। इसीलिये कुछ व्यक्तियों ने केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का बहुत विरोध किया है। (ii) सरकारी कर्मचारियों की अकुशलता —केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से बैंक पूर्णतया सरकारी कर्मचारियों के हाथ में आ जाता है। इन कर्मचारियों का पद स्थायी है तथा इनकी तरक्की प्रायः उनकी नौकरी की अवधि के अनुसार होती है, चाहे वे अपने कार्य में कम-अधिक अकुशल भी क्यों न हों। परिणामतः बैंक का काम कुशलतापूर्वक नहीं किया जाता है। परन्तु यदि बैंक हिस्सेदारों का रहता है, तब कर्मचारियों की तरक्की या इनकी नौकरी इनकी कार्य-कुशलता पर निर्भर रहती है जिससे वे मेहनत व बहुत सोच-विचार से बैंक का कार्य करते हैं। अतः जब केन्द्रीय बैंक व्यक्तिगत हाथों में रहता है तब यह व्यवसायिक सिद्धान्तों (Business Principles) का अच्छी प्रकार से पालन करता है और बैंक के कर्मचारी भी बहुत

कुशलता से कार्य करते हैं। *(iii) कार्यों में विलम्ब होने लगता है:*—केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक हो जाने पर इसके कार्यों मे विलम्ब (Red-Tapism) होने लगता है। यदि बैंक को किसी साधारण-सी बात के सम्बन्ध मे निर्णय लेना है, तब सम्बन्धित कागज एक विभाग से दूसरे विभाग तथा एक कर्मचारी से दूसरे कर्मचारी के हाथो में को निकलता है जिसमें स्वाभाविक ही अनावश्यक देरी होती है। परन्तु एक व्यक्तिगत हिस्सेदारों के केन्द्रीय बैंक में किसी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय अति शीघ्रता से ले लिया जाता है जिससे कार्यों में अनावश्यक विलम्ब नही होने पाता है। **(iv) राजनैतिक पार्टियों का प्रभाव:**—केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर देश की आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ निर्भर रहती है। राष्ट्रीयकरण में यह डर रहता है कि कही केन्द्रीय बैंक इन राजनैतिक पार्टियो के प्रभाव में आकर कार्य नहीं करने लगे।

सारांश:—केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे जो दलीलें दी गई हैं, ऐसा प्रतीत होता है, वे बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दी गई हैं। जिन देशो मे इन बैंको का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, वहाँ के अनुभव से पता चलता है कि देश की आर्थिक प्रगति के लिए इन बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो ही जाना चाहिये।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये और बताइये कि यह साख का नियन्त्रण—(क) बाजार में खुले रूप से कार्य करके तथा (ख) बैंक-दर के द्वारा किस प्रकार करता है? (१९५९) २. बैंक दर नीति पर नोट लिखिये। (१९५७ S) ३. केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं? मुद्रा और साख को यह बैंक किस प्रकार नियन्त्रित करता है, बतलाइये। (१९५८) ४. बैंक (अधिकोष) दर का मुद्रा-नीति में क्या महत्व है? ब्रिटिश बैंक दर ४½ से ५½ प्रतिशत क्यों बढ़ाया गया? (१९५७) 5. Write a note on—Open Market Operations. (1956 S) 6. What is meant by 'Cheap Money Policy'? Under what circums-tances is its adoption profitable? (1956) 7. Show how the Central Bank of a country controls credit? Point out the limitations on its power of controlling credit (1956) 8. Write a note on—Bank Rate. (1956, 1955 S) 9. What is the importance of open market operations in controlling credit? (1955 S) 10. Write a note on—The Clearing House System. (1955, 1954) 11. Write a note on—Central Bank. (1954) 12. Write a note on—Dear Money Vs. Cheap Money. (1954)

Agra University, B. Com.

१. 'अधिकोष-दर' की परिभाषा करिये। किसी देश के व्यापार एवं उद्योग को अधिकोष-दर-परिवर्तन किस प्रकार प्रभावित करते हैं? (१९५९ S, १९५७, १९५६) २. किसी केन्द्रीय अधिकोष के साख-नियन्त्रण के उद्देश्यों एव पद्धतियों (Objects and Methods) की विवेचना करिए। (१९५९) 3. Write a note on—Bank Rate. (1958, 1956, 1954) 4. What are the functions of a Central Bank? How does it control the volume of currency and credit? (1957)

Rajputana University, B. A. & B. Sc.

1. Write a note on—The Clearing House. (1955)

Rajputana University B Com

1 Write a note on—Bank Rate (1955) 2 Write a note on—Clearing House (1955, 1954) 3 Explain Bank Rate and discuss its effects on the external and the internal situations of a country Can it operate effectively in India ? (1954)

Sagar University, B A

१ केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं ? केन्द्रीय बैंक दूसरे व्यापारिक बैंकों को फेल होने से किस प्रकार बचाता है ? (१९५६) २. केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य बैंक के कार्यों में अन्तर समझाइये। (१९५७) 1 How does a Central Bank control the volume of currency and credit in a country ? (1958) 2 Write a note on—Clearing House System (1958, 1957)

Sagar University, B Com

१ केन्द्रीय अधिकोष देश की मुद्रा एवं साख नीति का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (१९५८) २. केन्द्रीय अधिकोष (Central Bank) के मुख्य कार्य क्या होते हैं ? केन्द्रीय अधिकोष व्यापारी अधिकोषों द्वारा निर्मित साख की राशि को कैसे नियन्त्रित करता है ? (१९५७) ३ नोट लिखिये—समाशोधन गृह (Clearing House)। (१९५७) ४. मुद्रा नीति के कौन कौन से मुख्य उद्देश्य हैं और इनमें से आप किन को अधिक मूलभूत समझते हैं ? (१९५५) ५ भारत जैसे कम विकसित मुद्रा-बाजार में केन्द्रीय बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये। (१९५५) ६ मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिये केन्द्रीय बैंक का खुले बाजार में प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना कहाँ तक प्रभावशाली होगा ? विवेचन कीजिये। (१९५५) ७ केन्द्रीय अधिकोष मुद्रा तथा साख के परिणाम को किस प्रकार नियन्त्रित करता है ? रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का यह नियन्त्रण कहाँ तक प्रभावशाली है ? इसकी विवेचना कीजिये। (१९५४)।

Jabalpur University, B A

१ केन्द्रीय अधिकोष (Central Bank) के मुख्य कार्य कौन से हैं ? (१९५९) २ संक्षेप में समझाइये—समाशोधन-गृह (Clearing House System)। (१९५९) ३. केन्द्रीय बैंक से आप क्या समझते हैं ? इसके द्वारा साख का नियन्त्रण किस प्रकार होता है ? (१९५८)।

Jabalpur University B Com

१ वाणिज्य-अधिकोषण तथा केन्द्रीय अधिकोषण में कैसी भिन्नता होती है ? प्रत्यय-परिमाण (Volume of Credit) पर केन्द्रीय अधिकोष किन किन रीतियों द्वारा नियन्त्रण रखता है ? (१९५८) २ नोट लिखिये — समाशोधन गृह (Clearing House) का शृंखलाबद्ध विकास। (१९५८)।

Vikram University, B A & B Sc

१ संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—समाशोधन समझौते। (१९५९)।

Vikram University B Com

1 Write a short note on—Clearing House (1959)

Allahabad University, B. A

१. केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक में क्या अन्तर है ? केन्द्रीय बैंक साख को

किस प्रकार नियन्त्रित करता है ? (१९५७) २. नोट लिखिए—बैंक दर। (१९५७)
3. What are the main functions of the Central Bank ? How does it co-ordinate currency and credit ? (1955)

Allahabad University, B. Com.

1. What is Bank Rate ? How does it influence other money rates ? Discuss with reference to India. (1957) 2 Write a note on—Open Market Operations. (1957) 3. Describe briefly the functions of the Central Bank as to (a) structure (b) Operation and (c) Supervision of the money market. How far has the Reserve Bank of India succeeded in integrating the banking system of the country. (1956) 4. Write a *note on—Clearing House System. (1956)*

Gorakhpur University, B. Com.

1. What are the weapons in the hands of a Central Bank to control volume of credit and currency in a country ? How far has the Reserve Bank of India's policy succeeded in checking the rise in the prices of certain commodities ? (Pt. II 1959)

Aligarh University, B. A.

1. Why it is necessary to control the commercial banking system ? How is this control exercised ? (1956)

Bihar University, B. A.

1. Discuss the various methods of credit control by Central Banks. (1959) 2. What are the functions of a central bank ? How does it control commercial banks ? (1958)

Bihar University, B. Com.

1. Give a short account of the various objectives of monetary policy. What should be, in your opinion, its true objective ? (1958) 2. Critically examine the "Variable Reserve Ratio" as a weapon of *credit control. Why has it been introduced in India ? Give reasons* for your answer. (1958)

Nagpur University, B. A.

१. सेन्ट्रल (Central केन्द्रीय) अधिकोष को प्रत्यय नियंत्रण (Credit Control) के कौन से साधन उपलब्ध हैं ? इसके कार्य और परिसीमाओं को समझाइये। (१९५८) २. समाशोधन-गृह (Clearing House) क्या होता है ? उसके क्या लाभ हैं ? (१९५९)।

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १:—(i) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि यह साख का नियन्त्रण—(क) बाजार में खुले रूप से कार्य करके तथा (ख) बैंक-दर के द्वारा, किस प्रकार करता है ? (Agra B. A. १९५९, Jabb. B. A १९५९, १९५८) (ii) केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं ? मुद्रा और साख को यह बैंक किस प्रकार नियन्त्रित करता है बतलाइये (Agra B. A. १९५८, Sagar B. Com. १९५८) (iii) किसी केन्द्रीय अधिकोष की साख-नियन्त्रण के उद्देश्यों एवं पद्धतियों (Objects & Methods) की विवेचना करिये (Agra, B. Com. १९५९, (iv) केन्द्रीय बैंक दूसरे

व्यापारिक बैंकों को फल होने से किस प्रकार बचाता है ? (Sagar, B. A १९५६, (v) केन्द्रीय अधिकोष व्यापारी अधिकोषों द्वारा निर्मित साख की राशि को कैसे नियन्त्रित करता है ? (Sagar, B Com १९५७) । (vi) Comment on the following statement—"The Central Bank has considerable powers over the size of its own assets and hence on the size of the Member Bank's cash reserves, and hence on the money supply of the public" What weapons are used by central banks to influence its member bank's investments (Patna B Com 1950) (vii) Point out the limitations on its power of controlling credit (Agra, B A 1956)

संकेत —उपरोक्त प्रश्नों मे ये बातें पूंछी गई हैं—केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं ? केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्य कौनसे हैं ? केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण के उद्देश्य क्या-क्या हैं ? केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा व्यापारिक बैंको द्वारा निर्मित साख की मात्रा को कैसे नियन्त्रित करता है या यह बैंक व्यापारिक बैंकों का किस प्रकार नियन्त्रण एव सचालन करता है ? साख नियन्त्रण शक्ति की कौन कौनसी सीमायें हैं ? केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों को फेल होने से कैसे बचाता है ? प्रथम भाग मे एक या दो परिभाषाओं के आधार पर केन्द्रीय बैंक का अर्थ स्पष्ट कीजिए और सक्षेप में बताइये कि विभिन्न राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना क्यों की गई है जैसे—साख निर्माण पर नियन्त्रण करने के हेतु, बैंकों को आर्थिक सहायता देने के हेतु तथा सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने के हेतु आदि (एक पृष्ठ) । द्वितीय भाग में केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों को बताइये, जैसे—नोटों का निर्गम तथा चलन-प्रणाली की व्यवस्था, सरकार का सलाहकार व बैंकर व एजेन्ट, बैंकों का बैंक (अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य, अन्य बैंकों के नकद कोष का कुछ भाग अपने पास रखना, समाशोधन-गृह का कार्य) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं व राष्ट्रीय कोष का सरक्षण, सूचनाओं व आकड़ों को एकत्रित करना व प्रकाशित करना, साख— नियन्त्रण (पाँच-छः पृष्ठ) यदि प्रश्न में केन्द्रीय बैंक के समस्त कार्य पूंछे गये हैं, तब साख नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य को सक्षेप में ही लिखना चाहिए । यदि प्रश्न में साख-नियन्त्रण के उद्देश्यों अथवा पद्धतियों को मूल रूप से पूँछा गया है, तब प्रश्न में पूंछी गई अन्य बातों को सक्षेप मे और साख नियन्त्रण के कार्य को विस्तार से पाँच छः पृष्ठों में लिखिये, जैसे साख-नियन्त्रण के उद्देश्य लिखिए (आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाना, विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता लाना, देश के उत्पादन व रोजगार में स्थायित्व लाना) साख नियन्त्रण की अनेक विधियाँ हैं— बैंक दर की नीति (इसका अर्थ, प्रभाव व सीमायें सक्षेप में लिखिये), खुले बाजार की क्रियायें (इसका अर्थ, प्रभाव व सीमायें सक्षेप में लिखिए) बैंकों की रक्षित निधि के अनुपात में परिवर्तन करना, साख का राशनिंग करना, सीधी कार्यवाही करना, नैतिक दबाव डालना विज्ञापन व प्रचार करना, उपभोक्ता साख का नियमन करना तथा ऋणों की सीमा आवश्यकता में परिवर्तन करना (पाँच छः पृष्ठ) । जब प्रश्न में साख नियन्त्रण की सीमायें मूल रूप से पूंछी जायें तब साख-नियन्त्रण की विधियों को सक्षेप में बताइये और बैंक-दर व खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाओं को विस्तार से बताइये—इसके अतिरिक्त यह बताइये कि केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण की नीति में तब ही सफल हो

सकता है जबकि मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों का केन्द्रीय बैंक से पूरा-पूरा सहयोग हो और उनकी प्रणाली एक समुचित बैंकिंग प्रणाली के रूप में हो आदि (तीन-चार पृष्ठ)। अतः केन्द्रीय बैंक अपनी साख-नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों द्वारा व्यापारिक बैंकों पर नियन्त्रण करता है (बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों को नियन्त्रित करने के जो अन्य अधिकार दिये जाते हैं उन्हें भी लिखिए—जैसे नई शाखाओं को खोलने पर नियन्त्रण, हिसाब-किताबों की जाँच, बैंकों को मिला देने का अधिकार, अनेक प्रकार के विवरण मँगाना और उनको आदेश जारी करना आदि) और इन्हीं रीतियों द्वारा व्यापारिक बैंकों की साख-सृजन शक्ति नियन्त्रित होती है। जब प्रश्न में यह पूँछा जाय कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को फेल होने से कैसे बचाता है तब केन्द्रीय बैंक एक अन्तिम ऋणदाता के रूप में जो कार्य करता है उन्हें विस्तार से लिखिये।

प्रश्न २—(i) अधिकोष-दर (बैंक-दर) को परिभाषा करिये। किसी देश के व्यापार एवं उद्योग को अधिकोष-दर परिवर्तन किस प्रकार प्रभावित करते हैं (Agra B. Com.) १९५६, १९५७, १९५९), (ii) बैंक-दर का मुद्रा-नीति में क्या महत्व है ? ब्रिटिश बैंक दर ४½ प्रतिशत से ५½ प्रतिशत क्यों बढ़ाया गया ? (Agra B. A १९५७) (iii) Explain Bank Rate and discuss its effects on the external and the internal situations of a country. Can it operate effectively in India ? (Raj, B. Com 1954), (iv) What is Bank Rate ? How does it influence other money rates ? Discuss with reference to India (Allahabad, B Com. 1957) (v) "*The Bank Rate is designed to control and regulate the economic activities in a country.*" Discuss briefly the important views as to how it works and say how far it is successful in India (Bihar, B. Com. 1954). (vi) *Examine the influence of the bank rate on the foreign exchange* market. In what manner does it influence the balance of trade ? (Patna, B. Com. 1951.)

संकेत—उपरोक्त प्रश्नों में पाँच बातें पूँछी गई हैं—बैंक-दर की परिभाषा, बैंक-दर का अन्य दरों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? बैंक-दर परिवर्तन का देश के व्यापार व उद्योग (देश की आर्थिक क्रियायें) पर क्या प्रभाव पड़ते हैं अथवा बैंक-दर का देश की बाह्य-स्थिति (विदेशी विनिमय बाजार) पर क्या प्रभाव पड़ता अथवा इसका व्यापार के सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? बैंक-दर का देश की मुद्रा नीति में क्या महत्व है ? भारत में बैंक-दर नीति की क्या सफलता रही है ? उत्तर के प्रारम्भ में दो-चार वाक्यों में परिचय स्वरूप लिखिये कि केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों में साख-नियन्त्रण का कार्य एक महत्वपूर्ण कार्य है ताकि देश में आन्तरिक मूल्य में स्थिरता आये, विदेशी विनिमय की दर में स्थैर्य आये तथा देश में रोजगार व उत्पादन में स्थायित्व आये, कि साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों में बैंक-दर की नीति भी एक महत्वपूर्ण नीति है। तद्पश्चात् बैंक दर नीति का अर्थ बताइये (एक पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि बैंक-दर में परिवर्तन का मुद्रा-बाजार का अन्य दरों में परिवर्तन से क्या सम्बन्ध है ? यह स्पष्ट कीजिये कि बैंक-दर नीति इस तथ्य पर आधारित है कि जब बैंक-दर में वृद्धि-कमी होती है तब बाजार-दर (इसका अर्थ भी समझाइये) तथा

मुद्रा-बाजार की अन्य दरों में भी उसी दशा मे परिवर्तन होते हैं, परन्तु यह तब ही होता है जबकि द्रव्य-बाजार विकसित व सुसंगठित होता है (आधा पृष्ठ)। तृतीय भाग में बताइये कि बैंक-दर मे परिवर्तन का देश के व्यापार उद्योग (देश की आर्थिक क्रियायें) व्यापार का सन्तुलन तथा विनिमय की दर पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ?—कि बैंक दर के बढ़ने से अन्य दरें बढ़ती हैं जिससे व्यापारियो व उत्पादकों द्वारा मुद्रा की माँग कम हो जाती है (इतनी ऊँची ब्याज की दर पर रुपया उधार लेकर इसका विनियोग करना वे लाभप्रद नहीं समझते हैं), व्यापार-उद्योग शिथिल पड़ जाते हैं। आन्तरिक मूल्य-स्तर व मजदूरी कम हो जाती है, बेरोजगारी के फैलने का भय उत्पन्न हो जाता है। साख-संकुचन के समस्त प्रभाव प्रतीत होने लगते हैं, कि बैंक-दर के घटने से उक्त के विपरीत प्रभाव पड़ते हैं, मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न होती है और व्यापार-उद्योगों के विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ते हैं (उदाहरण सहित विस्तार से स्पष्ट कीजिये) इसी तरह यह बताइये कि बैंक-दर मे परिवर्तन का विनिमय-दर व व्यापार के सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ?—बैंक-दर के बढ़ जाने से, क्योंकि मुद्रा-बाजार की अन्य दरों म भी वृद्धि हो जाती है, इसलिये विदेशी पूँजी का आयात होने लगता है, फलत विनिमय की दर देश मे पक्ष मे अथवा अनुकूल हो जाती है। परन्तु बैंक दर के कम हो जाने पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं, विनिमय की दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इसी तरह बैंक दर के बढ़ने पर, चूँकि मूल्य स्तर नीचे होने लगते हैं इसीलिये आयात हतोत्साहित व निर्यात प्रोत्साहित होती है, व्यापार-सन्तुलन म देश के पक्ष म होने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है। इसके विपरीत बैंक-दर कम होने पर मूल्य स्तर में ऊँचे हो जाने की प्रवृत्ति हो जाती है, निर्यात हतोत्साहित व आयात प्रोत्साहित होती है जिससे व्यापार-सन्तुलन देश के विपक्ष में हो जाने की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है (उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये) (चार-पाँच पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में बताइये कि किसी देश की मुद्रा-नीति मे बैंक-दर का क्या महत्व है ? मुद्रा नीति का अर्थ बताइये कि किसी विशेष समय पर, विशेष परिस्थितियों मे केन्द्रीय बैंक विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये मुद्रा प्रसार व संकुचन किया करता है. किसी निश्चित मुद्रा-नीति को कार्यान्वित करने के लिये केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण की अनेक रीतियाँ अपनाता है और उनम से एक बैंक-दर नीति भी है—यह बताइये कि बैंक-दर नीति अथवा बैंक-दर मे कमी या वृद्धि किन-किन परिस्थितियों में की जाती है और इस तरह इस नीति का देश की मुद्रा नीति मे महत्व सिद्ध हो जाता है. (दो-ढाई पृष्ठ) पाँचवें भाग में बैंक दर नीति की भारत में सफलता को बताइये—यह बताइये कि अन्य देशों में बैंक दर नीति तो बहुत समय से सफलतापूर्वक कार्य कर रही है, परन्तु भारत वर्ष मे सन् १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद ही अपनाई गई, कि द्वितीय युद्ध में खुले बाजार की क्रियाओं का महत्व कम हो जाने से बैंक दर नीति का महत्व बढ़ा और तब से आज तक (विशेषतया अवमूल्यन के बाद) यही स्थिति है, कि सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के बनने से पूर्व तो भारतीय मुद्रा-बाजार बहुत ही अस्त व्यस्त व पिछड़ी दशा में था जिसके कारण केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति (बैंक दर अथवा खुले बाजार की क्रियायें) का सारे मौद्रिक जगत अथवा साख-संस्थाओं पर अधिक प्रभाव

नहीं पड़ने पाता था, कि देशी बैंकर आज में संगठित मुद्रा-बाजार से बाहर हैं और ये देश की साख की आवश्यकता की भी बहुत अधिक मात्रा में पूर्ति करते हैं, इन पर केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर नीति का आज भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि प्रथम तो ये सुसंगठित संस्थाओं के रूप में कार्य नहीं करते और फिर इनका मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाओं से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता है, कि भारत में व्यवस्थित बिल बाजार का भी अभाव है, यद्यपि १९४९ के एक्ट से स्थिति में सुधार अवश्य हुआ है, केन्द्रीय बैंक का संगठित साख-संस्थाओं पर नियन्त्रण बढ़ गया है, उसके कारण देश में व्यवस्थित बिल-बाजार अथवा मुद्रा बाजार की रचना करने के प्रयत्न जारी हैं (उदाहरण दीजिये) निष्कर्ष के रूप में लिखिये कि यद्यपि अभी तक केन्द्रीय बैंक को अपनी बैंक-दर-नीति में (अनेक उल्लिखित कारणों द्वारा) विशेष सफलता नहीं मिली है, तथापि देश में बैंकिंग का जैसे-जैसे विकास व गठन व रिजर्व बैंक का इस पर नियन्त्रण होता जा रहा है, वैसे ही वैसे रिजर्व बैंक की बैंक-दर द्वारा साख-नियन्त्रण नीति भी सफल होती जा रही है और भविष्य में अन्य रीतियों के साथ ही साथ इस नीति द्वारा भी साख-नियन्त्रण करने में पूर्ण सफलता मिल सकेगी (दो-ढाई पृष्ठ)।

भारत में बैंक-दर-नीति की सफलता-असफलता की जानकारी के लिये "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया" नामक अध्याय पढ़िये।

Q 3—(i) What is the importance of Open Market Operations in controlling credit? (Agra, B. A. 1955), (ii) Examine carefully the importance of Open Market Operations as an instrument of Central Banking Policy. (Patna B. Com. 1950)

संकेत—उत्तर के आरम्भ में परिचय स्वरूप केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण के कार्य के उद्देश्यों के बारे में लिखिये—इनकी आवश्यकता, उद्देश्य तथा संक्षेप में महत्व बताइये। तद्पश्चात् बताइये कि केन्द्रीय-बैंक की साख-नियन्त्रण की अनेक रीतियों में से खुले बाजार की क्रियाओं को करने की भी एक महत्वपूर्ण रीति है कि इसका अधिक प्रयोग प्रथम युद्ध के बाद ही हुआ क्योंकि युद्ध से पहले न तो ऋण-पत्रों की इतनी भरमार थी, न केन्द्रीय बैंक को ही मौद्रिक जगत में हस्तक्षेप करने की बहुत आवश्यकता थी, परन्तु युद्ध-काल में परिवर्तन हो जाने के कारण केन्द्रीय बैंक के लिए आर्थिक जगत में सक्रिय रूप में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया, सन् १९३१ में स्वर्ण-मान के टूट जाने पर बैंक-दर का महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया और इस कारण खुले बाजार की रीति का महत्व बढ़ा। (आधा पृष्ठ) द्वितीय भाग में खुले बाजार को की क्रियाओं का अर्थ बताइये तथा यह स्पष्ट कीजिये की केन्द्रीय बैंक इस रीति को अपना कर साख व चलन-प्रणाली को किस प्रकार प्रभावित एवं नियन्त्रित करता है (*इस रीति का कार्य-संचालन लिखिये*)—फिर यह बताइये कि इस रीति को किन परिस्थितियों में अपनाया जाता है और यह भी लिखिये कि दिन-प्रति-दिन खुले बाजार की क्रियाओं का महत्व क्यों बढ़ता जा रहा है। क्योंकि यह रीति दृढ़, प्रत्यक्ष व चपल है, क्योंकि इस रीति में स्वतन्त्र कार्य-शीलता है, क्योंकि यह बैंक-दर की क्रिया के एक पूरक के रूप में कार्य करती है आदि। (तीन-चार पृष्ठ) चूंकि उक्त प्रश्नों में केवल इस रीति के महत्व को पूछा है, इसलिये इस रीति की सीमाओं को लिखना अनावश्यक है।

प्रश्न ४—(1) केन्द्रीय अधिकोष मुद्रा और साख के परिमाण को किस प्रकार नियन्त्रित करता है ? रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया का यह नियन्त्रण कहाँ तक प्रभावशाली है ? इसकी विवेचना कीजिये।

(Gorakhpur, B Com 1959, Sagar, B Com 1954)

संकेत—उत्तर के आरम्भ में केन्द्रीय बैंक का अर्थ बताइये—फिर यह लिखिये कि इसके अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं (बताइये) और इनमें से साख व मुद्रा का नियन्त्रण करना भी है—मुद्रा नियन्त्रण के कार्य को लिखकर, विस्तार से साख-नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को लिखिये (विशेषकर बैंक दर व खुले बाजार की क्रियायें) प्रत्येक रीति को लिखते समय रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया से उदाहरण दीजिये (पाँच-छः पृष्ठ)। अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखिये कि सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के बन जाने के बाद मुद्रा बाजार की परिस्थितियों तथा रिजर्व बैंक के अधिकारों में मूलभूत परिवर्तन हुये हैं (संक्षेप में बताइये उक्त एक्ट की मुख्य बातें) जिससे यद्यपि सन् १९४९ से पहले रिजर्व बैंक को मुद्रा व साख के नियन्त्रण में विशेष सफलता नहीं मिली थी, परन्तु अब यह बैंक अपने साख-नियन्त्रण के कार्य में सप्रभावी सिद्ध होता जा रहा है। (रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया नामक अध्याय में उसके साख नियन्त्रण कार्य की विवेचना विस्तार से लिखी गई है, इस अध्याय को पढ़िये।

अध्याय १४

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(The International Monetary Fund)

प्राक्कथन—सन् १९३१ में सर्वप्रथम इंगलैंड ने और तत्पश्चात् अन्य देशों ने स्वर्ण-मान को त्याग दिया। जब तक विभिन्न देश स्वर्ण मान पर रहे, इनके बीच विनिमय दर में परिवर्तन बहुत थोड़ा व अल्पकालीन हुआ करता था। ("विदेशी विनिमय" नामक अध्याय पढ़िये)। यह हम जानते ही हैं कि जब किसी देश की विदेशी विनिमय दर में अधिक स्थिरता रहती है, तब विदेशी व्यापार तथा विभिन्न देशों के बीच विनियोग (Investment) के लिए पूँजी का आवागमन बहुत सुगमता से हो जाता है। जब तक संसार में स्वर्ण-मान रहा तब तक इसी प्रकार की दशाएं पाई गईं। परन्तु जब परिस्थिति-वश सन् १९३१ में विभिन्न देशों को स्वर्ण मान त्यागना पड़ा और इन्हें अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का कम अधिक मात्रा में प्रचलन करना पड़ा, तब विभिन्न देशों के बीच विनिमय दर (Rate of Exchange) में अत्यधिक अस्थिरता (Instability) उत्पन्न हो गई जिससे अधिकांश देशों को विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control) की नीति अपनानी पड़ी। इस नियन्त्रण का परिणाम यह हुआ कि विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए अब स्वर्ण मान वाली स्वतन्त्रता नहीं रही जिससे विदेशी व्यापार में अनेक

बाधाएँ एवं असुविधाएँ उत्पन्न हो गईं और शनैः शनैः विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत घट गई। अत्यधिक अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलन के कारण मूल्यों में उथल-पुथल हो गई और इसके परिणामस्वरूप न केवल विदेशी व्यापार में उलझनें उत्पन्न हो गई वरन् विभिन्न राष्ट्रों के आन्तरिक व्यापार मे भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। इस परिस्थिति मे प्रत्येक देश बिना किसी दूसरे देश के आर्थिक हितों का ध्यान दिये, अपने निज स्वार्थ मे आर्थिक नीति अपनाने लगा। यही कारण है कि इस काल में विनिमय नियन्त्रण की नीति प्रत्येक देश की आर्थिक नीति का आवश्यक अंग बन गई। कुछ राष्ट्रों ने इस विनिमय नियन्त्रण की नीति का दुरुपयोग किया, उन्होंने विनिमय अवमूल्यन (Exchange Devaluation) द्वारा अपनी निर्यात बढ़ाई और आयात को निरुत्साहित किया। जब कुछ देशों ने ऐसी घातक नीति अपनाई, तब इसके प्रतिक्रियास्वरूप अन्य राष्ट्रों ने या तो अपनी विनिमय दर को भी अधिक अवमूल्यित (Devalued) कर दिया या भारी आयात कर (Heavy Import Duties) लगाकर अपने देश के उद्योगों की रक्षा की। परिणामतः एक दूसरे की देखा-देखी सभी देश एक दूसरे का गला काटने के लिये सदैव तैयार रहते थे और उनमे विनिमय अवमूल्यन की होड़ (Competitive Exchange Devaluation) की भावना जाग्रत हो गई थी। इस प्रकार की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा विनिमय दर की अनिश्चितता और अस्थिरता के वातावरण से विदेशी व्यापार (International Trade), अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन तथा विनियोग के लिए पूँजी के आवागमन को बहुत धक्का पहुँचा और इस अनिश्चितता के वातावरण मे विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गई। इस दशा मे कुछ देशों ने *द्विपक्षी समझौतों (Bilateral Agreements)* द्वारा समान मूल्य की वस्तुओं की आयात-निर्यात की जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक देश की अन्य देशों से पृथक्-पृथक् विनिमय दर तय होने लगी। इस *आर्थिक निर्भरता के युग मे विनिमय दर की अस्थिरता के दुष्परिणामों को* भली प्रकार सोचा जा सकता है क्योंकि यदि किसी देश में बेरोजगारी फैली और मजदूरी कम हुई तब *अन्य दूसरे देश मे उपभोक्ता को उपभोग की वस्तुएँ कठिनाई से उपलब्ध हुईं।*

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या इन परिस्थितियों में स्वर्ण मान को दुबारा स्थापित किया जा सकता था? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। स्वर्ण मान को अब दुबारा स्थापित करना कठिन था। इसके कई कारण हैं:—(i) सन् १९३१ के पश्चात् प्रथम तो *विभिन्न देशों मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा इतनी अधिक मात्रा मे जारी की जा चुकी थी कि* इन्हें पूर्ण रूप से स्वर्ण की प्रतिनिधि (Fully Representative of Gold) बनाना कठिन था। (ii) स्वर्ण की स्वतन्त्र आयात-निर्यात समाप्त हो चुकी थी और इस ओर पुनः स्वतन्त्रता स्थापित करना कठिन था। (iii) *प्रत्येक देश स्वर्ण-मान को पुन. स्थापित* करने के लिए अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्य देशों के मूल्य-स्तर के अनुसार कायम रखने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि प्रथम तो ऐसा करना सम्भव नहीं था और फिर यदि ऐसा कर भी दिया जाता, तब इससे उनकी आन्तरिक आर्थिक दशा बहुत अस्त-व्यस्त हो जाती। (iv) विभिन्न देशों मे पत्र मुद्रा-मान Managed Paper Currency Standard) की स्थापना से वहाँ के केन्द्रीय बैंक देश की आर्थिक स्थिति का नियमन (Regulation) करने लगे थे, परन्तु स्वर्ण मान मे देश का केन्द्रीय बैंक आन्तरिक आर्थिक

स्थिति को अधिक नियन्त्रित नही करने पाता है क्योंकि इस मान मे देश की मुद्रा का परिमाण स्वर्ण की स्वतन्त्र आयात निर्यात पर निर्भर रहता है। अत इन सब कारणों से स्वर्ण मान (Gold Standard) को दुबारा स्थापित करना कठिन ही नहीं था वरन् यह असम्भव था। इसलिये परिस्थितिवश ऐसी योजना की आवश्यकता थी जिससे विभिन्न देशों को स्वर्ण मान के सब लाभ तो प्राप्त हो जायें परन्तु इसके दोष से ये बचे रह्।

द्वितीय महायुद्ध काल मे स्थिति और अधिक बिगड गई। युद्धकालीन कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रसार (War-Time Inflation) के कारण लगभग प्रत्येक देश में मुद्रा-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई, विनिमय दर में अत्यधिक अस्थिरता आ गई तथा मूल्य स्तरा मे बहुत वृद्धि हो गई। परिणामत विदेशी व्यापार मे अनेक बाधाएं पडने लगी और विभिन्न देशों के आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) का सचालन भी ठीक नहीं रहा। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था का बना रहना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से बडा घातक था। यू तो आरम्भ से ही कुछ देश अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की किसी योजना द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु द्वितीय महायुद्ध काल म इस ओर विशेष प्रयत्न किया गया। इसका कारण स्पष्ट है। युद्धकाल मे ही यह अनुमान लगाया जाने लगा था कि युद्ध के कारण विभिन्न देशों को अत्यधिक आर्थिक क्षति होगी और युद्धोत्तर काल (Post-war Period) में इन देशों के पुनर्निर्माण और विकास की ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी कि इनका हल बिना अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के सम्भव नही हो सकेगा। इसीलिये युद्धकाल म ही कई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनाओ का निर्माण किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व द्रव्य सम्बन्धी सहयोग, युद्धोत्तर काल मे विदशी व्यापार के विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो के समुचित प्रवाह के लिये, अप्रैल सन् १६४३ में दो योजनाए प्रकाशित की गई थी। इनमे प्रथम ब्रिटिश योजना थी जिसको कीन्स योजना (Keynes Plan) भी कहा जाता है। इस योजना मे एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सघ (International Clearing Union) स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। इस योजना के अनुसार एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब की मुद्रा 'बेंकोर' (Bancour) का निर्माण किया जायगा और इस मुद्रा का अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सघ की पुस्तकों के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय विषमता (Outstanding International Balances) की समस्या को सुलझाने के लिये यह सघ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का प्रचलन करेगा। इस मुद्रा के लिय ऋणी तथा ऋणदाता दोनों ही पक्षो को ब्याज का भुगतान करना पडेगा। अमरिका तथा अन्य कुछ देशों को यह प्रणाली पसन्द नहीं आई क्योंकि इसमें ऋणी तथा ऋणदाता दोनों ही पक्षो को ब्याज देना पडता है। दूसरी योजना डा० व्हाइट (White) द्वारा बनाई गई थी, इस "व्हाइट योजना" (White Plan) भी कहा गया है। डा० व्हाइट के अमेरिका निवासी होने के कारण इस योजना को "अमेरिकन योजना" भी कहा गया है। इस योजना में एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता कोष (International Stabilization Fund) की व्यवस्था की गई थी। चूकि ऋणदाता

देशों में अमेरिका का स्थान प्रमुख रहा है, इसलिये उसी की योजना कुछ संशोधन से स्वीकृत कर ली गई।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष
(International Monetary Fund)

कोष की स्थापना:—विनिमय-स्थैर्य, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास तथा अन्य मौद्रिक समस्याओं पर विचार करने के हेतु अमेरिकन सरकार ने जुलाई सन् १९४४ में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान (अमेरिका में) पर एक संयुक्त राष्ट्र संघ की मौद्रिक तथा आर्थिक परिषद (सम्मेलन) बुलाई। इस परिषद में ४४ मित्र राष्ट्रों ने अपने अपने प्रतिनिधि भेजे। जो योजना इस परिषद में ४४ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत की गई वह ब्रेटनवुड्स समझौते (Bretton Woods Agreement) के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। भारत ने भी सर जेरेमी रईसमैन (Sir Jeremy Raismen) के सभापतित्व में, जो उस समय की गवर्नर-जनरल की सभा के राजस्व सदस्य थे, एक मन्त्रि-मण्डल (Delegation) भेजा था। परिषद ने जिस योजना को स्वीकार किया उसके अन्तर्गत ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I. B. R. D.) का निर्माण किया गया है। इस बैंक को विश्व बैंक (World Bank) का नाम दिया गया है।

मुद्रा-कोष के उद्देश्य (Objects of Establishing the Fund):—कोष का निर्माण कई उद्देश्यों को लेकर किया गया है.—(i) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग.—एक स्थायी संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करना, इस सहयोग को प्रोत्साहन देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सहयोग तथा परामर्श से हल करना। (ii) विनिमय में स्थायित्व स्थापित करना:—चालू व्यवहारों (Current Transactions) के लिए राष्ट्रीय मुद्राओं को आवश्यकतानुसार एक दूसरे राष्ट्र की मुद्रा से परिवर्तित करना ताकि विदेशी विनिमय में स्थायित्व (Exchange Stability) स्थापित हो सके और स्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) की आवश्यकता ही नहीं रहे। इस तरह कोष का उद्देश्य सदस्यों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्थाओं को बनाए रखना होता है। अतः कोष का उद्देश्य सभासद राष्ट्रों की मुद्राओं के आन्तरिक मूल्य और विनिमय मूल्यों में स्थिरता कायम रखना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोष सदस्यों की मुद्राओं का स्वर्ण अथवा डालर मूल्य निश्चित करता है। सदस्य राष्ट्र इस दर पर आपस में या कोष से विदेशी मुद्राओं का या स्वर्ण का क्रय-विक्रय करते हैं। इसका यह भी परिणाम होता है कि राष्ट्रों में स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) नहीं होने पाता है। (iii) बहुपक्षी भुगतान व व्यापार की पद्धति स्थापित करना (*Multilateral System of Trade and Payments*)—कोष का उद्देश्य है द्विपक्षी समझौतों (Bilateral Agreements) के स्थान पर बहुपक्षी भुगतान व व्यापार की पद्धति की स्थापना में सहायक होना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोष सदस्य देशों द्वारा लगाए गये विदेशी व्यापार के विकास में बाधक होने वाले विनिमय नियन्त्रणों को हटाने का प्रयत्न किया करता है। (iv) विनिमय नियन्त्रणों को

हटवाने में सहायक होना —कोष का यह भी उद्देश्य होता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावटें डालने वाले विनिमय-नियन्त्रणों (Exchange Cootrols) को हटवाये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह कोष अपने सभासदों को दूसरे राष्ट्रों की मुद्राएँ उधार देता है या बेचता है ताकि विभिन्न राष्ट्रों को अपने विदेशी व्यापार मे या लेनी-देनी मे सन्तुलन प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो जाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई बाधा नही पडे। (v) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रों के सन्तुलित विकास मे सहायक होना —कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार को और राष्ट्रो के सतुलित आर्थिक विकास को सुविधाजनक बनाना है। इस प्रकार इसका उद्देश्य सभी सदस्य राष्ट्रो मे रोजगार व वास्तविक आय (Real Income) का ऊंचा स्तर कायम करना और इसे बनाए रखना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोष सदस्यो को दूसरे राष्ट्रों की मुद्राए उधार देता है या बेचता है ताकि ये अपनी भुगतान विषमताओ को दूर कर सकें। (vi) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर की विषमता को दूर करना —कोष का उद्देश्य सदस्यो के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाधिक्य के असन्तुलन (Disequilibrium in International Payments) की विषमता और इसकी अवधि को कम करना है। कोष सदस्यो को विदेशी मुद्राए देकर इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। (vii) लाभप्रद कार्यों के लिये पूँजी का विनियोजन करना —कोष का उद्देश्य एक देश से दूसरे देश मे दीर्घकालीन पूँजी को लाभप्रद कार्यों मे लगाने मे सहायता देना भी है। अत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-पद्धति को जन्म देना है जिसमें लोच हो तथा जो व्यवहारिक हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों मे अधिक स्थायित्व (Stability) ला सके तथा जो सदस्य राष्ट्रों की अल्पकालीन साख की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके अब तक के अनुभव से पता चला है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने उक्त उद्देश्यों की पूर्ति बहुत कुछ सफलता-पूर्वक की है।

कोष का कोटा (अभ्यंश) तथा पूँजी (Quotas and Capital of the Fund)—इस कोष की कुल पूँजी सन् १९५९ से पहले १०,००० मिलियन डोलर्स थी और इस पूँजी मे उस समय प्रत्येक देश का कोटा या अभ्यंश (Quota) निर्धारित किया गया था। कुछ मुख्य राष्ट्रों के कोटे मिलियन डालर मे इस प्रकार थे—अमेरिका २७५०, रूस १२००, चीन ५५०, फ्रास ४५०, भारत ४००, इगलैंड १३५०, कनाडा ३००, आस्ट्रेलिया २००, दक्षिणी भारत १००, ईरान १५, पाकिस्तान १०० आदि। अक्टूबर १९५८ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष व बैंक के गवर्नर्स की वार्षिक बैठक नई दिल्ली में हुई थी। इस बैठक मे दो महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये थे—(i) कोष तथा बैंक के साधनो मे वृद्धि की जाय तथा (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ (International Development Association) की स्थापना की जाय। कोष व बैंक के साधनों में वृद्धि का प्रस्ताव अमेरिका के प्रतिनिधि ने पेश किया था और यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया था। इस प्रस्ताव के द्वारा कोष के एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स (*Executive Directors*) को कोष के साधनों में वृद्धि करने व सदस्य देशों के कोटा बढाने का कार्य दे दिया गया था। इन डाईरेक्टर्स ने सब सदस्यो के कोटे (Quotas) में ५०% की वृद्धि की है। कुछ

देशों ने अपने कोटे से भी अधिक चन्दा देने का वचन दिया है। इनमें पश्चिमी जर्मनी, जापान, कनाडा आदि प्रमुख हैं। इस तरह कोष की पूँजी १०,००० मिलियन डालर से बढ़कर १५,००० *मिलियन डालर हो गई है। जब सब देशों के चन्दों का भुगतान पूर्ण*तया कर दिया जायगा, तब कोष का स्वर्ण-जमा २,३०० मिलियन डालर से बढ़कर ४,६०० *मिलियन डालर हो जायगा। कोष के साधनों में वृद्धि से बहुत अधिक लाभ इस* संस्था को ही हुआ है। अब इसकी शक्ति व कार्यक्षमता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। यह अपने कार्यों को अब पहले से बहुत अधिक सुगमता से कर सकेगा। विश्व व्यापार के लिये पहले से अधिक मात्रा में सहायता दी जा सकेगी तथा शोधनाशेष की कठिनाइयों को सरलता से दूर किया जा सकेगा। विभिन्न राष्ट्रों को अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा आदि।

रूस ने इस कोष की सदस्यता स्वीकार नहीं की है। जो देश मौद्रिक सम्मेलन में सम्मिलित नहीं हुये थे, उनको बाद में मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया था। ऐसे देशों का कोटा या चन्दा कोष निश्चित करता है। प्रत्येक ५ वर्ष बाद ⅘ बहुमत से कोष किसी भी देश का कोटा बदल सकता है, परन्तु इसके लिये सदस्य देश की अनुमति आवश्यक होती है। किसी सदस्य देश की प्रार्थना पर भी *कोटे की मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है। जिन देशों ने ब्रॅटनउड्स सम्मेलन में* भाग लिया था या जिन देशों ने ३१ दिसम्बर १९४५ से पहले कोष की सदस्यता स्वीकार करली थी, वे देश इस कोष के मौलिक सदस्य (Original Members) माने जाते हैं। भारत ने भी दिसम्बर १९४५ में इस कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। प्रत्येक देश को अपना कोटा (चन्दा) स्वर्ण में तथा अपने देश की मुद्रा में देना पड़ता है। स्वर्ण का भाग उस देश के कोटे का २५% या उस देश की कुल स्वर्ण-निधि एवं डालर-निधि दोनों (Net official Holdings of Gold and Dollars) का १०%- इन दोनों में जो भी कम हो—होता है और शेष भाग उस देश की मुद्राओं में या प्रतिभूतियों (Securities) में दिया जाता है। भारत ने भी कोष की सदस्यता स्वीकार करते समय अपने कोटे का १०% भाग स्वर्ण तथा डॉलर में और शेष भाग रुपयों में एवं रुपये की प्रतिज्ञा पत्र-पत्रों (Promissory Notes) में दिया था। इन प्रतिभूतियों पर भारत सरकार ब्याज नहीं देती है।

समता-दर का निर्धारण (Determination of Par Values of Currencies):—ब्रॅटनउड्स-समझौते का मुख्य उद्देश्य ही यह था कि सदस्य राष्ट्र आसानी से आपस में मुद्रा का विनिमय कर सकें, इसीलिये सबसे ज्यादा ध्यान विनिमय-दर के निर्धारण तथा इसके स्थायित्व पर ही दिया गया है। जब कोई राष्ट्र कोष का सदस्य बनता है, तब इसे कोष से डॉलर (इसका वजन व उत्तमता जो १ जुलाई सन् १९४४ को था) या सोने में अपनी मुद्रा की विनिमय-दर तय करनी पड़ती है। इस प्रकार प्रत्येक देश की मुद्रा का स्वर्ण में मूल्य निश्चित हो जाने के पश्चात् विनिमय-दरों के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं रहती है। अतः इस ब्रॅटनउड्स योजना के अनुसार स्वर्ण के द्वारा संसार के प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा के विनिमय की सम-मूल्य दर (Par Value) निश्चित

हो जाती है। किसी सदस्य द्वारा सोने के क्रय विक्रय के लिये कोष इस तुल्यता (Parity) से एक उच्चतम तथा निम्नतम सीमा (Upper and Lower Margin) तय कर देता है। कोई भी देश स्वर्ण का क्रय इस तुल्यता + (Plus) ऊपरी सीमा से अधिक पर या विक्रय तुल्यता — (Minus) निम्नतम सीमा से कम पर नहीं कर सकेगा। इस प्रकार प्रत्येक देश प्रतियोगी अवमूल्यन (Competitive Devaluation) की आवश्यकता को दूर करके विनिमय स्थैर्य (Exchange Stability) लाने तथा अन्य राष्ट्रों से व्यवस्थित विनिमय करने में सहयोग देगा। अतः कोष के निर्माण से विनिमय दर में स्थिरता आ जाती है।

प्रारम्भ में भारत ने रुपये का स्वर्ण मूल्य ० २६८६०१ ग्राम विशुद्ध स्वर्ण निश्चित किया था और डॉलर में रुपये का मूल्य ३० २५ सेन्ट निश्चित किया गया था। परन्तु १८ सितम्बर सन् १९३९ को रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee) हो जाने पर, रुपये का स्वर्ण मूल्य एवं डॉलर मूल्य क्रमशः ० १८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोना तथा २१ सेन्ट हो गया है।

समता दर में परिवर्तन (Changes in Par Values of Currencies) — स्वर्ण मान की तरह कोष विनिमय-दर को स्थूल (Rigid) नहीं बनाता है। इस समता-दर (विनिमय दर) में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हो सकता है। यदि किसी देश की विनिमय दर में एक आधारभूत असन्तुलन (Fundamental Disequilibrium) हो गया है, तब वह देश अपनी पूर्व निश्चित विनिमय दर को अर्थात् प्रारम्भिक सम-मूल्य को (Initial Par Value of its Currency) १० प्रतिशत कम या अधिक कर सकता है। ऐसा करने से पहले वह कोष से केवल परामर्श (Consultation) करेगा, परन्तु विनिमय-दर में परिवर्तन का यह कार्य कोष की बिना स्वीकृति के किया जा सकेगा और कोष ऐसा करने से मना भी नहीं करेगा। परन्तु यदि वह राष्ट्र इस सीमा से अधिक विनिमय दर में परिवर्तन करना चाहता है तब उसे कोष से स्वीकृति (Concurrence) लेनी पड़ेगी। जब कोई राष्ट्र इस १० प्रतिशत के अतिरिक्त १० प्रतिशत (१०% से अधिक और २०% से कम) विनिमय दर में परिवर्तन करने के लिये कोष से प्रार्थना करेगा तब कोष ७२ घण्टे के अन्तर ही अपना निर्णय (Concurrence or Objection) इस देश को सूचित कर देगा यदि कोई राष्ट्र विनिमय दर में इस सीमा से भी अधिक परिवर्तन चाहे (२०% से अधिक), तब कोष अधिक समय तक इस प्रार्थना पर विचार करके निर्णय देता है। कोष में किसी देश की विनिमय तुल्यता (Par Value) में परिवर्तन का निर्णय बहुमत (Majority Vote) से होगा। कोष का निर्माण करते समय सदस्य राष्ट्रों ने यह मान लिया था कि वे इस परिवर्तन की प्रार्थना केवल मौलिक असतुलन (Fundamental Disequilibrium) को ही ठीक करने के लिये करेंगे तथा कोष भी ऐसी परिस्थिति में ही इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेगा। अतः अब स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) की सम्भावना बहुत कम हो गई है। इस योजना का उद्देश्य ही यह है कि किसी देश की विनिमय दर में परिवर्तन केवल उसके आन्तरिक मूल्य और आमदनी के स्तर (Internal Price and

Income Level) के अनुसार ही हो। इसमें यकायक लाभ प्राप्ति या और किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिये परिवर्तन नहीं होना चाहिये। यदि किसी देश की विनिमय दर के परिवर्तन की प्रार्थना को कोष अस्वीकार कर दे, तब उस सदस्य को यह छूट है कि वह कोष को तुरन्त ही छोड़ सकता है। यदि किसी देश ने कोष की स्वीकृति के बिना ही विनिमय दर में परिवर्तन कर दिया है तब इसे कोष की सदस्यता से मिलने वाले लाभों से वंचित कर दिया जायगा और कुछ समय बाद इसे अनिवार्य ही कोष से हटना (Compulsory withdrawal from the Fund) पड़ेगा। कोष भी बहुमत से तथा कुल कोटे के १० या अधिक प्रतिशत वाले सदस्यों की स्वीकृति (Approval) से तमाम देशों की तुल्यताओं (Par Values) में आनुपातिक (Proportionate) परिवर्तन कर सकता है। परन्तु यदि किसी देश को इस प्रकार का परिवर्तन मान्य नहीं है तब वह कोष के इस प्रकार के निर्णय के ७२ घण्टे में कोष को अपनी अस्वीकृति सूचित कर सकता है जिससे उसकी मुद्रा की तुल्यता (Par Value of its Currency) में कोई परिवर्तन नहीं होगा। अतः इस कोष के निर्माण से विभिन्न देशों की विनिमय दर स्थिर रहती है तथा विशेष परिस्थितियों में इसमें परिवर्तन भी सम्भव है। परन्तु लेनी-देनी की बाकी (Balance of Payments) में समता लाने के लिए कोष सदस्य-देशों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि कोष ने विभिन्न राष्ट्रों को अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य घरेलू समस्याओं को सुलझाने के लिए समय-समय पर अपनी करेन्सी के सम-मूल्य (Par Value) में परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता दे रक्खी है। वास्तव में, कोष ने सदस्य राष्ट्रों के करेन्सी सम-मूल्य के परिवर्तन में कोई बाधा नहीं डाली है। भारत, इंगलैंड तथा कुछ अन्य देशों ने अपनी करेन्सी में १८ सितम्बर सन् १९४९ को ३०·५% अव-मूल्यन किया था और कोष ने इन्हें ऐसा करने के लिए स्वीकृति दे दी थी।

कोष का लेन-देन (Transactions of the Fund) :—कोष का मुख्य कार्य सदस्य-देशों की मुद्राओं को एक दूसरे के लिए क्रय-विक्रय करता है। सदस्य देश की माँग होने पर कोष उसकी मुद्रा व स्वर्ण के बदले किसी दूसरे देश की मुद्रा की व्यवस्था कर देता है। परन्तु इस लेन-देन के सम्बन्ध में एक शर्त है। किसी भी समय कोष के पास किसी एक सदस्य की मुद्रा की मात्रा इसके अभ्यंश (Quota) से २००% से अधिक नहीं होगी। मान लो, किसी देश का १०० मिलियन डॉलर का कोटा है जिसमें उसने २५ मिलियन डॉलर का सोना और ७५ मिलियन डॉलर की अपनी मुद्रा कोष को दी है। यदि यह देश किसी समय कोष से अपनी मुद्रा के बदले में किसी विदेश की मुद्रा की माँग करता है, तब यह इससे १२५ मिलियन डॉलर से अधिक की मुद्रा नहीं उधार ले सकेगा (२००—७५=१२५)। कोष द्वारा दी जाने वाली १२५ मिलियन डॉलर की विदेशी मुद्रा के लिए इसके पास इस देश की (१२५+७५=२००) मिलियन डॉलर की मुद्रा +२५ मिलियन डॉलर का स्वर्ण सिक्यूरिटी (Security) के रूप में जमा रहता है। उधार लेने वाले देश को यह लाभ है कि यह कोष के पास केवल २५ मिलियन डॉलर का स्वर्ण रखकर ही १२५ मिलियन डॉलर की विदेशी मुद्रा प्राप्त कर

सकता है। इसी लेन-देन के सम्बन्ध में एक शर्त और है— एक देश एक वर्ष में अपने कोटे का अधिक से अधिक २५% भाग ले सकता है। उक्त उदाहरण वाला देश एक वर्ष में अधिक से अधिक २५ मिलियन डॉलर की अपनी मुद्रा देकर विदेश की मुद्रा खरीद सकता है। यह बाधा इसलिए लगाई गई है ताकि कोष मे अल्प मुद्रायें (Scarce Currencies) शीघ्र ही समाप्त न हो सकें। यह अवश्य है कि कोष इन शर्तों को असाधारण परिस्थितियों में रद्द कर सकता है। यह ध्यान रहे कि कोष ने कुल ऋण और वार्षिक ऋण की सीमा इसलिए निश्चित की है ताकि सदस्य देश स्वयं अपनी स्थिति को सुधारें। इसलिए कोष से केवल अस्थाई सतुलन या चालू लेन-देन के खातों के लिए ही ऋण लिया जाता है। कोष के साधनों का प्रयोग पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिए नहीं हो सकता है। इस कोष की सहायता से एक ऋणी देश सोने की निर्यात और इससे उत्पन्न हुई अस्फीति से सुरक्षित रहता है।

ऋण पर ब्याज (Interest on Borrowings):—कोष ऋण पर ¾% सेवा व्यय (Service Charges) तथा कुछ ब्याज लेता है ताकि कोई सदस्य राष्ट्र बिना आवश्यकता अथवा बार-बार कोष से विदेशी विनिमय नहीं खरीदे, इसलिए ऐसी व्यवस्था की गई है कि जैसे-जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढ़ता जाता है, ऋणी राष्ट्र को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है। अतः ब्याज की दर ऋण की मात्रा व अवधि दोनों पर निर्भर है। प्राय यह ½% से २½% तक होती है। ऋण का शीघ्र भुगतान होने पर इसकी दर कम हो जाती है। कोष अल्पावधि ऋण के लिए ही है। ब्याज का भुगतान स्वर्ण मे किया जाता है ताकि सदस्य राष्ट्र कम से कम मात्रा में और कम से कम समय के लिए ऋण कोष से लें। कोष इस बात का सदा ध्यान रखता है कि उससे लिए गये ऋणों का उपयोग किसी ऐसे कार्य में नहीं होने पाये जो कोष के उद्देश्यों के विरुद्ध है।

अल्प मुद्राएँ (Scarce Currencies)—कोष का निर्माण करते समय ही इस बात का अनुमान लगाया गया था कि युद्धोत्तर काल में कुछ मुद्राएँ दुर्लभ (Scarce) हो जायेंगी और इसीलिए इस बात का भी अनुमान लगाया गया था कि यह सम्भव है कि कोष अपने निजी साधनों से ऐसी मुद्राओं की पूर्ति नहीं कर सके। अल्प मुद्रा किसे कहते हैं? कोष के पास प्रत्येक देश की मुद्रा एक सीमित मात्रा मे ही होती है। इसलिये जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि किसी देश की मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाय अर्थात् जब कभी कोष किसी मुद्रा की माँग को अपने साधनों से पूरा नहीं कर सके, तब कोष के विधान मे इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई है कि कोष इस प्रकार की मुद्रा को उस देश-विशेष से उधार ले सकता है और यदि यह मुद्रा उधार नहीं मिलती है तब वह उसे स्वर्ण के बदले मे खरीद सकता है। परन्तु यदि फिर भी इस मुद्रा की माँग की पूर्ण पूर्ति नहीं होने पाये, तब कोष सदस्य राष्ट्रों को मुद्रा-विशेष की दुर्लभता के कारणों को बताकर इसे दुर्लभ मुद्रा (Scarce Curreny) घोषित कर देगा। यह स्मरण रहे कि कोष किसी भी देश की मुद्रा उधार देने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है। जब कोष किसी मुद्रा-विशेष को दुर्लभ-मुद्रा घोषित कर देता है,

तब उसे इस मुद्रा का (जो उसके पास है या जो आने वाली है) राशनिंग (Rationing) करने का अधिकार मिल जाता है जिससे प्रत्येक देश को अमुक मुद्रा की मांग की पूर्ण पूर्ति नही हो सकेगी। इस दशा में ऋणी देशों को अल्प-मुद्रा वाले देश से आने वाली आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर शोधनाधिक्य मे संतुलन स्थापित करना पड़ेगा और अन्य सदस्य देशों को भी इस मुद्रा के भुगतान पर रुकावट या नियंत्रण करने की स्वतन्त्रता मिल जाती है।

कोष के साधनों की तरलता (Liquidity of Fund's Resources):—यह सम्भव है कि ऋणी देश अपनी मुद्रा के बदले में अल्प-मुद्रा यहाँ तक खरीदते चले जायं कि कोष के पास ऐसी मुद्राओं की पूर्ति तो बढ़ जाय जिनकी मांग नही है, परन्तु अल्प-मुद्रा लगभग समाप्त हो जाय। इस अवस्था मे कोष एक रक्षित-कोष (Reserve Fund) का कार्य करने मे असफल हो जायगा। साधनों में तरलता (Liquidity) कायम रखने के हेतु कोष की योजना मे तीन विशेष बातें हैं:—(i) यदि कोई सदस्य देश स्वर्ण के बदले किसी देश की मुद्रा खरीदना चाहता है, तब वह कोष को स्वर्ण बेचकर मुद्रा प्राप्त कर सकता है। (ii) यदि किसी देश की मुद्रा कोष के पास इसके कोटे से अधिक है, तब यह देश कोष से अपनी अतिरिक्त मुद्रा (Excess Currency) को स्वर्ण के बदले में पुनः खरीद सकता है। (iii) प्रत्येक सदस्य देश प्रति वर्ष स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा के बदले कोष के पास जितनी उसकी मुद्रा है उसका कुछ भाग पुनः खरीदेगा। इस प्रकार कोष [illegible] विधान में 'पुनः खरीदने' की धारा (Clause) से कोष के साधन तरल अवस्था में रह सकेंगे।

कोष का प्रबन्ध (Organisation and Management of the Fund):—कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors) मे प्रत्येक सदस्य देश द्वारा एक व्यक्ति ५ वर्ष के लिये नियुक्त किया जायगा जो पुनः नियुक्त किया जा सकता है। सदस्य देश एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate Governor) को भी ५ वर्ष के लिये नियुक्त करता है। इस बोर्ड की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होगी। दिन प्रति दिन का कार्य करने के लिये कम से कम १२ सदस्यों का एक संचालक मण्डल (Executive Directors) भी बनाया जायगा, इसमें ५ स्थायी सदस्य (Permanent Members) उन देशों के होंगे जिनके सबसे अधिक कोटे हैं (इस समय अमेरिका, इंगलैण्ड, चीन, भारत और फ्रांस के कोटे सबसे अधिक हैं। रूस ने कोष की सदस्यता स्वीकार नही की है इसलिये रूस के स्थान पर भारत को संचालक का स्थान मिल गया है), २ अमेरिका के अतिरिक्त अन्य अमरीकन गण राज्यों (American Republics) अर्थात् दक्षिणी अमेरिका द्वारा चुने जायेंगे और बाकी बचे ५ सदस्य अन्य राष्ट्रों द्वारा चुने जायेंगे। प्रत्येक डाइरेक्टर की सहायता के लिये एक असिस्टेण्ट डाइरेक्टर होता है जो अपने प्रधान की अनुपस्थिति में कार्य करता है।

कोष का ऑफिस तथा संग्रह स्थान (Office and Depositories of the Fund):—कोष का प्रधान ऑफिस उस राष्ट्र में स्थापित किया जायगा जिसका इस कोष में सबसे अधिक कोटा है (अमेरिका)। कोष के स्वर्ण का कम से कम ५० प्रतिशत भाग

ऐसे संग्रहस्थान (Depository) पर जमा होगा जो इस सदस्य ने कोष के ऑफिस को सूचित (Designate) कर रक्खा होगा और कम से कम बाकी ४०% उन अगले चार सदस्य देशों में रक्खा जायगा जिनके अधिकतम कोटे हैं।

कोष की आय का विभाजन (Distribution of Income)—कोष की आय में से प्रथम तो २% उन ऋणदाता देशों (Creditor Countries) को दिया जायगा जिनकी करेन्सी किसी वर्ष मे कोष के पास उनके कोटे के ७५% से कम रहती है। शेष आय सदस्यों को उनके कोटे (अभ्यंश) के अनुपात में विभाजित कर दी जाती है। लाभ का बटवारा सदस्य देशों की करेन्सियों में किया जाता है।

कोष की सदस्यता वापिस लेना (Withdrawal of the Membership from the Fund)—कोई भी सदस्य किसी भी समय लिखित मे कोष को सूचना देकर अपनी सदस्यता वापिस ले सकता है। यह वापसी उसी समय से मानी जायगी जब से कोष इस सूचना को प्राप्त करेगा।

परिवर्तन काल मे सुविधायें (Facilities during the Transitional Period)—ब्रेटनवुडस योजना में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रत्येक राष्ट्र परिवर्तनकाल में (यह युद्धोत्तरकाल है) अपने यहाँ लगाए गए विनिमय नियन्त्रणों को जारी रख सकेगा, परन्तु साथ ही साथ यह आशा भी प्रकट कर दी गई थी कि ये नियन्त्रण यथाशीघ्र ही हटा लिए जायेंगे। सदस्यों को उनके नियन्त्रण के सम्बन्ध मे अपने विचार बताने का अधिकार है (Right of Representation)। यदि कोष और सदस्यों के बीच नियन्त्रण सम्बन्धी मतभेद सन्तोषपूर्ण तरीके से तय नही होने पाता है, तब सदस्यों को अनिवार्यतः कोष से हटना पड़ेगा।

कोष के सदस्यों पर प्रतिबन्ध—ताकि कोष के उद्देश्यों की पूर्ति हो जाय, इसलिए सदस्य देशों पर कई प्रतिबन्ध लगाए गए हैं—(i) कोष से जो भी राशि उधार ली जायगी, उसका उपयोग कोष के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही किया जायगा। (ii) सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वर्ण का क्रय विक्रय केवल कोष द्वारा निर्धारित दर पर ही किया जायगा। (iii) कोई भी देश बिना कोष की अनुमति लिये अपनी मौद्रिक नीति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं करेगा। (iv) चालू अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध में कोई भी देश भुगतान के सम्बन्धी किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगायेगा तथा (v) कोष द्वारा निर्धारित दरों पर ही किसी सदस्य देश के विनिमय बाजार में विदेशी मुद्राओं के व्यवहार होंगे।

कोष का कार्य क्षेत्र—कोष व्यक्तियों या निजी संस्थाओं से साथ व्यवसाय नहीं कर सकता है। एक सदस्य राष्ट्र कोष के साथ व्यवसाय केवल अपने केन्द्रीय बैंक, स्थिरता-कोष (*Stabilization Fund*) या अन्य किसी मौद्रिक संस्था के द्वारा ही कर सकता है। कोष किसी सदस्य देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इस तरह कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा सदस्य राष्ट्रों को ऋणों द्वारा सहायता देकर, उनके शोधनाधिक्य में सन्तुलन स्थापित करने में सहायता देता है। यह

स्मरण रहे कि कोष केवल अल्प-कालीन ऋण देता है और ये भी केवल व्यापाराधिक्य के अस्थाई असन्तुलन को ठीक करने के लिये दिये जाते हैं ।

स्वर्ण और कोष (Gold and the Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और सोना (International Monetary Fund and Gold):—कोष योजना और स्वर्ण-मान में बहुत समानतायें हैं जिसके कारण कुछ अर्थशास्त्रियों ने कोष का निर्माण स्वर्ण-मान पर वापिस आना (Return to the Gold Standard) कहा है:—(i) कोष में सदस्यों की मुद्राओं का स्वर्ण में मूल्य व्यक्त किया जाता है तथा स्वर्ण मूल्यों के सामूहिक-मापक का कार्य करता है । स्वर्ण-मान वाले देशों की तरह ही इस कोष में भी विभिन्न मुद्राओं के बीच प्रारम्भिक विनिमय-दर (Initial Rate of Exchange) स्वर्ण के आधार पर निश्चित की जाती है । (ii) कोष की योजना में स्वर्ण का एक प्रमुख स्थान है । सदस्य बनाने पर प्रत्येक राष्ट्र को अपने कोटे (Quotas) में कुछ सोना देना पड़ता है । कोई भी सदस्य राष्ट्र सोने का प्रयोग अपने कोटे के अतिरिक्त मुद्रा (Currency which is in excess to its Quota) या किसी अन्य सदस्य राष्ट्र की मुद्रा को कोष से खरीदने में कर सकता है । अतः इस योजना में स्वर्ण का अद्रव्यीकरण (Demonetisation) नहीं हुआ है । (iii) स्वर्ण-मान में प्रत्येक देश अपनी लेनी-देनी की बाकी का सतुलन (Equilibrium of the Balance of Payments) सम्पूर्ण संसार में एक बारगी (At one time) करता है । इस प्रणाली में भी प्रत्येक देश से पृथक्-पृथक् समन्वय नहीं किया जाता है । स्वर्ण-मान की तरह कोष भी बहुपक्षी भुगतान पद्धति (Multilateral Payments System) को प्रोत्साहन देता है क्योंकि इस कोष द्वारा पूर्व निश्चित तुल्यताओं (Parities) पर मुद्राओं को परिवर्तित किया जा सकता है । (iv) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत एक प्रतिकूल लेनी-देनी की बाकी (Unfavourable Balance of Payments) वाला देश स्वर्ण का निर्यात करके इस बाकी का भुगतान करता है । इस कोष की योजनाओं में सदस्य राष्ट्रों का कोटा इस कार्य को करता है । स्वर्ण-मान में स्वर्ण के आयात-निर्यात से पड़ने वाले प्रभावों की तरह, इस कोष में मुद्रा के परिवर्तनों (Currency Transfers in the Fund) का भी देश की आन्तरिक मुद्रा की स्थिति तथा वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों पर प्रभाव पड़ता है । हैम (Halm*) के मतानुसार वह देश जो कोष से अन्ततः विदेशी मुद्राओं का खरीदने वाला (Net Purchaser from the Fund) है, उसकी अवस्था स्वर्ण-मान में एक स्वर्ण खोने वाले देश (Gold Losing Country) की तरह होती है और जो राष्ट्र कोष को अपनी मुद्रा अन्ततः बेचने वाला (Net Seller to the Fund) है उसकी अवस्था स्वर्ण-मान में एक स्वर्ण को प्राप्त करने वाले देश (Gold Receiving Country) की तरह की होती है । खरीदने वाले देश को स्वर्ण के बदले कोष से अपनी मुद्रा का पुनः क्रय (Re-purchase) करना पड़ता है और बेचने वाले देश से कोष स्वर्ण के बदले उसकी मुद्रा खरीदता है । वह देश जिसने स्वर्ण के बदले विदेशी मुद्रा खरीदी है, इस मुद्रा को अपने व्यापारिक बैंकों को बेचता है जो स्वयं इसे अपने ग्राहकों को बेचते हैं । इन ग्राहकों

*Halm : International Monetary Co-operation.

को इन व्यापारिक बैंकों के पास की माँग-जमा (Demand Deposit) कम हो जाती है और इन बैंकों की केन्द्रीय बैंक के पास वाली रक्षित जमा (Reserve Fund) कम हो जाती है। परिणामत देश में मुद्रा के सकुचन (Deflation) [redacted] प्रभाव प्रतीत होने लगते है। विपरीत दिशाओं में परिणाम भी विपरीत होते हैं। (v) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Comparative Costs Theory) से शासित होता है। इस पद्धति [redacted] तो विदेशी व्यापार मे कोई विशेष बाधा नहीं होती परन्तु कोष की योजना में विनिमय दर व कोटे के निर्धारण से अनेक प्रकार के विनिमय नियन्त्रणों से विदेशी व्यापार में बाधा पड़ेगी। परन्तु कोष ने इन नियन्त्रणों तथा बाधाओं को परिवर्तनकाल (Transitional Period) के लिए ही मान्यता दी। इस योजना के बनाने वालों ने यह आशा प्रकट की है कि सदस्य राष्ट्र इन नियन्त्रणों को यथा शीघ्र ही हटाने का प्रयत्न करेंगे और विदेशी व्यापार फिर तुलनात्मक सिद्धान्त से कम-अधिक मात्रा में शासित होने लगेगा।

इस तरह यह स्पष्ट है कि कोष योजना में स्वर्ण-मान के बहुत से गुण हैं परन्तु यह पूर्णरूपेण स्वर्ण मान नहीं है क्योंकि इसमें उस मान के दोष नहीं है — (i) स्वर्ण-मान में विनिमय दर स्थूल (Rigid) रहती है। विनिमय स्थायित्व (Exchange Stability) इस मान का प्रथम उद्देश्य होता है। यह स्थायित्व सोने की आयात-निर्यात द्वारा कायम किया जाता है। कोष में यद्यपि विनिमय दर सोने द्वारा निर्धारित की जाती है परन्तु परिस्थिति बदलने पर या किसी मूल असमता (Fundamental Dis-equilibrium) के कारण विभिन्न राष्ट्र अपनी विनिमय दर को बदल सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन कोष की आज्ञा से ही हो सकता है परन्तु यह आज्ञा विशेष परिस्थितियों में अवश्य दे दी जायगी। अतः कीन्स (Keynes) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण-मान के बिल्कुल विपरीत है। (ii) स्वर्णमान के प्रत्येक देश को अपनी आर्थिक स्थिति और मूल्य स्तर अन्य देशों के समान रखना पड़ता है। इस पद्धति में प्रतिकूल लेनी-देनी की बाकी में स्वर्ण की निर्यात होती है जिससे साख सकुचन द्वारा मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। कोष योजना में इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नहीं है। इस योजना में प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति में स्वतन्त्र रहता है क्योंकि कोष की सहायता से यह बहुधा अपनी प्रतिकूल लेनी देनी की बाकी का भुगतान बिना आन्तरिक साख व्यवस्था को प्रभावित किये ही कर सकता है। अतः कोष योजना में स्वर्ण-मान के अनेक गुण होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि कोष का निर्माण स्वर्ण-मान पर वापिस आना है। यह अवश्य है कि कोष ने सदस्य राष्ट्रों के सहयोग से स्वर्ण को मौद्रिक जगत म फिर से एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

कोष और केन्द्रीय बैंक
(Fund and the Central Bank)

<u>कोष और केन्द्रीय बैंक</u> (The Fund and the Central Bank):—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और किसी देश के केन्द्रीय बैंक में बहुत समानता है। जिस प्रकार किसी देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के रक्षित कोष (Cash Reserves) को एक जगह

इकट्ठा (Pool) कर लेता है, इसी प्रकार मुद्रा कोष सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंकों के साधनों (Resources) को एक जगह इकट्ठा (Pool) करता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंकों का बैंक (Central Bank's Bank) है।

परन्तु मुद्रा कोष और राष्ट्रो के केन्द्रीय बैंक में कुछ अन्तर भी हैं:—(i) किसी देश के केन्द्रीय बैंक में केवल एक प्रकार की मुद्रा को ही इकट्ठा (Pool) किया जाता है। परन्तु मुद्रा कोष में विभिन्न राष्ट्रो की भिन्न-भिन्न मुद्राओं का मौद्रिक कोष (Monetary Reserves) बनाया जाता है। (ii) केन्द्रीय बैंक की तरह मुद्रा कोष नई मुद्रा का निर्माण नही कर सकता है। (iii) केन्द्रीय बैंक सदस्य व्यापारिक बैंको की साख-नीति को नियंत्रित कर सकता है, परन्तु मुद्रा कोष सदस्य राष्ट्रों की आन्तरिक अर्थ-नीति को नियन्त्रित नही करता है।

कोष से लाभ (Advantages of the Fund)

मुद्रा-कोष के लाभ—मुद्रा-कोष के निर्माण से उपलब्ध होने वाले मुख्य-मुख्य लाभ इस प्रकार हैं—(i) बहुपक्षी व्यापार व बहुपक्षी-भुगतान की पद्धति की स्थापना—कोष के निर्माण से अब बहुपक्षी व्यापार (Multi-lateral Trading) व बहुपक्षी भुगतान की पद्धति (Multi-lateral Payments System) की व्यवस्था सम्भव हो सकी है। यह अवश्य है कि परिवर्तन काल में तो विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रण अवश्य रह सकेंगे, परन्तु यह आशा प्रकट की गई है कि सदस्य राष्ट्र यथाशीघ्र ही इन नियन्त्रणों को हटाने का प्रयत्न करेंगे। अतः कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का एक अच्छा साधन है जिससे विदेशी व्यापार तथा विनियोग के लिये पूंजी के आवागमन को बहुत प्रोत्साहन मिला है क्योंकि इस संस्था की बैठकों में विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को सोच-विचार कर लेते हैं और इनका सर्वहित में हल भी ढूढ निकाल लेते हैं। (ii) मौद्रिक रक्षित कोष की स्थापना—कोष में विभिन्न मुद्राओं के कोटे (Quotas) जमा होने से एक बहुत बड़ी मात्रा में मौद्रिक रक्षित-कोष (Monetary Reserves) की स्थापना सम्भव हो सकी है। कोष आवश्यकतानुसार इनका क्रय-विक्रय करके सदस्य देशों की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कोष मुद्राओं का क्रय-विक्रय अपने निजी लाभ के लिए नही करता है वरन् वह यह कार्य सदस्य राष्ट्रों के हित के लिए करता है असाधारण काल में किसी मुद्रा (या मुद्राओं) की मांग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाने पर कोष इसे अल्प-मुद्रा (Scarce Currency) घोषित करके तथा इसका राशनिंग (Rationing) करके विभिन्न देशों को अपने शोधनाधिक्य के असन्तुलन को सन्तुलित करने का अवसर देता है। अतः कोष-योजना में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में साम्य स्थापित करने का दायित्व ऋणी तथा ऋणदाता (Debtor and Creditor Countries) दोनों ही देशों पर समान रूप से रक्खा गया है। (iii) विनिमय-दर में स्थैर्य—कोष की स्थापना से विभिन्न मुद्राओं के बीच विनिमय-दर निर्धारित करने का एक सुव्यवस्थित साधन उपलब्ध हो गया है। विनिमय-दर में अब अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रहती है और अस्थाई कारणों से इसमें परिवर्तन भी नहीं होने पाता है। कोष से एक बहुत बड़ा लाभ यह भी हुआ है कि अब प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र आर्थिक नीति रखते हुये भी विदेशी विनि-

मय में स्थिरता प्राप्त कर सकता है। विनिमय-स्थैर्य से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होगी जिससे समस्त देशों में पूर्ण-रोजगार (Full Employment) की नीति सम्भव हो सकेगी और तब ही अविकसित देशों का आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा। (iv) स्वर्ण-मान के लाभ उपलब्ध हुए हैं—कोष की स्थापना से स्वर्ण मान के लाभों की प्राप्ति बिना इसकी त्रुटियों के सम्भव हो सकी है। कोष ने सोने को सब देशों की मुद्राओं का माप-यन्त्र बनाकर संसार को एक विशेष प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (International Gold Standard) प्रदान किया है यद्यपि इसमें सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं किया जाता है। यह नया अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान सन् १९३१ के पहले के स्वर्ण-मान से अधिक लोचदार (Elastic) तथा कम खर्चीला (Economical) है।

कोष की आलोचना (Criticism of the Fund)—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से कोष की काफी आलोचना की गई है। कोष की मुख्य-मुख्य आलोचनायें इस प्रकार हैं (i) कोष का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित है (Scope of the Fund is Limited)—कोष के विधान में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोष केवल-चालू सौदों (Current Transactions) से सम्बन्धित विदेशी विनिमय की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करेगा। युद्ध-ऋण (War debts), पूंजी का आयात-निर्यात, समावरुद्ध स्टर्लिंग (Blocked Sterling) आदि से सम्बन्धित भुगतान के लिये राष्ट्रों को अन्य साधन ढूंढने होंगे जिससे इस कोष की उपयोगिता कम हो जाती है। आलोचकों का मत है कि कोष का कार्य क्षेत्र सीमित होने से इसकी आशातीत उपयोगिता नहीं हो सकी है। परन्तु कोष की यह आलोचना उचित प्रतीत नहीं होती है। इसका कारण यह है कि कोष का निर्माण युद्ध सम्बन्धी बड़े पैमाने के भुगतानों से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के लिये नहीं किया गया है। यदि कोष को आरम्भ से ही इतनी बड़ी जटिल समस्या के हल करने का दायित्व दे दिया जाता, तब निःसंदेह कोष-योजना शीघ्र ही असफल हो जाती। (ii) राष्ट्रों का अभ्यंश (कोटा) किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है (Quota of the different countries have not been determined on some scientific basis)—कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि कोष के विधान से यह स्पष्ट नहीं होता कि विभिन्न राष्ट्रों के अभ्यंश किस आधार पर निश्चित किये गये हैं। कोटे का निर्धारण तीन आधार पर हो सकता था—(क) विभिन्न राष्ट्रों की विदेशी व्यापार की मात्रा, (ख) विभिन्न राष्ट्रों की व्यापाराधिक्य की स्थिति तथा (ग) विभिन्न राष्ट्रों की विदेशी विनिमय की आवश्यकता। परन्तु कोष के निर्माण कर्त्ताओं ने इन तीनों में से किसी को भी कोटा निर्धारण का आधार नहीं बनाया है। इसलिये आलोचकों का मत है कि राष्ट्रों के जो कुछ भी कोटे तय किये गये हैं उनका कोई भी उचित एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है। कुछ व्यक्तियों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि कोष में राष्ट्रों के कोटे इंगलैंड और अमेरिका के आर्थिक व राजनैतिक स्वार्थों को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किये गये हैं। चूंकि किसी राष्ट्र को कोष से मिलने वाला लाभ उसके कोटे से सीमित होता है, इसलिये यह आवश्यक है कि सदस्य राष्ट्रों के कोटे किसी ठीक-ठीक व वैज्ञानिक आधार पर ही निश्चित होने चाहिये थे। (iii)

कोष का व्यवहार भेद-भावपूर्ण रहा है:—कुछ आलोचकों का मत है कि ऋण के प्रदान करने तथा अन्य सुविधाओं को देने में कोष ने भेद-भावपूर्ण व्यवहार किया है। उदहारण-स्वरूप यह कहा जाता है कि कोष की आज्ञा के विरुद्ध फ्रांस द्वारा अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने पर भी उसे कोई कड़ी सजा नहीं दी गई है। (iv) डॉलरों की अल्पता के कारण कोष अपने कार्यों में अधिक सफलीभूत नहीं हो सकेगा:—आलोचकों का मत है कि कोष-योजना के असफल होने का कारण सम्भवत: डॉलरों की अल्पता ही रहेगी। इसका कारण स्पष्ट है। अमेरिकन निर्यात के लिए तो कोष में से डॉलर निकाले जायेंगे, परन्तु अमेरिकन आयातकर्ताओं द्वारा दिये जाने वाले डॉलर कोष को प्राप्त नहीं हो सकेंगे। ऐसे देश जो अमेरिका को माल भेजेंगे, वे कोष के बाहर बहुत बड़े पैमाने पर डॉलरों को एकत्रित कर सकेंगे क्योंकि विदेशी निर्यातकर्ता स्वदेश की मुद्रा के स्थान पर डालर में ही इनवायस (Invoice) बनायेंगे। परन्तु यह आलोचना भी उचित प्रतीत नहीं होती है। कोष के साधनों में तरलता (Liquidity) रखने तथा डालरों की समाप्ति पर रोक लगाने के हेतु ही योजना में पुनः क्रय (Re-purchase) तथा राशनिंग (Retioning) की धाराएँ रक्खी गई हैं ताकि डालरों या अन्य किसी मुद्रा की इतनी अल्पता (Scarcity) नहीं हो सके कि तमाम योजना ही टूट जाय। (v) कोष की कार्य-कारिणी की सदस्यता दोषपूर्ण है:—कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रक्खी गई है कि अमेरिकन हितों की रक्षा होती रहे। इस कारण दक्षिणी अमेरिका के देशों के लिये दो स्थान सुरक्षित रक्खे गये हैं।

सारांश:—यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष का निर्माण करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की ओर एक बहुत बड़ा कदम उठाया गया है। इसका कार्य-क्षेत्र सीमित होते हुए भी, यह कोष बड़ा महत्वपूर्ण है और आगे भी रहेगा।

कोष का कार्यारम्भ

मार्च सन् १९४६ में कोष के गवर्नर्स (Governors) की पहली सभा सैवाना (जार्जिया) में हुई। इस सभा ने कोष की कार्य-प्रणाली पर विचार किया और कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिये। भारत कोष का मौलिक सदस्य (Original Member) है। १ मार्च सन् १९४७ से कोष ने विनिमय-व्यवहार की कार्यवाही आरम्भ कर दी थी। दिसम्बर १९४६ तक ३४ देशों ने कोष की सदस्यता स्वीकार की थी जिनमें से २८ देशों ने अपना कोटा चुका दिया था और ५ देशों का आने वाला था। उस समय तक कोष के पास कुल मिला कर १३४४ मिलियन डॉलर का स्वर्ण, २०६३ मिलियन डॉलर तथा ३१२८ मिलियन डॉलर की अन्य देशों की मुद्रायें आईं। ३० अप्रेल १९५२ को कोष की सदस्य-संख्या ५१ थी और अब यह बढ़ कर ६८ हो गई है। कोष ने समय-समय पर राष्ट्रों की मुद्रा का सम-मूल्य (Par Value) कम किया है (युगोस्लाविया की मुद्रा का सम-मूल्य दिसम्बर १९५२ को कम कर दिया गया था) और कोष ने समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रों को मुद्रा उधार देकर सहायता भी की है। दिसम्बर सन् १९५६ तक इसने १९१ करोड़ डालर की मुद्राओं का विक्रय किया था। यह स्मरण रहे कि कोष ने परि-वर्तनकाल (Transitional Period) में अपने सदस्य राष्ट्रों को विनिमय नियन्त्रण

लगाने की स्वीकृति केवल ५ वर्ष के लिए दी थी और यह आशा प्रकट की थी कि इस अवधि के बाद सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिये जायेंगे। परन्तु ५ वर्ष की अवधि समाप्त होने के बाद भी आज लगभग ४४ राष्ट्रों में विनिमय नियन्त्रण किसी न किसी रूप में लगा हुआ है। इन नियन्त्रणों का रूप विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न है। कोष की १९५१–५२ की रिपोर्ट के अनुसार इन प्रतिबन्धों में से एक "विवेचनात्मक प्रतिबन्ध" (Discriminatory Restriction) है और यह विशेषत अल्प-मुद्राओं (Scarce Currencies) के सम्बन्ध में पाया जाता है।* ऐसा प्रतीत होता है कि "अभी समस्त संसार में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है जहाँ प्रतिबंधों का निवारण सम्भव हो सके" जिससे कोष को अपने सदस्यों को कुछ और समय तक विनिमय-नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध लगाने की स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी। जिस तरह कोष की विनिमय-नियन्त्रण की नीति में परिवर्तन हुआ है ठीक इसी प्रकार कोष की स्वर्ण सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन हुआ है। कोष की स्वर्ण नीति का स्वर्ण-उत्पादक देशों द्वारा विरोध तथा आलोचना के कारण सितम्बर १९५१ में कोष को अपनी स्वर्ण नीति बदलनी पड़ी जिसके अनुसार अब स्वर्ण-उत्पादक देश नये निकाले गये स्वर्ण (Newly-mined Gold) की बिक्री कोष की निर्धारित दरों की अपेक्षा ऊँची दरों पर कर सकते हैं। आलोचकों का मत है कि उक्त दोनों बातों के कारण यह कहा जा सकता है कि कोष अपने कार्यों में असफल रहा है।

भारत और कोष (India and the Fund)

भारत और कोष का प्रारम्भ से ही बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें स्मरणीय हैं —(i) सन् १९४४ के ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भारत के भी प्रतिनिधि उपस्थित थे (सर जेरमी रेईसमैन के नेतृत्व में)। सम्मेलन में जो निर्णय हुए उन्हें भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया था। दिसम्बर १९४५ में भारत ने अपना कोटा नियमानुसार कोष में जमा कर दिया था। भारत कोष का चौथा मौलिक सदस्य है और इसे संचालक मंडल (Board of Executive Directors) में अपना एक शासकीय संचालक (Executive Director) नियुक्त करने का अधिकार है। (ii) कोष का सदस्य होने के नाते भारत के रुपये का सम-मूल्य (Par Value) स्वर्ण एवं डालर में क्रमशः ०·१८६६२१ ग्राम विशुद्ध स्वर्ण तथा २१ सेन्ट (रुपये के अवमूल्यन से पहले यह क्रमशः ० २६८६१ ग्राम स्वर्ण तथा ३०·२५ सेन्ट था) निश्चय किया गया है। (iii) भारत का कोष का सदस्य हो जाने के कारण रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के एक्ट में सन् १९४७ में एक संशोधन किया गया है जिसके अनुसार अब रिजर्व बैंक अपनी निधि में स्टर्लिंग के साथ ही साथ अन्य देशों की मुद्रा भी रक्खेगा और इनका क्रय-विक्रय भी कोष द्वारा निर्धारित दरों पर करेगा। अतः कोष का सदस्य हो जाने के कारण अब भारतीय मुद्रा की अन्य देशों की मुद्रा से बहुपाक्षिक परिवर्तनशीलता (Multiple Convertibility) स्थापित हो गई है (कोष के निर्माण से पहले रुपये का अन्य देशों की मुद्रा से

*"The majority of countries maintain restrictions either to limit the overall level of their payments or to reduce, in particular, their payments in 'hard currency areas'. this discriminatory aspect being an important feature of many restrictive systems"—I. M. F. Report for 1951 52.

सम्बन्ध स्टलिग द्वारा ही था जिससे रुपये में एकपक्षीय परिवर्तनशीलता थी)। (iv) भारत के कोप का सदस्य हो जाने के कारण अब भारतीय मुद्रा का स्टलिग से सम्बन्ध टूट गया है। अब रिजर्व बैंक को कोप द्वारा निर्धारित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने का भार सौंप दिया गया है, परन्तु विदेशी विनिमय का यह क्रय-विक्रय २ लाख रुपये से कम मुद्राओं का नही होगा। स्टलिग में रुपए का अधिकतम व न्यूनतम *मूल्य क्रमश. १८$\frac{३}{६४}$ तथा १७$\frac{५५}{६४}$ निश्चित किया गया है।*

भारत को कोप का सदस्य हो जाने से कई महत्वपूर्ण लाभ हुये हैं:—(i) **विदेशी मुद्राओं की उपलब्धता**—कोप का सदस्य हो जाने के कारण भारत को आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्राएँ मिलने लगी हैं जिससे हमारे आर्थिक विकास के लिये विदेशों से पूँजीगत-माल (Capital Goods) आसानी से मिलने लगा है। युद्ध के पश्चात् की भारतीय विपक्ष-विषमता कोप की सदस्यता से सुविधापूर्वक दूर की जा सकी है। भारतवर्ष ने मुद्रा कोप से अब तक लगभग ३०० मिलियन डालर का ऋण लिया है। (ii) **रुपया स्टर्लिंग की दासता से मुक्त हो गया है** :— कोप की सदस्यता के कारण रुपया पौंड के पहिये से अलग हो गया है और इसने अपना एक स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है। रुपये का मूल्य पौंड में निर्धारित होने के स्थान पर अब वह स्वर्ण मे निर्धारित होने लगा है। इस तरह रुपया *अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो गया है। रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से हो जाने के* कारण रुपए का परिवर्तन अब किसी भी देश की मुद्रा के साथ हो सकता है जिससे भारत का व्यापार ऐसे देशो से जो स्टलिंग क्षेत्र मे नहीं हैं, उनसे भी बहुत बढ़ जाने की पूर्ण आशा हो गई है। (iii) **भारत अब कोप की नीति निर्माण में भी हिस्सा ले सकता है**:—चूंकि रूस ने कोप की सदस्यता स्वीकार नही की है, इसलिए भारत को कोप के संचालन मडल में एक शासकीय सचालक (Executive Director) नियुक्त करने का अधिकार मिल गया है जिससे भारत कोप की निर्माण-नीति मे हिस्सा लेता है और इस कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुत महत्ता बढ़ी है। भारत अब पाँच बड़े-बड़े सदस्यो मे से एक गिना जाता है। (iv) **आन्तरिक आर्थिक समस्याओं के हल करने में भी कोप से बहुत सहायता मिल रही है**:—कोप का सदस्य बन जाने के कारण इससे देश की आर्थिक समस्याओं को हल करने मे भी बहुत सहायता मिल रही है। उदाहरणार्थ, पंचवर्षीय योजना के अर्थ प्रबन्ध पर कोप ने भारत सरकार को सलाह दी है। (v) कोप का सदस्य होने के कारण ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य बन सका है और बैंक की सहायता से हमारे देश को बहुत लाभ हुए हैं (पढिये "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक" नामक अध्याय)। विकास कार्यों के लिए बैंक से समय-समय पर ऋण मिला है जिससे देश के आर्थिक विकास में बहुत सहायता मिली है।

कोप की सदस्यता से भारत को उपरलिखित लाभ प्राप्त होने की आशा होने पर भी कुछ आलोचकों ने अपना मत भारत का कोप का सदस्य होने के विरुद्ध प्रकट किया है। इसके लिए उन्होंने तीन मुख्य कारण दिये हैं :— (i) कोप ने भारतीय पौंड-पावनों (Sterling Balances) के भुगतान के लिए सुविधा प्रदान करने से इन्कार कर दिया है। परन्तु इंगलैंड से पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में संतोषजनक समझौता हो

जाने के कारण अब इस आक्षेप मे अधिक महत्व नही रहा है। (ii) भारत का कोटा उस लाभ से जो उसे मिल सकेगा, उससे काफी अधिक है। (iii) भारत बिना जनता तथा विधान-मण्डलों की स्वीकृति के ही कोष का सदस्य बना है। यह स्मरण रहे कि ये सब आक्षेप केवल नाम मात्र के ही हैं और अनुभव से ही पता चला है कि भारत को कोष का सदस्य बन जाने से अत्यधिक लाभ प्राप्त हुए हैं।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B A. & B. Sc.

१ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष क्या है? और यह किस प्रकार कार्य करता है? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है समझाइये (१६५६)। २. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) पर नोट लिखिये। (१६५८, १६५७)। ३ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना किन उद्देश्यो से की गई थी? इस मुद्रा-कोष के कार्यों का विवेचन कीजिये। (१६५७ S) 4 How does the International Monetary Fund help in stabilizing the exchange rates? (1956 S) 5 India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India Explain carefully and examine the existing Indian currency system. (1956) 6 What are the principal objectives of the International Monetary Fund and how does the Fund seek to accomplish them? (1955 S)

Rajputana University, B. A.

1. Briefly discuss the working of "International Monetary Fund." (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष) and explain how far it has succeeded in its objects. (1958, 1957)

Rajputana University, B Com.

1. Write a short note on—The I. M F. (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष) and India. (1959) 2 Write a short note on—International Monetary Fund (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष) (1958) 3 Explain the objects and functions of International Monetary Fund. How does the Fund seek to stabilize foreign exchange rates? Explain (1954)

Sagar University, B Com

१. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (I M F.) पर एक संक्षिप्त तथा परिपूर्ण टिप्पणी लिखिये और इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप से कीजिये। (१६५५)

Jabalpur University, B Com.

१. सन् १६३१ मे रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित क्यो किया गया था? उसके परिणाम क्या हुये? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रसोवि (I M F) की भारत की सदस्यता से रुपये और स्टर्लिंग के सम्बन्ध कहाँ तक प्रभावित रहे हैं? (How has India's membership of the I. M F effected the relation of the rupee with sterling? (1958)

Vikram University, B. Com.

1. Write a short note on—International Monetary Fund. (1959)

Allahabad University, B. A.

1. Write a note on—International Monetary Fund. (1955)

Gorakhpur University, B. Com.

1. Explain the circumstances which led to the creation of the International Monetary Fund. Point out the advantages and disadvantages to India of joining the scheme. (Pt. II. 1959)

Bihar University, B. A.

1. What are the objects of the I. M. F.? How does it differ from International Gold Standard? (1958) 2. Describe the composition and functions of the I. M. F. (1956)

Bihar University, B. Com.

1. "The establishment of the two monetary institutions—the International Monetary Fund and the International Bank for reconstruction and development—has proved a boon at the present time." In the light of this statement examine the objects of these two institutions and say how far India has been benefitted by them. (1959)

Nagpur University, B. A.

१. स्वर्ण-प्रमाप की कार्यमंत्रणा (Machanism) का वर्णन कीजिये। क्या यह माना जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की प्रस्थापना स्वर्ण प्रमाप पुनः एक बार प्रयोग मे लाने के बराबर है? (१९५६)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १:—(i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना किन उद्देश्यों से की गई थी? इस मुद्रा-कोष के कार्यों का विवेचन कीजिये (*Agra, B. A.* १९५७), (ii) *How does* the I. M. F. help in Stabilising the exchange rates? (Agra, B. A. 1956 *Raj, B. Com.* 1954, *(iii) What are the principal objectives of the I. M. F.* and how does the Fund seek to accomplish them? (Agra, B. A. 1955), (iv) Briefly discuss the working of the "I. M. F" and expain how far it has succeeded in its objects? (Raj, B. A. 1958, 1957), (v) Describe the composition and functions of the I. M. F. (Bihar, B. A. 1956).

संकेत:—उक्त प्रश्नों में तीन बातें पूँछी गई हैं—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना किन उद्देश्यों से की गई है, इसके संगठन व कार्यों को बताइये, यह विनिमय दरों में स्थैर्य किस प्रकार लाता है? यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे एवं कार्यों मे कहां तक सफल रहा है। प्रथम भाग मे एक पृष्ठ में उन परिस्थितियों को बताइये जिनमे कोष की स्थापना की आवश्यकता अनुभव हुई और वास्तव मे इसकी स्थापना हुई भी। द्वितीय भाग मे कोष की स्थापना के उद्देश्यों को बताइये, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग, विनिमय में स्थायित्व स्थापित करना, बहुपक्षी भुगतान व व्यापार की पद्धति स्थापित करना, विनिमय नियन्त्रणों को हटवाने मे सहायक होना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रों के सन्तुलित विकास में सहायक होना, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के अन्तर की विषमता को दूर करना, लाभप्रद कार्यों के लिए पूँजी का विनियोजन करना आदि (दो-ढाई पृष्ठ) तृतीया भाग में इसके संगठन व कार्यों की विवेचना कीजिये, जैसे—कोष के प्रबन्ध व ऑफिस व संग्रह स्थान के बारे में लिखकर कोष के अभ्यंश के बारे में लिखिये (यह भी

बताइये कि कोटे में क्यों वृद्धि की गई है), समता-दर निर्धारण व इसमें परिवर्तन, कोष का लेन-देन, कोष में अल्प मुद्राएँ, कोष के साधनों में तरलता (इन चारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोष विनिमय दर में स्थैर्य किस प्रकार लाता है) ऋण पर ब्याज आदि के बारे में विस्तार से लिखिये (कोष के कार्यों से स्पष्ट हो जाता है कि कोष अपने उद्देश्यों की पूर्ति किस प्रकार करता है)। (पाँच-छः पृष्ठ) चतुर्थ भाग में कोष के लाभों को बताते हुये (जैसे-इसने बहुपक्षी व्यापार व बहुपक्षी भुगतान की पद्धति की स्थापना की है, मौद्रिक रक्षित कोष की स्थापना करके इसने सदस्य देशों की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं की पूर्ति की है, इसने विनिमय-दर में स्थिरता उत्पन्न की है, इससे स्वर्णमान के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं आदि) निष्कर्ष निकालिये कि इसके लगभग १५ वर्षों के कार्यों से स्पष्ट है कि कोष अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत कुछ सफल हुआ है, यद्यपि यह विभिन्न राष्ट्रों द्वारा लगाये गये विनिमय की दर विवेचनात्मक प्रतिबन्धों को हटाने में सफल नहीं हुआ है (यह भी इसका महत्वपूर्ण उद्देश्य था) तथापि यह कहा जा सकता है कि इसने अपने अनेक उद्देश्यों की पूर्ति की है (उद्देश्यों व लाभों की तुलना करके स्पष्ट कीजिये) और मौद्रिक जगत में इसके कार्य बहुत महत्वपूर्ण हैं (दो-ढाई पृष्ठ)।

प्रश्न २:—(i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष क्या है? और यह किस प्रकार कार्य करता है? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है, समझाइये (Agra, B. A. १६५६), (ii) Explain the circumstances which led to the creation of the I. M F. Point out the advantages and disadvantages to India of joining the scheme (Gorakhpur, B. Com 1959), (iii) "The establishment of the two monetary institutions—the I M F & the I B R & D—has proved a boon at the present time" In the light of his statement examine the objects of these two institutions and say how far India has been benefitted by them? (Bihar, II Com 1959)

संकेत—उत्तर के तीन भाग हैं—प्रथम भाग में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के कारण व उद्देश्यों को लिखिये (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में कोष के प्रबन्ध व कार्य-सञ्चालन के बारे में संक्षेप में (तीन चार पृष्ठ) लिखिये (प्रश्न १ के उत्तर का संकेत पढ़िये)। तृतीय भाग में कोष की स्थापना से भारत को मिलने वाले लाभों को लिखिये कि कोष का सदस्य हो जाने के कारण भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट गया है—यह अपनी निधि में स्टर्लिंग के साथ ही साथ अन्य देशों की मुद्रा भी रखने लगा है जिससे देश की मुद्रा में अधिक लोच उत्पन्न हो गया है—भारतीय रुपये की अन्य देशों की मुद्रा से बहुपक्षिक परिवर्तनशीलता स्थापित हो गई है जिससे विदेशी व्यापार व भुगतान में सुगमता आ गई है (पहले भारत को रुपये के बदले डालर या अन्य विदेशी मुद्राएँ सीधे ही नहीं मिल सकती थी ये मुद्राएँ पाऊंड स्टर्लिंग में बदलकर ही मिल सकती थीं) कि कोष में रुपये का डालर में सम मूल्य निश्चित हो जाने से विनिमय-दर में स्थैर्य आ गया है, कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण से निश्चित हो गया है जिससे रुपये की दासता समाप्त हो गई है—इसका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब अपना स्वतन्त्र रूप कि कोष से हमारे देश को विभिन्न देशों की मुद्राएँ प्राप्त होने लगी हैं जिससे हमारे देश के आर्थिक विकास (विशेषकर पंचवर्षीय योजनाएँ) के लिये विदेशों से पूँजीगत माल आसानी से मिलने

लगा है (विशेषकर गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र से), कि भारत कोष के सचालक मंडल का सदस्य है जिसके कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के हल के लिए सक्रिय सुझाव देने लगा है, कि कोष का सदस्य होने के कारण ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय बंक का भी सदस्य हो गया है जिससे समय-समय पर देश के आर्थिक विकास के लिये ऋण मिल सका है (इन सब लाभों को विस्तार से लिखिये—आवश्यकतानुसार भारतीय उदाहरण भी दीजिए) (तीन-चार पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में भारत को कोष की सदस्यता से होने वाली हानियों को लिखिये, जैसे—भारत का कोटा उस लाभ से अधिक है जो उसे मिल सकेगा, कि कोष ने भारतीय पौंड-पावनों के भुगतान मे सहायता प्रदान करने के लिये मना कर दिया जिसके कारण न तो इन पावनों का शीघ्रता से भुगतान हो सका और न भारत इनका स्वतन्त्रता-पूर्वक उपयोग ही कर सका निष्कर्ष के रूप मे लिखिए कि कोष की स्थापना से भारत को बहुत अधिक लाभ प्राप्त हुए हैं। (आधा पृष्ठ)

प्रश्न ३:—(i) सन् १६३१ में रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित क्यों किया गया था ? उसके परिणाम क्या हुये ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली (I. M. F.) की भारत की सदस्यता से रुपये और स्टर्लिंग के सम्बन्ध कहां तक प्रभावित रहे हैं ? (Jabb. B. Com. १६५८), (ii) Indias, admission to the I. M. F. marks the inauguration of a new Currency Standard for India. Explain carefully and examine the existing Indian Currency System. (Agra, B. A. 1956).

संकेत:—उत्तर के दो भाग हैं—प्रथम भाग में बताइये कि भारत में सन् १६३१ मे रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से क्यों स्थापित किया गया—कि सन् १६३१ में इंगलैंड ने सर्वप्रथम स्वर्णमान त्यागा (इसके संक्षेप में कारण दीजिये) कि इंगलैंड द्वारा स्वर्ण-पाट-मान के त्यागने पर भारत को स्वर्ण-पाट-मान त्यागना पड़ा जिसके कारण सन् १६११ में भारत में करेन्सी एक्ट १६२७ में संशोधन किया गया और भारत का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित किया गया—कि तब सरकार ने बाध्य-कार्यों के लिये भारतीय मुद्रा के बदले स्टर्लिंग १ शि० ६ पैं० की दर पर देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली और आन्तरिक कार्यों के लिये रुपया पूर्व की तरह चलता रहा। तदुपरान्त इस गठबन्धन के दोष (परिणाम) बताइये—कि भारत का आर्थिक भाग्य सदा के लिये इंगलैंड से बांधा गया, कि इससे राजनैतिक गुलामी के साथ ही साथ भारत की आर्थिक गुलामी भी हो गई क्योंकि स्टर्लिंग के मूल्य परिवर्तन के साथ ही साथ भारतीय रुपये के मूल्य मे परिवर्तन होने लगा, कि सन् १६३१ में स्टर्लिंग का ३०% अवमूल्यन हो जाने से भारत को स्वर्णमान वाले देशों से आयात और अधिक मूल्यवान हो गई थी, कि इस गठबन्धन से रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो गया जिससे भारत से सोने की असाधारण निर्यात हुई आदि "भारतीय चलन का इतिहास भाग ३" नामक अध्याय पढ़िये) (तीन-चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे यह लिखिये कि उक्त सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना तक बराबर बना रहा जिससे देश की मौद्रिक व आर्थिक परिस्थितियों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा (उदाहरण दीजिये जैसे युद्ध कालीन मुद्रा स्फीति इसी सम्बन्ध के फलस्वरूप हुई आदि)। परन्तु जब कोष की स्थापना हुई (इसके उद्देश्य संक्षेप में दो-चार वाक्यों मे लिखिये) तब भारत भी इसका सदस्य बना और कोष के नियमों के अनुसार भारतीय रुपये का मूल्य भी डालर व स्वर्ण के रूप मे

निश्चित हुआ जिससे स्टर्लिंग की दासता व निर्भरता समाप्त हो गई और रुपये में बहु-पक्षीय परिवर्तन शीलता का गुण उत्पन्न हो गया, कि इस तरह भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान के स्थान पर स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय-मान की स्थापना हो गई, कि अब भारतीय पत्र मुद्रा का आधार स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्के तथा स्टर्लिंग सिक्यूरीटीज ही नहीं रहा वरन् इस विधि में स्टर्लिंग सिक्यूरीटीज के अतिरिक्त अन्य देशों की मुद्रायें भी आसानी से रक्खी जाने लगी हैं। (रिजर्व बैंक अब नोट निर्गम का कार्य किस प्रकार करता है संक्षेप में लिखिये)। इस तरह निष्कर्ष निकालिये कि कोष की स्थापना से भारत में एक नये मुद्रा-मान का प्रादुर्भाव हुआ है (ढाई-तीन पृष्ठ)। तृतीय भाग में वर्तमान भारतीय चलन प्रणाली की विशेषताओं को लिखिये—पहले यह लिखिये कि भारतीय चलन-प्रणाली में कौन-कौन सी मुद्रायें हैं तथा इनका निर्गम कैसे किया जाता है, फिर उदाहरण सहित यह बताइये कि चलन में मितव्ययिता, निश्चितता तथा लोच आदि सब ही अच्छी प्रणाली के गुण पाये जाते हैं (दो ढाई पृष्ठ)।

प्रश्न ४—(i) स्वर्ण प्रमाप की कार्ययन्त्रणों (Mechanism) का वर्णन कीजिये। क्या यह माना जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की प्रस्थापना स्वर्ण प्रमाप का पुनः एक बार प्रयोग में लाने के बराबर है (Nagpur, B. A १९५६), (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (I. M F) पर एक संक्षिप्त तथा परिपूर्ण टिप्पणी लिखिये और इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप से कीजिये (Bihar, B A १९५८, Sagar, B Com १९५५) (iii) Describe the statement—"the I M F involves a return to the Gold Standard in a modified form" (Patna, B A 1951) (iv) After the world war II, gold occupies no longer its position as the absolute monarch" in the modern currency system" Do you agree with the "above statement? Give reasons for your answer (Bihar, B Com 1950), (v) "The second world war has completely metamorphosed (i e changed the form of the) gold standard, gold has been dethroned though the value of gold has been entrenched in a strong fortress" Discuss

संकेत.—उपरोक्त प्रश्नों में दो बातें पूछी गई हैं—स्वर्ण प्रमाप की कार्ययन्त्रणा क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की विशेषताओं को लिखकर यह बताइये कि क्या इसके निर्माण से स्वर्ण-मान (या अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान) की पुनः स्थापना हो गई है? ('मुद्रा प्रणालियाँ" नामक अध्याय पढ़िये)। उत्तर के आरम्भ में संक्षेप में मुद्रा-मान की परिभाषा तथा इसकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं को लिखकर इसकी कार्य-यन्त्रणा विस्तार से लिखिये यह भी बताइये कि स्वर्ण-मान के क्या नियम हैं और उनके पालन करने से विनिमय-दर में किस प्रकार स्थैर्य आ जाता था; यद्यपि आन्तरिक मूल्य-स्तर में उच्चावचन होता रहता था। (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मुख्य-मुख्य विशेषतायें बताइये—दो-चार वाक्यों में इसकी स्थापना का वर्ष परिस्थितियाँ उद्देश्य लिखिये और फिर अभ्यंश व इसके भुगतान की विधि समता-दर निर्धारण व इसमें परिवर्तन, कोष का लेन-देन, कोष में अल्प मुद्रा तथा साधनों को तरल रखने से सम्बन्धित व्यवस्था को लिखिये (तीन पृष्ठ)। तृतीय भाग में मुद्रा कोष के कार्य सचालन के आधार पर यह सिद्ध कीजिये कि यद्यपि इसमें स्वर्ण मान के सब गुण हैं, तथापि यह पूर्णतः

स्वर्ण-मान की पुनः स्थापना नहीं कहा जा सकता है—(i) उक्त लिखित स्वर्ण-मान के कार्य-संचालन से यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान का यह गुण था कि इसमें मुद्रा के बाह्य मूल्य (विनिमय की दर) में स्थिरता रहती थी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उन्नति होती थी क्योंकि यदि मुद्रा के बाह्य-मूल्य अथवा विनिमय-दर में परिवर्तन होता रहे तब एक देश के व्यापारी दूसरे देश के व्यापारी से आसानी से व्यापार नहीं कर सकते हैं। परन्तु स्वर्ण-मान में यह बहुत बड़ा दोष था कि विनिमय-दर के स्थैर्य के लिये आन्तरिक मूल्य-स्तर का बलिदान होता था जिससे देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ती थी क्योंकि पूँजीपतियों द्वारा धन के विनियोग में कठिनाई होती थी—उन्हें यह तय करना कठिन होता था कि जिस उद्योग में वे धन का विनियोग कर रहे हैं या करना चाहते हैं, उसमें उन्हें लाभ होगा या नहीं ? स्पष्ट है देश के आर्थिक विकास के लिये आन्तरिक मूल्य-स्तर में स्थिरता रहनी चाहिए। वर्तमान लोचहीन परिस्थितियों में, आर्थिक जटिलताओं के कारण, हम आन्तरिक मूल्य-स्तर का त्याग नहीं कर सकते (इसी कारण पुनः शुद्ध स्वर्ण-मान की स्थापना भी नहीं हो सकती है) क्योंकि मूल्य-स्तर में तनिक सा परिवर्तन आर्थिक समाज में क्रान्ति मचा देता है, बेकारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है, उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं होने पाता है आदि। (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना में इन दोनों (कठिनाइयों आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा विनिमय-दर दोनों में स्थैर्य रखना) को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है—कोष के सदस्य देश आवश्यकतानुसार अपने विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाकर आन्तरिक आर्थिक विकास कर सकते हैं और साथ ही साथ उनकी विनिमय-दर, कोष के सदस्य होने के नाते, भी स्थैर्य रहता है (प्रत्येक देश पूर्वनिश्चित दर पर कोष से किसी भी देश की मुद्रा ले सकता है, इससे उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विकास होता है) (iii) कोष में स्वर्ण का स्थान स्वर्णमान जैसा महत्वपूर्ण तो नहीं है, परन्तु कोष की कोटा प्रणाली तथा साधनों की तरलता व अल्प-मुद्रा सम्बन्धी नियमों आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें स्वर्ण का स्थान नगण्य भी नहीं है। (iv) कोष में स्वर्ण-मान जैसी कई बातें हैं, जैसे—दोनों मुद्रा के बाह्य-मूल्य में स्थिरता लाते हैं, दोनों में विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य सोने में निश्चित किया जाता है, स्वर्ण-मान की तरह कोष में भी सोना अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अन्तिम साधन है (प्रत्येक देश अपने चन्दे का एक भाग सोने में देता है, कोष इस सोने का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर अन्य देशों की मुद्रा को खरीदने में करता है, (v) कोष में स्वर्णमान की तरह स्वतः चलन का गुण नहीं है। आज स्वर्णमान को नियन्त्रित कर दिया गया है (इसे नियन्त्रित स्वर्णमान कह सकते हैं) व इसके रूप में व कार्य संचालन में आधारभूत परिवर्तन हो गये हैं, स्वर्ण का स्थान अब सार्वभौमसत्ताधारी सम्राट का नहीं रहा है (इसका स्वतन्त्र आयात-निर्यात नहीं होता है और न यह अब स्वतन्त्रतापूर्वक आन्तरिक मूल्य-स्तरों को प्रभावित करता है), यद्यपि स्वर्ण-सम्राट को गद्दी से उतार दिया गया है (कोष की नियन्त्रित प्रणाली का जन्म हो गया है), तथापि स्वर्ण सम्राट के मूल्य को आज भी एक दृढ़ गढ़ में जमा दिया गया है (कोष में) और इसकी स्थिति अब एक वैधानिक राजा जैसी हो गई है स्पष्ट /-

है कि कोष की प्रणाली में स्वर्ण मान के गुण तो हैं, परन्तु उसके दोष नहीं हैं। अत कोष की अपनी निजी विशेषताओं के कारण इसे स्वर्ण-मान की पुन स्थापना नहीं कहा जा सकता है (तीन-चार पृष्ठ)।

Q 5 Why is it that the resources of the I M F & I. B R D have been increased by increasing the quotas of the member countries ?

सकेत—उत्तर मे लिखिए कि कोष की पूँजी दस हजार मिलियन डॉलर से बढ़कर पन्द्रह हजार मिलियन डॉलर कर दी गई है अर्थात् इसके साधनों में ५०% वृद्धि हो गई है। इसके लाभ बताइये, जैसे—कोष की शक्ति व कार्य क्षमता बढ़ जायेगी और यह अपने कार्यों को अधिक सरलता से कर सकेगा, जो देश अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाने या बनाये रखने का प्रयत्न कर रहे हैं उनको कोष के साधनों की वृद्धि से अपने कार्य में प्रोत्साहन मिलेगा, यह ससार की तरलता (World Liquidity) में बहुत महत्वपूर्ण वृद्धि है, इससे विश्व व्यापार तथा शोधना शेष की कठिनाइयों को दूर करने में बहुत सहायता मिलेगी, इस वृद्धि से ससार के अविकसित देशों को विशेषतया लाभ होगा आदि।

अध्याय १५

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक

(International Bank for Reconstruction and Development)

प्राक्कथन—ब्रैटनवुड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conferene) ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ ही साथ पुनर्निर्माण व विकासार्थ एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) की स्थापना की भी सिफारिश की थी यही कारण है कि मुद्रा-कोष के निर्माण के साथ ही साथ इस विश्व बैंक का भी निर्माण हुआ है। जबकि कोष का उद्देश्य सदस्य देशों के व्यापारिक असन्तुलन और अन्य आर्थिक आवश्यकताओं द्वारा उत्पन्न हुई विनिमय दरों के अल्पकालीन घट बढ़ को सन्तुलित करना है, तब अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का उद्देश्य समस्त देशों में दीर्घकालीन पूँजी का विनियोग (Investment) कराने में सहायता देना है ताकि युद्ध ध्वसित (War Devastated) देशों का पुनर्निर्माण और अविकसित देशों का आर्थिक विकास हो सके। इस तरह यह बैंक कोष की एक सहयोगी सस्था है।

/ विश्व बैंक के उद्देश्य (*Purposes of the Bank*)—इस बैंक के मुख्य मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(1) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण व आर्थिक विकास—बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध विनष्ट देशों का पुनर्निर्माण (*Reconstruction*) तथा अनुन्नत (Undeveloped) या कम उन्नत (Under developed) राष्ट्रों को अपने प्राकृतिक साधनों के अधिकतम शोषण व विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना है। युद्ध ध्वसित

राष्ट्रों के अन्तर्गत मुख्य-मुख्य इंगलैंड, फ्रांस, हालैंड तथा डेनमार्क हैं और अविकसित व कम-विकसित राष्ट्रों के अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान, चीन, बर्मा आदि सम्मिलित किये जाते हैं। (ii) पूंजी के विनियोग के लिये सुविधायें प्रदान करना:—बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य वैयक्तिक विनियोगकर्ताओं (Private Investors) को उनकी पूंजी की गारन्टी (Guarantee) देकर या उनके विनियोग या ऋण में हाथ बँटाकर (Participation) उन्हें पिछड़े देशों मे पूंजी उत्पादक कार्यों के लिये विनियोग (Invest) करने के लिये प्रोत्साहन देता है। यदि वैयक्तिक विनियोग पर्याप्त मात्रा में नही होने पाते हैं, तब इस कमी की पूर्ति करने (Supplement) के हेतु बैंक या तो निजी पूंजी में से या इसके द्वारा प्राप्त कोषों (Funds) मे से या अन्य तरीकों से प्राप्त रकमों मे से कुछ रकम ऐसे देशों को उत्पादक कार्यों के लिये ऋण पर देता है। इस तरह बैंक का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋण द्वारा राष्ट्रों की विनियोग-क्रियाओं में स्थिरता लाना है। (iii) दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना—बैंक का उद्देश्य पिछड़े हुये देशों को उनकी विकास सम्बन्धी योजनाओं को पूरा करने मे सहायता देना भी है और इस प्रकार इसे राष्ट्रों को सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना है तथा इसे सन्तुलित करने में सहायक होना है। चूंकि वह विभिन्न राष्ट्रो में धनोत्पत्ति में वृद्धि करने में सहायक होता है, इसलिए इसका उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की जनता के जीवन-स्तर तथा श्रमिको की कार्य की दशाओं को उन्नत करना भी है। (iv) शांतिकालीन अर्थव्यवस्था की दशायें उत्पन्न करना:—बैंक का उद्देश्य सदस्य देशों की युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्था को शान्तिकालीन आर्थिक व्यवस्था में बदलना है।

<u>बैंक की सदस्यता</u> (Membership of the Bank):—जिन देशों ने ३१ दिसम्बर १९४५ तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार करली है वे ही राष्ट्र इस बैंक के भी मूल-सदस्य (Original Members) होगे। दूसरे देश भी इस बैंक के सदस्य हो सकते हैं, परन्तु जो देश मुद्रा-कोष को त्याग देगा वह इस बैंक को भी त्याग करता हुआ समझा जायेगा। परन्तु मुद्रा कोष की सदस्यता त्याग देने पर भी वह राष्ट्र इस बैंक का सदस्य ७५% मत इसके पक्ष में होने पर रह सकता है। वह राष्ट्र जो बैंक के नियमों व शर्तों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करेगा वह भी इसका सदस्य नहीं रह सकेगा। लिखित में बैंक छोड़ने की सूचना देने पर ही एक देश इस बैंक की सदस्यता को त्यागा हुआ समझा जायेगा।

<u>बैंक की पूंजी</u> (Capital of the Bank):—सितम्बर १९५९ से पूर्व इस बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) १०,००० मिलियन डॉलर थी (जुलाई १, १९४४ को डॉलर की उत्तमता व वजन के अनुसार)। यह पूंजी १ लाख डॉलरों के १ लाख शेयर्स (Shares) मे विभक्त कर दी गई थी। बैंक के सदस्यों के $\frac{3}{4}$ मताधिक्य (Majority Vote) से इसकी पूंजी में वृद्धि की जा सकती है। बैंक के १ लाख शेयर्स में से ९१,००० शेयर्स मूल सदस्यों द्वारा खरीदे जायेंगे और बाकी ९,००० शेयर्स बाद में बैंक के सदस्य बनने वाले राष्ट्रों के लिये रक्षित (Reserved) कर दिए गये हैं। प्रत्येक सदस्य के हिस्से (Shares) मिलियन डॉलरों में इस प्रकार निश्चित किये गये थे:—

इंगलैंड १३००, अमेरिका ३१२०, भारत ४००, रूस १२००, चीन ६००, फ्रांस ४५० आदि। अक्टूबर १९५८ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक के गवर्नर्स की वार्षिक बैठक नई दिल्ली में हुई थी। यह कोष-बैंक की बैठक ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण रही है क्योंकि इसमे दो महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये थे—(i) कोष व बैंक के साधनों में वृद्धि होना चाहिये और इस वृद्धि के लिये सदस्य देशो के कोटो मे वृद्धि होना चाहिये। (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association) की स्थापना होनी चाहिये। इस बैठक मे बोर्ड ग्राफ एक्जीक्यूटिव डाईरैक्टर्स (Board of Executive Directors) को यह अधिकार दे दिया गया कि वे इस प्रस्ताव पर विचार करें और यह तय करें कि बैंक के साधनों में कितनी वृद्धि होनी चाहिये। इस बोर्ड ने विचार विमर्श के बाद सितम्बर १९५९ में यह निर्णय लिया कि बैंक के साधनों को दुगुना कर दिया जाना चाहिये। इसके हेतु प्रत्येक सदस्य देश का कोटा दुगुना कर दिया गया है। पहले बैंक की अधिकृत पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर थी, परन्तु अब इसे बढ़ाकर २१,००० मिलियन डॉलर कर दिया गया है। साधनों की वृद्धि यद्यपि कोटो को दुगुना करके की गई है, तथापि बहुत से देशो ने यह वचन दिया था कि वे अपना चन्दा दुगुने से भी अधिक कर देंगे। इसलिये कुल पूँजी अब पहले से दुगुने से भी अधिक हो गई है। जिन देशो ने दुगुने से अधिक चन्दा दिया है, उसका मुख्य कारण यह था कि वे देश अपने आर्थिक विकास के कारण अधिक चन्दा देने मे समर्थ थे और फिर वे बैंक के कार्यों मे अधिक भाग लेना चाहते थे। इस तरह १७ देशो ने जिनमे कनाडा, जापान, पश्चिमी जर्मनी आदि हैं, अपने कोटे से अधिक चन्दा दिया है। बैंक के साधनो मे वृद्धि इसलिए की गई है ताकि यह अपने कार्यों में विस्तार कर सकें अथवा अधिक ऋण दे सके क्योंकि कुछ वर्षों से यह अनुभव हो रहा था कि साधनों की सीमितता के कारण यह बैंक अर्ध-विकसित देशों को अधिक ऋण देने मे असमर्थ था। दूसरी ओर अध विकसित या पिछड़े हुये देशो की आर्थिक विकास के लिये माँग बढ़ती जा रही थी। ताकि बैंक ऐसे राष्ट्रों की अधिकाधिक आर्थिक सहायता कर सके, इस हेतु भी साधनो में वृद्धि की आवश्यकता हुई। साधनो में वृद्धि से बैंक अब पहले से अधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में से ऋण एकत्रित करने लग गया है। अत साधनों म वृद्धि से पिछड़े हुये व अर्ध-विकसित देशो को बहुत लाभ हुआ है और इनके आर्थिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

रूस ने बैंक की भी सदस्यता स्वीकार नहीं की है। हिस्सेदार अपने हिस्से का २० प्रतिशत भाग अदा करेंगे और शेष ८० प्रतिशत भाग बैंक द्वारा मांगा जाने पर (When Called-up) स्वर्ण में, अमरीकी डॉलर में या जिस चलन-कार्य के लिये पूँजी माँगी गई है, उस चलन मे बैंक के आदेशानुसार देना पड़ेगा। यह भाग तब ही मांगा जायेगा जबकि बैंक को इसकी आवश्यकता होगी। इस २० प्रतिशत भाग में से १८ प्रतिशत भाग उस देश की मुद्रा में और बाकी २ प्रतिशत भाग सोने या अमरीकी डॉलर में दिया जायेगा। सदस्यों का दायित्व सीमित (Limited Liability) होगा और बैंक के टूट जाने पर इनसे उनके हिस्से का शेष भाग स्वर्ण, अमरीकी डॉलर या अन्य किसी मुद्रा में लिया जायेगा।

बैंक का कार्य-क्रम (Working of the Bank)—बैंक तीन प्रकार से अपने सदस्य राष्ट्रों को ऋण देता है या उसमें सुविधा देता है:—

(१) स्वयं के कोष से ऋण देना—बैंक बेची हुई पूंजी [redacted] २०% तक अपने स्वयं के कोष से ऋण दे सकता है। यह स्मरण रहे कि बैंक को इस बेची हुई पूंजी के २०% भाग में २% स्वर्ण तथा १८% अमुक सदस्य राष्ट्र की मुद्रा प्राप्त होती है। बैंक को जो स्वर्ण प्राप्त होता है, वह इसका प्रयोग चाहे जिस कार्य के लिये कर सकता है, परन्तु जो पूंजी हिस्सा खरीदने वाले राष्ट्र की मुद्रा के रूप में होती है, बैंक इसको ऋण के रूप में तब तक नहीं दे सकता है जब तक कि वह इस राष्ट्र से आज्ञा नहीं प्राप्त कर लेता है। इसी तरह बैंक इस मुद्रा का अन्य मुद्राओं से विनिमय भी नहीं कर सकता है।

(२) उधार ली गई पूंजी में से ऋण देना:—बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने के लिए अन्य राष्ट्रों से कोष उधार ले सकता है। यहाँ पर भी यह शर्त रहती है कि ऋण देने से पूर्व बैंक को उक्त राष्ट्र की अनुमति लेनी पड़ती है। इसी तरह आज्ञा लेकर ही बैंक इस उधार ली गई मुद्रा को स्वर्ण में या अन्य मुद्राओं में परिवर्तित कर सकता है।

(३) गारन्टी देकर ऋण दिलाना—बैंक किसी सदस्य राष्ट्र के वैयक्तिक विनियोग कर्ताओं को उनके ऋण की रकम की गारन्टी देकर भी रुपया उधार दिला सकता है। परन्तु गारन्टी देने से पहले बैंक को जिस देश के मुद्रा-बाजार में से ऋण लिया जा रहा है और जिस देश की मुद्रा में ऋण दिया जा रहा है, दोनों ही देशों की आज्ञा लेना आवश्यक है। यह अवश्य है कि इस प्रकार की आज्ञा एक बार प्राप्त कर लेने पर, ऋण का किसी भी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा में विनिमय किया जा सकता है। बैंक स्वयं ऋण देने की अपेक्षा जहाँ तक हो सके दूसरों के द्वारा दिये गये ऋण की गारन्टी देना ही अधिक पसन्द करता है। अतः बैंक व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन देता है। बैंक अपने पास से ऋण तब ही देता है जब व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते हैं। बैंक कुछ शर्तों की पूर्ति पर व्यक्तिगत ऋण की गारन्टी देने के लिये तैयार होता है. ये मुख्य-मुख्य शर्तें इस प्रकार हैं:—(i) जब बैंक किसी अन्य देश द्वारा दिये गये ऋण की गारन्टी करता है, तब वह यह देखता है कि ऋण प्रदान करने की शर्तें उचित हैं। (ii) जिस योजना के लिये ऋण लिया गया है, वह उचित होनी चाहिए। किसी योजना के उचित या अनुचित होने का अन्तिम निर्णय बैंक का ही होता है। (iii) ऋणी के पास भुगतान करने के पर्याप्त साधन होने चाहियें। (iv) जिस राष्ट्र को ऋण दिया जाता है, वहाँ की सरकार को इस ऋण की गारन्टी देनी होती है।

ऋण देने या दिलाने के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें भी हैं, जो मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) बैंक सदस्य देशों से व्यवसाय केवल उनकी सरकार या उनके केन्द्रीय बैंक के मार्फत ही करता है। वह किसी व्यक्ति या व्यक्तियों तथा व्यक्तिगत संस्था या व्यक्तिगत संस्थाओं से भी व्यवसाय कर सकता है, परन्तु ऐसी अवस्था में उस देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक को ऋण तथा ब्याज व अन्य खर्चों की वापिसी की गारन्टी देनी पड़ती है। (ii) बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण या ऋण की गारन्टी उस समय ही देता है जबकि उसे यह सन्तुष्टि हो जाती है कि ऋणी को अमुक शर्तों पर ऋण अन्य किसी

दूसरे सूत्र से मिलने की सम्भावना नही है। (iii) ऋण देने या दिलाने से पहले बैंक अपनी ऋण-समिति द्वारा यह जाँच करा लेता है कि जिस कार्य के लिये रुपया उधार माँगा जा रहा है, वह कार्य ठोस है या नहीं तथा ऋणी ऋण के भुगतान करने की परिस्थिति में है या नहीं। इस तरह जब ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन किसी उपयुक्त समिति द्वारा किया जाता है तब ही बैंक ऋण देता है या गारन्टी करता है। (iv) ऋण की रकम ऋणी देश के केन्द्रीय बैंक में जमा कर दी जाती है जहाँ से वह आवश्यकतानुसार निकाली जा सकती है। (v) बैंक स्वयं ऋण देने या उसकी गारन्टी की शर्तों को निश्चित करता है। इस तरह गारन्टी देते समय बैंक स्वयं ऋणदाता तथा ऋणी दोनों तथा अन्य सदस्य राष्ट्रों के हित को देखता है। (vi) बैंक द्वारा दिये गए ऋण या गारन्टी किये गये ऋण कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, केवल पुनर्निर्माण या विकास योजनाओं में ही व्यय किये जा सकते हैं। बैंक इन कार्यों का निरीक्षण कर सकता है। अतः बैंक किसी भी सदस्य को उसकी स्थानीय आवश्यकताओं के लिये ऋण नही देता है। (vii) ऋणी देश ऋण से ऋणदाता देश की वस्तुयें खरीदने के लिये बाध्य नही किया जा सकता है। अतः ऋणी ऋण की रकम से चाहे जहाँ से माल खरीद सकता है। (viii) बैंक द्वारा दिये गये ऋण या गारन्टी दिलाये गये ऋण, इन दोनों की रकम बैंक की प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) और संचित रक्षित कोष (Reserve Fund) से अधिक नहीं हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक का कुल दायित्व (Liabilities) इसके कुल साधनों (Resources) से अधिक नही हो सकता है। (ix) सदस्यों को दिये गय ऋणों का भुगतान स्वर्ण में (यदि सदस्य चाहे) या उस करेंसी में जिसमें ऋण लिया गया था किया जाता है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा-कोष की भाँति विश्व बैंक से सदस्य राष्ट्र की प्राप्ति हो सकने वाले ऋणों की मात्रा उसके कोटे (चन्दा) पर निर्भर नहीं होती है। बैंक में सदस्यों के चन्दे तो केवल उनके उत्तरदायित्वों (Liabilities) को सीमित एवं निश्चित करते हैं।

<u>ऋण पर ब्याज या कमीशन</u> (Interest and Commission on the Loans)—*बैंक द्वारा दिए गय ऋण या गारन्टी द्वारा दिलवाये गये ऋणों की शर्तें बैंक स्वयं निश्चित करता है। जिन ऋणों पर गारन्टी बैंक द्वारा दी जाती है, उन पर बैंक के निर्माण से प्रथम १० वर्षों में बैंक १% से १½% कमीशन (Commission) लेता है। इस १० वर्ष की अवधि के पश्चात् बैंक पुराने या नये ऋणों पर अपना कमीशन कम या अधिक कर सकता है। बैंक अपने कमीशन को एक विशेष कोष में जमा कर देता है जिसका उपयोग किसी राष्ट्र द्वारा ऋणों का भुगतान नहीं करने पर किया जा सकेगा। बैंक अपने ऋण कार्य की पूर्ति के लिये या अन्य कार्यों के लिए* अपनी या अन्य प्रतिभूतियों (Securities) का क्रय विक्रय कर सकता है।

<u>बैंक का प्रबन्ध</u> (Management of the Bank)—बैंक का प्रबन्ध लगभग उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि मुद्रा-कोष का प्रबन्ध होता है। कोष की तरह बैंक में भी एक बोर्ड ऑफ गवनर्स (Board of Governors), एक संचालक मण्डल (Board of Executive Directors) तथा अध्यक्ष (President) व अन्य कर्मचारी (Oth-

Staff) होते हैं। इन सब के अतिरिक्त बैंक में एक सलाहकार समिति (Advisory Council) भी होती है। (क) बोर्ड ऑफ गवर्नर्स:—इनमे प्रत्येक सदस्य द्वारा नियुक्त एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate Governor) होता है जिसकी नियुक्ति ५ वर्ष के लिये की जाती है। सदस्य राष्ट्र इन गवर्नरों की पुनः नियुक्ति भी कर सकता है। इस बोर्ड की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य हुआ करेगी जिसमें यह बोर्ड बैंक की वर्ष भर की प्रगति का सोच-विचार करेगा। अतः बोर्ड एक विधान-सभा की तरह ही है। (ख) संचालक मण्डल (Board of Executive Directors):—कोष की तरह बैंक के इस मण्डल में भी १२ सदस्य होते हैं जिनमें से ५ स्थायी डाइरैक्टर्स पाँच बड़े-बड़े अम्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष ७ डाइरैक्टर्स बाकी बचे राष्ट्रों द्वारा चुने जाते हैं। इन डाइरैक्टर्स की अवधि २ वर्ष की होती है। (ग) सलाहकार समिति (Advisory Council):—संचालक मण्डल द्वारा एक सलाहकार समिति भी निर्वाचित की जाती है जिसमें कम से कम ७ सदस्य होते है। ये सदस्य बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे कृषि और श्रम आदि विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। इनका निर्वाचन इस प्रकार किया जाता है कि अधिक से अधिक राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व हो सके। इस सलाहकार समिति की वर्ष में कम से कम एक बार बैठक अवश्य होती है और यह बैंक भी उसकी सामान्य नीति (General Policy) के सम्बन्ध में सलाह देती है। (घ) इन सबके अतिरिक्त बैंक में एक ऋणसमिति (Loan Committee) भी होती है। यह समिति सदस्यों के ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जाँच-पड़ताल तथा निरीक्षण करती है। इस समिति में भी विशेषज्ञ होते हैं और एक प्रतिनिधि प्रार्थना करने वाले सदस्य राष्ट्र का भी होता है।

लाभ का बटवारा (Distribution of Profits):—बैंक के लाभ को विभाजित करते समय सबसे पहले ऋणदाता सदस्य देशों को उनकी पूंजी में से दिये गये ऋणों की औसत रकम पर २% ब्याज दिया जाता है। बाकी बची रकम को सदस्य राष्ट्रों में उनकी प्रार्थित पूंजी (Subscribed Capital) के अनुपात में उन्ही की करेन्सियों में बाँट दिया जाता है।

सदस्यता की वापसी (Withdrawal of the Membership):—लिखित में बैंक को नोटिस देने पर कोई भी सदस्य बैंक की सदस्यता त्याग सकता है। किसी देश की सदस्यता मुद्रा-कोष से भी सूचना (यदि कोई राष्ट्र मुद्रा-कोष की सदस्यता त्याग देता है, तब कोष इसकी सूचना बैंक को दे देता है) मिलने के तीन मास पश्चात् समाप्त हो जाती है जब तक कि इस देश को बैंक का सदस्य रहने की आज्ञा न मिल जाय। किसी देश का सदस्यता बैंक की आज्ञा का उल्लंघन करने पर भी समाप्त की जा सकती है।

बैंक का महत्व
(Importance of the Bank)

लार्ड कीन्स (Keynes) का मत है कि विश्व बैंक से प्राप्त होने वाले लाभों को सरलता से नही आका जा सकता है। इस बैंक से राष्ट्रों को उनके आर्थिक विकास एवं पुनर्निर्माण के लिये साधन प्राप्त होते हैं, यह ऋणी तथा ऋणदाता राष्ट्रों मे पारस्परिक

सहयोग तथा सद्भावना जाग्रत करता है, यह राष्ट्रों के आर्थिक स्थायित्व, उन्नति एवं प्रगति मे सहायक हो रहा है जिससे विश्व में शान्ति स्थापित रहने की सम्भावना है आदि। इस तरह विश्व बैंक सरकार के आर्थिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विश्व के समस्त सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है और यह आशा की जाती है कि अविकसित व कम विकसित राष्ट्र भी इसके सहयोग से शीघ्र ही औद्योगिक दृष्टि से उन्नत व प्रगतिशील राष्ट्र बन जायेंगे। बैंक ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भारत, ईरान, फिलिपाईन्स तथा लेबनान आदि देशो मे अपने मिशन (Missions) भेजे हैं जिन्होंने उक्त देशों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उनकी आर्थिक स्थिति को दृढ बनाने के लिये अपने महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। बैंक के इस महत्वपूर्ण कार्य से अविकसित व कम-विकसित राष्ट्रों को अत्यधिक लाभ पहुँचा है।

बैंक का भविष्य

बैंक का भविष्य एवं सफलता बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलता पर निर्भर है क्योंकि कोष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं की पारस्परिक परिवर्तनशीलता (Convertibility) बनी रहने पर ही बैंक सुगमता से कार्य कर सकेगा। इसके अतिरिक्त बैंक की सफलता इसके प्रबन्धकों की दक्षता पर, बैंक की ऋण देने की नीति पर ऋणी देशों की ऋण की अदायगी करने की शक्ति एवं योग्यता पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनैतिक अवस्था पर भी निर्भर है।

<u>बैंक की आलोचना</u> (Criticism of the Bank)—मुद्रा कोष व विश्व बैंक के कार्यों से स्पष्ट है कि युद्धोत्तर उद्धार के लिये ये दोनों संस्थायें बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि मुद्रा कोष युद्ध विनिष्ट व अनुन्नत व कम उन्नत देशों के विदेशी व्यापार को सुव्यवस्थित करने के लिए अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था करता है, तब बैंक इन्हीं देशों के आर्थिक विकास व पुनर्निर्माण के लिये दीर्घ-कालीन ऋण की व्यवस्था करता है। इस तरह विश्व बैंक कोष के कार्यों की न्यूनता-पूर्ति (Supplement) करने के लिए स्थापित किया गया है। यद्यपि बैंक ने बहुत प्रशंसनीय कार्य किये हैं, फिर भी इसमें कुछ दोष भी हैं जो मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(1) बैंक का आधार ऋणी देश [redacted] पक्ष में तथा ऋणदाता देश के विपक्ष में है (Basis of the Bank is Pro-Debtor and Anti-Creditor)—कुछ आलोचकों का मत है कि बैंक का विधान ही ऐसा है कि यह ऋणी देशों का पक्ष करता है और यह ऋणदाता देशों के विपक्ष में है। इसका कारण स्पष्ट है। सदस्य देशों में अधिकांश ऋणी होंगे और बहुत ही कम ऋणदाता होंगे। चूंकि बैंक का कार्य बहुमत से ही होगा, इसलिये इसके निर्णयों पर ऋणियों का अधिक प्रभाव पड़ेगा। परन्तु बैंक की यह आलोचना उचित नहीं है—इस योजना का आधार ही सदस्यों की संयुक्त व व्यक्तिगत गारन्टी (Joint and Several Guarantee of the Members) है। इसलिये बैंक की योजना में पूंजी को देना और उत्पत्ति-कार्यों में लगाई जाने वाली पूंजी की जोखिम उठाना, ये पृथक्-पृथक् कार्य माने गये हैं। एक राष्ट्र बिना वास्तव में पूंजी दिये ही जोखिम उठाता है। अतः यदि बैंक के इस आधार को अच्छी प्रकार समझ लिया जाय तब यह विचार कि बैंक का आधार ऋणी देश के पक्ष में है तथा ऋणदाता

देश के विपक्ष में है, भ्रमपूर्ण माना जायगा। (ii) बैंक द्वारा किया जाने वाला कार्य वैयक्तिक विनियोगकर्ताओं द्वारा अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है (Private Investors can do the work better than is being done by the Bank):–कुछ आलोचकों का यह भी मत है कि पिछड़े देशों मे पूंजी का विनियोग (Investment) करने या कराने का कार्य वैयक्तिक विनियोगकर्ताओं (Private Investors) द्वारा बैंक से ज्यादा अच्छी तरह किया जा सकता है। परन्तु बैंक के कार्यों की यह आलोचना भी ठीक नहीं है। बैंक के विधान व इसके कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक के निर्माणकर्ताओं का यह उद्देश्य है ही नही कि बैंक वैयक्तिक विनियोगकर्ताओं का स्थान लेलें वरन् इसका उद्देश्य तो केवल उनकी न्यूनतम-पूर्ति (Supplement) करना है। इसके अतिरिक्त ऋणी अधिक जोखिम तथा पूंजी का विनियोग चाहने वाले कार्यों के लिये स्वय ही बैंक से रुपया उधार लेंगे क्योंकि प्रथम तो वैयक्तिक विनियोगकर्ता ऐसे जोखिम के कार्यों के लिये पर्याप्त मात्रा में तथा बहुत कम ब्याज की दर पर पूंजी नहीं दे सकेंगे और फिर ऋणियों को बैंक से ही दीर्घकाल के लिये तथा बहुत कम ब्याज की दर पर पर्याप्त मात्रा में रुपया मिल सकेगा। अतः युद्धोत्तर संसार के आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण के लिये बैंक ही एकमात्र उपाय है।

बैंक का कार्यारम्भ तथा इसकी प्रगति

बैंक की प्रगति—एक दृष्टि (A Review of Bank's Activities)—इस सम्बन्ध मे निम्न बातें स्मरणीय हैं:—(i) कार्यारम्भ—बैंक ने २५ जून सन् १६४६ से अपना कार्य आरम्भ किया था। उस समय इसकी कुल प्रार्थिक पूंजी १५६·६६ करोड़ डालर और परिदत्त पूंजी ७२·७० करोड़ डालर थी और शेष सभासद देशों की मुद्रा के रूप में थी। (ii) साधनों में वृद्धि—विश्व बैंक ने अपने साधनों मे वृद्धि करने के लिये समय-समय पर अनेक प्रयत्न किये हैं—(अ) इसने १५ जुलाई १६४७ को अमेरिकन मुद्रा-बाजार में १०० मिलियन डालर की अपनी प्रतिभूतियां बेची और डालर प्राप्त किये। (आ) इसी तरह इसने ५० मिलियन डालर स्विस फ्रेंक के बोंड्स स्विटजरलैंड में और १५ मिलियन कैनेडियन डालर के बोंड्स कैनेडा मे बेचे। (इ) हाल ही मे इसकी पूंजी को दुगुना किया गया है। अतः बैंक ने अपनी कार्यशील पूंजी को बढ़ाने तथा सदस्य राष्ट्रों की और अधिक आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं। (iii) ऋण—३१ अगस्त १६५६ तक बैंक ४६०४·३ मिलियन डालर ऋण के लिये वचनबद्ध था। इसमे से २७४ मिलियन डालर का ऋण बैंक को वापिस कर दिया गया है और ११२·३ मिलियन डालर के ऋण को रद्द कर दिया गया है या पुनः दे दिया गया है। ३१ अगस्त १६५६ तक बैंक का कोषित ऋण (Funded Debt) १६०५ मिलियन डालर था। इन ऋणों की अवधि ६ से ३० वर्ष की है और इनका उद्देश्य राष्ट्रों का आर्थिक पुनर्निर्माण करना है। १% से १½% कमीशन के अतिरिक्त बैंक ने इन ऋणों पर ब्याज की दर ३% से ३½% तक ली है। ऋणी देशों में सबसे अधिक ऋण भारत को मिला है। जून १६५६ तक भारत को विश्व बैंक से ५५०·६१ मिलियन डालर ऋण प्राप्त हुआ था। भारत के बाद आस्ट्रेलिया का स्थान है जिसका कुल ऋण

३१७ ७३ मिलियन डालर तथा तृतीय स्थान फ्रान्स का है जिसका कुल ऋण ३०२ ५० मिलियन डालर है। क्षेत्रीय वर्गीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बैंक ने अविकसित देशो के विकास के लिये अधिक ऋण दिये हैं। एशियाई देशो की ऋण की मात्रा १९५३-५४ की तुलना में १९५६-५७ मे २३२ मिलियन डालर से बढ़कर ५७७ मिलियन डालर हो गई थी। इसी काल म अफ्रीका देशो की ऋण की मात्रा १९९ मिलियन डालर से बढ़कर ३६७ मिलियन डालर हो गई। (iv) ऋणों का उपयोग—बैंक द्वारा दिये गये ऋणो का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रो की इस प्रकार सहायता करना है कि वे अपने देश का आर्थिक विकास दृढ आधार पर कर सकें इसी दृष्टि से विद्युत-शक्ति व यातायात के साधना व विकास की योजनाओ को बैंक ने विशेष महत्व दिया है क्यो कि ये आधारभूत सेवायें हैं। कुल ऋण ⅓ भाग विद्युत-शक्ति के विकास तथा ⅓ भाग यातायात के विकास के लिय दिया गया है (यातायात में जल, थल, वायु तथा रेल-यातायात सम्मिलित हैं)। शेष ⅓ भाग कृषि, उद्योग तथा अन्य सामान्य विकास के कार्यों के लिये दिया गया है। इनमे भी कृषि में सिचाई-योजनाओं और उद्योग मे स्पात के उत्पादन को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। (v) तकनीकी सहायता (Technical Assistance) —विश्व बैंक ने सदस्य राष्ट्रो की प्रार्थना पर टैक्नीकल मिशन्स भी समय समय पर भेजे हैं जिन्होने सम्बन्धित स्थान पर योजनाओ का गहन अध्ययन करके अपने सुझाव दिये हैं। (vi) राष्ट्रों के पारस्परिक विवाद व झगड़े —राष्ट्रो के पारस्परिक झगडे उनके आर्थिक विकास में सदा बाधक हुआ करते हैं। बैंक ने इन झगडों को रोकने अथवा इनका हल ढूंढ निकालने का समय-समय पर प्रयत्न किया है क्योंकि बैंक का उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना है और यह तब ही सम्भव है जबकि राष्ट्रो मे किसी प्रकार का विवाद नहीं हो। भारत-पाकिस्तान में नहर के पानी का झगडा इसका एक उदाहरण है। (vii) स्टाफ कॉलिज की स्थापना (Economic Development Institute) —सन् १९५६ मे बैंक ने एक स्टाफ कॉलिज की स्थापना की जिसका मुख्य काम विभिन्न अर्ध-विकसित देशों के चुने हुय अनुभवी व्यक्तियों को विशेष शिक्षा प्रदान करना है ताकि य अपने देश में अपनी आर्थिक योजनाओं पर निर्णय सुगमता से ले सकें। (viii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) —इस निगम की स्थापना जुलाई १९५६ में की गई थी। इससे व्यक्तिगत उपक्रम (Private Enterprise) को बहुत प्रोत्साहन मिला है। इसने अपने दो वर्ष के जीवन काल में ही ग्यारह विनियोजनाओं के लिय वचन दिया जिनकी कुल मात्रा लगभग १० ४ मिलियन डालर है। (ix) ऋणदाता देशों की बैठक —बैंक ऋणदाता देशो की बैठक भी समय समय पर बुलाता है ताकि ऋणी देश को ऋण सुगमता से प्राप्त हो सकें। हाल ही में बैंक ने अमरिका, इगलैंड, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा तथा जापान की एक बैठक भारत को ऋण प्रदान करने क सम्बन्ध में बुलाई थी। सक्षेप में, बैंक ने अपने पिछले १३—१४ वर्ष के जीवन काल में बहुत ही सफलता पूर्वक कार्य किये हैं। इसने विभिन्न अर्ध विकसित अथवा पिछडे हुय देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करके उन्हें अपने देश की अर्थ-व्यवस्था को विकसित

करने में बड़ी सराहनीय मदद की है। इसी सफलता के कारण इसके सदस्य देशों की संख्या ४४ से बढ़कर ६८ हो गई है।

भारत और विश्व बैंक

(अ) भारत को विश्व बैंक से प्राप्त ऋण.—भारत नवम्बर १९४६ में बैंक का मूल सदस्य बन गया था और इसने अपनी विभिन्न आर्थिक योजनाओं को पूरा करने के लिए बैंक से पूरा-पूरा लाभ उठाया है। बैंक से लिये गये ऋणों का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है:—(i) अगस्त १९४९:—अगस्त १९४९ में भारत को ३·४ करोड़ डालर का प्रथम ऋण १५ वर्ष की अवधि का रेलों के विकास के लिए मिला था जिस पर ३% सूद व 1% कमीशन था। भारत ने केवल ३·२५ करोड़ डालर का उपयोग किया और सन् १९५० से इसका भुगतान आरम्भ कर दिया। यह ऋण मूलतः रेलों की युद्धकालीन घिसावट व क्षति की प्रतिस्थापना के लिये लिया गया था। इसीलिये इस ऋण से अमेरिका व कनेडा से रेलों के इंजन खरीदे गये थे। (ii) सितम्बर १९४९:—कृषि विकास एव सुधार के लिये यह दूसरा ऋण सितम्बर १९४९ में १० मिलियन डालर का ७ वर्ष की अवधि के लिये २½% ब्याज की दर तथा 1% कमीशन पर लिया गया। देश के विभाजन से पंजाब का खाद्यान्न उत्पन्न करने वाला भाग पाकिस्तान में चला गया। इसके अतिरिक्त युद्ध के बाद कृषि-सुधार की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव हुई। सन् १९५२ से इस ऋण का भुगतान प्रारम्भ किया गया था। भारत ने इस ऋण का भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया। इस ऋण से अमेरिका से ट्रेक्टर्स, मशीनें व अन्य कृषि-यन्त्र खरीदे गये थे। (iii) अप्रैल १९५०:—दामोदर घाटी में विद्युत-विकास के लिये (दामोदर घाटी विद्युत-योजना) अप्रैल १९५० में यह तीसरा ऋण १८·५ मिलियन डालर का २० वर्ष की अवधि के लिये ३ प्रतिशत ब्याज की दर व १ प्रतिशत कमीशन पर लिया गया। इसका भुगतान अप्रैल १९५५ से आरम्भ हो गया है। इस ऋण से उक्त बिजली घर के लिये अमेरिका से एक थर्मल प्लान्ट खरीदा गया। (iv) दिसम्बर १९५२:—इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी द्वारा लोहा व स्पात उद्योग का विकास (प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार) करने के हेतु यह चौथा ऋण दिसम्बर १९५२ में ३·१५ मिलियन डालर का १५ वर्ष की अवधि के लिये ४¾ प्रतिशत ब्याज व कमीशन की दर पर लिया गया। यह प्रथम ऋण था जो बैंक द्वारा एक वैयक्तिक संस्था को दिया गया था। इस ऋण से भारत में लोहा-स्पात उद्योग के विकास में बहुत सहायता मिली है। (v) जनवरी १९५३:—दामोदर घाटी योजना के लिये पाँचवाँ ऋण जनवरी १९५३ में १·९५ करोड़ डालर का २५ वर्ष की अवधि के लिये ४·७८ प्रतिशत ब्याज की दर पर लिया गया। इस ऋण का उपयोग दामोदर घाटी में दो बहु-उद्देशीय बाँधों को बनाने में किया गया है। (vi) १९५४—टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजली घर के विकास के लिये सन् १९५४ में यह छटा ऋण १·६२ करोड़ डालर का ४·७५ प्रतिशत ब्याज की दर पर मिला। (vii) १९५५:—भारतीय उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये बैंक ने १९५५ में १ करोड़ डालर का ऋण भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग प्रमंडल (Indian Industrial Credit and Investment Corporation)

को दिया। (viii) १६५८ —(क) द्वितीय पचवर्षीय योजना में विदेशी विनिमय की कठिनाई अनुभव हुई। सन् १६५८ में बैंक से १५० करोड रुपये का जो ऋण मिला उससे इस कठिनाई को दूर करने में बहुत सहायता मिली है। (ख) बैंक ने अप्रैल १६५८ में दो और ऋण देने की घोषणा की। इन ऋणो की कुल रकम ४ ३ करोड डालर है। इनमें से एक २ ■ करोड डालर का ऋण कलकत्ते के बन्दरगाह के सुधार के लिये और दूसरा ऋण (शेष राशि) मद्रास बन्दरगाह में सुधार के लिये मिला है। (ग) रेलों के सुधार एव विकास के लिए एक ८·५ करोड डालर का ऋण और मिला है। यह आशा है कि रेलो के विकास एव सुधार के लिये जितनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है वह इस ऋण से पूरी हो जायगी। (घ) दामोदर घाटी योजना के विकास के लिये २·५ करोड डालर का एक और ऋण ५·७८ प्रतिशत ब्याज व कमीशन की दर पर मिला है। (न) कोयना जल-विद्युत योजना के लिये २·५ करोड डालर का ऋण भी मिला है। (ल) रेलो के विकास तथा औद्योगिक साख व विनियोजन निगम को वित्त प्रदान करने के लिये, हाल ही मे विश्व बैंक ने ६ करोड डालर का ऋण स्वीकृत किया है।

(आ) भारत को विश्व बैंक से प्राप्त अन्य सहायता -बैंक ने भारत को न केवल ऋण प्रदान किये हैं वरन् हमारे देश की इसने अन्य अनेक प्रकार से सहायता की है — (i) ऋणदाता देशों की बैठक —हाल ही मे बैंक ने वाशिंगटन में भारत को ऋण देने वाले पाँच प्रमुख देशों (अमेरिका, इगलैंड, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान) की एक बैठक बुलाई थी जिसमे उसने भारतीय आवश्यकताओं को उनके सम्मुख रक्खा और भारत की सहायता करने की आवश्यकता पर बल डाला। फलत द्वितीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति तक भारत को ६०० मिलियन डालर ऋण के रूप में प्राप्त होने की आशा है। बैंक ने प्रथम बार ही इस प्रकार की बैठक सयोजित की थी। (ii) टैकनिकल सहायता —समय समय पर बैंक के टैकनिकल विशेषज्ञ भारत आते रहते हैं और विभिन्न योजनाओं के विकास पर अथवा उनसे सम्बन्धित कठिनाइयों पर अपने विचार प्रकट करते रहते हैं, जैसे—जल-विद्युत, रेल-विकास, औद्योगिकरण आदि से सम्बन्धित अनेक योजनाओं पर उनके विचार प्राप्त हुए हैं। (iii) भारत-पाकिस्तान नहर पानी विवाद — बैंक ने इस विवाद को दोनो देशों के हित मे सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया है और आशा है कि शीघ्र ही यह सफल भी हो जायगा। इस समझौते के कारण भारत व पाकिस्तान दोनों ही देशों को बहुत अधिक धन व्यय करना पडेगा। इस हेतु बैंक ने स्वय भी कुछ ऋण देने का निश्चय किया है और वह दोनों देशो के मित्र राष्ट्रों से भी आर्थिक सहायता देने के लिये प्रार्थना कर रहा है। (iv) सामान्य ऋण (Block Loans) —अब तक भारत को निश्चित उद्देश्य ऋण (Specific Loans) मिलते रहे हैं जिनका उपयोग केवल उन्हीं कार्यों में किया जा सकता था जिनके लिए ये ऋण प्रदान किये जाते थे। आस्ट्रेलिया को ऐसे ऋण मिले हैं जिनका उपयोग वह अपनी इच्छानुसार कर सकता है। भारत को भी ऐसे ऋणो के मिलने की आशा है।

निष्कर्ष —भारत के आर्थिक विकास व पचवर्षीय योजनाओ को सफलीभूत बनाने का बहुत कुछ श्रेय विश्व बैंक पर है। इसने हमारे देश को सबसे अधिक ऋण दिये हैं

जिसके कारण यह संस्था भारत के लिये अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। भविष्य में भी यही आशा है कि हमारे देश के आर्थिक उत्थान में हमे इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से अत्यधिक सहायता मिलेगी।

आलोचनाः—भारत को बैंक से जो समय-समय पर ऋण प्राप्त हुये हैं, उनके सम्बन्ध मे कुछ आलोचनायें की गई हैं। इनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) बैंक के ऋण प्रायः निश्चित उद्देश्यों को पूर्ति के लिए होते हैं:—भारत को बैंक से प्राप्त होने वाले ऋण के सम्बन्ध मे यह कठिनाई बताई जाती है कि ये ऋण केवल निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिये होते हैं। परन्तु भारत सरकार ने बैंक से अपनी दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिये निश्चित उद्देश्य-ऋण (Specific Loans) के स्थान पर सामान्य-ऋण (Block Loan) प्रदान करने की प्रार्थना की है ताकि ऐसे ऋण का उपयोग किसी भी काम मे किया जा सके। बैंक आस्ट्रेलिया को इस प्रकार का ऋण दे चुका है। (ii) ब्याज की दर बहुत ऊंची है—बैंक ने समय-समय पर जो ऋण दिये हैं उन पर इसने २·५% से ४·७८% तक ब्याज की दर (अपने कमीशन के अतिरिक्त) ली है। आलोचकों का मत है कि भारत जैसे निर्धन व अविकसित देश के लिए इतनी अधिक ब्याज की दर भारस्वरूप ही होती है। यही कारण है कि श्री जान मथाई (John Mathai) भूतपूर्व अर्थ सचिव ने अपना यह मत प्रकट किया था कि भारत तथा अन्य अविकसित एशियाई राष्ट्रों को बैंक पर निर्भर नहीं रहना चाहिये वरन् इन्हे सस्ती दर पर पूंजी प्राप्त करने के अन्य साधनों को ढूंढ़ना चाहिये। यही नही बैंक को भी अपनी कड़ी नीति में कुछ उदारता लाना चाहिये। परन्तु बैंक की नीति के समर्थकों का मत है कि जब बैंक ने हाल ही मे अपनी प्रतिभूतियो को ४% ब्याज की दर पर बेचा है, तब वह इससे भी कम ब्याज की दर पर ऋण कैसे दे सकता है। (iii) एशियाई देशों को अपेक्षाकृत कम ऋण मिला है—एक अनुमान के अनुसार बैंक ने जितने भी ऋण दिए हैं, उनका केवल ३१% भाग एशियाई व अफ्रीकी देशों को मिला है जबकि यूरोपीय व अमरीकी देशों को क्रमशः ३६% और २४ प्रतिशत भाग मिला है। इन आंकडों से यह स्पष्ट है कि बैंक ने एशियाई देशों की अपेक्षा यूरोपीय तथा अमरीकी देशों के आर्थिक विकास को अधिक महत्व दिया है। आलोचनाओं के परिणामस्वरूप हाल ही मे बैंक की इस ऋण नीति में भी परिवर्तन हुए हैं। (iv) भारत को बैंक से बहुत कम ऋण मिल सका है:—भारत की औद्योगिक एवं विकास योजनाओं की आवश्यकताओं को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भारत को बहुत ही कम मात्रा में ऋण मिल सका है। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों ने अपना यह मत प्रकट किया है कि भारत को बैंक पर निर्भर नही रहना चाहिये वरन् इसे अपने देश में ही वैयक्तिक पूंजी (Private Capital) को निकालने के साधन ढूंढ़ने चाहियें। भारत में करोडों रुपये का स्वर्ण भूमिगत है। सरकार को इस स्वर्ण के औद्योगिक कार्यों में उपयोग के साधन भी ढूंढने चाहियें ताकि हमारा देश पूंजी के लिये बहुत कुछ स्वावलम्बी हो जाय।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. विकास तथा पुनर्निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिये

(१९६०)। २ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्या मुख्य कार्य हैं ? भारत को इस बैंक से क्या लाभ हुआ है, वर्णन कीजिये ? (१९५९ S) ३. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक [redacted] मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये और समझाइये कि भारतीय आर्थिक विकास मे यह बैंक किस प्रकार सहायक है ? (१९५८ S)। ४. पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर एक नोट लिखिये। भारत ने इस बैंक की सेवाओ से क्या लाभ उठाया है ? (१९५७) 5 Give a brief evaluation of the working of the Bank for International Development and Reconstruction (1955) 6 Give the constitution and functions of the Bank for International Development and Reconstruction. (1954)

Rajputana University, B Com.

1. "The World Bank's relationship with India is probably more extensive than with any of its 68 members countries" Discuss it in the light of the various loans granted to this country. (1959)

Bihar University, B. Com

1 "The establishment of the two monetary institutions—the International Monetary Fund and the International Bank for Reconstruction and Development—has proved a boon at the present time." In the light of this statement, examine the objects of these two institutions and say how far India has been benefitted by them. (1959)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १.—(i) विकास तथा पुनर्निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिये (Agra, B. A. १९६०, १९५५, १९५४)

सकेत:—उत्तर के प्रारम्भ मे दो-चार वाक्यो मे उन परिस्थितियो को बताइये जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई। फिर बैंक के उद्देश्यो को बताइये (एक-डेढ पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे बैंक के प्रबन्ध, पूजी, सदस्यता, कार्य-क्रम व ऋण पर ब्याज व कमीशन, लाभ का बटवारा आदि के बारे मे लिखिये (तीन-चार पृष्ठ)। तृतीय भाग में बैंक के महत्व व इसके दोषो के बारे में लिखिये (दो पृष्ठ)। अन्त में, एक पैरे मे भारत को बैंक से लाभ अर्थात् बैंक से भारत को कब-कब व कितने कितने ऋण प्राप्त हुये हैं उनके बारे में लिखिये (एक पृष्ठ)।

प्रश्न २.—(i) पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर एक नोट लिखिये। भारत ने इस बैंक को सेवाओं से क्या लाभ उठाया है ? (Agra B. A. १९५६, १९५७) (ii) "The world Bank's relationship with India is probably more extensive than with any of its 68 member Countries." Discuss it in the light of the various loans granted to this country (Raj, [redacted] Com 1959), (iii) "The establishment of the two monetary institutions—the I M F & the I B [redacted] and D —has proved a boon at the present time" In the light of this statement examine the objects of these two institutions and say how far India has been benefitted by them (Bihar, B Com. 1959)

सकेत—उपरोक्त प्रश्नो में तीन बातें पूछी गई हैं—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर नोट (मुख्य-मुख्य विशेषताएँ) लिखिये (उपरोक्त प्रश्न १ पढ़िये)। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के महत्व को बताइये ("अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष" नामक अध्याय पढ़िये)। तृतीय भाग मे भारत को बैंक से मिले ऋणो की विस्तृत विवेचना कीजिये (चार-पाँच पृष्ठ)। अन्त मे उद्देश्यों के आधार पर, पुनः भारतीय उदाहरणों को सक्षेप मे देकर, बैंक के महत्व को बताइये (आधा पृष्ठ)।

"Foreign Exchange is the Science and Art of international money exchanging"
Hartley Withers

भाग १: : खंड ३

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

[अध्याय १६- विदेशी विनिमय]

ABOUT FOREIGN EXCHANGE

(A) *'Foreign Exchange is the Science and Art of International money exchanging'*—Hartley Withers

(B) *When two countries currencies are on Gold Standard their currency units are either gold coins or are convertible into gold at fixed rates Moreover gold freely moves between the countries The par of exchange between such countries is called the Mint Par of Exchange This is arrived at by equating the amount of gold contained in the currency units (or given in exchange for them by currency authorities respectively) of the two countries There can be no Mint Par between a gold standard and a silver standard country"*

(C) *The rate of exchange obtained by comparing price levels of two countries is called the Purchasing Power Parity"*

' The rate of exchange between two countries, must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of these currencies This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in a foreign currency is ultimately a price which must stand in a certain relation to the prices of commodities in the home market '

—Gustav Cassels

' While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply in the long run, that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing powers over goods and services In other words, the rate of exchange tends to rest at the point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies . This point is called the Purchasing Power Parity '—Thomas

BE CAREFUL ABOUT THEM

1 Good hand writing is an asset these days

2 Carefully study the wordings of the question so that you may know precisely as to what the examiner wants e g The words 'State , 'Describe , 'Explain , and Elucidate' require simple explanation, whereas detailed criticism is wanted in the case of the words 'Discuss , 'Examine' and 'Comment '

3 How to write is more important than what to write in order to secure more marks (Read Appendix)

अध्याय १६

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय का अर्थ (Meaning of Foreign Exchange):—विदेशी विनिमय के अर्थ भिन्न-भिन्न किये जाते हैं:—

(१) विस्तृत अर्थ—हॉर्टले विदर्स (Hartley Withers) ने विदेशी विनिमय शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन (या विनिमय) का विज्ञान एवं कला है" ("Foreign Exchange is the Art and Science of International Money Exchanging"—Hartley Withers: *Money Changing*)। कला के रूप में इसका सम्बन्ध उन सब संस्थाओं (Institutions) तथा यन्त्रों (Instruments) से है जो विदेशी भुगतानों में सहायता करते हैं और विज्ञान के रूप में इसका सम्बन्ध न केवल उस विनिमय की दर से है जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है बल्कि इसका सम्बन्ध उन सब उपायों व रीतियों से भी है जो विनिमय की जटिल समस्याओं को हल करती हैं। इस तरह विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस प्रणाली से है जिसकी सहायता से व्यापारिक राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करते हैं।* अर्थात् इसका अभिप्राय उन समस्त क्रियाओं से है जिनके द्वारा दो देशों के व्यापारी अपने विदेशी दायित्वों का भुगतान करते हैं।

(२) संकुचित अर्थ:—विदेशी विनिमय का अर्थ संकुचित दृष्टिकोण से भी कई प्रकार से दिया जाता है। (क) जब हम कह सकते हैं विनिमय बैंक्स (Exchange Banks) या अन्य बैंक्स विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करते हैं, तब इसका अभिप्राय केवल विदेशी विनिमय बिल्स (Foreign Bills of Exchange) से होता है। (ख) जब हम यह कहते हैं कि विदेशी विनिमय हमारे देश के विपक्ष में है, तब इसका अभिप्राय केवल विनिमय की दर (Rate of Exchange) से होता है।

सारांश—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्रियों में 'विदेशी विनिमय' के सही अर्थों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। परन्तु वास्तव में विदेशी विनिमय उस पद्धति का द्योतक है जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का भुगतान करते हैं। इस दृष्टिकोण से विदेशी विनिमय के अन्तर्गत उन यन्त्रों, साधनों, रीतियों तथा उपायों का समावेश है जिनकी सहायता से दो राष्ट्रों के बीच विदेशी भुगतान चुकाए जाते हैं।

विदेशी विनिमय की समस्या
(Problem of Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय की क्या समस्या है ? (What is the Problem of Foreign

*"The system by which commercial nations discharge their debts to each other."—Encyclopaedia Brittanica.

Exchange ?) —राष्ट्रों की आर्थिक आत्म-निर्भरता के समाप्त हो जाने तथा शनै-शनै अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उत्पन्न हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समस्या को जन्म मिला है। प्रत्येक देश की अपनी अपनी अपरिमित कानूनी मुद्रा होती है और यह केवल इस देश के अन्दर ही कानूनी ग्राह्य होती है। देश के निवासी अपने आन्तरिक व्यवहार इसी मुद्रा मे करते हैं और विदेशो से भी भुगतान अपने देश की मुद्रा मे ही स्वीकार करते हैं। परन्तु इनके सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि वे विदेशी भुगतान लिए कौनसी मुद्रा प्रयोग में लायें ? यह स्मरण रहे कि विदेशी भुगतान की समस्या स्वर्ण-मान मे इतनी जटिल नहीं थी जितनी कि यह आज स्वर्ण-मान के टूट जाने के बाद हो गई है क्योंकि स्वर्ण-मान में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान स्वर्ण मे कर सकता था, परन्तु आज कोई भी देश अपने स्वर्ण कोष को खोकर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करना पसन्द नहीं किया करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यापारिक भुगतान के लिए सोने को मगाना, भेजना, परखना आदि न केवल बहुत खर्चीला है बल्कि यह बहुत असुविधाजनक भी है। इसीलिए भुगतान कार्यों में स्वर्ण का प्रयोग अब तो लगभग बन्द हो गया है। परिणामत आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक व्यवसाय या सौदे, (Transaction) में हमें अपने देश की मुद्रा को विदेश की मुद्रा में बदलना पड़ता है। यही कारण है कि विदेशी व्यापार आन्तरिक व्यापार की तुलना मे सदा जटिल रहता है क्योंकि इसमें हमें प्रत्येक व्यवहार के लिये अपने देश की मुद्रा को विदेशो की मुद्राओं में बदलना पड़ता है। अत यह स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय की अनेक समस्याएँ हैं—एक देश का व्यापारी विदेशों से माल मगा कर उनका भुगतान किस प्रकार करे ? कौन-कौन सी संस्थाएं और किस प्रकार उसे इस भुगतान में सहायता देती हैं ? व्यापारी को अपने देश की मुद्रा के बदले में कितनी विदेशी मुद्रा मिलती है या मिलनी चाहिए ? आदि। प्रस्तुत अध्याय में आगे चल कर हम विदेशी विनिमय की उक्त और उक्त से सम्बन्धित समस्याओं का ही अध्ययन करेंगे। यही कारण है कि हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने विदेशी विनिमय को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन का विज्ञान एव कला कहा है।"

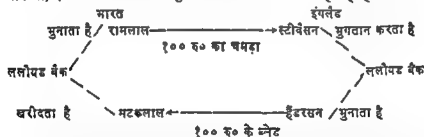
विदेशी भुगतान के तरीके
(Methods of Foreign Payments)

विदेशी भुगतान करने के तरीके (Methods of Foreign Payments) —एक देश दूसरे देश को तीन मुख्य तरीकों से भुगतान कर सकता है। कोई देश कौन-सा तरीका अपनाता है यह बहुत कुछ क्रेता व विक्रेता देशों की आपसी शर्तों पर निर्भर है। ये तीन तरीके इस प्रकार हैं—(1) वस्तुओं की निर्यात (Export of Commodities) – यदि कोई देश किसी दूसरे देश से वस्तुओं की आयात करता है, तब वह इनका भुगतान उस देश की आवश्यकता की वस्तुओं का निर्यात करके कर सकता है। परन्तु यह तरीका दो कारणों से बहुत दोषपूर्ण है—(क) यह सम्भव है कि आयातकर्ता देश निर्यातकर्ता देश की आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा मे नही दे सके क्योंकि हो सकता है कि आयात-कर्ता देश में इन वस्तुओं का उत्पादन ही नही होता हो और यदि उत्पादन होता भी है तब हो सकता है कि यह पर्याप्त मात्रा म नहीं होता हो (ख) वस्तु विनिमय प्रणाली

(Barter System) की तमाम कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय-वस्तु-विनिमय में भी बहुत ही तीव्र गति से उपलब्ध होंगी। अतः इन दोनों कारणों से वस्तुओं का निर्यात करके विदेशी भुगतान करने की रीति बहुत सरल व सुविधाजनक सम्भव नहीं है। (ii) स्वर्ण का निर्यात (Export of Gold):—विदेशी वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान स्वर्ण के सिक्के या स्वर्ण का निर्यात करके भी किया जा सकता है। परन्तु यह विधि भी दो कारणों से दोषपूर्ण है-(क) यह बहुत खर्चीली है (किराया, पैकिंग, बीमा, आयात व निर्यात कर के कारण)। (ख) यह बहुत असुविधाजनक भी है क्योंकि किसी एक देश के कितने ही व्यक्तियों का लेन-देन विदेश के कितने ही व्यक्तियों से होता है। इसीलिए स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता लाने के लिए तथा भुगतान के कार्यों को सुविधाजनक बनाने के लिए आजकल इस रीति का प्रायः उपयोग नहीं किया जाता है। (iii) विदेशी विनिमय-विपत्रों (बिलों) द्वारा विदेशी ऋणों का भुगतान करना:—उक्त दोनों रीतियों में बहुत दोष होने के कारण ही आजकल यह तीसरा मार्ग अपनाया गया है। इस रीति में स्वर्ण का उपयोग दिन प्रति दिन के भुगतानों में नहीं किया जाता है वरन् इसका उपयोग सामयिक भुगतानों के लिये ही होता है। इस प्रणाली में एक देश के व्यापारी विदेशी विनिमय के स्वत्वों (Titles of Foreign Exchange) द्वारा दूसरे देश के व्यापारियों को अपने ऋण का भुगतान करते हैं। ये विनिमय-विपत्र (Bills) मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—(क) बिल्स ऑफ एक्सचेंज, (ख) बैंकर्स ड्राफ्ट तथा (ग) टेलीग्राफिक ट्रान्सफर्स। ये विनिमय विपत्र (Bills) विनिमय-बैंकों द्वारा ही खरीदे-बेचे जाते हैं।

(क) बिल्स ऑफ एक्सचेंज (Bills of Exchange)

बिल्स ऑफ एक्सचेंज की कार्यप्रणाली (Working of a Bill of Exchange):—मान लो, इंगलैंड और भारत में वस्तुओं की आयात और निर्यात हो रही है:—



मान लो, भारतीय व्यापारी रामलाल ने इंगलैंड के व्यापारी स्टीवेंसन को १०० रुपए का चमड़ा और इंगलैंड के व्यापारी हैंडरसन ने भारतीय व्यापारी मटरूलाल को १०० रुपए के ब्लेड भेजे हैं। इस तरह स्टीवेंसन को रामलाल को १०० रुपये और मटरूलाल को हैंडरसन को १०० रुपये देने हैं। यदि बिलों का प्रयोग न करके स्वर्ण से भुगतान किया जाता है, तब स्टीवेंसन और मटरूलाल दोनों को ही उनके द्वारा प्राप्त माल का भुगतान सौ-सौ रुपये का स्वर्ण भेजकर करना पड़ेगा। स्वर्ण भेजकर विदेशी भुगतान करने की पद्धति बहुत असुविधाजनक होती है, इसीलिए दोनों देशों का भुगतान बिल्स द्वारा किया जाता है। यदि बिलों द्वारा आपसी भुगतान किये जाते हैं तब केवल एक

बिल से ही दोनो देशो में दोनो ऋणो का भुगतान हो जाता है। मान लो, रामलाल ने स्टीवेंसन को माल भेजते समय उस पर साथ ही साथ १०० रुपए का बिल भी जारी कर दिया है। स्टीवेंसन इस बिल को स्वीकृत (Accept) करके रामलाल के पास भेज देगा। रामलाल इस बिल को ललोयड बैंक (Lloyd Bank) से भुनाकर तत्काल रुपया प्राप्त कर लेता है। यह बैंक भी इस बिल की रकम में से उसके परिपक्व (Maturity) होने की अवधि के अनुसार सूद की रकम काटकर बाकी रकम रामलाल को दे देगा। भारत का व्यापारी मटरूलाल इगलैंड के व्यापारी हैंडरसन को उसके माल का भुगतान करना चाहता है। वह ललोयड बैंक से उक्त बिल को खरीद लेगा और हैंडरसन को भेज देगा। इस प्रकार भारतीय ललोयड बैंक को वह रकम वापिस प्राप्त हो जाती है जो उसने रामलाल को दी है। हैंडरसन ललोयड बैंक की इगलैंड वाली शाखा से इस बिल को भुना लेता है। यह बैंक बिल के परिपक्व (Maturity) होने की बाकी अवधि के अनुसार सूद काटकर बिल की बाकी रकम हैंडरसन को दे देता है। स्टीवेंसन ने बिल को स्वीकृत करते समय ही यह वायदा कर लिया था कि बिल के परिपक्व होते ही वह उसकी रकम की अदायगी कर देगा, इसलिये इगलैंड वाली ललोयड बैंक की शाखा अमुक समय पर हैंडरसन को दी रकम स्टीवेंसन से वापिस प्राप्त कर लेती है। अत हैंडरसन को पौंड मे और रामलाल को रुपयों में अपने अपने माल का मूल्य प्राप्त हो जाता है। इस तरह न तो स्वर्ण का ही निर्यात होता है और न इसके निर्यात में होने वाली असुविधायें ही किसी पक्ष को सहन करनी पड़ती हैं। अत विदेशी बिल्स की यह प्रणाली किराया, आयात निर्यात कर, पैकिंग का व्यय, बीमे का व्यय आदि म बहुत बचत करती है। इसके अतिरिक्त इससे बहुमूल्य धातु में घिसावट भी नहीं होती और व्यापारियों को सोना भेजने की असुविधा व जोखिम भी सहन नही करनी पड़ती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिलता है।

यह स्मरण रहे कि हमने इस उदाहरण में दोनो देशो के ऋणों की एक सी रकमें (अर्थात् १०० रुपए) मानी हैं क्योंकि हमने यह मान लिया है कि इन दोनों देशों के व्यापारियों ने समान मूल्य की वस्तुओं की आयात निर्यात की है। परन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार का सन्तुलन (Balancing) बहुत कम ही होता है। भारत इगलैंड पर लाखों रु० के बिल्स जारी करता है, इसी प्रकार इगलैंड भारत पर लाखो पौंड के बिल्स जारी करता रहता है। दोनों देशों में आयातकर्ताओं (ऋणी) द्वारा अपने अपने निर्यातकर्ताओं (ऋणदाता) का भुगतान करने के लिये ये बिल्स खरीदे जाते हैं और इस तरह विदेशी ऋणों का भुगतान किया जाता है। इस दशा में यदि किसी देश की निर्यात उसकी आयात से अधिक है अर्थात् उसकी आय (Receipts) उसकी देन (Payments) से अधिक है, तब इस देश में स्वर्ण का आयात होगा। परन्तु वास्तव मे यहाँ पर भी सोने द्वारा तुरन्त भुगतान नहीं किया जाता है। ऊपर हमने केवल दो देशा का उदाहरण लिया है, जबकि वास्तव में किसी समय पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक देश होते हैं। इस दशा में एक देश के कुल ऋणों का सन्तुलन उस देश की कुल आय (Receipts) के साथ किया जाता है और ऐसा करने पर भी यदि कुछ शेष ऋण रह जाता है उसका भुगतान स्वर्ण के निर्यात

द्वारा किया जाता है। यह भी सम्भव है कि स्वर्ण का निर्यात नहीं किया जाय, तब एक देश दूसरे देश का इस रकम का ऋणी रहता है।

(ख) बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft)

बैंकर्स ड्राफ्ट की कार्य-प्रणाली:—विनिमय बिल्स के अतिरिक्त विदेशी भुगतान करने के दो और साधन हैं जिनमें से एक बैंकर्स ड्राफ्ट है। यह एक आन्तरिक ड्राफ्ट की तरह का ही होता है। प्रत्येक विनिमय बैंक की विदेशों में शाखायें होती हैं। यह विनिमय बैंक जितना बड़ा, सुव्यवस्थित तथा प्रभावशाली होता है, उसकी उतनी ही अधिक देशों में शाखायें पाई जाती हैं। इन बैंकों की मदद से विदेशी भुगतान में बहुत मदद मिलती है। मान लो, भारतीय व्यापारी रामलाल को इगलैंड के व्यापारी स्टीवेंसन से मँगाई गई वस्तुओं का भुगतान करना है। रामलाल भारत में किसी भी विनिमय बैंक में रुपया जमा करके, उस बैंक से एक बैंकर्स ड्राफ्ट ले लेगा और उसे स्टीवेंसन के पास भेज देगा। बैंकर्स ड्राफ्ट एक बैंक से उसकी शाखा के लिए या अन्य किसी दूसरे बैंक के लिये यह आदेश होता है कि उसके वाहक (Bearer) को या उसमें नाम लिखे व्यक्ति को मांग पर अमुक मात्रा में मुद्रा दे दे। स्टीवेंसन इस ड्राफ्ट में लिखी रकम को भारतीय विनिमय बैंक की इंगलैंड स्थित शाखा से पौंड-स्टर्लिंग में प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार अपने माल का भुगतान प्राप्त कर लेगा।

टेलीग्राफिक ट्रांसफर (Telegraphic Transfer)

टेलीग्राफिक ट्रांसफर की कार्य-प्रणाली:—विदेशी भुगतान करने का तीसरा महत्वपूर्ण साधन टेलीग्राफिक ट्रांसफर है। प्रायः एक देश से दूसरे देश को ड्राफ्ट में आने-जाने में बहुत समय लगता है। समय की असुविधा को दूर करने के लिए भी व्यापारी कभी-कभी तार द्वारा विदेशियों की रकम का भुगतान करते हैं। इस तरह टेलीग्राफिक ट्रांसफर (T. T.) एक बैंक का अपनी शाखा को एक अमुक रकम का अमुक व्यक्ति को तत्काल भुगतान करने का आदेश होता है।

विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति
(Demand for and Supply of Foreign Currency)

विदेशी मुद्रा की मांग कैसे होती है और उसकी पूर्ति किस प्रकार की जाती है? विदेशी मुद्रा की मांग उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशों से माल मँगाते हैं, जो विदेशों से प्राप्त सेवाओं का भुगतान करना चाहते हैं या जो विदेशों में अपनी पूँजी का विनियोग (Investment) करना चाहते हैं। इसी तरह विदेशी मुद्रा की पूर्ति उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशी मुद्रा पर किसी न किसी तरह अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, चाहे यह अधिकार वस्तुओं की निर्यात द्वारा या सेवाओं द्वारा या पूँजी की आयात द्वारा प्राप्त होता हो। इस प्रकार किसी भी समय विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति निश्चित होती है और इस मांग एवं पूर्ति की परस्पर शक्ति के ऊपर ही विनिमय विपत्रों (Bills of Exchange) का मूल्य निर्भर रहता है। किसी समय के बाजार में विनिमय की दर विदेशी मुद्रा एवं विदेशी मुद्रा के स्वत्व (Titles to Foreign Money) की मांग व पूर्ति में समानता रखती है। यह स्मरण रहे कि विभिन्न देशों में मुद्रा-मान चाहे कोई

सा भी क्यों न हो किसी समय पर विनिमय दर का निर्धारण विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति द्वारा ही होता है। अब हमें यह देखना है कि दो देशों के बीच, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, विनिमय की दर का निर्धारण किस प्रकार होता है? इससे पहले कि हम विनिमय-दर के निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ अध्ययन करें, हमें विनिमय की दर का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिये।

विनिमय की दर (Rate of Exchange)

विनिमय की दर का अर्थ (Meaning of the term Rate of Exchange)—विनिमय की दर की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है —

(१) "विनिमय दर किसी एक मुद्रा का वह मूल्य है जो किसी दूसरी मुद्रा में व्यक्त किया जाता है।" (The value of a currency expressed in terms of another currency is calld its Rate of Exchange") दूसरे शब्दों में, "किसी एक देश की मुद्रा के बदले दूसरे देश की जितनी मुद्रा मिले, यह उसकी विदेशी विनिमय की दर कहलाती है।"

(२) "विनिमय-दर का अर्थ उस दर से है जिस पर एक देश की प्रचलित मुद्रा का दूसरे देश की प्रचलित मुद्रा से विनिमय हो सके।"

(३) 'विनिमय-दर उस दर को कहते हैं जिस पर एक देश के विपत्रों (बिल्स) की बिक्री दूसरे देशों में होती है।"

उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि "विनिमय दर केवल दो देशों की मुद्राओं के विनिमय अनुपात को सूचित करती है।" मान लो, अमेरिका में १ रुपये के बदले में २१ सैन्ट प्राप्त होते हैं, तब हम कहेंगे कि रुपये और डालर की विनिमय दर १ रुपया=२१ सैन्ट या १ डालर=४ ७६ रुपया है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य इसकी मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है और जिस प्रकार इसमें इन शक्तियों के परिवर्तन के अनुसार परिवर्तन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार विदेशी मुद्रा या इनके स्वत्वों (Titles) की मांग और पूर्ति की परस्पर शक्तियों के अनुसार विदेशी विनिमय की दर निश्चित होती है और इस दर में भी परिवर्तन विदेशी मुद्रा या इनके स्वत्वों की मांग और पूर्ति के परिवर्तन के अनुसार हो जाता है। अतः किसी देश की विनिमय की दर सदा स्थिर (Fixed) नहीं रहती है, इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं और इस परिवर्तन का देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा करता है। इसीलिये किसी देश की विनिमय-दर तथा इसमें परिवर्तन का उस देश के आर्थिक जीवन में बहुत महत्व होता है।

विनिमय की समता (Par of Exchange)

विनिमय की समता का अर्थ (Meaning of Par of Exchange)—अभी-अभी ऊपर यह बताया गया है कि विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति की पारस्परिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। जब कभी विदेशी मुद्रा (या इसके बिल्स) की मांग इसकी पूर्ति के बराबर होती है, तब विनिमय की दर में समता (Parity) होती है और विनिमय की इस दर को विनिमय की समता (Par of Exchange) कहते हैं।

परन्तु यदि विदेशी मुद्रा (या इसके स्वत्वों के बिल्स) की पूर्ति इसकी मांग से अधिक है (या देशी मुद्रा की मांग इसकी पूर्ति से अधिक है), तब विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र (Parity) से कम हो जायगा (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र से ऊँचा हो जायगा)। दूसरे शब्दों में, यदि विदेशी बिल्स की पूर्ति अधिक है और मांग कम है, तब विनिमय की दर गिरेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा का मूल्य विनिमय दर की समता (Par of Exchange) से कम हो जायगा और इस अवस्था में विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिये हमको पहले की अपेक्षा अपनी मुद्रायें कम देनी पड़ेंगी। इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा (या इनके बिल्स) की मांग इनकी पूर्ति से अधिक है (या देशी मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग से अधिक है), तब विदेशी मुद्रा का मूल्य विनिमय दर की समता (Par of Exchange) से ऊँचा हो जायगा (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र से नीचा हो जायगा) अथवा विनिमय की दर ऊँची हो जायगी और इस अवस्था में विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिये हमको पहले की अपेक्षा अपनी मुद्राएं अधिक देनी पड़ेंगी।

परन्तु यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो जाता है—विदेशी विनिमय की दर (Rate of Exchange) किस सीमा तक सममात्र (Parity or Par) से ऊपर उठ सकती है या यह किस सीमा तक सममात्र के नीचे गिर सकती है? विनिमय की दर में सममात्र के नीचे या ऊपर क्रमशः घट-बढ़ की कुछ सीमायें (Limits) अवश्य होती हैं, परन्तु ये मर्यादायें (Limitations) विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती हैं। परन्तु यहाँ पर एक बात और याद रहे कि विनिमय की समता (Par of Exchange) स्वयं भी विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित होती है अर्थात् विभिन्न देशों की मुद्रा-मान पद्धतियों के अनुसार ही विनिमय की समता भी भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है। अतः हम विनिमय की दर के निर्धारण की समस्या का अध्ययन चार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में करते हैं:-(i) जब दो देश स्वर्ण-मान (Gold Standard) या रौप्य-मान (Silver Standard) पर आधारित होते हैं। (ii) जब एक देश स्वर्ण-मान पर और दूसरा देश रौप्य-मान पर आधारित होता है। (iii) जब एक देश स्वर्ण-मान पर और दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है तथा (iv) जब दोनों देश अपरिवर्तनीय कागजी-मुद्रा पर आधारित होते हैं।

(i) स्वर्ण-मान वाले देशों में विनिमय-दर
(Rate of Exchange in the Gold Standard Countries)

स्वर्ण-मान या रौप्य-मान पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है? (How is the Rate of Exchange determined between the two countries based on the Gold Standard or Silver Standard ?)—जब दो देश स्वर्ण-मान पर आधारित होते हैं, तब इन देशों में या तो सोने के सिक्कों का चलन होता है (Gold Currency Standard) या देश की एक मुद्रा इकाई (Currency Unit) को, एक निश्चित दर पर, सोने में परिवर्तित किया जा सकता है (Gold Bullion Standard) या एक देश की मुद्रा का सम्बन्ध ऐसे देश की मुद्रा से स्थापित कर दिया जाता है जो स्वर्ण-मान पर होता है (Gold Exchange Standard)।

स्वर्ण मान देशों में स्वर्ण की आयात-निर्यात भी बिना किसी प्रतिबन्ध एव रुकावट के हुआ करती है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य जानता है कि वह अपने देश की मुद्रा के बदले दूसरे देश से कितना स्वर्ण प्राप्त कर सकता है या दूसरे देश की मुद्रा के बदले उसे कितना स्वर्ण देना पड़ेगा। यही कारण है कि स्वर्ण-मान देशों में विनिमय-दर का निर्धारण सरल होता है।

जब दो देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित होती हैं, तब इन देशों की मुद्राओं का मूल्य (क्रय-शक्ति) स्वर्ण के माध्यम द्वारा नापा जा सकता है अर्थात् हम इन देशों की मुद्राओं का मूल्य उनकी स्वर्ण में जो क्रय-शक्ति होती है उससे नाप सकते हैं। तब इन दोनों स्वर्ण मान वाले देशों में विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है? यह दर इन देशों की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके प्राप्त की जा सकती है। जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय इस प्रकार होता है कि वे अपने-अपने देशों में एक ही मात्रा में सोना खरीदते हैं, तब विनिमय की दर में समता (Parity) होती है। इस स्थिति में जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय होता है, तब न तो लेन वाले और न देने वाले देश को किसी प्रकार का लाभ या हानि होती है। अत जब दो देशों में स्वर्ण मान होता है और स्वर्ण की आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, तब इन दोनों देशों की मुद्राओं की विनिमय की दर (Rate of Exchange) इनके प्रमाणित सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है। स्वर्ण क्रय-शक्ति की समानता द्वारा जो विनिमय की दर प्राप्त होती है, अर्थशास्त्र में उसे 'विनिमय की टकसाली दर" या "टक समता दर" (Mint Par of Exchange) या "स्वर्ण मूल्य समानता दर" (Gold Par of Exchange) कहते हैं। टामस (Thomas) के शब्दों में, "टक समता वह अनुपात है जो एक ही धातु मान पर आधारित राष्ट्रों की प्रमाणित मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु-साम्य से व्यक्त होता है।"* अत. टक-समता का अभिप्राय है—एक देश की विशुद्ध स्वर्ण-मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा का विशुद्ध स्वर्ण म मूल्य या रौप्य-मान (Silver Standard) वाले राष्ट्रों में चाँदी का चाँदी में मूल्य। स्वर्ण मान देशों में विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इस टक-समता के बराबर हो जाने की होती है यद्यपि समय-समय पर वास्तविक विनिमय-दर इस टक-समता से कुछ कम या कुछ अधिक भी हो सकती है।

---

* "Mint Par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard"—Thomas Banking and Exchange

उक्त वाक्य में Statutory शब्द को भली प्रकार समझ लेना चाहिये। स्वर्णमान पर आधारित राष्ट्रों की मुद्रा के "वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य" से ही टक-समता निश्चित की जाती है न कि उसके "वास्तविक मूल्य" से। जब तक विधान में परिवर्तन नहीं होता टक-समता मे भी परिवर्तन नहीं होता है। इसीलिये क्लेयर और क्रम्प ने कहा है—"The Mint Par depends, in short, not on the coin itself, but on the legal definition of it, not on the sovereign de-facto, but on the sovereign de jure unless and untill the law is altered, the mint par cannot alter"
—Clare and Crump : *A B, C of Foreign Exchange*

टंक समता का निर्धारण
(Determination of Mint Par of Exchange)

प्रत्येक स्वर्ण-मान देश में प्रमाणित मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य (रोप्य-मान देश मे प्रमाणित मुद्रा का रोप्य-मूल्य) कानून द्वारा निश्चित किया जाता है। इस स्वर्ण-मूल्य (या रोप्य-मूल्य) में से ही हम विशुद्ध स्वर्ण का मूल्य मालूम करते हैं और इसके आधार पर टंक-समता (Mint Par of Exchange) मालूम करते हैं।

मान लो, हमें अमेरिका और इगलंड के बीच विनिमय की दर मालूम करना है। ये दोनों देश स्वर्ण-मान पर हैं।

१ अंग्रेजी पौंड (सावरन) में १२३·२७४ ग्रेन सोना $\frac{११}{१२}$ शुद्धता का होता है। इसलिए १ पौंड मे $\frac{१२३·२७४ \times ११}{१२}$ अर्थात् ११३·००१६ ग्रेन विशुद्ध सोना होता है।

इसी प्रकार अमरीकी सिक्का ईगल (Eagle) है जिसमे १० डॉलर होते हैं। १ ईगल में २५८ ग्रेन सोना $\frac{९}{१०}$ शुद्धता का होता है। इस तरह १० डॉलर में २५८ ग्रेन $\frac{९}{१०}$ शुद्धता का सोना होता है या १० डालर में $\frac{२५८ \times ९}{१०}$=२३२·२ ग्रेन विशुद्ध सोना होता है। अतः १ डॉलर में $\frac{२३२·२}{१०}$=२३·२२ ग्रेन विशुद्ध सोना होता है।

जब २३·२२ ग्रेन विशुद्ध सोना १ डॉलर के बराबर होता है, तब ११३·००१६ ग्रेन विशुद्ध सोना बराबर है, $\frac{११३·००१६ \times १}{२३·२२}$ डॉलर अर्थात् ४·८६६५ डालर के।

चूंकि ११३·००१६ ग्रेन विशुद्ध सोना एक पौंड (या सावरन) में होता है, इसलिये १ पौंड बराबर है ४·८६६५ डालर के।

अतः पौंड या डालर में टंक-समता (Sterling-Dollar Mint Par of Exchange) है:—१ पौंड=४·८६६५ डालर*।

इसका अर्थ हुआ कि यदि इंगलैंड और अमेरिका के बीच विनिमय समपात्र (Exchange at Par) है तब एक न्यूयार्क के आयातकर्ता को न्यूयार्क में ४·८६६५ डॉलर देने पर लन्दन में १ पौंड मिल सकेगा। इसी तरह इंगलैंड का एक व्यापारी लन्दन में १ पौंड देकर अमेरिका में ४·८६६५ डालर का भुगतान कर सकेगा।

यह स्मरण रहे कि यदि दो देश रोप्य-मान (Silver Standard) पर आधारित

---

* यह स्मरण रहे कि पौंड-डालर मे यह टंक-समता—१ पौंड=४·८६६५ डालर तब ही तक है जब तक कि विधान के अनुसार पौंड मे ११३·००१६ ग्रेन विशुद्ध सोना और डॉलर में २३·२२ ग्रेन विशुद्ध सोना है। परन्तु यदि कानून द्वारा पौंड या डॉलर में विशुद्ध सोने की मात्रा बदल दी जाती है, तब टंक-समता में भी परिवर्तन हो जायगा। अतः जब तक कानून द्वारा प्रमाणित मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य मे परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक टंक-समता में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि टंक-समता स्थायी समता होती है (Mint Par is a Fixed Par)।

हैं, तब इनके बीच भी इसी प्रकार टक-समता (Mint Par of Exchange between countries based on Silver Standard) निर्धारित की जा सकती है।

टंक-समता से परिवर्तन और स्वर्णाङ्क
(Variations from the Parity and the Specie Points)

स्वर्णमान देशो में विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टक समता (Mint Par of Exchange) के बराबर हो जाने की होती है। परन्तु वास्तविक जीवन में विनिमय की दर टक-समता (Mint Par) के बराबर बहुत कम हुआ करती है अर्थात् व्यवहार में विनिमय की दर टक-समता से कभी ऊपर तो कभी नीचे होती है। यह स्थिति क्यों उत्पन्न होती है? इसका कारण स्पष्ट है। यह हम पहले पढ ही चुके हैं कि किसी समय पर विनिमय की दर विदेशी मुद्रा अथवा विदेशी विनिमय बिलों की मांग और पूर्ति के अनुसार निर्धारित होती है। परिणामतः इन बिलो की मांग एव पूर्ति के प्रत्येक परिवर्तन से बिल्स का मूल्य टक-समता से कभी ऊपर हो जाता है तब यह कभी नीचे हो जाता है। दूसरे शब्दों में, विनिमय की दर में व्यापार की प्रगति के अनुसार और उसके फलस्वरूप बिल्स की मांग और पूर्ति के परिवर्तन के अनुसार सदैव उतार-चढ़ाव (Variation) होता रहता है। परन्तु क्या यह उतार-चढ़ाव किसी सीमा तक होता है? यह स्मरण रहे कि विनिमय की दर के उतार-चढ़ाव की भी कुछ सीमायें (Limitations) हैं जिन्हें हम उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Upper Gold Point) तथा निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (Lower Gold Point) कहते हैं।

विनिमय की दर में उच्चावचन (Fluctuation) की क्या सीमायें हैं?—जब दो देश स्वर्ण-मान पर होते हैं और स्वर्ण एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना किसी रोक-टोक के भेजा जा सकता है, तब विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव की मर्यादायें स्वर्ण के भेजने में जो व्यय होता है (पैकिंग, कार्टिंग, जहाज का व्यय, बीमा करने का व्यय तथा अन्य छोटे-छोटे व्यय, जब स्वर्ण रास्ते मे होता है उस समय के ब्याज की हानि, जब बैंक स्वर्ण को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजता है, तब वह भी लाभ लेता है आदि। इन सबके योग को हम यहाँ पर स्वर्ण के भेजने का व्यय कहते हैं) उस व्यय से निश्चित होती हैं। किसी समय पर टक-समता की दर मे स्वर्ण भेजने के लिये जो व्यय (Cost of transmitting Specie) होता है, उसे जोड देने पर हम विनिमय की दर की उच्चतम सीमा (Upper Limit) प्राप्त करते हैं (बिल्स के मूल्य की यह अधिकतम सीमा है) और इसी तरह जब हम टक-समता की दर में से स्वर्ण भेजने का जो व्यय होता है उसे घटा देते हैं, तब हम विनिमय की दर की निम्नतम सीमा (Lower Limit) प्राप्त करते हैं (बिल्स [redacted] मूल्य की यह न्यूनतम सीमा है)। यह बात एक उदाहरण से भी स्पष्ट की जा सकती है। मान लो, इगलैंड और फ्रांस में व्यापार हो रहा है और भुगतान का सतुलन फ्रास के प्रतिकूल है अर्थात् फ्रास में अंग्रेजी पौंड की मांग उसकी पूर्ति से अधिक है। इस अवस्था में फ्रास की मुद्रा का मूल्य कम हो जायगा और इगलैंड की मुद्रा का मूल्य बढ जायेगा। मान लो, फ्रास और इगलैंड के बीच टक समता (Mint Par of Exchange) है १ पौंड=२५·२२१५ फ्रैंक और यह

भी मान लो कि फ्रांस से इंगलैंड को २५·२२१५ फ्रैंक का सोना भेजने या मंगाने का व्यय बराबर है ०·३ फ्रैंक। चूँकि फ्रांस में इस समय प्रतिकूल भुगतान का सन्तुलन है और फ्रांस के व्यापारियों को इंगलैंड के व्यापारियों को रकम का भुगतान करना है, इसलिये फ्रांस के व्यापारी को इंगलैण्ड में १ पौंड का भुगतान करने के लिये अब २५·२२१५ फ्रैंक से अधिक फ्रैंक देने पड़ेंगे। परन्तु फ्रांस का एक व्यापारी इंगलैंड में १ पौंड का भुगतान करने के लिये कितने फ्रैंक अधिक से अधिक देने के लिये तैयार हो जायेगा ? इंगलैण्ड में १ पौंड का भुगतान करने के लिये फ्रांस का व्यापारी फ्रांस में १ पौंड के विनिमय बिल के लिये अधिक से अधिक टकसमता की दर+सोने के भेजने का व्यय अर्थात् (२५·२२१५+०·३=) २५·५२१५ फ्रैंक देने के लिये तैयार हो जायेगा। परन्तु यदि उसे फ्रांस में ही १ पौंड के बिल के खरीदने के २५·५२१५ फ्रैंक से अधिक रकम देनी पड़ती है, तब वह बजाय बिल्स ऑफ एक्सचेंज द्वारा इंगलैंड में भुगतान करने के, वह स्वयं सोना खरीदकर इंगलैण्ड को भेजना आरम्भ कर देगा क्योंकि उसकी दृष्टि से इंगलैण्ड को सोना भेजना उचित ही नहीं है वरन् यह लाभदायक भी है।* इससे स्पष्ट है कि फ्रांस से सोने को निर्यात तब आरम्भ होती है जबकि इंगलैण्ड में १ पौंड का भुगतान करने के लिये व्यापारी को २५·५२१५ फ्रैंक से अधिक रकम देनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, १ पौंड=२५·५२१५ फ्रैंक की सीमा वह सीमा है जिससे अधिक वास्तविक विनिमय दर होने पर सोना फ्रांस से इंगलैण्ड को जाने लगेगा। फ्रांस की दृष्टि से इस सीमा (या बिन्दु) को स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु या उच्चतम-स्वर्ण-बिन्दु (Gold Export Point or Upper Gold Point) और इंगलैण्ड की दृष्टि से स्वर्ण-आयात-बिन्दु या न्यूनतम स्वर्ण-बिन्दु (Gold Import Point or Lower Gold Point) कहते हैं। कभी-कभी हम उच्चतम-स्वर्ण-बिन्दु और न्यूनतम स्वर्ण बिन्दु को क्रमशः उच्चतम स्वर्णांक और न्यूनतम स्वर्णांक (Upper Specie Point and Lower Specie Point) भी कहते हैं। अतः किसी समय पर विनिमय की उच्चतम सीमा या उच्चतम स्वर्णांक (*Upper Specie Point*)=*टंक समता की दर*+स्वर्ण-परिवहन-व्यय (Cost of Transmiting Gold) और यह वह दर है जिससे अधिक विनिमय की दर होने पर स्वर्ण एक देश (फ्रांस) से दूसरे देश इंगलैंड को बहने लगता है।

इसी प्रकार विनिमय की दर गिरने की भी न्यूनतम सीमा (Lower Limit) होती है। यह सीमा कैसे निर्धारित होती है ? जब हम टक समता की दर में से स्वर्ण के मगाने के लिए जो कुछ व्यय होता है, उसे घटा देते हैं तब हमें विनिमय की दर की

---

* यह स्मरण रहे कि स्वर्ण-मान में एक देश के व्यापारी के लिये विदेशों में भुगतान करने के दो उपाय होते हैं.—प्रथम, व्यापारी विनिमय बैंक से विदेशी मुद्रा (बिल्स) खरीदकर भुगतान कर सकता है, द्वितीय, व्यापारी सोना विदेशों को भेजकर अपने ऋण से मुक्त हो सकता है। ये दोनों ही रीतियाँ उपयोग में लाई जाती हैं, परन्तु किसी समय-विशेष पर किस रीति से भुगतान किया जायगा, यह इस बात पर निर्भर रहता है कि व्यापारी के लिए कौनसी रीति लाभदायक है।

न्यूनतम सीमा पता चल जाती है (बिल्स के मूल्य की यह निम्नतम सीमा है)। यह बात भी एक उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। उक्त उदाहरण के आधार पर अब हम यह मान लेते हैं कि भुगतान का सन्तुलन फ्रास के अनुकूल और इगलैण्ड के प्रतिकूल है। इसका अर्थ यह हुआ कि इगलैण्ड में इगलैण्ड के व्यापारी की फ्रैंक की मांग इसकी पूर्ति से अधिक है। इस अवस्था में, इगलैण्ड की मुद्रा का मूल्य कम हो जायगा और फ्रास की मुद्रा का मूल्य अधिक हो जायगा। दूसरे शब्दो में, इगलैंड के व्यापारी को फ्रास मे २५ २२१५ फ्रैंक (टक समता दर है—१ पौंड=२१·२२१५ फ्रैंक) का भुगतान करने के लिये पहले से अधिक पौंड खर्च करने पड़ेंगे। इसका यह भी अर्थ हुआ कि इगलैंड में इगलैंड [redacted] व्यापारी को प्रति पौंड पहले से कम फ्रैंक प्राप्त होंगे क्योंकि अब पौंड का मूल्य कम और फ्रैंक का मूल्य अधिक हो गया है। पूर्व की तरह हम यहाँ पर भी यह मान लेते हैं कि इगलैंड और फ्रास के बीच टक-समता की दर (Mint Par of Exchange) है = १ पौंड=२५·२२१५ फ्रैंक और इगलैंड से फ्रास को १ पौंड का सोना भेजने या मँगाने का व्यय बराबर है २ शिलिंग के (यह बात मान ली गई है कि २ शिलिंग=०·३ फ्रैंक के)। चूंकि फ्रास मे इस समय अनुकूल भुगतान का सन्तुलन है, इसलिए इगलैंड के व्यापारियो को फ्रास के व्यापारियो का भुगतान करना है। इगलैंड मे प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन होने के कारण पौंड का फ्रैंक में मूल्य कम हो गया है जिसके कारण इगलैंड के व्यापारी को फ्रास मे २५·२२१५ फ्रैंक का भुगतान करने के लिये अब एक पौंड से अधिक रकम व्यय करनी पडेगी। यहाँ पर भी वही पुराना प्रश्न उत्पन्न हो जाता है—इगलैंड का एक व्यापारी फ्रास मे २५ २२१५ फ्रैंक का भुगतान करने के लिये कितने पौंड अधिक से अधिक देने के लिये तैयार हो जायेगा? फ्रास मे २५ २२१५ फ्रैंक का भुगतान करने के लिये इगलैंड का व्यापारी इगलैंड में २५·२२१५ फ्रैंक के विनिमय बिल के लिये अधिक से अधिक टक समता की दर+सोने के भेजने का व्यय अर्थात् १ पौंड+२ शिलिंग=२२ शिलिंग देने के लिये तैयार हो जायगा। परन्तु यदि उसे इगलैंड में २५·२२१५ फ्रैंक के विनिमय बिल के लिये २२ शिलिंग से अधिक रकम देनी पड़ती है, तब वह बजाय विनिमय बिल्स द्वारा फ्रास में भुगतान करने के, वह स्वय ही सोना खरीद कर फ्रास को भेज देगा क्योंकि यह कार्य उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक रहेगा। इससे स्पष्ट है कि इगलैंड से सोने की निर्यात् तब ही आरम्भ होती है जबकि फ्रास में २५ २२१५ फ्रैंक का भुगतान करने के लिये इगलैंड के व्यापारी को २२ शिलिंग से अधिक रकम देनी पड़ती है। इस तरह,

जब, १ पौंड+२ शिलिंग=२५ २२१५ फ्रैंक,

तब, १ पौंड=२५·२२१५—२ शिलिंग और चूंकि २ शिलिंग को हमने ०·३ फ्रैंक के बराबर मान लिया है,

इसलिये, १ पौंड=२५·२२१५—० ३ फ्रैंक

=२४·९२१५ फ्रैंक

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि १ पौंड=२४·९२१५ फ्रैंक वह सीमा है जिससे कम विनिमय दर हो जाने पर स्वर्ण इगलैंड से फ्रास को बहने लगेगा। इस सीमा (या

बिन्दु) को हम निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु या निम्नतम स्वर्णांक (Lower Gold Point or Lower Specie Point) कहते हैं।* अतः किसी समय पर विनिमय की दर की निम्नतम सीमा या निम्नतम स्वर्णांक=टंक समता की दर—स्वर्ण परिवहन व्यय और यह वह दर है जिससे कम विनिमय की दर होने पर स्वर्ण एक देश (इंगलैण्ड) से दूसरे देश (फ्रांस) को बहने लगता है।

सारांश:—यदि दो देश स्वर्ण-मान पर हैं और इनके बीच सोने की आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक होती है, तब इन दोनों देशों की वास्तविक विनिमय दर में उतार-चढ़ाव (क्योंकि विदेशी मुद्रा या इनके स्वत्वों (Titles) की माँग और पूर्ति में सदा परिवर्तन होता रहता है) उन दो सीमाओं के बीच में होगी जो उच्चतम और निम्नतम स्वर्णांकों (Upper and Lower Specie Points) द्वारा निर्धारित होती है अर्थात् ये दोनों स्वर्ण-बिन्दु ही विनिमय की दर के उतार-चढ़ाव की सीमायें निर्धारित करते हैं। परन्तु असाधारण समय में (Abnormal Time) जबकि सोने की आयात-निर्यात नहीं होने पाती, उस समय पर विनिमय की दर इन दोनों मर्यादाओं का उल्लंघन कर सकती है। एक बात और ध्यान में रखने की है कि उक्त स्वर्ण-बिन्दु (Specie Points) भी स्थायी नहीं रहते हैं वरन् ये परिवर्तनशील हैं क्योंकि सोने को एक देश से दूसरे देश को मँगाने या भेजने का व्यय (Cost of Transmitting Gold) या बीमा व्यय (Cost of Insurence) आदि में हमेशा व्यापारिक स्पर्धा के कारण, परिवर्तन होता रहता है।

(ii) स्वर्ण-मान और रौप्य-मान देशों में विनिमय-दर
(Rate of Exchange between the Gold Standard and the Silver Standard Countries)

जब एक देश स्वर्ण-मान पर और दूसरा देश रौप्य-मान पर होता है तब इन दोनों देशों के बीच विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (How is the Rate of Exchange determined when one country is on the Gold Standard and *the other country is on the Silver Standard*):—स्वर्ण-मान तथा रौप्य मान वाले देशों के बीच विनिमय की दर निर्धारित करने के लिये पहले हम यह मालूम कर लेंगे कि स्वर्ण-मान वाले देश की प्रामाणिक-मुद्रा में कितना विशुद्ध सोना है और रौप्य-मान वाले देश की प्रामाणिक मुद्रा में कितनी विशुद्ध चाँदी है। तत्पश्चात् यह मालूम किया जायगा कि चाँदी का स्वर्ण में क्या मूल्य है (यह मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है)। इसके बाद दोनों देशों की मुद्राओं में जितना भी विशुद्ध स्वर्ण है उसकी तुलना करते हैं और इस तुलना के आधार पर इन दोनों मुद्राओं का अनुपात (Proportion) निकाल लेते हैं। इस प्रकार स्वर्ण में प्राप्त अनुपात या स्वर्ण-अनुपात इन दोनों देशों की विनिमय की टंक समता की दर (Mint Par of Exchange) कहलाती है। व्यवहार में विनिमय की दर इस टंक-समता के ऊपर व

* स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं को सामूहिक रूप में स्वर्ण बिन्दु (Gold Points) या धातु-बिन्दु (Specie Points) या पाट-बिन्दु (Bullion Points) कहते हैं।

नीचे घूमती है और उच्चतम व निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं (Specie Points) से मर्यादित होती है।

यह स्मरण रहे कि भारत और इंगलैंड के बीच सन् १८९८ तक रुपये का स्टर्लिंग-मूल्य इसी प्रकार निश्चित किया जाता था। उदाहरणार्थ, भारतीय टंक विधान के अनुसार भारतीय रुपये मे १६५ ग्रेन विशुद्ध चांदी थी। उस समय के मूल्य के अनुसार इस १६५ ग्रेन विशुद्ध चाँदी का मूल्य ७ ५३३४४ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण था। उस समय इंगलैंड के १ पौंड मे ११३ ००१६ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण था। अत जब ७ ५३३४४ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण बराबर है १ रुपये के, तब ११३ ००१६ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण बराबर है ११३·००१६—७·५३३४४ अर्थात् १[illegible] रुपये [illegible]। इसका अर्थ यह हुआ कि १ पौंड बराबर है १५ रुपये के। इसी को इस तरह भी कहा जा सकता है कि १५ रु० बराबर है १ पौंड अथवा २० शिलिंग के अर्थात् १ रु० बराबर है $\frac{२०}{१५}$ शिलिंग के अर्थात् १ शि० ४ पेंस के।

यहा पर भी विनिमय की दर मे उतार-चढाव होता रहता है और यह घट-बढ भी उच्चतम व निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओ (Upper and Lower Gold Points) से मर्यादित होता है। जिस प्रकार हमने दो स्वर्ण-मान वाले देशो मे स्वर्ण बिन्दु (Specie Points) निकाले थे, ठीक उसी प्रकार हम यहा पर भी स्वर्ण बिन्दु निकाल सकते हैं।

(iii) स्वर्ण-मान या रौप्य-मान व पत्र-मुद्रा-मान देशों में विनिमय की दर

(Rate of Exchange between the Gold Standard or Silver Standard and the Paper Currency Standard Countries)

जब एक देश स्वर्ण मान पर है और दूसरा देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा मान पर है, तब इन दोनों देशों के बीच विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है? (How is the Rate of Exchange determined when one country is on the Gold Standard and the other country is on the Inconvertible Paper Currency Standard?) —जब एक देश स्वर्ण-मान (या चादी-मान) पर आधारित है और दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मान पर आधारित है, तब इन दोनों देशों में टंक-समता की दर (Mint Par of Exchange) इस बात [illegible] निश्चित होती है कि दोनो देशों की मुद्राए कितना-कितना सोना (या चादी) खरीद सकती हैं। जिस देश में स्वर्ण-मान (या चादी-मान) है, उसकी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य (या चादी-मूल्य) तो सरकार द्वारा निश्चित होता है, परन्तु जिस देश में अपरिवर्तनीय कागजी-मुद्रा है, उस देश में स्वर्ण का मूल्य बाजार में समय समय पर बदलता रहता है। इस दशा में वास्तविक विनिमय की दर मे कितना उतार-चढ़ाव होगा? उपर्लिखित मुद्रा-मानों की दोनों परिस्थितियो मे तो स्वर्ण बिन्दु (Specie Points) थे जिनसे विनिमय की दर में उच्चावचन (Fluctuation) मर्यादित होता था। परन्तु यहा पर जबकि एक देश में स्वर्ण-मान है और दूसरे देश में पत्र मुद्रा-मान है, विनिमय की दर में कितना उतार-चढ़ाव होगा, इसके लिये कोई भी निश्चित बिन्दु नही है। यह अवश्य है कि स्वर्ण-मान (या चाँदी-मान) वाले देश के लिये एक उच्चतम सीमा (Upper Limit) या स्वर्ण-निर्यात

बिन्दु (Gold Export Point) अवश्य होता है क्योंकि इस देश में निर्यात के लिए स्वर्ण उपलब्ध रहता है अर्थात् इस देश में जब कभी विनिमय की दर स्वर्ण के भेजने के व्यय से अधिक हो जाती है, तब व्यापारियो को स्वर्ण का निर्यात करना ही अधिक लाभदायक रहता है। अतः स्वर्ण-मान वाले देश में विनिमय की दर स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) से ऊंची नही होने पाती है। परन्तु चूंकि दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मान पर आधारित होता है, इसलिये इस देश से स्वर्ण की आयात नही होने पाती है जिससे इस स्वर्ण-मान वाले देश के लिये विनिमय की दर के गिरने की कोई भी सीमा नही होती है। इसी तरह पत्र-मुद्रा-मान वाले देश मे विनिमय की दर में घट-बढ़, उस देश में बिल्स की मांग और पूर्ति पर निर्भर रहेगी, परन्तु यह दर कितनी घटेगी या बढेगी इसके लिए कोई सीमा नही होती है। यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार स्वर्ण-मान वाले देश में विनिमय की दर स्वर्ण-निर्यात बिन्दु से अधिक नही होने पाती है और इसके लिए एक स्वर्ण-निर्यात बिन्दु होता है, ठीक इसी प्रकार यहा पर पत्र-मुद्रा-मान वाले देश के लिए स्वर्ण-आयात बिन्दु होता है, परन्तु इसका स्वर्ण-निर्यात बिन्दु नही होता क्योकि इस देश की पत्र-मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण (या चांदी) से नही होता है। अतः जब दो देशों में से किसी एक में स्वर्ण-मान होता है और देश में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान होता है, तब स्वर्ण-मान वाले देश में विनिमय की दर में वृद्धि तो स्वर्ण-निर्यात बिन्दु से मर्यादित होती है, परन्तु विनिमय की दर में कमी किसी भी बिन्दु से मर्यादित नहीं होती है और पत्र-मुद्रा-मान वाले देश में घट-बढ़ तो किसी भी सीमा से मर्यादित नहीं होती है।

(iv) पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों में विनिमय की दर
(Rate of Exchange in the Paper Standard Countries)

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है? (How is the Rate of Exchange determined between the two Countries based on Inconvertible Paper Standards?):— जब दो देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान पर आधारित होते हैं, तब इन दोनों देशों में विनिमय की दर, उक्त तीनो परिस्थितियों की तरह स्वर्ण-बिन्दुओं (Specie Points) से मर्यादित नही होती है क्योंकि इन दोनो देशो की पत्र-मुद्राएं किसी भी धातु से सम्बन्धित नही होते हैं। अतः इन देशों मे विनिमय की दर विदेशी मुद्रा एवं विदेशी मुद्रा के बिल्स (या स्वत्वों [Titles]) की मांग और पूर्ति से निर्धारित होती है। परन्तु इस विनिमय की दर पर इन देशों की मुद्राओ की क्रय-शक्ति (Purchasing Power) का बहुत प्रभाव पड़ता है और इन मुद्राओं की क्रय-शक्ति में भी मुद्रा-स्फीति (Inflation) या अन्य आर्थिक कारणों से समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। इस दशा में किसी एक देश की मुद्रा के मूल्य की किसी दूसरे देश की मुद्रा के मूल्य से तुलना करने के लिए, हम इन दोनो की मुद्राओं की क्रय-शक्ति का उपयोग करते हैं। अतः अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा पर आधारित देशों की विनिमय दर उनकी क्रय-शक्ति-समता पर निर्भर रहती है। इस बात को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। मान लो, इंगलेंड और फ्रांस दोनों देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं का प्रचलन है और इंगलैंड में 'अ' वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने के लिए

१ पौंड खर्च करना पड़ता है और इन्हीं 'म' वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए फ्रांस में ३० फ्रैंक खर्च करने पड़ते हैं। ताकि ऋणी (Debtor) और ऋणदाता (Creditor) दोनों पक्षों को किसी प्रकार की भी हानि नहीं होने पाये, इसलिये इन दोनों देशों के व्यापारियों को इतनी-इतनी मुद्रा मिलनी चाहिए कि वे इस मुद्रा से समान मात्रा में वस्तुओं व सेवाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकें। यह तभी सम्भव है जबकि दोनों देशों के बीच विनिमय की दर इनकी मुद्रा की क्रय-शक्ति की समता (Purchasing Power Parity) से निश्चित की जाती है। अतः इंगलैंड और फ्रांस में विनिमय की दर १ पौंड =३० फ्रैंक होगी। इस दर पर इंगलैंड में १ पौंड खर्च करके फ्रांस में ३० फ्रैंक का भुगतान किया जा सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि जब दो देशों में धातु मान के स्थान पर अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा-मान होता है, उस समय विनिमय की दर टंक समता (Mint Par of Exchange) से निश्चित न होकर यह पत्र मुद्राओं की क्रय शक्ति समता (Purchasing Power Parity) से निश्चित होती है और यह क्रय-शक्ति समता, टंक-समता की तरह स्थिर न रहते हुए, मूल्य-स्तर में परिवर्तन के कारण, समय समय पर बदलती रहती है।

यह स्मरण रहे कि दीर्घकाल में (Long Period) तो दो पत्र-मुद्रा मान वाले देशों में विनिमय दर उनकी मुद्राओं की क्रय शक्ति की समता (Purchasing Power Parity) द्वारा निश्चित होती है। परन्तु अल्पकाल में (Short Period) अर्थात् किसी समय विशेष पर इन दोनों देशों की विनिमय की दर, किन्हीं आर्थिक कारणों से, क्रय-शक्ति समता से ऊपर या नीचे हो सकती है (यद्यपि दोनों देशों में मूल्य-स्तर (Price Level) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है अथवा दोनों देशों में मुद्रा की क्रय शक्ति पूर्ववत् ही है)। परन्तु विनिमय की दर में इस प्रकार का अन्तर अन्ततः समाप्त हो जाता है और दीर्घकाल में विनिमय की दर क्रय-शक्ति की समता के बराबर हो जाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विनिमय की दर में क्रय-शक्ति समता के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस बात को भी हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। मान लो, किन्हीं कारणों से इंगलैंड और फ्रांस के बीच विनिमय की दर १ पौंड=३० फ्रैंक से बदल कर १ पौंड=३१ फ्रैंक हो जाती है (दोनों देशों का मूल्य-स्तर अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति पूर्ववत् ही है)। इस परिस्थिति में १ पौंड के बदले में फ्रैंक लेना अधिक लाभदायक होगा (क्योंकि क्रय-शक्ति में परिवर्तन नहीं हुआ है) क्योंकि फ्रांस में इन फ्रैंकों से अधिक वस्तुयें व सेवायें खरीदी जा सकती हैं। परिणामतः फ्रांस से इंगलैंड को निर्यात बढ़ जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि इंगलैंड में फ्रैंक की मांग इसकी पूर्ति से अधिक हो जायगी जिससे विनिमय की दर में वृद्धि हो जायगी और अन्ततः यह दर वढ़कर १ पौंड=३० फ्रैंक पर स्थिर हो जायगी। दूसरे शब्दों में, इस परिस्थितियों में विनिमय की दर में वृद्धि हो जाने की प्रवृत्ति तब तक पाई जायगी जब तक कि विनिमय दर १ पौंड=३० फ्रैंक (क्रय शक्ति समता) नहीं हो जाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मान वाले देशों में, विनिमय की दर दीर्घ काल में, इन दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति-समता के बराबर निश्चित हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती

है और अन्ततः यह इसी के बराबर तय भी हो जाती है। दूसरे शब्दों मे, यदि व्यवहार में विनिमय की दर क्रय-शक्ति समता से कभी ऊँची हो जाती है और कभी नीची हो जाती है, परन्तु अन्ततः इसमे क्रय-शक्ति समता के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों मे विनिमय की दर पर मुद्रा-प्रसार (Inflation) अथवा मुद्रा-सकुचन (Deflation) का भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है क्योंकि मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-सकुचन के साथ ही साथ देश में मूल्य-स्तर मे भी परिवर्तन हो जाता है जिससे इन दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति-समता में भी परिवर्तन हो जाता है। इस बात को हम एक साधारण से उदाहरण से समझा सकते हैं। मान लो, इंगलैंड और फ्रांस में क्रय-शक्ति-समता के आधार पर अब तक विनिमय की दर १ पौंड=३० फ्रैंक हो रही है और आज फ्रांस मे मुद्रा स्फीति के कारण वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य तिगुना हो गया है अर्थात् फ्रांस मे फ्रैंक का मूल्य घटकर $\frac{१}{३}$ हो गया है। इस दशा में १ पौंड=९०· फ्रैंक की नई तुल्यता (Parity) होगी क्योंकि जो वस्तुयें व सेवायें अब तक फ्रांस मे ३० फ्रैंक मे खरीदी जाया करती थी, उन्ही के लिये अब ९० फ्रैंक देने पड़ रहे हैं *(यहाँ पर यह बात मान ली गई है कि इंगलैंड मे मूल्य-स्तर पूर्ववत् ही है)*। परन्तु यदि फ्रांस के साथ ही साथ इंगलैंड में भी मुद्रा-स्फीति (Inflation) के कारण वस्तुओं का मूल्य दुगुना हो गया है या पौंड का मूल्य घटकर पहले से आधा हो गया है, तब इन दोनो देशो मे नई तुल्यता होगीः—२ पौंड=९० फ्रैंक अर्थात् १ पौंड =४५ फ्रैंक। अतः हम यह कह सकते हैं कि पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों में विनिमय की दर मुद्रा-प्रसार एव संकुचन अथवा मूल्य-स्तर के परिवर्तनों द्वारा बहुत प्रभावित होती है।

मुद्राओं की क्रय-शक्ति में परिवर्तन अथवा देश के मूल्य-स्तर में परिवर्तन हम निर्देशांको (Index Numbers) से ही माप सकते हैं। अतः पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों मे हम निर्देशांको की सहायता से भी विनिमय की दर निर्धारित कर सकते हैं। इस बात को भी एक उदाहरण की सहायता से समझाया जा सकता है। मान लो, इंगलैंड और फ्रांस के निर्देशांक बढकर क्रमशः २०० और ३०० हो गये हैं अर्थात् पौंड का मूल्य घटकर $\frac{१}{२}$ और फ्रैंक का मूल्य घटकर $\frac{१}{३}$ हो गया है। इस दशा में १ पौंड= $\frac{३० \times ३}{२}$ फ्रैंक अर्थात् ४५ फ्रैंक होगा क्योंकि इंगलैंड और फ्रांस की मुद्राओं [redacted] अवमूल्यन का अनुपात २ : ३ है। अतः गस्टव कैसिल (Gustav Cassel) के अनुसार—"जब दो देशों की मुद्राओं का अवमूल्यन (Depreciation) होता है या हो रहा है, तब इनके विनिमय [redacted] पूर्ववत् सममात्र (Old Par of Exchange) को दोनों देशों की मुद्रा-स्फीति के अनुपात (Quotient) से गुणा करने से इन दोनों देशों की क्रय-शक्ति-समता (Purchasing Power Parity) निकाली जा सकती है।"* विनिमय-दर निश्चित करने का यह एक बहुत ही

*"When two currencies in two countries have been inflated the new Narmol Rate of Exchange will be equal to the Old Rate multiplied by the Quotient between the degrees of Inflation of both countries"—Gustav Cassel.

महत्वपूर्ण तरीका है।

धातु मान और पत्र-मुद्रा-मान मे विनिमय की दर के निर्धारण मे भेद (Differences in the determination of the Rate of Exchange between the Metallic Standard and the Paper Standard) —यदि दो देशो में धातु-मान है और अन्य दो देशो में पत्र-मुद्रा-मान है, तब इन दोनो दिशाओ में विनिमय की दर निश्चित करने में कई भिन्नताएँ पाई जायेंगी। मुख्य-मुख्य भिन्नताएँ इस प्रकार हैं —(i) धातु-मान में विनिमय की दर टक-समता (Mint Par of Exchange) से निश्चित होती है, परन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान में विनिमय की दर दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) से निश्चित होती है। (ii) धातु-मान मे मुद्रा की स्वर्ण मे क्रय-शक्ति से विनिमय की दर निश्चित होती है, परन्तु पत्र मान मे मुद्रा की वस्तुओ और सेवाओ मे क्रय-शक्ति से विनिमय की दर निश्चित होती है। (iii) टक समता (Mint Par) एक निश्चित व स्थिर समता (Fixed Par) है, परन्तु क्रय-शक्ति तुल्यता या क्रय-शक्ति-समता समय-समय पर मूल्य-स्तरों मे परिवर्तनो के कारण एक अस्थिर समता (Moving Par) है तथा (iv) धातु-मान में वास्तविक विनिमय दर में परिवर्तन स्वर्ण बिन्दुओ (Specie Points) तक सीमित रहते हैं, परन्तु पत्र-मुद्रा-मान में वास्तविक विनिमय की दर क्रय शक्ति-तुल्यता से ऊपर व नीचे होती रहती है और धातु-मान के स्वर्ण बिन्दुओं की तरह यहाँ पर ऐसी कोई भी सीमायें (स्वर्ण के आयात-निर्यात की सीमायें) नही होती जिनसे विनिमय की दर मे परिवर्तन मर्यादित हो जावे। यह अवश्य है कि पत्र मान में विनिमय की दर में परिवर्तन बहुत कुछ एक देश से दूसरे देश को वस्तुओ को ले जाने व लाने के व्यय से निश्चित होती है, परन्तु ये सीमायें भी इतनी निश्चित (Definite) नहीं होती हैं जितनी की धातु-मान में स्वर्ण-बिन्दु (Specie Points) होते हैं। अत यह स्पष्ट है कि धातु मान देशों में और पत्र मुद्रा मान देशों में विनिमय की दर के निर्धारण में कुछ आधारभूत (Fundamental) भेद पाये जाते हैं।

क्रय-शक्ति-तुल्यता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की परिभाषायें (Definitions of the Purchasing Power Parity Theory) —प्रथम महायुद्ध के बाद स्टॉकहोम विश्व-विद्यालय (स्वीडन) के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री गस्टव कैसिल (Gustav Cassel) ने इस क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। कुछ व्यक्तियो का यह मत है कि प्रारम्भ में इस सिद्धान्त को मार्शल (Marshall) ने बताया था। परन्तु कैसिल (Cassel) ने इसे प्रथम महायुद्ध के बाद एक वैज्ञानिक ढग से व्यक्त किया है जिससे इस सिद्धान्त के साथ उन्ही का नाम सम्बन्धित किया जाता है। यह स्मरण रहे कि इस सिद्धान्त का महत्व प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्ण-मान के टूट जाने पर ही बढा है। इस सिद्धान्त के अनुसार दो अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देशो में विनिमय की दर इन दोनो देशों के मूल्य स्तर (Price Level) के पारस्परिक सम्बन्धो द्वारा निश्चित होती है।

इस प्रकार मूल्य-स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर निश्चित होने वाली विनिमय की दर को क्रय-शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) कहते हैं। इस सिद्धान्त की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस प्रकार की है:—

(१) गस्टव कैसिल (Gustav Cassel) के शब्दों में, "दो मुद्राओं में विनिमय की दर अवश्य ही इनकी आन्तरिक क्रय शक्ति के भागफल (Quotient) पर निर्भर रहती है।"*

(२) जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) के मतानुसार, "राष्ट्रीय मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य, जो स्वर्ण-मान को अपनाये हुये नहीं है, दीर्घकाल में विशेषतः उनकी वस्तुओं और सेवाओं की क्रय-शक्ति से निश्चित होता है।"†

(३) श्री एस० ई० टॉमस (S. E. Thomas) ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"एक देश की करेन्सी का मूल्य दूसरे देश की करेन्सी के रूप में किसी समय विशेष पर, बाजार की मांग और पूर्ति की दशाओं द्वारा निर्धारित होता है, दीर्घ-काल में यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्राओं के आपेक्षिक मूल्य (Relative Values) द्वारा निश्चित होता है, जैसा कि उन देशों की करेन्सी की क्रय-शक्ति अपने अपने देशों की वस्तुओं व सेवाओं के रूप में होती है। दूसरे शब्दों में, विनिमय-दर में उसी बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति होती है, जहां दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही क्रय-शक्ति समता कहते हैं।"‡

संक्षिप्त व्याख्याः—क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की उपरलिखित तीन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान वाले दो देशों के बीच विनिमय की दर इस प्रकार तय होगी कि क्रय-शक्ति को समान मात्रा से, मुद्राओं का इस दर पर विनिमय होने के पश्चात्, दोनों देशों में समान परिमाण में वस्तुयें व सेवायें खरीदी जा सकें। अतः दो पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों में विनिमय की दर उन दोनों देशों की मुद्रा की पारस्परिक क्रय-शक्ति के अनुपात में निश्चित होती है। यहां पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है—क्या पत्र मुद्रा मान वाले देशों के बीच वास्तविक विनिमय की दर सदैव क्रय-शक्ति की तुल्यता (Purchasing Power Parity) के बराबर रहती है? नहीं। इस प्रश्न का उत्तर उपरलिखित प्रो० टॉमस की क्रय-शक्ति तुल्यता के सिद्धान्त

*"The Rate of Exchange between two currencies must stand essentially on the Quotient of the internal purchasing powers of these currencies."—Gustav Cassel, "Foreign Exchange" (An article in the Encyclopaedia Britannica.)

†"The relative values of national currencies, especially when they are off the Gold Standard, in the long run, are determined by their relative purchasing powers in terms of goods and services"—G. D. H. Cole "What Everybody wants to know about money."

‡" While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services (in their respective countries) In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing power of the two currencies. This point is called the Purchasing Power Parity."—S. E. Thomas.

की परिभाषा से मिल जाता है। किसी समय-विशेष पर (At any perticular time) किसी एक देश की मुद्रा की इकाई का दूसरे देश की मुद्रा में मूल्य इसकी मांग और पूर्ति पर निभर रहता है, परन्तु दीर्घकाल में (In the Long period) यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्राओं की वस्तुओं और सेवाओं की क्रय शक्ति से निश्चित होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि दो देशों के बीच की विनिमय की दर में उतार चढ़ाव होता रहता है, परन्तु इसमे उस स्थान पर स्थिर (Fixed) हो जाने की प्रवृत्ति होती है जहाँ पर दोनों देशो की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समान है और यह स्थान क्रय-शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) का होता है।

क्रय शक्ति तुल्यता द्वारा विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है ("पत्र मुद्रा मान मे विनिमय की दर का निर्धारण" नामक उप शीर्षक पढ़िये।)

क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Purchasing Power Parity Theory) —क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की समय समय पर अनेक आलोचनाएं की गई हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धान्त विनिमय की दर के निर्धारण तथा इसमे समय-समय पर परिवर्तनों की सतोषजनक व्याख्या नहीं करता है। इन आलोचनाओं के कारण इस सिद्धान्त को हम एक दोषपूर्ण सिद्धान्त मानते हैं। मुख्य मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं —

(१) क्रय शक्ति के नापने का ढग ठीक नहीं है —क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के अनुसार दो पत्र मान वाले देशों के बीच विनिमय की दर इन दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति से निश्चित होती है। मुद्राओं की क्रय शक्ति नापने का साधन निर्देशांक (Index Number) है अर्थात् निर्देशांकों द्वारा हम दो देशों की मुद्रा की क्रय शक्ति को मापते हैं और इसी के द्वारा हम मुद्राओ की क्रय शक्ति के परिवर्तन की तुलना करते हैं। दूसरे शब्दों में निर्देशांकों के उपयोग से ही हम दो देशों के बीच विनिमय की दर निश्चित करते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि क्रय शक्ति मापने का साधन 'निर्देशांक ठीक ठीक बनाया गया है, तब तो हम विनिमय की दर का निर्धारण ठीक ठीक कर सकेंगे और यदि निर्देशांक ठीक ठीक नहीं बनाए गये हैं, तब तो हमारे निर्णय भी दोषपूर्ण होंगे। आलोचकों का मत है कि हम निर्देशांकों को ठीक ठीक नहीं बनाने पाते हैं जिससे इनके आधार पर निकाली गई क्रय शक्ति तुल्यता (या विनिमय की दर) ठीक होती है। निर्देशांकों में दो मुख्य दोष बताए जाते हैं —(क) इस सिद्धान्त की दृष्टि से निर्देशांकों में यह दोष रहता है कि ये सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं —इस कारण ये वर्तमान या भविष्य के सम्बन्ध में ठीक अनुमान प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। जब हम निर्देशांकों के आधार पर वतमान या भावी विनिमय की दर निर्धारित करते हैं, तब यह दर मूलतः अनुमानजनक ही होती है। इस दशा में सम्भव है वास्तविक विनिमय की दर में और निर्देशांकों के आधार पर निश्चित की गई विनिमय की दर में अन्तर रहे। अत क्रय-शक्ति के नापने का साधन दोषपूर्ण होने के कारण आलोचकों का मत है कि क्रय शक्ति सिद्धान्त ही दोषपूर्ण है। (ख) निर्देशांकों में दूसरा दोष यह होता है कि यह केवल औसत

(Averages) उतार-चढ़ाव को ही बतलाते हैं तथा इन में वस्तुओं की सूची भी विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न होती है जिसके कारण इन निर्देशांकों के आधार पर निश्चित विनिमय दर वास्तविक विनिमय की दर के अनुरूप नहीं होती है। अब हम इस आलोचना का अध्ययन तनिक विस्तार से करते हैं। प्रत्येक देश में हर समय दो प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता रहता है। प्रथम वर्ग में वे वस्तुएँ हैं जो देश में ही उत्पन्न की जाती हैं, देश में ही उनका क्रय-विक्रय (विनिमय) होता है तथा देश में ही उनका उपभोग भी हो जाता है। चूँकि ऐसी वस्तुओं का निर्यात (Export) नहीं होता है इसलिये इनका विदेशी व्यापार अथवा विदेशी विनिमय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरण के लिये, लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि। दूसरे वर्ग में वे वस्तुएँ हैं जो देश में उत्पन्न की जाती हैं, देश में ही उनका क्रय-विक्रय होता रहता है परन्तु इनका उपभोग विदेशों में जाकर भी होता है। उदाहरण के लिये गेहूँ, कपास, जूट, मशीनें आदि। इस वर्ग की वस्तुओं का आयात-निर्यात सदैव होता रहता है। अब प्रश्न यह है कि क्या हम निर्देशांकों को दोनों प्रकार की वस्तुओं के आधार पर बनाते हैं या केवल किसी एक वर्ग की वस्तुओं के आधार पर? स्पष्टतया, ये निर्देशांक दोनों वर्ग की वस्तुओं के आधार पर बनाये जाते हैं जिससे ये अंक मूल्यों के केवल औसत (Average) उतार-चढ़ाव की ओर ही संकेत करते हैं। आलोचकों का मत है कि चूँकि निर्देशांकों का आधार ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिनका विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये इन अंकों के आधार पर निर्मित विनिमय की दर वास्तविक विनिमय की दर से भिन्न हो सकती है। इस दशा में विनिमय की दर में भिन्नता का एक कारण यह भी हो सकता है कि प्रत्येक देश में कुछ न कुछ ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं जिनका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली वस्तुओं के मूल्य के विपरीत दिशा में घटता-बढ़ता रहता है। तब दोनों प्रकार की वस्तुओं के आधार पर निर्मित निर्देशांक स्वतः ही ठीक-ठीक परिणाम नहीं दे सकेगा। इस तरह इस तर्क के आधार पर आलोचकों ने क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त को दोषपूर्ण बताया है।

उक्त बातों के आधार पर हमारे मन में फिर एक प्रश्न उठता है। क्या हम विदेशी विनिमय के निर्धारण के लिये केवल ऐसी वस्तुओं को ही सूची में सदैव सम्मिलित करें जिनका सदैव आयात-निर्यात होता रहता है और यदि हम ऐसा करें तब क्या ऐसी वस्तुओं के आधार पर निर्मित निर्देशांक हमें ऐसी विनिमय की दर प्रस्तुत कर सकेगा जो वास्तविक विनिमय की दर के अनुरूप होगी? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है। यदि हम विनिमय की दर केवल ऐसी वस्तुओं के आधार पर ही निश्चित करते हैं जिनका सदैव आयात-निर्यात होता रहता है (या वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होती हैं) तब तो हम एक ऐसी विनिमय की दर प्राप्त कर सकेंगे जो कि वास्तविक विनिमय की दर के अनुरूप होती है और इस तरह हमें क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त को प्रमाणित करना बहुत आसान हो जायगा। परन्तु इस रीति में भी एक बहुत बड़ा दोष है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं का मूल्य (यातायात-व्यय, आयात-निर्यात कर आदि को छोड़कर) तमाम देशों में लगभग समान ही रहता है और यदि इनके मूल्यों में परिवर्तन होता भी है तब तुलनात्मक

दृष्टि से यह परिवर्तन बहुत ही कम होने पाता है इस दशा में विनिमय दरों के परिवर्तनों को ठीक-ठीक मालूम करना बहुत ही कठिन होता है। यह रीति एक और कारण से भी ठीक नहीं है। देश में अन्य उत्पादित व उपभोग की वस्तुओं के मूल्य का प्रभाव दूसरी वस्तुओं के मूल्य पर भी पड़ता है। इस कारण भी यद्यपि विनिमय-दर निर्धारण का आधार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ ही, हैं परन्तु इस प्रकार निश्चित की गई विनिमय की दर और वास्तविक विनिमय की दर में अन्तर पाया जायगा। अतः इन दोनों दृष्टिकोणों से भी निर्धारकों [redacted] आधार पर निश्चित विनिमय की दर दोषपूर्ण होती है। इस कारण भी आलोचकों ने क्रय शक्ति समता सिद्धान्त ठीक नहीं माना है।

(२) *क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त में भुगतान* [redacted] *सन्तुलन में सम्मिलित होने वाले अनेक तत्वों का ध्यान नहीं रक्खा गया है*—आलोचकों का मत है कि क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त ने बहुत से ऐसे तत्वों का ध्यान नहीं रक्खा है जो भुगतान के सन्तुलन को प्रभावित कर विनिमय की दर को तो प्रभावित कर देते हैं, परन्तु जिनका आन्तरिक मूल्य स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है जिससे आन्तरिक मूल्य स्तर के आधार पर निश्चित विनिमय की दर और भुगतान के सन्तुलन की स्थिति से प्रभावित वास्तविक विनिमय की दर में अन्तर हो जाता है। चूंकि विनिमय की दर में परिवर्तन अनेक ऐसे कारणों से भी हो सकते हैं जिनका क्रय शक्ति सिद्धान्त में विचार नहीं किया गया है, इस कारण इस सिद्धान्त का यह बताने का प्रयत्न कि विनिमय की दर में क्यों और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, अधूरा है। यह बात एक उदाहरण [redacted] भी स्पष्ट की जा सकती है। भुगतान के सन्तुलन पर किन किन बातों का प्रभाव पड़ता है? इस पर दो देशों के बीच बीमा की रकम के आवागमन, स्टॉक व शेयस के क्रय विक्रय से पूंजी का आवागमन, विदेशी मुद्रा में सट्टा, बैंकों के आपस के लेन-देन के कारण पूंजी का आवागमन, मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाने का केवल भय या इसकी अफवाह में पूंजी का इस देश से विदेशों को हस्तान्तरण आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनका किसी देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर पर तो कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु इनसे भुगतान का सन्तुलन बहुत प्रभावित होता है। इन सब कारणों से किसी देश में भुगतान के सन्तुलन में जो असमता (Disequilibrium of Balance of Payment) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, उससे विदेशी विनिमय की दर बहुत प्रभावित होती है। परिणामतः क्रय शक्ति की तुल्यता के आधार पर निश्चित की गई विनिमय की दर और वास्तविक विनिमय की दर में अन्तर हो जाता है। अतः चूंकि कैसिल (Cassel) ने अपने सिद्धान्त में इन बातों के प्रभाव का विचार नहीं किया है, इसलिये उसका सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

(३) *विनिमय की दर में परिवर्तन का मूल्य-स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है*—आलोचकों का मत है कि क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त यह तो बताता है कि दो देशों में से किसी एक या दोनों देशों के आन्तरिक मूल्य स्तरों में परिवर्तन होने से विनिमय की दर में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु यह एक दूसरे तथ्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता कि विनिमय-दर में परिवर्तन से भी मूल्य स्तर प्रभावित होता है। ऐसा अनुभव किया गया

है कि जिस प्रकार मूल्य-स्तर में परिवर्तन से विनिमय-दर प्रभावित होती है, ठीक उसी प्रकार विनिमय-दर के परिवर्तन से मूल्य-स्तर भी अवश्यमेव ही प्रभावित होता है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लो, किन्हीं कारणों से इंगलैंड से बहुत सी पूँजी फ्रांस को जा रही है। इस अवस्था में पौंड का मूल्य फ्रैंक में कम हो जायगा जिससे फ्रांस की वस्तुएं इंगलैंड में महँगी हो जायेंगी। मान लो, इंगलैंड में फ्रांस से कच्ची सामग्री की आयात हो रही है। इस अवस्था में इंगलैंड में इस कच्ची-सामग्री से बनने वाली वस्तुओं की लागत अधिक हो जायगी। चूंकि पौंड का मूल्य फ्रैंक में कम हो गया है, इसका यह भी अर्थ हुआ कि फ्रैंक का मूल्य पौंड में अधिक हो गया है। इसका परिणाम यह होगा कि इंगलैंड की वस्तुएं फ्रांस में जाकर सस्ती बिकने लगेंगी और इंगलैंड की फ्रांस को निर्यात प्रोत्साहित होगी। इस दशा में इंगलैंड के व्यापारी अधिक लाभ कमाने के लालच से अपनी वस्तुओं का मूल्य ऊंचा कर देंगे, परन्तु यह मूल्य वृद्धि उससे कम होगी जितनी की पौंड की गिरी है क्योंकि तब ही ब्रिटिश माल फ्रांस में जाकर सस्ता बिक सकेगा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पौंड का फ्रैंक में मूल्य कम हो जाने पर अर्थात् विनिमय की दर में परिवर्तन हो जाने के कारण इंगलैंड की वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन हुआ है अर्थात् इंगलैंड के मूल्य-स्तर में परिवर्तन हुआ है। अतः आलोचकों का मत है कि चूँकि क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि विनिमय की दर में परिवर्तन से भी आन्तरिक मूल्य-स्तर में परिवर्तन हो जाता है, इसलिए उनके मतानुसार यह सिद्धान्त अधूरा है।

(४) सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध है—दो देशों के बीच व्यवहार में, विनिमय की दर इस क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित नहीं होती है—आलोचकों का मत है कि व्यवहार में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जिससे यह पता चल जाय कि विनिमय की दर क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त द्वारा निश्चित होती है। चूँकि सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, इसलिए आलोचकों के मतानुसार व्यवहारिक जीवन में, विनिमय की दर के निर्धारण के सम्बन्ध में, इस सिद्धान्त का कुछ भी महत्व नहीं है। इस बात को भी हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं:—मान लो, इंगलैंड और अमेरिका दो देश हैं जिनमें आपस में व्यापार हो रहा है। यह भी मान लो कि अमेरिका ऐसी दृढ़ आर्थिक अवस्था में है कि वह इंगलैंड के माल पर भारी आयात कर (Heavy Import Duties) लगाकर उसके माल की आयात को लगभग बन्द कर सकता है। यह भी मान लो कि इंगलैंड ऐसी आर्थिक अवस्था में है कि वह अमेरिका से आवश्यक वस्तुओं की आयात करने के लिये बाध्य है और वह अमेरिका की वस्तुओं की आयात को कम नहीं कर सकता है। इन सब बातों का परिणाम यह होगा कि शनैः शनैः अमेरिका का आयात व्यापार तो बन्द हो जायेगा और उसका निर्यात व्यापार लगभग पूर्ववत् रहेगा। इस परिस्थिति में इंगलैंड में डॉलर की माँग, इसकी पूर्ति से अधिक हो जायेगी अथवा पौंड का डॉलर में मूल्य कम हो जायगा। इसी बात को हम यूँ भी कह सकते हैं कि अमेरिका में डॉलर का पौंड में मूल्य बढ़ जायगा और विनिमय की दर अमेरिका के पक्ष में हो जायगी। यह स्मरण रहे कि अमेरिका में यद्यपि डॉलर का आन्तरिक मूल्य तो पूर्ववत् ही है परन्तु इसका बाह्य मूल्य (पौंड में मूल्य) बढ़ गया

है। अत यदि किसी देश की आन्तरिक स्थिति इस प्रकार की है कि वह अन्य देशो की वस्तुओं की आयात तो कम कर सकता है, परन्तु अन्य देश इसकी निर्यात को कम नही कर सकते, तब वह देश अपने आन्तरिक मूल्य-स्तर में परिवर्तन किये बिना ही, अपनी मुद्रा के बाह्य-मूल्य को ऊँचा कर सकता है अर्थात् विनिमय की दर देश के पक्ष में कर सकता है। इस अवस्था में परिणाम यह होगा कि क्रय-शक्ति तुल्यता के आधार पर निर्मित विनिमय की दर वास्तविक विनिमय की दर से भिन्न हो जायगी और क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध नही हो सकेगी। जो बात हमने एक उदाहरण के रूप में ऊपर लिखी है, वास्तविक जीवन मे यह बात सत्य भी है क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका भारी सरक्षण की नीति (Policy of Protection) अपना कर अपने डॉलर का बाह्य-मूल्य बहुत ऊंचा करने में सफल हुआ है जबकि डॉलर का आन्तरिक मूल्य लगभग पूर्ववत् ही है। अत आलोचकों का यह मत कि क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त सामान्य अनुभव के विरुद्ध है, ठीक ही है। व्यवहार मे विनिमय दर इस सिद्धान्त के अनुसार निश्चित नहीं होती है।

निष्कर्ष—क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त में अनेक दोष होते हुये भी, हम यह कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है—(क) एक मार्ग-दर्शक की तरह यह सिद्धान्त हमे बताता है कि दो देशो के बीच विनिमय की दर किस प्रकार स्थापित होती है। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर और उसकी विनिमय की दर में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होता है और प्रत्येक देश अपनी मुद्रा-नीति तथा दीर्घकालीन विनिमय की दर तय करने में इस जानकारी से लाभ उठाता है। (ख) इस सिद्धान्त की यह भी विशेषता है कि यह सब प्रकार की चलन-पद्धति या सब प्रकार की मुद्राओ पर लागू होता है। (ग) यह सिद्धान्त इस कारण भी अच्छा है क्योंकि हम इसकी सहायता से यह आसानी से मालूम कर लेते हैं कि किसी समय पर व्यापार का रुख (Direction of the Trade) किस दशा मे होगा। इसी तरह इस सिद्धान्त से यह भी पता चल जाता है कि किसी समय पर ऋणों का शेष (Balance of Indebtedness) किस दिशा में होगा। इसका कारण यह है कि उक्त दोनों बातें विनिमय-दर, आयात-निर्यात तथा आन्तरिक मूल्य-स्तर से परस्पर प्रभाव पर निर्भर रहती हैं। (घ) इस सिद्धान्त की यह भी विशेषता है कि इसकी सहायता से हम यह भी मालूम कर सकते हैं कि मुद्रा के अवमूल्यन (Depreciation) और अधिमूल्यन (Appreciation) से विनिमय की दर तथा विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ते हैं। अत यह स्पष्ट है कि व्यवहार मे किसी समय पर पाई जाने वाली विनिमय की दर क्रय-शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) द्वारा निर्धारित विनिमय की दर से कम या अधिक हो सकती है परन्तु अन्तत वास्तविक विनिमय की दर में सम-क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित तुल्यता दर के आस-पास निश्चित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

आयात-निर्यातो का भुगतान करते हैं
(Imports pay for the Exports)

"आयात-निर्यातों का भुगतान करते हैं"—इस वाक्य का अर्थ (Meaning of

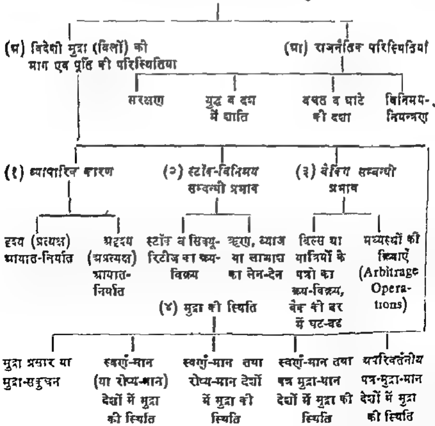
the phrase—Imports pay for the Exports):—इस कथन में बहुत सत्यता है कि आयात-निर्यात का भुगतान करते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है जब दो देशों में व्यापार तथा सेवाओं का आदान-प्रदान होता है तब एक देश दूसरे देश को न तो उससे कम देता है और न अधिक ही देता है जो वह दूसरे देश से प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भारत और पाकिस्तान में वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय हो रहा है, तब साम्य की अवस्था में भारत पाकिस्तान से व्यापार तब ही करेगा जबकि उसे उतना ही देना पड़े जितना कि वह पाकिस्तान से अपनी निर्यात के लिये प्राप्त कर रहा है। इस तथ्य को विदेशी विनिमय का भुगतान-सन्तुलन-सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Payments) भी कहते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त [redacted] सम्बन्ध में एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है-जब तक हमें दोनों देशों के बीच की विनिमय की दर का ज्ञान नहीं हो, तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि एक देश दूसरे देश को उससे खरीदे हुए माल के लिये उतना ही देगा जो वह देश इसके माल के लिये देता है अर्थात् विनिमय की दर के ज्ञान के अभाव में हम यह कैसे कह सकते हैं कि दो देशों की आय (Receipts) और भुगतान (Payments) बराबर होते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। दोनों देशों की मुद्राएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं और दोनों देश के व्यापारी अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान स्वीकार किया करते हैं। इस दशा में जब तक हमें इन दोनों देशों की मुद्राओं की विनिमय की दर का पहले से ही ज्ञान नहीं होता है, तब तक यह कहना असम्भव है कि अमुक देश की आयातों और निर्यातों का मूल्य समान है अथवा कम है या अधिक है। परन्तु जब हमें इन दोनों देशों के बीच की विनिमय की दर का ज्ञान हो जाता है तब जिस विनिमय की दर पर इन दोनों देशों की आयातों और निर्यातों का मूल्य समान होता है, साम्य की अवस्था में वही विनिमय की दर (Equilibrium Rate of Exchange) मानी जाती है। यदि इन दोनों देशों में से किसी एक देश की आयात और निर्यात के मूल्य बराबर नहीं हैं, तब इसे हम असन्तुलन की अवस्था (State of Disequilibrium) कहेंगे। इस दशा मे ऐसे देश को अपनी आयात व निर्यात में आवश्यक परिवर्तन करना होगा ताकि अन्ततः आयात का मूल्य उसकी निर्यात के मूल्य के बराबर हो जाय। अतः दीर्घकाल में विनिमय की दर उसी स्थान पर निश्चित होती है जहाँ पर किसी देश की आयात का मूल्य उसकी निर्यात के मूल्य के बराबर होता है। इसी कारण यह कह दिया जाता है कि आयात निर्यात का भुगतान करते हैं और इसीलिये इसे विनिमय का भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Payments) भी कहते हैं।

विनिमय-दर में उच्चावचन
(Fluctuations in the Rate of Exchange)

प्राक्कथन:—अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विनिमय की दर में उच्चावचन (Variation) न केवल स्वर्ण-मान पद्धतियों में ही होता है वरन् यह पत्र-मुद्रा-मान-पद्धतियों में भी होता है और इस प्रकार के मानों में तो यह उतार-चढ़ाव अत्यधिक गम्भीर होता है। यह स्मरण रहे कि दीर्घकाल में स्वर्ण-मान देशों में विनिमय की दर में

टक-समता (Mint Par of Exchange) और पत्र मुद्रा मान देशों में विनिमय की दर में क्रय-शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये यह भी कहा जाता है कि दीर्घकाल में सामान्यतया विनिमय की दर में स्थिरता की प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु अल्पकाल में विनिमय की दर में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव होता रहता है अर्थात् अल्पकाल में वास्तविक विनिमय की दर, स्वर्ण-मान में टक-समता से और पत्र मुद्रा-मान में क्रय-शक्ति की तुल्यता से, ऊपर व नीचे होती रहती है। विनिमय-दर में उच्चावचन देश में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न करता है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये नीचे हम उन कारणों का अध्ययन करते हैं जिनकी वजह से वास्तविक विनिमय-दर, साम्य की विनिमय-दर (Equilibrium Rate of Exchange) से विचलित होती रहती है।

विनिमय-दर में उच्चावचन के कारण (Causes for the Fluctuations in the Rate of Exchange)—वे कारण जिनकी वजह से किसी देश की विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव होता है, नीचे के चार्ट में दिखाए गए हैं —



अब हम इन सब कारणों का विस्तार से अध्ययन करते हैं:—

(अ) विदेशी मुद्रा (बिलों) की माँग एवं पूर्ति से सम्बन्धित परिस्थितियाँ (Conditions relating to Demand and Supply of Bills)—विदेशी मुद्रा या इसके बिल्स की माँग और पूर्ति का विनिमय की दर पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा करता है। विनिमय बिल्स की माग जब कभी इनकी पूर्ति से कम या अधिक होती है, तब ही इन बिल्स के मूल्य में भी कमी या वृद्धि हो जाती है अर्थात् बिल्स की माग एवं पूर्ति में परिवर्तन से देश की विनिमय की दर मे भी तदनुसार परिवर्तन हो जाता है। परन्तु विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति पर स्वयं तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ा करता है—(i) व्यापारिक कारण, (ii) स्टॉक-विनिमय सम्बन्धी कारण तथा (iii) बैंकिंग सम्बन्धी कारण।

(१) व्यापारिक कारण (Trade Conditions)—किसी देश में विदेशी बिल्स (या मुद्रा) की माँग एवं पूर्ति एक बहुत बड़ी मात्रा में इस देश की आयात अथवा निर्यात पर निर्भर रहती है। दूसरे शब्दों में, किसी देश के विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी बिल्स की माँग एवं पूर्ति बहुत कुछ इस देश की व्यापारिक परिस्थितियों (Trade Conditions) पर निर्भर रहती है। यदि किसी देश की आयात इसकी निर्यात से अधिक है, तब इस देश के बिल बाजार में, विदेशी मुद्रा की मांग इसकी पूर्ति से अधिक होगी जिसके कारण इस देश की विदेशी विनिमय की दर इस देश के विपक्ष (Unfavourable Rate of Exchange) में हो जायगी। इस तरह उक्त देश की मुद्रा विदेश की मुद्रा को पहले से कम मात्रा में खरीद सकेगी। इसके विपरीत यदि उक्त देश की आयात उसकी निर्यात से कम है, तब विनिमय-दर इस देश के पक्ष में हो जायगी और अब इस देश की मुद्रा विदेश की मुद्रा को पहले से अधिक मात्रा में खरीद सकेगी। यह स्मरण रहे कि विदेशी व्यापार में दृश्य और अदृश्य (Visible and Invisible) दोनों प्रकार की ही आयातें एवं निर्यातें सम्मिलित हैं।

(२) स्टॉक-विनिमय सम्बन्धी प्रभाव (Stock Exchange Influences):—स्टॉक एक्सचेंज के व्यवहारों मे स्टॉक, शेयर्स, प्रतिभूतियां (सिक्यूरिटीज) आदि का क्रय-विक्रय, ऋणों का लेन-देन, ब्याज व लाभांश (Dividend) का लेन-देन तथा सट्टे के व्यवहारों के कारण लेन-देन आदि का समावेश है.—(क) स्टॉक व सिक्यूरिटीज का क्रय विक्रय:—जब हम विदेशों में स्टॉक, शेयर्स तथा सिक्यूरिटीज आदि विनियोग-पत्र खरीदते हैं, तब हमें बेचने वालों को उनकी मुद्रा में इनका भुगतान करना पड़ता है। इस कारण हमारे देश में विदेशी मुद्रा की माग बढ़ जाती है जिससे हमारे देश में विनिमय की दर हमारे विपक्ष में हो जाती है क्योंकि इस दशा में हम अपनी मुद्रा के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से कम मात्रा में खरीदने पाते हैं। परन्तु उक्त के विपरीत यदि विदेशी हमारे देश में स्टॉक, शेयर्स या प्रतिभूतियां खरीद रहे हैं, तब उन्हें इन विनियोग-पत्रों का चूंकि हमारी मुद्रा में ही भुगतान करना पड़ रहा है, इसलिये हमारे देश में विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग से अधिक हो जायगी जिससे विनिमय की दर हमारे देश के पक्ष में हो जायगी क्योंकि अब हम अपनी मुद्रा के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा

में प्राप्त कर रहे हैं। (ख) ऋण, ब्याज व लाभांश का लेन देन — ऋणों के लेन देन, ब्याज व लाभांश (Dividend) के लेन देन आदि का भी विनिमय की दर पर प्रभाव इसी तरह का पड़ता है। यदि हम विदेशों से ऋण या ऋण पर ब्याज या लाभांश प्राप्त कर रहे हैं तब हमारे देश में विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी माग से अधिक हो जाने के कारण, विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जायगी अर्थात् यह साहूकार (Creditor) देश के विपक्ष में और ऋणी (Debtor) देश के पक्ष में हो जायगी। (हमारी मुद्रा का मूल्य विदेश की मुद्रा में अधिक हो जायगा अथवा हमारी एक मुद्रा इकाई के बदले ■ हम विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में प्राप्त करने लगेंगे)। परन्तु यदि हमें विदेशों को विदेशियों की ऋण की रकम या इस पर ब्याज या लाभांश भेजना पड़ रहा है, तब परिस्थिति उक्त के बिल्कुल विपरीत हो जायगी अर्थात् विनिमय की दर हमारे विपक्ष में और विदेशियों के पक्ष में हो जायगी। यह स्मरण रहे कि यदि विदेशी ऋण का उपयोग उसी ऋणदाता देश में वस्तुएं खरीदने में किया जाता है, तब इस प्रकार के ऋण का विनिमय की दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु यदि हम इस ऋण का उपयोग किसी दूसरे देश में करें, तब इसका विनिमय की दर पर अवश्यमेव प्रभाव पड़ेगा। अतः जब स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों के कारण हमारे देश से मुद्रा विदेशों को जाती है, तब विनिमय की दर हमारे विपक्ष में और जब इन व्यवहारों के कारण मुद्रा विदेशों से हमारे देश को आती है तब विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जाती है। इसलिये यह कहा जाता है कि स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों का विनिमय की दर के उच्चावचन (Fluctuation) पर प्रभाव पड़ता है।

(३) बैंकिंग सम्बन्धी प्रभाव (Banking Influences)—बैंकिंग सम्बन्धी व्यवहारों में बिल्स या यात्रियों के पत्रों का क्रय-विक्रय, बैंक की दर में घट-बढ़ तथा मध्यस्थों की क्रियाओं (Arbitrage Operations) का समावेश है—(क) बिल्स या यात्रियों के पत्रों का क्रय-विक्रय —संसार के सभी बैंक शक्तिशाली देश के विदेशी विनिमय बिल्स में अपनी पूजी का विनियोग करना सदैव बहुत अच्छा समझा करते हैं और इसीलिये वे ऐसे बिल्स में लाभ प्राप्ति के लिये धन के लगाने का प्रयत्न करते रहते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम महायुद्ध से पहले विश्व के सभी बैंक्स इगलैंड के स्टर्लिंग बिल्स में अपनी पूजी लगाना अधिक उचित समझा करते थे। बैंकों के इन विदेशी बिल्स क्रय-विक्रय के कार्यों ■ कारण पूजी एक देश से दूसरे देश को समय-समय पर हस्तान्तरित होती रहती है। इसी तरह बैंकों द्वारा यात्रियों के साख पत्रों के क्रय-विक्रय का भी यही परिणाम रहता है। जब हमारे देश ■ बैंक्स विदेशियों को यात्रियों के साख-पत्र (Traveller's Letters of Credit) बेचते हैं, तब इसका यह अर्थ हुआ कि विदेशी हमारी मुद्रा खरीदते हैं। बिल्स और यात्रियों के साख पत्रों के क्रय विक्रय तथा एक देश के बैंक द्वारा दूसरे देश में अपनी शाखा पर जारी किये गए बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft) का सामूहिक रूप में विनिमय की दर पर प्रभाव यह होता है कि यदि पूंजी विदेशों को जा रही है तब तो विनिमय की दर हमारे विपक्ष में और यदि पूंजी विदेशों से हमारे देश को आ रही है तब विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जाती है। (ख) बैंक की दर में घट-

बढ़ का प्रभाव:—बैंक की दर (Bank Rate) में घट-बढ़ का भी विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है क्योंकि इससे विदेश की मुद्रा की मांग और पूर्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब किसी देश में बैंक-दर, विदेशों की अपेक्षा बढ़ जाती है, तब इसका परिणाम यह होता है कि इस देश में विदेशों से पूंजी आने लगती है, क्योंकि इस देश में विदेशी व्यक्तियों को अपनी पूंजी का विनियोग करना अधिक लाभदायक होता है। इस दशा में पूंजी आकर्षित करने वाले देश की विनिमय की दर इसके पक्ष में हो जाती है अर्थात् इस देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में आने लगती है। इसके विपरीत यदि बैंक दर अन्य देशों की तुलना में कम हो जाती है, तब इस देश से पूंजी का विदेशों को स्थानान्तरण होने लगता है क्योंकि पूंजीपतियों के लिये पूंजी को अधिक बैंक दर वाले देश में लगाना अधिक लाभप्रद होता है। इस दशा में इस देश की विनिमय की दर घट जाती है अथवा यह इस देश के विपक्ष में हो जाती है क्योंकि अब इस देश की एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से कम मात्रा में मिलती है। अतः बैंक दर में परिवर्तन से भी विनिमय की दर में परिवर्तन हो जाता है। (ग) मध्यस्थों की क्रियायें (Arbitrage Operations):—कुछ लेखकों ने इन क्रियाओं को 'अन्तर-पणन' का नाम दिया है। जब प्रतिभूतियां विश्व के व्यापारिक केन्द्रों में सट्टे-लाभ के लिये खरीदी तथा बेची जाती हैं, तब इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियायें या अन्तर-पणन (Arbitrage Operations) कहते हैं अर्थात् यदि *विभिन्न केन्द्रों में, विदेशी मुद्राओं के मूल्य में अन्तर होने पर इनका क्रय-विक्रय करके* लाभ उठाया जाता है, तब इस प्रकार की क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियाएं कहते हैं।● मध्यस्थों की क्रियाओं का भी विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। मान लो, कलकत्ते में आज स्टर्लिंग का मूल्य १८ पैंस प्रति रुपया और लन्दन में इसी समय १६ पैंस प्रति रुपया है। यदि कोई बैंक या व्यक्ति तार द्वारा लन्दन में एक रुपये के बदले में १६ पैंस खरीद ले और तुरन्त ही कलकत्ते में १८ पैंस प्रति रुपये पर बेच दे, तब उसे १ पैंस प्रति रुपया लाभ मिल जायगा। इन क्रियाओं से लन्दन में स्टर्लिंग की मांग इसकी पूर्ति से अधिक और कलकत्ते में स्टर्लिंग की पूर्ति इसकी मांग से अधिक हो जायगी। परिणामतः लन्दन में एक रुपये के बदले में कम पैंस और कलकत्ते में १ रुपये के बदले में अधिक पैंस मिलने लगेंगे। दूसरे शब्दों में, लन्दन में रुपये का स्टर्लिंग में मूल्य कम और कलकत्ते में रुपये का स्टर्लिंग में मूल्य अधिक हो जायगा। अतः भारत में विनिमय की दर अधिक और इंगलैण्ड में विनिमय की दर कम हो जायगी। अन्ततः लन्दन और कलकत्ते में विनिमय की दरों में

● एक लेखक ने अन्तर-पणन की परिभाषा इस प्रकार दी है—"जब दो विभिन्न बाजारों में, दो देशों की *मुद्रा की विनिमय-दरों में अन्तर होने की स्थिति में* जब एक साथ दोनों स्थानों पर लाभ कमाने की दृष्टि से, एक ही भुगतान की तिथि के लिये, दो सौदे एक क्रय का और दूसरा विक्रय का, समान मात्रा के किए जाएं तब इन्हें अन्तर-पणन कहते हैं। ऐसे सौदे जहाँ भाव कम हैं वहाँ खरीदे जाते हैं और जहाँ भाव अधिक हैं वहाँ बेचे जाते हैं।"

जो अन्तर है वह भी कम या समाप्त हो जायगा क्योंकि मुद्राओं की दरों में अन्तर होने से, लाभ कमाने के लिए, उनका क्रय-विक्रय सदैव होता रहता है। यह स्मरण रहे कि मध्यस्थों की क्रियाएँ (Arbitrage Operations) केवल विदेशी मुद्राओं के क्रय विक्रय तक ही सीमित नहीं होती हैं वरन् इनका प्रयोग शेयर्स तथा अन्य प्रकार के पत्रों में भी किया जाता है।

बैंकों द्वारा किये गए उक्त व्यवहारों से यह स्पष्ट है कि उनके उक्तलिखित व्यवहार यदि एक देश में विदेशी मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति की तुलना में बढा देते हैं, तब ये ही व्यवहार दूसरे देश में विदेश की मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग की तुलना में अधिक कर देते हैं। परिणामत विनिमय की दर प्रभावित हो जाती है।

(४) मुद्रा की स्थिति (Currency Conditions) —चलन की परिस्थितियों का भी विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसमें मुद्रा प्रसार, मुद्रा-सकोच, अवमूल्यन आदि का समावेश है —(क) मुद्रा प्रसार (Inflation) —जब किसी देश में मुद्रा-प्रसार एव चलनाधिक्य (Over Issue of Currency) की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है या ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हो जाती है, तब ऐसे देश से पूँजी विदेशों को भागने (Flight of Currency) लगती है (विदेशी भी अपनी विनियोजित पूँजी को इस देश से वापिस मगाने लगते हैं) क्योंकि मुद्रा-प्रसार से मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। परिणामत ऐसे देश की विनिमय की दर इसके विपक्ष में हो जाती है अथवा उस देश की मुद्रा विदेश की मुद्रा को पहले से कम मात्रा में खरीदने लगती है। (ख) मुद्रा सकोच अथवा अधिमूल्यन —यदि किन्हीं कारणों से देश में मुद्रा-सकोच अथवा अधिमूल्यन (Appreciation of Currency) की आशा हो जाती है, तब विदेशी लाभ के लालच से, इस मुद्रा को खरीदने लगते हैं (उदाहरणार्थ सन् १९१७ के पश्चात् विदेशियों ने जर्मन मार्क को लाभ प्राप्त करने के हेतु ही खरीदा था)। परिणामत इस देश की मुद्रा का मूल्य विदेश की मुद्रा के रूप में बढ़ जाता है अर्थात् इस देश की मुद्रा विदेश की मुद्रा को पहले से अधिक मात्रा में खरीदने लगती है। अत मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तनों का विनिमय की दर के उच्चावचन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त (Purchasing Power of Parity Theory) भी इसी तथ्य को प्रकट करता है कि दो देशों के बीच विनिमय दर में परिवर्तन इन दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तन के अनुसार ही होता है। अत मुद्रा की माँग व पूर्ति घटने बढने से विनिमय की दर, बहुत प्रभावित होती है।

विभिन्न देशों में जिस प्रकार का मुद्रा मान है, इसका भी विनिमय की दर के उच्चावचन (Fluctuation) पर प्रभाव पड़ता है —(क) स्वर्ण मान (या रौप्य मान) देशों में विनिमय की दर —स्वर्ण-मान (या रौप्य मान) देशों के बीच विनिमय की दर में परिवर्तन स्वर्ण-बिन्दुओं (Specie Points) से मर्यादित होता है। (ख) स्वर्ण मान और रौप्य-मान देशों में विनिमय की दर —दो स्वर्ण मान देशों की तरह यहाँ पर भी स्वर्ण-बिन्दु (Specie Points) होते हैं (इस सम्बन्ध में पहले विस्तार से लिखा जा चुका है)

ग्रौर विनिमय की दर का उच्चावचन इनसे मर्यादित होता है। (ग) **स्वर्ण-मान व पत्र-मुद्रा-मान देशों में विनिमय की दर:**—इन दोनों देशो के बीच विनिमय की दर इन देशों की मुद्राग्रो की परस्पर क्रय-शक्ति पर निर्भर रहती है। पत्र-मुद्रा का स्वर्ण में जितना ग्रवमूल्यन हो जाता है विनिमय की दर में भी उसी ग्रनुपात में परिवर्तन हो जाता है। स्वर्ण-मान टूटने के बाद तो इन देशो की विनिमय की दर मे जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुआ है। (घ) **ग्रपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान वाले देशों में विनिमय की दर:**—इन देशो मे विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव बहुत ज्यादा होता है ग्रौर इस उच्चावचन (Variation) की कोई सीमा भी नही होती है। ग्रतः हम यह कह सकते हैं कि देश की मुद्रा-स्थिति (मुद्रा-मान किस प्रकार का है का विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है।)

(ग्रा) **राजनैतिक परिस्थितियाँ:**—राजनैतिक परिस्थितियों का भी विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है। इसमें सरकार की संरक्षण की नीति, युद्ध व देश मे शान्ति, सरकार की वित्त नीति तथा विनिमय-नियन्त्रण नीति आदि का समावेश है:—(क) **संरक्षण नीति:**—सरकार सरक्षण (protection) की नीति अपना कर देश की ग्रायात को हतोत्साहित ग्रौर निर्यात को प्रोत्साहित किया करती है। कभी-कभी व्यापारिक-सन्धियों का भी यही परिणाम होता है। निर्यात की मात्रा ग्रायात से ग्रधिक हो जाने पर देश में अनुकूल भुगतान का सन्तुलन (Favourable Balance of Payment) हो जाता है जिससे देश की विनिमय की दर इसके पक्ष में हो जाती है। (ख) **युद्ध व देश में शान्ति व सुरक्षा:**—यदि देश में शान्ति है, सरकार स्थायी व टिकाऊ है, देश में व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा की उचित व्यवस्था है, सरकारी नीति निष्पक्ष है, तब ऐसे देश की ग्रर्थ-व्यवस्था मे तथा साख में न केवल इस देश में वरन् विदेशों में भी विश्वास किया जायगा। परिणाम यह होगा कि विदेशों से एक बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी विनियोग के लिये इस देश में ग्राने लगेगी। इस दशा में इस देश की विनिमय की दर इसके पक्ष मे हो जायगी। (ग) देश की वित्त नीति—यदि सरकार बजट में घाटे की वित्त-व्यवस्था करती है, तब इसका भी विनिमय की दर पर प्रभाव पड़ता है। (घ) **विनिमय नियन्त्रण**—जब देश की सरकार विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण की नीति ग्रपना लेती है, तब इससे भी देश की विनिमय की दर प्रभावित होती है। ग्रतः किसी देश की राजनैतिक स्थिति तथा वहाँ की सरकार के राजनैतिक दृष्टिकोण से विनिमय-दर बहुत प्रभावित होती है।

विनिमय-दर के उच्चावचन की सीमायें
(Limits to the Fluctuations of the Rate of Exchange)

क्या विनिमय की दर मे परिवर्तन की कुछ सीमायें भी होती हैं? (Are there any Limits in the fluctuations of the Rate of Exchange ?):—विदेशी मुद्रा की मांग ग्रौर पूर्ति के ग्रनुसार समय-समय पर विनिमय की दर मे परिवर्तन होते हैं, परन्तु क्या इस परिवर्तन की कुछ सीमाएँ भी हैं? क्या विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव (Variation) कुछ सीमाओं के ग्रन्दर ही होता है? (क) **स्वर्ण-मान में विनिमय की दर**

में परिवर्तन की सीमायें—स्वर्ण-मान देशों में विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव स्वर्ण बिन्दुओं (Specie Points) से मर्यादित होता है। इस तरह यहाँ पर विनिमय की दर में परिवर्तन का क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि इन मानों में व्यापारियों को स्वर्ण की निर्यात करने की स्वतन्त्रता एवं सुविधा होती है। एक तरफ विनिमय की दर स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Upper Specie Point) से अधिक ऊपर नहीं जाती है (यह सीमा टक-समभाव में सोने के भेजने के व्यय को जोड़ने से प्राप्त होती है) क्योंकि इस अवस्था में व्यापारियों को विदेशी मुद्रा या इसके बिल खरीदने के बजाय, सोना खरीदकर विदेशों को भेजना अधिक सस्ता व लाभप्रद रहेगा और दूसरी तरह विनिमय की दर स्वर्ण-आयात बिन्दु (Lower Specie Point) से नीचे नहीं गिरती है (यह सीमा टक समभाव में सोने के भेजने के व्यय को घटाने से प्राप्त होती है) क्योंकि इस अवस्था में विदेशी व्यापारियों (आयातकर्ताओं) को हमारी मुद्रा या इसके बिल (स्वत्व) खरीदने के बजाय, सोना खरीद कर इसे हमारे देश के व्यापारी को भेजना अधिक लाभप्रद होता है। अतः जब दो देशों में स्वर्ण मान होता है, तब विनिमय की दर टक समता (Mint Par of Exchange) के चारों ओर स्वर्ण-आयात बिन्दु व स्वर्ण निर्यात बिन्दु के बीच में ही परिवर्तित होती है। यह स्मरण रहे कि जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात बिन्दु के पास होती है, तब यह इस देश के पक्ष में होती है और जब यह स्वर्ण निर्यात बिन्दु के पास होती है, तब यह इस देश के विपक्ष में होती है। (ख) पत्र-मान में विनिमय की दर में परिवर्तन की सीमायें—यदि दो देशों में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा-मान है, तब इनमें विनिमय की दर में, दीर्घकाल में, क्रय-शक्ति तुल्यता (Purchasing Power Parity) के आस-पास तय हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है परन्तु विनिमय की दर में उच्चावचनों (Variations) की कोई प्राकृतिक सीमा नहीं होती है। स्वर्ण-मान देशों की तरह यहाँ पर स्वर्ण बिन्दु नहीं पाये जाते हैं। अतः पत्र मुद्रा मान में विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव की कोई सीमा नहीं होती है। वास्तव में यहाँ पर उच्चावचन इस बात पर निर्भर रहता है कि सरकार ने विनिमय की दर को स्थिर रखने एवं नियन्त्रण करने की क्या नीति अपनाई है और इसमें उसे कहाँ तक सफलता मिली है।

विनिमय की दर में उच्चावचनों (Fluctuations) को रोकने के उपाय बहुत सीधे-सादे हैं। वे सब उपाय जिनसे भुगतान के असन्तुलन को ठीक किया जा सकता है (इनका अध्ययन 'भुगतान का सन्तुलन' नामक अध्याय में विस्तार से किया गया है) उनका प्रयोग करके विनिमय की दर में घट बढ़ को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है।

अनुकूल या प्रतिकूल विनिमय की दर
(Favourable and Unfavourable Rate of Exchange)

अनुकूल या प्रतिकूल विनिमय की दर का अर्थ (Meaning of Favourable and Unfavourable Rate of Exchange)—किसी समय विनिमय की दर अनुकूल है या वह प्रतिकूल है, इसको बताने के लिये सबसे पहले हमें इस बात की जानकारी होनी चाहिये कि विनिमय की दर किस देश की मुद्रा में व्यक्त की जा रही है अर्थात् क्या यह दर स्वदेश की मुद्रा में व्यक्त की जा रही है या क्या वह दर किसी विदेश की मुद्रा में

व्यक्त की जा रही है ? (अ) विनिमय की दर को स्वदेश की मुद्रा में व्यक्त करना—जब किसी देश में विनिमय की दर स्वदेश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है, तब गिरती हुई (Falling Rate) या कम होती हुई (या नीची) विनिमय की दर स्वदेश के पक्ष में होती है और बढ़ती हुई (Rising Rate) या ऊंची विनिमय की दर हमारे विपक्ष में होती है। इसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो, पौंड का मूल्य रुपयों में व्यक्त किया जा रहा है या विनिमय की दर रुपयों में (स्वदेश की मुद्रा में) व्यक्त की जा रही है और मान लो, १ पौंड=१५ रु० है (यदि यह विनिमय की दर कम हो जाती है या यह घटकर १ पौंड=१२ रु० हो जाती है, तब यह हमारे देश के लिए अनुकूल है क्योंकि अब हमें १ पौंड का माल खरीदने के लिए पहले से कम अपनी मुद्रा देनी पड़ती है। इसी तरह यदि यह दर बढ़कर १ पौंड=१८ रु० हो जाती है तब यह हमारे देश के लिए प्रतिकूल हो जाता है क्योंकि अब हमें १ पौंड का माल खरीदने के लिए पहले से अधिक मात्रा में अपनी मुद्रा देनी पड़ती है। अतः जब किसी देश में विनिमय की दर स्वदेश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है, तब घटती हुई दर उस देश के पक्ष में और बढ़ती हुई दर उस देश के विपक्ष में होती है। (आ) विनिमय की दर को विदेश की मुद्रा में व्यक्त करना—जब किसी देश में विनिमय की दर विदेश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है, तब बढ़ती हुई (Rising Rate) विनिमय की दर स्वदेश के पक्ष में होती है और गिरती हुई (Falling Rate) विनिमय की दर स्वदेश के विपक्ष में होती है। इसको भी एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। आज १ रुपया २१ सेंट के बराबर है (विनिमय की दर है १ रु०=२१ सेंट)। सितम्बर १९४९ से पहले एक रुपया ३०·२२५ सेंट के बराबर था (विनिमय की दर १ रु०=३०·२२५ सेंट) इसका अर्थ यह हुआ कि यदि आज फिर १ रु० को ३०·२२५ सेंट के बराबर कर दिया जाय, तब यह विनिमय की दर आज की तुलना में देश के पक्ष में हो जायगी क्योंकि तब हम आज की तुलना में १ रुपये के बदले मे अधिक सेंट खरीद सकेंगे। परन्तु जब सितम्बर १९४९ में विनिमय की दर १ रु०=३०·२२५ सेंट से घटाकर १ रु०=२१ सेंट कर दी गई, तब से यह दर हमारे देश के विपक्ष में हो गई है क्योंकि अब हम १ रु० के बदले में सितम्बर १९४९ से पहले की तुलना में बहुत कम सेंट प्राप्त करने पाते हैं अथवा रुपये का मूल्य डौलर में कम हो गया है। अतः जब विनिमय की दर विदेश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है, तब ऊँची विनिमय की दर देश के पक्ष में होती है और नीची विनिमय की दर देश के विपक्ष में होती है।

अनुकूल व प्रतिकूल विनिमय की दर के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of a Favourable or Unfavourable Rate of Exchange)—अनुकूल तथा प्रतिकूल विनिमय की दर के प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न रहा करते हैं:—(अ) अनुकूल विनिमय की दर के प्रभाव—यदि विनिमय की दर किसी देश के अनुकूल है, तब यह देश अपनी एक मुद्रा-इकाई के बदले में विदेश में पहले से अधिक वस्तुएं खरीदने में सफल हो जाता है क्योंकि इस देश की एक मुद्रा-इकाई का मूल्य विदेश की मुद्रा में अधि-मूल्यित (Appreciation) हो गया है अर्थात् स्वदेश की एक-मुद्रा इकाई के

बदले में विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगी है। इसका परिणाम यह होगा कि इस देश में आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और निर्यात हतोत्साहित होगी। आयातकर्ताओं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होगा तथा निर्यातकर्ताओं को हानि होगी और निर्यात व्यवसाय व निर्यात-उद्योग बन्द हो जायेंगे। इस दशा में शनैः शनैः देश में बेरोजगारी फैल जायगी। निर्यात-उद्योग बन्द हो जाने का कारण यह है कि जब विनिमय दर स्वदेश के अनुकूल होती है, तब विदेशियों को हमारी मुद्रा महँगी हो जाती है अर्थात् विदशी मुद्रा की क्रय-शक्ति हमारी मुद्रा के रूप में, कम हो जाती है जिससे हमारे यहा की खरीदी हुई वस्तुए उनको महँगी पड़ती हैं। (आ) प्रतिकूल विनिमय की दर के प्रभाव- *जब किसी देश में प्रतिकूल विनिमय की दर होती है, तब वह देश अपनी एक मुद्रा-इकाई* के बदले में विदेशों में पहले से कम वस्तुएँ खरीदने पाता है क्योंकि इस देश की एक मुद्रा-*इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से बहुत कम मात्रा में प्राप्त होती है।* इस अवस्था में आयात-निरुत्साहित होता है और निर्यात प्रोत्साहित होता है। निर्यातकर्ताओं व निर्यात-उद्योग में उत्पादकों को लाभ होता है, परन्तु आयातकर्ताओं व उपभोक्ताओं को हानि होती है। इस दशा में श्रमिकों को खूब रोजगार मिलता है, परन्तु निश्चित आय वाले वर्ग को हानि सहनी पड़ती है। इस दृष्टि से देश की प्रतिकूल विनिमय की दर आर्थिक दृष्टि से इस देश के लिये बहुत लाभदायक होती है।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि किसी समय यह कहना कि विनिमय दर देश के लिए अनुकूल है या विनिमय-दर देश के लिए प्रतिकूल है एक विरोधाभास (Contradiction) है क्योंकि प्रत्येक दर में [illegible] यदि किसी वर्ग को हानि होती है तब साथ ही साथ दूसरे वर्ग को लाभ भी होता है।

विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ (Meaning of Exchange Control)—जिस व्यवस्था में देश के नागरिकों को, किसी भी मात्रा में, विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का पूर्ण अधिकार होता है, उसे स्वतन्त्र (अनियन्त्रित) विदेशी विनिमय की व्यवस्था कहते हैं। परन्तु जब देश की सरकार कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय एवं वितरण में हस्तक्षेप (Intervention) करती है तब इसे नियन्त्रित विदेशी विनिमय की व्यवस्था अथवा विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) कहते हैं। विनिमय नियन्त्रण की परिभाषायें इस प्रकार दी गई हैं।

(१) एक लेखक के अनुसार, "विनिमय कन्ट्रोल देश के मुद्रा अधिकारियों द्वारा *उस हस्तक्षेप को कहते हैं जिसका उद्देश्य उस देश की विनिमय-दर को स्थिर रखने का* होता है।"

(२) इसी तरह एक दूसरे लेखक ने विनिमय वितरण की परिभाषा इस प्रकार दी है—'विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय ऐसे किसी भी कार्य से है जो विदेशी विनिमय बाजार में रुकावटें (अड़चनें) पैदा करे और जिससे विनिमय की दर प्रभावित हो। इस तरह विनिमय नियन्त्रण का अर्थ विदेशी विनिमय पर सामान्य देख भाल और कुछ विशेष प्रकार की व्यापारिक माँगों की सीमाएँ निर्धारित करना है।"

इस विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अर्थ सरकार या सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी द्वारा किए गये उन सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष हस्तक्षेपो से होता है जो विनिमय की दरों तथा इनसे सम्बन्धित व्यापार को प्रभावित करते हैं। परन्तु संकुचित अर्थ मे इसका अर्थ उन तमाम सरकारी हस्तक्षेपों तथा प्रतिबन्धो से होता है जो केवल देश की अपनी निजी विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। आजकल इस शब्द का उपयोग अधिकतर इसी अर्थ में किया जाता है।

विदेशी विनिमय नियन्त्रण विज्ञान का विकास (Origin and Growth of the Science of Exchange Control):–विदेशी विनिमय नियन्त्रण विज्ञान के आविष्कार का श्रेय जर्मनी (Germany) को है। इस विज्ञान का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ। प्रथम महायुद्ध में जब जर्मन मार्क (German Mark) की विनिमय-दर बहुत ही गिर गई, तब जर्मन अर्थशास्त्रियों ने विनिमय नियन्त्रण जैसे विज्ञान का आविष्कार किया और इसकी सहायता से जर्मन सरकार ने युद्ध के पश्चात् कुछ समय तक जर्मनी की विनिमय-दर को काफी सीमा तक स्थिर रक्खा। परन्तु सन् १६३१ में स्वर्ण-मान के परित्याग के पश्चात् तो विनिमय की दर में इतना अधिक उच्चावचन हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों को विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध ने इस प्रणाली को और भी अधिक दृढ़ बना दिया है। आजकल प्रत्येक देश में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-चलन है। चूंकि इस प्रणाली मे विनिमय की दर की स्थिरता केवल विनिमय नियन्त्रण विज्ञान द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती है, इसलिये इस विज्ञान का वर्तमान युग में बहुत महत्व है। सन् १६३६ के पश्चात् भारत तथा अन्य बहुत से देशों ने युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था को सफल बनाने के लिये, विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपनाया था।

विदेशी विनिमय नियन्त्रण की विशेषतायें (Characteristics of Exchange Control):—विनिमय-नियन्त्रण के अन्तर्गत देश के व्यापारियों को प्राप्त होने वाली तमाम विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के पास जमा कर दी जाती है और इसके बदले में इन व्यापारियों को देश की मुद्रा दे दी जाती है। इस प्रकार प्राप्त की गई विदेशी विनिमय से देश की समस्त विदेशी विनिमय की आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। इसीलिए एक कन्ट्रोल भाव (Control Rate) पर केन्द्रीय बैंक उक्त संचित विदेशी विनिमय को, देश की आवश्यकतानुसार विभिन्न व्यापारियो एवं विभिन्न व्यापारो मे बाँट देता है। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार वितरित की जाने वाली विदेशी विनिमय के व्यय की कार्य-विधि भी निश्चित कर देता है। विनिमय नियन्त्रण के साथ ही साथ देश की आयात (वस्तुओं की मात्रा, इनका गुण आदि) पर भी बहुत बाधायें लगा दी जाती हैं। इस तरह नियन्त्रण प्रणाली में सरकार केन्द्रीय बैंक द्वारा संचित विदेशी विनिमय को सर्वप्रथम अपने कार्यों में उपयोग मे लाती है और तत्पश्चात् शेष विनिमय को शनैः शनैः अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के लिए देशवासियो को दे देती है।

विदेशी विनिमय पर प्रतिबन्ध (Restriction) और विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय में सरकारी हस्तक्षेप (Intervention) मे भेद:—विनिमय की दर में उच्चावचन

को कम करने के लिये सरकार मुख्यत दो पद्धतियाँ अपनाती है —(i) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions) या विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) — इस पद्धति में सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर रोक (Restriction) लगा देती है और वह स्वय भी विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय नहीं करती है। परिणामत इस प्रकार की रोक या प्रतिबन्धों से विदेशी-विनिमय व्यवहार बन्द हो जाते हैं (यदि यह रोक तमाम मुद्राओं पर लागू की जाती है) या बहुत कम हो जाते हैं (यदि यह रोक एव प्रतिबन्ध कुछ ही मुद्राओ पर लागू किये गये हैं)। अत इस प्रणाली मे व्यक्तिगत व्यवसायियो की विदेशी मुद्रा खरीदने-बेचने की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाती है। (ii) विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय मे सरकारी हस्तक्षेप —जब सरकार किसी निश्चित विनिमय की दर को स्थापित करने या इसको बनाये रखने के लिये विदेशी विनिमय को निश्चित दरो पर खरीदती-बेचती है, तब इसे विदेशी विनिमय में सरकारी हस्तक्षेप (Intervention) कहते हैं। इस प्रणाली में व्यक्तिगत व्यवसायियो को उनकी इच्छानुसार विदेशी-विनिमय का क्रय-विक्रय करने में कोई बाधा नही डाली जाती है। इस प्रकार की पद्धति को दोनों महायुद्धो के बीच मे विस्तृत रूप से अपनाया गया था। इगलैंड मे विनिमय-समीकरण-कोष (*Exchange Equalisation Fund*) भी इसी उद्देश्य से स्थापित किया गया था।

विनिमय नियन्त्रण का ध्येय

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Exchange Control) —सरकार विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करती है, जिसमें मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं —(i) विनिमय दर को एक पूर्वनिश्चित दर पर स्थिर रखना-अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मान में विनिमय की दर में बहुत उच्चावचन (Variation) हो सकते हैं, इस उच्चावचन में अनिश्चितता भी होती है जो देश की अर्थ-व्यवस्था के लिये घातक होती है। इस स्थिति मे सुधार करने के लिए सरकार विनिमय की दर को किसी निश्चित दर पर स्थिर कर देती है। अत विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य इस पूर्व निश्चित दर को बनाए रखना होता है। (ii) पूँजी को देश से बाहर जाने से रोकना—कभी कभी किन्हीं कारणो से देश की पूँजी विदेशो को जाने लगती है। यदि पूँजी के इस प्रकार देश से बाहर जाने को नही रोका जाय, तब इससे देश की स्वर्ण-निधि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अत विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य देश से पूँजी के निर्यातो को रोकने तथा विदेशी ऋणो के भुगतानो को रोकना हो सकता है। (iii) सरक्षण की नीति को सफल बनाना-विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य देशी व्यवसाय की विदेशी प्रतिस्पर्धा से सुरक्षा भी हो सकता है। इसके द्वारा विदेशी प्रतिस्पर्धा को अच्छी प्रकार से रोका जा सकता है क्योंकि विनिमय नियन्त्रण की नीति से कुछ देशों की आयातो को पूर्णतया रोका जा सकता है या इन्हें कम किया जा सकता है। (iv) व्यापारिक भेदभाव की नीति को सरल बनाना—विनिमय-नियन्त्रण द्वारा विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध अनुकूल बनाया जा सकता है। सरकार एक ऐसी विनिमय नियन्त्रण नीति अपना सकती है कि इससे कुछ देशो या कुछ विशेष वस्तुओं की आयात-निर्यातो के लिए तो एक विशेष दर हो और बाकी

देशों या वस्तुओं के लिए कुछ और ही दर हो। अतः विनिमय-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य व्यापारिक भेद-भाव (Trade Discrimination) की नीति को सफल बनाना हो सकता है। (v) सरकार को आय बढ़ाना—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार को आय प्राप्त करना भी हो सकता है। जब सरकार विदेशी विनिमय की बिक्री-दर इसकी क्रय-दर से ऊँची रखती है, तब चूँकि इस प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण एक निर्यात-कर का काम करता है, इसलिये इस नियन्त्रण-नीति से सरकार को कुछ आय भी प्राप्त होती है। (vi) विदेशी मुद्रा की पर्याप्त उपलब्धि—सरकार के विनिमय-नियन्त्रण का ध्येय पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त करना हो सकता है क्योंकि तब ही सरकार न केवल विदेशों से देश [redacted] लिए आवश्यक वस्तुयें खरीद सकती है वरन् विदेशियों के मूलधन तथा इस पर ब्याज का भुगतान भी कर सकती है। (vii) व्यापार [redacted] भुगतान के असन्तुलन को ठीक करना—सरकार द्वारा अनेक व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाने पर भी यह सम्भव है कि देश का व्यापार का संतुलन इतना अधिक असंतुलित हो जाये कि यह साधारण उपायों से ठीक ही नहीं होने पाये। इस अवस्था में इस असंतुलन की दशा को विनिमय-नियन्त्रण द्वारा ठीक किया जा सकता है। अतः विनिमय-नियन्त्रण का उद्देश्य व्यापार के असन्तुलन को समायोजित (Adjustment) करना भी हो सकता है।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यों में भिन्नता होती है। विभिन्न देश अपनी निजी आवश्यकतानुसार ही उक्त में से किसी एक या अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु ही विनिमय-नियन्त्रण की नीति को अपनाया करते हैं।

✓ विनिमय-नियन्त्रण की रीतियाँ

(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण की कौन-कौन सी रीतियाँ हैं ? (What are the important Methods of Exchange Control ?)—विनिमय-नियन्त्रण की रीतियों को हम मुख्यतः दो भागों में वर्गित कर सकते हैं-(i) एक-पक्षीय रीतियाँ (Unilateral Methods)–इसके अन्तर्गत उन रीतियों का समावेश है जिनको कोई एक देश अपनाता है और जिनका प्रभाव भी विशेषतः उसी देश पर पड़ता है। (ii) द्वि-पक्षी अथवा बहु-पक्षी रीतियाँ (Bilateral and Multilateral Methods)—जबकि दो राष्ट्र मिलकर किसी रीति या रीतियों को अपनायें और इनका प्रभाव भी उन्हीं दोनों राष्ट्रों पर पड़े, तब इस प्रकार की रीतियों को द्वि-पक्षी रीतियाँ (Bilateral Methods) कहते हैं। प्रत्येक देश अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुसार ही किसी नीति-विशेष को अपनाया करता है। चूँकि प्रत्येक देश की आवश्यकतायें भी समय-समय पर बदल जाती हैं, इसलिए प्रत्येक देश उसके द्वारा अपनाई जाने वाली विनिमय-नियन्त्रण-नीति को भी आवश्यकतानुसार बदल देता है। अतः विनिमय-नियन्त्रण की जितनी भी रीतियाँ हैं, उनमें सर्व प्रयोग (Universal Application) का भी गुण नहीं है। सरकार तथा मुद्रा अधिकारियों ने समय-समय पर जिन विनिमय-नियन्त्रण-रीतियों का उपयोग किया है, उनमें से कुछ मुख्य रीतियों का वर्णन नीचे दिया गया है:—

(अ) एक-पक्षीय रीतियाँ (Unilateral Methods)—जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है, जब कोई एक देश किसी एक रीति या रीतियो को अपनाता है और इसका प्रभाव भी उसी देश पर पड़ता है, तब इन्हे एक-पक्षीय रीतियाँ कहते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्य-मुख्य रीतियाँ इस प्रकार हैं—(i) विनिमय समकरण कोष, (ii) विदेशियो का स्वदेश में खाता बन्द करना, (iii) विदेशी विनिमय का राशनिंग करना, (iv) विदेशी व्यापार का नियमन, (v) बैंक दर का नियमन तथा (vi) विनिमय-उद्‌वन्धन।

(१) विनिमय समकरण कोष (Exchange Equalisation Fund)—इसे कभी कभी विनिमय-समकरण खाता (Exchange Equalisation Account) तथा विनिमय स्थायीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) भी कहते हैं। इस कोष की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) सन् १९३१ मे स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् इंगलैंड की स्टर्लिंग विनिमय की दर में बहुत उच्चावचन हुआ, जिससे विनिमय की दर के उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सन् १९३२ मे इंगलैंड में एक विनिमय-समकरण कोष की स्थापना हुई। इंगलैंड के पश्चात् अमेरिका, फ्रांस तथा स्विटजरलैंड ने भी इसी प्रकार के कोषों का निर्माण किया। इस तरह इंगलैंड के कोष का प्रधान उद्देश्य स्टर्लिंग के बदले में विदेशी मुद्राओं को खरीदकर अथवा बेचकर स्टर्लिंग की विनिमय की दर में स्थिरता स्थापित करता था। (ii) इस कोष का निर्माण इंगलैंड में १५०० लाख पौंड से किया गया था। १९३३ में यह रकम बढ़ाकर ३५०० लाख पौंड और १९३७ में यह रकम बढ़ाकर ५५०० लाख पौंड कर दी गई थी। इस कोष के साधनों में सरकार द्वारा प्रचलित ट्रेजरी बिल्स (कोषागार विपत्र) तथा खुले बाजार व अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों से खरीदा हुआ सोना रहता था। ट्रेजरी बिल्स को प्रत्येक ३ महीने के बाद नया किया जाता था। (iii) इस कोष पर सरकारी ट्रेजरी (Govt Treasury) का प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता था, यद्यपि वास्तव में नियन्त्रण का यह कार्य बैंक आफ इंगलैंड द्वारा एक एजेन्ट के रूप में किया जाता था। (iv) इस कोष की कार्य प्रणाली इस प्रकार की थी—जब कभी स्टर्लिंग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाने पर स्टर्लिंग की विनिमय दर बढ़ने लगती थी तब कोष अपने साधनों से विदेशों में विदेशी मुद्रा खरीदने लगता था जिससे विनिमय की दर बढ़ने से रुक जाती थी। इस क्रिया द्वारा जो कुछ भी विदेशी मुद्रा विदेशों में खरीदी जाती थी, वह वहीं के बैंकों मे निधि (Fund) के रूप में जमा कर दी जाती थी। इसी तरह जब स्टर्लिंग की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जाती थी अथवा स्टर्लिंग की विनिमय दर गिरने लगती थी, उस समय यह कोष विदेशो में जमा अपनी निधि से विदेशो में स्टर्लिंग खरीदने लगता था जिससे विदेशो में स्टर्लिंग की माँग बढ़ जाती थी और स्टर्लिंग की विनिमय की दर गिरनी बन्द हो जाया करती थी। इस कोष ने अपने उक्त कार्यों के संचालन के लिये अमरिका तथा फ्रांस आदि देशों में अपनी निधि जमा की थी। अत कोष अपने साधनों का उपयोग करके विनिमय की दर में एक सीमित क्षेत्र (Limited Range) में ही परिवर्तन होने देता था। (v) सरकार इस कोष का उपयोग इस प्रकार किया करती थी कि विनिमय की दर पर अल्पकालीन कारणों का प्रभाव नहीं पड़ने पाये अर्थात् इस कोष का इस प्रकार उपयोग होता था कि अल्पकालीन पूँजी की गतिशीलता (पूँजी का विनियोग करने वालों की घबराहट से पूँजी का

स्थानान्तरण हो जाया करता है) तथा सट्टे व्यवहारों के कारण विनिमय की दर के उच्चावचन (Fluctuation) में रोक लग जाये। दूसरे शब्दों में, इस कोष का उपयोग विनिमय की दर में केवल अल्पकालीन परिवर्तनों को ठीक करने के लिये किया जाता था। सरकार इस कोष का उपयोग इस प्रकार नहीं करती थी कि विनिमय की दर की स्थायी व दीर्घ-कालीन प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप हो जाये। अतः इस कोष का उद्देश्य दीर्घ-कालीन विनिमय-दरों को दृढ बनाना था। (iv) इस विनिमय-समकरण कोष की कार्य-प्रणाली को गुप्त रक्खा जाता था और यह जटिल भी बहुत थी जिससे प्रत्येक व्यक्ति इसकी कार्य-प्रणाली को आसानी से समझ भी नहीं सकता था।

अतः जब कभी विनिमय की दर में अधिक उच्चावचन (Variation) होते थे, तब विनिमय-समकरण-कोष की सहायता से विदेशी मुद्राओं का विक्रय करके इनको एक पूर्व-निश्चित दर पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता था और इस तरह विनिमय की दर के उच्चावचनों को सीमित कर दिया जाता था।

(२) विदेशियों का स्वदेश में खाता बन्द करना (Blocking the accounts of foreigners in the Home Country):—प्रत्येक देश में विदेशी व्यापारियों की कुछ न कुछ पूँजी विनियोजित (Invested) रहती है। इसी तरह बैंकों में भी कुछ पूँजी विदेशियों की जमा रहती है। युद्धकाल में या अन्य सकट के समय में, विनिमय की दर मे उच्चावचन (Variation) पर रोक लगाने के लिये, सरकार या तो इस प्रकार के खातों को बन्द कर देती है या वह इस प्रकार की विदेशी पूंजी व विदेशी सम्पत्ति को देश से बाहर जाने पर रोक (Restrictions) लगा देती है जिससे विदेशी इस देश से अपनी पूँजी का हस्तान्तरण नहीं करने पाते हैं। इस प्रकार की सारी सम्पत्ति सरकार के "अवरुद्ध खाते" (Blocked Accounts) नामक अलग कोष में जमा कर दी जाती है। इस प्रकार की धन-राशि को व्यय करने की प्रथम तो विदेशियों को अनुमति नहीं दी जाती, परन्तु कभी-कभी सरकार विदेशियों को इन खातों में जमा रकम का कुछ विशेष-कार्यों में उपयोग करने के लिये अनुमति दे देती है। यह स्मरण रहे कि इस देश के ऋणियों को भी विदेशी ऋण की रकम का भुगतान सरकार के पास जमा करना पड़ता है और सरकार इस राशि को विदेशी के नाम में 'अवरुद्ध खाते' में जमा कर देती है, परन्तु यह राशि विदेशी मुद्राओं में परिवर्तनीय नहीं होती है। चूंकि विदेशियों को अपनी पूँजी का भुगतान नहीं मिलने पाता है, इसलिये वे विवश होकर सरकार की अनुमति से, इस देश में ही माल खरीदकर अपना भुगतान ले लेते हैं या अपनी मुद्रा को कम मूल्य पर बेच देते हैं। इस तरह इस देश को प्रत्येक अवस्था में लाभ होता है। जब कभी विदेशियों के खातों को बन्द कर दिया जाता है, तब इससे विदेशी मुद्रा में 'चोर-बाजार' का जन्म हो जाता है जिसे अर्थशास्त्र में "ब्लैक बोर्स" (Black Bourse) कहते हैं। अतः जब कभी सरकार विदेशियों के स्वदेश मे खातों को बन्द कर देती है, तब चूंकि मुद्रा विदेशों को नहीं जाने पाती, इसलिये इस रीति से विनिमय की दर के उच्चावचनों (Fluctuations) को रोका (Restrict) जा सकता है।

(३) विदेशी विनिमय का राशनिंग करना (Rationing of Foreign Exch-

ange) —इस रीति में सरकार या केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय को निश्चित दरों पर खरीदती बेचती है और देश का जो कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है उसे कुछ अधिकृत कार्यों एवं व्यवहारों के उपयोग में लाती है अर्थात् विदेशी विनिमय का इस प्रकार उपयोग किया जाता है कि यह आवश्यक आयातों के लिये पर्याप्त हो जाय। यह अवश्य है कि इस रीति में विदेशी विनिमय के स्वतन्त्र व्यवसाय को रोक दिया जाता है। इस प्रणाली का उपयोग स्वतन्त्र रूप में या "अवरुद्ध खातों" (Blocked Account) के साथ किया जा सकता है। भारत में युद्धकाल में इस रीति का उपयोग रिजर्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा किया गया था।

(४) विदेशी व्यापार का नियमन (Regulation of Foreign Trade) — वस्तुओं की आयात-निर्यात का विदेशी विनिमय की दर पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। इस कारण सरकार विदेशी व्यापार का नियमन (Regulation) करके विनिमय की दर के उच्चावचनों पर रोक लगा देती है। सरकार संरक्षण की नीति अपना कर या आयात करों में वृद्धि करके अनावश्यक आयातों को रोकती है और निर्यात-कर में कमी करके या निर्यात व्यवसायों को आर्थिक सहायता (Bounties) देकर निर्यातों को प्रोत्साहित करती है। सरकार आयात निर्यात पर नियन्त्रण करने के लिये लाइसेंस (License) प्रणाली को भी अपना लेती है, जिससे बिना लाइसेंस प्राप्त व्यापारी न तो वस्तुओं की आयात कर सकते हैं और न उनकी निर्यात ही कर सकते हैं। सरकार कोटा प्रणाली (Quota System) द्वारा वस्तुओं की आयात निर्यात की मात्रा व वजन निश्चित कर देती है जिससे अधिक न तो किसी वस्तु की आयात हो सकती है और न उसकी निर्यात ही हो सकती है। (कोटा प्रणाली के भी कई रूप हैं, इस सम्बन्ध में, 'भुगतान का सन्तुलन' नामक अध्याय में विस्तार से लिखा गया है)। अतः विदेशी व्यापार में अनेक रुकावटें डालकर व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल से अनुकूल किया जा सकता है और इस तरह विनिमय की दर की प्रतिकूलता को अनुकूल बनाया जा सकता है अथवा विनिमय की दर में स्थिरता लाई जा सकती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सरकार संरक्षण कर तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों द्वारा विनिमय की दर को बहुत लम्बे समय तक देश के अनुकूल नहीं रख सकती है क्योंकि इस रीति में सदा यह भय रहता है कि प्रतिक्रिया-स्वरूप अन्य देश भी इस प्रकार की संरक्षण-नीति अपना सकते हैं। यदि विदेशों ने ऐसा कर लिया, तब स्वदेशी मुद्रा की विनिमय की दर बढ़ाने का प्रयत्न सफल नहीं होगा।

(५) बैंक दर [redacted] नियमन (Regulation of the Bank Rate) .—किसी देश की बैंक दर में घट-बढ़ का वहाँ की पूँजी के आवागमन पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है जिससे उस देश की विनिमय की दर भी प्रभावित हुआ करती है। बैंक दर में वृद्धि होने पर देश में ब्याज की अन्य दरों में भी वृद्धि हो जाती है जिससे विदेशी पूँजी देश में आने लगती है। जब किसी देश में विदेशी पूँजी काफी बड़ी मात्रा में आने लगती है, तब इसका प्रभाव यह होता है कि इस देश की मुद्रा की माँग विदेशों में बढ़ जाती है जिससे इस देश की विनिमय की दर बढ़ जाती है। परन्तु जब बैंक-दर (Bank Rate) नीची कर दी जाती है, तब ब्याज की अन्य दरों के कम हो जाने से न केवल विदेशी पूँजी का

इस देश में आना ही बन्द हो जाता है वरन् इस देश की पूँजी तक विदेशों को विनियोग के लिए जाने लगती है या विदेशियों द्वारा अपनी पूजी इस देश से वापिस मंगाई जाने लगती है जिससे इस देश की विनिमय की दर कम हो जाती है। इस तरह बैंक दर में घट-बढ़ करके विनिमय-दर को नियन्त्रित किया जा सकता है अथवा विनिमय-दर के उच्चावचनों (Variations) पर रोक लगाई जा सकती है।

(६) विनिमय उद्‌बन्धन (Exchange Pegging):—कभी-कभी सरकार अपने देश की विनिमय-दर को एक सामान्य-दर (एक वास्तविक विनिमय की दर) से बहुत ऊँचे-स्तर पर या सामान्य-दर से एक बहुत नीचे-स्तर पर, एक निश्चित बिन्दु पर निर्धारित कर देती है, तब इस क्रिया को विनिमय उद्‌बन्धन या विनिमय कीलन (Exchange Pegging) कहा जाता है। जब सरकार विनिमय-दर को एक ऊँचे-स्तर पर निश्चित कर देती है, तब इसे "विनिमय-दर को ऊँचा टाकना" (Pegging Up) कहते हैं और जब यह एक नीचे स्तर पर निश्चित कर दी जाती है, तब इसे "विनिमय-दर को नीचे अटकाना" (Pegging Down) कहते हैं। विनिमय उद्‌बन्धन की रीति का उपयोग साधारणतया युद्ध काल मे विनिमय-दरों के उच्चावचन को रोकने के लिये किया जाता है। युद्धकाल में प्रायः मुद्रा-स्फीति के कारण देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य नीचे गिर जाता है। ताकि आन्तरिक मूल्य-स्तर के परिवर्तन के अनुसार देश की विनिमय दर में भी परिवर्तन नहीं होने पाये और देश के विदेशी व्यापार में भी स्थिरता रह सके, इसलिये सरकार देश की मुद्रा का बाह्य-मूल्य एक निश्चित सीमा पर बनाए रखती है। सरकार की इस प्रकार की क्रिया को ही विनिमय उद्‌बन्धन का नाम दिया गया है। 'विनिमय-कीलन' वर्तमान युग मे विनिमय-नियन्त्रण की मुख्य रीति है। इस रीति का उपयोग समय-समय पर बहुत किया गया है। प्रथम महायुद्ध मे स्टलिंग का मूल्य ४·७६५ डॉलर कील दिया (Pegged) गया था। युद्धोत्तर काल में भी स्टर्लिंग का मूल्य इसी प्रकार कीला गया था। भारत में भी सन् १६२७ से रुपये का स्टर्लिंग मे मूल्य १८ पेंस प्रति रुपये की दर से निश्चित किया गया था और सरकार ने इसे इसी दर पर स्थिर रक्खा। द्वितीय महायुद्ध काल में भी रुपये की स्टलिंग मे विनिमय दर १ रु०=१ शि० ६ पेंस रक्खी गई थी।

(आ) द्विपक्षी और बहुपक्षीय रीतियाँ (Bilateral and Multilateral Methods):—जबकि दो राष्ट्र या दो से अधिक राष्ट्र मिलकर विनिमय की दर को नियन्त्रित करने की किसी एक या एक से अधिक रीतियों को अपनाते हैं और जिनका प्रभाव भी दोनों या दो से अधिक राष्ट्रों पर पड़ता है, तब इन्हें क्रमशः एक-पक्षीय और द्विपक्षीय रीतियाँ कहते हैं। इनमें सम्मिलित होने वाली मुख्य-मुख्य रीतियाँ इस प्रकार हैं:— (i) भुगतान-समझौते, (ii) समाशोधन या निकासी समझौते, (iii) परिवर्तन विलम्ब काल तथा (iv) "जैसे-थे" समझौता। इन चारों के अतिरिक्त अनेक देशों की सम्मिलित रीति का एक महत्वपूर्ण उदाहरण विनिमय-समकरण-कोष (Exchange Equalisation fund) भी है। इसका वर्णन विस्तार से ऊपर किया जा चुका है।

(१) भुगतान-समझौते (Payments Agreements):—इस प्रकार के समझौते

की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—(i) भुगतान सम्बन्धी यह समझौता दो राष्ट्रों में किया जाता है जिनमें से एक ऋणी राष्ट्र और दूसरा एक ऋणदाता राष्ट्र होता है। (ii) इस समझौते में ऋणी राष्ट्र ऋणदाता को मूलधन चुकाने, ब्याज देने या लाभांश (Dividend) बाटने की व्यवस्था करता है। (iii) ये समझौते विदेशी विनिमय के नियन्त्रित वितरण के समझौते होते हैं अर्थात् ये समझौते विदेशी विनिमय का राशनिंग का ही एक रूप होते हैं। इन समझौतों को कार्यान्वित करने के लिये समझौता करने वाले देश को विदेशी विनिमय में राशनिंग की व्यवस्था करनी पड़ती है ताकि दूसरे देश को आवश्यक भुगतान किया जा सके। (iv) ऋणदाता देश ऋणी देश को इस बात की धमकी भी दे दिया करता है कि यदि ऋणी देश ने समझौते का पालन नहीं किया, तब वह उस देश की वस्तुएं खरीदना बन्द कर देगा और ऐसी दशा में ऋणी राष्ट्र ऋणदाता राष्ट्र का भुगतान करने में असमर्थ हो जायगा। इस प्रकार की धमकी देकर वह ऋणी राष्ट्र को विनिमय-राशनिंग व्यवस्था लागू करने के लिये बाध्य कर देता है। अतः भुगतान-समझौते की रीति द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रित वितरण एवं राशनिंग करके विनिमय की दर के उच्चावचनों (Variations) पर रोक लगाई जाती है।

(२) समाशोधन या निकासी समझौते (Clearing Agreements)—इस प्रकार के समझौतों की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) ये समझौते दो राष्ट्रों के बीच एक-दूसरे के ऋणों का भुगतान समझौते की शर्त के अनुसार करने के लिए किये जाते हैं। (ii) इन समझौतों के अनुसार दोनों देशों में आयातकर्ता माल का भुगतान अपने देश की मुद्रा में अधिकृत बैंकों में कर देते हैं। इसी तरह ये ही अधिकृत बैंक्स अपने देश के निर्यातकर्ताओं को इनके माल का भुगतान देशी मुद्रा में कर देते हैं। अतः इस रीति में मुद्राओं का एक देश से दूसरे देश को हस्तांतरण नहीं होते हुए भी दोनों देशों में भुगतान हो जाता है। (iii) सरकार द्वारा विनिमय की दर निश्चित की जाती है? (iv) व्यापार का असन्तुलन सरकारी हस्तक्षेप द्वारा ठीक कर दिया जाता है। अतः इस पद्धति में सरकार व्यापार का नियमन (Regulation) करती है और विनिमय की दर के उच्चावचनों को इस हस्तक्षेप से दूर करने का प्रयत्न करती है। (v) इस पद्धति में दोनों देशों में आयात व निर्यात में जो अन्तर होता है, उसी का भुगतान एक देश दूसरे देश को करता है और यह भुगतान भी विदेशी मुद्रा का बिना उपयोग किये किया जाता है। (vi) प्रायः निकासी समझौते ऐसे देशों में ही होते हैं जहाँ पर विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था पहले से ही होती है। (vii) निकासी समझौते करते समय सरकार यह भी तय कर देती है कि भुगतान की क्या प्राथमिकता होगी अर्थात् सरकार यह स्पष्ट कर देती है कि पहले किन किन मदों का भुगतान होगा और बाद में किन किन मदों का भुगतान किया जायगा।

(३) *परिवर्तन विलम्ब काल (Transfer Moratoria)*—विनिमय नियन्त्रण की इस पद्धति की विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) आयातकर्ताओं या विदेशियों के स्वदेश में अन्य दूसरे ऋणियों (Debtors) को अपने ऋण का भुगतान देश के किसी अधिकृत बैंक में अपने देश की मुद्रा में ही करना पड़ता है। (ii) इस प्रकार संचित की गई रकम

का विदेशियों को भुगतान एक निश्चित अवधि के बाद किया जाता है। समझौते से यह अवधि दो राष्ट्रों के बीच तय की जाती है। अतः जब विलम्ब-काल भुगतान (Moratorium) की अवधि समाप्त हो जाती है, तब उक्त अधिकृत बैंक इन निधियों को विदेशों को भेज देता है। (iii) कभी-कभी विलम्ब-काल भुगतान (Moratorium) लागू करने वाले देश की सरकार विदेशियों को अपनी पूँजी किसी विशेष प्रकार से प्रयोग में लाने की अनुमति दे देती है।

(४) "जैसे—थे" समझौता (Standstill Agreement)—इसे निश्चल समझौता भी कहते हैं। सन् १९३१ को आर्थिक मन्दी के बाद जर्मनी ने इस पद्धति का उपयोग किया था। इस रीति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(i) एक समझौते के अनुसार दो राष्ट्रों के बीच की पूँजी के आवागमन पर रोक लगा दी जाती है तथा इस समझौते से इस बात का भी स्पष्टीकरण कर दिया जाता है कि विदेशी व्यापारियों के भुगतान शनैः शनैः किस्तों में किस प्रकार होंगे। (ii) इस पद्धति में अल्प-कालीन ऋण दीर्घ-कालीन ऋण में परिवर्तित कर दिये जाते हैं ताकि इन ऋणों के भुगतान के कारण एक देश से दूसरे देश को पूँजी का आवागमन नहीं हो सके अर्थात् एक समझौते द्वारा अल्पकालीन ऋणों का भुगतान स्थगित कर दिया जाता है। (iii) चूँकि इस पद्धति में ऋण अथवा पूँजी के शनैः शनैः भुगतान की व्यवस्था कर दी जाती है, इसलिए एक समझौते के आधार पर किसी देश को इतना समय दे दिया जाता है कि वह अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर ले और इस काल में पूँजी के आवागमन पर रोक लगाकर विनिमय की दर को नियन्त्रित कर दिया जाता है।

अग्रिम-विनिमय (Forward Exchange)

प्रथम महायुद्ध के बाद विभिन्न देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रचलन आरम्भ हुआ था जिससे उस समय की विभिन्न देशों की बैंकिंग व मौद्रिक परिस्थितियों के अनुसार विनिमय की दर में उच्चावचन भी बहुत होने लगे (पत्र-चलन-मान में विनिमय की दर के उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है) और विनिमय की दर में अनिश्चितता रहने लगी। विनिमय की दर में अत्यधिक परिवर्तन एवं अनिश्चितता व्यापार के लिये बहुत घातक होती है और इससे इसकी प्रगति में बहुत रुकावट पड़ती है। व्यापार की इन बाधाओं को दूर करने तथा विनिमय की दर के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाली जोखिम से बचने के लिये ही "अग्रिम-विनिमय" (Forward Exchange) की विधि अपनाई गई है। इस विधि में विदेशी मुद्राओं का अग्र-विनिमय अथवा क्रय-विक्रय होता है ताकि व्यापारियों को विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव से होने वाली हानि नहीं होने पाये। अतः अग्रिम विनिमय का मुख्य उद्देश्य विनिमय की दर में उच्चावचन से होने वाली हानियों को विदेशी मुद्रा के अग्रिम-क्रय-विक्रय द्वारा कम करना या दूर करना होता है।

जब विनिमय की दर में अनिश्चितता रहती है और व्यापारियों को यह पता भी नहीं रहता है कि भविष्य में यह दर कितनी होगी, तब इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारियों को विदेशों से माल मंगवाने तथा उनको बेचने में कठिनाई अनुभव होती है। इसका कारण स्पष्ट है। एक व्यापारी जो इंगलैंड से माल मंगा रहा है, मान लो उसे

इगलेंड के निर्यात-कर्ता को १०० पौंड का भुगतान करना है। चूँकि उसे इस रकम का भुगतान तीन चार महीने बाद करना है, इसलिये वह यह नहीं जानता कि तीन-चार महीने बाद उसे कितने रुपये देने पड़ेंगे (क्योंकि विनिमय दर में अनिश्चितता है)। इसी कारण वह आयात माल का मूल्य भी निश्चित नहीं करने पाता है। आयातकर्ता की तरह एक निर्यातकर्ता को भी, विनिमय की दर की अनिश्चितता के कारण, अपने व्यापार में कठिनाई अनुभव होती है। उसने जिस माल का निर्यात किया है, वह यह नहीं जानता कि तीन चार महीने बाद उसे उस माल का कितना रुपया मिलेगा। अत भविष्य में विनिमय की दरो के परिवर्तन के कारण व्यापारियों को सदा हानि का भय रहता है। परन्तु आधुनिक व्यवसायिक जगत में व्यापारी सट्टेबाजो की सहायता से, विनिमय की दर में परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होने वाली हानि से बच जाते हैं। एक आयातकर्ता (या निर्यातकर्ता) जब भविष्य में माल खरीदने (या बेचने) का वायदा करता है, तब वह इस वायदे के साथ ही साथ एक हैंच रक्षण वायदा (Hedging Contract) भी कर लेता है जिसमें वह किसी सटोरिये से किसी भावी तिथि पर, वर्तमान विनिमय की दर, पर विदेशी विनिमय खरीदने या बेचने का वचन लेता है। वह इस प्रकार का ठेका या तो किसी सटोरिये से या विनिमय बैंक (Exchange Bank) से करता है। इस प्रकार आयातकर्ता द्वारा विदेशी विनिमय का अग्रिम क्रय अथवा निर्यात-कर्ता द्वारा विदेशी विनिमय का अग्रिम विक्रय कर देने से इन्हें इस बात का पता चल जाता है कि उन्हें भविष्य में क्रमश कितनी रकम देनी या लनी है। परिणामत भविष्य मे विनिमय की दर के उच्चावचन (Fluctuation) का प्रभाव इन व्यापारियों की लेन-देन पर नहीं पड़ेगा क्योंकि इन्हें तो एक पूर्व निश्चित विनिमय की दर पर विदेशी विनिमय मिल जायगा। परन्तु विनिमय की दर के इन परिवर्तनों का प्रभाव सटोरियो या सट्टेबाजो पर पड़ता है।

विनिमय की दर दो तरह की होती हैं—प्रथम, वर्तमान दर (Spot Rate) और द्वितीय, अग्रिम दर (Forward Rate)। जिस दिन सौदा होता है उस दिन की विनिमय की दर को वर्तमान-दर (Spot Rate) कहते हैं। अग्रिम-दर विनिमय की चालू दर होती है जिस दर पर विदेशी मुद्रा का इस समय (तत्काल) क्रय-विक्रय होता है। सटोरिये या विनिमय बैंक्स इस वर्तमान-दर पर ही विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करते हैं। अत अग्रिम विनिमय व्यवहार, वस्तुओं की तरह का मुद्रा का सट्टा होता है। यदि भविष्य में विनिमय की दर ऊची दर हो जाती है (वर्तमान विनिमय की दर की तुलना में), तब विदेशी विनिमय बेचने का वायदा करने वाले सटोरिये को हानि होती है और इसे खरीदने का वायदा करने वाले सटोरिये को लाभ होता है। इसी तरह यदि भविष्य मे विनिमय की दर कम हो जाती है, तब विदेशी विनिमय बेचने का वायदा करने वाले सटोरिये को लाभ होता है और इसे खरीदने का वायदा करने वाले सटोरिये को हानि होती है। परन्तु चाहे विनिमय की दर में वृद्धि हो या वह नीचे गिरे, दोनों ही परिस्थितियों में आयातकर्ता अथवा निर्यातकर्ता विनिमय की दर के उच्चावचनों (Fluctuations) के प्रभाव से बच जाते हैं क्योंकि इस परिवर्तन की जोखिम तो अपने कन्धे पर रखते हैं।

अग्रिम-दर (Forward Rate) प्रचलित-दर (Spot Rate) से जितनी अधिक या कम होती है, उतना ही इस वर्तमान (Spot Rate) पर क्रमशः बट्टा (Discount) या बाधा (Premium) होती है और जब अग्रिम दर प्रचलित-दर के बराबर होती है, तब यह कहा जाता है कि अग्रिम दर में समता (At Par) है। जब अग्रिम विनिमय में देशी मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है, तब यह कहा जाता है कि विदेशी मुद्रा बट्टे या अपहार पर है (Foreign Money is at a Discount)। इसी तरह जब अग्रिम विनिमय में देशी मुद्रा के बदले में कम विदेशी मुद्रा मिलती है, तब यह कहा जाता है कि विदेशी मुद्रा बाधा या प्रव्याजि पर है (Foreign Money is at a Premium)। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाती है। मान लो, पौंड की रुपये में वर्तमान दर (Spot Rate) १ पौंड=१५ रु० है और तीन महीने के लिए अग्रिम दर (Forward Rate) १ पौंड=१६ रु० है चूंकि तीन महीने बाद भारत के व्यापारियों को १ पौंड प्राप्त करने के लिये १५ रु० के बदले १६ रु० देने पड़ेंगे, इसलिये यह कहा जाता है कि १ रु० प्रति पौंड बट्टा है अथवा पौंड बट्टे पर है (£ is at a Discount)। परन्तु यदि तीन महीने बाद की अग्रिम दर बदल कर १ पौंड=१३ रु० हो जाये, तब चूंकि भारत के व्यापारियों को १ पौंड प्राप्त करने के लिये १५ रु० के बदले १३ देने पड़ेंगे, इसलिये यह कहा जाता है कि २ रु० प्रति पौंड बाधा या प्रव्याजि है अथवा पौंड बाधा या प्रव्याजि पर है (£ is at a Premium)।

यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अग्रिम विनिमय की दर (Forward Exchange Rate) के क्रय-विक्रय से व्यापारी कैसे जोखिम से मुक्त हो जाते हैं? इस बात को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। मान लो, रामदास ने इंगलैंड से १०० पौंड के ब्लेड (Blades) मंगाये हैं और उसने विनिमय बैंक से, मान लो, १६ रु० प्रति पौंड पर ३ महीने के बाद के १०० पौंड खरीदे हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि बैंक ने एक वायदा किया है कि वह तीन महीने के बाद १६ रु० प्रति पौंड की दर पर रामदास को १०० पौंड दे देगा। तीन महीने बाद पौंड का रुपये में मूल्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, परन्तु रामदास को इस ठेके की दर (Contract Rate) पर पौंड अवश्य मिल जायेंगे। मान लो, तीन महीने बाद विनिमय दर १ पौंड=१७ रु० हो जाती है, परन्तु रामदास तो बैंक से केवल १६ रु० प्रति पौंड देकर १०० पौंड ले लेगा। तब इस सौदे से बैंक को १ रु० प्रति पौंड हानि होगी क्योंकि बैंक तो १७ रुपये प्रति पौंड देकर पौंड प्राप्त करता है और इसे १६ रुपये प्रति पौंड पर रामदास को बेचता है। इसी तरह तीन महीने बाद, मान लो, विनिमय की दर १ पौंड=१५ रु० हो जाती है, तब चूंकि रामदास तो १६ रुपये प्रति पौंड की दर से बैंक से पौंड खरीदता है, इसलिये बैंक को इस सौदे में १ रुपया प्रति पौंड लाभ होगा। जिस तरह इस उदाहरण में रामदास बैंक से अग्रिम पौंड खरीदकर अपने व्यापार की जोखिम से मुक्त हो जाता है, ठीक इसी प्रकार दूसरा व्यापारी बांकेलाल जिसने इंगलैंड को १०० पौंड की चाय भेजी है, वह १०० पौंड अग्रिम पौंड बेचकर विनिमय की दर में परिवर्तन होने वाली हानि से मुक्त हो जाता है। विनिमय बैंक हर समय अग्रिम विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता रहता है और इस

कार्य से वह प्राय काफी लाभ उठाता है। अत अग्रिम विनिमय की दर की उक्तलिखित क्रय-विक्रय की प्रणाली से व्यापारी विनिमय की दर के परिवर्तनों से होने वाली हानि से मुक्त हो जाते हैं, इसीलिये वर्तमान व्यापारिक जगत मे अग्रिम विनिमय के क्रय विक्रय का कार्य बहुत महत्व का है।

अग्रिम विनिमय-कार्य मे ताकि हानि नहीं होने पाये इसलिये विनिमय बैंक्स दो कार्य करते हैं —(i) विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय का परस्पर सम्बन्ध जोडना (Marrying of Contracts) —इस क्रिया को कभी-कभी ठेका का विवाह या सन्तुलन करना भी कहते हैं। आर्थिक समाज मे सदा कुछ व्यक्ति विदेशी मुद्रा खरीदने के लिये तैयार रहते हैं और इसी तरह कुछ व्यक्ति इसे बेचने के लिये तैयार रहते हैं। विनिमय बैंक्स एक मध्यस्थ की तरह विदेशी मुद्रा को एक से खरीदकर इसे दूसरे को बेचते हैं और इस क्रय-विक्रय के कार्य से लाभ उठाते हैं। इस तरह विनिमय बैंक्स विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के दोनो ठेकों का विवाह (Marrying of Contracts) करा देते हैं अर्थात् विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का परस्पर सम्बन्ध जुड़वा देते हैं। इस तरह के सम्बन्ध जोडने से यह लाभ होता है कि यदि भविष्य मे विनिमय की दर में परिवर्तन हो जाता है, तब एक का घाटा दूसरे के लाभ स पूरा हो जाता है। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने की जितनी अधिक सम्भावना होगी, अग्रिम विनिमय में विदेशी मुद्रा उतनी ही बट्ट पर मूल्य कथित (Quoted at a Discount) होगी अर्थात् स्वदेश की मुद्रा के बदले म उतनी ही अधिक विदेश की मुद्रा मिल जायगी। इसके विपरीत विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की जितनी कम सम्भावना होगी, अग्रिम विनिमय में विदेशी मुद्रा उतनी ही बाधा पर मूल्य-कथित (Quoted at a Premium) होगी अर्थात स्वदेश की मुद्रा के बदले में उतनी ही कम विदेश की मुद्रा मिलेगी। (ii) विदेशी मुद्रा को विदेशी बैंकों में जमा करना (To Deposit Foreign Currency in Foreign Banks) —यदि किसी समय बैंक को अग्र मुद्रा की बिक्री की मात्रा, इसकी खरीद से अधिक है अर्थात् मान लो, उसने १०१ पौंड बेचे हैं और १०० पौंड खरीदे हैं, तब वह इन दोनो राशियों के अन्तर की रकम को अर्थात् (१०१ − १००=) १ पौंड को वर्तमान विनिमय की दर (Spot Rate) पर खरीदकर इगलैंड में सौदे की अवधि के लिये जमा कर देगा। इस दशा मे यदि भविष्य में विनिमय की दर में परिवर्तन हुआ, तब बैंक को विनिमय की दर के इस परिवर्तन से कुछ भी हानि नहीं होगी। अत प्रत्येक विनिमय बैंक अग्रिम विनिमय कार्य मे हानि से बचने के लिये उक्त दोनों बातों को करता है।

अग्रिम विनिमय में विदेशी मुद्रा का बट्टे पर या बाधा पर होना तीन बातों पर निर्भर रहता है —(i) विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय के सम्बन्ध को जोडने की सम्भावना (Possibility of Marrying a Contract) —इस सम्बन्ध मे ऊपर विस्तार से लिखा जा चुका है। (ii) स्वदेश और विदेश मे ब्याज की दर मे अन्तर (Differences in the Rates of Interest at Home and Abroad) —यदि किसी देश में दूसरे देशों की अपेक्षा ब्याज की दर अधिक है, तब अन्य देशो से इस देश को पूँजी बहने लगती

है। स्वदेश के बैंक को यदि इंगलैंड (विदेश) में पूंजी का विनियोग करना अधिक लाभदायक हो गया है, तब वह इंगलैंड को पूँजी भेजने लगेगा। इस दशा में वह वर्तमान दर से कुछ कम रुपये लेकर भी अग्रिम पौंड बेच देगा अर्थात् अग्रिम दर (या पौंड) बट्टे (या अपहार) पर मूल्य कथित (Quoted at a Discount) होगी (स्वदेश की मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है)। इसी तरह यदि स्वदेश मे विदेश (इगलैंड) से ब्याज की दर अधिक है, तब बैंक को विदेश में पूंजी भेजना लाभप्रद नहीं होगा, वह अग्रिम विनिमय-दर का मूल्य-कथन बाधा (या अधिमूल्य) पर करेगा (Quoted at a Premium) अर्थात् स्वदेश की मुद्रा के बदले मे विदेशी मुद्रा कम मात्रा में खरीदी जा सकेगी। अत. वर्तमान और अग्र-दर का अन्तर देश-विदेश मे ब्याज के अन्तर पर निर्भर रहता है। (iii) चलन की परिस्थितियां (Currency Conditions):—यदि किसी देश की मुद्रा के अवमूल्यन (Depreciation) की आशा है, तब बैंक इस मुद्रा का अग्रिम क्रय करने के लिये इच्छुक नही होंगे, जिससे इस देश की मुद्रा की दर, अग्र विनिमय मे बाधा (या अधिमूल्य) पर मूल्य-कथित (Quoted at a Premium) होगी। इसी तरह यदि विदेश की मुद्रा का अधिमूल्यन (Appreciation) होने की आशा है तब, अग्र विनिमय में, विदेशी मुद्रा की दर बट्टे (Discount) पर मूल्य-कथित होगी क्योंकि बैंक इस अवस्था मे ऐसी मुद्रा को खरीदने के लिये तैयार होंगे।

यह स्मरण रहे कि अग्र विनिमय के व्यवहार केवल व्यापारिक कार्यों के लिये ही नही होते बल्कि ये सट्टे व्यवहारों (Speculation) द्वारा लाभ प्राप्ति की दृष्टि से भी होते हैं। यह स्पष्ट है कि अग्र विनिमय होते रहने के कारण विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव में भी न्यूनता आती है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control in India)

युद्धकालीन विनिमय-नियन्त्रण:—इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—(i) द्वितीय महायुद्ध में भारत मे विनिमय-नियन्त्रण का कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिया गया था और इसने इस कार्य का संचालन अलग ही एक विनिमय-नियन्त्रण-विभाग द्वारा किया था। (ii) भारतीय सुरक्षा विधान (Indian Defence Rules) के अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय का उपयोग नही किया जा सकता था और यह बैंक कुछ स्वीकृत कार्यों के लिये ही विदेशी विनिमय की सुविधायें दिया करता था। (iii) विदेशी विनिमय व्यापार का कार्य वास्तव मे विनिमय बैंक्स द्वारा किया जाता था।

भारत का सन् १९४७ का विनिमय नियन्त्रण विधान (Foreign Exchange Regulation Act, 1947):—इस विधान की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) फरवरी १९४७ को भारतीय लोक-सभा ने इस विधान को पास किया था और मार्च सन् १९४७ को इसे कार्यान्वित किया गया। जिस दिन इस नियम को कार्यान्वित किया गया, उसी दिन भारतीय सुरक्षा विधान (Indian Defense Rules) के अन्तर्गत बने आर्थिक नियमों का भी अन्त कर दिया गया। (ii) इस विधान के अनुसार तमाम विदेशी

विनिमय के लेन-देन रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत विनिमय बैंकों द्वारा किये जाते हैं। रिजर्व बैंक का परमिट दिखलाकर ही इन बैंकों से विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है। परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) वाले व्यक्तियों को रिजर्व बैंक से ये आज्ञा पत्र नहीं लेने पड़ते। ऐसे व्यक्ति अपनी आमदनी में से १५० पौंड प्रति माह अपने कुटुम्ब के व्यय के लिये भेज सकते हैं। (iii) इस विधान का मुख्य-उद्देश्य भारतीय स्वर्ण का निर्यात, विदेशों से भारत में आने वाली पूँजी व इसका भुगतान, विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय आदि को नियन्त्रित करना है। (iv) भारत में रहने वाले विदेशी एक उचित मात्रा तक ही मुद्रा अपने देश को भेज सकते हैं (बीमा का प्रीमियम, बच्चों की शिक्षा, कुटुम्ब का खर्च आदि के लिये)। जब विदेशी अपने देश को मुद्रा भेजता है तब यह देखा जाता है कि यह रकम उसकी आमदनी में से रहन-सहन का व्यय घटाकर उससे ज्यादा तो नहीं है। इसलिये यदि कोई भारतीय फर्म किसी विदेशी व्यक्ति की सेवायें प्राप्त करना चाहती है, तब इसे पहले रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती है। (v) हिस्सों व प्रतिभूतियों का डिविडेन्ड, जमा व ऋणों का ब्याज, विदेशी मुद्रा में दी जाने वाली बीमा की प्रीमियम आदि को स्वतन्त्रतापूर्वक भेजा सकता है। परन्तु भेजने वाला व्यक्ति इन हिस्सों, प्रतिभूतियों व जमा का स्वामी होना चाहिए। (vi) जब कोई विदेशी अपने देश को लौटता है, तब वह अपने वेतन की बचत, प्रॉवीडेन्ट फन्ड, अपनी स्वयं की सम्पत्ति की बिक्री की रकम आदि अपनी स्वयं की मुद्रा में ले जा सकता है, परन्तु यह रकम ज्यादा से ज्यादा ५००० पौंड तक हो सकती है। (vii) आयातकर्त्ता विदेशों से मगाई गई वस्तुओं का भुगतान स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है, परन्तु इसके लिये आयात लाइसेंस (Import License) होना चाहिये। (viii) भारत में स्थित विदेशी व्यापारिक संस्था अपने लाभ को प्रधान कार्यालय को भेज सकती है। (ix) इस विनिमय विधान के अनुसार पूँजी स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर नहीं भेजी जा सकती, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में इसकी भी इजाजत दे दी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय स्थायित्व—सन् १९४४ में इस कोष की स्थापना की जा चुकी है (इस सम्बन्ध में विस्तार से 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष' नामक अध्याय में लिखा गया है)। इसके अनेक उद्देश्य हैं, परन्तु इनमें से एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं की आपस की विनिमय की दर का प्रबन्ध करना तथा विनिमय-दरों को स्थिर बनाने का प्रयत्न करना भी है। इसके अतिरिक्त इस कोष का उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों में लगाये गये विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रणों को दूर करना भी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई रुकावट न हो सके। इस कोष का मुख्य कार्य अपने सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करना भी है। इसने सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं का सम्बन्ध स्वर्ण अथवा डॉलर से स्थापित करके इन सब की आपसी विनिमय दरें भी निर्धारित कर दी हैं। इन दरों में कोई भारी उतार-चढ़ाव भी बिना कोष की अनुमति के नहीं हो सकेंगे। यद्यपि कोष किसी भी सदस्य राष्ट्र की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करेगा, परन्तु कोई भी देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन या अधिमूल्यन बिना कोष की अनुमति के नहीं कर सकता है। कोष की स्थापना के समय

यह आशा की गई थी कि राष्ट्रों ने जितने भी विनिमय नियन्त्रण लगा रखते हैं वे सब परिवर्तनकाल में ही रहेंगे और इन्हें शीघ्र ही हटा दिया जायगा। अभी तक यह आशा पूरी नहीं हो सकी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए विनिमय-नियन्त्रण की नीति को त्याग कर एक स्वतन्त्र नीति अपनाना बहुत आवश्यक है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. विनिमय नियंत्रण क्यों आवश्यक है ? भारत में इस नियंत्रण की कार्यवाही पर प्रकाश डालिये। (१९६०)। २. नोट लिखिये—क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त (१९५९ S)। ३. भारत के विदेशी विनिमय में उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ सुझाव दीजिये (१९५९ S)। ४. विनिमय-नियंत्रण पर नोट लिखिये (१९५९ S, १९५८, १९५६ S)। ५. किसी देश के चलार्थ की विनिमय अर्हा किस प्रकार निर्धारित होती है। (१९५९)। ६. विनिमय नियंत्रण क्या है ? द्रव्य के विदेशी विनिमय में स्थिरता लाने में यह नियंत्रण कहाँ तक सहायक होता है ? (१९५८ S)। ७. क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त को समझाइये और स्पष्ट कीजिये कि व्यवहारिक रूप से यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू हो सकता है ? (१९५८)। ८. विदेशी विनिमय की व्यवस्था का वर्णन कीजिये। अनुकूल और प्रतिकूल विदेशी विनिमय दर का क्या महत्व है ? (१९५७ S) ९. विनिमय नियंत्रण के क्या उद्देश्य हैं ? विनिमय नियंत्रण के साधनों का वर्णन कीजिये। (१९५७) 10. Write a note on–Gold Points. (1956 S) 11. Write a note on—Purchasing Power Parity. (1656, 1955 S) 12. What factors influence fluctuations in the exchange rate ? (1956) 13. Write a note on—Exchange Equalisation Fund. (1956) 14 Discuss critically the Purchasing Power Parity Theory. (1956) 15. Write a note on—Mint Par. (1956, 1954) 16. Explain the objectives, nature and limitations of exchange equalization funds. (1955)

Agra University, B. Com.

१. स्वर्ण-मान एवं रजत-मान वाले देशों के मध्य विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (१९५९ S)। २. भारत में प्रयुक्त पद्धतियों (*Methods*) का विशेष उल्लेख करते हुये विनिमय नियमन के उद्देश्यों और पद्धतियों का विवेचन करिये (१९५९)। ३. नोट लिखिये—विनिमय-साम्यस्थापक लेखा (Exchange Equalization Account) (१९५९)। 4. What is meant by the term "Foreign Exchange" ? Discuss the various factors that bring about changes in the foreign exchange rates. (1958 S) 5. What do you understand by the purchasing Power Parity Theory relating to the foreign exchange ? When does the rate deviate from this parity. (1958) Discuss its (Theory) merits and demerits. (1954) 6. Explain the difference between the two—Mint Par of Exchange and Specie Points. (1958) 7. Write a note on—Exchange control. (1998) 8. What do you understand by favourable and unfavourable rates of exchange ? What are the factors which cause the exchange rate to be favourable or unfavourable ? (1957) 9. Write a note on—Exchange Pegeing. (1957) 10. Write a note on—Purchasing Power Parity. (1957, 1955 S) 11. Write a note on—Specie

Points (1956 1954) 12 Write a note on—Mint Par of Exchange (1955)

Rajputana University, B A & B Sc

1 In what way is foreign trade (विदेशी व्यापार) influenced by a variation in the rate of exchange (विनिमय दर)? Discuss (1959) 2 Discuss the Purchasing Power Parity Theory (सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त) and state its defects (1958) 3 Fully discuss Purchasing Power Parity Theory (1957) 4 Show how the exchange value of a country s currency is determined? (1955) 5 Write a noteon—Mint Par (1954)

Rajputana University, B Com

1 What do you mean by Exchange Control (विनिमय नियन्त्रण)? How do its objectives differ from peace time to war time? Explain three such methods of exchange control used in the world before 1939 (1959) 2 Explain—(a) Gold Export Point (स्वर्ण निर्यात बिन्दु) (b) Which of the two rates—1 sh 6 d = 1 Re and 1 sh 4 d = 1 Re—is in the best economic interests of the country and why? (1959) 3 Critically examine the Purchasing Power Parity Theory (सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त) (1958) 4 Explain how foreign exchange rates are determined (1958) 5 Explain the chief aims and methods of exchange control (विनिमय नियन्त्रण) illustrating the same from its working in India (1957, 1954) 6 Write a note on—Causes of fluctuations in the rate of exchange (1957) 7 Examine briefly the factors that cause fluctuations in the foreign exchange rates Are there any limits to these fluctuations? Discuss? (1955) 8 Write a short note on—Forward Rate of Exchange (1955) 9 Write a short note on—Exchange Equalization Account (1955, 1957) 10 Write a note on—Arbitrage Operations (1959)

Sagar University, B A

१ विदेशी विनिमय-दरों के उतार चढ़ाव के कारणों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये। क्या आपके विचार में इस प्रकार के उतार चढ़ाव की अपनी सीमायें होती हैं? (१९५९)। २ विदेशी विनिमय दर पर किन किन कारणों का प्रभाव पड़ता है? (१९५७)। 3 State and explain the Purchasing Power Parity Theory of Foreign Exchange and indicate its limitations (1958) 4 Write a short note on—Mint Par of Exchange (1958)

Sagar University, B Com

१ अपरिवर्तनशील पत्र मुद्राओं में विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है? (१९५९)। २ विनिमय की टक समता समझाइये। विनिमय की दर में उच्चावचन के कारणों को बताइये। (१९५९, १९५८)। ३ टिप्पणी लिखिये—स्वर्ण बिन्दु (१९५६) ४ विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उपायों को बताइये। (१९५६)। ५ क्रय शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (१९५८, १९५४)। ६ नोट लिखिये—स्वर्ण बिन्दु (Gold Points) (१९५७)। ७ चल विनिमय दरों (Fluctuating Rates) की तुलना में स्थिर विनिमय दरों (Fixed Exchange Rates) के गुणों का विवेचन कीजिये। (१९५५) ८ आप 'विनिमय नियन्त्रण' का क्या तात्पर्य समझते हैं और वह क्यों आवश्यक हो गया

inconvertible paper currencies? (1957) 5. What will be the effects on foreign trade of (a) falling exchange and (b) all round increase in money wages in the home country. (1957) 6 Write a note on—Clearing Agreement (1957) 7 State and explain fully the Purchasing Power Parity Theory of foreign exchanges Discuss the defects of the theory (1956) 8 Explain what is meant by 'mint par of exchange?' Examine carefully the factors which bring about fluctuations in the rate of exchange (1956) 9 What is meant by 'dislocations of foreign exchanges?' Describe the main methods that may be adopted to regulate and control foreign exchanges (1956) 10 Write a note on-(a) Arbitrage, (b) Stop transactions, (c) Invisible imports and exports, (d) Exchange equalization fund (1956)

Aligarh University, B A

1. Discuss the main factors which influence the rates of foreign exchange. (1956)

Bihar University, B. A.

1. What are the factors that produce fluctuations in the rate of foreign exchange? How can such fluctuations be avoided? (1959) 2 Analyse the dictum that 'Exports pay for imports? How should this notion affect tariff policy'? (1959) 3 What should be the object of exchange control? Describe the various methods of exchange control? Do you support them? (1957)

Bihar University, B. Com

1 Critically examine the Purchasing Power Parity Theory of foreign exchange. Does it serve the purpose at present? (1959) 2 Explain how the rate of exchange between any two currencies is determined? What causes it to move from time to time? (1958) 3 Discuss clearly the objects of exchange management (1958)

Patna University, B A

1 What are the methods of exchange control? Do you support them? (1957)

Nagpur University, B. A

१. जिन देशों में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रचलित है ऐसे दो देशों के बीच मुद्रा विनिमय की दर कैसे निर्णीत होती है, यह समझाइये। (१९५९)। २. विदेश मुद्रा विनिमय के दर में उच्चावचन (Fluctuations) होने के विभिन्न कारणों को समझाइये। (१९५८)। इन उच्चावचनों के आर्थिक परिणाम क्या होते हैं? (१९५७)। ३. क्रय-शक्ति सिद्धान्त का वर्णन कर समझाइये। इसके सिद्धान्त की कैसी आलोचना की गई है। (१९५८) ४. स्वर्ण प्रमाप (Gold Standard) मानने वाले देशों में विनिमय-अर्घ का उच्चावचन (Fluctuations) किन कारणों से होता है? प्रतिकूल विनिमय-अर्घ (Adverse Exchange Rates) किस प्रकार ठीक किये जा सकते हैं (Can be corrected)? (१९५९)।

Banaras University, B Com

1 Write a short note on—Specie Points (1959)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १:—(i) किसी देश के चलार्थ को विनिमय महीं (Foreign Exchange Value) किस प्रकार निर्धारित होती है ? (Agra, B. A. १९५६; Jabb. B. A. १९५८, Allahabad, B. A. १९५६; Raj B. A. १९५५) (ii) विदेशी विनिमय दरें किस प्रकार निर्धारित होती हैं ? व्याख्या करें ? (Vikram, B. A. १९५६) (iii) स्वर्ण मान एवं रजत-मान देशों के मध्य विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (Agra, B. Com. १९५६), (iv) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्राओं में विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (Sagar, B. Com. १९५६, Nagpur, B. A. १९५६) । (v) Show how the rates of exchange is determined (a) When both the Countries are on gold standard and (b) When both have inconvertible paper currencies ? (Allahabad, B. Com 1957), (vi) Show how Foreign Exchange Rates are determined ? (Raj, B Com. 1958.)

संकेत:—उत्तर के आरम्भ में विनिमय दर का अर्थ दो-चार वाक्यों में बताइये कि विदेशी विनिमय शब्द का अर्थ कई प्रकार लगाया जाता है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से विदेशी विनिमय का अर्थ विनिमय की दर से लगाते हैं—वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा किसी दूसरे देश की मुद्रा से बदली जा सके, विनिमय की दर कहलाती है (उदाहरण दीजिये) । विनिमय-दर के निर्धारण का अध्ययन हम तीन अवस्थाओं में करते हैं—(क) जब दोनों देश स्वर्ण-मान पर हैं, (ख) जब एक देश स्वर्ण-मान पर और दूसरा रजत-मान पर है, (ग) जब दोनों देशों में पत्र-मान प्रचलित रहता है अथवा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है । उपरोक्त प्रश्नों में किसी न किसी में इन तीनों अवस्थाओं में ही विनिमय-दर के निर्धारण के बारे में पूंछा गया है । यह स्मरण रहे कि यदि प्रश्न में यह पूंछा जाय कि किसी देश की चलार्थ की विदेशी विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है, तब भी हमें उक्त तीनों परिस्थितियों में विनिमय-दर के निर्धारण के बारे में लिखना होगा । द्वितीय भाग में पहले स्वर्ण-मान वाले देशों में विनिमय-दर के निर्धारण के बारे में लिखिये—टक समता का अर्थ बताकर यह स्पष्ट कीजिये कि वास्तव में दर इस समता से ऊपर-नीचे होती रहती है, कि दर में परिवर्तन स्वर्ण बिन्दुओं (इनका अर्थ बताइये) से सीमित होता है (उदाहरण दीजिये) । फिर स्वर्ण-मान व रजत-मान देशों मे दर के निर्धारण को उदाहरण सहित बताइये । अन्त में, पत्र-मान देशों में दर का निर्धारण बताइये (पाँच छः पृष्ठ) ।

प्रश्न २:—(i) विदेशी विनिमय-दरों के उतार-चढ़ाव के कारणों का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिये । क्या आपके विचार में इस प्रकार के उतार-चढ़ाव की अपनी सीमायें होती हैं ? (Sagar, B. A. १९५६, Raj, B. Com. १९५७, १९५५) (ii) विनिमय की टंक समता (Mint Par of Exchange) का क्या अर्थ है, विदेशी विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव रखने वाले कारणों की विवेचना कीजिये (Agra, B. A. १९५२, Sagar, B. Com. १९५६, १९५८, Allahabad, B. Com. १९५६, Nagpur, B. A. १९५८), (iii) Explain how the rate of exchange between any two currencies is determined ? What causes it to move from time to time ? (Bihar, B. Com. 1958), (iv) What is meant by the term "Foreign Exchange"? Discuss the

various factors that bring about changes in the foreign exchange rates (Gorakhpur, B Com 1959, Agra, B Com 1958), (v) Discuss the main factors which influence the rates of foreign exchange (Aligarh, B A 1956)

संकेत —उत्तर के प्रारम्भ मे विदेशी विनिमय अथवा विनिमय की दर तथा इसमें परिवर्तन का अर्थ (उदाहरण सहित) लिखिये (यह कैसे निर्धारित होता है, इसके लिये प्रथम प्रश्न पढ़िये) और बताइये कि दर मे उच्चावचन देश में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न कर देता है जिसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं, देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, मुद्रा प्रणाली पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं आदि (एक पृष्ठ)। द्वितीय भाग में उन कारणो को विस्तार से बताइये जिनकी वजह से दर में उच्चावचन होता है—ये कारण दो भागों में बाँटे जाते हैं—(i) विदेशी मुद्रा अथवा बिल्स ऑफ एक्सचेंज की माँग व पूर्ति की परिस्थितियाँ, (ii) राजनैतिक परिस्थितियाँ। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत—व्यापारिक परिस्थितियाँ, स्टॉक विनिमय सम्बन्धी प्रभाव, बैंकिंग सम्बन्धी प्रभाव तथा मुद्रा की स्थिति सम्बन्धी प्रभाव हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत—सरक्षण-नीति, युद्ध-शान्ति, बजट में बचत व घाटे की दशा तथा विनिमय नियन्त्रण आदि के प्रभाव हैं। इन कारणो को विस्तार से लिखिये (पाँच पृष्ठ)। तृतीय भाग में विभिन्न स्थितियों में उन सीमाओं को बताइये जिनसे विनिमय-दर मे उच्चावचन सीमित होता है—(i) स्वर्ण-मान मे विनिमय दर में उच्चावचन स्वर्ण बिन्दुओं से सीमित होता है (स्वर्ण-बिन्दु क्या हैं, ये कैसे तय होते हैं, बताइये) उदाहरण से बताइये कि दर न तो स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ऊपर और न स्वर्ण निर्यात बिन्दु से नीचे गिरती है। निष्कर्ष निकालिये कि यह दर टक-समता (अर्थ बताइये) के चारो ओर स्वर्ण बिन्दुओं के बीच में परिवर्तित होती रहती है। (ii) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन वाले देशों में, यद्यपि दर में क्रय-शक्ति समता के आस-पास तय हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है तथापि इसकी कोई प्राकृतिक सीमा नहीं होती है क्योंकि स्वर्ण मान की तरह यहाँ पर स्वर्ण-बिन्दु नही पाये जाते हैं, कि पत्र-मान में दर के उच्चावचन की कोई सीमा नही होती है। यह बताइये कि यह आवश्यक है कि यह उच्चावचन इस बात पर निर्भर रहता है कि सरकार इसकी स्थिरता के लिये क्या नीति अपनाती है तथा इसे कार्यान्वित करने के लिये क्या क्या प्रयत्न करती है (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ३ —(i) विदेशी विनिमय की व्यवस्था का वर्णन कीजिये। अनुकूल और प्रतिकूल विदेशी विनिमय दर का क्या महत्व है? (Agra, B A १९५७) (ii) विदेशी मुद्रा विनिमय की दर मे उच्चावचन होने के विभिन्न कारणों को समझाइये। इन उच्चावचनों के आर्थिक परिणाम क्या होते हैं? (Nagpur, B A १९५७), (iii) In what way is foreign trade influenced by a variation in the rate of exchange? Discuss (Raj B A 1959) (iv) What will be the effects on foreign trade of (a) falling exchange and (b) all round increase in money wages in the home country (Allahabad B Com 1957) (v) What do you mean by favourable and unfavourable rates of exchange? What are the factors which cause the exchange rates to be favourable or unfavourable? (Agra, B Com 1957)

संकेत —उपरोक्त प्रश्नों में तीन बातें पूँछी गई हैं —अनुकूल व प्रतिकूल विदेशी विनिमय की दर का क्या अर्थ है? विनिमय दर के अनुकूल व प्रतिकूल होने के क्या मुख्य

कारण हैं ? इसका क्या महत्व है? (विनिमय-दर में उच्चावचन के क्या आर्थिक परिणाम होते हैं ?) विदेशी व्यापार पर विनिमय की दर में परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ता है ? (गिरते हुये विनिमय का विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है ?) यह स्मरण रहे कि विदेशी विनिमय के निर्धारण की रीति का ऊपर विवेचन हो चुका है। उत्तर के प्रथम भाग में संक्षेप में विनिमय की दर का अर्थ बताइये (चार-पाँच वाक्य) और फिर उदाहरण सहित बताइये कि अनुकूल विनिमय की दर तथा प्रतिकूल विनिमय की दर का क्या अर्थ है—यह बताइये कि दर में परिवर्तन यदि एक देश के लिये अनुकूल होता है, तब दूसरे देश के लिये यह प्रतिकूल होता है, परन्तु यहाँ हमें यह देखना होगा कि विनिमय दर किस देश की मुद्रा में व्यक्त की जा रही है—यदि विदेशी मुद्रा की एक इकाई का मूल्य स्वदेश की मुद्रा में व्यक्त किया जा रहा है, तब घटती हुई दर(अपने देश की मुद्रा पहले से कम दी जा रही है) देश के अनुकूल बढ़ती हुई दर (अपने देश की मुद्रा पहले से अधिक दी जा रही है) देश के प्रतिकूल होगी। यदि स्वदेश की मुद्रा की एक इकाई का मूल्य विदेशी मुद्रा में व्यक्त किया जा रहा है, तब बढ़ती हुई दर देश के अनुकूल (क्योंकि अपने देश की एक मुद्रा-इकाई के बदले में विदेशी-मुद्रा अधिक मात्रा में प्राप्त हो रही है) और गिरती हुई दर देश के प्रतिकूल होगी (यह विचार अब दोषपूर्ण सिद्ध हो गया है क्योंकि इस दृष्टि से अनुकूल दर वास्तव में देश के लिये अनुकूल नहीं होती है—उदाहरण [redacted] लिये जब हिल्टनयंग कमीशन ने १९२६ में देश के लिये १ शि० ६ पै० की विनिमय की दर की सिफारिश की थी उस समय वास्तव में हमारे लिये १ शि० ४ पै० की दर अधिक लाभप्रद थी। ऊँची दर से कृषि व उद्योगों में विदेशी प्रतियोगिता बढ़ी थी जिससे हमारे देश को हानि सहनी पड़ी थी। अतः पारिभाषिक शब्दों में कोई दर भले ही अनुकूल हो, परन्तु वास्तव में यह अनुकूल नहीं होती है। (दो पृष्ठ)। द्वितीय भाग में यह बताइये कि दर के अनुकूल व प्रतिकूल होने के क्या कारण हैं ?—जब विनिमय दर में उच्चावचन होता रहता है, तब यह दर यदि कभी देश के अनुकूल है तो कभी यह प्रतिकूल होती है। अतः [redacted] को अनुकूल-प्रतिकूल करने के वे ही कारण हैं जिनसे दर में उच्चावचन होता है (प्रश्न २ पढ़िये) इसके अतिरिक्त अवमूल्यन अथवा पुनर्मूल्यन की रीति अपनाकर भी देश दर को कभी कभी अपने अनुकूल और दूसरे के प्रतिकूल करते हैं। (सन् १९४९ के भारतीय उदाहरण से स्पष्ट कीजिये) (चार-पाँच पृष्ठ)। तृतीय भाग में दर के उच्चावचन के आर्थिक प्रभावों (विशेषकर विदेशी व्यापार पर प्रभाव) को बताइये—(i) यदि दर देश के अनुकूल है अर्थात् स्वदेश की एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में प्राप्त हो रही है, तब इससे एक वर्ग को लाभ होगा जैसे उपभोक्ता (विदेशी वस्तुयें सस्ती मिलती हैं), आयात कर्ता, परन्तु दूसरे वर्ग को हानि होगी जैसे—निर्यातकर्ता, निर्यात उद्योग (क्योंकि स्वदेश की वस्तुयें विदेशों में महँगी हो जाती हैं) फलतः निर्यात-व्यापार बन्द हो जायेंगे, बेरोजगारी फैल जायगी (उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये), (ii) यदि दर देश के प्रतिकूल है अर्थात् स्वदेश की एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से कम मात्रा में प्राप्त हो रही है, तब उक्त के विपरीत प्रभाव होंगे (विस्तार से पुनः लिखिये)। सारांश में लिखिये की देश की आर्थिक, व्यापारिक व औद्योगिक समृद्धि तथा रोजगार व व्यापार की दृष्टि से उक्त अर्थ

मे [redacted] देश के प्रतिकूल होना ही अच्छा है (जबकि स्वदेश की एक मुद्रा इकाई का मूल्य विदेशी मुद्रा मे व्यक्त किया जाता है) इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि गिरती हुई विनिमय दर से स्वदेश का निर्यात-व्यापार प्रोत्साहित और आयात-व्यापार हतोत्साहित होता है (उदाहरण दीजिये) (दो ढाई पृष्ठ)। अन्त में दो-चार वाक्यो मे लिखिये कि उक्त से स्पष्ट है कि चूंकि परिवर्तनशील विनिमय की दर देश में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न कर देती है, इसलिये देश का आर्थिक हित इसी में रहता है कि विनिमय दर में स्थैर्य रहे।

प्रश्न ४—(i) "It is often inexact and misleading to speak of unfavourable Foreign Exchange Rates". Discuss. (Agra, B A 1951) (ii) Explain the terms 'Favourable' and "Unfavourable" in connection with Foreign Exchanges and also the saying 'High Rates are for us and Low Rates are against us," (Agra, B Com. 1946)

संकेत—उत्तर के आरम्भ में एक-दो वाक्यो में विनिमय की दर का अर्थ बताकर यह स्पष्ट कीजिये कि स्वाभाविक विनिमय की दर स्वर्ण मान देशो में उनकी प्रामाणिक मुद्राओ के विशुद्ध स्वर्ण के अनुपात से तथा अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान देशो में दोनों देशो के परस्पर मूल्य-स्तर के अनुपात से निश्चित होती है। परन्तु वास्तविक दर जो कि किसी समय विनिमय बाजार में प्रचलित रहती है, उक्त समता से विभिन्न व्यापारिक व मौद्रिक प्रभावों (ऊपर प्रश्न २ पढ़िये) के कारण कभी कम और कभी अधिक होती है (उदाहरण दीजिय) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में विनिमय-दर की अनुकूलता व प्रतिकूलता का अर्थ समझाइए (प्रश्न ३ में विस्तार से लिखा गया है)—यह निष्कर्ष निकालिये कि जो दर एक देश के लिये अनुकूल है, वह दूसरे देश के लिय प्रतिकूल होती है। जब दर अपनी मुद्रा में व्यक्त की जाती है, तब गिरती हुई दर हमारे अनुकूल होगी और बढ़ती हुई दर हमारे प्रतिकूल होगी (उदाहरण दीजिय)। इसी तरह जब दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तब बढती हुई दर हमारे अनुकूल और गिरती हुई दर हमारे प्रतिकूल होगी (उदाहरण दीजिये)। इस तर्क से स्पष्ट है कि जब तक हमें यह नही मालूम हो कि विनिमय की दर किस मुद्रा में व्यक्त की गई है, तब तक हम दर की अनुकूलता व प्रतिकूलता का सही अर्थ नहीं समझ सकते हैं। तदुपरान्त् यह बताइये कि दर की अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव देश के विभिन्न वर्गों पर भिन्न भिन्न पड़ा करता है (प्रश्न ३ को पढ़िये)। दर के अनुकूल होने पर (यदि हमारी एक मुद्रा इकाई के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है) आयात कर्ताओ व उपभोक्ताओं को लाभ, परन्तु निर्यातकर्ताओं, उद्योगों को हानि होती है, बेरोजगारी फैलती है। यह अवश्य है कि इस स्थिति में विदेशों के ऋणो के भुगतान में लाभ होता है तथा विदेशियों द्वारा अपने देशों को द्रव्य भेजने में भी लाभ होता है। स्पष्ट है कि हम निश्चित रूप मे यह नहीं कह सकते हैं कि विनिमय की कोई भी अनुकूल दर वास्तव में देश के अनुकूल है क्योंकि इस दर से यदि कुछ वर्गों को लाभ तब दूसरे वर्गों को हानि होती है। यही बात विनिमय की प्रतिकूल दर के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वास्तव मे इस दृष्टि से प्रतिकूल दर देश के उद्योगो व कृषि के हित में होती है (हिल्टन यग कमीशन ने १ शि० ६ पें० की सिफारिश की थी जबकि नागरिको की मांग १ शि० ४ पें० थी क्योंकि यह बाद वाली दर देश के हित

में थी) अतः 'अनुकूल या प्रतिकूल विनिमय की दर की बात करना भ्रमात्मक है।" उक्त तर्कों के आधार पर इस कथन का भी विश्लेषण हो सकता है कि "विनिमय की ऊँची दर हमारे पक्ष में और नीची दर हमारे विपक्ष मे होती है।" यह कथन भी भ्रमात्मक है क्योंकि ऊँची दर से समाज के कुछ वर्गों को लाभ तब अन्य वर्गों को हानि होती है (उदाहरण से स्पष्ट कीजिये।)

प्रश्न ५:—(i) क्रय शक्ति समता सिद्धान्त को समझाइये और स्पष्ट कीजिये कि व्यवहारिक रूप में यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू हो सकता है ? (Agra, B.A. १९५८, १९५६; Sagar, B.A. १९५८; Sagar B. Com. १९५९; Jabb. B.A. १९५६; Jabb. B. Com. १९५८; Nagpur, B.A. १९५८; Raj. B.A. १९५८, १९५७; Raj. B. Com. १९५८; Bihar, B. Com. १९५६)। (ii) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की विवेचना सहित स्पष्ट कीजिए और बतलाइये कि यह सिद्धान्त किसी देश के विदेशी विनिमय की दर को सन्तोषपूर्वक कहाँ तक स्पष्ट करता है ? (Allahabad, B.A. १९५०)। (iii) When does the rate deviate from this parity ? (Purchasing Power Parity) (Agra, B. Com. 1958) (iv) Discuss its merits and demerits (Agra B. Com. 1954). (v) How far is the validity of the theory affected in a system of restrictive international trade ? (Raj, B. Com. 1954), (vi) Discuss the P. P. P. theory of Foreign Exchange and point out its limitations. (Allahabad, B. A. 1954. B. Com. 1956), (vii) "The Purchasing Power Parity Theory does not provide a ready-made measure of the true value of exchanges." Discuss, (viii) "The ratio of exchange between two currencies tends to be the same as the ratio between their purchasing powers," Comment on the above statement, (Patna, B. Com 1951)

संकेत:—उपरोक्त प्रश्नों में चार बातें पूंछी गई हैं:—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त किसे कहते हैं ? समता से दर मे कब भिन्नता होती है ? प्रतिबन्ध लगे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा का उक्त सिद्धान्त की सत्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है ? सिद्धान्त के क्या गुण-दोष हैं (या इसकी क्या-क्या सीमायें हैं या यह सिद्धान्त व्यवहारिक रूप में कहाँ तक लागू होता है ?)। उत्तर के प्रारम्भ मे एक-दो परिभाषाओं के आधार पर क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये और एक उदाहरण द्वारा विनिमय की दर निर्धारित कीजिये (इस सिद्धान्त के आधार पर)। यह स्पष्ट कीजिये कि दो पत्र-मान देशों के बीच दर दीर्घकाल में तो उनकी मुद्राओं की क्रय-शक्ति की समता द्वारा निश्चित होती है, परन्तु अल्पकाल में यह दर इस समता से कभी ऊपर या कभी नीचे रहती है (यह विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति पर निर्भर रहती है) (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे सिद्धान्त की आलोचना लिखिये और सिद्ध कीजिए कि व्यवहारिक जीवन में इस सिद्धान्त का अधिक उपयोग नहीं है—कि हम इस सिद्धान्त से दो देशों के बीच विनिमय की दर का आधार जान सकते हैं, परन्तु व्यवहारिक जीवन में जिस प्रकार दर तय होती है अथवा इसमें परिवर्तन होते हैं। उससे इस सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही यह सिद्धान्त उन्हें किसी प्रकार प्रभावित करता है, कि इस सिद्धान्त से हमें तीन बातों का पता चलता है—(i) पत्र-मान देशों में दर कैसे तय होती है ? (ii) दर में परिवर्तनों के क्या कारण हैं ? तथा (iii) दर में परिवर्तन किस दिशा में तथा किस सीमा तक होते

हैं (चूकि सिद्धान्त से हमें इन तीन बातों का पता चलता है, इसलिये इस सिद्धान्त का यही गुण भी है)। सिद्धान्त के अनुसार दर दो देशों की मुद्राओं के तुलनात्मक मूल्य-स्तर से तय होती है, इसमें परिवर्तन इन मूल्य स्तरों में तुलनात्मक परिवर्तनों से होता है तथा परिवतन की दिशा व सीमा भी इन मूल्य-स्तर अथवा क्रय शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के अनुसार निश्चित होती है। परन्तु व्यवहारिक जीवन म विनिमय की दर केवल मुद्राओं की तुलनात्मक क्रय-शक्ति से निश्चित नहीं होती है वरन् यह मूलत दोनों देशों की मुद्राओं की तुलनात्मक माँग व पूर्ति की शक्तियों से तय होती है। सिद्धान्त की आलोचनाओं (सिद्धात की ये ही सीमायें हैं) को लिखकर निष्कर्ष निकालिये कि व्यवहारिक दृष्टि से सिद्धात का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि यह विनिमय की दर के निर्धारण व इसम होने वाले परिवर्तनों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं करता है (चार पृष्ठ)। स्पष्ट है कि क्रय शक्ति समता से विनिमय की दर उस समय भिन्न होती है जब एक दूसरे देश की मुद्राओं की माँग व पूर्ति मे अन्तर होता है अथवा जब दर के निर्धारण पर तुलनात्मक क्रय शक्ति के अतिरिक्त अन्य आर्थिक प्रभाव पड़ते हैं (आलोचनाओं को पढिये)। विनिमय की दर क्रय शक्ति समता से उस समय भी भिन्न हो सकती है जब कि प्रतिबन्ध लगा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो रहा हो क्योंकि इस दशा में आयात व निर्यात की मात्रा मे अन्तर होगा जिससे भुगतान की दशाओं मे अथवा एक दूसरे देश की मुद्रा की माँग व पूर्ति की दशाओं में भी अन्तर हो जायगा। इससे वास्तविक विनिमय की दर क्रय-शक्ति समता से भिन्न हो जायगी और क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकेगी।

प्रश्न ६—(i) विनिमय नियन्त्रण क्या है? द्रव्य के विदेशी विनिमय मे स्थिरता लाने मे यह नियन्त्रण कहाँ तक सहायक होता है? (Agra, B A १९५८), (ii) विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? विनिमय नियन्त्रण के साधनों का वर्णन कीजिये (Agra, B A १९५७) (Bihar, B A १९५८, १९५७), (iii) विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उपायों को बताइये (Sagar B Com १९५६) (iv) आप 'विनिमय-नियन्त्रण" का क्या तात्पर्य समझते हैं? और वह क्यों आवश्यक हो गया है यह बताइये (Sagar B Com १९५४) (v) What do you mean by Exchange Control? How do its objectives differ from peace time to war time? Explain three such methods of exchange control used in the world before 1939 (Raj B Com 1959). (vi) What is meant by 'Dislocation of foreign Exchanges,' Describe the main methods that may be adopted to regulate & control foreign exchanges (Allahabad, B Com 1956) (vii) Discuss the statement—'The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control" Discuss the objects of exchange management (Patna, B Com 1950)

संकेत—उक्त प्रश्नों में चार बात पूछी गई हैं—विनिमय नियन्त्रण का क्या अर्थ है? इसके क्या उद्देश्य हैं? यह क्यों आवश्यक है? युद्ध कालीन व शान्तिकालीन उद्देश्यो मे क्या अन्तर है? विनिमय नियन्त्रण के क्या क्या साधन (उपाय) हैं? ये साधन द्रव्य के विनिमय में स्थिरता लाने में कहाँ तक सहायक होते हैं? उत्तर के प्रारम्भ में

विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ लिखिये—इसका अर्थ सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा लगाये गये उन नियन्त्रणों से है जिनके द्वारा विनिमय की दर एक निश्चित बिन्दु पर स्थिर रक्खी जाती है जिससे इसमें अत्यधिक उतार-चढ़ाव नहीं होने पाये अतः विनिमय नियन्त्रणों से विनिमय की दर को उस दर से भिन्न कर दिया जाता है जो स्वाभाविक स्थिति मे बिना नियन्त्रणों से निर्धारित होती है। इस विनिमय नियन्त्रण के अनेक उद्देश्य होते हैं और किसी एक या एक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही विनिमय-नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। मुख्य-मुख्य उद्देश्य है—विनिमय दर को एक पूर्व निश्चित दर पर रखना, पूँजी को देश से बाहर जाने से रोकना, संरक्षण नीति को सफल बनाना, व्यापारिक भेद-भाव की नीति को सफल बनाना, सरकार की आय विदेशी विनिमय की बिक्री से बढ़ाना, विदेशी मुद्रा की पर्याप्त उपलब्धि करना, व्यापारिक भुगतान के असन्तुलन को ठीक करना (दो-ढाई पृष्ठ)। द्वितीय भाग में विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न साधनों को लिखिये, जैसे—एक पक्षीय रीतियाँ इसके अन्तर्गत हैं—विनिमय समकरण कोष, विदेशियों का स्वदेश में खाता बन्द करना, विदेशी विनिमय का राशनिंग करना, विदेशी व्यापार का नियमन (सीमा-कर व आयात-निर्यात कोटा) बैंक दर का नियमन, विनिमय बद्धबन्धन द्विपक्षीय रीतियाँ हैं—भुगतान समझौते, निकासी समझौते, परिवर्तन विलम्ब काल, जैसे-थे समझौता आदि। स्पष्ट है कि सरकार व केन्द्रीय मुद्रा अधिकारी उक्त रीतियों में से एक या अधिक का प्रयोग करके देश की विनिमय की दर में स्थिरता लाता है और इस उद्देश्य की पूर्ति में बहुत कुछ सफल भी होता है (पाँच-छः पृष्ठ)।

प्रश्न ७:—विनिमय-दर की प्रतिकूलता के क्या कारण हैं? उसको सुधारने के क्या उपाय हैं? उदाहरण देकर समझाइये (Jabb. B. Com. 1958)।

संकेत:—इस प्रश्न का उत्तर बड़ी सतर्कता से दिया जाना चाहिए। प्रारम्भ में दो चार वाक्यों में विनिमय की दर का अर्थ उदाहरण सहित बताइये। तत्पश्चात् अनुकूल व प्रतिकूल विनिमय की दर का अर्थ उदाहरण सहित बताइये (इसके अधिक प्रभावों का लिखना अनावश्यक है) यदि हम अपने देश की एक मुद्रा इकाई का मूल्य विदेश की मुद्रा में व्यक्त करते हैं, तब गिरती हुई विनिमय की दर हमारे प्रतिकूल और बढ़ती हुई दर हमारे अनुकूल होगी। (एक डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग में उन सब कारणों को बताइये जिनसे देश की विनिमय की दर प्रतिकूल होती है, जैसे—व्यापार की स्थिति ऐसी है कि आयातें हमारी निर्यातों से अधिक हैं, विनिमय बिल्स तथा विदेशी मुद्रा व प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय (सट्टे के कारण) इस प्रकार हो रहा है कि विदेशी मुद्राओं की माँग अधिक है यदि बैंक दर गिर रही है जिससे पूँजी का निर्यात हो रहा है, अथवा बैंक्स विदेशी बैंकों के नाम ड्राफ्ट व साख-पत्र अधिकाधिक मात्रा में जारी कर रहे हैं, तब विदेशी मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति से अधिक होगी और विनिमय दर देश के प्रतिकूल होगी, यदि देश में मुद्रा-स्फीति (मुद्रा का मूल्य-ह्रास) की दशायें उत्पन्न हो रही हैं या होने की सम्भावना है, तब देश से पूँजी का निर्यात प्रोत्साहित होगा और दर देश के प्रतिकूल हो जायेगी, यदि देश की राजनैतिक परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि सरकार का आधार दृढ़ नहीं है, देश में शान्ति व सुरक्षा नहीं है श्रम-मालिक संघर्ष चलते रहते

हैं, सरकारी नीति निष्पक्ष नहीं है तब न केवल विदेशी इस देश से व्यापार नहीं करेंगे या कम करेंगे वरन् इस देश से पूँजी विदेशों को भागने लगेगी जिससे विनिमय की दर देश के प्रतिकूल हो जायेगी आदि। इसी तरह यदि देश में संरक्षण नीति, वित्त व्यापार सम्बन्धी नीति, विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति आदि देश के प्रतिकूल हैं, तब स्वतः ही विनिमय की दर भी देश के प्रतिकूल तय होगी। यह स्मरण रहे कि उक्त लिखित वे ही सब बातें हैं जिनके कारण देश में विनिमय की दर में उच्चावचन होता है (प्रश्न ७ का पढ़िये) परन्तु इनको इस ढंग से समझाया गया है कि प्रत्येक कारण का प्रभाव देश की दर को प्रतिकूल करता है। (चार-पाँच पृष्ठ)। तृतीय भाग में यह बताइये कि यदि विनिमय की दर निरन्तर देश के प्रतिकूल रहती है तब इसके बुरे आर्थिक परिणाम पड़ते हैं (संक्षेप में समझाइये) जिसके कारण सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को दर की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिणत करने के लिए कदम उठाने पड़ते हैं, जैसे—निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी, मुद्रा का मूल्य-ह्रास, मुद्रा का अवमूल्यन विस्फीति, बैंक-दर में वृद्धि तथा विनिमय-नियन्त्रण। यहाँ दो बातें स्मरणीय हैं—प्रथम, विनिमय की दर की प्रतिकूलता को ठीक करने के लिये वे ही सब उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं जिन्हें भुगतान के सन्तुलन की प्रतिकूलता को ठीक करने में उपयोग में लाया जाता है ("भुगतान का सन्तुलन" नामक अध्याय पढ़िये)। द्वितीय विनिमय की दर में प्रतिकूलता को ठीक करने के लिये जिन उपायों को प्रयोग में लाया जाता है उनमें से एक 'विनिमय नियन्त्रण की रीति' है। अतः विनिमय की दर की प्रतिकूलता को दूर करने के उपायों का सुझाव देते हुये केवल 'विनिमय नियन्त्रण' की विभिन्न रीतियों को लिखने से उत्तर अपूर्ण रहेगा।

प्रश्न ८—(i) विनिमय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है? भारत में इस नियन्त्रण की कार्यवाही पर प्रकाश डालिए। (Agra B A १९६०) (ii) भारत में विदेशी विनिमय में उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ सुझाव दीजिये (Agra, B A १९५६) (iii) भारत में प्रयुक्त पद्धतियों (Methods) का विशेष उल्लेख करते हुये विनिमय नियमन के उद्देश्यों और पद्धतियों का विवेचन करिये (Agra B Com १९५६)। (iv) Explain the chief aims and methods of exchange control, illustrating the same from its working in India (Raj, B Com 1957, 1954)

संकेत—उक्त प्रश्नों में तीन बातें पूँछी गई हैं—विनिमय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है? (इस नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? (इस नियन्त्रण की क्या-क्या रीतियाँ हैं? भारत में कौनसी पद्धतियों का उपयोग किया जाता है (या भारत में विनिमय नियन्त्रण का कार्य किस प्रकार किया जाता है?) उत्तर के आरम्भ में दो चार वाक्यों में विनिमय नियन्त्रण का अर्थ लिखिये—*जिस व्यवस्था में नागरिकों को विदेशी विनिमय* के क्रय-विक्रय करने में पूर्ण स्वतन्त्रता एवं अधिकार होता है उसे स्वतन्त्र या अनियन्त्रित विदेशी विनिमय की व्यवस्था कहते हैं। परन्तु जब सरकार कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा देती है अथवा इसके उपयोग एवं वितरण में हस्तक्षेप डालती है, तब इसे नियन्त्रित विदेशी विनिमय की

व्यवस्था कहते है। इस नियन्त्रण का मुख्य, उद्देश्य विनिमय की दर में स्थिरता लाना होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होती है। उद्देश्यों को विस्तार से लिखिये। (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे विनिमय नियन्त्रण की मुख्य रीतियों को लिखिये (चार-पाँच पृष्ठ)। तृतीय भाग मे भारत मे अपनाई गई विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था को लिखिये:—विस्तृत अर्थ में भारत में १९२७ से ही विनिमय नियन्त्रण लागू है जबकि सरकार ने रुपया-स्टर्लिंग अनुपात १८ पेंस निश्चित किया था और उसको व्यवहारिक बनाने के लिए सरकार ने स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय का दायित्व अपने ऊपर लिया था। विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय उस सरकारी हस्तक्षेप से है जिसके द्वारा सरकार इच्छानुसार विनिमय दर निश्चित करती है और यह दर बिना सरकारी हस्तक्षेप के रह नही सकती। आजकल विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय संकीर्ण अर्थ से लिया जाता है—यह वह व्यवस्था है जिसमें विदेशी विनिमय के स्वतन्त्र क्रय-विक्रय को बन्द कर दिया जाता है और यह सब कार्य देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है। सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक एक्ट बना, परन्तु इसने इस अर्थ में विनिमय नियन्त्रण के कार्य का श्री गणेश सन् १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर किया (भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत)। युद्ध समाप्त होने पर सन् १९४७ में एक विनिमय नियन्त्रण विधान पास किया गया जिसके कार्यान्वित होने पर भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत बने नियमों का अन्त हो गया परन्तु विनिमय नियन्त्रण का कार्य रिजर्व बैंक को पूर्णतया सौंप दिया गया। रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई विनिमय-नियन्त्रण व्यवस्था का उद्देश्य यह था और अब भी है। कि देश के निर्यातों से प्राप्त विदेशी मुद्रा का अपव्यय नही होना चाहिए वरन् इसका अत्यावश्यक आयातों के मूल्य-भुगतान में सदुपयोग होना चाहिए। इसीलिये विदेशी विनिमय के सब सौदे या तो रिजर्व बैंक या इस बैंक से अनुज्ञा (Authority) प्राप्त बैंकों द्वारा किये जाते हैं। यह नियन्त्रण केवल साम्राज्य (Common wealth) से बाहर वाले देशों तक सीमित है। दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को भेजे गये निर्यातों से प्राप्त विदेशी मुद्रा को तथा डालर को अथवा अन्य दुर्लभ मुद्रा को अनिवार्य रूप में ले लिया जाता है और इन्हे फिर साम्राज्य डालर पूल में डाल दिया जाता है। युद्धकाल में इंगलैंड ने इस प्रकार की हमारी जमा का उपयोग अधिकांशतः अमेरिका से युद्ध सामग्री के क्रय करने में किया। इस विनिमय-नियन्त्रण प्रणाली में कुछ साधारण परिवर्तन किये गये हैं और मूलतः आज भी यही प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली ने भारतीय स्वर्ण के निर्यात, भारत को विदेशों से आने वाली पूँजी व इसका भुगतान, विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय आदि को नियन्त्रित किया है (विनिमय नियन्त्रण विधान, १९४७ की अन्य मुख्य बातों को भी यहाँ लिखिए)।

प्रश्न ६:—विनिमय समीकरण कोष के स्वभाव, उद्देश्य तया सीमाओं की व्याख्या कीजिये। (Agra, B. A. १९५५)

संकेत:—आरम्भ में लिखिये कि कोष की स्थापना कब तथा किन परिस्थितियों में सन् १९३२ में हुई—कि विनिमय नियन्त्रण का यह एक प्रत्यक्ष व प्रभावपूर्ण तरीका

रहा है, कि इसका मुख्य उद्देश्य विनिमय-दर के उस उच्चावचन को रोकना था जो स्वर्ण-मान के टूटने पर पाया गया। द्वितीय भाग इसकी कार्य-प्रणाली लिखिये—जब तक इगलैंड, फ्रान्स व अमेरिका मे कोई भी एक देश स्वर्ण-मान रहा, तब तक तो यह प्रणाली कार्य करती रही परन्तु जब सभी देशो ने स्वर्ण मान को शनैः शनै त्याग दिया, तब यह प्रणाली भी अव्यवहारिक हो गई और इसका समाप्त होना अनिवार्य हो गया। अन्त में कोष की सीमायें बताइये और निष्कर्ष निकालिये कि सीमाओ [redacted] होते हुये भी कोष जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्थापित किया गया था, उसमे इसे पूरी सफलता मिली थी।

प्रश्न १०—(i) Describe briefly the Balance of Payments Theory of Foreign Exchange What are the reasons for regarding this theory as more satisfactory in comparison to other theories? (Gorakhpur B Com 1959). (ii) Compare and contrast the Purchasing Power Parity Theory with the Balance of Payments Theory (Bihar, B Com 1953)

संकेत —उत्तर के आरम्भ में विनिमय की दर का अर्थ बताकर यह स्पष्ट कीजिये कि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है, कि दीर्घकाल मे दर में इस समता के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती हैं परन्तु अल्पकाल में दर इस क्रय-शक्ति समता के बराबर नही होती। सिद्धान्त की आलोचनायें लिखिये और बताइये कि वास्तविक विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति अथवा किसी समय की शोधनाधिक्य की स्थिति से निश्चित होती है। उदाहरण देकर बताइये कि शोधनाधिक्य से दर किस प्रकार प्रभावित होती है। अन्त में निष्कर्ष निकालिये कि शोधनाधिक्य सिद्धान्त क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त से श्रेष्ठ है और यह किसी समय पर वास्तविक विनिमय की दर के निर्धारण की उचित व्याख्या करता है (पाँच-छः पृष्ठ)।



"International trade is only a special case of the inter-regional trade"—Ohlin

भाग १ : : खंड ४

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

[अध्याय १७. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, १८. भुगतान का सन्तुलन, १९. स्वतन्त्र व्यापार या संरक्षण,]

ECONOMISTS HAVE SAID SO
AND WE SHOULD REMEMBER THEM ALSO.

(*A*) "*The Theory of Comparative Costs as applied to International Trade is therefore that each country tends to produce not necessarily what it can produce more cheaply than another country, but those articles which it can produce at the greatest relative advantage i e at the lowest comparative cost*"

(*B*) "*A country gains by foreign trade if and when the traders find that there exists abroad a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home They buy what to them seems cheap and sell what to them seems dear The bigger the gap between what to them seems low points and high points, and the more important the articles affected, the greater will the gain from trade be*"—Harrod.

(*C*) "*The term balance of payments is then used in the sense of the whole demand and supply situation*"—Haberler

(*D*) "*Free Trade*" *has been used to denote "that system of commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and therefore neither imposes additional burdens on the latter, nor grants any special favours to the former*"—Adam Smith

"*The term Protection is used to denote a policy of encouraging the home industries by the use of bounties or by the imposition of high customs duties on foreign products*"

"*Tariff is the mother of all Trusts*"

"*The infant industries never feel themselves grown up, if they grow up at all they devote their manly strength to fighting for bigger and longer protection*"—Beveridge

THE TRIPLE FORMULA

1 Carefully study the wordings of the question so that you may know precisely as to what the examiner wants, e g the words 'State', 'Describe', 'Explain' and 'Elucidate' require simple explanation, whereas detailed criticism is wanted in the case of the words 'Discuss', 'Examine' and 'Comment'
2. Good hand-writing is an asset these days
3. How to write is more important than what to write in order to secure more marks (Read Appendix)

अध्याय १७

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

गृह व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिभाषाएँ (Definitions of the Internal Trade and the International Trade):—गृह-व्यापार को देशी, आन्तरिक तथा घरेलू व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विदेशी व्यापार भी कहा जाता है। जब किसी देश में विभिन्न स्थानों अथवा विभिन्न क्षेत्रों (Regions) के बीच व्यापार होता है, तब इसे गृह व्यापार (Home Trade or Internal Trade) कहते हैं। कभी कभी इसे अन्तर्स्थानीय व्यापार (Inter-regional Trade) भी कहते हैं। इसके विपरीत जब दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच व्यापार होता है तब इसे अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विदेशी व्यापार (International Trade) कहते हैं। मेरठ से दिल्ली को जाने वाली कैंचियों का व्यापार स्थानीय व्यापार (Local Trade) है, परन्तु जब मेरठ की कैंचियाँ बम्बई, मद्रास व कलकत्ता जाती हैं, तब यह व्यापार क्षेत्रीय व्यापार (Regional Trade) कहलाता है। अतः स्थानीय और क्षेत्रीय व्यापार में अन्तर केवल क्षेत्र के आकार (Size) का है। जब दो बहुत पास-पास के शहरों के बीच व्यापार होता है, तब यह स्थानीय व्यापार और जब दो दूर-दूर के शहरों के बीच व्यापार होता है, तब यह क्षेत्रीय व्यापार कहलाता है। परन्तु स्थानीय अथवा क्षेत्रीय दोनों ही व्यापार गृह-व्यापार के दो रूप हैं।

गृह-बाजार या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता (Similarity between Internal and International Trade):—गृह-व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत समानता पाई जाती है और ऊपरी रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें कुछ भी भेद नहीं है। इन दोनों प्रकार के व्यापारों का आधार श्रम-विभाजन (Division of Labour) और कार्यों का विशिष्टिकरण (Specialisation of Functions) है। अनुभव से पता चलता है कि आन्तरिक व्यापार में व्यापारी ऐसी वस्तुओं (या सेवाओं) के बदले में जो किसी स्थान-विशेष में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, विनिमय द्वारा दूसरे व्यापारी से ऐसी वस्तुएँ (या सेवाओं) को प्राप्त करता है जो या तो दुर्लभ (Scarce) हैं या उपलब्ध ही नहीं हैं। इस तरह आन्तरिक व्यापार में विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है और उपभोक्ताओं की भी अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ठीक ऐसा ही होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कितने ही कार्य कर सकता है, परन्तु वह उस कार्य को करने का विशेषज्ञ होता है जिसे वह सुगमता व सफलता से कर सकता है या उसके स्वभाव के लिये अनुकूल होता है और अन्य कार्यों को दूसरों के करने के लिये छोड़ देता है, इसी प्रकार एक देश यद्यपि कितनी ही प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति कर सकता है, परन्तु वह केवल एक या इससे अधिक ऐसी

वस्तुओं की उत्पत्ति करता है जिनकी उत्पत्ति में इसे विशेष साधन या सुविधायें उपलब्ध होती हैं अर्थात् यह केवल ऐसी वस्तुओं की ही उत्पत्ति करता है जिनके लिए इस देश की परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं और अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति दूसरे देशों पर छोड़ देता है। इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था को ही श्रम विभाजन तथा कार्यों (उत्पादन) के विशिष्टीकरण का नाम दिया गया है। गृह व्यापार की तरह, इन देशों में भी वस्तुओं का आदान-प्रदान होकर, एक दूसरे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है और आन्तरिक व्यापार की तरह यहाँ पर भी विनिमय के दोनों पक्षों अर्थात् दोनों या दो से अधिक देशों को विदेशी व्यापार से लाभ होता है। इस तरह स्वभाव से ही गृह-व्यापार तथा विदेशी-व्यापार एक सा होता है। परन्तु इन दोनों में इन मूल समानताओं के होते हुए भी आर्थिक विद्वानों में यह एक प्रश्न उठता है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् से सिद्धान्त की आवश्यकता है ? (Should there be a separate theory of International Trade ?)। वास्तव में कुछ कारणों के आधार पर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आन्तरिक व्यापार तथा विदेशी व्यापार में कुछ भेद हैं जिनके कारण एक पृथक् से अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक पृथक् सिद्धान्त
(Separate Theory of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये भिन्न सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों होती है ?

(Why should there be a Separate Theory of International Trade ?) — अभी-अभी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) दोनों प्रकार के व्यापारों के मूल सिद्धान्त एक-से ही हैं तथा इन दोनों में अन्तर केवल एक श्रेणी (Degree) का ही है। परन्तु आर्थिक विद्वानों के अनुसार निम्नलिखित कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से गृह-व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद किया जाता है और इन भेदों के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक् स सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है —

(१) श्रम और पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Labour and Capital) — श्रम और पूंजी साधनों की गतिशीलता (Mobility) एक देश के अन्दर विभिन्न देशों के बीच की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। जब किसी देश में श्रम और पूंजी साधन आसानी व सुगमता से गतिशील हो जाते हैं तब इस देश के प्रत्येक क्षेत्र में समान व्यवसायों में मजदूरों की मजदूरी तथा ब्याज की दर भी समान पाई जाती है जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन व्यय भी हर क्षेत्र में प्राय: समान रहता है। परन्तु विभिन्न देशों के बीच श्रम व पूंजी साधन प्राय: या तो गतिशील ही नहीं होते या बहुत कम गतिशील होते हैं। इस अगतिशीलता के कितने ही कारण होते हैं। विभिन्न देशों में भाषा, रीति रिवाज, रहन सहन, धर्म तथा सामाजिक व राजनैतिक दशाओं में भिन्नता या भ्रातृ स्नेह या देश प्रेम के कारण श्रमिक कभी-कभी अधिक मजदूरी के लालच पर भी एक देश से दूसरे देश को नहीं जाते। इसके अतिरिक्त कुछ देशों में बाहर से आकर बसने वालों पर प्रतिबन्ध लगा होता है या उनके साथ भेद-भाव का व्यवहार करा जाता

है या इनको अपने सगे सम्बन्धियों से मिलने में कठिनाइयां अनुभव होती हैं, जिनके कारण भी मनुष्य गतिहीन (Immobile) हो जाता है। पूंजी श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील होती है, परन्तु पूंजीपति अपनी पूंजी को अपने देश की अपेक्षा विदेशों में विनियोग (Investment) के लिए प्राय: भेजना पसन्द नहीं किया करता है क्योंकि वह विदेशों में लगी पूंजी को या तो अपेक्षाकृत कम सुरक्षित समझता है या उसे विदेशों से रुपया मगाने, भेजने में असुविधाएं अनुभव होती हैं या उसे अपनी पूंजी के छिन जाने या विनियोजित उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का डर रहता है। इन सब कारणों से पूंजीपतियों का यह विश्वास है कि देशी विनियोग विदेशी विनियोगों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होते हैं। श्रम और पूंजी की इस प्रकार की अगतिशीलता (Immobility) तथा विभिन्न देशों में किसी एक वस्तु की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता (Competition) के अभाव के कारण भिन्न-भिन्न देशों में एक ही वस्तु का उत्पादन-व्यय पृथक्-पृथक हो जाता है। यदि वस्तु एक देश में कम मूल्य पर उत्पन्न होती है तब यह वस्तु दूसरे देश में अधिक मूल्य पर उत्पन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप दूसरा देश इसकी उत्पत्ति स्वयं न करके इसे पहले देश से मंगाता है। अत: भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में भिन्नता होने के कारण, वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने लगते हैं जिससे विभिन्न देशों में वस्तुओं के उत्पादन का विशिष्टीकरण हो जाता है।

परन्तु कुछ अर्थशास्त्री उक्त विचारधारा को सही मानते। इनका मत है कि जिस प्रकार किसी देश के अन्दर श्रम व पूंजी साधन पूर्ण-गतिशील (Perfectly Mobile) नही होते हैं इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में भी ये पूर्ण अगतिशील (Perfectly Immobile) नही होते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। आजकल तीव्र आवागमन के साधनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सहायता से आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में दूरी (Distance) का कुछ भी महत्व नही रहा है। परिणामत: इन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार उक्त दोनों प्रकार के व्यापारों में कोई भिन्नता नहीं मानी जानी चाहिये। इसका यह अर्थ नही समझना चाहिये कि किसी देश में श्रमिकों के प्रतियोगिता रहित-समूह (Non-Competing Groups) नही होते। ऐसे समूह प्रत्येक देश मे होते हैं परन्तु देश के अन्दर श्रम और पूंजी साधनों में गतिशीलता का गुण होने से ये समूह स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत विभिन्न देशों में समूह अधिक स्थायी तथा बलवती होते हैं जिनके कारण विभिन्न देशो में अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में भी भिन्नता पाई जाती है। इसीलिए आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे केवल मात्रा-भेद (Differences of Degree) ही होता है।

(२) वस्तुओं की उत्पादन स्थिति में भिन्नता (Differences in the conditions of Production):—प्रत्येक देश की सरकार वस्तुओं की उत्पत्ति व इनकी गति के सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र नीति रखती है जिससे जिन वस्तुओं व परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रत्येक देश में वस्तुओं की उत्पत्ति होती है उनमें भी भिन्नता हो जाती है। इसीलिये एक ही वस्तु का उत्पादन व्यय प्रत्येक देश में समान नहीं होता। प्राय: एक देश के निवासियों के लिए सरकार द्वारा बनाये गये औद्योगिक गुट (Industrial

Combinations), सामाजिक बीमा (Social Insurance) व श्रम-संघ (Trade Unions) सम्बन्धी नियम एक-से रहते हैं। देश के अन्दर वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी नियम प्रत्येक स्थान पर एक-से होते हैं, देश के तमाम नागरिकों पर एक-समान राष्ट्रीय-कर लगाए जाते हैं, श्रमिकों के हित में सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य व कारखानों में काम करने की दशाओं के सम्बन्ध में बनाये गये नियमों में अनुरूपता होती है तथा सरकार तमाम नागरिकों को यातायात व अन्य सार्वजनिक सेवाएं एक सी प्रदान करती है। इस तरह एक देश में सम्पत्ति की उत्पत्ति तथा इसके वितरण सम्बन्धी नियम भी समान होते हैं। परन्तु विभिन्न देशों में इन सब में बहुत भिन्नता पाई जाती है। जिन देशों में उपरलिखित बातों में उत्पादकों को सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, वहां पर दूसरे देशों की अपेक्षा वस्तुओं का उत्पादन व्यय कम होता है और जिन देशों में उक्त सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं, वस्तुओं का उत्पादन-व्यय अधिक हो जाता है। अतः चूंकि विभिन्न देशों में वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी नियमों तथा उत्पादन सम्बन्धी परिस्थितियों में भिन्नता होती है, इसलिये भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में भी भिन्नता पाई जाती है जिससे वस्तुयें एक देश से दूसरे देश में जाकर बिकती हैं क्योंकि विभिन्न देशों के बीच आर्थिक शक्तियां (Economic Forces) स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने तथा अपना प्रभाव प्रकट करने में सफल नहीं होती हैं।

(३) वस्तुओं की आयात निर्यात में बाधायें (Obstacles in the Import and Export of Commodities) —विभिन्न राज्यों की औद्योगिक व व्यापारिक नीति में भिन्नता होने से एक-दूसरे देश के बीच में वस्तुओं की आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं होती है। कभी-कभी सामाजिक बाधाओं के कारण भी वस्तुएँ गतिशील नहीं होने पाती हैं। इसके विपरीत एक देश में एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुएं लाने या ले जाने में प्रायः इस प्रकार की बाधाएँ नहीं हुआ करती हैं और अगर ये होती भी हैं तब बहुत कम। अतः चूंकि विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं की आयात निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं होती है, इसलिये इस कारण भी वस्तुओं का उत्पादन व्यय एक देश से पृथक् हो जाता है।

(४) प्राकृतिक स्रोतों तथा भौगोलिक स्थिति में भिन्नता (Differences in Natural Resources and Geographical Conditions) —प्रकृति की देन सब देशों को समान नहीं है। यदि कुछ देशों में लोहा, कोयला जैसे खनिज पदार्थ बहुलता से तथा अच्छी किस्म के मिलते हैं, तब ये ही पदार्थ या तो दूसरे देशों में मिलते ही नहीं और अगर मिलते भी हैं तब या तो कम मात्रा में या बुरी किस्म के।-इसी प्रकार यदि किसी देश की भूमि व जलवायु जूट, कपास, गन्ना आदि की उत्पत्ति के अनुकूल हैं तब दूसरे देश की भूमि, यह सम्भव है, इन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए इतनी अनुकूल नहीं हो। इन प्राकृतिक व भौगोलिक परिस्थितियों में विभिन्न देशों में, यह स्वाभाविक ही है, वस्तुओं [redacted] उत्पादन व्यय तथा लाभ में भी भिन्नता हो जाती है।

(५) मुद्रा प्रणाली में भिन्नता (Differences in Currency Conditions) — प्रत्येक देश की मुद्रा प्रणाली पृथक्-पृथक् होती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी

विनिमय (Foreign Exchange) सम्बन्धी अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी विदेशी विनिमय से सम्बन्धित समस्याएँ इतनी जटिल होती है कि इनसे वस्तुओं की आयात-निर्यात में रुकावट तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधाएँ पड़ जाती हैं। प्रत्येक देश की मौद्रिक नीति मुद्रा-संचालक द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रायः यह कार्य देश के केन्द्रीय बेंक द्वारा किया जाता है। किसी देश का केन्द्रीय बेंक अपनी मौद्रिक नीति मे समय-समय पर परिवर्तन करके देश के मूल्य-स्तर में भी परिवर्तन कर दिया करता है और विभिन्न देशों के बीच मूल्य-स्तरों के अन्तर से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः मुद्रा-संचालक की मौद्रिक नीति के प्रत्येक परिवर्तन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा करता है। इसके विपरीत किसी देश में सारे में एक ही मुद्रा का चलन होता है जिससे देशी व्यापार में विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) सम्बन्धी कोई भी समस्या उत्पन्न नही होती। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न देशों में मुद्रा-प्रणाली की भिन्नता तथा समय-समय पर किसी देश में मुद्रा-नीति में परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न देशों में मूल्य-स्तरों तथा वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में अन्तर हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है।

निष्कर्ष :—अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये उपर्युक्त लिखित कुछ ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याएँ पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं और इन समस्याओं मे भिन्नता होने के कारण ही किसी वस्तु या वस्तुओं का उत्पादन-व्यय एक देश मे दूसरे देश से पृथक् होता है और इस कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। उनका मत है कि इस परिस्थिति में आन्तरिक व्यापार सम्बन्धी नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये उपयुक्त नहीं रहते हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक् के सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। परन्तु इस मत के विपरीत एक दूसरा मत है कि यदि आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित नियमों एवं सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया जाय तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन दोनों देशो में कोई मौलिक तथा आधारभूत भेद नही है वरन् जो कुछ भेद है वह एक श्रेणी (Degree) का है। इस तरह इस मत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से एक पूर्णतया अलग प्रकार का व्यापार नही कहा जा सकता है। परन्तु यह सच है कि इसमे कुछ विशिष्टता अवश्य पाई जाती है। ओहलिन (Ohlin) का मत ठीक ही है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ही एक विशिष्ट दशा है।"*

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्स्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा किस आधार पर कही जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर सरल है। इस मत के अर्थशास्त्रियों का कहना है कि जिस प्रकार श्रम और पूँजी साधन विभिन्न देशो के बीच अगतिशील होते है ठीक इसी प्रकार ये एक देश के अन्दर भी बहुत कुछ अगतिशील होते हैं (भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि की भिन्नता के कारण, भारत जैसे महाद्वीप में विभिन्न क्षेत्रों में

*"International Trade is only a special case of the Inter-regional Trade."
Ohlin : *Inter-regional and International Trade, P. 3*

इन सब मे भिन्नता पाई जाती है)। हम यह अवश्य कह सकते हैं कि विभिन्न देशो की तुलना में किसी एक देश में श्रम और पूँजी मे अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता पाई जाती है। इसी तरह उक्त मत के अर्थशास्त्रियो ने कहा है कि एक देश तक मे विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन सम्बन्धी नियम पृथक्-पृथक् हो सकते हैं क्योंकि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के नियमों मे भिन्नता हो सकती है। एक बड़े देश के विभिन्न भागों मे प्राकृतिक श्रोतो तथा भौगोलिक दशाओं मे भी अन्तर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त एक देश के अन्दर भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में वस्तुओं की आयात निर्यात में भी रुकावटें हो सकती हैं (प्रान्तीय सरकारें अपने प्रान्त मे दूसरे प्रान्तो से वस्तुएँ लाने या ले जाने पर कभी-कभी प्रतिबन्ध लगा देती हैं)। उपरलिखित दलील देकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि जिन दशाओं के आधार पर आन्तरिक व्यापार होता है, लगभग उसी प्रकार की दशाओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है जिससे "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतों मे अन्तर
(Differences in Costs in International Trade)

विभिन्न देशों मे वस्तुओ के उत्पादन व्यय में तीन प्रकार के अन्तर हो सकते हैं—(i) लागतों में पूर्ण-अन्तर, (ii) लागतो में समान अन्तर तथा (iii) लागतो में तुलनात्मक अन्तर।

लागतों में पूर्ण अन्तर

(१) <u>लागतों में पूर्ण अन्तर</u> (*Absolute Differences in Costs*) —कुछ देशों को प्रकृति की ओर से अन्य देशो की तुलना मे विशेष प्राकृतिक लाभ प्राप्त होते हैं (भूमि की बनावट, जलवायु, खनिज सम्पत्ति आदि मे विशेष लाभ) जिसके कारण ऐसे देशो में कुछ वस्तुओं का उत्पादन अन्य देशों की तुलना मे बहुत ही कम लागत पर हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है कि एक देश उसी वस्तु (या वस्तुओं) के उत्पादन में विशिष्टीकरण (Specialisation) करेगा जिसके उत्पादन में उसे विशेष लाभ प्राप्त होते हैं या जिसके उत्पादन मे उसे श्रेष्ठता प्राप्त है और इस वस्तु में ही वह विदेशियों से व्यापार करेगा। भारत को इसी प्रकार के विशेष लाभ प्राप्त होने के कारण यहा पर जूट के उत्पादन का उत्पादन व्यय अन्य देशों की तुलना में बहुत कम होता है जिससे अन्य देशों को इस वस्तु के लिये भारत पर बहुत कुछ निर्भर रहना पड़ता है। मान लो, भारत से अमरिका को जूट जाता है और अमेरिका से भारत को गेहूँ आता है। लागतों मे पूर्ण अन्तर की परिस्थिति में यह व्यापार किस प्रकार होता है? मान लो,

भारत में { जूट की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १५ रु० प्रति मन है।
गेहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत २० रु० प्रति मन है।

अमेरिका में { जूट की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।
गेहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १५ रु० प्रति मन है।

चूंकि मूल्य सीमान्त लागत (Marginal Costs) के बराबर होता है इसलिये भारत में १ मन जूट के बदले में ३/४ मन गेहूँ का विनिमय होगा और अमेरिका में १ मन

जूट के बदले में २ मन गेहूँ का विनिमय होगा। दूसरे शब्दों में, जूट और गेहूँ की लागत का अनुपात (Cost Ratios) भारत में १ : २ और अमेरिका मे १ : $\frac{१}{२}$ है। इस तरह भारत में जूट और अमेरिका में गेहूँ की उत्पत्ति में पूर्ण लाभ (Absolute Advantages) है। अतः भारत जूट में और अमेरिका गेहूँ की उत्पत्ति में विशेषज्ञ हो जायेंगे और भारत जूट उगाकर अमेरिका से इसके बदले में गेहूँ ले लेगा। परन्तु भारत और अमेरिका के लिये यह व्यापार कब तक लाभप्रद होगा ? यह विनिमय-कार्य भारत को तब ही लाभप्रद होगा जबकि वह १ मन जूट के बदले मे अमेरिका से $\frac{१}{२}$ मन गेहूँ से अधिक प्राप्त करता है। इसी तरह यह व्यापार अमेरिका के लिये तब ही लाभप्रद होगा जबकि वह भारत से १$\frac{१}{२}$ गेहूँ के बदले में $\frac{१}{२}$ मन जूट से अधिक प्राप्त करता है। भारत और अमेरिका के बीच इस प्रकार के व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात-व्यय व बीमा-व्यय आदि को जोड़ देने पर भी लाभ की स्थिति में अन्तर नही पड़ेगा (केवल लाभ की मात्रा प्रभावित होती है) और भारत व अमेरिका में आपस में व्यापार लाभप्रद रहेगा।

लाभ की मात्राः—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लागतो में पूर्ण अन्तर की स्थिति में लाभ की मात्रा (Gains from the International Trade) की गणना इस प्रकार की जा सकती है।—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) द्वारा प्राप्त होता है। जब प्रत्येक देश किसी ऐसी वस्तु की उत्पत्ति में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है जिसमें उसे विशेष सुविधाएं प्राप्त होती है, तब संसार मे वस्तुओं की कुल उत्पत्ति की मात्रा (Total Production) में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत उत्पत्ति मे विशिष्टीकरण (Specialisation) के अभाव में वस्तुओं की कुल उत्पत्ति कम रह जाती है। उक्त उदाहरण मे, यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही हो रहा है तब भारत और अमेरिका दोनों ही देश उत्पत्ति के साधनों की इकाइयों को (Units of the Factors of Production) अपने यहाँ दोनों ही वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये प्रयोग मे लायेंगे। भारत मे उत्पत्ति के साधनों की इकाई से या तो १ मन जूट उत्पन्न किया जा सकता है या $\frac{१}{२}$ मन गेहू उत्पन्न किया जा सकता है। इसी तरह अमेरिका में उत्पत्ति के साधनों की इकाई से या तो १ मन जूट उत्पन्न किया जा सकता है या २ मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है। इस दशा में यदि प्रत्येक देश उत्पत्ति के साधनो की दो-दो इकाइयां प्रयोग मे लाता है, तब—

भारत मे उत्पत्ति=१ मन जूट+$\frac{१}{२}$ मन गेहूँ
अमेरिका में उत्पत्ति=१ मन जूट+२ मन गेहूँ

कुल उत्पत्ति भारत+अमेरिका से=२ मन जूट+२$\frac{१}{२}$ मन गेहूँ

अब मान लो, दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना से एक-एक वस्तु की उत्पत्ति में विशिष्टता प्राप्त करते हैं और यह भी मान लो कि दोनो ही देश उत्पत्ति के साधनो की दोनों ही इकाइयो को केवल एक वस्तु की उत्पत्ति करने के लिये प्रयोग मे लाते हैं और इस तरह भारत में केवल जूट की उत्पत्ति और अमेरिका में केवल गेहूँ की उत्पत्ति होने लगी है, तब—

भारत में उत्पत्ति के साधनों की दो इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति=२ मन जूट
अमेरिका में उत्पत्ति के साधनो की दो इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति=४ मन गेहूँ

कुल उत्पत्ति भारत+अमेरिका मे =२ मन जूट+४ मन गेहूँ

अत यह स्पष्ट है कि भारत और अमेरिका में वस्तुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशिष्टीकरण की दशा में, उत्पत्ति के साधनो की इकाइयो की समान मात्रा के प्रयोग करने पर, विशिष्टता के अभाव की दशा से (४—२½=) १½ मन गेहूँ अधिक उत्पन्न होता है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ की मात्रा (Gains from the International Trade) बराबर है १½ मन गेहू। सक्षेप मे, यह ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है और इस लाभ के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है।

लागतो में समान अन्तर

(२) लागतों मे समान अन्तर (Equal Differences in Costs) – दो देशो मे वस्तुओ के उत्पादन क लागत-व्यय के सम्बन्ध में एक ऐसी स्थिति भी हो सकती है जिसमे इन दोनो देशों मे वस्तुओं की लागतों में समान अन्तर हो सकता है। इस अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होता है और इन दोनों देशों को दोनों ही वस्तुओ का उत्पादन करना पड़ता है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लो,

भारत मे { गेहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ३ रुपये प्रतिमन है।
कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ६ रुपये प्रतिमन है।

अमेरिका में { गहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ५ रुपये प्रतिमन है।
कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १० रुपये प्रतिमन है।

चूँकि मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है, इसलिये भारत मे १ मन गेहू के बदले म ½ मन कपास का विनिमय होगा और अमरिका मे भी १ मन गेहूँ के बदले ½ मन कपास का विनिमय होगा। यद्यपि भारत मे अमरिका की तुलना मे गेहू और कपास दोनो ही वस्तुयें सस्ती उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु इन दोनों देशो मे गेहूँ और कपास की उत्पत्ति लागत का अनुपात (Cost Ratios) १ २ है। इस अवस्था मे दोनो में से कोई भी एक देश किसी एक वस्तु की उत्पत्ति में विशिष्टता प्राप्त करके, इस वस्तु के बदले में दूसरे देश से दूसरी वस्तु की आयात नही करेगा। इसका कारण स्पष्ट है। भारत गेहूँ के उत्पादन में तब ही विशिष्टता प्राप्त करेगा जबकि वह इसके १ मन वजन के बदले में अमेरिका से ½ मन कपास से अधिक प्राप्त कर सकता है और अमेरिका भी कपास के उत्पादन में तभी विशिष्टता प्राप्त करेगा जबकि यह ½ मन कपास के बदले मे भारत से १ मन गेहूँ से अधिक प्राप्त कर सकता है। परन्तु न तो भारत अमेरिका से १ मन गेहूँ के बदल में ½ मन कपास से अधिक प्राप्त कर सकता है और न अमेरिका ही भारत से ½ मन कपास के बदले में १ मन गेहूँ से अधिक प्राप्त कर सकता है क्योंकि भारत में इन दोनों वस्तुओ का विनिमय-अनुपात वही है जो अमेरिका में है। इस दशा में न तो भारत को उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करने के लिए उत्पत्ति के साधनो को कपास की उत्पत्ति में से हटाकर गेहू की उत्पत्ति में लगाना लाभप्रद होगा और न अमेरिका को

ही उत्पत्ति के साधनों को गेहूं की उत्पत्ति से हटाकर कपास की उत्पत्ति में लगाना लाभप्रद होगा। अतः जब दो देशों में किन्हीं दो वस्तुओं के उत्पादन में उत्पादन-व्यय में समान अन्तर होता है, तब इस दशा में इन देशों में विदेशी व्यापार नहीं होता है वरन् इन दोनों देशों को दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है।

<u>लाभ की मात्रा</u>:—अभी-अभी यह बताया गया था कि दो देशों में वस्तुओं की उत्पत्ति की लागत में समान अन्तर होने पर विदेशी व्यापार उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि इस दशा में दोनों देशों को विदेशी व्यापार में से कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होता है। यह बात निम्नलिखित गणना से भी स्पष्ट हो जाती है। उक्त उदाहरण में यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो रहा है, तब भारत और अमेरिका दोनों ही देश उत्पत्ति के साधनों की इकाइयों को अपने यहां दोनों वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये प्रयोग में लायेंगे। भारत में उत्पत्ति के साधनों को एक इकाई से या तो १ मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है या ½ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। इसी तरह अमेरिका मे उत्पत्ति के साधनों की एक इकाई से या तो १ मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है या ½ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। इस दशा मे यदि प्रत्येक देश उत्पत्ति के साधनों की दो-दो इकाइयाँ प्रयोग में ला सकता है, तब—

भारत में उत्पत्ति = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास
अमेरिका में उत्पत्ति = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास

कुल उत्पत्ति भारत + अमेरिका में = २ मन गेहूँ + १ मन कपास

अब मान लो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना से दोनों देश एक-एक वस्तु की उत्पत्ति मे विशिष्टता प्राप्त करते हैं और यह भी मान लो कि दोनों ही देश उत्पत्ति के साधनों की दोनों ही इकाइयों को केवल एक वस्तु की उत्पत्ति करने के लिये प्रयोग में लाते हैं और इस तरह भारत मे केवल गेहूँ की उत्पत्ति और अमेरिका मे केवल कपास की उत्पत्ति होने लगी है, तब—

भारत में उत्पत्ति के साधनों की दोनों इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति = २ मन गेहूँ
अमेरिका में उत्पत्ति के साधनों की दोनो इकाइयो के प्रयोग से उत्पत्ति = १ मन कपास

कुल उत्पत्ति भारत + अमेरिका मे = २ मन गेहूँ + १ मन कपास

अतः यह स्पष्ट है कि विशिष्टता के अभाव की दशा में और विशिष्टता की दशा में, दोनों स्थितियों में कुल उत्पत्ति समान मात्रा मे होती है, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई लाभ (No Gain in the International Trade) नहीं होता है और यही कारण है कि लागतों के <u>समान अन्तर की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है।</u>

लागतों में तुलनात्मक अन्तर

(२) <u>लागतों में तुलनात्मक अन्तर</u> (Comparative Differences in Costs)-दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन के लागत-व्यय के सम्बन्ध में एक ऐसी स्थिति भी हो सकती है जिसमे इन दोनो देशों में वस्तुओं की लागतों मे तुलनात्मक अन्तर हो सकता है। दूसरे शब्दों में, एक ऐसी स्थिति सम्भव है जिसमे कुछ देश दूसरे देशों की तुलना में कुछ वस्तुयें सस्ती उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु इनमे भी तुलनात्मक दृष्टि से एक वस्तु,

दूसरी वस्तुओं की उत्पत्ति की अपेक्षा मे, अधिक सस्ती उत्पन्न की जा सकती है अर्थात् इस देश मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा में किसी एक वस्तु की उत्पत्ति में अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है (There [illegible] greater Comparative Advantage in the production of one Commodity)। इसी प्रकार दूसरे देश मे यद्यपि सब ही वस्तुयें अधिक महगी उत्पन्न होती हैं, परन्तु इनमें भी तुलनात्मक दृष्टि से, किसी एक वस्तु की उत्पत्ति में, अन्य वस्तुओ की उत्पत्ति की तुलना मे कम घाटा होता है। (There is a lesser Comparative Disadvantage in the production of one Commodity)। इसीलिए यह कहा जाता है कि इन दोनो देशो में लागतो में तुलनात्मक अन्तर है और ऐसे अन्तरों की दशा में विदशी व्यापार लाभदायक होता है। *लागतो में तुलनात्मक अन्तर की दशा में यह व्यापार किस प्रकार होता है? मान लो,*

भारत मे { गेहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है।
कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।

अमेरिका मे { गेहूँ की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ४ रु० प्रति मन है।
कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ६ रु० प्रति मन है।

चूँकि मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है, इसलिये भारत मे १ मन गेहूँ के बदले में १/२ मन कपास का विनिमय होगा और अमेरिका म १ मन गेहूँ के बदले मे २/३ मन कपास का विनिमय होगा। दूसरे शब्दों मे, गेहूँ और कपास की लागत का अनुमान (Cost Ratio) भारत में १ २ और अमेरिका म २ १½ मन है। इस दशा मे अमेरिका म भारत की अपेक्षा गेहूँ और कपास दोनो ही वस्तुयें सस्ती उत्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) कपास की उत्पत्ति में गेहूँ की उत्पत्ति से अधिक है। इसी प्रकार भारत म दोनो वस्तुओ की उत्पत्ति मे तुलनात्मक हानि (Comparative Disadvantage) है परन्तु यह हानि गेहूँ मे कपास की उत्पत्ति की अपेक्षा कम है। इसलिये भारत ग हूँ की उत्पत्ति में और अमेरिका कपास की उत्पत्ति में विशिष्टता प्राप्त करेगा और भारत गेहूँ लगाकर उसके बदले में अमरिका से कपास ले लेगा। परन्तु भारत और अमेरिका के लिये यह व्यापार कब तक लाभप्रद रहेगा? यह विनिमय कार्य भारत को तब ही लाभप्रद होगा जब कि वह १ मन गेहूँ के बदले में अमेरिका से १/२ मन कपास से अधिक प्राप्त करता है और इसी प्रकार यह विनिमय कार्य अमेरिदा [illegible] लिये तब ही लाभप्रद होगा जबकि वह भारत [illegible] ३/२ मन कपास के बदले म *१ मन गहूँ से अधिक प्राप्त करता है। इस प्रकार इन दोनों देशो मे वस्तुओं के विनिमय* की सीमायें (Range of Exchange) भी यही हैं और विनिमय की दर (Rate of Exchange) इन दोनों सीमाओ के बीच म एक दूसरे देश की वस्तुओं की सापेक्षिक मांग (Relative Demand) द्वारा निर्धारित होगी। यह स्मरण रहे कि भारत और अमेरिका के बीच इस प्रकार के व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात-व्यय व बीमा-व्यय आदि को जोड़ देने पर भी लाभ की स्थिति में अन्तर नहीं पड़ेगा (केवल लाभ की मात्रा ही प्रभावित होती है) और भारत व अमेरिका में आपस में व्यापार लाभप्रद होगा।

<u>लाभ की मात्रा</u> —अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतो में तुलनात्मक अन्तर की स्थिति

में लाभ की मात्रा (Gains from the International Trade) की गणना इस प्रकार की जा सकती है:—उक्त उदाहरण में यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो रहा है, तब भारत और अमेरिका दोनों ही देश उत्पत्ति के साधनों की इकाइयों को (Units of the Factors of Production) अपने यहाँ दोनों ही वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये प्रयोग में लायेंगे। भारत में उत्पत्ति के साधनों की इकाई से या तो १ मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है या ½ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। इसी तरह अमेरिका में उत्पत्ति के साधनों की एक इकाई से या तो १ मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है या ⅔ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। इस दशा में यदि प्रत्येक देश उत्पत्ति के साधनों की दो-दो इकाइयाँ प्रयोग में लाता है, तब—

भारत में उत्पत्ति=१ मन गेहूँ+०·५० मन कपास
अमेरिका में उत्पत्ति=१ मन गेहूँ+०·६६६ मन कपास

कुल उत्पत्ति भारत+अमेरिका में=२ मन गेहूँ+१·१६६ मन कपास

अब मान लो, दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना से एक-एक वस्तु को उत्पत्ति में विशिष्टता प्राप्त करते हैं और यह भी मान लो कि दोनों ही देश उत्पत्ति के साधनों की दोनों ही इकाइयों को केवल एक वस्तु की उत्पत्ति करने के लिए प्रयोग में लाते हैं और इस तरह भारत में केवल गेहूँ की उत्पत्ति और अमेरिका में केवल कपास की उत्पत्ति होने लगी है, तब—

भारत में उत्पत्ति के साधनों की दोनों इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति=२ मन गेहूँ
अमेरिका में उत्पत्ति के साधनों की दोनों इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति=१·३३२ मन कपास

कुल उत्पत्ति भारत+अमेरिका में=२ मन गेहूँ+१·३३२ मन कपास

अतः यह स्पष्ट है कि भारत और अमेरिका में वस्तुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशिष्टीकरण की दशा में, उत्पत्ति के साधनों की इकाइयों की समान मात्रा के प्रयोग करने पर, विशिष्टता के अभाव की दशा से (१·३३२—१·१६६=) ०·१६६ मन कपास पहले से अधिक उत्पन्न हुई है। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा (Gains from the International Trade) बराबर है ०·१६६ मन कपास। संक्षेप में, यह ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है और इस लाभ के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा के निर्धारण की निर्भरता—(Factors affecting the determination of the extent of Gain in the International Trade).—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का विनिमय करने वाले दोनों देशों को लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त लाभ की मात्रा तीन बातों पर निर्भर रहती है:—(i) लागत के अनुपातों में अन्तर (Differences in Cost Ratios):—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा (Extent of Gain) दोनों देशों में लागत के अनुपातों के अन्तर पर निर्भर रहती है। लागतों में अन्तर जितना अधिक होगा, लाभ का क्षेत्र भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। प्रो० हैरोड (Harrod) के शब्दों में, "एक देश को विदेशी व्यापार

मे तब लाभ होता है जबकि इस देश के व्यवसायिको को यह अनुभव होता है कि उनके देश मे वस्तुओ के मूल्य का जो अनुपात प्रचलित है उससे कही अधिक भिन्नता विदेशो मे मूल्य के अनुपात मे है। वे उन वस्तुओ को जो उन्हे सस्ती प्रतीत होती हैं खरीदते हैं और जो वस्तुयें महँगी दीखती हैं उन्हे बेचते हैं। उनकी दृष्टि से इन ऊंचे और नीचे चिन्हो मे जितना अन्तर होगा और जितनी अधिक महत्वपूर्ण वस्तुयें होगी, उतना ही व्यापार मे अधिक लाभ होगा"* मान लो 'अ' देश 'ब' से कुछ वस्तुओ की आयात करता है और साथ ही साथ कुछ देशो को निर्यात भी करता है। यदि 'अ' देश की निर्यात की वस्तुओ की उत्पत्ति की उत्पादन-क्षमता (Productive Efficiency) बढ़ती है, तब 'ब' देश को इन वस्तुओ से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा बढ़ेगी, परन्तु स्वय 'ब' देश को इन वस्तुओ से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा घटेगी। इसी तरह यदि 'ब' देश की निर्यात की वस्तुओ की उत्पत्ति की उत्पादन-क्षमता बढती है, तब 'अ' देश को इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा बढेगी, परन्तु स्वय ब' देश को इन वस्तुओ से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा घटेगी। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे दो देशों को प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा, इन दोनो मे वस्तुओं की लागत के अनुपात के अन्तर पर निर्भर रहती है। (ii) व्यापार की शर्तें (Terms of the Trade —लाभ की मात्रा पर व्यापार की शर्तों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। एक देश दूसरे देश से वस्तुओं की आयात-निर्यात जिन शर्तों (Terms) पर करता है, उन पर एक देश की दूसरे देश की वस्तुओं की माग की लचक (Elasticity of Demand) या दोनो देशो की एक दूसरे की वस्तुओं की सापेक्षिक माग का असर पडता है। मान लो, 'अ' देश में गेहूँ की उत्पत्ति और 'ब' देश मे कपास की उत्पत्ति होती है। यदि 'अ देश की कपास की माग अधिक बेलोचदार है, तब यह देश कपास की एक निश्चित मात्रा के लिए गेहूँ की अधिक मात्रा देने के लिए तैयार होगा। इसी प्रकार यदि 'ब' देश की गेहूँ की माग बेलोचदार है, तब यह गेहूँ को एक निश्चित मात्रा के लिए कपास की अधिक मात्रा देने के लिये तैयार होगा। परन्तु यदि 'ब' देश की गेहूँ की माग लोचदार (Elastic) है तब यह देश गेहूँ की एक निश्चित मात्रा के लिये कपास की अधिक मात्रा देने के लिए तैयार नही होगा। अत किसी देश की दूसरे देश की वस्तुओं की माँग जितनी बेलोचदार या लोचदार होगी, उसी प्रकार इसकी व्यवसाय की शर्तें भी इसके क्रमश प्रतिकूल या अनुकूल होंगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सब से अधिक लाभ उस देश को होगा या व्यवसाय की शर्तें उस देश के पक्ष मे होंगी जिनकी वस्तुओं की माग विदेशों में अधिक होती है या जिनकी वस्तुओ की माग विदेशों में बेलोचदार होती है परन्तु स्वय की विदेशी वस्तुओं की माग कम होती है या स्वय की विदेशी वस्तुओं की माँग लचकदार होती है† । इसलिये टॉजिग (Taussig)

* A country gains by foreign trade, if and when the traders find that there exists abroad a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home They buy what to them seems cheap and sell what to them seems dear The bigger the gap between what to them seem low point and high point and more important the articles affected, the greater will the gain from trade be" Harrod,—International Economics P 34.

† Taussig has said about it in the following words—'That country gains most from International Trade whose exports are most in demand and which itself has little demand for the things it imports i. e. for the exports of other

ने ठीक ही कहा है कि किसी देश मे विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा दो बातों पर निर्भर रहती है—(अ) लागतों के अनुपातों में अन्तर अर्थात् निर्यात की वस्तुयें उत्पन्न करने में देश की उत्पादन-क्षमता तथा (आ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें।

यह स्मरण रहे कि किसी देश को द्रव्य-आय (Money Income) से उसको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा का ज्ञान हो सकता है क्योंकि एक देश द्रव्य-आय के रूप में ही लाभ प्राप्त किया करता है। जिस देश की वस्तुओं की मांग विदेशो मे निरन्तर रहती है, उस देश की द्रव्य-आय का स्तर (Level of Money Income) ऊंचा होता है क्योंकि ऐसे देश में निर्यात वस्तुओं के उद्योगों मे अपेक्षाकृत अधिक उन्नति होती है। ऐसे देश में निर्यात उद्योगों में मजदूरी की दर भी अधिक हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप अन्य उद्योगो की मजदूरी भी बढ जाती है क्योकि श्रमिक अधिक मजदूरी वाले उद्योगों में गतिशील हो जाया करते हैं। अतः जिस देश की वस्तुओं की माँग विदेशों मे बहुत होती है, उसकी यद्यपि द्रव्य आय बढ़ जाती है अथवा उसमें मजदूरों की मजदूरी बढ़ जाती है, परन्तु इस देश मे विदेशी वस्तुओं का मूल्य बहुत कम होता है जिससे उपभोक्ताओ को विदेशी वस्तुओं के उपभोग से लाभ होता है। इसके विपरीत जिस देश मे विदेशी वस्तुओं की माग अधिक होती है, उसकी मुद्रा-आय का स्तर (Level of Money Incomes) कम हो जाता है और मुद्रा-आय के कम हो जाने के साथ ही साथ इस देश में विदेशी वस्तुओ का मूल्य भी अधिक हो जाता है जिससे इन वस्तुओं के उपभोक्ताओ को हानि होती है। अतः द्रव्य-आय के स्तर से यह ज्ञात हो जाता है कि कौन-सा देश अधिक लाभदायक सौदा कर रहा है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(Principle of Comparative Costs)

बैसटेबिल (Bastable) ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के भाव को एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण के रूप मे इस प्रकार दिया है—"एक डाक्टर अपने यहाँ नौकर होने वाले माली से बगीचे के काम मे भी अधिक निपुण हो सकता है, परन्तु डाक्टरी मे वह बगीचे के काम से भी अधिक निपुण है। यदि वह अपना सारा समय उस काम (डाक्टरी) मे नही देगा जिसमे वह सबसे अधिक निपुण है, तो उसे हानि होगी। उसको सबसे अधिक लाभ तभी होगा जबकि वह माली के बदले डाक्टरी का ही काम सारे दिन करता रहे। इसी प्रकार यदि एक देश दूसरे देश की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अधिक सस्ती बना सकता हो, परन्तु यही उसको सबसे अधिक लाभदायक होगा कि वह केवल उसी वस्तु को उत्पन्न करने में लगा रहे जिस वस्तु के उत्पन्न करने मे दूसरे देश की अपेक्षा, उसे सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) है। दूसरी ओर, घटिया देश के हित मे भी यही होगा कि वह भी केवल वही वस्तु बनाए जिससे उसको तुलनात्मक हानि सबसे कम हो।"* इस अध्याय के आरम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका

countries. That country gains least which has the most insistent demand for the products of other countries."

*A doctor may be a better gardener whom he employs, but he may be a still better doctor and he would lose, if he did not restrict himself to the high-

है कि कुछ देश ऐसे होते हैं जिनको अन्य दूसरे देशों की अपेक्षा प्रकृति की ओर से अथवा सरकार की ओर से कुछ विशेष सुविधाएँ (जलवायु, खनिज सम्पत्ति, कार्य करने की दशायें, मुद्रा एव चलन तथा भौगोलिक स्थिति आदि) प्राप्त होती हैं जिनके कारण इन देशों में अन्य देशो की अपेक्षा कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे श्रेष्ठता पाई जाती है। इस प्रकार की विशेष सुविधाए उपलब्ध होने के कारण, ये देश कुछ वस्तुओं का उत्पादन अपेक्षाकृत कम लागत-व्यय पर कर सकते हैं जिसके कारण ये देश इन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण (Specialisation) प्राप्त कर लेते हैं। विभिन्न देशों मे प्राकृतिक साधनो एव उत्पादन की दशाओ में भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न देशों मे वस्तुओं के लागत-व्यय तथा उत्पादको की लाभ की दर में भिन्नता पाई जाती है। जिस देश में उत्पादन के साधन एव सुविधायें प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती हैं, वहाँ पर वस्तुयें कम मूल्य पर और जिस देश में इन साधनो एव सुविधाओ में अल्पता (Scarcity) होती है, वहाँ पर वस्तुयें अधिक मूल्य पर उत्पन्न की जाती हैं। विशिष्टीकरण की अवस्था मे विभिन्न देशो में उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम उपयोगी प्रयोग होता है जिससे वस्तुओ का उत्पादन अपेक्षाकृत कम लागत पर हो जाता है। अत जब विभिन्न देश भिन्न-भिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेते हैं अथवा जब अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम-विभाजन का जन्म हो जाता है, तब विदेशी व्यापार उत्पन्न होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न केवल लागतो एव मूल्यो में पूर्ण अन्तर (Absolute Differences in Costs) की अवस्था में बल्कि यह तुलनात्मक लागत के अन्तर (Differences in Comparative Costs) की अवस्था मे भी उत्पन्न होता है। तुलनात्मक लागत का सिद्धात इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय उत्पन्न होता है जब एक देश दूसरे देशो की तुलना मे कुछ वस्तुयें सस्ती उत्पन्न कर सकता है, परन्तु इनमे भी जब वह तुलनात्मक दृष्टि से एक वस्तु दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सस्ती उत्पन्न कर सकता है। इस दशा मे यह देश इस वस्तु की उत्पत्ति मे विशिष्टता प्राप्त कर लेता है और इसके बदले मे उन वस्तुओं की आयात करता है जिनको वह स्वय भी कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है (परन्तु तुलना में इन वस्तुओ के उत्पादन मे लागत-व्यय उस वस्तु से अधिक होता है जिसके उत्पादन में उस देश ने स्वय विशिष्टता प्राप्त की है)। इस तरह विदेशा [redacted] मगाई गई वस्तुओ म किसी देश को जो कुछ हानि होती है, वह उस लाभ स पूरी हो जाती है जो वह अपने देश में श्रम और पूँजी की इकाइयों को वस्तुओ की उत्पत्ति मे लगाकर प्राप्त करता है। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि तुलनात्मक लागत के अन्तर की अवस्था में एक देश उन वस्तु को उत्पन्न करता है जिसमें उसे अधिक सापेक्षिक लाभ (Greater Comparative Advantage) होता है या जिसे वह कम से कम तुलनात्मक लागत पर

---

est type of work which he could do His advantage over the gardner is the greatest not when he is acting as a gardener but when he exercises his function as a doctor. So a country may be able to produce everything better than any other country, but it will pay it best to concentrate on those articles at which its comparative advantage is greatest whilst the inferior country must restrict itself to those products [redacted] which its comparative disadvantage is least." —Bastable

उत्पन्न कर सकता है और इस वस्तु के बदले में वह दूसरे देशो से ऐसी वस्तुयें मंगाता है जिनकी उत्पत्ति में, उन देशों को अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति की अपेक्षा, कम तुलनात्मक हानि (Lesser Comparative Disadvantage) होती है।* जिस सिद्धान्त में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है उसे ही हम तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Principle of Comparative Costs) कहते हैं। इस बात को हम एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं (ऊपर "लागतो में तुलनात्मक अन्तर" नामक शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये उदाहरण को यहाँ पर विस्तार से समझाइये)।

यह स्मरण रहे कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति का द्योतक है। आधुनिक काल में इसका ठीक-ठीक प्रयोग नहीं होने पाता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर राजनैतिक दशाओं, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा राष्ट्रों के व्यवहारों आदि का प्रभाव पड़ता है।

तुलनात्मक सिद्धान्त की प्रतिष्ठित तथा वर्तमान विचारधारा (The Classical and the Modern concept of the Principle of Comparative Costs)

<u>तुलनात्मक लागत का प्रतिष्ठित सिद्धान्त</u> (The Classical Theory of Comparative Costs):—प्रतिष्ठित सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक एडम स्मिथ (Adam Smith), ह्यूम (Hume) तथा रिकार्डो (Ricardo) थे। रिकार्डो (Ricardo) ने तुलनात्मक लागत-सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू करते हुए सर्वप्रथम यह बतलाया कि लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होने पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) और रिकार्डो (Ricardo) दोनों प्राचीन अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों ने यह बतलाया कि एक देश के अन्दर तो श्रम और पूंजी में गतिशीलता होने से विभिन्न व्यवसायों मे लाभ की मात्रा समान होने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु इन्होने बताया कि विभिन्न देशों के बीच इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है क्योंकि श्रम और पूंजी साधन विभिन्न देशो मे गतिशील नहीं होते हैं। इन्होने कहा कि एक देश के अन्दर तो समान योग्यता व क्षमता वाले श्रमिकों को एक समान मजदूरी मिलती है, परन्तु विभिन्न देशों में इनकी मजदूरी एक-समान नहीं होती क्योंकि विभिन्न देशों में श्रमिक अगतिशील होते हैं। जब विभिन्न देशो के बीच मजदूरी, ब्याज व लाभ की मात्रा में भिन्नता होती है, तब इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न देशों में एक-सी वस्तुओं की उत्पत्ति-लागत में भी भिन्नता हो जाती है। इसी बात को रिकार्डो ने व्यवहारिक जीवन के एक उदाहरण से स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा कि पुर्तगाल (Portugal) कपड़ा और शराब दोनों ही इंगलैंड (England) की अपेक्षा कम लागत

*Marshall has explained the same idea in the following words—"If goods which can be produced at home, are yet imported freely from abroad, that shows that they can be got generally [redacted] lesser cost by making other things with which to buy them from abroad, than by the direct method of making them [redacted] home"

Viner has also said [redacted] follows—"Each country will produce those articles in the production of which its superiority is most marked or its inferiority least marked."

पर उत्पन्न कर सकता था, परन्तु पुर्तगाल के लिए यही लाभप्रद था कि वह शराब के उत्पादन मे विशिष्टीकरण (Specialisation) प्राप्त करे और इसके बदले मे इगलैंड से कपडे की आयात करे क्योंकि पुर्तगाल को शराब के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ अधिक था। अतः रिकार्डो ने इस उदाहरण के आधार पर यह बताया कि यद्यपि एक देश मे दूसरे देश की अपेक्षा दो वस्तुए सस्ती उत्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु एक देश को केवल किसी एक वस्तु की उत्पत्ति में विशेषज्ञ होने मे ही अधिक लाभ होता है और यह वह वस्तु होती है जिसकी उत्पत्ति में इस देश को अधिक तुलनात्मक लाभ है। यह देश इस वस्तु को उत्पन्न करके इसके बदले में दूसरे देश से दूसरी वस्तु की आयात करेगा। इस तरह एक उदाहरण के आधार पर रिकार्डो ने सर्वप्रथम यह बताया कि *लागतो के तुलनात्मक अन्तर के कारण किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न हो* जाता है। इसके अतिरिक्त रिकार्डो ने यह भी बताया कि तुलनात्मक लागत द्वारा ही विदेशी व्यापार में विनिमय की दरो की सीमाए (Limits of Exchange) भी निर्धारित होती हैं।

रिकार्डो के बाद मिल (J. S. Mill) ने रिकार्डो के उक्त सिद्धान्त में आवश्यक सशोधन किये। मिल ने यह तो मान लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार लागतों में तुलनात्मक अन्तर ही है और यह भी मान लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ भी इन्हीं लागतों के अन्तर द्वारा उत्पन्न होता है, परन्तु उसने विनिमय की दर एव लाभ की मात्रा का अधिक स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बताया कि विदेशी व्यापार में लाभ की मात्रा इस बात पर बहुत कुछ निर्भर रहती है कि एक देश में दूसरे देश की वस्तुओ की माँग तुलनात्मक दृष्टि से कितनी आग्रहपूर्ण है अर्थात् उन्होने कहा कि तुलनात्मक लागत द्वारा निर्धारित विनिमय की सीमाओ के बीच में ही विनिमय की दर (Terms of Exchange) एक देश की दूसरे देश की वस्तुओं की सापेक्षिक माँग से तय होती है।

कैरनीज (Cairnes) नामक अर्थशास्त्री ने रिकार्डो और मिल दोनों के विचारों की आलोचना की है। हम यह जानते ही हैं कि रिकार्डो और मिल दोनो ने इस सिद्धान्त का निर्माण इस मान्यता पर किया है कि देश के अन्दर तो श्रम और पूजी साधन पूर्णतया गतिशील हैं और दो देशो के बीच ये साधन पूर्णतया अगतिशील होते हैं। परन्तु कैरनीज (Cairnes) ने उक्त मान्यता की आलोचना की है और कहा है कि श्रम और पूजी साधन न तो एक देश के अन्दर पूर्णतया गतिशील होते हैं और न ये साधन दो देशो के बीच पूर्णतया अगतिशील ही होते हैं। उसने कहा कि यदि हम रिकार्डो और मिल की मान्यता को तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से हटा भी दें, तब भी इस सिद्धान्त में कोई दोष उत्पन्न नही होगा। इसलिये कैरनीज (Cairnes) ने भी अन्ततः रिकार्डो और मिल के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था।

<u>प्रतिष्ठित सिद्धान्त में आधुनिक सुधार</u> (Recent Modifications in the Classical Theory)—वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने भी तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु इन्होंने इसमें कुछ आवश्यक सुधार भी किये हैं—(i) वस्तु

की लागत का माप श्रम में न करके मुद्रा में किया है:—प्राचीन एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने वस्तुओं की उत्पत्ति-लागत का माप श्रम में किया था, परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने वस्तुओं की लागत के श्रम में माप को त्याग दिया है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम तो आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को स्वीकार नहीं करते हैं और फिर वस्तुओं की उत्पत्ति में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों का भी उपयोग होता है। यह स्वाभाविक ही है कि जब मूल्य-सिद्धान्त (Theory of Value) में ही श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory) को अस्वीकार कर दिया गया है, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इस सिद्धान्त पर आधारित करना तो बिलकुल ही ठीक नहीं है। आजकल मूल्य-सिद्धान्त सीमान्त लागत (Marginal Cost) के रूप में व्यक्त किया जाता है, इसीलिए तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी सीमान्त लागत (Marginal Cost) के रूप में व्यक्त किया जाता है। अतः आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने वस्तुओं की लागत का माप श्रम में न करके मुद्रा में किया है और यह तुलनात्मक लागत के सिद्धांत में वर्तमान अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रथम सुधार है। (ii) व्यापार की शर्तों पर वस्तुओं की तुलनात्मक मांग की लोच का भी प्रभाव पड़ता है:—प्रसिद्ध प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय यह बताया था कि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के आधार पर किन-किन वस्तुओं में व्यापार करना लाभदायक होगा अथवा उन्होंने यह बताया था कि तुलनात्मक लागत द्वारा ही विदेशी व्यापार में विनिमय की दरों की सीमाएं निर्धारित होती हैं। परन्तु रिकार्डो और उसके समर्थक यह निर्धारित नहीं कर सके कि लाभ की मात्रा किन-किन बातों पर निर्भर रहती है? उनका मत था कि विनिमय-दर बाजार में वस्तुओं के मोल-भाव (Higgling in the Market) के द्वारा ही निर्धारित होती थी। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारों में सुधार करते हुये कहा है कि व्यापार की शर्तें मोल-भाव द्वारा नहीं वरन् एक देश दूसरे देश की वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर रहती हैं। जिस देश में दूसरे देश की वस्तु की तुलनात्मक मांग की लोच अधिक होगी, व्यापार की शर्तें (Terms of the Trade) भी उस देश के लिये उतनी ही अनुकूल होंगी (इस सम्बन्ध में ऊपर "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा के निर्धारण की निर्भरता" नामक शीर्षक में विस्तार से लिखा गया है)। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में वस्तुओं की तुलनात्मक मांग का विचार करके अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त में व्यवहारिकता ला दी है और यह इस सिद्धान्त में वर्तमान अर्थशास्त्रियों द्वारा दूसरा महत्वपूर्ण सुधार है। (iii) उत्पत्ति-समता नियम ही लागू नहीं होता है वरन् इस पर उत्पत्ति वृद्धि तथा उत्पत्ति ह्रास-नियम भी लागू होता है:—रिकार्डो तथा अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन इस मान्यता के आधार पर किया था कि दोनों देशों में उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-समता नियम (Law of Constant Returns) के आधार पर होता है तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात-व्यय (Cost of Transport) का कुछ भी महत्व नहीं है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इन दोनों ही मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है। इन्होंने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का विचार करते समय न केवल उत्पत्ति-समता-नियम का ही ध्यान रखा है वरन् उत्पत्ति-वृद्धि तथा उत्पत्ति-

ह्रास नियम का भी विचार किया है। जब उत्पत्ति क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार हो रही है, तब मांग मे वृद्धि के कारण पूर्ति में वृद्धि होने पर प्रति इकाई लागत कम हो जाती है जिससे व्यवसाय में तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र बढ़ जाता है। इसी प्रकार यदि उत्पत्ति क्रमागत ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अनुसार हो रही है, तब मांग मे वृद्धि के कारण पूर्ति में वृद्धि होने पर प्रति इकाई लागत अधिक हो जाती है जिससे व्यवसाय में तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र कम या समाप्त हो जाता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि घटती हुई लागत (Decreasing Cost of Production) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देती है और बढ़ती हुई लागत (Increasing Cost of Production) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हतोत्साहित करती है। अतः वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने यातायात व्यय तथा उत्पत्ति के तीनों नियमों की कार्यशीलता का विचार करके इस तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में व्यवहारिकता उत्पन्न कर दी है और यह इस सिद्धान्त मे वर्तमान अर्थशास्त्रियों द्वारा तीसरा महत्वपूर्ण सुधार है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और मजदूरी
(International Trade and Wages)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मजदूरी का प्रभाव—कभी कभी यह प्रश्न उठ जाया करता है कि भिन्न भिन्न देशों में मजदूरी की दरों मे विभिन्नता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कम मजदूरी देने वाला देश अपनी वस्तुएं सदैव अन्य ऊंची मजदूरी देने वाले देशों को निर्यात किया करता है क्योंकि अधिक मजदूरी वाला देश कम मजदूरी और इसलिए कम लागत-व्यय वाले देश की बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं करने पाता है। इस कथन का आधार यह विश्वास है कि अधिक मजदूरी देने वाले देशों मे सदा वस्तुओं की प्रति इकाई लागत और इसलिये कीमतें अधिक होती हैं। परन्तु तर्क व अनुभव से पता चलता है कि यह विचार दोषपूर्ण ही नहीं वरन् पूर्णतया गलत है। प्रायः ऊँची मजदूरी वाले श्रमियों द्वारा उत्पत्ति, कम मजदूरी वाले श्रमियों की तुलना में अधिक अच्छी तथा मात्रा में भी अधिक होती है जिससे मजदूरी को यद्यपि मजदूरी तो अधिक दी जाती है परन्तु प्रति इकाई लागत अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। यह एक आर्थिक सत्य है कि "अधिक मजदूरी सस्ती मजदूरी होती है और सस्ती मजदूरी अधिक मजदूरी होती है" (High Wages are Low Wages and Low Wages are High Wages)। इसीलिये अधिक मजदूरी का अर्थ अधिक लागत से नहीं होता है क्योंकि अधिक मजदूरी वाले देश में श्रमिकों की उत्पादन शक्ति अधिक होती है जिससे इस देश में वस्तुओं की प्रति इकाई लागत और इसलिये इनका मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है। इसीलिये आजकल एक ऊँची मजदूरी वाला देश कम मजदूरी वाले देश को वस्तुओं का निर्यात करने मे सफल हो जाता है और उससे डटकर प्रतियोगिता भी कर लेता है। यह बात एक उदाहरण से भी सिद्ध हो जाती है। इगलैंड और अमेरिका में भारत की तुलना मे मजदूरी बहुत ज्यादा ऊँची है, परन्तु तब भी भारत इगलैंड और अमेरिका से वस्तुयें

बहुत बड़ी मात्रा में मंगाता है क्योंकि भारत में मजदूरी के कम होने के कारण मजदूरी की कार्य क्षमता बहुत कम है और इंगलैंड व अमेरिका में अधिक मजदूरी के साथ ही साथ मजदूरों की उत्पादन-शक्ति भी अधिक है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि एक कम मजदूरी वाला देश सदैव अपनी वस्तुओं का निर्यात एक अधिक मजदूरी वाले देश को करेगा। वास्तव में, अनुभव इसके बिलकुल विपरीत है क्योंकि वर्तमान संसार में ऊँची मजदूरी वाले देश कम मजदूरी वाले देशों को ही वस्तुओं का निर्यात करते हैं ऊँची मजदूरी निर्यात व्यापार में बाधक होने के स्थान पर यह इसको प्रोत्साहन देती है। इसीलिए यह स्पष्ट है कि ऊँची मजदूरी वाले देश ऊँची मजदूरी के कारण ही निर्यात व्यापार में इतने उन्नत तथा आर्थिक दृष्टि से इतने समृद्धिशाली हो सके हैं। अतः विभिन्न देशों में मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और प्रतियोगिता-रहित समूह
(International Trade and Non-Competing Groups)

<u>अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति और प्रतियोगिता-रहित समूह</u> (Direction of the Trade in the International Trade and the Non-Competing Groups):—यदि किसी देश में मजदूरों की प्रतियोगिता-रहित समूह (Non-Competing Groups of Labourers) हैं, तब इन समूहों का इस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति पर बहुत प्रभाव पड़ा करता है। हमने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या इस बात को मानकर की है कि देश के अन्दर श्रम साधन पूर्णतया गतिशील होता है जिससे श्रमियों के विभिन्न वर्गों की मजदूरी उनकी यो[illegible]य कार्य-क्षमता के अनुसार निर्धारित होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि श्रम साधन पूर्णतया गतिशील हो। यदि श्रमी गतिशील नहीं हैं या वे बहुत कम गतिशील हैं जिसके कारण श्रमियों के किसी एक वर्ग को समान योग्यता वाले श्रमियों के दूसरे वर्ग की तुलना में कम मजदूरी मिलती है, तब उस देश को इस कम मजदूरी वाले श्रमी-वर्ग द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की उत्पत्ति में तुलनात्मक लाभ उपलब्ध होगा क्योंकि इनकी उत्पत्ति लागत अन्य वर्गों की अपेक्षा में बहुत कम है। परिणामतः ऐसी वस्तुओं की निर्यात की सम्भावना हो जायगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म हो जायगा। इसके विपरीत यदि इस देश में श्रमियों के प्रतियोगिता-रहित समूह नहीं हैं, तब सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति पर उल्लिखित प्रभाव नहीं पड़ने पाये।

अब हम एक ऐसी परिस्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें दो देशों में श्रमियों के प्रतियोगिता-रहित समूह पाये जाते हैं। इस अवस्था में यदि दोनों देशों में प्रतियोगिता-रहित समूहों की स्थिति तुलना में एक-सी है, तब इन समूहों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि दो देशों में श्रमियों के प्रतियोगिता-रहित समूहों की स्थिति में भिन्नता है, तब इन समूहों का व्यापार की गति पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। उदाहरण के लिये, यदि इंगलैंड में भारत की अपेक्षा एक ही प्रकार के श्रमियों को अधिक मजदूरी मिलती है, तब इस भिन्नता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की

गति पर अवश्यमेव प्रभाव पड़ेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ व हानियाँ
(Advantages and Disadvantages of International Trade)

लाभ (Advantages):—विदेशी व्यापार के मुख्य मुख्य लाभ इस प्रकार हैं — (i) प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रत्येक देश को केवल उसी वस्तु के उत्पादन के लिये प्रोत्साहित करता है जिस वस्तु के उत्पादन में वह देश अन्य वस्तुओं की अपेक्षा में, सबसे अधिक निपुण है या जिस वस्तु की उत्पत्ति के लिये उस देश में अनुकूल साधन एवं अनुकूल परिस्थितियाँ हैं या जिनकी उत्पत्ति करने में उस देश को सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। जब प्रत्येक देश केवल ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसे वह न्यूनतम लागत पर पैदा कर सकता है, तब तमाम विश्व में वस्तुओं का उत्पादन बहुत ही अधिक अनुकूल परिस्थितियों में होने लगता है जिससे न केवल वस्तुओं की अत्यधिक उत्पत्ति (Maximisation of Production) होती है वरन् इससे समाज का भी बहुत ही ज्यादा कल्याण होता है। अत विदेशी व्यापार से विभिन्न देशों के बीच प्रादेशिक श्रम विभाजन का जन्म होता है जिससे प्रत्येक देश को लाभ मिलता है। (ii) उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुयें उपलब्ध होती हैं (Availability of cheap goods to the Consumers) —विदेशी व्यापार में प्रत्येक देश किसी न किसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण (Specialisation) प्राप्त करता है। इस अवस्था मे धनोत्पत्ति केवल विशेषज्ञों द्वारा ही जाती है जिससे देश में उत्पत्ति व रोजगार बढ़ जाता है और वस्तुओं का उत्पादन भी बहुत कम मूल्य पर होता है, विशेषकर ऐसी वस्तुओं का जिनका उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार हो रहा है। परिणामत वस्तुयें सस्ते मूल्य पर न केवल इन्हें उत्पन्न करने वाले देश के उपभोक्ताओं को ही प्राप्त होती हैं वरन् वे अन्य देशों के उपभोक्ताओं को भी सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो जाती हैं। इससे तमाम संसार में मानव समाज का उपभोग-स्तर ऊंचा उठ जाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार द्वारा एक देश अनेक ऐसी वस्तुए भी प्राप्त करता है जिन्हें वह स्वय अपने देश मे उत्पन्न ही नहीं करने पाता है। (iii) विदेशी व्यापार द्वारा आर्थिक संकट दूर या कम किये जा सकते हैं —विदेशी व्यापार द्वारा एक देश अकाल (Famine) की समस्या का हल या किसी अन्य वस्तु की कमी की पूर्ति कर सकता है। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा एक देश अकाल या अन्य आर्थिक संकट के समय दूसरे देश से खाद्य व अन्य वस्तुओं की आयात करके अपने देशवासियों का स्वास्थ्य व जीवन बनाये रखता है। (iv) कच्चे माल की उपलब्धता (Availability of Raw Materials) —विदेशी व्यापार का यह लाभ है कि ऐसे देश जिनमे कच्ची सामग्री का अभाव है, वे इन्हें विदेशों से माग लेते हैं। इसका यह लाभ होता है कि ऐसे देश जिनमें उत्पत्ति की अन्य सब सुविधायें उपलब्ध हैं, पर तु जिनके पास कच्चा-माल नहीं है, वे भी अपने यहा विभिन्न प्रकार के उद्योग स्थापित कर लेते हैं। अत विदेशी व्यापार की सहायता से एक देश विदेशों से कच्चा माल, मशीनरी तथा शिल्प ज्ञान मगा कर देश का औद्योगिकरण करने

पाता है (v) <u>विदेशी व्यापार उत्पादन-विधि में सुधार को प्रोत्साहन देता है</u>:—विदेशी व्यापार में प्रत्येक देश के उत्पादकों को अपनी वस्तुओं की उत्पादन-विधि में समय-समय पर सुधार करना पड़ता है क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करें तब वे विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता में असफल रहेंगे। उत्पादन-विधि में सुधार द्वारा प्रत्येक उत्पादक यह प्रयत्न किया करता है कि वह वस्तुओं का उत्पादन कम से कम मूल्य पर कर ले ताकि वह विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला कर सके। इसके अतिरिक्त एक और लाभ यह भी होता है कि विदेशी प्रतियोगिता के कारण देश के उत्पादक एकाधिकार (Monopoly) नहीं बनाने पाते हैं क्योंकि जैसे ही ये सब मिलकर अपनी वस्तु का एकाधिकार मूल्य (Monopoly Price) मांगने लगते हैं, तभी विदेशी व्यापारी इसी वस्तु को सस्ते मूल्य पर बेचने लगते हैं। परिणामतः देशी व्यापारी वस्तुओं का एकाधिकार मूल्य लेने में असफल हो जाते हैं जिससे ये मिलकर देश में एकाधिकार की दशायें भी स्थापित नहीं करने पाते हैं। अतः विदेशी व्यापार उत्पादन-विधि में सुधार को प्रोत्साहन देता है और एकाधिकारों की स्थापना की प्रवृति को नष्ट करके प्रतियोगिता बढ़ाता है जिससे उपभोक्ताओं को वस्तुयें सस्ते मूल्य पर मिल जाती हैं (vi) <u>वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में समानता</u> की प्रवृति स्थापित हो जाती है:—विदेशी व्यापार के कारण संसार भर में लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में समान रहने की प्रवृति पाई जाती है। (vii) <u>विभिन्न देशों में सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं</u>:—विदेशी व्यापार द्वारा विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क स्थापित हो जाता है जिससे इनमें आपस में पारस्परिक सहायता की सद्भावना उत्पन्न हो जाती है और विश्व में राजनैतिक शांति को बढ़ावा मिलता है।

<u>निष्कर्ष</u>—यह स्मरण रहे कि विदेशी व्यापार के उपरलिखित बहुत से लाभ इस कारण समाप्त या अप्रभावी हो जाते हैं क्योंकि राष्ट्रों में आपस में सद्भावना व सहयोग की भावनाओं का अभाव है तथा प्रत्येक देश के विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगे होते हैं।

<u>हानियाँ</u> (Disadvantages):—विदेशी व्यापार की कुछ हानियाँ भी हैं और इनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं:— (i) कच्ची-सामग्री की समाप्ति (Exhaustion of Raw Materials):—प्रत्येक देश में कुछ ऐसी कच्ची-सामग्री अथवा खनिज सम्पत्ति होती है जिसका प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता है। विदेशी व्यापार के कारण जब कोई देश उक्त अल्प मात्रा में प्राप्त खनिज-सम्पत्ति का अधिकाधिक उपयोग करके वस्तुएँ उत्पन्न करता है, तब इसका परिणाम यह होता है कि उक्त सम्पत्ति बहुत ही जल्दी समाप्त भी हो जाती है। चूँकि प्रयोग में आई खनिज-सम्पत्ति को पुन: प्राप्त नहीं किया जा सकता है, इसलिये देश को हानि होती है। उदाहरण के लिये, भारत में मैंगनीज व अबरक एक तरफ तो कम मात्रा में उपलब्ध हैं और दूसरी ओर इनका जल्दी-जल्दी निर्यात किया जा रहा है जिससे इनकी खानें धनैः धनैः समाप्त होती जा रही हैं। यदि इन खनिज-पदार्थों का देश में ही उपयोग किया जाता, तब एक तरफ तो इनका प्रयोग बहुत लाभपूर्ण एवं मितव्ययितापूर्वक हो जाता और दूसरी तरफ देश को इनका मूल्य भी पर्याप्त मिल जाता। अत: विदेशी व्यापार से देश में कुछ ऐसी वस्तुएँ

समाप्त हो जाती हैं जिनको पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता है। (ii) विदेशी व्यापार से देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है (Home Industries are Subjected to Foreign Competition)—इस प्रकार की प्रतियोगिता का परिणाम यह होता है कि विदेशी व्यापार से आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों को लाभ होता है और आर्थिक दृष्टि से कम उन्नत या अनुन्नत देशों को हानि होती है क्योंकि प्रतियोगिता के कारण इन देशों में या तो नये नये उद्योग स्थापित ही नहीं होने पाते और यदि स्थापित भी हो जाते हैं तब ये अच्छी प्रकार जीवित नहीं रहने पाते हैं। भारत में कुटीर-धन्धों के पतन का मुख्य कारण विदेशी व्यापार की प्रतियोगिता ही रही है। (iii) विदेशी व्यापार से देश का एक अंगी विकास होने पाता है जिससे देश में अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं—विदेशी व्यापार का आधार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त है। इसीलिए इस सिद्धान्त के कार्यशील होने के कारण एक देश केवल एक या कुछ ही वस्तुओं की उत्पत्ति करता है जिससे देश का एक अंगी (One Sided) विकास होने पाता है। आर्थिक संकट के समय इस प्रकार के आर्थिक विकास के बड़े भयंकर परिणाम होते हैं। युद्ध काल में तो इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था अत्यधिक दोषपूर्ण होती है क्योंकि जिन वस्तुओं के लिये एक देश दूसरे देशों पर निर्भर रहता है, युद्ध के कारण, वह न तो इन्हें आसानी से विदेशों से प्राप्त करने पाता है और न वह इन्हें स्वयं ही उत्पन्न करने पाता है जिससे इस देश की अर्थ-व्यवस्था के अस्त व्यस्त हो जाने का सदा भय रहता है। देश के एक अंगी विकास का एक और दोष यह भी है कि इससे देश में कुछ साधन बेकार पड़े रहते हैं जिससे राष्ट्र के आर्थिक संकट में फंस जाने का सदा भय रहता है। (iv) विदेशी व्यापार से कभी कभी उपभोक्ताओं की उपभोग की आदतों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है—विदेशी व्यापार के कारण कभी-कभी देश में हानिकारक वस्तुओं की आयात होने लगती है जिससे देशवासी खराब एवं हानिकारक वस्तुओं के उपभोग के अभ्यस्त हो जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में चीन के निवासी अफीम खाने के आदी हो गये थे यद्यपि उस देश में अफीम का उत्पादन नहीं होता है। (v) विदेशी व्यापार से विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्था एक दूसरे पर निर्भर हो जाती है—विदेशी व्यापार होने से एक देश की अर्थ व्यवस्था अन्य दूसरे देशों पर आश्रित हो जाती है। आर्थिक दृष्टि से इस प्रकार की निर्भरता ठीक नहीं है। युद्ध काल में या आर्थिक मन्दी (Depression) के काल में, यदि किसी एक देश की अर्थ व्यवस्था असन्तुलित (Disequilibrium) हो जाती है, तब इसका आर्थिक प्रभाव उन अन्य दूसरे देशों पर भी पड़ता है जिनका इस देश से व्यापारिक सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, १९२९ की मन्दी का प्रभाव विश्व-व्यापी था। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) का जन्म हुआ है। (vi) अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा युद्ध—आरम्भ में विदेशी व्यापार से विभिन्न देशों के बीच सद्भावना तथा एक-दूसरे के लिए सहायता का भाव अवश्य उत्पन्न हुआ था, परन्तु अब तो बाजारों की लड़ाई के कारण उपनिवेश वाद (Colonialism) का जन्म हुआ है तथा विभिन्न राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष व झगड़ों को प्रोत्साहन मिला है। विदेशी व्यापार के कारण

ही आज भी अनेक राष्ट्र गुलामी की जन्जीरों में जकड़े हुये पाये जाते हैं और इनका अत्यधिक राजनैतिक व आर्थिक शोषण हो रहा है। अतः विदेशी व्यापार ही राजनैतिक बेचैनी तथा युद्ध का कारण रहा है और आगे भी रहेगा। (vii) राशिपातन की सम्भावना:—एक देश अपनी वस्तुओं का दूसरे देश में राशिपातन (Dumping) करके अर्थात् वस्तुओं को लागत से भी कम मूल्य पर बेचकर, नए व पुराने उद्योगों को समाप्त करने का प्रयत्न किया करता है। यदि यह देश अपने इस प्रयत्न में सफल हो जाता है, तब वह दूसरे देशों में व्यवसायों के समाप्त हो जाने पर, अपनी वस्तुओं का फिर मनमाहा मूल्य लेकर अत्यधिक लाभ कमाने लगता है। अतः विदेशी व्यापार द्वारा राशिपातन की नीति को कार्यान्वित करके एक देश आयातकर्त्ता देश को बहुत हानि पहुँचाता है। (vii) कभी-कभी विदेशी व्यापार के कारण स्वदेश में वस्तुओं की कमी हो जाती है और नागरिकों का जीवन स्तर गिर जाता है:—यह स्थिति तब ही उत्पन्न होती है जबकि एक देश के व्यापारी, ऊँचे मूल्य पर वस्तुएँ बेच कर लाभ कमाने के लालच से, अत्यधिक वस्तुओं का निर्यात कर देते हैं। (ix) विदेशी व्यापार से खेतिहर देशों को हानि होती है:—यदि विदेशी व्यापार ऐसे देशों के बीच हो रहा है जिनमें से एक खेतिहर (Agricultural) है और दूसरा व्यवसायिक (Industrial) है, तब खेतिहर देश को इस व्यवसायिक देश के कारण हानि होगी क्योंकि खेतिहर देश में कृषि वस्तुओं का उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns) के अन्तर्गत हो रहा है और यह देश इस नियम के अन्तर्गत उत्पन्न वस्तुओं के बदले में व्यवसायिक देश से उन वस्तुओं को मंगाता है जिनका उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत होता है। अतः इन दशाओं में विदेशी व्यापार तथा इसके विकास से खेतिहर देश को हानि और व्यवसायिक देश को लाभ होगा।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार के अनेक लाभ व हानियाँ हैं। यदि विभिन्न राष्ट्र अपनी व्यापारिक नीति राष्ट्रों के बीच सहयोग व सद्भावना तथा मानव कल्याण के आधार पर आधारित करलें, तब विदेशी व्यापार की हानियों में कोई बल नहीं रह जायेगा। फिर भी यह सच है कि विदेशी व्यापार के लाभ इनकी हानियों की अपेक्षा अधिक हैं।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक व्यय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।* (१९६०, १९५६ S, १९५५ S) । २. तुलनात्मक सापेक्ष लागत के सिद्धान्त की विवेचनात्मक टिप्पणी कीजिये। (१९५६ S, १९५८ S, १९५५) । ३. तुलनात्मक सापेक्ष लागत के सिद्धान्त को विवेचना सहित समझाइये और बतलाइये कि वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को कहाँ तक स्पष्ट करता है। (१९५८) । ४. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन आन्तरिक व्यापार से विभिन्न किस आधार पर किया जाता है? समझाकर लिखिए। (१९५७ S) । *5. If International Trade is based on* the principle of territorial divison of labour, it should be complementary. How do you explain the competitive character of Inter-

national Trade ? (1956) 6. Write a note on—Terms of Trade. (1956) 7. Write a note on—Inter-regional trade. (1956) 8. What is the economic basis for inter regional and international trade ? (1955) 9. Discuss the main factors that give rise to a separate theory of International Trade and describe briefly the advantages and disadvantages of foreign trade. (1954)

Rajputana University, B. A. & B Sc

1. Critically discuss the law of comparative costs (तुलनात्मक-व्यय सिद्धान्त) and show how far it is a satisfactory explanation of the international divison of labour (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन) (1959, 1954) 2. Critically discuss the Principle of Comparative Costs (1956)

Rajputana University, B. Com

1 Discuss the advantages and disadvantages of International Trade (1957) 2 "There is no essential difference between domestic and international trade and consequently no place for a special theory regarding international trade. Examine this statement carefully. (1956) 3 Briefly explain the causes of international trade as distinct from domestic trade. What are the advantages of International Trade ? Discuss (1955) 4 Write a note on—Comparative Cost Theory of International Trade. (1954)

Sagar University, B. A.

१. तुलनात्मक परिव्यय सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये। क्या आपके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस सिद्धान्त का प्रतिफल है ? (१९५९)। 2. Distinguish between domestic and international trade and point out the advantages arising from the participation in International Trade. (1958) ३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे तुलनात्मक परिव्यय नियम (Law of Comparative Costs) से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा इस नियम पर क्यों आधारित नहीं होता ? (१९५७)

Jabalpur University, B. A.

१. अन्तर्देशीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भेद बतलाइये। किस सिद्धान्त पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आधारित होता है ? (१९५९) २. तुलनात्मक परिव्यय सिद्धात (Comparative costs principle) की परिभाषा कीजिए और समझाइये। (१९५८)।

Allahabad University, B. A

1. Examine fully the principle of comparative costs as an explanation of international trade. (1958)

Allahabad University, B. Com.

1 Under what conditions, in pure theory, will foreign trade arise between two countries ? What factors will determine which of the two countries will derive the greater advantage from the exchange ?

Aligarh University, B. A.

1. Explain the theory of comparative cost underlying international trade. (1956)

Bihar University, B. A.

1. Critically examine the doctrine of comparative costs. (1958)

Nagpur University, B. A.

१. देशाभ्यंतर व्यापार (Domestic Trade) और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) इनमें जो भेद है, वह सुस्पष्ट कीजिये और अबाध व्यापार (Free Trade) की परिस्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जो लाभ हैं, उनका विवेचन कीजिये। (१९५७)।

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १—(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन आन्तरिक व्यापार से विभिन्न किस आधार पर किया जाता है? समझाकर लिखिये। (Agra B. A. १९५७), (ii) What is the economic basis of inter-regional and international trade? (Agra, 1955), (iii) Discuss the main factors that give rise to a separate theory of International Trade and describe briefly the advantages and disadvantages of foreign trade. (Agra, B. A. 1954 Raj, B. Com. 1955) (iv) Discuss the advantages and disadvantages of International Trade (Raj, B. Com. Sagar, 1957), (v) "There is no essential difference between domestic and international trade and consequently no place for a special theory regarding international trade." Examine this statement carefully. (Raj. B. Com. 1956), (vi) "International Trade is only a special case of the Inter-regional trade" (Ohlin). Discuss, (vii) What are the distinguishing features of International Trade? Do they justify a separate theory of International Trade as contrasted with that of Internal Trade? (Calcutta, B. Com. 1939).

संकेत—उपरोक्त प्रश्नों मे तीन बातें पूँछी गई हैं—आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे क्या भिन्नता है? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये पृथक् से सिद्धान्त की क्यों आवश्यकता पड़ती है? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या लाभ व हानियाँ हैं? प्रथम भाग मे आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्थों को उदाहरण सहित बताइये (आधा पृष्ठ)। द्वितीय भाग में लिखिये कि इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है कि आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ अन्तर है या नही—एक ओर कुछ विद्वान् हैं जो इन में दोनों कोई आधारभूत एव महत्वपूर्ण अन्तर नही मानते और जो कुछ अन्तर है भी उसे ये केवल मात्रा या श्रेणी (Degree) मानकर इसको महत्व नहीं देते इसी लिये ऐसे विद्वानों ने इन दोनों प्रकार के व्यापारो का आधार एक-समान सिद्धान्त माना है और इन्होने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक् से सिद्धान्त की आवश्यकता नही समझी है। इसके विपरीत कुछ विद्वान् हैं जो उक्त दोनो प्रकार के व्यापारों मे जो कुछ भी अन्तर है उसे बहुत महत्व का मानते है इसलिए ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् से सिद्धान्त की आवश्यकता बताते हैं। हमे उक्त दोनो मतो के तर्कों को विस्तार से लिखना चाहिए—प्रथम वर्ग के अर्थशास्त्रियों का मत है कि आजकल सब प्रकार के व्यवसायों का आधार श्रम-विभाजन व कार्यों का विशिष्टीकरण है (विस्तार से समझाइये) कि व्यक्ति या व्यक्ति-समूह या राष्ट्र उन्हीं कार्यो को करते हैं जो उनकी शिक्षा एवं रुचि के अनुकूल होते हैं, जिनके करने के लिए उनके पास कुशल श्रम होता है और तब वस्तुओ की अदल-बदल करके अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त करते हैं और ऐसे व्यापार से लाभ उठाते हैं। जो बात एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह पर

लागू होती है, वही बात राष्ट्रों पर भी लागू होती है (उदाहरण देकर समझाइये)। कोई भी राष्ट्र अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुयें नहीं बनाता है, विशिष्टीकरण के कारण कुछ वस्तुएँ बनाता है और इनका विनिमय (व्यापार) करके लाभ उठाता है। एक देश के अन्दर के उक्त व्यापार को आन्तरिक व्यापार और विभिन्न देशों के बीच के उक्त व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संज्ञा दी जाती है। आविष्कार, शीघ्रगामी यातायात विशिष्टीकरण, उत्पादन-प्रणाली में उन्नति आदि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास होता जा रहा है, राष्ट्रों की आर्थिक निर्भरता बढ़ती जा रही है। इस तरह विस्तार से व्यापारों के स्वरूप को लिखकर निष्कर्ष निकालिये कि उक्त दोनों प्रकार के व्यापारों में कोई मौलिक व आधारभूत भेद नहीं हैं अथवा दोनों व्यापारों के मौलिक सिद्धान्त एक समान हैं—कि दोनों ही श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण के परिणाम हैं—कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन उन्हीं सिद्धान्तों पर होता है जिन पर आन्तरिक व्यापार का संचालन होता है, जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार में मनुष्य उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें उन्हें तुलनात्मक सुविधा होती है, ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। भेद केवल इतना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भिन्न भिन्न राष्ट्रों में और आन्तरिक व्यापार में व्यापार एक ही देश के नागरिकों में किया जाता है। भेद केवल डिग्री (Degree) का है, मौलिक नहीं है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् से सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दूसरे वर्ग के विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन आन्तरिक व्यापार में भिन्न आधारों पर किया जाता है जिसके कारण विदेशी व्यापार के लिये एक पृथक ही सिद्धान्त की आवश्यकता है। ये भेद या भिन्न आधार क्या हैं—(i) देश के अन्दर श्रम और पूँजी की गतिशीलता होती है, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों में यह गतिशीलता या तो बहुत कम होती है अथवा इसका अभाव होता है, (ii) राष्ट्र में उत्पादन की स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में एक-समान होती है, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों में इस स्थिति में भिन्नता पाई जाती है (iii) देश के अन्दर वस्तुओं की आवाजाही पर कोई रोक टोक नहीं होती, परन्तु राष्ट्रों में आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध होते हैं, (iv) देश के अन्दर प्राकृतिक साधनों व भौगोलिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों में इसमें बहुत महत्वपूर्ण अन्तर होता है, (v) किसी एक राष्ट्र में मुद्रा-प्रणाली एक-समान होती है परन्तु राष्ट्रों में इसमें भी भिन्नता हो जाती है। (इन सबको विस्तार से उदाहरण सहित समझाइये)। इन मौलिक भेदों के कारण आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें भिन्न-भिन्न हो जाती हैं जिससे एक ही वस्तु का उत्पादन व्यय भिन्न भिन्न राष्ट्रों में पृथक् पृथक् हो जाता है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। निष्कर्ष निकालिये कि यद्यपि उक्त दोनों व्यापारों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है और यदि भेद हैं तब मौलिक नहीं वरन् मात्रा एवं श्रेणी (Degree) के हैं, तथापि ये भेद इतने महत्वपूर्ण हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् से सिद्धान्त की आवश्यकता है (पाँच छः पृष्ठ)। तृतीय भाग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ लिखिये, जैसे—प्रादेशिक श्रम-विभाजन का लाभ, सस्ती वस्तुओं की उपलब्धि, आर्थिक संकट के समय

सहायता, कच्चे-माल की उपलब्धि, उत्पादन-विधि में सुधार, वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों में समानता की प्रवृत्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना (प्रत्येक को विस्तार से लिखिये)। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनेक हानियाँ भी है, जैसे—कच्ची-सामग्री की समाप्ति, स्वदेशी उद्योगों को हानि, देश का एक-अंगी विकास, उपभोक्ताओं पर बुरा प्रभाव, राष्ट्रों की आर्थिक निर्भरता, अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष व युद्ध की सम्भावना, खेतिहर देशों को हानि, स्वदेश में वस्तुओं के अभाव की सम्भावना आदि (तीन-चार पृष्ठ)।

प्रश्न २:—(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक व्यय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये (Agra B. A. १९६०,१९५६ १९५५; Jabb. B. A. १९५९, १९५८; Allahabad B. A. १९५८ Bihar B. A., १९५८ (Aligrah B. A. १९५६)। (ii) और बताइये कि वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को कहाँ तक स्पष्ट करता है (Agra B. A. १९५८), (iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा इस नियम पर क्यों आधारित नहीं होता ? Sagar B.A. १९५७), (iv) "The principle of Comparative Costs gives a fundamental explanation of why International Trade takes place ? (Agra, B. A. 1950), (v) Does it hold good in modern times ? (Agra B. A. *1946*)

संकेत.—उक्त प्रश्नों में चार बातें पूँछी गई है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत-व्यय सिद्धान्त क्या है ? यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को कहाँ तक स्पष्ट करता है ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा इस नियम पर आधारित क्यों नहीं होता प्रथम भाग में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये (विद्यार्थियों को सिद्धान्त की व्याख्या बड़ी सतर्कता से करनी चाहिये ताकि अनावश्यक सामग्री नहीं लिखी जाय) इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व प्रथम रिकार्डो ने किया और तत्पश्चात् मिल आदि लेखकों ने इसमें महत्वपूर्ण संशोधन किये (इन्हे लिखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम सिद्धान्त के वर्तमान स्वरूप की ही व्याख्या करेंगे)। यह सिद्धान्त विभिन्न देशों पर श्रम-विभाजन नियम को लागू करना मात्र है—कि जिस प्रकार एक व्यक्ति कितने ही प्रकार के कार्य कर सकता है, परन्तु वह उस कार्य के करने में विशेषीकरण प्राप्त करता है जिसके करने के लिये उसमे विशेष योग्यता, कुशलता होती है और इस प्रकार विशिष्टीकरण व श्रम-विभाजन के समस्त लाभ प्राप्त करता है (डाक्टर या प्रोफेसर के जीवन-क्रम से उदाहरण दीजिये) ठीक इसी प्रकार एक देश यद्यपि अनेक वस्तुयें, दूसरे देशों की तुलना में, सस्ती व अच्छी उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह उन्ही वस्तुओं [redacted] उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जो तुलना में वह अधिक सस्ती उत्पन्न करता है, इन वस्तुओं का निर्यात करके वह दूसरे देशों से अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुयें मँगाता है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार [redacted] अधिकतम लाभ प्राप्त करता है। जिस प्रकार व्यक्ति जिन कामों को वह कर सकता है उन सबकी लागतो व आयों की तुलना करके उनमें से केवल उसी काम को चुनता है जो उसके लिए अधिक लाभप्रद होता है ठीक इसी प्रकार विभिन्न राष्ट्र विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की लागत की तुलना करके केवल उस वस्तु के तुलना उत्पादन को चुनते हैं अथवा इसके उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करते हैं जिसको वे मे अधिक सस्ती उत्पन्न कर सकते हैं। यह सम्भव है कि राष्ट्र को ऐसी वस्तु की आयात

करनी पड़े जिसका उत्पादन वह देश उस देश की अपेक्षा जहाँ से वस्तु मँगाई जा रही है, कहीं अधिक सस्ती उत्पन्न कर सके। परन्तु आयातकर्ता देश इस बात की पर्वाह नही करेगा क्योंकि जिस वस्तु के उत्पादन को उसने चुना है उससे उसको इतनी अधिक आय होगी कि अमुक वस्तु को आयात करने से होने वाली हानि की न केवल अत्यधिक पूर्णतया पूर्ति हो जायगी वरन् इसके अतिरिक्त उसे एक बड़ी मात्रा में लाभ मिलेगा। उदाहरणार्थ इगलैंड बहुत बढ़िया दुग्ध पदार्थों (Dairy Products) को उत्पन्न कर सकता है परन्तु वह इन्हें डेनमार्क से मगाता है और स्वय अपनी श्रम व पूँजी की इकाइयों को मशीनों आदि की उत्पत्ति मे लगाता है क्योंकि इस तरह तुलना मे उसे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक मात्रा मे प्राप्त होता है। अत तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त बताता है कि प्रत्येक देश की प्रवृत्ति उन पदार्थों के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने की होती है जिनमे इसको अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है और उन वस्तुओ को बाहर से मगाने की होती है जिनके उत्पादन करने में इसको अपेक्षाकृत अधिक हानि उठानी पड़ती है। इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार वस्तुओं की लागत में तुलनात्मक अन्तर है। यहाँ सक्षेप मे चार-छ वाक्यों में उन बातों को बताइये जिनकी वजह से दो देशो मे किसी वस्तु के उत्पादन की लागत मे अन्तर पाया जाता है जैसे श्रम व पूँजी की अगतिशीलता, प्राकृतिक साधनो की उपलब्धि, उत्पादन की स्थिति, राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियों मे भिन्नता आदि (इन्हें केवल एक एक या दो-दो वाक्यों मे समझाइये)। इन सब कारणो से विभिन्न देशो में किसी एक या अधिक वस्तुओं की उत्पत्ति की लागत मे अन्तर होता है, जिससे प्रादेशिक श्रम विभाजन का जन्म होता है। फलत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तुलनात्मक लागतो मे अन्तर तथा प्रादेशिक श्रम-विभाजन है (तीन चार पृष्ठ)। द्वितीय भाग में सिद्धान्त का एक गणितीय उदाहरण दीजिये और इसके आधार पर स्पष्ट कीजिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार लागतों का तुलनात्मक अन्तर है (यह स्मरण रहे कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस स्थिति में भी उत्पन्न होता है जबकि लागतो मे निर्पेक्ष अन्तर होता है, तथापि चूँकि प्रश्न में लागतो का तुलनात्मक सिद्धात पूँछा गया है, इसलिये उत्तर में यह लिखना अनावश्यक है कि लागतो मे निर्पेक्ष अन्तर होने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस प्रकार उत्पन्न होता है) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। तृतीय भाग मे यह बताइये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा उक्त सिद्धान्त पर आधारित क्यों नही होता? इसका कारण यह है कि उक्त सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति का द्योतक है और यह पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ म ही क्रियाशील होता है (जब एक देश से दूसरे देश को श्रम, पूंजी तथा वस्तुयें पूर्णतया गतिशील होती हैं अथवा राष्ट्र स्वतन्त्र व्यवसाय के सिद्धान्त का पालन करते हैं) परन्तु आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर विभिन्न राष्ट्रों की राजनैतिक व आर्थिक दशाओ का प्रभाव पड़ता है, राष्ट्रो मे अबाधित व्यापार का अन्त हो चुका है, प्रत्येक राष्ट्र सुरक्षा की दृष्टि से स्वावलम्बी बनना चाहता है इसलिये प्रत्येक राष्ट्र ने प्रत्येक वस्तु को कम अधिक मात्रा में उत्पन्न करने की नीति अपना ली है जिससे उक्त सिद्धान्त के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के होने में बाधायें पड़ने लगी हैं। इसके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन, विनिमय-दर में उच्चावचन,

आयात-निर्यात कर कोटा व लाईसेंस प्रणाली आदि भी इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर लागू होने से रोकते हैं (एक पृष्ठ)।

प्रश्न ३:—(i) उन परिस्थितियों को बताइये जिनमें दो देशों के बीच विदेशी व्यापार हो सकता है। (ii) **Under what conditions, in pure theory, will foreign trade arise between two countries? What factors will determine which of the two countries will derive the greater advantage from the exchange? (Allahabad, B Com. 1956).**

संकेत:—उक्त प्रश्नों के उत्तर को बड़ी सतर्कता से लिखना चाहिए क्योंकि उत्तर काफी बड़ा हो जाने की सम्भावना है। यह स्मरण रहे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो स्थितियों में उत्पन्न होता है—प्रथम, लागतों में तुलनात्मक अन्तर तथा द्वितीय, लागतों में निर्पेक्ष अन्तर। इसलिये उत्तर के आरम्भ में आन्तरिक व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ बताकर, उन कारणों को संक्षेप में बताइये जिनकी वजह से लागतों में अन्तर होता है (जैसे श्रम और पूंजी की अगतिशीलता आदि)। फिर यह बताइये कि लागतों के अन्तर की तीन परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है—(अ) लागतों में समान अन्तर, (आ) लागतों में निर्पेक्ष अन्तर तथा (इ) लागतों में तुलनात्मक अन्तर। प्रथम स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न नहीं होता है (इसे विस्तार से व उदाहरण सहित लिखने की आवश्यकता नहीं है) परन्तु चूंकि अन्तिम दोनों परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है, इसलिये तुलनात्मक सिद्धान्त की व्याख्यात्मक विवेचना करके इन दोनों परिस्थितियों के उदाहरण देकर यह स्पष्ट कीजिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उक्त दोनों परिस्थितियों में उत्पन्न होता है (चार पांच पृष्ठ)। द्वितीय भाग में बताइये कि वे कौन-कौन सी बातें हैं जो दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा निश्चित करती हैं, जैसे—(i) वस्तुओं की लागत के अनुपातों में अन्तर, (ii) व्यापार की शर्तें अथवा वस्तुओं की मांग व पूर्ति की लोच (उदाहरण सहित विस्तार से स्पष्ट कीजिये) (दो-ढाई पृष्ठ)।

प्रश्न ४—क्या आप तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को एक ही देश के प्रदेशों के बीच होने वाले व्यापार पर लागू कर सकते हैं? (Delhi, १९५३)।

संकेत:—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त किसी राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों में होने वाले व्यापार पर भी लागू हो सकता है, यदि श्रम, पूंजी तथा अन्य उत्पादन के साधन एक ही देश में विभिन्न प्रदेशों में निर्बाध रूप से गतिशील नहीं हों। इस स्थिति में ये प्रदेश वैसे ही हो जायेंगे जैसे दो स्वतन्त्र राष्ट्र।

प्रश्न ५:—प्रत्येक देश किसी एक ही वस्तु के उत्पादन पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित क्यों नहीं कर देता और अन्य सब वस्तुयें क्यों विनिमय द्वारा प्राप्त नहीं कर लेता? (Calcutta, १९३९)।

संकेत:—इसके दो मुख्य कारण हैं—(i) एक सीमा के बाद किसी वस्तु का उत्पादन अलाभप्रद हो जाता है, विशेषतया जबकि उत्पत्ति-ह्रास-नियम क्रियाशील होने लगता है। इस स्थिति में अधिक उत्पादन बढ़ती हुई लागत पर होता है जिससे उत्पादक (या राष्ट्र) अन्य राष्ट्रों से प्रतियोगिता नहीं करने पाता है। फलतः ऐसे राष्ट्र को अन्य वस्तुओं का

उत्पादन प्रारम्भ करना पड़ता है। (ii) प्रत्येक राष्ट्र वस्तु का उत्पादन केवल अर्थशास्त्रीय नियमो अथवा श्रम विभाजन के नियम के आधार पर ही नही करता है—उत्पादन की नीति पर देश प्रेम सुरक्षा, देश का सतुलित विकास, राष्ट्रीयता आदि का प्रभाव पड़ता है। फलत निर्पेक्ष या तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को त्यागकर उत्पादन में विविधता लाई जाती है।

प्रश्न ६ —अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ के स्वरूप तथा उद्गम को बताइये। किन अवस्थाओं मे कोई देश अपने सम्भाव्य लाभ को पूर्णतया प्राप्त करता है? (Bombay, १९५३)।

सकेत —*समस्त व्यापार मे, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी सम्मिलित है,* प्राप्त होने वाला लाभ श्रम विभाजन के लाभों से ही उत्पन्न होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ उस देश को मिलता है जो एक ऐसी वस्तु या वस्तुओ के उत्पादन व निर्यात में विशिष्टता प्राप्त करे जिन्हें वह तुलना में कम लागत पर उत्पन्न कर सके और आयात ऐसी वस्तु या वस्तुओं का करे जिनके उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत अधिक हानि हो। लाभ की मात्रा को दर्शाने वाला एक उदाहरण दीजिये। एक देश अपने सम्भाव्य (Potential) लाभ को पूर्णतया उस समय प्राप्त करेगा जबकि उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बिना किसी रोक-टोक [redacted] होता हो, आयात निर्यात कर नहीं हों, लाईसेंस या कोटा-प्रणाली का प्रयोग नहीं होता हो अथवा किसी प्रकार की भी कानूनी निषधता नहीं हो।

अध्याय १८

भुगतान का संतुलन*

(Balance of Payments)

परिभाषायें (Definitions)

व्यापार का सतुलन और भुगतान का सन्तुलन का अर्थ (Meaning of Balance of Trade and Balance of Payment) —व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन से पूर्णतया भिन्न है। (क) व्यापार-सतुलन— जब एक देश किसी दूसरे देश से वस्तुओं की आयात या निर्यात करता है, तब इन दोनो म से किसी एक देश में वस्तुओं की आयात इनकी निर्यात से कभी अधिक और कभी कम हो सकती है। व्यापार सतुलन इस प्रकार के व्यापार के भुगतान के अन्तर को ही सकेत करता है। यदि आयात वस्तुओं की निर्यात से अधिक हैं, तब इसे प्रतिकूल या ऋणात्मक व्यापार का सन्तुलन (Unfavourable or Negative Balance of Trade) और यदि निर्यात वस्तुओ की आयात

* भारत म "व्यापार का सतुलन" तथा 'भुगतान का सन्तुलन" के सम्बन्ध में "विदेशी व्यापार" नामक अध्याय में लिखा गया है।

से अधिक है, तब इसे अनुकूल या धनात्मक व्यापार का संतुलन (Favourable or Positive Balance of Trade) कहते हैं। (ख) भुगतान संतुलन:—विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं की आयात-निर्यात के अतिरिक्त अन्य कितने ही प्रकार के लेन-देन भी होते हैं। भुगतान-संतुलन व्यापारिक-सन्तुलन के अतिरिक्त बीमा, जहाजी किराया, बैंक-शुल्क, पूँजी हस्तांतरण सम्बन्धी भुगतान ब्याज, राजनैतिक शुल्क तथा अन्य सेवाओं के पुरस्कार को अपने में सम्मिलित करता है। यह स्मरण रहे कि वस्तुओं की आयात-निर्यात को प्रत्यक्ष व्यापार (Visible Trade) कहते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष व्यापार (Invisible Trade) से हमारा अभिप्राय उस व्यय तथा आय से है जो एक देश को जहाजी-किराया, बीमा, बैंक-शुल्क तथा अन्य पुरस्कार के रूप में प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, जब वस्तुयें व निधि (Treasure) किसी देश के बाहर ले जाई जाती है या बाहर से देश में लाई जाती हैं, तब इनका बन्दरगाहों पर लेख (Entered in the records at the Ports) कर लिया जाता है जिससे ऐसी मदों को हम विदेशी व्यापार की दृश्य मदें (Visible Items of the Foreign Trade) कहते हैं। परन्तु जब विभिन्न राष्ट्रों के बीच सेवाओं की आयात निर्यात होती है, तब इनका बन्दरगाहों पर लेखा नहीं होता है जिससे ऐसी मदों को हम विदेशी व्यापार की अदृश्य मदें (Invisible Items of Foreign Trade) कहते हैं। अतः जबकि व्यापार-संतुलन में केवल विदेशी व्यापार की दृश्य मदों की गणना होती है, तब भुगतान-सन्तुलन में दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों की गणना होती है। इस तरह भुगतान सन्तुलन की गणना करने में समस्त विकलन (Debits) तथा समस्त समाकलन (Credits) सम्मिलित किये जाते हैं। इस प्रकार के सन्तुलन को खाते का संतुलन (Balance of Accounts) तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का सन्तुलन (Balance of International Indebtedness) भी कहते हैं। व्यापार के अनुकूल या प्रतिकूल अन्तर की तरह भुगतान का भी अनुकूल या प्रतिकूल अन्तर होता है।

<u>व्यापार का संतुलन और भुगतान के संतुलन का सापेक्षिक महत्व</u> (Relative Importance of Balance of Trade and Balance of Payments)—व्यापार के संतुलन की अपेक्षा भुगतान का संतुलन अधिक महत्वपूर्ण होता है। प्रथम दूसरे संतुलन का एक भाग होता है। किसी देश के व्यापार का संतुलन अनुकूल या प्रतिकूल रह सकता है और वास्तव में ऐसा ही रहता भी है, परन्तु भुगतान का अन्ततः संतुलन अवश्य करना होगा। यदि किसी देश का निरन्तर प्रतिकूल भुगतान का सतुलन (Unfavourable Balance of Payment) रहता है, तब इसका यह अर्थ है कि उस देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही है। बहुधा व्यापार का अनुकूल सतुलन देश हित में माना जाता है। अट्ठारहवी शताब्दी में मरकैंटिलिस्ट (Mercantilists) भी इस मत के थे क्योंकि अनुकूल व्यापारिक संतुलन होने से देश में सोने की आयात होती थी। परन्तु आजकल यह मत भ्रमपूर्ण (Fallacious) माना जाता है। अनुकूल व्यापारिक संतुलन सदा देश की आर्थिक उन्नति का चिन्ह नहीं होता है। कुछ देश ऐसे हैं जिनका यद्यपि व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल होता है परन्तु आर्थिक दृष्टि से वे उन्नत पाये जाते हैं। इसका कारण

स्पष्ट है। ऐसे देश विदेशों में विभिन्न प्रकार की सेवा या पूँजी के विनियोग पर सूद व लाभ द्वारा आय कमाते हैं जिससे वे न केवल अपनी आयात का ही भुगतान कर देते हैं बल्कि दूसरे देशों को पहले से अधिक मात्रा मे पूँजी उधार दे देते हैं, जिससे ये देश प्राय ऐसी अवस्था में हो जाते हैं कि ये पहले से अधिक मात्रा मे वस्तुओं की आयात करके देशवासियों की अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। परिणामत इनकी आर्थिक दशा और भी अच्छी हो जाती है। दूसरे महायुद्ध से पहले प्राय भारत का अनुकूल और इगलैंड का प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन रहता था, परन्तु वास्तव मे इगलैंड भारत की तुलना में कहीं अधिक उन्नत व समृद्धिशाली था। इसका क्या कारण है ? इगलैंड ससार भर से अपनी सेवाओ व पूँजी से आमदनी प्राप्त करता था। भारत भी इगलैंड को उसकी विभिन्न प्रकार की सेवाओं तथा विनियोजित पूँजी का सूद दिया करता था। भारत द्वारा इस रकम का भुगतान आयात से अधिक वस्तुओं का निर्यात करके किया जाता था जिससे व्यापारिक सतुलन तो भारत के अनुकूल, परन्तु भुगतान का सतुलन प्रतिकूल रहता था। परतु इस बात की जानकारी करना कि आयात-निर्यात की क्या क्या वस्तुएँ हैं और भी अधिक महत्वपूर्ण है। भारतवर्ष से प्राय कच्चा माल इगलैंड को जाता था और वहाँ से निर्मित (Manufactured) वस्तुओं की आयात होती थी। इससे भी स्पष्ट है कि भारत की इगलैंड की अपेक्षा आर्थिक दशा बहुत पिछड़ी हुई थी। अत किसी देश के व्यापारिक सतुलन की तुलना में उसके भुगतान के सतुलन का ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है।

भुगतान-सतुलन की मदें
(Items Entering Balance of Payments)

प्रारम्भिक — भुगतान के सतुलन की गणना म समस्त विकलन (Debits) तथा समस्त समाकलन (Credits) सम्मिलित किये जाते हैं। इसी लिये इस प्रकार की गणना करने में बही-खाते के पृष्ठ की तरह एक विवरण (Statement) तैयार किया जाता है जिसमें बाईं ओर तमाम निर्यातों (दृश्य और अदृश्य दोनों ही प्रकार की निर्यात) और इनके मूल्य का विस्तारपूर्वक विवरण दिया जाता है और दाहिनी ओर तमाम आयातो (दृश्य और अदृश्य दोनों ही प्रकार की आयातों) तथा इनके मूल्य का विस्तारपूर्वक विवरण दिया जाता है। इस तरह बाईं ओर के विवरण के मूल्य का योग वह राशि है जो अमुक देश को विदेशियों से प्राप्त होती है और दाहिनी ओर के विवरण के मूल्य का योग वह राशि है जिसे अमुक देश विदेशियों को देता है। यह स्पष्ट है कि अमुक बाईं ओर की राशि और दाहिनी ओर की राशि के अन्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि भुगतान का सतुलन अमुक देश के अनुकूल है या प्रतिकूल है। इस प्रकार के विवरण (Statement) का एक नमूना अगले पृष्ठ पर दिया गया है।

अब हम भुगतान के सतुलन मे सम्मिलित होने वाली उक्त मदों का विस्तार से अध्ययन करते हैं —

(१) वस्तुओं की निर्यात आयात (Exports and Imports of Goods) — किसी देश से कितनी वस्तुयें व निधि (सोना व चाँदी) विदेशों को भेजी और मगवाई गई हैं

भुगतान के सन्तुलन का एक विवरण
(Statement Showing Balance of Payments Position)

लेन या निर्यातें (दृश्य और अदृश्य)	रु०-पैसे	देन या आयातें (दृश्य और अदृश्य)	रु०-पैसे
(१) वस्तुओं की निर्यात	...	(१) वस्तुओं की आयात	...
(२) सेवाओं की निर्यात से विदेशों से प्राप्त आमदनी		(२) सेवाओं की आयात का विदेशों को भुगतान	...
(क) व्यापारिक कम्पनियों द्वारा की गई सेवायें	...	(क) व्यापारिक कम्पनियों द्वारा की गई सेवायें	...
(ख) विशेषज्ञों की सेवायें	...	(ख) विशेषज्ञों की सेवायें	...
(ग) शिक्षा व यात्रियों की सेवायें	...	(ग) शिक्षा व यात्रियों की सेवायें	...
(३) विदेशी ऋण व पूँजी से प्राप्त आय—मूलधन व ब्याज व लाभ	...	(३) विदेशी ऋण व पूँजी का भुगतान—मूलधन, ब्याज व लाभ	...
(४) विदेशी सरकारों द्वारा देश में व्यय	...	(४) सरकार का विदेशों में व्यय	...
(५) जन-संख्या के आवास से प्राप्त होने वाला धन	...	(५) जन-संख्या के प्रवास के कारण विदेशों को जाने वाला धन	...
(६) विदेशियों से प्राप्त दंड, दान, मुआवजा व युद्ध-व्यय आदि	...	(६) विदेशों को दिया गया दंड, दान, मुआवजा व युद्ध-व्यय आदि	...
योग		योग	

उनका किसी देश के भुगतान के सन्तुलन पर प्रभाव पड़ता है। अतः किसी देश के व्यापार-सन्तुलन या दृश्य आयात-निर्यात से वहाँ का भुगतान का सन्तुलन प्रभावित होता है जिससे हम व्यापार-सन्तुलन को भुगतान-सन्तुलन में सम्मिलित होने वाला एक महत्वपूर्ण मद मानते हैं।

(२) सेवायें (Services):—कुछ देश अन्य दूसरे देशों को वस्तुओं को भेजने के अतिरिक्त उनकी अनेक प्रकार से सेवायें भी करते हैं जिनके बदले में उन्हें मूल्य मिलता है। इस प्रकार की सेवायें अदृश्य (अप्रत्यक्ष) आयात-निर्यात के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। ये सेवायें भी कई प्रकार की होती हैं:—(i) व्यापारिक कम्पनियों द्वारा सेवायें*:—किसी देश के बैंक, बीमा कम्पनियाँ, समुद्री व हवाई जहाजी कम्पनियाँ

*These services are of various kinds e g. (1) Transport Services—Shipping Freights, Harbour and Canal dues, Passenger Fares (2) Commercial Services—Postal Telephone, Telegraph Fees, Dues and Commissions, (3) Financial Services—Broker's Charges, (4) Tourist Services—Fees and Commissions charged from the Tourists.

जब अन्य दूसरे देशों में व्यापार करती हैं या उस देश के निवासियों की सेवा करती हैं, तब इनको इस श्रम के बदले में शुल्क या कमीशन मिलता है। जो देश इस प्रकार की सेवाएं करता है, उसके लिये यह अदृश्य निर्यात (Invisible Exports) और जो देश इन सेवाओं को प्राप्त करता है, उसके लिये यह अदृश्य आयात (Invisible Imports) होता है। (ii) विशेषज्ञों की सेवायें —कभी-कभी एक देश विशेषज्ञों, अध्यापकों, इन्जीनियरों, सैनिकों तथा चिकित्सकों आदि को दूसरे देशों से बुलवाता है। ये सब अपने वेतन की बचत को अपने निजी देशों को भेजते हैं। जिस देश से ये व्यक्ति विदेशों को गए हैं, उसके लिये इनकी सेवाएं अदृश्य निर्यात हुईं और जिस देश में ये काम करते हैं उसके लिए यह अदृश्य आयात हुईं। (iii) शिक्षा व यात्रा की सेवायें — इंगलैंड व अमेरिका जैसे प्रगतिशील देशों में संसार के विभिन्न देशों से विद्यार्थी अध्ययन की दृष्टि से आते हैं या कुछ व्यक्ति घूमने-फिरने तथा नये-नये अनुभव प्राप्त करने के लिये जाते हैं। जिस देश का युवक व यात्री जाता है, उस देश के लिये यह अदृश्य आयात (Invisible Imports) और जिस देश को ये जाते हैं, उसके लिये यह अदृश्य निर्यात (Invisible Exports) के समान हैं। द्वितीय महायुद्ध से पहले भारतवर्ष प्रत्येक वर्ष इंगलैंड को अंग्रेजी सिपाहियों व अफसरों की तनख्वाह, भत्ता, पेंशन, छुट्टी तथा अवकाश का वेतन, बैंक व जहाजी कम्पनियों द्वारा की गई सेवाओं का शुल्क व कमीशन तथा इंगलैंड में पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थियों तथा घूमने फिरने वालों के लिये खर्च बहुत बड़ी मात्रा में भेजा करता था जिसके कारण उस समय अनुकूल व्यापार का अन्तर प्रतिकूल भुगतान के सन्तुलन में परिणत हो जाता था। अतः सेवाओं की आयात निर्यात भी भुगतान के संतुलन की एक महत्वपूर्ण मद है।

(३) ऋण, पूंजी व सूद का लेन-देन (Debts, Capital and Interest Transactions) –(i) कभी-कभी एक देश दूसरे देश को ऋण देता है। यह दीर्घ और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार का हो सकता है। जिस समय इस ऋण की रकम एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती है, तब ऋणदाता (Creditor) देश के लिए यह अदृश्य आयात और ऋणी (Debtor) देश के लिये यह अदृश्य निर्यात के समान होता है। (ii) जब इस ऋण या इसके सूद के भुगतान का समय आता है, तब इस मूलधन या सूद की रकम को देने वाला देश ऋणदाता (Creditor) देश और इसको प्राप्त करने वाला देश ऋणी (Debtor) देश के समान हो जाता है। (iii) कभी कभी विदेशों को पूंजी (Capital) वहां पर सूद की ऊंची दर या शेयर्स में अच्छा लाभ होने की आशा से भी भेजी जाती है। यह पूंजी प्रायः विदेशों से हिस्से (Shares) खरीदने व बैंकों में रकम जमा करने या इन्हें उधार देने या इसे अन्य किसी व्यापार व धन्धों में लगाने के लिये भेजी जाती है। यह *विनियोग (Investment) भी दीर्घ या अल्पकालीन* हो सकता है। यहां पर भी जिस देश से विदेशों को पूंजी जाती है, वह ऋणदाता (Creditor) देश और जिस देश में इस पूंजी का विनियोग होता है, वह ऋणी (Debtor) देश के समान हो जाता है। ऋणदाता देश के लिये इस प्रकार की पूंजी का भेजना अदृश्य आयात और ऋणी देश के लिये यह अदृश्य निर्यात के समान होता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध से पहले

भारतवर्ष इंगलैंड को उसकी भारतीय नहरों व रेलों में लगी पूंजी पर एक बहुत बड़ी रकम ब्याज के रूप में भेजता था जिसका भारतीय भुगतान के सन्तुलन पर बहुत प्रभाव पड़ा करता था। अतः विभिन्न राष्ट्रों के बीच ऋण व पूंजी और इसके सूद के भुगतान से उनकी भुगतान-सन्तुलन की स्थिति प्रभावित होती है जिससे ये भी इस सन्तुलन के महत्त्वपूर्ण मद हैं।

(४) सरकारों का व्यय (Governmental Expenses):—प्रत्येक देश की सरकार दूसरे देश में अपने दूतावास (Embassies) पर काफी भारी रकम व्यय करती है। युद्धोपरान्त विजेता देश हारे हुए देश से अपनी क्षति-पूर्ति (Reparations) लेता है। अतः कभी-कभी सरकार द्वारा भी एक भारी रकम का विदेशी सरकार से लेन-देन होता है। इस स्थिति में जो देश ऋणदाता (Creditor) होता है उसके लिए यह रकम अदृश्य आयात और जो देश ऋणी होता है उसके लिये यह रकम अदृश्य निर्यात के समान होती है। अतः एक-दूसरे देश में सरकारों की ओर से होने वाले व्यय से भी भुगतान के सन्तुलन की स्थिति प्रभावित होती है जिससे इस प्रकार का व्यय भी भुगतान के सन्तुलन का एक आवश्यक मद बन जाता है।

(५) जन-संख्या का आवास-प्रवास (Emigration):—जब एक देश के रहने वाले दूसरे देश में स्थायी रूप से जाकर बसते हैं, तब ये अपने साथ अपना धन व जमा राशि भी ले जाते हैं। इस स्थिति में जिस देश से मनुष्यों का प्रवास हो रहा है या जिस देश से धन इस प्रवास के कारण विदेशों को जा रहा है, उसके लिये यह अदृश्य आयात (Invisible-Imports) के समान है और जिस देश को व्यक्ति जा रहे हैं या जिस देश को धन जा रहा है उस देश के लिये यह रकम अदृश्य निर्यात के समान है। अतः जन-संख्या के आवास-प्रवास से भी भुगतान-सन्तुलन की स्थिति प्रभावित होती है जिससे यह भी भुगतान-सन्तुलन का एक प्रभावी मद माना जाता है।

(६) विदेशों से प्राप्त दण्ड, मुआवजा, युद्ध-व्यय-चन्दा व दान आदि:—कभी-कभी एक देश को दूसरे देश से दण्ड, मुआवजा, युद्ध-व्यय-चन्दा या दान के रूप में भी कुछ राशि प्राप्त होती है जिससे इन देशों का भुगतान-सन्तुलन प्रभावित होता है। अतः इन सबको भी हम भुगतान सन्तुलन में सम्मिलित होने वाले मद मानते हैं।

भुगतान के सन्तुलन में असमता तथा इसका सुधार
(Disequilibrium In Balance of Payments and its Correction)

भुगतान के सन्तुलन में असमता के क्या कारण हैं? (What are the causes of the Disequilibrium in the Balance of Payments ?):—अभी हमने उन मदों का विस्तार से अध्ययन किया है जो किसी देश के भुगतान के सन्तुलन के विवरण में सम्मिलित किये जाते हैं। इन मदों में से कोई भी एक या अधिक मद इस खाते के सन्तुलन (Balance of Accounts) को किसी एक ओर ले जाकर इसमें असमता (Disequilibrium) उत्पन्न कर सकते हैं। यदि किसी एक देश में कम वस्तुएं उत्पन्न होने लगी हैं या इनका उत्पादन-व्यय बढ़ गया है या इस देश की विदेशी विनिमय-दर

बढ़ गई है या विदेशियों की क्रय शक्ति कम हो गई है या किन्ही कारणों से इस देश की निर्यात कम हो गई तथा यद्यपि वस्तुओं का आयात पूर्ववत् ही है, तब भुगतान के सतुलन में असमता उत्पन्न हो जायगी। इसके अतिरिक्त इस असन्तुलन पर अदृश्य आयात निर्यात का भी बहुत प्रभाव पड़ा करता है।

भुगतान के सतुलन की असमता को सुधारने की विधिया (Methods for the correction of Disequilibrium in the Balance of Payment)—स्वर्ण मान मे तो भुगतान के सन्तुलन की असमता तो स्वत स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा ठीक हो जाती थी। परन्तु वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो में यह असमता स्वत ठीक नहीं हो पाती है। जब किसी देश के भुगतान सन्तुलन में बहुत समय तक और बहुत बड़ी मात्रा में असमता रहती है, तब यह देश अपनी अर्थ व्यवस्था को दृढ रखने के लिए, इस दशा को सुधारने का प्रयत्न करेगा। यह देश निम्नलिखित में से एक या अधिक विधियों का प्रयोग करके इस असमता को दूर करने का प्रयत्न करेगा।

(१) *निर्यात प्रोत्साहित करना और आयात कम करना* (Encourage Exports and Restrict Imports)—भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूल अवस्था को ठीक करने का प्रथम महत्वपूर्ण तरीका व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता को ठीक करना है। व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता (Unfavourable Balance of Trade) निर्यात को प्रोत्साहित और आयात को हतोत्साहित करके ठीक की जा सकती है। किसी देश में आयात निम्नलिखित कई तरीकों में से किसी एक या अधिक विधियो को अपनाकर हतोत्साहित की जा सकती है। ये मुख्य-मुख्य विधिया इस प्रकार हैं —(i) आयात कर लगाना या इसमें *वृद्धि करना (Impose Import Duties or to increase Import Duties)*—इस प्रकार का कर लगाने से देश की आयातें बहुत महगी हो जायेंगी जिससे आयात की वस्तुओं की माग देश में बहुत कम हो जायेगी। परिणामत आयात स्वय कम हो जाएगी (ii) आयात कोटा प्रणाली (Import Quota System) इस प्रणाली के भी कई रूप हैं —(क) लाइसेंस कोटा प्रणाली (Licensing Quota System)—इस प्रणाली में सरकार वस्तुओं को आयात करने का लाइसेंस कुछ गिने चुने व्यापारियों को ही देती है। ये व्यापारी भी केवल वही वस्तुयें तथा उनकी वही मात्रा मगा सकते हैं जैसा कि *देश की सरकार ने देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की है।* कभी-कभी इस प्रणाली को लाइसेंसिंग प्रणाली (Licensing System) भी कहते हैं। (ख) एक पक्षीय कोटा प्रणाली (Unilateral Quota System)—आयात कोटा प्रणाली का दूसरा रूप एक-पक्षीय प्रणाली है। इस प्रणाली मे केवल एक देश अपनी आयात पर प्रतिबन्ध लगाता है। यह प्रतिबन्ध भी दो प्रकार का होता है—प्रथम, सासारिक कोटा *(Global Quota)—इस प्रणाली में सरकार प्रत्येक आयात की वस्तु की अधिक से अधिक* मात्रा निश्चित कर देती है और यह मात्रा किसी भी देश से मगाई जा सकती है। द्वितीय, *विभाजित कोटा (Allocated Quota)*—इस प्रणाली में सरकार न केवल किसी आयात की वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा ही निश्चित करती है वरन् यह यह भी तय करती है कि कौनसी वस्तु व कितनी और किससे मगायी जायेगी। द्विपक्षीय कोटा

प्रणाली (Bilateral Quota System)—इस प्रणाली में सरकार केवल एक निश्चित मात्रा तक ही किसी देश-विदेश रियायती आयात-कर (Concessional Import Duties) देकर वस्तुयें मंगाने की आज्ञा देती है परन्तु यदि व्यापारी इस निर्धारित मात्रा से अधिक वस्तुयें मंगाना चाहते है, तब ये मंगवा तो सकते हैं, परन्तु इन्हें इस अतिरिक्त आयात के लिये दण्ड-स्वरूप अधिक आयात-कर देना पड़ता है। व्यापार-संतुलन की प्रतिकूलता न केवल वस्तुओं की आयात पर प्रतिबन्ध लगा कर ठीक की जाती है वरन् वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित करके भी ठीक की जाती है। निर्यात को प्रोत्साहन दो तरीकों से दिया जा सकता है—(क) निर्यात कर में कमी करना (Reduction in Export Duties):—सरकार वस्तुओं के निर्यात-कर में कमी करके इनकी निर्यात को प्रोत्साहित कर सकती है, (ख) अर्थ-सहायता देना (Subsidies and Bounties):—सरकार कुछ घरेलू वस्तुओं के उत्पादकों को उनकी उत्पत्ति के अनुसार कुछ आर्थिक सहायता देकर भी देश की निर्यात को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार की सहायता देने से वस्तु की लागत उत्पादकों को कम हो जाती है और वे अधिक मात्रा में वस्तु की निर्यात करके पहले से अधिक मात्रा में लाभ प्राप्त करने लगते हैं। अतः सरकार आयातों को हतोत्साहित तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करके देश में भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूल अवस्था को ठीक करती है।

(२) अवमूल्यन (Devaluation):—मुद्रा-अवमूल्यन* की रीति देश में आयातों को हतोत्साहित करने का एक दृढ़ उपाय है क्योंकि इसके कारण देश के निर्यात सस्ते होने के साथ ही साथ देश की आयातें भी महगी हो जाती हैं। अवमूल्यन का अर्थ है देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रय-शक्ति को कम करना अर्थात् विदेशी मुद्रा के रूप में देश की मुद्रा का मूल्य कम करना। अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि विदेशी अपनी मुद्रा की पूर्ववत् मात्रा से अवमूल्यित देश में अधिक मात्रा में वस्तुये खरीद सकते है। इसी तरह जब अवमूल्यित मुद्रा वाला देश विदेशों से वस्तुयें खरीदता है, तब इसे इन

---

*अवमूल्यन की रीति से बहुत कुछ मिलती-जुलती विनिमय ह्रास (Exchange Depreciation) की रीति है। विनिमय-ह्रास में भी विनिमय की दर में कमी हो जाती है जिससे आयात हतोत्साहित और निर्यात प्रोत्साहित होते है और अन्ततः भुगतान के प्रतिकूल सन्तुलन की त्रुटि ठीक हो जाती है। परन्तु अवमूल्यन (Devalution) और विनिमय ह्रास (Exchange Depreciation) में दो मूल भेद हैं—(क) अवमूल्यन में देश की सरकार कानून द्वारा देश की मुद्रा का विदेशी मुद्रा में मूल्य कम करती है, परन्तु विनिमय-ह्रास साधारणतया कानून द्वारा नही किया जाता है वरन् यह देश की आर्थिक परिस्थितियो का एक स्वाभाविक परिणाम होता है और इसमें बिना सरकारी सहायता के देश के प्रामाणिक सिक्कों का बाह्य-मूल्य कम हो जाता है। (ख) अवमूल्यन मे न केवल विदेशी मुद्रा के रूप में देशी मुद्रा का मूल्य कम कर दिया जाता है बल्कि यदि देश में स्वर्ण के सिक्के प्रचलित है, तब इनमे स्वर्ण का अनुपात कम कर दिया जाता है, परन्तु विनिमय-ह्रास में स्वर्ण के सिक्कों का स्वर्ण अनुपात (यदि स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में हैं) कम नहीं किया जाता है।

वस्तुओं के लिये पहले से अधिक मात्रा में मुद्रा व्यय करनी पड़ती है। अतः जब कोई देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यित करता है, तब इससे देश की निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है तथा इसकी आयातें निरुत्साहित हो जाती हैं जिससे भुगतान का प्रतिकूल सन्तुलन शीघ्र ही साम्य की अवस्था मे आ जाता है।

(३) मुद्रा सकुचन (Deflation)—कभी कभी ऐसा होता है कि कोई राष्ट्र अपनी मुद्रा का बाह्य मूल्य कम करना (अवमूल्यन करना) उचित नहीं समझा करता है। इस अवस्था में यह मुद्रा-सकुचन की रीति अपना कर भुगतान सतुलन की त्रुटियों को ठीक कर सकता है। मुद्रा सकुचन के परिणामस्वरूप देश म वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम हो जाता है (सामान्य-स्तर कम हो जाता है) और विदेशो से आई हुई वस्तुएं महगी हो जाती हैं। परिणामतः निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होती है जिससे भुगतान का असन्तुलन कुछ समय बाद सन्तुलित हो जाता है। परन्तु कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि मुद्रा-सकुचन की रीति एक अच्छी रीति नहीं है क्योंकि देश में मूल्यों को जान बूझकर गिराने से आर्थिक सकट आ जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। वस्तुओं की लागत तो लगभग पूर्ववत् रहती है, परन्तु जब इनके मूल्य गिर जाते हैं तब उत्पादकों को भारी हानि हो जाती है। फलत देश में बेरोजगारी व मन्दी की दशायें फैल जाती हैं यही कारण है कि भुगतान सन्तुलन की त्रुटि को ठीक करने के लिये मुद्रा सकुचन की रीति को बड़ी सावधानीपूर्वक प्रयोग में लाना चाहिए।

(४) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—यह स्पष्ट है कि अव-मूल्यन से देश के सम्मान को धक्का पहुँचता है, मुद्रा सकुचन के प्रभाव बड़े घातक हो सकते हैं तथा इससे देश की अर्थ-व्यवस्था बहुत ही अस्त-व्यस्त हो सकती है, कोटा-प्रणाली प्रतिकार (Reaction) को जन्म देती है आदि। यही कारण है कि यदि कोई देश इन रीतियों को अपनाता है, तब उसे इनका बहुत ही सावधानी स प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कभी कभी इन रीतियों के दोषों से बचने के लिये विनिमय-नियन्त्रण की रीति को अपनाया जाता है। इस रीति में सरकार प्रत्येक निर्यातकर्ता को यह आदेश दे देती है कि व अपने विदेशी विनिमय के तमाम सौदे (Foreign Exchange Transactions) केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा ही करें अर्थात् उनको यह आदेश होता है कि वे जो कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त करते हैं, उसे केन्द्रीय बैंक को सौंप दें और इस प्रकार केन्द्रीय बैंक को जो कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त होती है, वह इसे आयात-कर्ताओं में बाट देता है। सरकार आयातकर्ताओं को आयात करने के लिये लाइसेंस (Licence) भी देती है जिससे लाइसेंस प्राप्त व्यक्ति के सिवाय अन्य कोई दूसरा व्यक्ति वस्तुओं की आयात नहीं कर सकता है। अत इस रीति मे आयातों पर रोक व नियन्त्रण लगाकर भुगतान सन्तुलन की त्रुटियों को ठीक कर दिया जाता है क्योंकि इस रीति में आयातों का मूल्य निर्यातों के मूल्य के अन्दर ही रहता है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. नोट लिखिये—भुगतान आधिक्य (Balance of Payments) (१९५८) २. मांडलिक यशांश (Global Quotas) पर नोट लिखिये। (१९५८) ३. निर्यात यशांश (Export Quotas) पर नोट लिखिये। (१९५७ S, १९५५ S) ४. व्यापार-सन्तुलन और पावना-लेखा (शोधनाधिक्य) में क्या भेद है? इस भेद का क्या महत्व है? १९५७। 5. Examine the various methods employed for correcting Adverse Balance of Payments. (1956 S) 6. What specific information does the study of a nation's balance of payments yield? (1955) 7. What is 'Balance of Payments'? How may disequilibrium arise in a country's balance of payments and how may such disequilibrium be corrected? (1954) 8. Write a note on—Import and Export Quotas. (1954).

Agra University, B. Com.

१. टिप्पणी लिखिये—भुगतानावशेष (Balance of Payments)। (१९५९,S १९५७)। 2. 'Exports pay for Imports', Explain how this happens? What part does money play in International Payments? (1958) 3. Explain the difference between Balance of Trade and Balance of payments. (1957 S) 4. What are the factors that enter into the balance of payments between different countries? Is it possible for a country to have a continuously favourable balance of payments? (1955 S)

Allahabad University B. Com

1. What is meant by 'balance of payments'? Describe the various methods of correcting adverse balance of payments. (1956)

Banaras University, B. Com.

1. What do you understand by 'balance of payments'? How can adverse balance of payments position be corrected? (1959)

Rajputana University, B. A.

1. What is 'balance of trade' (व्यापार का अन्तर)? When does 'adverse balance of trade' (व्यापार का अन्तर विपक्ष में) arise? What are the methods of correcting adverse balance of trade? (1958)

Sagar University, B. Com.

१. शोधन-आधिक्य (Balance of Payments) का अर्थ स्पष्टतया समझाइये। विदेशी विनिमय की दर को यह किस तरह प्रभावित करता है? (१९५७)।

Vikram University, B. A. & B. Sc.

१. भुगतान तुला (Balance of Payments) प्रतिकूल भुगतान तुला को आप कैसे संतुलित बनायेंगे? (१९५९)।

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १ (i) व्यापार सन्तुलन और पावनालेखा (शोधनाधिक्य) में क्या भेद है? इस भेद का क्या महत्व है? (Agra, B. A. १९५७) (ii) What are the factors that enter into the balance of payments between different countries? Is it possible for a country to have a continuously favourable balance of payments? (Agra, B. Com. 1955.)

संकेत.—उक्त प्रश्नों में तीन बातें पूँछी गई हैं—व्यापार-सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन का अर्थ व इनके भेद तथा इस भेद का क्या महत्व है ? भुगतान-सन्तुलन मे कौन-कौन सी मदें सम्मिलित होती हैं ? क्या किसी देश में निरन्तर अनुकूल भुगतान-सन्तुलन रखना सम्भव है ? प्रथम भाग में व्यापार-सन्तुलन का अर्थ बताइये—कि राष्ट्रों में एक देश से दूसरे देश को वस्तुओं की आयात-निर्यात होती है एक देश दूसरे देश को इन वस्तुओं के मूल्य का भुगतान बराबर विदेशी मुद्रा मे करता है, कि इस लेनदारी-देनदारी के अन्तर को व्यापार-सन्तुलन कहते हैं, कि निर्यात आयातो से अधिक होने पर अनुकूल व्यापार-सन्तुलन और आयात निर्यातों से अधिक होने पर प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन होता है, कि व्यवहारिक जीवन मे निर्यातो द्वारा आयातो का भुगतान होता है और जो अन्तर रह जाता है वह अगले वर्ष के लिए व्यापार सन्तुलन के रूप मे चलता रहता है, कि अल्पकाल मे व्यापार सन्तुलन का अनुकूल या प्रतिकूल होना कोई महत्व नहीं रखता, परन्तु यदि वह सन्तुलन दीर्घकाल तक देश के प्रतिकूल रहता है, तब यह बड़े महत्व का होता है क्योंकि यह बड़ी गम्भीर आर्थिक समस्यायें उत्पन्न कर देता है। इसीलिये प्रत्येक सरकार का यह प्रयत्न रहता है कि विदेशी व्यापार सन्तुलित अवस्था मे रहे—कि आयातें निर्यातों के बराबर रहे आदि इसके बाद भुगतान सन्तुलन का अर्थ बताइये —कि इसका अर्थ अधिक व्यापक होता है क्योंकि व्यापार सन्तुलन इसका केवल एक अंश मात्र है तथा इसमें अन्य कितनी ही मदें सम्मिलित रहती हैं (आगे विस्तार से लिखा गया है)। इन अनेक मदो के कारण विदेशी भुगतान लिये भी जाते हैं और दिये भी जाते हैं और इन समस्त लेनदारी व देनदारी के अन्तर को भुगतान सन्तुलन कहते हैं। यह भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल अवस्था में हो सकता है—यदि लेनदारी समस्त देनदारी से अधिक है तब भुगतान सन्तुलन अनुकूल और यदि दनदारी समस्त लेनदारी से अधिक है, तब भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल कहा जाता है (एक-डेढ़ पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे व्यापार सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन का भेद बताइये—कि व्यापार-सन्तुलन में केवल वे वस्तुयें ही सम्मिलित की जाती हैं जिनका प्रत्यक्ष रूप से आयात या निर्यात होता है, जो रेल, वायु यातायात तथा समुद्री मार्गों से देश की सीमा के बाहर जाती हैं अथवा आती हैं। इस व्यापार को दृश्य आयात-निर्यात कहते हैं। अत व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य आयात-निर्यात सम्मिलित होती हैं। भुगतान सन्तुलन में न केवल दृश्य आयात-निर्यात सम्मिलित होती हैं वरन् इसमें अदृश्य आयात-निर्यात (इनका उल्लेख बन्दरगाहों, हवाई अड्डो तथा रेल के स्टेशनों की पुस्तकों में नही होता है) भी सम्मिलित होते हैं (उदाहरण दीजिये) (एक-डेढ़ पृष्ठ)। तृतीय भाग में इस भेद का महत्व बताइये–कि चूँकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य व अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों की गणना होती है, इसलिये भुगतान सन्तुलन व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है, कि व्यापार सन्तुलन अनुकूल होते हुये भी भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो सकता है कि इससे स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन का प्रतिकूल होना इतना महत्व नही रखता जितना कि भुगतान सन्तुलन का अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना रखता है। व्यापार सन्तुलन काफी समय तक अथवा स्थायी रूप में प्रतिकूल रह सकता है, परन्तु भुगतान सन्तुलन को स्थायी रूप से प्रतिकूल न तो रक्खा जा सकता है और न

यह रक्खा ही जाना चाहिये क्योंकि प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन देश की दुर्बल अर्थ-व्यवस्था का सूचक होता है (इसे उदाहरण सहित समझाइये) जिसके कारण प्रत्येक देश प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को हर समय अनुकूल या ठीक करने का प्रयत्न करता रहता है। अतः व्यापार सन्तुलन व भुगतान सन्तुलन का उक्त भेद बहुत ही अधिक आर्थिक महत्व का होता है (एक पृष्ठ) चतुर्थ भाग में भुगतान सन्तुलन में सम्मिलित होने वाली मदों को लिखिये जैसे—वस्तुओं की आयात-निर्यात, सेवाओं की आयात-निर्यात, विदेशी ऋण व पूँजी व इन पर सूद या लाभांश का लेन-देन, सरकारी का व्यय, जनसंख्या का आवास प्रवास, दण्ड व मुआवजा या युद्ध-व्यय-चन्दा आदि को भेजना या प्राप्त करना प्रत्येक को विस्तार से उदाहरण सहित लिखिये (तीन-चार पृष्ठ)। पाँचवें भाग में यह बताइये कि क्या किसी देश के लिये निरन्तर अनुकूल भुगतान-सन्तुलन रखना सम्भव है ?—(i) अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन का महत्व अल्पकाल में अधिक नहीं होता वरन् दीर्घकाल में इसका बहुत महत्व होता है। यदि असन्तुलन अस्थायी (अल्पकालीन) है तब यह विशेष चिन्ता का विषय नहीं होता परन्तु स्थायी (दीर्घकालीन) असन्तुलन बहुत चिन्ता का विषय होता है क्योंकि इसके घोर आर्थिक परिणाम होते हैं, (ii) भुगतान सन्तुलन को निरन्तर को अनुकूल बनाने के लिये कई बातों की आवश्यकता है, जैसे (अ) आयातों पर कठोर प्रतिबन्ध अथवा रोक-थाम, निर्यातों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रत्येक देश के लिये यह सम्भव नहीं होता कि वह आयातें को बन्द या कम कर दें और निर्यातों में अत्यधिक वृद्धि कर दें क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रों के परस्पर सहयोग पर निर्भर करता है, यदि सभी देश उक्त नीति को अपनाने लगें, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही ठप्प हो जायगा। (आ) आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी—कोई राष्ट्र निरन्तर अनुकूल भुगतान सन्तुलन उस समय भी रख सकता है जबकि वह अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुओं की विदेशों में माँग बेलोचदार हो (जैसे अमेरिका की वर्तमान स्थिति है) परन्तु प्रत्येक राष्ट्र इस प्रकार की स्थिति बहुत समय तक नहीं बनाये रख सकता। अतः भुगतान सन्तुलन को निरन्तर अनुकूल बनाये रखना प्रत्येक राष्ट्र के लिये असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। उचित स्थिति तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से भुगतान सन्तुलन की स्थिति में स्थिरता रहनी चाहिये तथा यह बराबर सन्तुलित होता रहना चाहिये तब ही देशों का आर्थिक विकास समुचित आधार पर हो सकेगा (एक-डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न २:—क्या किसी राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन की स्थिति के अध्ययन से किसी तथ्य की जानकारी प्राप्त हो सकती है ? (Agra B. A. १६५५)।

संकेत —उत्तर के आरम्भ में भुगतान-सन्तुलन व इसके अनुकूल व प्रतिकूल होने का अर्थ लिखिये (आधा पृष्ठ)। द्वितीय भाग में लिखिये कि किसी राष्ट्र की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति के अध्ययन से हमें कई महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चलता हैः—(i) विदेशी व्यापार की क्या स्थिति है कि देश में किन वस्तुओं का तथा कितनी मात्रा में आयात निर्यात हो रहा है, कि व्यापार की सामान्य स्थिति कैसी है ? कि देश में आर्थिक विकास एवं योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये पूँजीगत माल व मशीनों का आयात हो रहा है या नहीं, कि क्या आयातों के उपभोग-पदार्थों को प्रधानता मिल रही है अथवा उत्पत्ति

पदार्थों को ? इसी से देश की आर्थिक प्रगति का अनुमान लगाया जा रहा है। उदाहरणार्थ, भारत मे पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये भारी मात्रा मे मशीन व पूँजीगत सामान विदेशों से आ रहा है तथा अन्य वस्तुओं की आयातों मे भारी कमी की गई है (अब भारत में ही अनेक उपभोग पदार्थ उत्पन्न होने लगे हैं) फलत युद्धोत्तर काल में भुगतान सन्तुलन कुछ समय से भारत के प्रतिकूल रहा है। अत भारत में इस भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि देश मे नवीन आर्थिक प्रवृत्तियो ने जन्म ले लिया है। (ii) कि क्या देश में विदेशी पूँजी का प्रवाह बाहरी देशों के लिये अथवा विदेशों से स्वदेश को ओर हो रहा है, कि क्या विदेशी ऋण देश को प्राप्त हो रहे हैं अथवा कम मात्रा में प्राप्त हो रहे हैं तथा इनके भुगतान की परिस्थिति क्या है ? (iii) कि भुगतान सन्तुलन की स्थिति विभिन्न देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में कैसी है ? भारत में यदि इसमें डॉलर-क्षेत्र में अधिक प्रतिकूलता है, तब स्टर्लिंग क्षेत्र के सन्तुलन में नर्मी है अथवा कम प्रतिकूलता है। अत निष्कर्ष निकालिये कि किसी देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति के अध्ययन से हमें वहाँ के अनेक आर्थिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त हो जाती है। तृतीय भाग में इस कथन का विश्लेषण आलोचनास्वरूप कीजिये—कि विद्वानो का मत है कि भुगतान सन्तुलन से हमें पूरी-पूरी बातो का पता नहीं चल सकता है कि यह तो हमें केवल राष्ट्र की लेनदारी-देनदारी के बारे में ही बताता है और जब तक हमें इनसे सम्बन्धित अन्य बातों की जानकारी नहीं हो, तब तक हम किसी भी निश्चित व ठीक ठीक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। उदाहरणार्थ, भारत का भुगतान सन्तुलन आजकल प्राय प्रतिकूल रहता है, परन्तु इसे हम देश की आर्थिक दुर्बलता का चिन्ह नही कह सकते हैं क्योंकि हमें पता है कि पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिय पूँजीगत माल व मशीनो अथवा विदेशी पूँजी का भारी मात्रा में आयात किया जा रहा है और भविष्य में स्वत ही देश का निर्यात व्यापार बढ़ जायगा। अत भुगतान सन्तुलन का अनुकूल या प्रतिकूल होना ही हमें वास्तविक स्थिति की सूचना नही देता, जब तक कि हमें अन्य बातो की भी साथ ही साथ जानकारी प्राप्त नहीं हो (एक डेढ़ पृष्ठ)।

प्रश्न ३—(i) भुगतान तुला (Balance of Payments) का क्या अर्थ है ? प्रतिकूल भुगतान तुला को आप कैसे सतुलित बनायेंगे ? (Vikram, B A १९५९), (ii) प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिये जिन विभिन्न उपायों को अपनाया जाता है उनकी व्याख्या कीजिये (Agra, B A. १९५६, Allahabad, B Com १९५६, Banaras, B Com १९५१), (iii) शोधन आधिक्य का अर्थ स्पष्ट कीजिये। विदेशी विनिमय की दर को यह किस तरह प्रभावित करता है ? (Sagar, B Com १९५७) (iv) What is Balance of Payments ? How may disequilibrium arise in a country's balance of payments and how may such disequilibrium be corrected ? *(Agra, B A 1954).*

सकेत—उपरोक्त प्रश्नो में चार बातें पूँछी गई हैं—भुगतान तुला का क्या अर्थ है ? किसी देश की भुगतान तुला की प्रतिकूलता के क्या कारण हैं ? इस प्रतिकूलता को कैसे सतुलित किया जा सकता है ? शोधन-आधिक्य का विनिमय की दर पर क्या प्रभाव

पड़ता है ? प्रथम भाग मे भुगतान-तुला का अर्थ स्पष्ट कीजिये (प्रश्न १ पढ़िये)। द्वितीय भाग में उन सब बातों को बताइये जिनसे भुगतान तुला प्रतिकूल होती है अथवा इसमे असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है—(i) आयातों का निर्यातों से अधिक होना:—देश के अविकसित होने तथा स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाने से आयातों को प्रोत्साहन तथा निर्यात हतोत्साहित होती हैं। (ii) अन्य किसी देश या देशों द्वारा अपनी मुद्रा का अवमूल्यन—इस नीति से अन्य सम्बन्धित देशो की आयातें बढ़ती हैं (अवमूल्यित मुद्रा वाले देश की निर्यातें बढ़ती हैं तथा आयात कम होती हैं) तथा निर्यातें कम होती हैं। (iii) युद्ध या अन्य संकट—ऐसे समय में देश को विदेशों से भारी आयातें (युद्ध-सामग्री, खाद्यान्न आदि) करनी पड़ती हैं, परन्तु ऐसे संकट के समय में इस देश का निर्यात उसी अनुपात में बढ़ने नहीं पाता है। (iv) विकास योजनाएं—इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये भी देश को विदेशों से पूंजीगत माल व मशीनें भारी मात्रा में मँगानी पड़ती हैं (भारत में ऐसा ही हो रहा है) यद्यपि अल्पकाल में सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तथापि दीर्घकाल में इसके अनुकूल अथवा साम्य की स्थिति में हो जाने की सम्भावना है। (v) अदृश्य आयातें—जब भारी मात्रा में पूंजी, ऋण का भुगतान या इस पर सूद विदेशों को जाने लगता है, तब भी भुगतान प्रतिकूल हो जाता है। यही बात अदृश्य आयातों की अन्य मदों पर भी लागू होती है। (vi) सेवायें-जब देश को विदेशी कम्पनियों (यातायात या औद्योगिक कम्पनियों) या विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त होती हैं, तब इन सेवाओं के शुल्क के रूप में काफी बड़ी मात्रा मे विदेशों को पूंजी जाने लगती है जिससे भुगतान-तुला में प्रतिकूलता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है (दो पृष्ठ)। तृतीय भाग में उन उपायों को बताइये जिनसे भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को ठीक किया जा सकता है—(i) निर्यात प्रोत्साहित तथा आयात कम करना—यह कार्य आयात कर लगाकर या इसमें वृद्धि करके, आयात कोटा प्रणाली (इसके विभिन्न रूप हैं, उन्हे भी बताइये), निर्यात कर में छूट तथा अर्थ-सहायता देना आदि रीतियों को अपना कर सम्पन्न किया जा सकता है, (ii) अवमूल्यन, (iii) मुद्रा-संकुचन, (iv) विनिमय-नियन्त्रण—इन नियन्त्रणों द्वारा सरकार यह प्रयत्न करती है कि निर्यातों द्वारा जो भी विदेशी मुद्रा प्राप्त हो, उसी के अनुसार वस्तुओं का आयात किया जाये ताकि देश की लेनदारी व देनदारी लगभग बराबर हो सकें। यहाँ पर विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को संक्षेप में बताइये उपर्युल्लिखित भुगतान सन्तुलन को ठीक करने की विभिन्न रीतियों को विस्तार से लिखिये)। निष्कर्ष स्वरूप लिखिये कि सरकार उक्त में से एक या अनेक रीतियों को अपनाकर सन्तुलन की असमता को ठीक कर सकती है। भारतीय उदाहरण दीजिये—कि पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये विदेशों से पूंजीगतमाल व मशीने आदि भारी मात्रा में आ रही हैं जिसके कारण कुछ वर्षों से भुगतान सन्तुलन में प्रतिकूलता पाई जाती है। इसे ठीक करने के लिये सरकार यथासम्भव प्रयत्न कर रही है, जैसे—उपभोग की अधिकांश वस्तुओं की आयात या तो बन्द कर दी गई है या इसमें भारी कटौती की गई है, निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये भरसक प्रयत्न किये जा रहे हैं (विदेशों मे प्रदर्शनियाँ, वस्तुओं का प्रचार, किस्म मे सुधार, निर्यात-कर में छूट आदि), देश में आयात

के लिए लाईसेंस व कोटा प्रणाली का प्रयोग किया जा रहा है, विनिमय-नियन्त्रण की नीति का कठोरता से पालन किया जा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक से अत्यधिक सहायता ली गई है और ली जा रही है, विभिन्न राष्ट्रों की सरकारो से अल्पकालीन व दीर्घकालीन व्यापारिक समझौते किये गये हैं। फलत देश की भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता की स्थिति मे समुचित सुधार हुआ है और भविष्य मे इसमे और भी अधिक सुधार हो जाने की आशा है (भारतीय सरकार द्वारा अपनाये गये उक्त उपायों को उदाहरण सहित लिखिये) (दो-ढाई पृष्ठ)। चतुर्थ भाग में शोधन-आधिक्य का विनिमय की दर पर जो प्रभाव पड़ता है उसे लिखिये—यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल है अर्थात् इस देश की विदेश मुद्रा की माग इसकी पूर्ति से अधिक है तब विनिमय की दर कम (गिर जायेगी) हो जायगी (विदेशी मुद्रा के रूप में) फलत निर्यात प्रोत्साहित होंगे और आयात निरुत्साहित होंगे। इसी तरह यदि सन्तुलन देश के लिये अनुकूल है तब विनिमय की दर बढ़ जायगी और इससे आयात प्रोत्साहित व निर्यात निरुत्साहित होगी। परन्तु क्या अन्य देश विनिमय की दर मे कमी को सहन करेंगे? नहीं। वे भी अनेक तरीके अपनाकर अपने देश में इस देश की वस्तुओ को आसानी से नहीं आने देंगे अथवा वे भी अपनी मुद्रा में प्रतियोगिता-पूर्ण मूल्य-ह्रास करेंगे आदि। इससे विदेशी व्यापार में अनिश्चितता आ जायगी जिसके बहुत बुरे आर्थिक परिणाम होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना इसी प्रकार की प्रतियोगिता को दूर करने अथवा प्रत्येक देश को अपने भुगतान सन्तुलन मे साम्य की स्थिति को बनाये रखने के लिये की गई है और अब प्रत्येक राष्ट्र इसकी सहायता से सन्तुलन की प्रतिकूलता को ठीक रखने का प्रयत्न करता रहता है। कोष की सहायता से अथवा विनिमय नियन्त्रण की रीति अपनाकर विनिमय की दर में भी स्थैर्य रक्खा जाता है (एक पृष्ठ)।

प्रश्न ४.—(i) क्या यह सत्य है कि दीर्घकाल में आयातें निर्यातों का मूल्य चुकाते हैं? (ii) इस कथन की व्याख्या कीजिये—"निर्यातों द्वारा आयातों का भुगतान होता है" ("Exports pay for Imports"). अथवा आयातों व निर्यातों की प्रवृत्ति समान होने की होती है ("Exports and Imports tend to be equal!") (iii) "The balance of payments of a country must always balance" How, then, do you explain the view that a country has a favourable or an adverse balance of payments? (Bombay, 1953)

संकेत —उत्तर के आरम्भ में भुगतान सन्तुलन का अर्थ विस्तार से समझाइये। (उत्तर में उक्त सन्तुलन मे सम्मिलित होने वाली मदो अथवा सन्तुलन को ठीक करने के उपायो को लिखना अनावश्यक है)। इसके बाद सिद्ध कीजिये कि निर्यातों द्वारा आयातों का भुगतान होता है—कि इस प्रश्न के कथन म निर्यातों व आयातों में न केवल दृश्य वरन् अदृश्य आयात-निर्यात भी सम्मिलित है क्योंकि यह शायद ही कभी सम्भव हो कि एक देश के निर्यात पदार्थों (वस्तुओं) का मूल्य उस देश के आयात-पदार्थों के मूल्य के बराबर हो अर्थात् ऐसी सम्भावना बहुत कम है। जब हम उक्त वाक्य की आयातों व निर्यातों में वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओ का भी मूल्य सम्मिलित कर लेते हैं, तब यह आशा रहती है कि एक देश अपनी आयातो के मूल्य का भुगतान अपनी निर्यातों से कर

देगा। अतः इन कथनों का निर्देश व्यापार-सन्तुलन की ओर नहीं वरन् भुगतान सन्तुलन की ओर है। फिर, अल्पकाल में तो सन्तुलन असन्तुलित अथवा प्रतिकूल रह सकता है परन्तु यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रह सकती अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र को ऐसे उपाय अपनाने ही पड़ते है कि दीर्घकाल में भुगतान-सन्तुलन मे प्रतिकूलता नही रहे क्योकि कोई भी देश सदा विदेशो से वस्तुयें व सेवायें प्राप्त करता नही चला जा सकता। कभी न कभी उसे इनका भुगतान करना ही पड़ेगा वरना इसका विदेशी व्यापार ठप्प हो जायगा अर्थात् कोई भी देश सदा ऋणी की अवस्था में नही रह सकता क्योंकि एक ऐसा समय अवश्य आता है जबकि जिस देश ने जो कुछ ऋण दिया है अथवा वस्तुये व सेवायें दी हैं उन्हें वह वापिस अवश्य लेगा। अतः जब हम यह कहते हैं कि दीर्घकाल में आयात-निर्यात बराबर रहने चाहियें अथवा निर्यातों द्वारा आयातों का भुगतान होता है, तब इसका अर्थ है कि दीर्घकाल में दृश्य व अदृश्य आयातों का जोड़ दृश्य व अदृश्य निर्यातों के जोड़ के बराबर होता है। इसीलिए यह कहना ठीक ही है कि अल्पकाल में भुगतान तुला अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है, परन्तु दीर्घकाल में यह सन्तुलित अवश्य होगी।



अध्याय १६

स्वतन्त्र व्यापार या संरक्षण

(Free Trade Versus Protection)

स्वतन्त्र व्यापार और संरक्षण में भेद (Distinction between Free Trade and Protection):—स्वतन्त्र व्यापार और सरक्षण सम्बन्धी वाद-विवाद बहुत पुराना है। (क) स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ:—जब विभिन्न देशों के बीच वस्तु या वस्तुओं का विनिमय बिना किसी रोक-टोक के होता है, तब इसे स्वतन्त्र व्यापार कहते हैं। इस तरह स्वतन्त्र व्यापार मे विभिन्न देशो के बीच वस्तुओं की आयात-निर्यात पर कोई नियन्त्रण या बाधा (Restriction) नही होती है और विदेशी व्यापार पूर्णतया अपनी स्वाभाविक गति से स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है। अतः विभिन्न देशों [redacted] बीच मे वस्तुओ की आयात निर्यात की जो भी स्वाभाविक गति है, यदि उसमें किसी प्रकार की भी अस्वाभाविक रुकावट नहीं डाली जाती है, तब इस प्रकार के व्यवसाय को स्वतन्त्र व्यापार की नीति (*Free Trade Policy*) कहते हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ है—"वह व्यापारिक नीति जिसमें घरेलू व विदेशी वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं समझा जाता है और न किसी एक को बुरा समझा जाता है और न दूसरे को विशेष अधिकार दिये जाते हैं।" परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था में वस्तुओं पर किसी प्रकार का भी कर (Tax or Duty) नहीं लगता है वरन् जो भी कर लगता है वह केवल आय (Revenue) की दृष्टि से लगता है, न कि संरक्षण के लिये। (ख) संरक्षण का अर्थ—संरक्षण का अभिप्राय

सरकार की उस नीति से है जो विदेशी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध घरेलू उद्योगों की रक्षा के हेतु, विदेशी व्यापार पर रोक (Restrictions) लगाती है। इस तरह सरक्षण की नीति (Policy of Protection) में व्यापार की स्वाभाविक गति पर व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं अर्थात् वस्तुओं की स्वतन्त्र आयात पर आंशिक या पूर्ण रोक लगाई जाती है ताकि गृह उद्योगों का विकास हो सके। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार की नीति न केवल आर्थिक वरन् कभी-कभी राजनैतिक उद्देश्य से भी अपनाई जाती है। सामान्यतया सरक्षण का उद्देश्य गृह उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करना होता है, परन्तु सरकार की प्रत्येक ऐसी नीति जिसके कारण विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति में रुकावट पड़ती है, फिर चाहे इस नीति का उद्देश्य आर्थिक हो या राजनैतिक, सरक्षण के अन्तर्गत रक्खी जाती है।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में दलील
(Arguments in Favour of Free Trade)

<u>स्वतन्त्र व्यापार के लाभ</u> (Advantages of Free Trade)—तमाम क्लासिकल (प्रतिष्ठित) अर्थशास्त्री (Classical Economists) स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में थे। वे विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को अनुचित समझते थे। इस स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में दिये गये मुख्य मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) समाज में अधिकतम उत्पत्ति होती है (Maximization of Social Product)—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिसके उत्पन्न करने के लिये उस देश में प्राकृतिक एवं अन्य साधनों की श्रेष्ठता है। चूंकि उत्पादन तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है, इसलिए प्रत्येक देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग होता है जिससे तमाम ससार में धनोत्पत्ति भी अधिकतम हो जाती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि यदि हमें ससार के प्रत्येक राष्ट्र की आमदनी को अधिकतम करना है, तब इस उद्देश्य की पूर्ति केवल स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाकर ही की जा सकती है क्योंकि स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था में एक व्यापारी राष्ट्रीय हित को त्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय हित को ही अपना उद्देश्य समझता है। (ii) तमाम स्थानों पर उपभोक्ताओं को वस्तुयें व सेवायें कम से कम मूल्य पर मिल जाती हैं—स्वतन्त्र व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण केवल कुशल व्यवसाय ही जीवित रह सकते हैं और ये ऐसे उद्योग होते हैं जिसमें उत्पादन न्यूनतम लागत पर होता है। इस अवस्था में वस्तुओं का मूल्य भी बहुत कम होता है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र व्यापार में आयातकर्ता वस्तुओं की आयात प्रायः बिना किसी कर (Tax) के दिए ही करता है जिसके कारण भी वस्तुओं की आयात का मूल्य बहुत कम ही रहता है अतः स्वतन्त्र व्यापार में तमाम स्थानों पर उपभोक्ताओं को वस्तुएं बहुत कम मूल्य पर ही प्राप्त हो जाती हैं जिससे ससार के तमाम व्यक्तियों की वास्तविक आय बढ़ जाती है। (iii) भौगोलिक स्थानीयकरण (Geographical Localisation)—स्वतन्त्र व्यापार में चूंकि प्रत्येक देश एक ऐसी वस्तु या वस्तुओं की उत्पत्ति करने में विशेषज्ञ होता है जिसके लिये उस देश में प्राकृतिक सुविधाएं उपलब्ध

होती हैं, इसलिये यह भौगोलिक स्थानीयकरण को प्रोत्साहन देता है और विभिन्न देशों को श्रम-विभाजन के अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। (iv) स्वतन्त्र व्यापार में बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है:—स्वतन्त्र व्यापार में विदेशी व्यापार की वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है, विशेषकर जबकि किसी देश में वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार हो रहा है। वस्तुओं का बाजार जितना अधिक विस्तृत होता है, विभिन्न देशों को निरपेक्ष लाभ (Absolute Advantages) तथा तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantages) भी उतने ही अधिक प्राप्त होते हैं। (v) स्वतन्त्र व्यापार में एकाधिकार संघों के निर्माण पर रोक लगती है:—स्वतन्त्र व्यापार का आधार व्यापारियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा है। इस प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतियोगिता के कारण एकाधिकारी संघों के निर्माण में रुकावट पड़ती है जिससे वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे नहीं होने पाते हैं। (vi) उत्पादन-विधि में सुधार:—स्वतन्त्र व्यापार में प्रतिस्पर्द्धा होती है। इस कारण एक देश के उत्पादक विदेशी उत्पादकों की स्पर्धा के भय से अपनी उत्पत्ति की नीतियों में समय-समय पर सुधार करते हैं। (vii) राष्ट्रों में सद्भावना व सहयोग:—स्वतन्त्र व्यापार में एक देश दूसरे देश पर निर्भर रहता है जिसके कारण इनमें आपस में सद्भावना व सहयोग उत्पन्न हो जाता है।

निष्कर्ष:—उपर्युक्त लाभों के कारण ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने स्वतन्त्र व्यापार वांछनीय बताया था। परन्तु आजकल आर्थिक राष्ट्रीयतावाद तथा नियमित अर्थ व्यवस्था के कारण स्वतन्त्र व्यापार की नीति का केवल एक सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है। यही कारण है कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति का आज अन्त हो गया है और इसके स्थान पर सभी देशों ने संरक्षण की नीति को अपना लिया है।

स्वतन्त्र व्यापार व उचित व्यापार में भेद
(Distinction between Free Trade and Fair Trade)

स्वतन्त्र व्यापार और उचित व्यापार में भिन्नता है। स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) का अभिप्राय तो उस देश से होता है जिसमें विभिन्न देशों के बीच वस्तु या वस्तुओं का विनिमय बिना किसी रोक-टोक के होता है। परन्तु उचित व्यापार (Fair Trade) वह व्यापार है जिसमें कर (Tax) विदेशियों के बनावटी एवं कृत्रिम लाभ के अनुचित प्रभाव को समाप्त करने के लिये लगाया जाता है। यह वह व्यापार है जिसमें वस्तुओं पर कर (Tax) इस प्रकार लगाया जाता है कि स्वदेश के उत्पादक भी अपनी वस्तुओं को स्वदेशी उत्पादकों के साथ ही साथ बेच सकें। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लो, जापान कपड़े की निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिये उत्पादकों को ५% आर्थिक सहायता (Bounty) देता है। इसका परिणाम यह होगा कि जापान का कपड़ा भारत में सस्ता आकर बिकने लगेगा और इससे देश के कपड़े के उद्योग को बहुत हानि होगी। देश को इस हानि से बचाने के लिये भारत सरकार को जापान से कपड़े की आयात पर ५% आयात-कर (Import Duty) लगाना पड़ेगा।

इसका परिणाम यह होगा कि जापानी कपड़े का भारत में समान मूल्य हो जायगा। अत उचित व्यापार (Fair Trade) में कर (Tax) केवल इतना लगाया जाता है कि इससे देशी व विदेशी वस्तुओं का मूल्य बराबर हो जाय।

संरक्षण की नीति (Policy of Protection)

प्राक्कथन—प्रसिद्ध अमेरिकन राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री एलैक्जेंडर हैमिलटन (Alexander Hamilton) ने सन् १७९१ में सर्वप्रथम संरक्षण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। परन्तु वास्तव में सन् १८१२–१५ के अमेरिका और इगलैंड के युद्ध में, जब अमेरिका और इगलैंड के व्यापारिक सम्बन्ध स्थायी रूप से समाप्त हो गये, तब अमेरिका में स्वत बहुत से उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। अमेरिकन सरकार ने संरक्षण के लाभों को समझा और युद्धोत्तर काल में भी उन नये नये कारखानों की रक्षा के हेतु संरक्षण की नीति जारी रक्खी। हैमिलटन के बाद अमेरिकन अर्थशास्त्री हैनरी कैरे (Henry Carey) ने संरक्षण की नीति का बहुत समर्थन किया। दूसरे इस प्रकार अमेरिका ही एक तरह से संरक्षण की नीति के समर्थकों में अगुवा रहा है। परन्तु यूरोप में जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेड्रिक लिस्ट (Frederich List) ने भी अपने देश में संरक्षण की नीति के पक्ष में आवाज उठाई थी। इगलैंड तथा अन्य बड़े बड़े देश १९ वी शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) के पक्ष में ही रहे और इन्होंने इस प्रकार के व्यापार का अत्यधिक समर्थन किया था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र व्यापार या संरक्षण का वाद-विवाद लगभग समाप्त हो हो गया और तब से ससार के प्रत्येक देश ने संरक्षण की नीति अपनाई है।

संरक्षण के पक्ष के तर्क
(Arguments in Favour of Protection)

संरक्षण-नीति के पक्ष मे समय समय पर जो युक्तियाँ दी गई हैं उनमे से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) शिशु-उद्योग का तर्क (Infant Industries Argument)—अमेरिका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ श्री एलैक्जेंडर हैमिलटन (Alexander Hamilton) ने सन् १७९१ में इस तर्क को प्रस्तुत किया था जिसको बाद मे प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री श्री लिस्ट (Frederich List) तथा इगलिश अर्थशास्त्री श्री मिल (J S Mill) ने स्वीकार किया। आधुनिक युग में संरक्षण के पक्ष में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण तर्क है। किसी देश की अर्थव्यवस्था को उन्नत करने के लिये, संरक्षण की नीति को अपनाने के पक्ष में इस तर्क का समर्थन, स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपातियों तक ने किया है। यह हम जानते हैं कि ससार के तमाम देशों में आर्थिक विकास की अवस्था एक सी नहीं है। एक तरफ ऐसे देश हैं जिनमें कुछ कारणों से औद्योगीकरण का प्रारम्भ बहुत समय पहले हो गया था और दूसरी तरफ आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए ऐसे देश हैं जिनमे या तो औद्योगिक विकास का प्रारम्भ अभी हुआ ही नहीं या जिनमें औद्योगिक विकास अभी प्रारम्भिक अवस्था मे ही है इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रथम श्रेणी के देशों की प्रतियोगिता करने की शक्ति बहुत हो गई है क्योंकि उन्हें उद्योगों के अनुभव, पैमाने का विस्तार तथा शिल्प-ज्ञान के

कारण विशेष सुविधायें उपलब्ध हुई हैं। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के वे देश हैं जिनमें नये-नये उद्योग खुले हैं जिससे इनमे ऐसी शक्ति नहीं है कि ये पूर्ण विकसित देशों के उद्योग से प्रतियोगिता कर सकें। इस अवस्था मे यदि स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई जाये, तब विकसित देशों के उद्योग अविकसित देशो के नये-नये उद्योगों को, इनके समृद्ध होने से पूर्व ही नष्ट कर देंगे। यह सम्भव है कि बाद में तो ऐसे देशों के व्यवसाय तक विकसित देशों के उद्योगो से टक्कर लेने लगें, परन्तु प्रारम्भ मे केवल जीवित रहने के लिए ही इन्हें सरकार के सरक्षण की आवश्यकता होती है। प्रो० टॉजिग (Taussig) ने ठीक ही कहा है—"आरम्भ में घरेलू उत्पादक, कुछ कठिनाइयाँ होने के कारण, विदेशी उत्पादकों की बराबरी नहीं करने पाता है, परन्तु बाद मे जब वह वस्तु को उत्पन्न करने की रीतियां भली प्रकार समझ लेता है, तब सम्भव है कि वह अपनी वस्तु को विदेशी वस्तु से भी सस्ती बनाकर बाजार मे बेचने में सफल हो जाय।"* इसलिये एक लेखक ने कहा है कि "किसी देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिये नये-नये व्यवसायों को सरक्षण देना चाहिये और धीरे-धीरे ज्यों ज्यों व्यवसाय दृढ़ होते जायें, सरक्षण को कम करते रहना चाहिये और बाद में जब वे विदेशी व्यवसायों के बराबर दृढ़ हो जायें, तब संरक्षण समाप्त कर देना चाहिये।" अतः संरक्षण की नीति का केन्द्रीय विचार इस कहावत में नीहित है, "शिशु का पालन करो, बालक की रक्षा करो और युवक को स्वतन्त्र करो।"†

परन्तु शिशु उद्योग तर्क सर्वमान्य नही है। इस तर्क के आधार पर निर्धारित की गई सरक्षण की नीति में तीन मुख्य दोष हैं:—(i) शिशु उद्योग की पहिचान कठिन है—कुछ देशो ने तो किसी भी नये उद्योग को शिशु उद्योग कह कर इसको सरक्षण प्रदान किया है, परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने तो केवल एक ऐसे उद्योग को शिशु उद्योग कहा है जिसमे प्रत्येक प्रकार की आन्तरिक बचत तो प्राप्त होती है परन्तु इसको बाह्य बचत उपलब्ध नही होती है। अतः कभी-कभी यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सा उद्योग शिशु उद्योग है और कौन-सा उद्योग शिशु उद्योग नहीं है। (ii) किसी नये उद्योग को प्रदान किये गये संरक्षण में स्थायी होने की प्रवृत्ति प्रबल होती है:—जब किसी उद्योग को संरक्षण मिल जाता है, तब इसे हटाना बहुत कठिन होता है क्योंकि यह उद्योग शैशव अवस्था मे ही पड़ा रहता है। यही नहीं यदि उद्योग युवा अवस्था मे भी पहुँच जाता है, तब भी मनुष्य अपने निज स्वार्थ में अनुचित लाभ कमाने की चेष्टा करते हैं और उद्योग पर से सरक्षण हटाने के लिये तैयार नहीं होते हैं।‡ (iii) अन्य उद्योग भी संरक्षण की माँग करते हैं:—जब शिशु उद्योग के आधार पर किसी एक उद्योग को सरक्षण मिल जाता है, तब अन्य दूसरे उद्योग भी संरक्षण के लिये चिल्लाने लगते हैं जिससे देश मे भ्रष्टाचार व पक्षपात की भावना फैलती है। (iv) उपभोक्ताओं को हानि होती है:—सरक्षण काल

*"At the outset the domestic producer has difficulties and cannot meet foreign competition. In the end he learns how to produce to the best advantage and then can bring the article to market as cheaply as the foreigner, even more cheaply"—Taussig

†"Nurse the baby, protect the child, guide the boy and free the adult."

‡"Protection given in most cases creates vested interests which are averse (opposed) to the removal of the protection"—Taussig.

मे उपभोक्ताओ को वस्तुओ का अधिक मूल्य देना पडता है। यह अवश्य है कि इस प्रकार प्रारम्भ में समाज को हानि होती है, परन्तु अन्ततः देश का औद्योगिक विकास हो जाने पर समाज को लाभ होगा।

(२) सुरक्षा का तर्क (Defence Argument):—प्रत्येक सरकार के लिये देश की सुरक्षा व स्वतन्त्रता बनाए रखना अत्यावश्यक होता है। कुछ उद्योग ऐसे हैं जो सुरक्षा सम्बन्धी वस्तुओ का उत्पादन करते हैं। इसलिये देश की सैनिक शक्ति को दृढ बनाये रखने के लिये यह आवश्यक हुआ करता है कि रक्षा-उद्योगो को सरक्षण मिले। अतः राष्ट्रीयता के युग मे ऐसे उद्योगो को जो देश की रक्षा के लिये आवश्यक होते है, सरक्षण देना अनिवार्य है। इसे ही सुरक्षा का तर्क कहा गया है।

(३) उद्योगों मे विभिन्नता का तर्क (Diversification of Industries Argument)—यह तर्क जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेड्रिक लिस्ट (Frederich List) द्वारा दिया गया था। उनका मत था कि किसी देश के सन्तुलित आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि उस देश मे विभिन्न प्रकार के व्यवसायो व उद्योगो का विकास हो और यह तब ही सम्भव है जबकि कुछ उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया जाता है। स्वतन्त्र व्यापार में एक देश किसी एक या कुछ ही वस्तुओं के उत्पादन मे, तुलनात्मक लागत के आधार पर, विशिष्टता प्राप्त करता है और यह देश इन वस्तुओ के बदले मे अन्य देशो से अपनी दूसरी आवश्यकता की वस्तुयें मगाता है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था का एक बडा भारी दोष यह है कि युद्ध-काल में या ऐसे उद्योगो में जिनके उत्पादन में किसी देश ने विशिष्टता प्राप्त की है मन्दी (Depression) आ जाने पर, देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है। इसीलिये आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण करना चाहिये अथवा किसी एक देश को किसी एक या कुछ उद्योगो पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये और इस प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता केवल सरक्षण की नीति अपनाकर ही स्थापित की जा सकती है। जब किसी देश मे विभिन्न प्रकार के उद्योगों का निर्माण होता है तब न केवल देश में उपलब्ध तमाम आर्थिक साधनों का उचित उपयोग होता है वरन् देश मे भी एक सतुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित हो जाती है जो युद्धकाल में या मन्दी काल मे सरलता से टूटने नहीं पाती है। परन्तु आलोचको का मत है कि इस प्रकार सरक्षण द्वारा विभिन्न उद्योगो को स्थापित करना बहुत ही महगा रहता है और यह तर्क विशिष्टीकरण के लाभो को भूल गया है।

(४) स्वदेशी-बाजार का तर्क (Home Market Argument)—सरक्षण द्वारा सरकार विदेशी वस्तुओ की आयात को बन्द या महगा कर सकती है जिससे स्वदेश के बाजार में केवल गृह-उद्योगों में निर्मित वस्तुओं की ही बिक्री होने पाती है। परिणामतः गृह-उद्योगों में रोजगार बढ़ता है। देश मे रोजगार बढने से गृह-उद्योगो की वस्तुओ की और भी अधिक बिक्री होती है। अतः देश मे बनी वस्तुओ का बाजार देश में ही उत्पन्न करने के लिये सरक्षण की नीति का समर्थन किया जाता है। परन्तु इस तर्क की आलोचना इस आधार पर की गई है कि यदि देश की आयात कम कर दी गई तब इससे देश

की निर्यात भी कम हो जायगी।*

(५) मजदूरी का तर्क (Wages Argument):—एक कम मजदूरी वाले देश मे वस्तुओं का लागत-व्यय एक अधिक मजदूरी वाले देश की तुलना में कम होता है जिससे एक कम मजदूरी वाला देश दूसरे देश में वहा के व्यापारियों की तुलना मे अधिक माल बेचने में सफल हो जाता है। इसका कभी-कभी यह भी परिणाम होता है कि अधिक मजदूरी वाले देश मे उद्योग शनैः शनैः बन्द होने लगते हैं और देश में बेरोजगारी फैलने लगती है। अतः एक ऊंची मजदूरी वाला देश अपने देश मे मजदूरों की मजदूरी का एक ऊंचा स्तर तब ही रख सकता है जबकि वह इन उद्योगों को जिनमे अधिक मजदूरी पाई जाती है संरक्षण प्रदान करे।† इसी को संरक्षण के पक्ष में मजदूरी का तर्क कहते हैं। अमेरिका ने जापान से आने वाले कपड़े के माल पर आयात-कर इसी कारण लगाया ताकि जापानी प्रतिस्पर्द्धा के कारण अमेरिका का कपड़ा-उद्योग नष्ट न होने पाये। परन्तु यह तर्क भी सदैव लागू नहीं होता है। कभी-कभी कुछ उद्योगों मे मजदूरों की मजदूरी इस कारण भी ऊंची होती है क्योंकि मजदूरों की कार्य-क्षमता एव उत्पादकता अधिक है, न कि इस कारण कि इन उद्योगो को संरक्षण प्रदान किया गया है। उदाहरणार्थ, इंगलैंड मे कपड़े के कारखानों में काम करने वाले श्रमियो को भारत मे कपड़े के कारखानों में काम करने वाले श्रमियों की तुलना में अधिक मजदूरी मिलती है, परन्तु यह इस कारण नही है कि इंगलैंड में कपड़ा उद्योग को संरक्षण प्राप्त है। अतः संरक्षण के पक्ष में मजदूरी का तर्क दोषपूर्ण व भ्रमात्मक है।

(६) द्रव्य को घर पर रहने का तर्क (To keep money at home argument):—यह तर्क अमेरिका की ओर से बहुत बार प्रस्तुत किया गया है। कुछ व्यक्तियो का यह कहना है कि इस तर्क को सर्वप्रथम अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) ने प्रस्तुत किया था। इस तर्क का आधार यह विचार है कि जब हम विदेशो से माल मंगाते हैं तब इनके भुगतान मे हमारा द्रव्य विदेशों को चला जाता है। परन्तु यदि देश में संरक्षण की नीति अपना ली जाये और विदेशो से माल नहीं आने दिया जाय, तब देश में गृह-उद्योगों में निर्मित वस्तुओं का ही उपभोग होगा जिससे हमारे देश का द्रव्य देश के अन्दर ही रह जायेगा और हमारे देश को कोई हानि नही होगी। परन्तु आजकल इस तर्क की भी बहुत आलोचना की गई है। आलोचको का विचार है कि जब हम विदेशों से सस्ती वस्तुयें प्राप्त करते हैं तब हम थोड़ा सा ही द्रव्य व्यय करके अधिक आर्थिक सन्तोष प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त यह तर्क इस बात को भूल जाता है कि यदि हम वस्तुओं का आयात नहीं करेंगे, तब हमारी वस्तुओं की निर्यात भी घट जायगी। अन्त में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे द्रव्य के खोने या प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही नही उठता है, क्योंकि अन्ततः वस्तुओ की आयातों और इनकी निर्यातों का सन्तुलन ही हुआ करता है।

(७) लागतों में समानता का तर्क (Equalisation of Costs Argument):—

*"The fall in Imports is followed by a fall in Exports"—Haberler.

†"A wage level higher than that of other countries can be maintained only behind a Tariff wall"—Haberler.

इस तर्क के अनुसार स्वदेश की बनी महगी वस्तुओ और विदेश में बनी सस्ती वस्तुओ की लागतो को आयात-कर द्वारा समान कर देना चाहिये ताकि गृह-उद्योगो को विदेशी उद्योगो की तुलना में प्रोत्साहन मिल सके और वे अपनी वस्तुओं को आसानी से बेच सकें। अत स्वदेशी और विदेशी उत्पादको को अपनी वस्तुओ को बेचने के समान अवसर देने के लिये यह तर्क दिया गया है कि आयात कर द्वारा देशी व विदेशी वस्तुओं की लागतो मे समानता लाई जानी चाहिये। परन्तु यह तर्क भी बहुत दोषपूर्ण है। इस तर्क का यह अर्थ हुआ कि जो उद्योग जितना अधिक दुर्बल एव अकुशल है, उसको उतना ही अधिक सरक्षण देना पड़ेगा क्योंकि तब ही तुलनात्मक लागत का लाभ बराबर किया जा सकता है। परन्तु जब हम सरक्षण द्वारा तुलनात्मक लागत (Comparative Cost) के लाभ को ही बराबर कर देंगे, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जायगा क्योंकि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार तब ही उत्पन्न होता है जबकि दो देशों में वस्तुओ की लागतों में तुलनात्मक अन्तर होता है।*

(८) रोजगार का तर्क (Employment Argument)—इस तर्क का अभिप्राय यह है कि देश में सरक्षण की नीति द्वारा रोजगार के नये नये साधन स्थापित किये जा सकते हैं और यदि सरक्षण की नीति नहीं अपनाई जाती है तब कभी-कभी पुराने व्यवसाय एव रोजगार के साधन तक समाप्त हो जाते हैं। अत देश में बेकारी की समस्या को दूर या कम करने के लिये भी सरक्षण की नीति का समर्थन किया जाता है। परन्तु आलोचको ने इस तर्क को भी बहुत दोषपूर्ण बताया है—(i) सरक्षण द्वारा कुल रोजगार में वृद्धि नहीं होती है—इस मत के समर्थकों का कहना है कि सरक्षण द्वारा यह सम्भव है कि सरक्षित-उद्योग में वृद्धि हो जाय, परन्तु इस प्रकार की उन्नति अन्य उद्योगो को हानि पहुँचा सकती है। इसका कारण स्पष्ट है। जब देश में आयात कम हो जायगी, तब शनैः शनैः देश से निर्यात भी कम हो जायगी जिससे निर्यात उद्योगो में बेकारी फैल जायगी। इस तरह सरक्षण नीति के अपना लेने से श्रमिक केवल निर्यात उद्योगो से हट कर सरक्षित उद्योगो में काम करने लगते हैं। अत सरक्षण की नीति अपना लेने पर भी देश में कुल रोजगार या रोजगार के कुल साधनों में कोई वृद्धि नहीं होती है। (ii) कीन्स (Keynes) के सुझाव व्यवहारिक नहीं हैं—सरक्षण द्वारा देश में बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये कीन्स ने दो सुझाव दिये हैं—(क) सरकार सरक्षण द्वारा रोजगार में वृद्धि तब ही कर सकती है जबकि वह सरक्षण की नीति के साथ ही विदेशियों को ऋण इस देश से वस्तुओ को खरीदने के लिये भी दे दे। जब विदेशी इस ऋण से निर्यात उद्योग की वस्तुएँ खरीदेंगे तब निर्यात-उद्योगो में बेरोजगारी नहीं फैलेगी और अन्तत देश मे कुल रोजगार में वृद्धि हो जायगी। अत कीन्स (Keynes) ने देश में बेरोजगारी को दूर करने के लिये सरक्षण के साथ ही साथ विदेशियो को ऋण देने का भी सुझाव भी रक्खा है। (ख) कीन्स ने यह भी कहा है कि सरक्षण करों से प्राप्त आमदनी को निर्यात उद्योगों को आर्थिक सहायता के रूप में दे देना चाहिए ताकि ये

* "It is clear that the complete logical application of this postulate would destroy all International Trade since this arises only because of differences in costs —Haberler

उद्योग वस्तुओं को विदेशों में सस्ते मूल्य पर बेच सकें। इस तरह इन दोनों सुझावों को कार्यान्वित करने पर एक तरफ संरक्षण द्वारा नये-नये कुछ उद्योगों में रोजगार बढ़ेगा और दूसरी तरफ विदेशियों को ऋण और निर्यात-उद्योगों को आर्थिक सहायता देने पर निर्यात-उद्योगों में रोजगार बढ़ेगा। परिणामतः देश में कुल रोजगार में वृद्धि हो जायेगी। परन्तु आलोचकों ने कीन्स के इन दोनों सुझावों की कड़ी आलोचना की है क्योंकि उसके उक्त दोनों सुझाव व्यवहारिक नहीं हैं। प्रथम सुझाव तो इसलिए दोषपूर्ण है कि एक देश विदेशियों को कब तक और कहाँ तक ऋण दे सकता है? फिर, जब तक हम विदेशियों को वस्तुएं अपने देश में आकर बिकने नहीं देंगे, तब तक इस ऋण की अदायगी कैसे होगी? दूसरे सुझाव के विपक्ष में यह कहा जाता है कि जब कोई एक देश निर्यात-उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर विदेशों में अपनी वस्तुयें सस्ती बेचेगा तब इस प्रकार की सस्ती वस्तुओं के कुप्रभाव से बचने के लिये विदेशी भी अपने यहाँ प्रतिक्रियास्वरूप निर्यात उद्योगों को आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर देंगे। अतः आर्थिक सहायता (Bounties and Subsidies) की नीति द्वारा निर्यात कायम रखना तनिक कठिन रहता है। यह स्पष्ट है कि देश में रोजगार [redacted] वृद्धि करने [redacted] हेतु संरक्षण की नीति [redacted] अपनाने के तर्क में बहुत बल नहीं है।

(९) राशिपातन तर्क (Dumping Argument):—राशिपातन का अभिप्राय विदेशियों की उस कार्यवाही से है जिससे वे अपनी वस्तुओं को उनकी लागत से भी कम मूल्य पर या स्वदेश के उद्योगों की अपेक्षा बहुत कम मूल्य पर बेचते हैं। किसी देश के उत्पादक इस रीति को तब ही अपनाते हैं जबकि वे विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करके उन्हें टक्कर में गिराना चाहा करते हैं या जब उनके किसी उद्योग में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू हो रहा हो और वे अपने बचे हुए माल को विदेशों में बेचना चाहा करते हैं। राशिपातन अथवा इस बेईमानी-पूर्ण प्रतियोगिता का आयातकर्ता देश के उद्योगों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा करता है। परिणामतः उक्त नीति के बुरे प्रभावों से बचने के लिये आयातकर्ता देश को भी प्रतिक्रियास्वरूप संरक्षण की नीति अपनानी पड़ती है। स्वतन्त्र व्यापार [redacted] समर्थक तक संरक्षण द्वारा इस प्रकार की प्रतियोगिता के विरुद्ध कार्यवाही करना उचित बताते हैं।

(१०) राष्ट्रीय प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग का तर्क (Proper Utilisation of the National Resources Argument)—स्वतन्त्र व्यापार का यह दोष है कि इसमें देश के साधनों का बहुत व्ययपूर्ण उपयोग होता है क्योंकि जब एक देश किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेता है, तब इस उद्योग के उपयोग में आने वाले साधनों का जल्दी-जल्दी उपयोग होने से ये बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाते हैं जिससे इस देश की क्षति होती है। जीवन्स (Jevons) ने इंगलैंड से कोयले की निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव इसी कारण दिया था। भारत का मैंगनीज व अबरक (Mica) का भण्डार भी काफी समाप्त हो चुका है। इसीलिए जब किसी देश के प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग नहीं होने से इनका भण्डार समाप्त होने लगता है, तब इस देश को अपने बहुमूल्य खनिज-पदार्थों को बचाने के लिये संरक्षण की

सहायता देनी पड़ती है।

(११) सरकारी आय का तर्क (The Revenue Argument) —संरक्षण करों का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं वरन् देश के प्राकृतिक साधनों को देश के अधिक से अधिक हित में प्रयोग करना होता है। परन्तु जब सरकार संरक्षण-कर लगाती है, तब उसे इस मद से कुछ न कुछ आमदनी भी अवश्य प्राप्त होती है। वर्तमान सरकारों को अपनी आय का काफी बड़ा भाग आयात-कर व निर्यात कर से प्राप्त होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि संरक्षण नीति तथा सरकारी द्वारा आय एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध है। यदि किसी देश में पूर्ण संरक्षण है, तब वस्तुओं की आयात नहीं होने से सरकार को कुछ भी आय प्राप्त नहीं होगी। इसी तरह यदि सरकार आयात-कर द्वारा कुछ आमदनी प्राप्त करना चाहती है, तब देश में वस्तुओं का आयात होने से उद्योगों को संरक्षण नहीं मिलेगा। परन्तु यदि आयात कर मामूली-सा है, तब एक ओर यदि उद्योगों को कुछ संरक्षण मिल जाता है तब दूसरी ओर राज्य को वस्तुओं की आयात से कुछ आय भी प्राप्त हो जाती है।

(१२) अन्य फुटकर तर्क (Other Miscellaneous Arguments) —संरक्षण के पक्ष में दिये गये उपलिखित महत्वपूर्ण तर्कों के अतिरिक्त अर्थशास्त्रियों ने कुछ और भी तर्क दिये हैं, जो इस प्रकार हैं — (क) व्यापारिक सन्तुलन का तर्क.—आयात-कर व निर्यात-कर द्वारा सरकार को न केवल आमदनी ही प्राप्त हो जाती है वरन् इससे देश में व्यापारिक सन्तुलन की भी व्यवस्था हो जाती है। आयात करों से देश की आयातें कम हो जाती हैं और गृह-उद्योगों का विकास हो जाता है। गृह उद्योगों के विकास से निर्यात व्यापार प्रोत्साहित हो जाता है। अन्ततः व्यापारिक सन्तुलन स्थापित हो जाता है। (ख) विलासिताओं की आयात पर प्रतिबन्ध का तर्क —स्वतन्त्र व्यापार में एक देश में कभी कभी विलासिता सम्बन्धी एवं हानिकारक वस्तुओं की आयात होती है क्योंकि ये वस्तुयें विदेशों से सस्ते मूल्य पर आ जाती हैं। आयात कर द्वारा सरकार ऐसी वस्तुओं की आयात को बहुत ही ज्यादा हतोत्साहित कर दिया करती है। अतः देश को हानिकारक वस्तुओं के उपयोग से बचने के लिये संरक्षण की नीति का समर्थन किया जाता है। (ग) भावताव तर्क (Bargaining Argument) —संरक्षण द्वारा एक देश दूसरे देश से लाभप्रद व्यापारिक समझौते करने में सफल हो जाता है। (घ) राष्ट्रीय आत्म निर्भरता का तर्क —(National Self-sufficiency Argument) —यह तर्क सुरक्षा के तर्क से बहुत कुछ मिलता जुलता है। राष्ट्रीयता के युग में प्रत्येक देश को आत्म निर्भर होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक देश में प्रत्येक वस्तु का उत्पादन होना चाहिये और यह संरक्षण की नीति द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि देश आत्म-निर्भर नहीं है, तब युद्ध-काल में उसकी सैनिक शक्ति बहुत कमजोर रहेगी और वह दूसरों पर भी विजय पाने में असमर्थ रहेगा। अतः देश की सुरक्षा तथा आर्थिक आत्म-निर्भरता के लिये संरक्षण अत्यावश्यक होता है। (ङ) राष्ट्रीय भावना के विकास की युक्ति (Promotion of Nationalism Argument) —संरक्षण से देश में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न रहती है और जब देश में देश भक्ति का भाव जाग्रत हो

जाता है तब स्वदेश में बनी वस्तुओं का उपभोग बढ़ने से गृह-उद्योगों का विकास हो जाता है। अतः संरक्षण राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने के लिए भी आवश्यक है।

संरक्षण के विपक्ष में तर्क
(Arguments against Protection)

संरक्षण के विरोधियों ने इसके विपक्ष में समय-समय पर कुछ तर्क दिये हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) संरक्षण तुलनात्मक-लागत-सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है:—स्वतन्त्र व्यापार का आधार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त होता है। इसमें प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिसमें उसे सबसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं अथवा जिसमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ है। परिणामतः इस अवस्था में विश्व में कुल उत्पत्ति तुलना में बहुत ज्यादा हो जाया करती है। परन्तु संरक्षण की नीति का प्रभाव उक्त के बिल्कुल विपरीत होता है। इससे प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) पर भी रोक लग जाती है जिससे उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम पुरस्कार देने वाले तरीकों में उपयोग नहीं होने पाता है। संरक्षण से साधनों का अनार्थिक उपयोग होता है। परिणामतः इससे विश्व की कुल उत्पत्ति में कमी और मूल्यों में वृद्धि हो जाया करती है। आलोचकों ने इसी दृष्टिकोण से संरक्षण की नीति का विरोध किया है। (ii) संरक्षण से देश में आर्थिक दृष्टि से दुर्बल उद्योगों का निर्माण हो जाता है:—संरक्षण के कारण देश में ऐसे उद्योगों का निर्माण हो जाता है जो आर्थिक दृष्टि से उस देश में नहीं स्थापित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के उद्योग देश के लिये एक भार-स्वरूप हो जाते हैं क्योंकि जैसे ही इन उद्योगों पर से संरक्षण हटाया जाता है वैसे ही ये विदेशी प्रतियोगिता की टक्कर में समाप्त हो जाते हैं और इससे देश को बहुत क्षति होती है। अतः संरक्षण का इसलिये विरोध किया जाता है क्योंकि यह देश में अयोग्य तथा अकुशल उद्योगों के निर्माण को प्रोत्साहन देता है। (iii) उपभोक्ताओं को हानि:—संरक्षण से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे उन्हें हानि सहनी पड़ती है। (iv) संरक्षण को एक बार लागू करने पर इसे हटाना कठिन हो जाता है:—जब एक बार किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान कर दिया जाता है, तब इसे इस उद्योग पर से हटाने में बहुत कठिनाई होती है क्योंकि उत्पादक अपने निजि लाभ के लालच में, उद्योग के दृढ़ आधार पर स्थापित हो जाने पर भी, इसे हटाने नहीं देते हैं। (v) देश में भ्रष्टाचार फैलता है:—चूंकि संरक्षण से उद्योगपतियों को बहुत लाभ होता है इसलिए वे इस नीति को कायम रखने के हेतु सरकारी कर्मचारियों, राजनीतिज्ञों व विधान-सभा के सदस्यों को घूंस देते हैं। घूंस और रिश्वत खोरी का यह भी परिणाम होता है कि देश में कभी कभी ऐसे उद्योगों को संरक्षण मिल जाता है जिन्हें यह नहीं मिलना चाहिए और जिन उद्योगों का संरक्षण मिलने का अधिकार होता है उन्हें नहीं मिलने पाता है। (vi) एकाधिकारी संस्थायें स्थापित हो जाती हैं:—संरक्षण से देश में विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है जिससे उद्योगपतियों को एकाधिकारी संस्थाओं या गुट बनाने में प्रोत्साहन मिलता है (Tariff is the mother of all Trusts)। (vii) उद्योगों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है:—संरक्षण प्राप्त हो जाने

पर उद्योगपति लापरवाह हो जाते हैं। प्रतियोगिता का भय इन्हें उद्योगों में सुधार तथा इनके वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए प्रेरित करता रहता है। चूंकि संरक्षण से प्रतियोगिता का भय दूर हो जाता है और उत्पादकों को निश्चित लाभ का आश्वासन मिल जाता है, इसलिये व्यवसायों में उत्पादन-विधि की कार्य क्षमता में कमी आ जाती है। (viii) संरक्षण आय के वितरण की असमानता को बढ़ा देता है—संरक्षण में संरक्षित उद्योगपतियों को अरक्षित उद्योगों की तुलना में अधिक लाभ होता है। यह समाज के निर्धन वर्गों पर धनियों के लाभ के लिए अदृश्य-कर लगाकर निर्धनों को और भी अधिक धनहीन बना देता है। अतः संरक्षण से समाज में धन का वितरण और भी असमान हो जाता है। (ix) राष्ट्रों में मन मुटाव हो जाता है—संरक्षण से दो देशों के बीच प्रतिकार की भावना (Retaliation) उत्पन्न हो जाती है जिससे राष्ट्रों में आपस में राजनैतिक बेचैनी व मन मुटाव को प्रोत्साहन मिलता है। कभी-कभी विदेशी बाजारों के खो जाने के कारण, युद्ध के छिड़ जाने तक का भय हो जाता है (x) संरक्षण से विदेशी व्यापार कम हो जाता है—*संरक्षण से देश में विदेशी माल की आयात कम हो जाती है।* आयात कम हो जाने पर देश की निर्यात भी कम हो जाती है क्योंकि कोई देश अपनी आयात का भुगतान मुद्रा में नहीं वरन् निर्यात के रूप में किया करता है। अतः संरक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ह्रास होता है।

निष्कर्ष—संरक्षण के उपर्लिखित बहुत से दोष संरक्षण के नहीं हैं वरन् ये इसके उपयोग के दोष हैं। यदि संरक्षण के लाभ व दोषों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाये, तब इससे यह स्पष्ट हो जायगा इसके दोषों की तुलना में इसके लाभ अधिक हैं। यही कारण है कि आज संरक्षण या स्वतन्त्र व्यापार सम्बन्धी वाद-विवाद का अन्त हो गया है और प्रत्येक देश ने अपने सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए संरक्षण की नीति अपनाई है। वर्तमान युग की नियन्त्रित व आयोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) संरक्षण द्वारा ही सम्भव है। एक आर्थिक दृष्टि से अविकसित व पिछड़ा देश *अपना आर्थिक विकास संरक्षण की सहायता से ही कर सकता है।*

संरक्षण की रीतियाँ एवं विदेशी व्यापार में बाधायें
(Methods of Protection or Barriers to Foreign Trade)

वर्तमान युग में किसी एक देश की सरकार कितनी ही रीतियाँ अपनाकर विदेशी व्यापार में बाधाएँ डाल दिया करती हैं जिनका प्रभाव देश को संरक्षण प्रदान करना हुआ करता है। विदेशी व्यापार की मुख्य-मुख्य बाधाएँ इस प्रकार हैं—

(i) वैधानिक निषेध (Legislative Prohibition) —सरकार कभी कभी किसी वस्तु या वस्तुओं की आयात या निर्यात हर कानून द्वारा प्रतिबंध लगाकर विदेशी व्यापार में बाधाएँ डाल देता है। उदाहरण के लिये, कुछ समय पहले अमेरिका ने अर्जेनटाईना से मांस मंगवाना पूर्णतया वर्जित कर दिया था क्योंकि वहाँ के पशुओं में मुंह का रोग बहुत फैला था। (ii) आयात-निर्यात कर या संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariffs) —संरक्षण की यह रीति सबसे पुरानी और सबसे अधिक प्रचलित है। देश की आयात या निर्यात पर कर लगाकर इनको महँगा कर दिया जाता है जिससे इनकी

मांग कम हो जाती है। आजकल निर्यात-कर की अपेक्षा आयात-कर अधिक प्रचलित हैं क्योंकि ये न केवल सरकार को कुछ आय देते हैं वरन् इनसे देश के उद्योगों को प्रोत्साहन भी मिलता है। आयात कर जब संरक्षण के उद्देश्य से लागू किया जाता है तब इसे संरक्षण-कर (Protective Duty) कहते हैं और जब यह आय की दृष्टि से लगाया जाता है तब इसे आय-कर (Revenue Duty) कहते हैं। आयात-निर्यात कर कई प्रकार के होते हैं:- जब ये नाप, तोल या सख्या के अनुसार लगाये जाते हैं, तब इन्हें परिमाण-कर (Specific Duty) कहते हैं और जब इन्हें वस्तु के मूल्यानुसार लगाते हैं, तब इनको प्रति-मूल्य कर (Ad Valorem Duty) कहते हैं। (iii) कोटा प्रणाली (Quota System):—यह संरक्षण की एक बहुत ही सप्रभाविक रीति है। कोटा-प्रणाली मे सरकार विभिन्न वस्तुओं की आयात या निर्यात का अधिकतम परिमाण, एक निश्चित समय मे, निर्धारित कर देती है। कभी यह कोटा देशानुसार निश्चित किया जाता है कि अमुक देश से अमुक मात्रा में वस्तुओं की आयात या निर्यात होगी। कभी-कभी देश मे एक ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है कि वस्तुओं को अमुक मात्रा तक आयात या निर्यात करने पर तो अमुक रियायती कर (Concessional Tax) लिया जायगा और इस मात्रा से अधिक आयात या निर्यात करने पर कर की पूरी मात्रा ली जायेगी। अतः कोटा प्रणाली द्वारा देश मे वस्तुओं की पूर्ति नियन्त्रित कर दी जाती है।* (iv) लाइसेंस प्रणाली (License System):–कभी-कभी सरकार वस्तुओं की आयात या निर्यात करने का अधिकार केवल लाइसेंस प्राप्त व्यापारियो को ही देती है। इससे देश मे वस्तुओं की पूर्ति सरकार द्वारा नियन्त्रित हो जाती है। (v) आयात-निर्यात एकाधिकार (Import-Export Monopoly) :—कभी-कभी सरकार वस्तुओं की आयात या निर्यात करने का अधिकार स्वयं ग्रहण कर लेती है। परिणामतः कौन-सी वस्तु, कैसी गुण वाली, किस मात्रा मे तथा किस देश से मंगवाई जाय—इन सब बातों पर सरकार का नियन्त्रण हो जाता है। इसे राजकीय व्यापार (State Trading) भी कहते हैं। (vi) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control):– आजकल यह रीति अत्यधिक प्रभावी सिद्ध हुई है। प्रत्येक देश की सरकार विनिमय की दर नियन्त्रित करती है तथा एक व्यापारी सामान्यतया सरकार से ही विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है जिससे स्वतन्त्र व्यापार मे बाधा पड़ जाती है। प्रायः एक देश

---

*कोटा प्रणाली के कई लाभ हैं—(i) यह प्रणाली बहुत लोचपूर्ण होती है, (ii) इस प्रणाली में दूसरे देशों से व्यापारिक सौदे अच्छे हो सकते हैं, (iii) कोटे प्रणाली से पक्षपातपूर्ण व्यापार के सिद्धान्त की आवश्यकता नही रहती है, (iv) वस्तुओं की मात्रा निश्चित हो जाने से उत्पादक भी अपनी वस्तुओं की उत्पत्ति कोटों के अनुसार ही व्यवस्थित कर सकते हैं। परन्तु इस प्रणाली में कई दोष भी हैं—(i) देश के बाजार में विदेशी वस्तुओं का मूल्य विदेशी बाजारो से भिन्न हो सकता है। चूंकि वस्तु का कोटा निश्चित है अर्थात् वस्तुओं की आयात इस सीमा से अधिक नही हो सकती है, इसलिये यद्यपि विदेशों में वस्तुओं का मूल्य कम हो गया है, परन्तु आयात के देश में इनके मूल्यों मे कमी नही होगी। (ii) कोटा प्रणाली में आयात करों की तुलना में सरकारी आय (Revenue) बहुधा कम होती है।

की सरकार अन्य देशो से समाशोधन समझौते (Clearing Agreements) तथा अन्य अनेक प्रकार के विदेशी विनिमय सम्बन्धी समझौते करके वस्तुओ की स्वतन्त्र आयात-निर्यात एव इनके मूल्य के भुगतान पर नियन्त्रण लगाती है। अत विनिमय नियन्त्रण भी स्वतन्त्र विदेशी व्यापार मे एक महत्वपूर्ण बाधा (Barrier) है। (vii) भेद भावपूर्ण व्यवहार (Preferential Treatment) —सरकार कभी-कभी विभिन्न देशों को वस्तुओ पर लिये जाने वाले करो (Taxes) मे भेद-भावपूर्ण व्यवहार करती है जिससे विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति मे रुकावटें पड जाती हैं। ये व्यवहार उन प्रबन्धों की ओर सकेत करते हैं जो साम्राज्य अभिमान (Imperial Preference) के अन्तर्गत हुए हैं। इस प्रकार के समझौतों से यद्यपि दो देशों के बीच तो व्यापार बढता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवश्यमेव कम हो जाता है क्योकि जिन देशों की वस्तुओ पर अधिक आयात-कर लगते हैं, वे भी इन देशो की वस्तुओ पर अधिक कडे आयात कर लगा देते हैं। अत भेद-भावपूर्ण व्यवहार से स्वतन्त्र विदेशी व्यापार मे बाधा पडती है।

निष्कर्ष —उक्तलिखित वे रीतियाँ हैं जिन्हे अपनाकर किसी भी देश की सरकार अपने विदेशी व्यापार मे बाधाएँ डाल सकती है और जब किसी देश के विदेशी व्यापार में बाधायें डाल दी जाती हैं, तब इनका प्रभाव उस देश को सरक्षण प्रदान करना होता है।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B A & B. Sc

१. सरक्षण के पक्ष के तर्कों की विवेचना कीजिये। उसके विपक्ष में कौन से तर्क हैं? (१६६०)। २ ससार की वर्तमान व्यावारिक दशा में स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्कपूर्ण सुझाव दीजिये। (१६५६)। ३. किन परिस्थितियो के अन्तर्गत तट-कर सरक्षण उचित है? देश की आर्थिक उन्नति में यह किस प्रकार सहायक है, उदाहरण सहित समझाइये। (१६५८)। 4 Examine the relative usefulness of the following as methods of protection to industries—(a) Tariffs, (b) Quantitative Restrictions (c) Subsidies and (d) Tariff Quotas (1956) 3 Discuss the problems of Free Trade Versus Protection Which of them do you prefer and why? (1956) 6 "The economic arguments for the maximum freedom of trade between nations is based on the irrefutable general principle The arguments for protectionism are based on a series of special circumstances, many of them non economic" Discuss (1955 S)

Rajputana University, B A & B Sc.

1 What are the chief arguments in favour of a policy of protection (सरक्षण)? How can protection encourage planning? (1959) 2 Discuss the arguments in favour of Protection (सरक्षण). Do you think India should adopt a policy of protection (विवेचनात्मक सरक्षण)? (1958) 3 What are the arguments in favour of a 'policy of protection'? What is meant by a policy of 'discriminating protection (1957) 4 Distinguish between—Free Trade and Protection (1957) 5 Distinguish between—'Free Trade' and 'Protection' Show under what conditions protection is justified? (1955)

Sagar University, B. A.

१. टिप्पणी लिखिये—'विवेचनात्मक संरक्षण'। (१९५९)।

Jabalpur University, B. A.

१. संरक्षण (Protection) से आप क्या समझते हैं ? संरक्षण नीति के पक्ष मे कौन से तर्क दिये जाते हैं ? क्या आप उनसे सहमत है ? (१९५९)।

Vikram University, B. A. & B. Sc.

१. संरक्षण के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं, उनका विवेचन कीजिये। (१९५९)

Allahabad University, B. A.

1. State and examine the main arguments which are generally put forward in favour of protection. (1955)

Bihar University, B. A.

1. Describe the various methods of protecting an industry. (1955)

Patna University, B. A.

1. Discuss the case for protection of domestic industries on the ground of providing employment within a country. Would you advocate protection in India on this ground ? (1957)

Nagpur University, B. A.

१. मुक्त व्यापार की नीति यह सर्वोत्तम नीति क्यो मानी जाती है ? किन परिस्थितियों में संरक्षण की नीति आर्थिक नीति से उचित है ? (१९५६)। २. क्या आप वर्तमान परिस्थिति में भारत के लिये अबाध व्यापार (Free Trade) नीति का समर्थन न करेंगे ? स्पष्टतया समझाइये। (१९५६)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १.—(i) संसार की वर्तमान व्यापारिक दशा में स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्कपूर्ण सुझाव दीजिए (Agra, B. A. १९५६, Nagpur B. A. १९५८), (ii) मुक्त व्यापार की नीति—*यह सर्वोत्तम नीति क्यों मानी जाती है ? किन परिस्थितियों में* संरक्षण की नीति आर्थिक नीति से उचित है ? (Nagpur, B. A. १९५६)।

संकेत:—उत्तर के आरम्भ मे स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ समझाइये (आधा पृष्ठ)। तत्पश्चात् स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों को विस्तार से लिखिए, जैसे—(i) समाज मे अधिकतम उत्पत्ति होती है—विशिष्टीकरण तथा तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रयोग होता है, देश में उपलब्ध साधनो का अधिकतम उपयोग होता है, (ii) वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य कम से कम हो जाता है—स्वतन्त्र व्यापार में केवल योग्य व कुशल उद्योग जीवित रहते हैं जिससे उत्पादन व्यय न्यूनतम होता है, (iii) भौगोलिक स्थानीयकरण—संसार के विभिन्न क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन का स्थानीयकरण हो जाता है जिससे भौगोलिक श्रम-विभाजन के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं। (iv) बाजार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, (v) एकाधिकार संघों के निर्माण पर रोक लगती है—क्योंकि इस व्यापार का आधार व्यापारियो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होती है। (vi) उत्पादन-विधि में सुधार—क्योंकि व्यापारियों में प्रतिस्पर्धा होती है। (vii) राष्ट्रों में सहयोग व सद्भावना—क्योंकि स्वतन्त्र व्यापार में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर रहता है। निष्कर्ष स्वरूप

लिखिये कि यद्यपि स्वतन्त्र व्यापार के अनेक लाभ हैं, तथापि वर्तमान आर्थिक राष्ट्रीयवाद तथा नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था के युग में यह केवल एक सिद्धान्त ही रह गया है इसीलिए सब ही राष्ट्रों ने संरक्षण की नीति अपनाई है (पाँच-छ पृष्ठ)।

प्रश्न २ —(i) संरक्षण के पक्ष के तर्कों की विवेचना कीजिए। उसके विपक्ष में कौन से तर्क हैं? (Agra B. A. १९६०, Vikram, B. A. १९६६, Allahabad, B. A. १९५५), (ii) किन परिस्थितियों के अन्तर्गत तट कर संरक्षण उचित है? देश की आर्थिक उन्नति मे यह किस प्रकार सहायक है, उदाहरण सहित समझाइए। (Agra, B. A. १९५८), (iii) क्या आप वर्तमान परिस्थितियों में भारत के लिए अबाध व्यापार (Free Trade) नीति का समर्थन न करेंगे? स्पष्टतया समझाइये। (Nagpur B. A १९५६), (iv) संरक्षण से आप क्या समझते हैं? संरक्षण नीति के पक्ष में कौनसे तर्क दिये जाते हैं? क्या आप उनसे सहमत हैं? (Jabb, B. A. १९५६), (v) विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का क्या अर्थ है? (Raj, B. A. १९५७), (vi) क्या भारत को विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए? (Raj. B. A. १९५८), (vii) Discuss the case for Protection of Domestic Industries on the ground of providing employment within a countary Would you advocate protection in India on this ground? (Patna, B A 1955), (viii) How can protection encourage Planning? (Raj, B A. 1959), (ix) "The economic argument for the maximum freedom of trade between nations is based on the irrefutable general principle The arguments for protectionism are based on a series of special circumtances, many of them noneconomic." Discuss (*Agra, B A. 1955*)

संकेत —उक्त प्रश्नों में पाँच बातें पूछी गई हैं—संरक्षण किसे कहते हैं? इसके पक्ष में क्या तर्क हैं? क्या आप इनसे सहमत हैं? किन परिस्थितियों में तट-कर संरक्षण उचित है? संरक्षण देश की आर्थिक उन्नति मे कहाँ तक सहायक होता है? क्या रोजगार के आधार पर आप गृह उद्योगों के संरक्षण के पक्ष में हैं? क्या आप भारत के लिये अबाध व्यापार नीति का समर्थन करेंगे? क्या भारत को विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए? प्रथम भाग में संरक्षण शब्द का अर्थ समझाइए (दो-तीन वाक्य)। द्वितीय भाग मे संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क लिखिए—शिशु-उद्योग तर्क, सुरक्षा का तर्क, उद्योगो में विभिन्नता का तर्क, मजदूरी का तर्क, द्रव्य को घर में ही रहने का तर्क, लागतो में समानता का तर्क, रोजगार का तर्क, राशिपातन तर्क, राष्ट्रीय प्राकृतिक साधनो के उचित उपयोग का तर्क, आदि (जब तक प्रश्न मे संरक्षण के विपक्ष के तर्कों को न पूछा जाये तब तक इन्हें नहीं लिखना चाहिए) (चार पाँच पृष्ठ)। इस प्रश्न का उत्तर कि क्या आप संरक्षण के पक्ष मे दिए गये तर्कों से सहमत हैं, इस प्रकार लिखिये—कि यद्यपि संरक्षण से देश को अनेक प्रकार से हानि होने की सम्भावनायें हैं, जैसे—उपभोक्ताओं को हानि होती है, देश मे भ्रष्टाचार फैलता है, एक बार लागू करने पर इसे हटाना कठिन हो जाता है, कमजोर व दुर्बल उद्योगो का जन्म होता है, उद्योगों में शिथिलता आती है, विदेशी व्यापार के कम होने की सम्भावना है आदि (इन बातो को दो-चार वाक्यो में लिखिये) तथापि वर्तमान

राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए हम संरक्षण के पक्ष में ही हैं क्योंकि इससे देश का आर्थिक विकास होता है, नागरिकों को रोजगार मिलता है आदि (संरक्षण के पक्ष के कुछ महत्वपूर्ण तर्कों को दो-चार वाक्यों में संक्षेप में लिखिये (दो-ढाई पृष्ठ) तृतीय भाग मे बताइये कि किन परिस्थितियों मे डट-कर संरक्षण उचित है ? यह देश की आर्थिक उन्नति में कहाँ तक सहायक होता है ? कि रोजगार के आधार पर क्या गृह-उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिये ?—कि जब देश में नये-नये उद्योगों की स्थापना की जा रही हो ताकि आर्थिक दृष्टि से घर का द्रव्य घर में ही रह सके, नागरिकों को रोजगार मिल सके, राष्ट्रीय प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग हो सके अथवा जब व्यापारिक या भुगतान का संतुलन देश के प्रतिकूल हो रहा हो अथवा चूँकि वर्तमान युग में प्रत्येक राष्ट्र राजनैतिक या सुरक्षा की दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहता है आदि (संरक्षण के पक्ष के महत्वपूर्ण तर्कों को सावधानी से संक्षेप में लिखिये) तब इस परिस्थिति मे संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए क्योंकि यह देश की आर्थिक व राजनैतिक उन्नति में सहायक होता है। (दो तीन पृष्ठ) चतुर्थ भाग में इस प्रश्न का उत्तर लिखिये कि आप भारत के लिए अबाध व्यापार की नीति का समर्थन करेंगे ?—इस प्रश्न का उत्तर भी बड़ी सावधानी से लिखा जाना चाहिए पहले अबाध व्यापार का अर्थ बताइये और तदपश्चात् पाँच सात वाक्यों में अबाध व्यापार के लाभ बताइये (संरक्षण की हानियाँ या विरुद्ध तर्क, अबाध व्यापार के लाभ या इसके पक्ष में तर्क हैं) और तब यह लिखिये कि वर्तमान आर्थिक व राजनैतिक राष्ट्रीयता के युग मे स्वतन्त्र व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं (या ये लाभ बहुत कुछ सैद्धान्तिक एवं कल्पनामात्र हैं) जितने कि संरक्षण से प्राप्त होने वाले लाभ हैं (इनको विस्तार से लिखिये) अतः हम भारत के लिये अबाध व्यापार की नीति का समर्थन नहीं कर सकते (तीन चार पृष्ठ) अन्तिम भाग मे विवेचनात्मक संरक्षण का अर्थ बताकर, यह स्पष्ट कीजिये कि भारत को भी इसी प्रकार की संरक्षण नीति अपनानी चाहिये और भारत ने ऐसा किया भी है (एक पृष्ठ)। एक पृष्ठ में यह भी स्पष्ट कीजिये कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था का आधार भी संरक्षण ही है—कि यदि संरक्षण नहीं हो तब देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना करना सम्भव नहीं हो, ऐसी स्थिति किसी योजना के आधार पर देश का चतुर्दशी आर्थिक विकास करना भी सम्भव नहीं हो सकता।

प्रश्न ३:—**Examine the relative usefulness of the following as methods of protection to industries—(a) Tariffs. (b) Quantitative Restrictions (c) Subsidies and (d) Tariff Quotas (Agra, B. A 1956)**

संकेत:—उत्तर के प्रारम्भ में संरक्षता का अर्थ लिखिये और चार-पाँच वाक्यों में बताइये कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति को स्वीकार किया था ताकि प्रत्येक देश तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर वस्तुओं का उत्पादन करे, यह नीति इंगलैंड मे सर्वाधिक अपनाई गई क्योंकि उसके लिये यह अनुकूल थी (अत्यधिक औद्योगिकरण के कारण), भारत, कनाडा व आस्ट्रेलिया आदि ने भी इंगलैंड का अनुकरण किया। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद लगभग सभी देशों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति को त्याग दिया और इसके स्थान पर संरक्षण की नीति अपनाई ताकि गृह उद्योगों को

प्रोत्साहन मिल सके। इस नीति को अपनाने के लिये विदेशी व्यापार पर कई प्रकार से रोक लगाई जाती है, जैसे—कस्टम-कर, कोटा व लाईसेंस, आयात एकाधिकार, विनिमय नियन्त्रण आदि। इनमें से कुछ का अध्ययन हम यहाँ करेंगे (आधा पृष्ठ)—(i) शुल्क और शुल्क कोटा (Tariffs and Tariff Quotas) आयातों को कम करने के लिये सरकार आयात कर लगाती है अथवा आयातों का कोटा निश्चित कर देती है (इन दोनों को विस्तार से समझाइये)—इससे स्वदेशी-विदेशी वस्तुयें महँगी हो जाती हैं और इनकी माँग कम हो जाती है और उपभोक्ता देशी वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं, स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन पर विदेशी प्रतियोगिता का प्रभाव नहीं पड़ता है, देश में बेकारी दूर होती है, मजदूरी ऊँची होती है देश आवश्यक वस्तुओं में आत्म निर्भर होने लगता हैं, कोटा प्रणाली इस लिये भी उत्तम है क्योंकि यह लोचदार होती है, इसमें पक्षपात पूर्ण व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि पारस्परिक हित में विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते किये जाते हैं आयात-कर की तरह इसका विरोध नहीं होता यदि दो देशों में ऐसा व्यापारिक समझौता है कि वे एक दूसरे देश की वस्तुओं पर आयात-कर नहीं लगायेंगे तब कोटा-प्रणाली को अपनाकर ये देश संरक्षण के लाभों को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इसका दोष यह है कि सरकार की आय बहुत कम हो जाती है, देश में आयात वस्तुओं का मूल्य स्थिर नहीं रहता है—आयात खुलने पर मूल्य कम और आयात बन्द या कम होने पर मूल्य अधिक हो जाता है जिससे वस्तु के स्वदेशी और विदेशी मूल्यों का अन्तर आयातकर्ता की जेब में जाता है जबकि सरकार को इस पद्धति को चलाने में व्यय भी अपने पास से करना पड़ता है, विदेशों में वस्तु का मूल्य कम हो जाने पर भी घरेलू उपभोक्ताओं को इससे लाभ नहीं होता, परन्तु आयात-कर में यह दोष नहीं है—विदेशों में मूल्य कम होते ही घरेलू बाजार में भी मूल्य कम हो जाते हैं, कोटा-पद्धति में सरकारी अधिकारियों के हाथों में भी अधिक शक्ति आ जाती है, (ii) आर्थिक सहायता (Bounties and Subsidies) सरकार किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये इसे समय समय पर आर्थिक सहायता देती है, जैसे—अनुदान, विशेष छूट, ऋण आदि। इसका प्रभाव भी संरक्षण-कर (Customs Duties) जैसा ही होता है—देश में उद्योगों का विकास तथा निर्यात में वृद्धि होती है (आर्थिक सहायता के विभिन्न रूपों को समझाइये)। परन्तु आर्थिक सहायता और संरक्षण-कर में भिन्नताय भी हैं—कर में विदेशी माल का मूल्य स्वदेश में बढ़ जाता है जिससे वह स्वदेशी माल की प्रतियोगिता नहीं करने पाता अथवा उसका आयात बन्द हो जाता है, कर से स्वदेशी उत्पादक अपने माल का अधिक मूल्य वसूल करने में सफल हो जाते हैं परन्तु सहायता में उत्पादकों को अपने माल का मूल्य कम लेना पड़ता है, आर्थिक सहायता कर से अधिक प्रभावोत्पादक होती है क्योंकि आयात-कर में तो उत्पादक को केवल स्वदेशी बाजार पर अधिकार प्राप्त होता है परन्तु सहायता में उसे स्वदेशी और विदेशी दोनों ही बाजारों पर अधिकार प्राप्त होता है (विदेशों में सस्ते मूल्य पर वस्तुयें बेचकर), कर में उपभोक्ताओं के हितों का बलिदान और उत्पादकों को लाभ होता है परन्तु आर्थिक सहायता में करदाताओं के हितों का बलिदान और उत्पादकों व उपभोक्ताओं को लाभ होता है, (iii) मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध

(Quantitative Restrictions)—यह वह प्रणाली है जिसमें सरकार एक निश्चित मात्रा से अधिक आयात की अनुमति नहीं देती—आयात होने वाली वस्तु की जो अधिकतम सीमा तय की जाती है, उसी सीमा के अन्दर किसी निश्चित समय में वस्तुओं का आयात किया जाता है—इस कार्य के लिये आयातकर्ताओं को लाईसेंस दिये जाते हैं (इसे विस्तार से समझाइये) यह प्रणाली कोटा-प्रणाली से बहुत कुछ मिलती जुलती है। अन्त में लिखिये कि भारत मे सरकार ने भी लगभग यही नीति अपना रखी है—प्रति छः महीने के लिए सरकार अपनी आयात नीति की घोषणा करती है जिसमें निश्चित रूप में बताया जाता है कि आगामी छः महीनो मे कौन-कौन सी वस्तुयें, कितनी-कितनी मात्रा में तथा किन किन देशों से आयात की जायेंगी। इस नीति का प्रयोग विनिमय-नियन्त्रण की नीति के पूरक के रूप मे किया जाता है जिससे यह बहुत प्रभावपूर्ण हो जाती है। यह स्मरण रहे कि संरक्षण की विभिन्न रीतियों का प्रयोग कभी भी एकाकी रूप में नहीं होता वरन् इनका एक-दूसरे के पूरक के रूप में किया जाता है और तभी ये रीतियाँ बहुत प्रभावपूर्ण एवं सफल सिद्ध होती हैं (पाँच-छः पृष्ठ)।

आँकड़ों

का

महत्व

भारतीय मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित प्रश्नो के उत्तरो मे विद्यार्थियो को अनेक महत्वपूर्ण आँकडे लिखने आवश्यक होते हैं। विद्यार्थी ऐसे प्रश्नो के उत्तरो में या तो आँकडे लिखते ही नही अथवा वे अविश्वसनीय और अनावश्यक आँकडे लिखते हैं। वस्तुत: स्थिति यह है कि यदि विद्यार्थी किसी प्रश्न के उत्तर को केवल दस पाँच महत्वपूर्ण आँकडो के आधार पर लिख दे, तब वे उच्च-स्तर के अंक प्राप्त कर लेते हैं। भारतीय समस्याओ से सम्बन्धित विषयो पर उत्तर लिखते समय उन्हे वर्तमान प्रवृत्तियो तथा आलोचको के विचारो को यथा सम्भव स्पष्ट रूप में लिखना चाहिये। यह स्मरण रहे कि मुद्रा बैंकिंग से सम्बन्धित भारतीय समस्याओ पर उत्तर लिखना अपेक्षाकृत सरल होता है और इन उत्तरो पर अंक भी अच्छे प्राप्त होते हैं।

—लेखक

भाग २ : खण्ड : १

भारतीय मुद्रा

(Indian Currency)

अध्याय १

भारतीय चलन का इतिहास–१*

(History of Indian Currency)

(सन् १८३५ से सन् १६२५ तक)

सन् १६३५ तक मुद्रा की व्यवस्था:—भारत में मुद्रा का उपयोग अति प्राचीन-काल से होता चला आया है। हिन्दू-काल मे भी स्वर्ण और चादी के सिक्को का उपयोग होता था। इस बात का प्रमाण हमारे प्राचीन ग्रन्थो एव साहित्य से मिलता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर जो सिक्के तथा शिला-लेख प्राप्त हुए हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि भारत मे धातु-मुद्रा का उपयोग बहुत ही पुराने समय से होता आया है। मुसलमान बादशाहो ने भी यहाँ की प्राचीन-पद्धति को ही अपनाया था और उनके शासन-काल मे बहुमूल्य धातुओ के सिक्को की निकासी एक मामूली-सी बात थी। कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल मे रोप्य मान (Silver Standard) का अवलम्बन किया गया था और देश की मुद्रा-व्यवस्था मे बहुत कुछ एकता लाई गई थी। मुस्लिम शासन-काल मे मुद्रा-प्रणाली में यहाँ तक विकास हुआ कि मुहम्मद तुगलक ने साकेतिक सिक्को तथा पत्र-मुद्रा का प्रचलन किया, यद्यपि उसका यह प्रयत्न सफल नही हो सका। परन्तु मुगल शासन के अन्त हो जाने पर देश मे मुद्रा-व्यवस्था भी बहुत अस्त-व्यस्त हो गई क्योकि विभिन्न राज्यो के स्वतन्त्र हो जाने पर उन्होंने अपनी-अपनी टकसालें स्थापित की जिनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्को एव मुद्राओ (मूल्य मे भिन्नता थी) का प्रचलन हुआ। सत्रहवीं शताब्दी मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपनी बस्तियो के लिए सिक्के ढाले थे और जैसे-जैसे कम्पनी का अधिकार क्षेत्र बढता गया, वैसे ही वैसे सिक्को के प्रचलन-क्षेत्र का भी विस्तार होता गया। यह अवश्य है कि आन्तरिक व विदेशी व्यापार मे उस समय चादी का रुपया ही मूल्य-मापन का कार्य करता था। परन्तु उस समय के चादी के रुपये का वजन तथा शुद्धता विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थी जिससे व्यापारिक व्यवहारो का भुगतान मूलत चादी की शुद्धता और वजन से होता था। इस तरह सन् १८३५ तक देश मे अनेक धातुओ के सिक्के चलन मे थे और एक धातु के सिक्के तक रूप, मूल्य, वजन तथा शुद्धता मे विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थे। जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय शासन की बागडोर सम्भाली, उस समय भारत मे सोने और चादी दोनो के ही सिक्को का प्रचलन था और देश मे लगभग ६६४ प्रकार के सिक्के चलन मे थे जिनका आपस मे परिवर्तन उनके वजन व शुद्धता के आधार पर सर्राफ व

*बी० ए० के विद्यार्थियो को यह अध्याय केवल एक सरसरी निगाह से ही पढना चाहिये। परीक्षा की दृष्टि से यह अधिक उपयोगी नही है।

साहूकारो द्वारा किया जाता था। परिणामत. मुद्रा-प्रणाली ऐसी थी जिससे व्यापार मे भारी असुविधा होती थी क्योंकि प्रत्येक विनिमय कार्य को पूरा करते समय सिक्कों की परख-तोल करनी पडती थी। इस तरह सन् १८३५ तक भारत में द्विधातु-मान (Bi-metallic Standard) प्रचलित था।

भारत में रजत-मान (१८३५–१८९८)
(Silver Standard in India)

रजत-मान की स्थापना और सन् १८३५ का टंकन एक्ट (Establishment of *the Silver Standard and the Indian Coinage Act 1835*):—ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि सन् १८३५ तक भारत मे सोने व चांदी दोनो के ही सिक्के, विभिन्न रूप, वजन, शुद्धता के प्रचलित थे जिससे देश के व्यापार व उद्योग के व्यवहारों में रुकावटें व अनेक प्रकार की कठिनाइयां अनुभव होती थी। इन कठिनाइयो को बहुत कुछ दूर करने के लिए ही सन् १८३५ मे टकन एक्ट (Coinage Act) पास हुआ। इस एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार थीं—(i) समस्त भारत मे पूर्ण रजत-मान (Silver Standard) की स्थापना की गई जिससे देश में एक धातु-मान प्रणाली को अपनाया गया। (ii) रुपयों की टकसाल मे स्वतन्त्र व अपरिमित मुद्रा ढलाई घोषित की गई। (iii) चादी के रुपये का वजन १८० ग्रेन $\frac{११}{१२}$ शुद्धता (एक तोला) का निर्धारित कर दिया गया। इस तरह देश के प्रामाणिक सिक्के मे १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी निश्चित कर दी गई। यह सिक्का अपरिमित विधि-ग्राह्य भी घोषित कर दिया गया। (iv) स्वर्ण के सिक्के अदृश्य हो गये थे। इस एक्ट के अनुसार टकसाल पर स्वर्ण के सिक्को की ढलाई हो सकती थी यद्यपि इस एक्ट ने सोने के सिक्को को ब्रिटिश भारत मे अवैध घोषित कर दिया। (v) इस एक्ट के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत मे जिस रजत-मान का अवलम्बन किया था वह १८७१ तक तो ठीक प्रकार से चलता रहा, परन्तु सन् १८७१ के बाद इसमे कठिनाई अनुभव होने लगी क्योंकि विश्व-व्यापी परिवर्तनों के कारण सन् १८७१ से रुपये का स्वर्ण-मूल्य गिरना आरम्भ हो गया। जबकि सन् १८७१ मे यह मूल्य २ शि० प्रति रुपया था, तब यह गिरते-गिरते सन् १८९२ मे १ शि० २ पैंस रह गया।

रजत-मान का पतन

रजत-मान के पतन के कारण (Causes of the Breakdown of the Silver Standard):–सन् १८७१ के बाद रजत-मान की कार्य-प्रणाली मे काफी कठिनाई अनुभव हुई क्योंकि चादी का मूल्य शनैः शनैः बहुत गिर गया था। चादी के मूल्य मे कमी हो जाने के कई कारण थे—चादी की नई-नई खानों की खोज हुई तथा इनमे चादी के निकालने की विधियो मे सुधार हुआ था, अधिकाश यूरोपियन देशो मे चादी का विमुद्रीकरण (Demonetization) कर दिया। १८७३ मे लेटिन सघ देशों ने द्विधातु-मान को त्याग दिया और चादी के सिक्को को चलन से निकाल दिया आदि। जिन देशो मे चादी के सिक्को का प्रचलन बन्द कर दिया गया था, वहां पर इन सिक्को को गलाकर धातु के रूप मे बेचा जाने लगा था। इन सब कारणो से चादी की पूर्ति मे इसकी मांग

की अपेक्षा बहुत ज्यादा वृद्धि हुई और इसके मूल्य में बहुत कमी हो गई। परिणामत स्वर्ण में चांदी का मूल्य शनै शनै कम होता चला गया। जबकि सन् १८७१ में रुपये का मूल्य ३ शि० था, तब यह गिरते-गिरते सन् १८९२ तक १ शि० २ पैंस ही रह गया।

परिणाम —(i) चांदी का मूल्य स्वर्ण में कम हो जाने का परिणाम यह हुआ कि भारत में चाँदी की आयात बहुत बड़ी मात्रा में हुई जिससे भारत में मुद्रा-स्फीति (Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो गई और मूल्यों में भी वृद्धि हो गई। (ii) सरकार का गृह खर्चों (Home Charges) का व्यय बहुत बढ गया क्योंकि पहले जो एक रुपया २ शिलिंग खरीदता था, परन्तु बाद में जब एक रुपया १ शिलिंग २ पैंस के बराबर हो गया तब पहिले की अपेक्षा अधिक रुपयों में पौंड खरीदा जाने लगा जिससे गृह खर्चों का भार बढ गया और सरकार को इसकी पूर्ति के लिये पहले से अधिक कर लगाने पड़े। (iii) विनिमय की दर के गिरने के कारण भारत में ब्रिटिश पूँजी की आयात हतोत्साहित हुई क्योंकि इंगलैंड के विनियोक्ताओं को पूँजी पर प्राप्त होने वाला ब्याज अनिश्चित हो गया और वापिस होने वाले मूलधन की मात्रा भी अनिश्चित रहती थी जिससे विदेशी पूँजी की सहायता से देश के आर्थिक विकास में काफी कठिनाई पड़ने लगी। इन सब परिणामों के कारण जनता ने स्वर्ण-मान को अपनाने के लिये आवाज उठाई।

सन १८९२ की हरशैल कमेटी (The Herschell Committee of 1892)– सन् १८७१ के बाद जब सरकार को रजतमान की कार्य-प्रणाली में कठिनाइयाँ अनुभव होने लगी, तब इसने लार्ड हरशैल (Herschell) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की, जिसे तीन बातों का विचार करके सरकार को अपनी सिफारिशें देनी थी—(i) क्या सरकार को भारत में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर देना चाहिये ? (ii) क्या भारत में स्वर्णमान स्थापित किया जाय और इसके अन्तर्गत सोने के सिक्के जारी किये जायें ? तथा (iii) क्या रुपये की स्टर्लिंग में विनिमय की दर घटाई जाय ? कमेटी ने इन सब बातों पर सोच विचार करके, भारतीय मुद्रा व्यवस्था में सुधार करने के लिये कई सुझाव रक्खे—(i) चांदी और सोने की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई बन्द कर देनी चाहिये, (ii) स्वर्ण की मुद्रायें सरकारी खजानों में १ शि० ४ पैंस की दर से स्वीकृत होनी चाहियें और यही विनिमय-दर स्थायी भी की जाय। (iii) रुपये को असीमित विधि ग्राह्य घोषित कर देना चाहिये। हरशैल कमेटी की सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये सन् १८९३ में एक नया एक्ट बनाया गया जिसने १८७० के टंकण एक्ट (Coinage Act) और १८८२ के पत्र मुद्रा करेन्सी एक्ट (Paper Currency Act) में संशोधन किये। सरकार ने १८९३ का जो एक्ट पास किया और तत्पश्चात् जो भी घोषणायें की उनका परिणाम यह हुआ—(i) सोने व चांदी का स्वतन्त्र टंकण बन्द कर दिया गया। चांदी का स्वतन्त्र टंकन इसलिये बन्द कर दिया गया ताकि रुपये की विदेशी विनिमय ऊँची बनी रहे। (ii) रुपया एक सांकेतिक सिक्का बना दिया गया क्योंकि इसका मुद्रण केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता था और इसका अंकित मूल्य इसमें निहित मूल्य से अधिक रक्खा गया। (iii) रुपये की विनिमय दर चाँदी के मूल्य के प्रभाव से स्वतन्त्र रख दी गई। रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पैंस निर्धारित कर दी गई।

(iv) सरकार को भुगतान में सावरन १५ रुपये की दर से दी जा सकती थी। (v) बम्बई तथा कलकत्ते की टकसालों को पत्र-मुद्रा के निर्गम का अधिकार दे दिया गया और यह व्यवस्था कर दी गई कि १ शि० ४ पेंस की दर पर ये पत्र-मुद्राएँ स्वर्ण के बदले दी जा सकती थी। अतः हरशैल कमेटी की सिफारिशों के आधार पर भारत में एक अपूर्व द्विधातु-मान अपनाया गया जिसमें चाँदी व सोने के सिक्कों की ढलाई जनता द्वारा नहीं कराई जा सकती थी और केवल चाँदी के रुपये ही असीमित विधि-ग्राह्य थे।

भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान [१८९८–१९२५]
(Gold Exchange Standard in India)

सन् १८९८ की फाऊलर कमेटी (Fowler Committee of 1898):—सन् १८९६ के आस-पास भारतीय रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पेंस पर स्थिर हो गई। परन्तु भारत सरकार ने भारत में एक पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना के लिए भारत सचिव से प्रार्थना की। परिणामतः सन् १८९८ में सर हैनरी फाऊलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई। इस कमेटी ने भारत में एक पूर्णरूप से स्वर्ण-मान स्थापित करने के उद्देश्य से कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की—(i) रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पेंस स्थिर रहनी चाहिये अर्थात् १५ रुपये=१ सावरन के होना चाहिए। सरकार को इस दर पर सोने या सोने के सिक्कों के बदले में रुपये देने चाहियें, परन्तु रुपयों के बदले स्वर्ण या स्वर्ण-मुद्रा देने के लिये सरकार बाध्य नहीं होनी चाहिये। (ii) ब्रिटिश सावरन को भारत में अपरिमित विधि-ग्राह्य सिक्का घोषित कर देना चाहिये और इसका भारत में प्रचलन होना चाहिये। इस कार्य के लिये भारत में सोने की स्वतन्त्र-मुद्रा ढलाई होनी चाहिये। अतः ब्रिटिश सावरन की ढलाई व इसका प्रचलन इंगलैंड और भारत दोनों ही देशों में होना चाहिये। इस तरह कमेटी ने सिफारिश की कि स्वर्ण-मुद्राएँ रुपये के साथ ही साथ १५ रुपये प्रति सावरन की दर से चलन में होनी चाहिये। (iii) रुपया अपरिमित विधि-ग्राह्य रहना चाहिये। परन्तु चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई नहीं होनी चाहिए अर्थात् रुपया केवल सांकेतिक सिक्का ही रहना चाहिये। रुपया आन्तरिक कार्यों के लिये स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं होना चाहिये। (iv) भारत सरकार को स्वर्ण निर्यात के लिये सोने का एक संचित कोष रखना चाहिये ताकि इसका विदेशी भुगतानों के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग हो सके और विनिमय की दर में स्थिरता स्थापित की जा सके। (v) रुपये के सिक्कों की ढलाई में जो भी लाभ प्राप्त होता है, उसे सरकार को अपनी साधारण आय में जमा नहीं करना चाहिये वरन् उसे इस लाभ को सोने के रूप में एक विशेष 'स्वर्ण-मान रिजर्व' में रखना चाहिये और यह कोष भी सरकार की पत्र-मुद्रा-निधि तथा ट्रेजरी जमाओं (Treasury Balances) से पूर्णतया पृथक् रखना चाहिये।

परिणाम—सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। सितम्बर सन् १८९९ में ब्रिटिश सावरन भारत में वैधानिक ग्राह्य बना दिया गया, परन्तु रुपया भी अपरिमित विधि ग्राह्य बना रहा। स्वर्ण-मान-रिजर्व स्थापित कर दिया गया। यद्यपि

फाउलर कमेटी (Fowler Committee) ने भारत मे स्वर्ण मुद्रा मान (Gold Currency Standard) स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु भारत मे स्वर्ण-मुद्रा-मान स्थापित नहीं हो सका। ब्रिटिश ट्रेजरी ने भी भारत में शाही टकसाल की शाखा खोलने की स्वीकृति नहीं दी जिससे भारत में सोने के सिक्कों के ढालने की योजना रद्द कर दी गई। परिणामत भारत मे स्वर्ण-मुद्रा-मान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान ही स्थापित हुआ। फाउलर कमेटी (Fowler Committee) की सिफारिशों के आधार पर भारत में जिस मान की स्थापना हुई, उसकी विशेषताएँ इस प्रकार थी —(i) आन्तरिक मुद्रा में नोट और रुपये प्रचलन म थे। रुपया सांकेतिक मुद्रा थी और यह मूल्यमापक था। चलन में अन्य छोटे-छोटे सिक्के भी थे जो सीमित वैधानिक ग्राह्य थे। परन्तु सीमित मात्रा मे ब्रिटिश सावरन भी चलन मे था। (ii) आन्तरिक कार्यों के लिये रुपय के बदले में सोना नहीं मिलता था, परन्तु बाह्य कार्यों के लिये १ शि० ४ पेंस प्रति रुपया की दर पर स्वर्ण मिल सकता था। (iii) रुपये का स्टर्लिंग मूल्य उच्चतर-स्वर्ण बिन्दु १६$\frac{3}{2}$ पेंस और निम्नतम बिन्दु १५$\frac{2}{3}\frac{9}{2}$ पेंस के बीच मे निर्धारित किया गया। यह काउन्सिल बिल्स और रिवर्स काउन्सिल बिल्स की खरीद बिक्री द्वारा होता था। (iv) स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति को सफल बनाने के लिय दो रिजर्व स्थापित किये गये—एक रुपयो मे भारत में और दूसरा लन्दन में स्टर्लिंग में। व्यवहार में इन निधियों का उपयोग विनिमय कार्यों के लिये किया जा सकता था। (v) यद्यपि इस मान मे विनिमय-दर में स्थिरता प्राप्त हो गई, परन्तु देश म मूल्यो म स्थिरता कायम न हो सकी जिससे देश के विदेशी व्यापार में अनिश्चितता उत्पन्न हो गई और इसका देश के आर्थिक विकास पर बहुत ही घातक प्रभाव पड़ा। चूंकि यह एक प्रबन्धित मान (Managed Standard) था और इसके सफल कार्य-सचालन के लिये पग-पग पर सरकार को हस्तक्षेप करना पडता था, इसलिय इस मौद्रिक मान की देश भर म बहुत ज्यादा आलोचना की गई।

<u>सन् १९१३ का चेम्बरलेन कमीशन</u> (Chamberlain Commission of 1913) —फाउलर कमेटी की सिफारिशो के आधार पर भारत मे जो मुद्रा-मान स्थापित हुआ था, उसकी कडी आलोचना के परिणामस्वरूप अप्रैल १९१३ में श्री चैम्बरलेन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसका उद्देश्य था—(अ) फाउलर कमेटी की सिफारिशो के आधार पर भारत मे विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिये भारत सरकार एव सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने जो उपाय किय थे उनकी जाच करना, (आ) पत्र मुद्रा-रिजर्व तथा स्वर्ण-मान की स्वर्ण-निधि के उपयोग व उनके स्थान की जाच करना, (इ) जो उस समय की मुद्रा प्रणाली थी उसकी जाँच-पड़ताल करना और यह मालूम करना कि वह लाभदायक थी या नहीं थी आदि। चैम्बरलेन कमेटी की सिफारिशें इस प्रकार थीं —(i) कमीशन ने भारत में स्वर्ण विनिमय मान को चालू रखने की सिफारिश की और यह कहा कि देश म स्वर्ण का प्रयोग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देशवासी इसे कम चाहते हैं। (ii) स्वर्ण के सिक्कों को ढालने के लिये देश में एक नई टकसाल के स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि जनता इसकी मांग करे तब ऐसी टकसाल स्थापित की जा सकती है। बम्बई की टकसाल को रुपया

देकर सोना बराबर लेते रहना चाहिये। (iii) स्वर्ण-मान-निधि की कोई भी अधिकतम सीमा निश्चित नहीं होनी चाहिये वरन् इस निधि में अधिक से अधिक सोना जमा होना चाहिये और यह निधि भी लन्दन में जमा रहनी चाहिये। (iv) पत्र-मुद्रा-प्रणाली को अधिक लोचदार बनाना चाहिये, इसलिये कमीशन ने यह सिफारिश की कि नोटों के अरक्षित भाग (Fiduciary Issue) को १४ करोड रुपये से बढ़ाकर २० करोड रुपया कर देना चाहिये और स्वर्ण-मुद्रा के स्थान पर सोने के उपयोग को अधिक प्रोत्साहित करना चाहिये। (v) स्वर्ण-मान की चांदी वाली शाखा को बन्द कर देना चाहिये। (vi) भारत सरकार को यह गारन्टी देनी चाहिये कि वह प्रति रुपया १ शि० ३$\frac{2}{3}$$\frac{9}{2}$ पैंस पर रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचेगी। चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिशें भारत और लन्दन में फरवरी सन् १९१४ को प्रकाशित हुई थीं और जुलाई सन् १९१४ में युद्ध छिड़ गया। परिणामत. युद्ध के कारण सरकार उक्त कमीशन की अधिकांश सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं कर सकी।

प्रथम महायुद्ध में भारतीय मुद्रा-प्रणाली

प्रथम महायुद्ध और स्वर्ण-विनिमय-मान (First World War and the Gold Exchange Standard) :—सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध का भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और अन्तत. युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण स्वर्ण-विनिमय मान पूर्णतया टूट गया। भारतीय मुद्रा प्रणाली पर युद्धकालीन परिस्थितियों का जो प्रभाव पड़ा तथा बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने के लिये सरकार ने जो उपाय किये उनकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार है—(i) युद्ध ने अन्य देशों की तरह भारतीय मौद्रिक व आर्थिक स्थिति पर भी गहरा प्रभाव डाला। इसने व्यापार व व्यवसायों में अनिश्चितता उत्पन्न कर दी जिससे भयभीत होकर भारतवासियों ने अपने सेविंग्स बैंक्स के खातों में से रुपये निकालने आरम्भ कर दिये (युद्ध के प्रथम महीनों में ही ८ करोड रुपये के भुगतान किये गये), पत्र मुद्रा के बदले चांदी के सिक्के तथा सोने की मांग हुई (पहली और चौथी अगस्त १९१४ के बीच में ही भारत सरकार को १८ लाख पौंड कीमत का सोना देना पड़ा) तथा विनिमय की दर बहुत ही गिर गई। (ii) विनिमय-दर के पतन को रोकने के लिये अथवा इसे ठीक करने के लिये भारत सरकार ने ६ अगस्त १९१४ तथा २८ जनवरी १९१५ के बीच ८७·०७ लाख पौंड मूल्य के रिवर्स काउन्सिल बिल्स (Reverse Council Bills) बेचे। (iii) ५ अगस्त सन् १९१४ को भारत सरकार ने आवश्यक व्यापारिक कार्यों के अलावा जनता को सोना देना बन्द कर दिया। इस तरह कुछ समय के लिये भारत में स्वर्ण-मान स्थापित कर दिया गया। (iv) सन् १९१५ के अन्त तक भारत का निर्यात व्यापार बढ़ गया क्योंकि विदेशों में भारतीय वस्तुओं की मांग बहुत बढ़ गई थी, परन्तु वस्तुओं की आयात बहुत कम हो गई थी क्योंकि विदेशी युद्ध के कारण भारत को माल भेजने में असमर्थ थे। परिणामतः व्यापार का सतुलन असाधारण तौर से देश के अनुकूल हो गया। इस रक्म का भुगतान सैकेटरी ऑफ स्टेट द्वारा काउन्सिल बिल्स (Council

रिवर्स काउन्सिल बिल्स की अत्यधिक माँग बढ़ी और सरकार को इन्हें काफी बड़ी मात्रा में बेचना पड़ा। सरकार को कुछ ही समय में लगभग ५ करोड पौंड रुपये के उक्त बिल्स बेचने पड़े थे। परन्तु सरकार के भरसक प्रयत्न करने पर भी विनिमय की दर २ शि० पर स्थिर नहीं रह सकी और यह कम होने लगी। जून सन् १६१६ के अन्त तक यह दर १ शि० ८ पेंस रह गई और १६२१ के आरम्भ तक यह गिरते-गिरते १ शि० ३ पेंस (स्टर्लिंग) हो गई। (vii) चूँकि सरकार विनिमय नियन्त्रण की नीति में असफल रही थी और विनिमय दर में बहुत कमी हो गई थी, इसलिये देश के सैंकड़ों व्यापारियों की अत्यधिक हानि हुई और कुछ का तो दिवाला तक निकल गया था। (viii) परन्तु विनिमय दर में उक्त स्थिति बहुत समय तक नहीं रह सकी और परिस्थितियों के बदल जाने से विनिमय की दर में शनैः शनैः वृद्धि होने लगी। यह स्मरण रहे कि कानून की दृष्टि से तो विनिमय की दर बराबर २ शि० ही बनी रही, परन्तु वास्तविक दर में बहुत उच्चावचन (Fluctuation) हुये जबकि १६२१ के आरम्भ में विनिमय दर केवल १ शि० ३ पेंस (स्टर्लिंग) थी, तब १६२३ में यह १ शि० ४ पेंस (स्टर्लिंग) और अक्टूबर १६२४ में यह १ शि० ६ पेंस (स्टर्लिंग) हो गई। यह दर मार्च १६२६ तक बराबर बढ़ती चली गई और यह अन्त १ शि० ६ पेंस के आस-पास स्थिर हो गई। (अप्रैल १६२५ में स्टर्लिंग और स्वर्ण का मूल्य समान हो गया अर्थात् १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग भी १ शिलिंग ६ पेंस के बराबर हो गया)। इस तरह १६१६–२५ के काल में विनिमय की दर बहुत उच्चावचन हुये (सरकार विनिमय की दर को २ शि० पर स्थिर रखने के प्रयत्न में कितनी ही बार असफल रही थी जिससे उसने दर को स्थिर रखने का प्रयास छोड़ दिया और इसे माँग और पूर्ति के अनुसार निश्चित होने दिया) और अन्ततः आर्थिक परिस्थितियों में सामञ्जस्य हो जाने पर विनिमय की दर में भी स्थिरता स्थापित हो गई। आलोचकों का विचार है कि सरकार ने बैबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिशों को इतनी जल्दी कार्यान्वित करने में बड़ी भारी भूल की थी और चूँकि इन्हें देश की अनिश्चित आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों में कार्यान्वित किया गया था, इसीलिए देश के व्यापारियों एवं व्यवसायियों को इतनी भारी हानि सहनी पड़ी थी।

परीक्षा-प्रश्न

Nagpur University B. A.

१ भारत में १८६३ से १६१३ तक स्वर्ण विनिमय प्रमाप के विकास का वर्णन कीजिये। (१६५८) २. सन् १६२० में रुपये का २ शि० (स्वर्ण) से सम्बन्ध जोड़ने के लिये कौन से कारण थे? वह विनिमय-अर्थ (Rate of Exchange) क्यों असफल हुआ? (१६५६) ३ सन् १८६३ में भारत में चाँदी (Silver) का मुक्त-टंकन (Free-Coinage) बन्द कर देने से जो आर्थिक परिणाम हुये उनका वर्णन कीजिये। (१६५५)

अध्याय २

भारतीय चलन का इतिहास—२*

(सन् १९२५ से सन् १९३९ तक)

प्राक्कथन:—तमाम संसार में आर्थिक दृष्टि से सन् १९१९ से १९२५ तक का काल पूर्णतया अनिश्चित व अस्थिर था। इस काल में ही युद्धकालीन परिस्थितियों का शान्तिकालीन शक्तियों से समायोजन (Adjustment) होना था अर्थात् आर्थिक-जीवन की युद्धकालीन उथल-पुथल व घोर उदासी का अन्त होकर समाज का आर्थिक-जीवन फिर एक बार सामान्य आधार पर व्यवस्थित होना था। इसीलिये इस काल को सक्रान्ति का काल (Transitory Period) माना गया है। यह वह काल था जिसके सम्बन्ध में जो कुछ भी अनुमान लगाये गये थे, प्रायः वे गलत ही सिद्ध हुये। यही कारण है कि सरकार का विनिमय की दर को २ शि० पर स्थिर रखने का प्रयत्न सदा असफल रहा और अन्तत सरकार ने इसे मांग और पूर्ति के अनुसार स्थिर हो जाने के लिये छोड़ दिया। परन्तु सन् १९२५ के अन्त तक आर्थिक-दशाओं में काफी उथल-पुथल के बाद स्थिरता आ गई थी। इस दशा में सरकार ने देश की चलन-पद्धति में छान-बीन व सुधार करने की आवश्यकता अनुभव की और इस कार्य के लिये हिल्टन-यंग कमीशन की नियुक्ति कर दी।

स्वर्ण-पाट-मान (सन् १९२७ से सन् १९३१ तक)

सन् १९२५ का हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton Young Commission 1925):—*अगस्त सन् १९२५ में भारत सरकार ने लेफ्टीनेन्ट कर्नल हिल्टन यंग* (Lt. Col. Hilton Young) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में ११ सदस्य थे। जिनमें चार भारतीय थे। इस कमीशन का उद्देश्य था—(अ) स्वर्ण विनिमय-मान की कार्य-प्रणाली की जाच करना तथा देश में किसी ऐसी उचित व स्थिर मुद्रा-पद्धति के स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करना जिससे देश में रुपये की विनिमय-दर स्थिर रखी जा सके, (आ) चलन व बैंकिंग पद्धति का समन्वय (Co-ordination) करने की योजना रखना तथा (इ) इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के सुझाव प्रस्तुत करना। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पहले सब मुद्रा-प्रणालियों का अध्ययन किया और जुलाई सन् १९२६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट की

* आगरा यूनिवर्सिटी में बी० ए० कक्षाओं के पाठ्य-क्रमानुसार विद्यार्थियों को भारतीय चलन का इतिहास सन् १९२७ से पढ़ना है। अतः उन्हें इस अध्याय को तथा अगले अध्याय को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

मुख्य-मुख्य सिफारिशों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—(क) मुद्रा-मान के चुनाव सम्बन्धी सिफारिशें, (ख) विनिमय की दर सम्बन्धी सिफारिशें तथा (ग) मुद्रा के नियन्त्रित करने वाले अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें।

(क) मुद्रा-मान के चुनाव सम्बन्धी सिफारिशें—देश में स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना होनी चाहिये

हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने उस समय पर प्रचलित चलन पद्धति का विश्लेषण किया और भारत के लिये एक उपयुक्त मौद्रिक-मान का सुझाव देने के लिये स्टर्लिंग विनिमय मान, स्वर्ण-विनिमय मान, स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-पाट-मान पर विस्तार से विचार किया। कमीशन ने प्रथम तीन मानों को भारतीय परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त समझा और देश में स्वर्ण पाट-मान (Gold Bullion Standard) अपनाने की सिफारिश की।

स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard) के सम्बन्ध में हिल्टन-यंग कमीशन ने कहा कि यद्यपि यह मान रुपये के मूल्य में स्थिरता ला सकता था, परन्तु भारतीय परिस्थितियों में इसमें कई दोष थे—(i) इस मान की कार्य प्रणाली जटिल थी जिसे जन-साधारण आसानी से समझ नहीं पाता था। मुद्रा का मूल्य काउंसिल बिल्स व रिवर्स काउन्सिल बिल्स के जटिल तरीकों द्वारा स्थिर रक्खा जाता था। (ii) इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-संकुचन मौद्रिक कारणों द्वारा स्वतः नहीं होने पाता था। यह कार्य मुद्रा-अधिकारियों पर निर्भर रहता था। चूंकि यह प्रणाली सरकार द्वारा कृत्रिम उपायों द्वारा नियन्त्रित व व्यवस्थित थी, इस कारण जनता का इसमें बहुत कम विश्वास था। (iii) यह प्रणाली लोचहीन थी। इसमें विनिमय दरों में सुधार करने के लिये प्राकृतिक एवं स्वाभाविक उपाय नहीं थे जो नि सोने के आयात निर्यात के समय किसी स्वर्ण पद्धति म होने चाहिये थे। (iv) इस प्रणाली में साख व मुद्रा के नियन्त्रण की विभाजित जिम्मेदारी थी जिससे यह कार्य ठीक प्रकार से नहीं होने पाता था। (v) रिजर्व किसी एक जगह व एक प्रकार से नहीं रक्खा जाता था जिससे यह प्रणाली अपव्ययी व बुद्धिहीन थी। यद्यपि इस प्रणाली में सोने का उपयोग बहुत कुछ मितव्ययिता-पूर्वक होता था, परन्तु फिर भी बहुत कुछ सोना बेकार में बंधा पड़ा रहता था। (vi) यह प्रणाली रुपये के मूल्य में स्थिरता नहीं ला सकी। (vii) यह प्रणाली इंगलैंड पर निर्भर थी। देश की मुद्रा का सम्बन्ध सोने से न होकर स्टर्लिंग मुद्रा से था। एक पराधीन प्रणाली होने के कारण इंगलैंड के परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर भी अवश्यमेव पड़ा करता था। हिल्टन यंग कमीशन ने भारतीय सन्दर्भ में स्वर्ण विनिमय-मान में इन दोषों को बताकर यह नतीजा निकाला कि यह मान देश के लिए अनुपयुक्त है। इसी तरह इस कमीशन ने स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) की जाँच की और इसे भी देश के लिए अनुपयुक्त बताया। इस प्रणाली में मुद्रा अधिकारी रुपयों को स्टर्लिंग के बदले बेचते हैं और स्टर्लिंग को रुपयों के बदले-खरीदते हैं। परन्तु कमीशन का यह मत था कि इस मान में स्वर्ण विनिमय मान के सब दोष विद्यमान थे। यही नहीं यह प्रणाली इंगलैंड की मुद्रा-प्रणाली पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर रहती है। इस प्रकार

की निर्भरता बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकती है, इसलिये कमीशन ने इस प्रणाली को भी देश के लिये ठीक भी नही बताया था। हिल्टन-यंग कमीशन ने देश के लिए स्वर्ण-मुद्रा-मान (Gold Currency Standard) की भी जांच की और इसमें भी कुछ दोष बताकर इसे भी देश के लिये अस्वीकार कर दिया। कमीशन के अनुसार इसमे दो मुख्य दोष थे—(i) भारत के पास स्वर्ण-मुद्रा-मान के सफल सचालन के लिये पर्याप्त मात्रा मे सोना उपलब्ध नहीं था और न इसे इतनी अधिक मात्रा मे प्राप्त करना ही सम्भव था तथा (ii) इस मान को अपनाने से भारत मे सोने में चाँदी का मूल्य कम हो जायगा जिससे भारतवासियो के पास जो सचित चाँदी है उसका मूल्य रक्खे-रक्खे ही कम हो जायगा। इन दोनो दोषो के कारण स्वर्ण-मुद्रा-मान देश के लिए अस्वीकृत कर दिया गया। परन्तु हिल्टन-यंग कमीशन ने देश के लिये स्वर्ण-पाट-मान (Gold Bullion Standard) की सिफारिश की थी।

हिल्टन-यंग कमीशन ने इंगलंड के नमूने पर देश में स्वर्ण-पाट मान (Gold Bullion Standard) की स्थापना की सिफारिश की थी। इस मान पर आधारित जिस मुद्रा प्रणाली की स्थापना के लिये कमीशन ने सिफारिश की थी, उसमें निम्नलिखित मुख्य मुख्य बातें होंगी:—सरकार या रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर यह बैंक कानूनन एक निश्चित दर पर कम से कम ४०० औस (१०६५ तोला) शुद्ध सोना खरीदे बेचेगा। यह क्रय-विक्रय असीमित मात्रा मे हो सकेगा और सोने की बिक्री की शर्तें इस प्रकार की होंगी कि सोने का मुद्रा कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे कार्य मे उपयोग नही हो सकेगा। (ii) सावरन या अर्ध-सावरन वैधानिक ग्राह्य नही रहेगे अर्थात् सोने के सिक्को का चलन नही होगा। परन्तु रुपया पूर्ण वैधानिक ग्राह्य नही रहेगा। (iii) वर्तमान नोट तो रुपये मे परिवर्तनीय रहेगे, परन्तु नये नोट वैधानिक रूप से परिवर्तनीय नहीं होंगे, रिजर्व बैंक का एक मुद्रा सचालन के रूप मे यह कर्त्तव्य होगा कि वह नोटो को विधि ग्राह्य-मुद्रा अथवा छोटे मूल्य के नोटो एव रुपये के सिक्को में बदलने की सुविधा दे। (iii) देश मे १ रु० के नोट प्रकाशित होगे, ये पूर्णतया वैधानिक ग्राह्य होगे परन्तु ये रुपये के सिक्को के परिवर्तनीय नही होगे। इस तरह भारत सरकार द्वारा जो १ रु० के नोट निकाले गये थे, उनका रिजर्व बैंक द्वारा पुन. निर्गमन होना चाहिये। रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोट अपरिमित विधि ग्राह्य होगे और उन पर भारत सरकार की गारन्टी होगी। (iv) अब तक स्वर्ण मान निधि तथा पत्र-चलन निधि पृथक्-पृथक् रक्खी जाती थी। कमीशन ने यह सुझाव दिया कि इन दोनो निधियो को मिला कर एक कर दिया जाय। कमीशन की राय थी कि इस निधि मे स्वर्ण एव स्वर्ण प्रतिभूतियाँ ४०% से कम नही हो और शेष ६०% भारत सरकार की रुपये प्रतिभूतियो मे तथा व्यापारिक बिल्स में होनी चाहिये। भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ कुल निधि के २५% या ५० करोड रुपये इनमे से जो भी कम हो, के बराबर होनी चाहिये। (v) कमीशन ने देश मे निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर आनुपातिक पद्धति (Proportional Reserve System) अपनाने की सिफारिश की थी।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास (Sir Purshottamdass Thakurdass) जो कमीशन के सदस्य थे, उन्होने कमीशन के इस निर्णय के प्रति विरोध प्रकट किया था कि देश मे स्वर्ण पाट-मान होना चाहिये वरन् उन्होने देश मे एक ऐसे पूर्ण स्वर्ण मान की स्थापना का सुझाव दिया था जिसमे देश मे सोने के सिक्के प्रचलन मे रहे।

(ख) विनिमय की दर सम्बन्धी सिफारिशें-देश मे विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस प्रति रुपया निर्धारित होनी चाहिये।

हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) ने भारत मे विनिमय की दर सम्बन्धी वाद विवाद, जिसे आर्थिक जगत मे अनुपातो का युद्ध (Battle of Ratios) कहा गया है, का भी गहन अध्ययन किया और अन्तत देश मे १८ पैंस (१ शि० ६ पैंस) प्रति रुपया विनिमय दर अपनाने की सिफारिश की थी। यह स्मरण रहे कि विनिमय दर सम्बन्धी वाद विवाद (यह दर १६ पैंस रहे या १८ पैंस रहे) का जन्म कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही आरम्भ हो गया और यह द्वितीय महायुद्ध के बाद तक चलता रहा।

विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस के पक्ष-विपक्ष मे तर्क-वितर्क

विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस के पक्ष मे तर्क—समय समय पर विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस निश्चित किये जाने के पक्ष मे और १६ पैंस दर के विरुद्ध कई महत्त्वपूर्ण तर्क दिये गये है — (i) भारत की विनिमय दर १८ पैंस (१ शि० ६ पैंस) एक स्वाभाविक व प्राकृतिक दर थी क्योंकि पिछले दो वर्षों से रुपया इसी दर पर स्थिर था। चूंकि यह दर तमाम ससार की आर्थिक शक्तियो के समायोजन से निश्चित हुई थी, इसलिये यह ही एक उचित दर थी। (ii) देश म मजदूरी मूल्य उत्पादन व्यय तथा तमाम ही अर्थ-व्यवस्था १८ पैंस की दर पर समायोजित (Adjusted) हो गई थी। यदि इस दर मे परिवर्तन कर दिया जाता, तब देश की इस अर्थ व्यवस्था मे दुबारा समायोजन की आवश्यकता होती। (iii) देश म केन्द्रीय व प्रान्तीय बजट इस दर पर ही कई वर्षों से बनाये जा रहे थे। यदि इस दर म परिवतन कर दिया जाता तब इन बजटो मे भी उथल पुथल हो जाती और सरकारो को अधिक कर लगाने की आवश्यकता अनुभव हो जाती। (iv) सन् १९१७ से १९२५ तक १ शि० ४ पैंस की दर असफल रही और इससे देश मे मजदूरी और मूल्य-स्तर मे समायोजन नही हो सका। अत यदि फिर से १६ पैंस की दर तय कर दी जाती तब देश की आर्थिक अवस्थाओ म गडबड पैदा हो जाती। इस दर पर मूल्य स्तर बढ जाते जिससे उपभोक्ताओ और मजदूरो को हानि सहनी पडती। परिणामत रहन-सहन का व्यय बढ जाने के कारण मजदूर भी अधिक मजदूरी की माँग करने लगते। (v) १६ पैंस के समर्थको का विचार था कि इस (१६ पैंस) दर पर स्वर्ण का मूल्य बढ जायगा जिससे सचय कार्यों के लिय स्वर्ण का असाधारण आयात नही हो सकेगा, इसलिय इनका मत था कि दर १६ पैंस प्रति रुपया ही निर्धारित होनी चाहिये। परन्तु १८ पैंस के समर्थको का मत है कि स्वर्ण की आयात पर ऐसे कारणो का प्रभाव पडता है कि दर को कम करने से स्वर्ण की आयात पर कोई उपचार नही हो सकता।

अतः १८ पेंस के समर्थकों ने इस दृष्टि से भी इस दर को ही उचित बताया। (vi) १६ पेंस दर के समर्थकों का मत था कि १८ पेंस दर देश के प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन के समय मे नही अपनाई जा सकती थी। परन्तु १८ पेंस दर के समर्थकों ने कहा कि यदि देश में पर्याप्त रिजर्व है तब १८ पेंस दर उतनी ही प्रभावोत्पादक (Effective) हो सकती है जितनी कि १६ पेंस दर। अतः व्यापार-सन्तुलन की दृष्टि से भी १८ पेंस दर ही अधिक उचित बताई गई। इन सब तर्कों के आधार पर १८ पेंस दर का समर्थन किया गया और हिल्टन-यग कमीशन ने भी इसी दर को अपनाने के लिये सिफारिश की थी।

विनिमय की दर १ शि० ६ पेंस के विपक्ष में तर्कः—विनिमय की दर १८ पेंस निश्चित किये जाने के विपक्ष मे और १६ पेंस दर के पक्ष मे समय-समय पर दिये गए तर्क इस प्रकार हैं —(i) सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कहा था कि १६ पेंस की दर पिछले २० वर्षों से प्रचलित थी। इस कारण जब तक इस दर को अपनाना असम्भव नही हो जाय, तब तक इसमें कोई परिवर्तन नही होना चाहिये और विनिमय की दर १६ पेंस ही निर्धारित होनी चाहिये। (ii) किसी भी देश ने अपनी विनिमय की दर अत्यधिक उन्नतिशील अवस्थाओं तक मे प्रथम महायुद्ध से पहले की विनिमय की दर से अधिक करना उचित नही समझा था। फिर, भारत में तो सन् १९२६ में मूल्य-स्तर सन् १९१४ के मूल्य-स्तर के समान ही थे। अतः यह कहा गया कि भारत को भी युद्ध से पहले की ही दर रखनी चाहिये अर्थात् भारत को भी १६ पेंस दर रखनी चाहिये ताकि जनता का मुद्रा-प्रणाली मे विश्वास बना रहे। (iii) १८ पेंस की विनिमय दर विदेशी उद्योगपतियों के लिये आर्थिक सहायता का कार्य करेगी। एक अनुमान के अनुसार विदेशी उत्पादकों को भारतीय उत्पादनकर्ताओं के उत्पादन-व्यय पर अप्रत्यक्ष रूप मे १२½% लाभ प्राप्त होता रहेगा। परिणामतः भारत ने जो विवेचनात्मक-उद्योग संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति हाल ही मे अपनाई थी, वह सप्रभावी नही रहेगी और प्रतिस्पर्धा के कारण स्वदेश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो जायेंगे। (iv) १८ पेंस की दर पर भारत व दुनिया के अन्य देशो मे मूल्यो मे समायोजन (Adjustment) नही हो सकता। आलोचको के अनुसार १८ पेंस की दर एक कृत्रिम दर थी (क्योंकि इसको स्थिर रखने में सरकारी कार्यवाही का हाथ रहा है) और इस दर को कार्यान्वित करने के लिये मुद्रा का अत्यधिक सकुचन करना पड़ेगा जिसका मजदूरी तथा उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। (v) १८ पेंस दर निश्चित हो जाने पर भारतीय निर्यात व्यवसाय कम हो जायगा जिससे भारतीय उत्पादकों एव कृषकों को बहुत हानि होगी और ब्रिटिश उत्पादकों तथा आयातकर्त्ताओं को लाभ होगा। अब तक तो भारतीय निर्यातों का मूल्य उसकी आयातो से अधिक था, परन्तु १८ पेंस की दर निश्चित हो जाने पर इस स्थिति मे परिवर्तन हो जायगा और देश को हानि हो जायगी। (vi) आलोचकों का यह मत था कि १८ पेंस की दर केवल सोने की निर्यात करके ही स्थिर रक्खी जा सकती थी और इस प्रकार देश के स्वर्ण कोषो मे भारी कमी हो जाने का भय था।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास (Sir Purshottamdass Thakurdass) जो कमीशन के सदस्य थे, उन्होंने कमीशन की इस सिफारिश के प्रति विरोध प्रकट किया कि देश

मे विनिमय की दर १८ पेंस होनी चाहिये वरन् उनका सुझाव था कि यह दर केवल १६ पेंस निर्धारित होनी चाहिये ।

(ग) मुद्रा को नियंत्रित करने वाले अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना होनी चाहिए

हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने देश में चलन व बैंकिंग पद्धति के समन्वय (Co-ordination) सम्बन्धी समस्याओं का भी अध्ययन किया और बताया कि सरकार का वर्तमान मुद्रा नियन्त्रण का कार्य काफी असन्तोषजनक है और साख-नियन्त्रण का कार्य तो इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ही करता है । कमीशन ने बताया कि उस समय की मुद्रा व साख नियन्त्रण की व्यवस्था ही इस प्रकार की थी कि इसमें इन दोनों का नियंत्रण पृथक्-पृथक् अधिकारियों द्वारा किया जाता था (मुद्रा-नियन्त्रण सरकार द्वारा और साख-नियंत्रण इम्पीरियल बैंक द्वारा) जिससे इन दोनों नीतियों में कोई सहयोग व समन्वय (Co-ordination) नहीं रहता था । इन दोनों में सहयोग के अभाव के कारण विनिमय की दर में स्थिरता लाने के लिए कोई भी उपाय प्रभावोत्पादक नहीं रहने पाता था । इसीलिए साख व मुद्रा सम्बन्धी नीतियों में सहयोग स्थापित करने एवं इनमें एकता लाने के विचार से ही हिल्टन यंग कमीशन ने भारतवर्ष में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी । उन्होंने इस केन्द्रीय बैंक को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का नाम दिया था और इसे केन्द्रीय बैंक के तमाम कार्य सौंपने का सुझाव रखा था । विशेषकर यह देश में चलन व साख पर नियंत्रण रखेगा तथा विदेशी विनिमय की दर का प्रबन्ध भी करेगा ।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास (Sir Purshottamdass Thakurdass) ने कमीशन के केन्द्रीय बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव का भी विरोध किया और कहा कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया नामक एक नया केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है वरन् उनके मतानुसार केन्द्रीय बैंकिंग का कार्य इम्पीरियल बैंक को ही सौंप देना चाहिए ।

निष्कर्ष —यह स्पष्ट है कि जुलाई सन् १९२६ में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में हिल्टन-यंग कमीशन ने तीन मुख्य एवं महत्वपूर्ण सिफारिशें दी थीं —(क) भारत में स्वर्ण-पाट-मान (Gold Bullion Standard) की स्थापना होनी चाहिये, (ख) भारतीय रुपये की विनिमय की दर १ शि० ६ पेंस निर्धारित होनी चाहिये तथा (ग) भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया नामक एक केन्द्रीय बैंक स्थापित होना चाहिये । कमीशन की ये बहुमत की सिफारिशें थीं । परन्तु सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास (Sir Purshottamdass Thakurdass) जो इस कमीशन के सदस्य थे, उन्होंने कमीशन की प्रत्येक सिफारिश का विरोध किया था । उन्होंने कहा था कि देश में स्वर्ण-पाट-मान नहीं वल्कि पूर्ण स्वर्ण-मान स्थापित होना चाहिये जिसमें सोने के सिक्के प्रचलन में रहने चाहिये, कि देश में विनिमय की दर १८ पेंस के स्थान पर १६ पेंस ही निर्धारित होनी चाहिये तथा केन्द्रीय बैंक के तमाम

कार्य इम्पीरियल बैंक को ही सौंप देने चाहियें। सरकार ने पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के विचारों पर ध्यान न देकर कमीशन की बहुमत की अधिकांश सिफारिशों को स्वीकृत कर लिया। इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये मार्च १९२७ में भारतीय धारा-सभा ने एक करेन्सी एक्ट (Currency Act) पास किया (यह १ अप्रैल सन् १९२७ से लागू हुआ था)। परिणामतः रुपये की विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस नियत की गई और सोने के क्रय-विक्रय का कार्य सरकार को सौंप दिया गया। सरकार जनता से २१ रु० ३ आने १० पाई प्रति तोला की दर पर सोना खरीद सकती थी परन्तु किसी समय पर सोना ४० तोले से कम नहीं होना चाहिये था। इसी तरह उक्त दर पर सरकार जनता को सोना बेचती थी, परन्तु यह किसी समय पर ४०० औंस (४०–४० तोले की दस ईंटें) से कम नहीं बेचा जा सकता था। सोना बेचने के बदले सरकार को यह भी अधिकार था कि वह विदेशी व्यापार के लिये १ शि० ५$\frac{3}{16}$ पैंस की दर पर विदेशी विनिमय प्रदान कर दे अर्थात् स्वर्ण देना या स्टर्लिंग देना यह सरकार की इच्छा पर निर्भर था। देश में सावरन तथा अर्धसावरनों का विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया। इस प्रकार सन् १९२७ के एक्ट द्वारा देश में स्वर्ण-धातु मान स्थापित कर दिया गया। परन्तु देश में रिजर्व बैंक की स्थापना का प्रश्न कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया गया। यह स्मरण रहे कि चूंकि वास्तव में कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जनता को सोना न मिलते हुये, स्वर्ण मिलना या स्टर्लिंग मिलना सरकार की इच्छा पर निर्भर था, इसलिये यदि हम इसे स्वर्ण-पाट-मान न कहते हुये स्टर्लिंग-विनिमय-मान कहें तब यह अधिक उपयुक्त होगा। अतः जिस स्टर्लिंग विनिमय-मान को दोषपूर्ण ठहरा कर कमीशन ने अस्वीकार कर दिया था, उसी का दूसरे शब्दों में अवलम्बन किया गया।

स्टर्लिंग-विनिमय-मान (सन् १९३१ से सन् १९४७ तक)

सन् १९३१ में स्वर्ण-मान के टूटने के पश्चात् की भारत में स्थिति:—सितम्बर सन् १९३१ से सितम्बर १९३९ (युद्ध प्रारम्भ हुआ) के काल में भारतीय मुद्रा की जो व्यवस्था रही, उसकी मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard)

(१) भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना:—सन् १९३१ में इंगलैंड ने सर्वप्रथम और तत्पश्चात् अन्य देशों ने स्वर्ण-मान को त्याग दिया (इसके कारण 'मुद्रा-मान नामक अध्याय में पढ़िये)। परिणामस्वरूप भारत को भी स्वर्ण पाट-मान (Gold Bullion Standard) त्यागना पड़ा जिससे सितम्बर १९३१ में सन् १९२७ का करेन्सी एक्ट (Currency Act) रद्द कर दिया गया और भारतीय रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर दिया गया। इस तरह सन् १९३१ में भारत में स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) की स्थापना हुई अर्थात् बाह्य कार्यों के लिये सरकार ने नोटों एवं रुपयों को १ शि० ६ पैंस की दर पर स्टर्लिंग में बदलने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली और आन्तरिक कार्यों के लिये रुपया पूर्व की तरह प्रचलित रहा। रुपया का स्टर्लिंग से जो गठबन्धन किया गया, इस सम्बन्ध में बहुत वाद-विवाद रहा है:—जो व्यक्ति इस गठबन्धन के पक्ष में थे, उन्होंने इसके तीन मुख्य लाभ बताये—

(1) यदि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता अथवा इसका स्टलिंग से गठबन्धन नहीं किया जाता, तब विनिमय दर में बहुत घट बढ़ हो जाती जिससे विदेशी व्यापार को बहुत हानि हो जाने का भय रहता। अतः विनिमय दर में स्थिरता की दृष्टि से रुपये को स्टर्लिंग से जोड़ने में ही फायदा था। (ii) इंगलैंड में स्वर्ण मान टूट जाने से, स्टर्लिंग का स्वर्ण-वाले देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में, अवमूल्यन हो गया था। रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन होने के साथ ही साथ रुपये का भी अवमूल्यन होगा जिससे भारत के विदेशी व्यापार को बहुत लाभ पहुँचेगा तथा (iii) भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैंड से है और भारत को इंगलैंड को प्रतिवर्ष गृह व्यय (Home Charges) भी बहुत बड़ी मात्रा में देने पड़ते हैं। इस दृष्टि से भी रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध जोड़ना लाभप्रद होगा। परन्तु कुछ व्यक्ति इस गठबन्धन के विरुद्ध भी थे और उन्होंने अपने मत के समर्थन में चार तर्क रक्खे (i) रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन करने से भारत का आर्थिक भाग्य सदा के लिए इंगलैंड के भाग्य से बंध जायगा और इस तरह भारत इंगलैंड की राजनैतिक गुलामी के साथ ही साथ आर्थिक गुलामी में भी जकड़ा जायगा। परिणामतः रुपये का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जायगा और स्टर्लिंग के मूल्य के परिवर्तनों के साथ ही साथ रुपये के मूल्य में भी परिवर्तन हो जायगा। (ii) स्वर्ण मान वाले देशों से होने वाली आयात पहले से अधिक मूल्यवान हो जायगी क्योंकि सन् १९३१ में स्टर्लिंग का ३०% अवमूल्यन हो गया था। (iii) रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जायगा जिससे भारत से स्वर्ण का असाधारण निर्यात होने लगेगा और वास्तव में ऐसा हुआ भी तथा (iv) उक्त गठबन्धन हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों के पूर्ण खिलाफ था क्योंकि कमीशन रुपये को किसी एक देश की मुद्रा से सम्बन्धित करने के विपक्ष में था।

स्वर्ण निर्यात (Gold Export)

(२) सितम्बर सन् १९३१ और जनवरी सन् १९४० के बीच में भारत से स्वर्ण का अत्यधिक निर्यात हुआ—सन् १९३१ से पहले भारत में स्वर्ण का बहुत बड़ी मात्रा में आयात किया जाता था, परन्तु सन् १९३१ के बाद में देश से स्वर्ण का बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात होने लगा। एक अनुमान के अनुसार १९३१-४० के नौ वर्ष के काल में भारत से ४१७·८ लाख औंस सोना विभिन्न मूल्यों पर देश से बाहर गया और इसका कुल मूल्य ३६२ ४५ करोड़ रुपया था। स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध केवल द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद ही लगाये गये थे। इसके कई कारण थे—(i) सन् १९३१ में आर्थिक संकट एवं मन्दी (Depression) के कारण कृषि पदार्थों का मूल्य शनैः शनैः बहुत कम हो गया था जिससे कृषक-वर्ग घोर आर्थिक संकट में फंस गया और उसे इस संकट काल में अपने संचित धन को व्यय करना पड़ा। कृषक के पास उसका संचित धन स्वर्ण के रूप में ही था, इसलिये कृषक वर्ग को सोना बेचना पड़ा। (ii) रुपये को स्टर्लिंग से १ शि० ६ पेंस पर सम्बन्धित कर देने से देशवासियों को स्वर्ण के निर्यात में लाभ प्रतीत होने लगा जिससे सन् १९३१ के बाद देश के स्वर्ण की अत्यधिक निर्यात हुई। जब देश से स्वर्ण की निर्यात इतनी अधिक मात्रा में होने लगी, तब सरकार को यह राय

दी गई कि या तो वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण को खरीद ले या रिजर्व बैंक को इसे खरीदने का कार्य सौंपे ताकि देश की स्वर्ण निधि दृढ़ हो जाय, परन्तु सरकार इन सुझावों के प्रति उदासीन रही और शनैः शनैः स्वर्ण का देश से अधिक निर्यात हो गया। सरकार ने अपनी नीति का समर्थन कई तर्कों के आधार पर किया जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:–(i) स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने से कृषकों को विशेषकर बहुत कष्ट सहना पड़ता, परन्तु स्वर्ण की बिक्री से कृषक अपने संकट के दिनों का मुकाबला कर सके। (ii) *स्वर्ण को बेच-बेच कर मनुष्य अपने रुपयों को व्यापार-उद्योग में लगाने लगे* जिससे देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सका। (iii) सरकार ने स्वर्ण को स्वयं खरीदना इसलिये नहीं चाहा क्योंकि इसका वैधानिक मूल्य तो २१ रुपये ३ आने १० पाई था बाजार में इसका मूल्य बराबर बढ़ रहा था। इन दोनों मूल्यों में अन्तर हो जाने के कारण सरकार स्वर्ण को खरीदकर इसमें सट्टा नहीं करना चाहती थी। (iv) देश से जितना अधिक स्वर्ण बाहर गया, स्टर्लिंग की पूर्ति उतनी ही अधिक हो गई जिससे देश अपने स्टर्लिंग दायित्वों का आसानी से भुगतान कर सकता था। (v) स्वर्ण के निर्यात से भारतीय विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में वस्तुएं खरीद सके जिससे हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले से बहुत दृढ़ हो गया। (vi) सरकार ने यह भी कहा कि देश से स्वर्ण का निर्यात इस कारण हो रहा था क्योंकि देश में सोना बहुत था और देशवासी इसे अधिक मूल्य पर बेचकर लाभ प्राप्त करने के लालच से बेच रहे थे। परन्तु उक्त के विपरीत, कुछ व्यक्तियों ने स्वर्ण के निर्यात का बहुत विरोध किया और इसके कई कारण बताए.—(i) *स्वर्ण का निर्यात से देश के स्वर्ण-साधनों का लाभहीन प्रयोग हुआ,* इसलिए स्वर्ण का निर्यात नहीं होना चाहिये था। (ii) पीढ़ियों से संचित किया हुआ स्वर्ण देश के बाहर चला गया जिससे भारत को स्वर्ण-मान अपनाना असम्भव हो गया। (iii) जबकि संसार के अधिकांश देश स्वर्ण की आयात करके अपने स्वर्ण साधनों को दृढ़ बना रहे थे, ऐसे समय में भारत स्वर्ण का निर्यात करके अपने स्वर्ण-साधनों को कमजोर कर रहा था।

चांदी-निर्यात (Silver Export)

(३) सन् १९३१ से सन् १९३९ के बीच में भारत से चांदी का भी अत्यधिक निर्यात हुआ—स्वर्ण की निर्यात के साथ ही साथ भारत सरकार ने भी चांदी का निर्यात बहुत बड़ी मात्रा में किया था। चांदी के निर्यात के भी चार मुख्य कारण थे:–(i) विदेशों में भारत की अपेक्षा चांदी का मूल्य बहुत ऊंचा था जिससे चांदी का निर्यात हुआ। (ii) हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने नोटों को रुपयों में बदलने का दायित्व हटा लिया था जिससे भारत सरकार को चांदी-निधि की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। इस कारण भारत सरकार ने भी चांदी बेचना आरम्भ कर दिया था और ३१ मार्च सन् १९३४ तक लगभग २ करोड़ औंस चांदी बाहर भेज दी। (iii) जुलाई सन् १९३३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ जिसके अनुसार अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको तथा आस्ट्रेलिया व पीरू की सरकारों ने प्रतिवर्ष ३·५ करोड़ औंस चांदी खरीदने का निर्णय किया। परिणामतः चांदी की मांग बढ़ जाने से

इसका मूल्य भी बढ़ा और भारत से चांदी के निर्यात को प्रोत्साहन मिला। (iv) सन् १९३५ में अमेरिका ने अत्यधिक मात्रा में चांदी खरीदना आरम्भ किया जिससे चांदी का मूल्य बढ़ते-बढ़ते ३६$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस हो गया। इतनी अधिक मूल्य वृद्धि से भारत में चांदी का निर्यात और भी अधिक प्रोत्साहित हुआ। परन्तु शीघ्र ही स्थिति में परिवर्तन हो गया और चांदी का मूल्य कम होना आरम्भ हो गया। जब चांदी का मूल्य बहुत बढ़ गया, तब चीन ने सन् १९३४ में चांदी मान को त्याग दिया। चीन द्वारा रजत मान का परित्याग हो जाने के कारण अमेरिका ने भी अपनी अनाप शनाप चांदी खरीदने की नीति में परिवर्तन कर दिया। परिणामतः चांदी का मूल्य गिरना आरम्भ हो गया और सन् १९३६ में इसका मूल्य १६ पेंस और २२ पेंस प्रति औंस के बीच में ही रहा। स्मरण रहे कि चांदी के मूल्य में इतनी अधिक कमी हो जाने पर भी भारत से चांदी का निर्यात बराबर होता ही रहा। चांदी के अत्यधिक निर्यात के कारण ही भारत सरकार को द्वितीय महायुद्ध काल में चांदी का अभाव अनुभव हुआ और वह मुद्रा-टंकन के लिए चांदी खरीदने को बाध्य हुई।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना

(५) सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई—हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों में एक महत्वपूर्ण सिफारिश भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना भी थी। परन्तु सन् १९२७ में केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग इनक्वाइरी कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) ने इस बैंक की स्थापना पर बहुत जोर दिया। परिणामतः ६ अगस्त १९३४ को रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए एक एक्ट पास हुआ और इस एक्ट के अनुसार १ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हो गई। इस बैंक की स्थापना से भारतीय मुद्रा-प्रणाली में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—(i) इस बैंक को नोटों के निर्गम का एक मात्र एकाधिकार दिया गया। (ii) बैंक की स्थापना से पहली बार नोट-निर्गम का कार्य तथा साख नियन्त्रण का कार्य एक ही संस्था को सौंपा गया। इस बैंक के पास ही अन्य बैंकों के कोष भी जमा रहेंगे। (iii) पत्र-मुद्रा-कोष स्वर्ण-मान कोष तथा बैंक का कोष इन तीनों कोषों को एक जगह मिला दिया गया तथा (iv) विनिमय की दर को १ शि० ६ पेंस पर स्थायी रखने का दायित्व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को दिया गया। यह स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय दर के उच्चावचन (Fluctuation) को १७$\frac{49}{64}$ पेंस तथा १८$\frac{3}{16}$ पेंस की मर्यादा में रखता है।

<u>क्या भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार हुआ है?</u> (Has the Indian Currency System developed along the lines laid by the Hilton-Young Commission?)—इसी अध्याय के आरम्भ में हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों और उन्हें कहां तक सरकार ने स्वीकृत किया था, इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशों को मान लिया (केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश बाद में चलकर मान ली थी) और उन्हें कार्यान्वित करने का भरसक प्रयत्न

भी किया था। सरकार ने विनिमय की दर १ शि० ६ पैंस निश्चित की और इसे बनाये रखने के परिणामस्वरूप ही देश का सोना व चांदी भी बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों को भेज दिया। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना करके मुद्रा व साख नियन्त्रण का कार्य एक ही संस्था को सौंप दिया और इसे ही विनिमय की दर में स्थिरता कायम रखने की जिम्मेदारी सौंपी। एक तरह से कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से देश में स्वर्ण पाट-मान की भी स्थापना कर दी। अतः हम कह सकते हैं कि सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन की तमाम सिफारिशों को कार्यान्वित कर दिया था।

परन्तु आलोचकों का मत है कि इतना सब कुछ होने पर भी हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों का वास्तविक उद्देश्य पूरा न हो सका। कमीशन ने जिस समय भारत में *स्वर्ण-पाट-मान (Gold Bullion Standard) की स्थापना की सिफारिश की* थी, उस समय उसका वास्तविक उद्देश्य रुपये और स्वर्ण के बीच स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना था। परन्तु सरकार ने केवल सैद्धान्तिक रूप में ही स्वर्ण-पाट-मान *की स्थापना की थी और वास्तव में रुपये का स्वर्ण से सम्बन्ध स्टर्लिंग द्वारा ही कायम* किया था अर्थात् रुपये का स्वर्ण से सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष रूप में स्थापित किया था। विदेशों में रुपये को केवल स्टर्लिंग के माध्यम द्वारा ही जाना जाता था और वास्तव में रुपये का स्टर्लिंग से ही गठबन्धन था क्योंकि जब कभी स्वर्ण में स्टर्लिंग का मूल्य-ह्रास होता था, तब भी रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर सरकारी हस्तक्षेप द्वारा स्थिर रखी जाती थी। इस प्रकार की स्थिति सन् १९२७ से सन् १९३१ तक रही और सन् १९३१ में तो वास्तव में प्रत्यक्ष रूप में ही भारत में स्टर्लिंग विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) की स्थापना कर दी गई थी। अतः आलोचकों का मत है *कि यद्यपि हिल्टन-यंग कमीशन ने भारत में वास्तव में स्वर्ण-पाट-मान* की स्थापना की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने जिस मान को सन् १९२७ के करेंसी एक्ट में स्वर्ण-पाट मान का नाम दिया था, यह वास्तव में स्टर्लिंग-विनिमय-मान *ही था और यह सच भी है कि भारत में स्वर्ण-पाट-मान भी स्थापित नहीं हुआ था।* अतः इस दृष्टि से हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारतीय चलन पद्धति का विकास नहीं हुआ।

हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैंस स्थापित करने की सिफारिश अवश्य की थी और सरकार ने इसे मान भी लिया था, परन्तु कमीशन का यह मत कभी नहीं था कि *स्टर्लिंग के मूल्य-ह्रास की दशा में भी रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय की दर में कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहिये।* वास्तव में, कमीशन ने उस समय की परिस्थितियों के अनुसार केवल यह सिफारिश की थी कि रुपये का स्वर्ण से प्रत्यक्ष और स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। परन्तु उसने यह कभी भी नहीं कहा था कि रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय की दर में कभी भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए। फिर कमीशन को यह क्या पता था कि चार वर्ष बाद ही ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जायेंगी कि इंगलैंड को तथा संसार के अधिकांश देशों को स्वर्ण मान को त्यागना पड़ेगा। अतः सरकार ने रुपये-स्टर्लिंग की दर को जिन उपायों का प्रयोग करके

स्थिर रक्खा था, उनका सुझाव कमीशन ने कहीं भी नहीं दिया था। इसलिये इस दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन यग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार नहीं हुआ है।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B A & B Sc

१ १६२७–१६३६ के बीच की भारतीय मुद्रा व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करो। (१६६०)।

Jabalpur University, B Com

१ नोट लिखिये–१६२७ का करेन्सी अधिनियम (The Currency Act 1927) (१६५८)। २ सन् १६३१ में रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित क्यों किया गया था? इसके परिणाम क्या हुये? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली में भारत की सदस्यता से रुपये और स्टर्लिंग के सम्बन्ध कहाँ तक प्रभावित रहे हैं? (१६५८)।

Vikram University, B Com

1 Give the main recommendations of the Hilton-Young Currency Commission How far were they implemented by the Govt of India? (1959)

Gorakhpur University B Com

1 Discuss the main recommendations of the Hilton Young Currency Commission How far were these recommendations implemented by the Govt? Explain (Pt 1 1959)

Nagpur University, B A

१. किन कारणों के आधार पर हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये के १८ पेंस अनुपात की सिफारिश की? (१६५६)। २ भारत में स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप (Sterling Exchange Standard) के प्रचलन को समझाइये। (१६५८)। ३ सन् १६२६ में हिल्टन-यग कमीशन ने रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ६ प० निर्धारित करने के समर्थन में जो दलीलें (Arguments) रखी थी वे लिखिये और उन पर टिप्पणी कीजिये। (१६५७)।

अध्याय ३

भारतीय चलन का इतिहास—३

(सन् १६३६ से सन् १६६० तक)

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय मुद्रा

(Second World War and The Indian Currency)

सन् १६३६ में भारतीय मुद्रा—एक संक्षिप्त अध्ययन (A brief study of the Indian Currency in 1939)—जब ३ सितम्बर सन् १६३६ को द्वितीय महायुद्ध की

घोषणा हुई उस समय भारत में स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) था। आन्तरिक मुद्रा में चांदी का रुपया, अठन्नी ($\frac{11}{12}$ शुद्धता की) और नोट अपरिमित वैधानिक ग्राह्य थे और चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी तथा तांबे के पैसे सीमित रूप में १ रु० तक वैधानिक ग्राह्य थे। इस तरह रुपया देश की प्रामाणिक मुद्रा थी। विदेशी विनिमय के लिये रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया १ रुपये के बदले मे १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पैंस खरीदने और १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैंस बेचने के लिये बाध्य था। अतः युद्ध से पहले हमारी बाह्य व आन्तरिक मुद्रा-प्रणाली ठीक प्रकार से कार्य कर रही थी। चूंकि भारत परतन्त्र था और *यह ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था, इसलिये भारत को भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में* भाग लेना पड़ा। यह स्मरण रहे कि रुपये का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। परिणामतः हमारी चलन-पद्धति एवं विनिमय-पद्धति पर युद्ध के घोर प्रभाव पड़े, देश की अर्थ-व्यवस्था कुछ अस्त-व्यस्त-सी होने लगी और मुद्रा-प्रणाली टूटते-टूटते बच गई। सरकार ने युद्धकाल में समय-समय पर कितने ही ऐसे उपाय अपनाये जिनके कारण चलन-पद्धति ने बदली हुई परिस्थितियों से शीघ्र ही अपना समायोजन (Adjustment) कर लिया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने कितनी ही नई समस्याओं को जन्म दिया जिनमे से मुद्रा का अत्यधिक प्रसार (और इसके कारण मूल्य-वृद्धि), विनिमय नियन्त्रण तथा युद्ध-कालीन स्टर्लिंग ऋणों में वृद्धि आदि मुख्य-मुख्य हैं।

द्वितीय महायुद्ध में भारतीय मुद्रा प्रणाली

युद्ध का मुद्रा पर प्रभाव (Effects of War on Currency)—द्वितीय महायुद्ध के भारतीय मुद्रा पर विशेष प्रभाव पड़े जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—(i) नोटों को परिवर्तित करने की मांग, (ii) रुपये का नियन्त्रित वितरण, (iii) एक रुपये और दो रुपये के नोटों का प्रकाशन, (iv) कम चांदी की चवन्नी, अठन्नी व रुपये का टंकन, (v) पुराने सिक्कों का प्रचलन बन्द करना, (vi) नई रेजगारी का टंकन तथा (vii) चलन व साख-मुद्रा का प्रसार।

(१) नोटों को परिवर्तित करने की दौड़:—युद्ध के प्रारम्भ होते ही इसका तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि जनता का देश की मुद्रा-प्रणाली में विश्वास कम हो गया। परिणामतः देशवासियों ने डाकखानों में से अपने सेविंग्स बैंक्स (Savings Banks) के खातों में से तथा बैंकों मे से अपने जमा खातों में से रुपया निकालना आरम्भ कर दिया। यही नहीं, विनियोगकर्त्ताओं ने जो कुछ रकम सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) तथा डाकखानों के सर्टिफिकेट्स (Certificates) में लगा रक्खी थी, उसे भी वापिस लेना प्रारम्भ कर दिया। जब जनता को डाकखानों से तथा बैंकों से नियमानुसार मन-चाही मात्रा में अपनी रकम वापिस मिलने लगी तथा सरकार ने यह घोषित कर दिया कि युद्ध-काल मे वैयक्तिक संपत्ति पर सरकारी अधिकार स्थापित करने की चर्चा तथ्य रहित है, तब शनैः शनैः जनता का मुद्रा-प्रणाली में विश्वास फिर से हो गया और न डाकखानों एवं बैंकों से रुपये निकालने की प्रवृत्ति ही बन्द हो गई वरन् जो कुछ रकम निकाल भी ली गई थी उसे फिर दुबारा उन्ही में जमा की जाने लगी। मुद्रा-प्रणाली में अविश्वास का ही परिणाम यह भी हुआ कि रुपये के सिक्कों में प्रचलन से निकलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई और

फ्रांस के पतन के पश्चात् मई व जून सन् १९४० में नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की मांग बहुत बढ़ गई और रिजर्व बैंक को भी जनता की इस मांग को पूरा करना पड़ा क्योंकि ऐसा करने का उस पर वैधानिक दायित्व था। मई सन् १९४० से पहले नोटों को रुपये के सिक्को में परिवर्तित करने की माग सामान्यतया १ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह से कम ही रहती थी, परन्तु मई सन् १९४० तक यह माग एकदम बढकर ४·५ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह तक पहुच गई। इसका परिणाम यह हुआ कि रिजर्व बैंक के चलन-विभाग (Issue Department) मे ७५·४७ करोड़ के रुपयो (रुपयों का कोष) की जगह जो युद्ध के प्रारम्भ मे थ, ५ जुलाई सन् १९४० को केवल ३२ करोड़ के रुपये रह गये। भारतीय टकसालो के लिए रुपयो को इतनी तेजी से ढालना असम्भव था जितनी तेजी से कि वे चलन से निकालकर भूमिगत (Hoarding) हो रहे थे। जनता द्वारा इन रुपये के सिक्को को न केवल सचित-कोषो (Hoards) मे रक्खा जा रहा था वरन् वे इनको गला भी रहे थे। परिणामत देश में रुपये के सिक्कों का बहुत अभाव हो गया।

(२) रुपये के सिक्कों का नियन्त्रित वितरण —ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि युद्ध के प्रारम्भ होते ही देश मे रुपये के सिक्को का बहुत अभाव हो गया था क्योंकि या तो वे गलाये जा रहे थे या इन्हे भूमिगत (Hoarding) कर दिया गया था। सरकार के पास पर्याप्त मात्रा मे चाँदी होने पर भी वह इतनी तेजी से सिक्को को ढलवा नहीं सकती थी कि इनकी पूर्ति इनकी माग के बराबर हो जाय। परिणामत सरकार ने १५ जून सन् १९४० को रुपये के नियन्त्रित वितरण की एक योजना प्रारम्भ की और इसके अनुसार घोषणा कर दी कि रुपये के सिक्को को व्यक्तिगत व व्यवसायिक आवश्यकताओ से अधिक मात्रा में लेना या सचय एव जमा करना दण्डनीय है। परन्तु व्यक्तिगत व व्यवसायिक आवश्यकतायें कितनी हैं, इसका निर्णय रिजर्व बैंक के हाथ में रहेगा। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी घोषणा के पश्चात् नोटो के बदले रुपये के सिक्को की माग बहुत कम हो गई, परन्तु रुपये के सिक्को की कमी के कारण नोट कुछ स्थानो पर बट्टा (At a discount) पर बिकने लगे। यह स्मरण रहे कि इस समय चलन में न केवल एक रुपय के चादी के सिक्को की ही कमी अनुभव हुई वरन् छोटे-छोटे सिक्को (रेजगारी) का भी बहुत अभाव अनुभव किया गया।

(३) एक रुपये और दो रुपये के नोटों का प्रकाशन —रुपय की कमी को दूर करने के लिए सरकार ने २५ जून सन् १९४० को एक रुपए के नोट छापने आरम्भ किए। ये अपरिमित विधि ग्राह्य हैं और इन्हें १ रुपये के सिक्को में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। इसी दृष्टि से फरवरी सन् १९४३ में दो रुपये के नोटों का प्रकाशन आरम्भ किया गया।

(४) कम चादी की चवन्नी, अठन्नी व रुपये के सिक्कों का टकन —रुपए के सिक्कों की बढ़ती हुई माँग के कारण सरकार को इनके टकन के लिये भी चाँदी की अधिकाधिक मात्रा म आवश्यकता अनुभव हुई। एक स्थिति ऐसी आ गई है जबकि सरकार को अपने पास चाँदी का अभाव लगने लगा। सरकार ने चाँदी के उपयोग मे बचत एक ओर तो एक रुपए और दो रुपए के नोटो का प्रकाशन करके की थी और

दूसरी ओर सभी चांदी [redacted] सिक्कों की प्रामाणिक शुद्धता (Fineness) में कमी करके की थी। सन् १६४० में भारतीय टंकन-एक्ट (Indian Coinage Act) में संशोधन करके सरकार ने चवन्नी, अठन्नी रुपए की शुद्धता (Fineness) $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{१}{२}$ कर दी। सिक्कों में शुद्धता की कमी इस कारण से की गई थी ताकि सरकार उपलब्ध चांदी [redacted] स्टॉकों से अधिक मात्रा मे सिक्कों का टंकन कर सके।

(५) *पुराने सिक्कों का प्रचलन बन्द करना*:—चांदी के उपयोग मे बचत करने की उक्त नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने पुराने सिक्कों का चलन बन्द कर दिया। ११ अक्टूबर १६४० [redacted] सरकारी आदेशानुसार महारानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के छापे के रुपयों और अठन्नियों का विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया और यह घोषित कर दिया गया कि ३१ मार्च सन् १६४१ के बाद ये अविधि-ग्राह्य होगे। इसी तरह ८ दिसम्बर सन् १६४१ की एक सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार एडवर्ड सप्तम् (King Edward VII) के छापे वाले रुपये व अठन्नियां १ जून सन् १६४२ से अवैधानिक घोषित कर दी गई। १ नवम्बर सन् १६४३ से जार्ज पचम *(King George V)* तथा जार्ज षष्ठम् *(King George VI)* [redacted] वे रुपए व अठन्नियां भी बन्द कर दी गईं जिनकी शुद्धता $\frac{११}{१२}$ थी। इसके स्थान पर जार्ज षष्ठम् के वे नये रुपये प्रचलन में लाये गये जिनमे $\frac{१}{२}$ भाग चादी थी। इस प्रकार सन् १६४३ से सन् १६४६ तक कुल ५६८'२६ करोड रुपये चलन से निकाल दिए गए और नए रुपये व पत्र-मुद्रायें चलन में आई। अतः यह स्पष्ट है कि युद्ध के आरम्भ होते ही जो मुद्राओं की कमी परिवर्तन के कारण अनुभव होने लगी थी, वह समय-समय पर आवश्यक आदेशानुसार पूरी की गई।

(६) नई रेजगारी का टंकनः—सन् १६४२-४३ मे रेजगारी (छोटी प्रतीक मुद्रा) की भारी कमी अनुभव होने लगी। जनता द्वारा तांबे के पैसे या तो गलाए जाने लगे या भूमिगत (Hoarding) किए जाने लगे। रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए बड़े-बड़े शहरों में डाकखाने के टिकटों का खरीज के रूप में उपयोग होने लगा। *परिणामतः रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए भारत सरकार ने एक तरफ तो* रेजगारी का अनावश्यक सचय दंडित घोषित कर दिया और दूसरी और अधिकाधिक मात्रा में खरीज की पूर्ति करने की व्यवस्था की। छोटे सिक्कों की ढलाई के लिये लाहौर मे एक नई टकसाल भी स्थापित की गई। जनवरी सन् १६४२ से गिलट का प्रचलन चालू किया गया। इकन्नी और दुअन्नी में गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। सन् १६४३ में *छेद वाला पैसा निकाला गया जिसका वजन कम है तथा जिसके बीच में* एक छेद भी है। दुर्भाग्य मे इस नये पैसे का उपयोग वाशर (Washer) के रूप में किया जाने के कारण, सरकार ने इसका चलन शीघ्र ही बन्द कर दिया। सरकार ने अपनी बम्बई व कलकत्ते की टंकशालाओं से भी रेजगारी का टंकन आरम्भ किया था। जनता की रेजगारी की अत्यधिक बढ़ी हुई मांग की पूर्ति करने के हेतु, सरकार ने इनका टंकन इतनी तेजी से करना आरम्भ कर दिया कि सन् १६४४ में ऐसे सिक्कों का उत्पादन २१ करोड़ ६० लाख प्रति मास तक पहुँच गया। परिणामतः देश मे रेजगारी की कमी

धीरे-धीरे दूर हो गई।

(७) चलन तथा साख-मुद्रा का प्रसार—युद्ध का भारतीय चलन पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह भी पड़ा कि चलन व साख-मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई और इसके परिणाम स्वरूप देश में मूल्यों में वृद्धि हो गई। युद्ध-कालीन मुद्रा-स्फीति के अनेक कारण थे, जैसे भारत सरकार द्वारा इंगलैंड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों के लिए माल खरीदना और इसका भुगतान करने के लिए स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नोट-निर्गम करना, भारत सरकार के रक्षा-व्यय में वृद्धि आदि (इस सम्बन्ध में 'मुद्रा-स्फीति' नामक अध्याय में विस्तार से लिखा गया है)। मुद्रा व चलन में विस्तार का अनुमान इस बात से लग सकता है कि जबकि अगस्त सन् १६३६ में पत्र-मुद्रा की कुल मात्रा १७६ करोड़ रुपया थी, तब १६ अक्टूबर १६४५ को यह संख्या बढ़कर ११५६·८५ करोड़ रुपए हो गई अर्थात् इसमें ६०७·७२२५ करोड़ रुपए की वृद्धि हुई। इस युद्ध-कालीन चलन की कुल वृद्धि में ८२·५% पत्र-मुद्रा में वृद्धि ११·८% रुपए के सिक्कों की वृद्धि तथा ५·६% छोटे सिक्कों की मात्रा में वृद्धि हुई। इसी काल में साख-मुद्रा भी १२६ करोड़ रुपये से बढ़कर ४४४ करोड़ रुपए हो गई। इस अत्यधिक मात्रा में मुद्रा प्रसार का परिणाम यह हुआ कि देश में मूल्य-स्तर में बहुत वृद्धि हो गई है और १६३६ के आधार वर्ष पर बनाया गया निर्देशांक १६४५ में बढ़कर २५० हो गया (अनियन्त्रित व चोर-बाजार के मूल्यों के आधार पर बनाया गया निर्देशांक लगभग ४०० था)।

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत की विदेशी विनिमय दर पर नियन्त्रण

युद्ध का विदेशी विनिमय पर प्रभाव (Effects of War on Foreign Exchange):—द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही सन् १६३६ में इंगलैंड की तरह भारत सरकार ने भी भारत सुरक्षा-विधान (Defence of India Act) के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के सब प्रकार के व्यवहारों (सिक्कों, धातुओं, प्रतिभूतियों तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसायों) के नियन्त्रण व इसके शासन का कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिया। परिणाम-स्वरूप रिजर्व बैंक में 'विनिमय-नियन्त्रण विभाग' नामक एक नया विभाग खोला गया और इस विभाग को ही विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी शासकीय कार्यवाही सौंपी गई। अत सरकार ने यह घोषणा की कि समस्त स्वदेशी विनिमय के लेन-देन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नये विनिमय-नियन्त्रण विभाग द्वारा अधिकृत व्यक्तियों एव संस्थाओं द्वारा ही होने चाहियें। इस उद्देश्य से बैंक ने कुछ भारतीय सम्मिलित पूंजी वाले बैंकों तथा विदेशी विनिमय बैंकों को लाइसेंस (Licenses) प्रदान कर दिये। यह स्मरण रहे कि विनिमय नियन्त्रण के कार्य के लिये समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को एक मुद्रा इकाई में संगठित किया गया जिसे हम स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) कहते हैं। विनिमय नियन्त्रण की एक सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का क्रय-विक्रय तथा इस क्षेत्र के देशों में कोषों का हस्तांतरण तो स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता था, परन्तु स्टर्लिंग-क्षेत्र से बाहर

के देशों की मुद्रा के क्रय-विक्रय को वास्तविक व्यापारिक आवश्यकताओं, यात्रा-व्ययों तथा अल्प-मात्रा में व्यक्तिगत रूप से बाहर धन भेजने तक ही सीमित रक्खा जाता था (यह स्मरण रहे कि युद्ध के आगे बढ़ने पर स्टर्लिंग क्षेत्र तक से वस्तुओं की आयात-निर्यात पर शनैः शनैः प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे)। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल अधिकृत बैंकों द्वारा ही किया जा सकता था ताकि इन मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी नियन्त्रण में रह सके। भारतीय विनिमय-नियन्त्रण अधिकारियों ने विनिमय दर इस प्रकार नियन्त्रित की कि रुपये तथा स्टर्लिंग की विनिमय-दर १८ पेंस पर स्थिर रक्खी जाय। रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय नियन्त्रण नीति का मुख्य उद्देश्य देश से पूंजी के निर्यात पर तथा विनिमय-दरों के सट्टे पर रोक लगाना था। विनिमय-नियन्त्रण के दो ही मुख्य रूप रहे हैं—(i) आयात-नियन्त्रण तथा (ii) निर्यात-नियन्त्रण।

(१) आयात-नियन्त्रणः—युद्ध से पहले तो बैंकों को विदेशी विनिमय के बेचने में काफी स्वतन्त्रता थी, परन्तु युद्ध आरम्भ हो जाने के बाद बैंकों की उक्त स्वतन्त्रता एवं अधिकार को कम कर दिया गया और जैसे-जैसे युद्ध आगे को बढ़ता गया बैंकों के अधिकारों में भी बराबर कमी की गई। शनैः शनैः एक ऐसी स्थिति आ गई जिसमें बैंक्स रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से आज्ञा प्राप्त करके ही कुछ लाईसेंस प्राप्त आयातों व कुछ व्यक्तिगत भुगतानों (Remittances) के लिये ही विदेशी विनिमय बेच सकते थे। इनका परिणाम यह हुआ कि देश की आयातों पर बहुत कड़ा नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया और स्टर्लिंग-क्षेत्र के बाहर के देशों से अर्थात् दुर्लभ-मुद्रा-देशों (Hard Currency Countries) से कोई भी माल बिना लाईसेंस लिये नहीं मंगाया जा सकता था। यही कारण है कि सन् १९४० से उपभोग-वस्तुओं (Consumer's Goods) की आयात केवल स्टर्लिंग-क्षेत्र से ही हो सकती थी और विलासयुक्त वस्तुओं (Luxury Goods) की आयात पर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया। इन नियन्त्रणों के दो मुख्य उद्देश्य थे—प्रथम, विदेशी व्यापार के प्रतिकूल सन्तुलन पर रोक लगाना तथा, द्वितीय, ऐसी वस्तुओं की आयातों को प्राथमिकता (Priority) देना जिनका युद्ध कार्यों के लिए या नागरिकों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक महत्व था।

(२) निर्यात-नियन्त्रण.—विनिमय-नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के हेतु यह भी आवश्यक समझा गया कि भारत से स्टर्लिंग-क्षेत्र से बाहर के देशों को जाने वाली वस्तुओं की निर्यात पर भी नियन्त्रण होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना बनाई, जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे—प्रथम, निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य (द्वितीय विनिमय) विदेशों में ही नहीं रह जाये वरन् यह भारत में आ जाय तथा द्वितीय, निर्यातों का भुगतान एक ऐसी निश्चित रीति से हो कि इनका अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त हो सके। यह स्मरण रहे कि भारत व स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य राष्ट्र अमेरिका को माल भेजा करते थे उसके बदले में उन्हें जो मूल्य मिलता था, वे उसे ब्रिटिश सरकार को दे दिया करते थे और

वह उसे साम्राज्य डॉलर कोष (Empire Dollar Pool) मे जमा कर दिया करती थी। इस कोष मे जमा धन का उपयोग युद्ध-सम्बन्धी सामग्री को खरीदने मे किया जाता था। इस साम्राज्य डॉलर कोष योजना का मुख्य उद्देश्य विदेशी मुद्रा का युद्ध-कार्य के लिए अधिक से अधिक उपयोग करना था ताकि युद्ध का सफल सचालन हो सके।

(३) अन्य नियन्त्रण.—विदेशी विनिमय नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के हेतु भारत मे अन्य अनेक प्रकार के नियन्त्रण एव प्रतिबन्ध लगाये गये जिनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं —(i) मुद्रा की आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध —नवम्बर सन् १९४० से किसी भी प्रकार की भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के लाईसेंस के बिना निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया ताकि भारतीय मुद्रा चलन से निकाल कर बाहर नहीं बेची जा सके। इसी प्रकार सितम्बर १९४३ से भारतीय मुद्रा, ईरानी रायल अफगानी रायल तथा लका को मुद्रा के अतिरिक्त, सब प्रकार की मुद्रा के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गए और जनवरी १९४४ से तो भारतीय पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सब पत्र-मुद्राओ की आयात पर रोक लगा दी गई। मुद्रा की आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का उद्देश्य शत्रु-राष्ट्रो द्वारा चलाई गई पत्र-मुद्रा को रोकना तथा अपनी मुद्रा का उपयोग शत्रु राष्ट्रो को न देने का था। (ii) विदेशी मुद्रा मे भुगतान पर प्रतिबन्ध —अक्टूबर सन् १९४१ से विदेशी मुद्रा म भुगतान करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिससे जो कम्पनीज अपने लाभ को भारत से स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर भेजना चाहती थीं वे ऐसा रिजर्व बैंक से लाईसेंस लेकर ही कर सकती थीं। (iii) भारतीय बैंकों में शत्रु राष्ट्रों को जमा के भुगतान पर प्रतिबन्ध —शत्रु-राष्ट्रो (जापान आदि) की जो रकम भारतीय बैंको मे जमा थी, उसके भुगतान पर भी कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैक ने रोक लगा दी। (iv) स्वर्ण की आयात-निर्यात —स्वर्ण का आयात-निर्यात भी केवल लाईसेंस लेकर ही किया जा सकता था। (v) प्रतिभूतियों की निर्यात पर प्रतिबन्ध —ऐसा व्यक्ति जो भारत मे नहीं रहता था, उससे प्रतिभूतियाँ (Securities) नही खरीदी जा सकती थी। रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना इसका निर्यात भी नही हो सकता था। इनकी निर्यात केवल लाईसेंस प्राप्त व्यक्ति कर सकते थे, परन्तु लाईसेंस के मिलने के सम्बन्ध में शर्त यह रहती थी कि विदेशी विनिमय का धन भारतीय बैंक की विदेशी शाखा मे जमा कराया जाय।

निष्कर्ष—सरकार ने युद्ध काल में रुपया स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शि० ६ पैंस पर स्थिर रखने के लिये उपर्युक्त विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी उपायो को अपनाया था। इन रीतियो को अपनाकर ही रिजर्व बैंक ने उक्त दर पर देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति की थी।

साम्राज्य डॉलर कोष (Empire Dollar Pool)

युद्ध के सफल सञ्चालन के लिये सन् १९३९ मे ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों की विदेशी विनिमय निधियो का नियन्त्रण अपने हाथ मे ले लिया। साम्राज्य डॉलर कोष योजना के अनुसार स्टर्लिंग क्षेत्र के किसी देश का ब्रिटेन के साथ व्यापारा-

धिक्य जितना भी अनुकूल होता था, ब्रिटेन उसका भुगतान स्टर्लिंग में किया करता था। यही कारण है कि युद्ध काल में भारत का स्टर्लिंग इंगलैंड में इकट्ठा होता चला गया था। इसी तरह प्रत्येक देश मे स्टर्लिंग-क्षेत्र के बाहर के देशों से अनुकूल व्यापाराधिक्य का भुगतान भी ब्रिटेन द्वारा स्टर्लिंग में किया जाता था। स्टर्लिंग क्षेत्र का कोई देश अपनी निर्यातों से या अन्य कारणों से जो डालर प्राप्त किया करता था, उसे वह कोष मे जमा करके स्टर्लिंग के रूप में साख (Sterling Credit) प्राप्त कर लिया करता था। इस तरह साम्राज्य डॉलर कोष योजना के अन्तर्गत स्टर्लिंग क्षेत्र की तमाम विदेशी-विनिमय प्राय एक स्थान पर एक सामूहिक कोष के रूप मे रक्खी गई और इस कोष का नियमन एवं संरक्षण बैंक ऑफ इंगलैंड और ब्रिटिश ट्रेजरी द्वारा किया जाता था। चूंकि इस सामूहिक कोष में सबसे दुर्लभ एवं सबसे महत्वपूर्ण डॉलर है, इसीलिये इसे साम्राज्य डॉलर कोष (Empire Dollar Pool) का नाम दिया गया है। स्टर्लिंग क्षेत्र के विभिन्न देश इस कोष का उपयोग किस प्रकार करते थे ? इस योजना में ऐसी व्यवस्था नही थी कि प्रत्येक देश का इस कोष में कोई कोटा (Quota) तय कर दिया गया था वरन् कोष के सदस्य देशो ने यह स्वीकार कर लिया था कि उनमें से कोई भी देश विदेशी विनिमय का अनावश्यक व्यय नही करेगा। इस तरह विदेशी विनिमय को व्यय करने की आवश्यकता का निर्णय व्यय करने वाले सदस्य देश पर ही छोड़ दिया गया था। जब किसी व्यक्ति एवं देश को डॉलर की आवश्यकता होती थी, तब वह बैंक ऑफ इंगलैंड से इसे डॉलर खाते में से ले लिया करता था। परिणामतः समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र एक मुद्रा इकाई हो गया और विनिमय नियन्त्रण के एक ही नियम इन देशों पर लागू होते थे।

साम्राज्य डॉलर-कोष योजना से पहले स्टर्लिंग क्षेत्र के लगभग सभी देश अपने विदेशी विनिमय कोषो को लन्दन में स्टर्लिंग के रूप मे रक्खा करते थे। चूंकि उस समय स्टर्लिंग सभी देशों की मुद्रा मे स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तनीय था, इसलिये कोई भी देश अपने स्टर्लिंग-कोष का जब चाहे तब उपयोग करके इसके बदले मे कोई भी मुद्रा प्राप्त कर सकता था। परन्तु युद्ध के कारण जब स्टर्लिंग को दुर्लभ मुद्राओं में परिवर्तनशीलता मे कठिनाई *अनुभव होने लगी तब दुर्लभ मुद्राओं का उचित दर पर क्रय-विक्रय करने की* कठिनाई को दूर करने तथा दुर्लभ मुद्रा का युद्ध के सफल संचालन मे समुचित उपयोग करने के हेतु ही साम्राज्य-डॉलर-कोष योजना को कार्यान्वित किया गया।

सन् १९३९–४६ के बीच मे भारत ही इस कोष का प्रमुख सहायक रहा है, क्योंकि इसने इस काल में लगभग ४०६ करोड़ रुपये का कीमत की डालर आय इस कोष मे जमा की थी। परन्तु इसी काल में भारत ने लगभग २४० करोड़ रुपये की कीमत की डालर-आय व्यय की थी। इसके अतिरिक्त भारत ने ५१ करोड़ रुपये की कीमत का अन्य दुर्लभ मुद्राओ (Hard Currencies) का व्यय भी किया था। परिणामतः भारत की ओर से कोष को [४०६—(२४०+५१)=]११५ करोड़ रुपये का डालर दिया गया। जब भारत को अपनी विकास योजनाओं के लिये डालर की आवश्यकता हुई, तब इस कोष ने सन् १९४४ व ४५ में भारत को दो दो करोड़ डॉलर प्रतिवर्ष दिये, परन्तु भारत उस समय इनका फायदा नहीं उठा सका। भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में बड़ा

विरोध हुआ कि भारत को कोष से सीमित सहायता क्यो मिलती है और इस बात की माँग की गई कि भारत को अपनी डॉलर आय पर अबाधित नियन्त्रण होना चाहिये। इस आलोचना के परिणामस्वरूप सन् १९४७ मे भारत को अपनी डॉलर आय के प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

पौंड पावने (Sterling Balances)

भारतीय-चलन-इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना पौंड-पावना ऋणो का एकत्रित होना भी है। युद्ध से पहले भारत पर इगलैंड का ऋण था, परन्तु युद्ध-कालीन परिस्थितियो के कारण भारतवर्ष न केवल इगलैंड का पुराना ऋण चुका सका वरन् उस पर उल्टा अरबों रुपयो का ऋण चढा दिया। इस के तीन मुख्य कारण थे—प्रथम, भारत सरकार ने इगलैंड की ओर से वस्तुयें खरीदीं जिनका उसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में भुगतान हुआ। द्वितीय, भारत सरकार ने इगलैंड की ओर से भारत मे बहुत व्यय किया जिसका भुगतान भी भारत को स्टर्लिंग में ही प्राप्त हुआ था तथा तृतीय, भारत के अनुकूल व्यापाराधिक्य और डॉलर कोष में जमा किये गये विदेशी विनिमय के बदले भी स्टर्लिंग प्राप्त हुये। इन तीन मुख्य कारणो से इगलैंड में भारत सरकार की स्टर्लिंग प्रतिभूतियां जमा होती चली गईं। रिजर्व बैंक ने इन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की आड़ पर नोट प्रकाशित किये जिससे शनै शनै देश में पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हो गया। यह स्पष्ट है कि ये स्टर्लिंग पावने (Sterling Balances) भारतवासियो के युद्धकालीन त्याग एवं कष्ट के परिणामस्वरूप ही एकत्रित हुये थे। इन पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में बड़ा वाद-विवाद रहा है तथा इनके कुछ भाग का बड़ी कठिनाई से भुगतान हुआ है, इस सम्बन्ध मे पृथक् से एक "हमारे पौंड पावने" नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा गया है। अत इन पौंड पावनों के सम्बन्ध मे विशेष-ज्ञान के लिये इस अध्याय को पढिये।

युद्धोत्तर-काल में मुद्रा चलन [१९४४–४५ से १९५७–५८ तक]

भारतीय चलन पद्धति में युद्धोत्तर काल में निम्नलिखित मुख्य घटनायें हुई हैं —

(१) भारत का विभाजन और इसका देश की मुद्रा-प्रणाली पर प्रभाव — १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत का विभाजन हुआ और देश के विभाजन के साथ ही साथ भारतीय मुद्रा का भी भारत और पाकिस्तान के बीच क्रमश ११ ३ के अनुपात में बटवारा हो गया। पाकिस्तान की मुद्रा-पद्धति को स्थापित करने के लिये इस प्रकार व्यवस्था की गई—(i) भारतीय नोट पाकिस्तान म भी ३० सितम्बर १९४७ तक वैधानिक रूप से प्रचलित रहेंगे और इस अवधि के बाद पाकिस्तान अपने नोटो का प्रचलन करेगा (ii) १ अप्रैल १९४० से रिजर्व बैंक पाकिस्तान के नोटों का प्रकाशन नहीं करेगा और ३० सितम्बर १९४८ के बाद रिजर्व बैंक पाकिस्तानी नोटो के बराबर के मूल्य की सम्पत्ति पाकिस्तानी सरकार को दे देगा। (iii) पाकिस्तानी कुछ विशेष परिस्थितियो में रिजर्व बैंक के नोटों को १ अक्टूबर सन् १९४८ तक स्वीकार करेगा। (iv) पाकिस्तान को १ अक्टूबर १९४८ से अपनी विनिमय-दर के निर्धारित करने का अधिकार होगा। (v) पाकिस्तान के सिक्को के प्रचलन के १ वर्ष बाद तक भारतीय सिक्के पाकिस्तान मे विधिग्राह्य रहेगे। (vi) विदेशी ऋणो के भुगतान की समस्त

जिम्मेदारी भारतवर्ष ने अपने ऊपर ले ली और पाकिस्तान ने अपने हिस्से की राशि को किश्तों में भारत को चुकाने का वचन दिया। परन्तु पाकिस्तान ने अभी तक अपना वचन पूरा नहीं किया है।

(२) रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध विच्छेद:—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने मार्च सन् १९४७ से अपना कार्य आरम्भ किया था। मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये का मूल्य स्वर्ण मे घोषित करना पड़ा था। परिणामतः ८ अप्रैल सन् १९४७ से रुपये-स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया और रुपये का मूल्य स्वतंत्र रूप में ०·२६८६०१ ग्राम सोना रक्खा गया। इस तरह यह स्पष्ट है कि स्वर्ण मे रुपये का यह मूल्य, रुपये को १ शि० ६ पेंस प्रति रुपया की विनिमय की दर के आधार पर ही नियत की गई थी। परन्तु व्यवहार में आज भी रुपये का स्टर्लिंग से पुराना ही गठबन्धन चला आ रहा है।

(३) रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee):—भारतीय मुद्रा के इतिहास से स्पष्ट है कि रुपये और स्टर्लिंग का गठबन्धन बहुत पुराना है। इसी कारण जब १८ सितम्बर सन् १९४९ को इंगलैंड ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया जिसके कारण पौंड का डॉलर मूल्य ४·०३ डॉलर प्रति पौंड से घट कर यह केवल २·८० डॉलर रह गया, तब भारत ने भी अन्य २४ देशों के साथ ही साथ रुपये का अवमूल्यन किया। यदि भारत इंगलैंड का अनुकरण नहीं करता तब सम्भव है इससे हमारे विदेशी व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता। रुपये के अवमूल्यन का यह परिणाम हुआ कि डॉलर क्षेत्र से आने वाली वस्तुओं के मूल्य में ४४% वृद्धि हो गई। इससे हमारे देश के मूल्य-स्तर मे भी वृद्धि हो गई। चूंकि पाकिस्तान ने भारत के साथ ही साथ रुपये का अवमूल्यन नहीं किया इसलिये पाकिस्तान से भी आने वाले माल का मूल्य बढ़ गया और इसका भारतीय चाय व जूट उद्योग पर विशेषतः बुरा प्रभाव पड़ा। परन्तु अवमूल्यन से हमारी निर्यात में बहुत वृद्धि हो गई और सन् १९४९ के पश्चात् हमारे व्यापाराधिक्य के सम्बन्ध में बहुत सुधार हुआ। अवमूल्यन से हमारे देश के पौंड-पावनों के मूल्य में ३०% कमी हो गई है। रुपये के अवमूल्यन से सम्बन्धित समस्याओं का विस्तार से अध्ययन पृथक् से एक 'रुपये का अवमूल्यन' नामक अध्याय में किया गया है। अतः अवमूल्यन के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस अध्याय को पढ़िये।

(४) मुद्रांकन में परिवर्तन :—१५ अगस्त सन् १९५० से जिन नई मुद्राओं का चलन हुआ है उनको पूर्णतया भारतीय बना दिया गया है अर्थात् अब उन पर जार्ज षष्ठम् (King George VI) की मुद्रा नहीं है। अतः वर्तमान मुद्रा-चलन प्रणाली में नोट, रुपये के सिक्के, अठन्नियां, चवन्निया, दुवन्नियां, इकन्नियां, अधन्ने तथा पैसे अब पूर्णतया भारतीय चिह्नों से अंकित कर दिये गये हैं।

(५) हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing):—हीनार्थ प्रबन्धन नीति अपनाने पर देश में मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य भी ऊँचा हो जाता है। जब से देश मे आर्थिक नियोजन (Economic Planning) होने लगा है अथवा देश मे प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है, तब से ही प्रतिवर्ष कुछ न कुछ हीनार्थ प्रबन्धन किया जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना

को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने अन्य साधनों के साथ ही साथ घाटे के बजटों तथा विदेशी सहायता का भी सहारा लिया था। प्रथम पचवर्षीय योजना मे यह अनुमान लगाया गया कि २६० करोड रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) तथा १६५ करोड रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता पडेगी। योजना कमीशन के अनुमान के अनुसार प्रथम योजना काल मे वास्तव मे ५० करोड रुपये का प्रतिवर्ष हीनार्थ प्रबन्धन किया गया था। अर्थात् कुल २५० करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया था। इस समय दूसरी पचवर्षीय योजना कार्यान्वित की जा रही है और इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में ४८०० करोड रुपये व्यय होने की आशा है जिसमें १२०० करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन का अनुमान है, ८०० करोड रुपये की विदेशी सहायता मिलने की आशा है और ४०० करोड रुपये के लिये अभी किसी प्रकार की भी व्यवस्था नहीं होने पाई है। अत यह सम्भव है कि द्वितीय योजना काल में लगभग १६०० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन हो जायेगा। यह स्पष्ट है कि भारतीय चलन के इतिहास में हीनार्थ-प्रबन्धन भी एक महत्वपूर्ण घटना है।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B A and B. Sc

१. भारतीय करेन्सी (चलार्थ) में सन् १९४७ से क्या विशेष परिवर्तन हुए हैं, समझाइये और बतलाइये कि यह परिवर्तन भारतीय व्यापार तथा उद्योग के लिये कहाँ तक लाभदायक सिद्ध हुये हैं? (१९५८ S)। २. सन् १९२७ से भारतीय मुद्रा-प्रणाली के इतिहास का प्रधान रूप से विवरण (Land-marks) दीजिये। (१९५७ S) 3 Write a note on—Hard Currency Area (1956 S)

Agra University, B. Com.

१. आयोजन-कालीन भारतीय मुद्रा-प्रणाली में किये गये परिवर्तनों के उद्देश्यों (Objects) की विवेचना कीजिये। (१९५९ S)। 2 Discuss the essential features of the present-day currency system in India. How far is the convertibility of the paper money maintained? (1958 S) 3. What difficulties were experienced by the Government of India in respect of currency and exchange during the last Great War? How did the Government meet the situation? (1958) 4 Trace the history of Indian Currency System since the establishment of the Reserve Bank of India (1958) 5 Discuss the effects of World War II on the Indian Currency System (1957 S, 1955 S) 6 Explain the difference between—Hard Currency and Soft Currency (1957, 1956 S, 1954) 7 Trace the history of *Indian Currency System since 1926 (1956)* What difficulties were experienced during the last Great War? (1954)

Allahabad University, B Com

1. *Discuss the origin and working of exchange control* in India. In the course of your answer, explain the problems of dollar shortage (1957)

Rajputana University, B A. & B. Sc.

1. Argue the case for and against the issue of high denomination currency notes What is the denomination of currency notes issued in

India at the present time? What changes would you like to suggest in this connection? (1955)

Rajputana University, B. Com.

1. Write a critical note on the present day paper currency system (वर्तमान कागजी मुद्रा पद्धति) in India, pointing out, how far it is helping the Five Year Plans? (1959) 2. Write a short note on—Dollar Pool. (1959) 3. Write a note on—Main recommendations of the Hilton Young Currency Commission—a critical estimate. (1958) 4. Discuss the main recommendations of the Hilton-Young Commission. Did the currency system of India after 1926 develop along the lines indicated by the commission? (1957, 1954) 5. Discuss the main recommendations of the Hilton Young Commission and indicate the extent to which the same were accepted by the Government. (1956) 6. Examine critically the present currency system in India. Does it meet the needs of the economic expansion that is taking place in the country? Discuss. (1955).

Sagar University, B. Com.

१. रुपये को १६ पैंस के विरुद्ध १८ पैंस विनिमय दर स्थापित करने के विवाद की परीक्षा कीजिये। (१९५८) । २. नोट लिखिये—चलन अधिनियम १९२७ (Currency Act, 1927) । (१९५८) । ३. नोट लिखिये—घाटे की अर्थ-पूर्ति (Deficit Financing) । (१९५८) । ४. हिल्टन-यंग कमीशन की प्रमुख सिफारिशों को स्पष्ट कीजिये। क्या १९२६ के पश्चात् भारत की मौद्रिक स्थिति का विकास इस कमीशन द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर हुआ है? (१९५७) । ५. रिजर्व बैंक द्वारा भारत के स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप की व्यवस्था (Management) किस प्रकार की जाती थी? (१९५७) । ६. द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के भारतीय मुद्रा पर पड़ने वाले प्रभावों का पूर्ण विवेचन कीजिये। (१९५७) । ७. भारतीय चलार्थ प्रणाली (Currency System) पर द्वितीय महायुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा? वर्णन कीजिये। (१९५७) । ८. भारत की वर्तमान चलार्थ पद्धति की तर्क सहित परीक्षा (Critically Examine) कीजिये। (१९५४) । ९. हिल्टन-यंग कमीशन द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप का तर्क सहित परीक्षण कीजिये। (१९५०) ।

Jabalpur University, B. Com.

१. नोट लिखिये—भारत की वर्तमान पत्र चलार्थ-पद्धति। (१९५८) ।

Vikram University, B. A. & B. Sc.

१. दूसरे महायुद्ध का भारतीय चलन पर क्या प्रभाव हुआ, संक्षेप में बताइये। (१९५९) । २. टिप्पणी लिखिये—साम्राज्य डालर निधि। (१९५९) ।

Nagpur University, B. A.

१. भारत की वर्तमान चलार्थ पद्धति (Currency System) की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये और उसके गुण और दोष दिखाइये (१९५७) । २. भारतीय पत्र-चलार्थ पद्धति (Paper Currency System) की प्रमुख विशेषतायें समझाइये। भारतीय चलार्थ को पूर्ण रूप से परिवर्तनीय बनाने के हेतु क्या व्यवस्था है? (१९५५)

अध्याय ४

पौंड पावने और इनका भुगतान

(Sterling Balances and their Payment)

प्राक्कथन—भारतवर्ष को द्वितीय महायुद्ध की सबसे महत्वपूर्ण देन स्टर्लिंग-पावने या पौंड पावनों को जमा के रूप में प्राप्त हुई है। इन पावनों के आधार पर ही हमारे देश में धनै धनै मुद्रा प्रसार हुआ है। इसीलिये पौंड पावने ऋणों का जमा होना भारतीय मुद्रा चलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना घटी है। यह तथ्य स्मरणीय है कि युद्ध से पहले भारत इगलैंड का ऋणी (Debtor) था, परन्तु युद्धकाल में हमारे देश ने इगलैंड का न केवल यह स्टर्लिंग ऋण चुका दिया वरन् उसने अध-नंगे व भूखे रहकर उल्टे उसे ऋणी (Debtor) बना दिया। भारतवर्ष ने स्वयं कष्ट सहकर तथा अपनी आवश्यकताओं को स्थगित करके युद्ध के सफल सचालन के लिए इगलैंड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों को अरबों रुपये का माल भेजा जिसका भुगतान उसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में मिलता था और चूँकि ये स्टर्लिंग भारत सरकार के हिसाब में इगलैंड में ही जमा हो जाते थे, इसलिए इस ऋण-राशियों को पौंड-पावना (Sterling Balances) कहते हैं। चूँकि रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) के आधार पर नोट-निर्गम का अधिकार था, इसलिए युद्धकाल में जैसे-जैसे भारत सरकार के हिसाब में इगलैंड में स्टर्लिंग प्रतिभूतिया जमा होती गईं, भारत सरकार ने उक्त धारा का पूरा-पूरा लाभ उठाकर, रिजर्व बैंक को वैसे ही वैसे नोट-प्रकाशन करने के लिए बाध्य किया और इन नोटों से उसने उस माल का भुगतान किया जो भारत सरकार निर्यात कर रही थी। इस तरह एक तरफ इगलैंड में पौंड-पावने एकत्रित होते गये और दूसरी तरफ भारत में नोटों की मात्रा में वृद्धि होती चली गई। अतः भारत में युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का एक प्रमुख कारण पौंड-पावनों का एकत्रित होना ही था। (यह स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार नोटों की आड़ में स्टर्लिंग प्रतिभूतिया ४०% से अधिक नहीं रक्खी जा सकती थीं, परन्तु युद्धकाल में इस एक्ट में संशोधन किया गया था।) निम्न तालिका से पौंड-पावनों तथा चलन में रहने वाले नोटों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने तक युद्ध के पूर्व की तुलना में पौंड-पावनों की वृद्धि के फलस्वरूप, नोटों के प्रचलन की मात्रा में छः गुने से भी अधिक वृद्धि हो गई।

वर्ष	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का पौंड-पावना	करोड़ रुपयों में नोटों का प्रचलन
अगस्त १९३९	६४	१७९
१९३९–४०	९१	२०९
१९४०–४१	१९६	२४१
१९४१–४२	२११	३०७
१९४२–४३	३९४	५१३
१९४३–४४	७२५	७७७
१९४४–४५	११८२	९९६
१९४५–४६	१५४६	११९१
१९४६–४७*	१६६२	१२२३

पौंड-पावनों में वृद्धि

पौंड-पावनों की वृद्धि के कारण (Causes of the increases in the Sterling Balances):—युद्धकाल में भारत के पौंड-पावनों में उल्लिखित आश्चर्यजनक वृद्धि के कई महत्वपूर्ण कारण थे:—(i) इंगलैंड द्वारा वस्तुओं का क्रय:—युद्धकाल में ब्रिटेन ने भारत से बहुत अधिक मात्रा में माल खरीदा था, परन्तु भारत इंगलैंड से युद्ध के कारण बहुत अधिक मात्रा में माल नहीं मंगा सका। इंगलैंड ने इस माल का भुगतान स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) के रूप में चुकाया और प्रतिभूतियां भारत सरकार के खाते में इंगलैंड में जमा होती गईं। इस तरह पौंड-पावनों की मात्रा शनैः शनैः बढ़ती चली गई। आरम्भ में तो भारत सरकार ने ब्रिटेन के ऋण की अदायगी की, परन्तु अन्ततः इंगलैंड माल खरीदते-खरीदते स्वयं भारत का ऋणी (Debtor) हो गया। (ii) सन् १९३९ का भारत इंगलैंड का आर्थिक समझौता:—इस समझौते के अनुसार भारत ने इंगलैंड के एवज में जो रुपया व्यय किया, वह भी दिन प्रतिदिन बढ़ता चला गया और इंगलैंड ने भी भारत को रकम की अदायगी स्टर्लिंग प्रतिभूतियां देकर ही की। इस कारण भी भारत के पौंड-पावनों में वृद्धि हुई। (iii) मित्र राष्ट्रों को माल का निर्यात:—भारत ने युद्ध के सफल संचालन के लिए न केवल इंगलैंड को ही माल भेजा वरन् उसने अन्य मित्र राष्ट्रों की जनता

> पौंड-पावनों में वृद्धि के मुख्य कारण थे—
> १. इंगलैंड द्वारा वस्तुओं का क्रय।
> २. सन् १९३९ भारत-इंगलैंड का आर्थिक समझौता।
> ३. मित्र-राष्ट्रों को माल का निर्यात।
> ४. भारत की डालर आय तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं की आय साम्राज्य डॉलर कोष में जमा करना।
> ५. अमरीकी सेनाओं पर भारत में व्यय।

* The peak figure of Rs. 1733 crores of Sterling Balances reached in the month of April, 1945

व सेना की सेवा के लिए भी माल भेजा। मित्र राष्ट्रों ने भी माल का भुगतान स्टर्लिंग में किया, जो इंगलैंड में ही जमा हो जाया करती थी। इस तरह इस कारण भी पौंड-पावनों की मात्रा में वृद्धि हो गई। (iv) भारत की डॉलर आय तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं की आय साम्राज्य कोष में जमा की गई—युद्धकाल में अमेरिका तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से भारत का व्यापार सन्तुलन बहुत ही अनुकूल हो गया। भारत को इन देशों से कुछ डॉलर-आय या अन्य दुर्लभ मुद्रा के रूप में आय प्राप्त होती थी, वह अनिवार्य रूप से साम्राज्य डॉलर-कोष (Empire Dollar Pool) में जमा कर दी जाती थी। ब्रिटेन इस जमा के बदले में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दिया करता था जिन्होंने हमारे पौंड-पावनों की मात्रा को बढ़ाया। (v) अमेरिकी सेना पर भारत में व्यय—युद्धकाल में भारत में अमेरिका की सेनाएं भी रही थीं। भारत में इन अमेरिकी सेनाओं पर होने वाले व्यय के बदले में भारत को डॉलर प्राप्त हुये। ये डॉलर भी साम्राज्य-डॉलर-कोष (Empire Dollar Pool) में जमा हो जाया करते थे और ब्रिटेन इनके बदले में भी भारत सरकार के खाते में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ जमा कर दिया करता था जिस कारण पौंड-पावनों की मात्रा शनैः शनैः बढ़ती चली गई।

पौंड-पावनों का भुगतान

पौंड-पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में वाद-विवाद (Controversy regarding the payment of Sterling Balances)—भारत [illegible] इंगलैंड में जो कुछ भी पौंड-पावने एकत्रित हो गए थे, इनके भुगतान के सम्बन्ध में चर्चा तो युद्धकाल में ही प्रारम्भ हो गई थी, परन्तु इंगलैंड में इंगलैंडवासियों की ओर से (सरकार ने कभी ऐसा नहीं कहा) बहुधा इस बात की माँग की गई कि ब्रिटिश सरकार द्वारा इन पौंड पावनों को या तो पूर्णतया रद्द कर दिया जाना चाहिये या इनमें भारी कमी की जानी चाहिए। इस मत के पक्ष में उन्होंने कई तर्क दिये थे—(i) युद्ध के सफल सचालन तथा शत्रु को परास्त करने में भारत का भी उतना ही हित था जितना कि इंगलैंड तथा अन्य मित्रराष्ट्रों का था। चर्चिल (Churchill) ने तो यहाँ तक कह दिया था कि ब्रिटेन ने भारत की शत्रुओं से रक्षा की है, इसलिए भारत को ऋण नहीं मांगना चाहिये। अतः यह कहा गया कि चूँकि इंगलैंड द्वारा किया गया व्यय भारत की सुरक्षा के लिए ही किया गया था, इसलिए इस प्रकार के ऋण के चुकाने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए और इसे तुरन्त या तो रद्द कर देना चाहिए या इनमें अत्यधिक कमी कर देनी चाहिए। (ii) इन पौंड-पावनों को युद्ध-सम्बन्धी ऋण समझना चाहिए और जिस प्रकार अमेरिका ने इंगलैंड को उधार-पट्टा-ऋण (Land Lease Debts) से मुक्त कर दिया है, इसी तरह भारत को भी इंगलैंड को पौंड पावने ऋणों से मुक्त कर देना चाहिये। (iii) कुछ व्यक्तियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि इंगलैंड पौंड-पावनों की इतनी बड़ी मात्रा का भुगतान करने में असमर्थ है क्योंकि इंगलैंड की युद्धकाल में आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने के कारण उसमें ऋण-भुगतान शक्ति बहुत घट गई है। इस तर्क के आधार पर यह माग की गई कि पौंड पावने ऋण में भारी कमी तो होनी ही चाहिए। (iv) रुपए की विनिमय दर कृत्रिम व अस्वाभाविक रूप से

बहुत ऊंची रक्खी गई जिसके कारण भी इंगलेंड के पौंड-पावने ऋण में इतनी भारी वृद्धि हो गई थी। परन्तु भारत में उक्त तर्कों के आधार पर पौंड-पावने को रद्द करने या इनके कम करने की मांग का घोर विरोध किया गया क्योंकि इन स्टर्लिंग पावनों का हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था के लिये अत्यधिक महत्व रहा है। इंगलेंडवासियों के उक्त मत के विरोध में दिये गये मुख्य तर्क इस प्रकार हैं:—(i) भारत ने इंगलेंड को इतनी बड़ी मात्रा में ऋण अपनी स्वेच्छा से नहीं दिया था और न यह किसी लाभ की ही आशा से दिया गया था वरन् यह भारत से बलपूर्वक लिया गया था क्योंकि इतनी अधिक मात्रा में ऋण-देना भारत की ऋण देने की शक्ति से बाहर था। इस दशा में भारत को अपने ऋण का भुगतान अवश्य ही मिलना चाहिए था। (ii) भारत ने इंगलेंड को पौंड-पावनों के रूप में जो ऋण दिया था, वे भारतीय जनता के उस महान त्याग, घोर आर्थिक कष्ट तथा कठिनाइयों के प्रतीक हैं जो भारतवासियों ने युद्ध काल में सहन की हैं। इसलिए इन ऋणों का भुगतान भी साधारण ऋणों की तरह ही होना चाहिये और यदि इनको रद्द किया गया या इन्हें कम किया गया, तब यह भारतवासियों के लिये पूर्णतया अन्यायपूर्ण होगा। (iii) यह तर्क कि भारत को अमेरिका की तरह इंगलैंड को ऋण से मुक्त कर देना चाहिए बहुत ही न्यायरहित है। प्रथम तो भारत और अमेरिका के आर्थिक स्तर में बहुत ही अन्तर है और दूसरे अमेरिका को तो इंगलैंड से कुछ सोना भी मिला था परन्तु भारत को तो केवल कागज की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली थीं। अतः एक ऐसे देश से जो आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा है, जहाँ उद्योगों का अभाव है और जो अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के लिये दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर है, उससे यह मांग करना कि वह अपने ऋण को न मांगे बहुत ही असगत प्रतीत होता है। (iv) यह कहना भी बहुत दोषपूर्ण है कि चूंकि रुपए का मूल्य कृत्रिम रूप में ऊँचा रक्खा गया, इसलिये पौंड पावनों की मात्रा बढ़ी और इसीलिये इनको कम कर देना चाहिए। इस कथन के उत्तर में केवल यह कहा जा सकता है कि भारत में वस्तुयें नियन्त्रित मूल्यों (Controlled Prices) पर ही खरीदी गई थी जिससे इंगलैंड व मित्र-राष्ट्रों को ये बहुत सस्ते मूल्य पर ही मिल गईं थीं। यदि चोर-बाजार मूल्यों पर वस्तुयें खरीदी जातीं तब पौंड-पावनों की मात्रा सम्भव है, वर्तमान से भी कम से कम चार गुनी अधिक हो जाती। इतना ही नहीं ब्रिटेन के हाऊस ऑफ़ कॉमन्स (House of Commons) द्वारा नियुक्त की गई विशेषज्ञों की एक समिति ने भी यह माना है कि ऊँची विनिमय-दर के कारण ब्रिटेन के ऋणों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। अतः यह स्पष्ट है कि उक्त तर्क भ्रमात्मक है और इंगलेंड पर पौंड-पावनों के भुगतान का दायित्व पूर्णतया न्यायसंगत है। (v) पौंड-पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में सबसे बड़ा तर्क यह रहा है कि ये हमारी सबसे बड़ी पूँजी है और इनके समुचित उपयोग से ही हमारी आर्थिक समस्याओं का आसानी से समाधान हो सकता है। हमारे देश के आर्थिक विकास में इनसे बहुत मदद मिल सकती है। इनकी सहायता से न केवल हम स्टर्लिंग क्षेत्र से ही औद्योगिकरण के हेतु मशीनरी आदि मंगा सकेंगे बल्कि दुर्लभ-मुद्रा (Hard Currency) क्षेत्रों से भी इन्हें मंगा सकेंगे। अतः देश में आर्थिक-नियोजन (Economic Planning) की सफलता के लिये पौंड पावनों का बहुत महत्व है।

पौंड-पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में बहुत समय तक तर्क-वितर्क चलता रहा और इगलैंड भी इनके भुगतान को टालता रहा। ऐसी स्थिति आ जाने पर भारत ने पौंड-पावनों का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (I. M. F.) के सम्मुख रक्खा। भारत ने इस बात की मांग की कि पौंड-पावनों के भुगतान का प्रश्न भी कोष के कार्य क्षेत्र में सम्मिलित किया जाना चाहिए। परन्तु कोष ने भारत का यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। इसी परिषद् में इगलैंड के प्रतिनिधि स्वर्गीय लार्ड कीन्स (Keynes) ने इगलैंड की ओर से यह विश्वास दिलाया कि इगलैंड अपने दायित्व को पूर्ण रूप से निभाने के लिये तैयार था और पौंड-पावनों को रद्द करने या इनके घटाने का प्रश्न ही नहीं उठता था क्योंकि इगलैंड ऋणों का भुगतान पूर्ण न्यायसंगत समझता रहा है। परिणामतः इगलैंड और भारत में समय-समय पर भुगतान सम्बन्धी समझौते (Agreement) हुये हैं जिनके द्वारा पौंड-पावनों का भुगतान शनैः शनैः हुआ है।

पौंड पावने समझौते (Sterling Balances Agreement)

इगलैंड और भारत के बीच में पौंड पावनों के भुगतान सम्बन्धी समझौते

(Agreements between England and India regarding the payment of Sterling Balances)—समय-समय पर किए गये समझौते इस प्रकार हैं:—

(१) जनवरी सन् १९४७ का समझौता—भारत और इगलैंड के बीच पौंड-पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में सबसे पहला समझौता जनवरी सन् १९४७ को हुआ था। इस समझौते के अनुसार भारत अपनी आवश्यकता की वस्तुयें स्टर्लिंग क्षेत्र से खरीद सकता था और यदि उसे दुर्लभ मुद्रा-क्षेत्र (या डॉलर-क्षेत्र) से भी वस्तुयें मंगाने की आवश्यकता होती थी, तब वह पौंड-पावनों को डॉलर अथवा अन्य दुर्लभ मुद्राओं में परिवर्तित करा सकता था। परन्तु यह समझौता बहुत दिन तक नहीं चल सका क्योंकि इसी बीच में इगलैंड और अमेरिका के बीच में एक आर्थिक समझौता हुआ जिसने परिस्थिति को बदल दिया था।

(२) अगस्त सन् १९४७ का समझौता—अगस्त सन् १९४७ से पहले भारत अपने पौंड-पावनों का ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल (British Commonwealth) में किसी भी प्रकार से उपयोग कर सकता था और इन्हें डॉलर या अन्य दुर्लभ मुद्रा में भी परिवर्तित करा सकता था। परन्तु अगस्त १९४७ के समझौते के अनुसार पौंड-पावनों को दो खातों में बाँट दिया गया—प्रथम चालू खाता (Current Account) और दूसरा स्थिर खाता (Blocked Account)। ये दोनों खाते बैंक ऑफ इगलैंड में भारत के नाम खोले गये। चालू खाता ४६·६ करोड़ रुपए से खोला गया जिसमें से केवल ३ करोड़ रुपये का उपभोग दुर्लभ मुद्रा की प्राप्ति के लिये किया जा सकता था और नये पौंड-पावनों की कमाई भी इसी में जमा हो सकती थी। शेष १४६६·६ करोड़ रुपये के पावने स्थिर खाते में जमा कर दिये गये जिनका उपयोग विदेशी पूंजी प्राविडेन्ड-फण्ड, पेंशन आदि के भुगतान के लिये किया जायगा। इस समझौते की अवधि ६ मास के लिये बढ़ा दी गई (३० जून १९४८ तक)। चूंकि उस समय भारत में कोई निश्चित आयात योजना नहीं थी, इसलिए इस समझौते के अनुसार प्राप्त पौंड पावनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सका।

(३) जुलाई सन् १९४८ का समझौता—पहले समझौते [redacted] अन्त होते ही एक नया समझौता किया गया। इस समझौते की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(अ) अब तक के समझौते के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपए के पौंड पावने लेने का अधिकार मिला था, परन्तु इनमें से केवल ४ करोड़ रुपयों का ही माल मिला था। इस नये समझौते के अनुसार पुराने (१११—४=) १०७ करोड़ रुपये के पावनों का उपयोग दुबारा दिया गया। इसके साथ ही साथ अगले ३ वर्षों में (३० जून १९५१ तक) १०७ करोड़ रुपये के पौंड पावने निकालने का और अधिकार दिया गया अर्थात् ३० जून १९५१ तक भारत (१०७+१०७=) २१४ करोड़ रुपये के पौंड-पावनों का उपयोग कर सकता था। (आ) इस समझौते के समय पावनों की कुल रकम १,१५० करोड़ रुपये आंकी गई थी जिसमें से १३३ करोड़ रुपये फौजी सामानों (ब्रिटेन भारत में छोड़ गया था), २१४ करोड़ रुपया पेंशन्स, १२६ करोड़ रुपया पाकिस्तान के हिस्से के रूप में निकाल दिया गया और शेष में से २१४ करोड़ रुपये के पावनों को भारत को व्यय करने का अधिकार दे दिया गया। (इ) इस समझौते के अनुसार किसी एक वर्ष में केवल अधिक [redacted] अधिक २० करोड़ रुपये की रकम डॉलर या अन्य दुर्लभ मुद्रा में परिवर्तित कराई जा सकती थी।

(४) जुलाई सन् १९४९ का समझौता:—पिछले पौंड-पावने समझौते के जीवन-काल में ही एक नये समझौते की आवश्यकता अनुभव हुई क्योंकि ब्रिटेन के पास डॉलर की भारी कमी हो गई थी। इस समझौते के अनुसार सन् १९४८–४९, १९४९–५० तथा १९५०–५१ *के लिये क्रमशः ८·१ करोड़ पौंड, ५ करोड़ पौंड तथा ५ करोड़ पौंड* मिलना निश्चित किया गया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया कि हमारे आयात के लिये जुलाई १९४९ के पूर्व जो आदेश (Orders) दिये जा चुके हैं उनके लिये भी वह स्टर्लिंग देगा। भारत को अपनी डॉलर की कमी को दूर करने के लिये केन्द्रीय-कोष से १५ करोड़ डॉलर प्रति वर्ष लेने का अधिकार दिया गया, परन्तु सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन हो जाने से स्टर्लिंग का मूल्य ३०·५% कम हो गया था जिससे भारत को कम डॉलर मिले थे। इस समझौते में यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत विश्व बैंक से डॉलर लेकर मनचाही मात्रा में माल खरीद सकता था, परन्तु भारत से यह भी वचन ले लिया गया कि वह अगले वर्षों में अपने डॉलर आयातों में २५% कमी कर देगा।

(५) फरवरी सन् १९५२ का समझौता:—यह समझौता ३० जून १९५७ को समाप्त होने वाले ६ वर्षों के लिये हुआ था। उस समय के अनुमान के अनुसार ७६१ करोड़ रुपये के पौंड पावने शेष रह गये थे। इस समझौते के अनुसार ब्रिटिश सरकार ३० जून १९५७ *तक प्रति वर्ष ३·५ करोड़ पौंड स्थिर खाता नम्बर २ में से चालू खाता* नम्बर १ में जमा करेगी जिन्हें भारत प्रति वर्ष खर्च कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यह भी तय हुआ कि स्थिर खाते में से चालू खाते में ३१ करोड़ पौंड की एक ऐसी राशि जमा की जायगी जो भारत के रिजर्व बैंक के पास एक चलन निधि (Currency Reserve) [redacted] रूप में होगी और जिसका उपयोग भारत सरकार केवल संकट-काल में ब्रिटिश सरकार की पूर्व स्वीकृति से कर सकेगी। इस समझौते के अनुसार यह भी तय हुआ कि यदि

किसी वर्ष मे भारत ३ ५ करोड पौंड का उपयोग नही कर सके, तब वह इस राशि का उपयोग आगामी वर्षों मे कर सकेगा । इसी तरह यदि किसी वर्ष भारत का व्यय ३ ५ करोड पौंड से अधिक हो जाने की आशका हो जाये, तब भारत अगले वर्ष की राशि मे से ५ मिलियन पौंड का उपयोग कर सकेगा । परन्तु यदि भारत को इससे भी अधिक राशि की आवश्यकता पडे, तब भारत ब्रिटिश सरकार से विचार विमर्श करके अधिक राशि का उपयोग कर सकता है । इस तरह समझौते के अनुसार भारत को ३० जून १९५७ तक १०५ मिलियन पौंड की राशि का उपयोग करने का अधिकार दिया गया ।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University B A & B Sc

१ नोट लिखिये—भारतीय पौंड पावना । (१९५६ S, १९५६ S) ।

Agra University, B Com

1 Write a note on—Sterling Balances (1958 S)

Allahabad University B Com

1 Write a note on—Sterling Balances (1956)

Rajputana University, B Com

1 *Write a short essay of not more than four pages of your answer book on Sterling Balances of India* (1955)

Sagar University, B Com

१ नोट लिखिये—पौंड पावने । (१९५८) ।

Vikram University B A & B Sc

१ नोट लिखिये—पौंड पावने । (१९५९) ।

Vikram University B Com

1 Write a note on—Sterling Balances (1959)

Gorakhpur University, B Com

1 Write a note on—*Sterling Balances (Pt II 1959)*

अध्याय ५

रुपए का अवमूल्यन और इसके पुनर्मूल्यन की समस्या

(Devaluation of the Rupee and the problem of Revaluation)

<u>स्टर्लिंग के अवमूल्यन की पृष्ठ भूमि</u> **(Background of Devaluation)** — १८ सितम्बर सन् १९४९ को सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने अकस्मात् ही ब्रिटिश स्टर्लिंग का डालर के साथ जो मूल्य था उसे ४०३ डालर से ३० ५% घटा

कर २·८० डॉलर करने की घोषणा की ।* इस अवमूल्यन का प्रमुख कारण इंगलैंड का डॉलर संकट था। यह डालर-संकट कई कारणों से उत्पन्न हुआ था।—(i) ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल (British Commonwealth) अमेरिका पर निर्भर होता जा रहा था। युद्ध के बाद लगभग सभी देशों ने आर्थिक संगठन और पुनर्निर्माण के कार्य आरम्भ कर दिये थे। नये-नये उद्योगों का निर्माण किया जा रहा था तथा अनेक विकास योजनाएं कार्यान्वित की जा रही थी। चूँकि ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सभी देश अपनी पूँजीगत वस्तुओं (Capital Goods) तथा उपभोग्य पदार्थों के लिये मुख्यतः अमेरिका पर निर्भर थे, इसलिए *'डॉलर की समस्या'* उत्पन्न हो गई। *(ii) द्वितीय महायुद्धकाल में अमेरिका ने* सबसे अधिक औद्योगिक कुशलता प्राप्त की थी। इस कारण संसार के अधिकांश देश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अमेरिका पर ही निर्भर रहने लगे। परिणामतः अमेरिका से माल मगाने के लिए डॉलर का अभाव अनुभव होने लगा। (iii) एक ओर लगभग प्रत्येक देश में बाह्य व आन्तरिक मूल्य-स्तर पहले से अधिक ऊंचा हो गया और दूसरी ओर खाद्य-पदार्थों की बहुत कमी अनुभव होने लगी। इन दोनों का परिणाम यह हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों को पहले [redacted] अधिक मात्रा में डॉलर की आवश्यकता पड़ी। (iv) युद्धोत्तर काल में व्यक्तिगत ऋण व व्यापारिक साख में भी बहुत कमी हो गई जिससे डॉलर-क्षेत्र से माल मंगाने के लिए अधिक डॉलरों की आवश्यकता हुई। इन सब कारणों से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को डॉलर की कमी अनुभव हुई और इस संकट के कारण ही राष्ट्र-मंडल का डॉलर क्षेत्र के साथ भुगतान-सन्तुलन बिगड़ता चला गया। भुगतान के इस असन्तुलन को ठीक करने के लिए विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाये गये, इगलैंड ने अमेरिका से काफी बड़ी मात्रा में डॉलर में ऋण लिए, भुगतान सम्बन्धी अनेक समझौते किए गए, भुगतान को सन्तुलित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (I. M. F.) तथा विश्व बैंक से सहायता ली गई आदि। समय-समय पर इन सब *उपायों को अपनाने पर भी डॉलर-क्षेत्र से भुगतान का सन्तुलन ठीक नहीं हो सका और* दिन प्रति दिन डॉलर-संकट बढ़ता ही चला गया। सन् १९४९ की प्रथम तिमाही में जबकि ३२८ मिलियन पौंड के बराबर डॉलर की कमी थी, तब दूसरी तिमाही के अन्त में यह कमी बढ़ कर ६२७ मिलियन पौंड हो गई और जून १९४९ के अन्त में स्टर्लिंग क्षेत्र की स्वर्ण एवं डॉलर निधि घट कर केवल ४०६ मिलियन पौंड रह गई और इस निधि में बराबर कमी होती जा रही थी। इंगलैंड अपनी भुगतान-विषमताओं को निर्यात बढ़ा कर एवं अधिकाधिक डॉलर कमा कर ही ठीक कर सकता था। परन्तु यह निर्यात उस समय स्टर्लिंग का डॉलर या स्वर्ण में जो मूल्य था, उस पर नहीं बढ़ाया जा सकता था क्योंकि अमेरिका में इंगलैंड का माल महंगा पड़ता था। इसलिए निर्यात बढ़ाने के

---

*इंगलैंड ने स्टर्लिंग का यह अवमूल्यन दूसरी बार किया था। पहली बार अवमूल्यन २० सितम्बर सन् १९३१ को स्वर्ण-मान त्यागने के बाद किया गया। उस समय स्टर्लिंग का डॉलर में मूल्य ४·८६ डॉलर से घटाकर ४·२२१२ डॉलर किया गया था। सन् १९३१ का स्टर्लिंग अवमूल्यन इसलिये किया गया था ताकि स्टर्लिंग का डालर मूल्य इसके वास्तविक मूल्य के बराबर हो जाय।

लिए विदेशी बाजारों मे इगलैड का माल सस्ता होना चाहिए था और इसका एकमात्र उपाय यह था कि डॉलर के बदले पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का देना। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु ७ सितम्बर से १२ सितम्बर १९४९ तक वाशिंगटन में अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा का एक त्रिदल सम्मेलन हुआ जिसमें डॉलर की समस्या को १९५२ तक के हल के लिए एक समझौता हुआ। इसी समझौते के अनुसार सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने १८ सितम्बर सन् १९४९ को स्टर्लिंग के अवमूल्यन की घोषणा की और इस घोषणा को करते समय उन्होंने कहा कि "यद्यपि यह समस्या केवल ब्रिटेन की है, जो स्टर्लिंग-क्षेत्र का बेंकर है, परन्तु उसके साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यो को भी सहयोग देना चाहिए।" अत जब इगलैड की आर्थिक स्थिति बहुत भयानक हो गई और डॉलरों के घाटे को पूरा करने के लगभग सभी प्रयत्न असफल रहे, तब डॉलर-सकट से उत्पन्न स्थिति को सुधारने के लिए ही ब्रिटेन को विवश होकर स्टर्लिंग का अवमूल्यन करना पडा था।

भारत मे रुपये का अवमूल्यन

भारत को रुपये का अवमूल्यन क्यों करना पडा? (Why had India to devalue her Rupee?)—*स्टर्लिंग का अवमूल्यन होते ही स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी* राष्ट्रो ने (पाकिस्तान को छोडकर) थोडे ही दिनो मे अपनी-अपनी मुद्राओं के अवमूल्यन की घोषणा कर दी। भारत ने भी स्टर्लिंग के अवमूल्यन के २४ घण्टे के अन्दर ही इस सम्बन्ध मे अपना निर्णय ले लिया और रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी। परिणामत रुपये का डॉलर एव स्वर्ण मूल्य ३०.५% घटा दिया गया अर्थात् रुपये का डॉलर मूल्य ३०.२२५ सेन्ट से घटाकर २१ सेन्ट कर दिया गया। अमेरिका से १ डॉलर की वस्तुओ का आयात करने के लिए यदि पहले केवल ३ रु० ५ आने देने पड़ते थ, तब अवमूल्यन के बाद से उसी १ डॉलर के माल के लिए ४ रु० १२ आने देने पड रहे हैं। इस तरह भारत को प्रति १०० डालर के लिये अब ३३२ रु० के बदले ४७६ रु० देने पडते हैं। परिणामत अमेरिका की वस्तुओ का मूल्य भारत में बढ गया है। इसके विपरीत अवमूल्यन के कारण अमरिका में भारत की वस्तुयें सस्ती हो गई हैं क्योंकि *अमेरिका अब १०० डॉलर देकर ३३२ रु० की वस्तुओ के स्थान पर ४७६ रु० की वस्तुए* भारत से मगा लेता है (यह स्मरण रहे कि अवमूल्यन के बाद भी रुपए का स्टर्लिंग मूल्य १ शि० ६ पेंस ही है)। इससे स्पष्ट है कि रुपए के अवमूल्यन के कारण भारत में डॉलर-क्षेत्र से वस्तुओ की आयात हतोत्साहित और भारत की डॉलर-क्षेत्र को वस्तुओ की निर्यात प्रोत्साहित हुई है। परन्तु स्टर्लिंग का अवमूल्यन होते ही भारत को रुपये का अवमूल्यन क्यों करना पडा? इसके कई महत्वपूर्ण कारण हैं—

(१) भारत को रुपये का अवमूल्यन परिस्थितिवश करना पडा?—रुपए का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था, परन्तु भारत का स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते वास्तव में एव व्यवहार में रुपए का स्टर्लिंग से सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। इस कारण नैतिक दृष्टि से भी रुपये को स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमो का पालन करना पडता है। अत जब स्टर्लिंग का डॉलर एव स्वर्ण में मूल्य कम किया गया, तब विवश होकर परिस्थिति-

वश भारत को भी अपने रुपये का स्टर्लिंग-क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सदस्य होने के नाते, डॉलर एवं स्वर्ण में मूल्य कम करना पड़ा।

(२) स्टर्लिंग क्षेत्र से व्यापार:—भारत का अधिकतर विदेशी व्यापार स्टर्लिंग-क्षेत्र के साथ होता है। इस दशा में यदि स्टर्लिंग के साथ ही साथ रुपये का भी अवमूल्यन नहीं किया जाता तब इसका परिणाम यह होता कि हमारे निर्यात-स्टर्लिंग-क्षेत्र में महँगे हो जाते जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के साथ होने वाला हमारा व्यापार ठप्प हो जाता। यही नहीं, भारत का माल विदेशों में पहले से ही महँगा था और यदि रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जाता, तब तो भारतीय माल विदेशों में और भी महँगा हो जाता। अतः ताकि स्टर्लिंग के अवमूल्यन के बाद स्टर्लिंग क्षेत्र में भारत की वस्तुएं महँगी नहीं होने पायें, इस कारण भी रुपये का स्टर्लिंग के साथ ही साथ अवमूल्यन किया गया। यही नहीं स्टर्लिंग के अवमूल्यन के बाद अमेरिका को अवमूल्यन वाले देशों से भारत की अपेक्षा वस्तुएं सस्ते मूल्य पर मिलने लग जाती (यदि रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जाता) जिससे भारत की निर्यात और भी कम हो जाती। यही कारण है कि व्यापाराधिक्य की इस प्रतिकूल स्थिति से बचने के लिये भारत में भी इंगलैंड के साथ ही साथ रुपये का अवमूल्यन किया गया।

(३) पौंड पावने ऋण का मूल्य:—यदि भारत रुपए का अवमूल्यन नहीं करता तब उसके पौंड-पावने (Sterling Balances) का मूल्य ही बहुत कम हो जाता। इस प्रकार की हानि से बचने के लिए भी रुपए का अवमूल्यन किया गया।

(४) भारत को भी डॉलर की कमी अनुभव हो रही थी:—सन् १९४६ से भारत को भी डॉलर की कमी अनुभव होती जा रही थी और यह कमी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थी। सन् १९४५-४६, १९४६-४७, १९४७-४८ तथा १९४८-४९ के इन ४ वर्षों में भारत को डॉलर की कमी क्रमशः ५ करोड़ रुपए, ८६ करोड़ रुपए, ६३ करोड़ रुपए तथा ३७ करोड़ रुपए थी। भारत ने इस कमी को पूरा करने के लिए कई उपाय किये, जैसे स्टर्लिंग पावनों का डालर में परिवर्तन कराना, अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (I. M. F.) से १०० मिलियन डॉलर खरीदे तथा विश्व-बैंक से ४० मिलियन डॉलर का ऋण लिया तथा अमेरिका से भी काफी सहायता ली आदि। इन सब प्रयत्नों एवं उपायों को अपनाने पर भी भारत अपने डॉलरों की कमी को पूरा नहीं कर सका। अतः भारत ने अपने डॉलर-संकट को दूर करने के लिए भी रुपए का अवमूल्यन भी उसी अनुपात में किया जिस अनुपात में स्टर्लिंग का डॉलर में अवमूल्यन हुआ था।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि रुपए के अवमूल्यन के मुख्य उद्देश्य थे (i) स्टर्लिंग-क्षेत्र में भारत की निर्यातों का कम न होने देना और भारतीय वस्तुओं के प्रतियोगियों (जैसे लंकाशायर के कपड़े वाले, लंका की चाय, दक्षिण अफ्रीका का मैंगनीज तथा दण्डी का जूट आदि) से स्टर्लिंग क्षेत्र में प्रतियोगिता पैदा करना ताकि इस क्षेत्र में भारतीय व्यापार की स्थिति ठीक बनी रहे, (ii) डॉलर क्षेत्र में भारतीय निर्यातों को प्रोत्साहन देना ताकि भारत को अधिक से अधिक डॉलर प्राप्त हो सकें। (iii) भारत की आयात हतोत्साहित और निर्यात प्रोत्साहित करना ताकि देश में धनोत्पत्ति में वृद्धि

हो सके। (iv) अन्य प्रसिद्ध देशों की मुद्राओं के साथ भारत की विनिमय दर का उचित समाधान करना तथा (v) भारत की स्टर्लिंग भुगतान की स्थिति को ठीक-ठीक बनाये रखना ताकि स्टर्लिंग से हमारा भुगतान सतुलन ठीक ठीक बना रहे। अत उक्त कारणों एव उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु भारत ने इगलैंड तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) क साथ ही साथ अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया और अवमूल्यन के बाद देश मे जो स्थिति उत्पन्न हुई उसने सरकार की नीति को न्यायसगत सिद्ध कर दिया।

भारत मे अवमूल्यन का प्रभाव

<u>अवमूल्यन के प्रभाव</u> (Effects of Devaluation) —रुपए के अवमूल्यन के कई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े है —(i) भारत की भुगतान सतुलन की स्थिति बहुत सुधरी है—सन् १९४९ के पश्चात् कुछ समय तक हमारे व्यापाराधिक्य के सम्बन्ध मे जो सुधार हुआ उसका प्रमुख कारण अवमूल्यन ही है। दुर्लभ मुद्रा वाले देशो से भारत की आयातों का मूल्य ३० ५% बढ गया जिससे हमारे देश की आयात हतोत्साहित हुई। परन्तु इसके विपरीत हमारा निर्यात व्यापार बहुत बढ गया क्योंकि जिन देशों में अवमूल्यन नही हुआ था उनको ३० ५% का लाभ होने लगा था। अत अवमूल्यन से विदेशी व्यापार में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ उसी के कारण भारत का डॉलर-सकट बहुत कुछ दूर हो गया। यह इसी से स्पष्ट है कि जबकि सन् १९४९ में भारत का व्यापाराधिक्य का घाटा डालर देशो के साथ ५३ करोड रुपए के बराबर था, तब सन् १९५० में स्थिति मे इतना परिवर्तन हो गया कि डॉलर क्षेत्र से घाटे के स्थान पर २६ करोड रुपए की बचत हो गई परन्तु सन १९५१ में स्थिति मे फिर परिवर्तन हुआ और सन् १९५० के विपरीत देश की डॉलर क्षत्रीय भुगतान की स्थिति मे ७६·७ करोड रुपये की प्रतिकूलता हो गई। इस घाटे का प्रमुख कारण यह था कि इस वर्ष में भारत का व्यापारिक आयात हो १९५० की तुलना मे ३९ २ करोड रुपये से बढ़कर ४५·७ करोड रुपये का हो गया। इसके अतिरिक्त यन्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की आयात में भी बहुत वृद्धि हुई। अत जबकि १९५० मे हमारे डॉलर क्षत्रीय आयात १५७ ७ करोड रुपए के थे, ये १९५१ मे बढ़कर १८४ २ करोड रुपए के हो गये। परन्तु सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के अनेक उपाय अपनाकर फिर स्थिति में सुधार कर दिया। (ii) पौंड-पावने का मूल्य कम हो गया —भारत ने अवमूल्यन के पश्चात् अपने पौंड पावनो (Sterling Balances) का जितना भाग डॉलर क्षेत्र मे व्यय किया, उसका मूल्य ३० ५% कम हो गया (iii) भारत के विदेशी ऋण का भार बढ़ गया है —भारत ने विश्व बैंक से ऋण लिया है, अवमूल्यन से इस ऋण का रुपया-मूल्य बढ़ गया है। परन्तु अवमूल्यन से विदेशी पूँजी और विशेषत अमेरिका के डॉलर का विनियोग बढा है। (iv) देश के आर्थिक विकास में बाधा पडी है—अमेरिका एव डॉलर-क्षेत्र से वस्तुओ की आयात करने पर इनका मूल्य पहले की अपेक्षा ३० ५% अधिक देना पडता है। चूँकि हम डॉलर-क्षेत्र से मुख्यत पूँजीगत-वस्तुयें (Capital Goods) मगाते हैं जिनसे देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलती है, इसलिए

अवमूल्यन से हमारे देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ी है और सरकार को विवश होकर कुछ विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ा है।

यह स्मरण रहे कि अवमूल्यन से उत्पन्न होने वाली स्थिति का सामना करने के लिये सरकार ने ५ अक्टूबर सन् १६४६ को एक योजना घोषित की थी जिसकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—(i) अवमूल्यन से जो नई स्थिति उत्पन्न होगी उसके अनुसार व्यापार को इस प्रकार नियन्त्रित किया जायगा कि विदेशी विनिमय कम से कम व्यय होने पाए। इस नीति को निर्धारित करते समय देश की अनिवार्य आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जायगा। (ii) भारत को अन्य देशों से औद्योगिक माल कम से कम तथा उचित मूल्य देकर ही मंगाने का प्रयत्न किया जायगा। (iii) खाद्य-नियन्त्रण तथा अन्य शासकीय एवं वैधानिक उपायों को अपनाकर ही वस्तुओं के मूल्यों में होने वाली वृद्धि पर रोक रखी जायगी। (iv) दुर्लभ मुद्रा वाले देशों में जाने वाले निर्यात पर कर लगाकर अधिकतम विदेशी विनिमय प्राप्त करने का प्रयत्न किया जायगा। (v) देश में उत्पादन में वृद्धि करने के लिये प्रयत्न किया जायगा तथा विनियोग (Investment) को प्रोत्साहन दिया जायगा। इसलिए देश में जनता को बचत करने के लिये प्रोत्साहित किया जायगा। (vi) भारत सरकार चालू वर्ष में कम से कम ४० करोड़ रुपए की बचत और अगले वर्ष में इससे दुगुनी मात्रा में बचत करने का प्रयत्न करेगी। (vii) युद्धकाल में कमाये हुये भारी लाभों को छिपाकर जिन्होंने आय-कर की चोरी की तथा जिनके मामले आय-कर जाँच समिति को नहीं दिए गये हैं, उनसे ऐच्छिक समझौते किये जायेंगे ताकि वे अपनी छिपी हुई आय निकालकर औद्योगिक विनियोग में लगा सकें। (viii) सरकार आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में १०% कमी करने का प्रयत्न करेगी। अतः यह स्पष्ट है कि सरकार ने इन उपायों को अपनाकर एक तरफ तो अवमूल्यन से होने वाली देश की आन्तरिक मूल्य-वृद्धि पर रोक लगाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर देश में उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन दिया ताकि देश अवमूल्यन से पूरा लाभ उठा सके।

पाकिस्तान और अवमूल्यन
(Pakistan and the Devaluation)

पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन नहीं करना तथा इसका प्रभाव (No Devaluation by Pakistan and its effects):—जब इंगलैंड ने अपने स्टर्लिंग का अवमूल्यन १८ सितम्बर सन् १६४६ को घोषित कर दिया तथा भारत ने भी २४ घन्टे के अन्दर ही रुपये का अवमूल्यन कर दिया, उस समय यह आशा की थी कि पाकिस्तान भी स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों की तरह अपने रुपये का अवमूल्यन करेगा। परन्तु उस समय पाकिस्तान ने ऐसा नहीं किया वरन् २० सितम्बर १६४६ को पाकिस्तान ने यह घोषणा की कि पाक-रुपये (Pak-Rupee) का अवमूल्यन नहीं किया जायगा। परिणामतः पाक-रुपये का डॉलर-मूल्य पूर्ववत् ही रहा और स्टर्लिंग मूल्य २५·६ पैंस प्रति पाक-रुपया हो गया जिससे १ स्टर्लिंग ६·२६ पाकिस्तानी रुपयों के बराबर हो गया। दूसरे शब्दों में, भारत के १०० रुपये पाकिस्तान के ६६·५० रुपयों के बराबर हो गये अर्थात् १०० रु०

पाकिस्तान के भारत के १४४ रु० के बराबर हो गये। यह स्मरण रहे कि पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने के निर्णय से उसकी स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता में किसी प्रकार की बाधा नही पडी, यद्यपि स्टर्लिंग-क्षेत्र मे पाकिस्तान ही ऐसा देश था जिसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। पाकिस्तान ने अवमूल्यन न करने का निर्णय घोषित करते समय कहा था कि अवमूल्यन दो कारणो से किया जाता है—प्रथम, देश की भुगतान विषमताओं को दूर करने तथा द्वितीय, देश के निर्यात व्यापार को बढ़ाने के लिये और चूंकि पाकिस्तान के विदेशी व्यापार मे कोई विशेष विषमता नही है और देश से कच्चे-माल का निर्यात होने के कारण अवमूल्यन से इस व्यापार में कोई विशेष वृद्धि होने की भी सम्भावना नही है, इसलिये पाकिस्तान को अपनी मुद्रा के अवमूल्यन की आवश्यकता नही है।

पाकिस्तान के अपने रुपये के अवमूल्यन न करने से भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बहुत गहरा प्रभाव पडा और भारत पाक व्यापार लगभग बन्द हो गया क्योंकि भारत ने पाकिस्तानी रुपये को इस दर को स्वीकार नहीं किया। पाकिस्तान के निर्णय के दो मुख्य प्रभाव पडे थे—(अ) पाकिस्तान द्वारा अपने रुपये का अवमूल्यन नही करने से पाकिस्तान ने भारत के ३०० करोड रुपये के ऋण को करीब ८० करोड रुपये की रकम से कम कर दिया था। (आ) पाकिस्तान एक कृषि प्रधान देश है। वहाँ से भारत को जूट व कपास, अन्न, नमक आदि वस्तुयें आती थी। अवमूल्यन न होने के कारण भारत को पाक जूट व कपास के लिये ४४% अधिक मूल्य देना पडता था जिससे प्रारम्भ में भारत ने पाकिस्तान के रुपये की नवीन दर को स्वीकार नही किया, परन्तु विवश होकर २५ फरवरी सन् १९५१ को पाकिस्तान से एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसमे भारत ने पाकिस्तान की रुपये की नवीन दर को स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार भारत और पाकिस्तान मे व्यापार फिर से प्रारम्भ हो गया।

परन्तु अवमूल्यन नहीं करने से पाकिस्तान को उस समय लाभ अवश्य हुआ था – (अ) पाकिस्तान डॉलर क्षेत्रों से पूँजीगत वस्तुओ (Capital Goods) का आयात सस्ते मूल्य पर कर सका जिससे पाकिस्तान के औद्योगिकरण मे बहुत सहायता मिली। पाकिस्तान सरकार ने यह स्वीकार किया है कि अवमूल्यन नहीं करने से देश की उत्पादन शक्ति इतनी बढी है कि अब वह अन्न, जूट के सामान, सिगरेट, दियासलाई, सीमेंट, कागज व अन्य आवश्यक वस्तुओ मे स्वावलम्बी हो गया है। इस बात की इस तथ्य से भी पुष्टि हो जाती है कि विभाजन के समय वहां पर केवल ६ सूती वस्त्र की मिलें थीं, परन्तु आज इनकी सख्या बढकर ३७ हो गई है। (आ) भारत से पाकिस्तान को कोयला कपडा, सूत, कागज, लोहा आदि माल जाता था। पाकिस्तान के लिये इन सब वस्तुओ का मूल्य लगभग ४४% कम हो गया अर्थात् उसे भारत से ये वस्तुएँ बहुत सस्ते मूल्य पर मिलने लगी। (इ) उस समय की आर्थिक परिस्थितियो से यह स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान का अपनी मुद्रा के अवमूल्यन न करने के निर्णय से उसे लाभ ही रहा। तत्पश्चात् कोरिया के युद्ध के कारण पाकिस्तान का रुपया और भी दृढ हो गया। परन्तु शनैः शनैः परिस्थितियो मे परिवर्तन होता चला गया और पाकिस्तान के निर्यात उसकी

आयात से कम होने लगे और पाकिस्तान को विदेशी भुगतान में
लगी। परिणामतः ३१ जुलाई सन् १९५५ को पाकिस्तान ने भी अपने
की घोषणा कर दी। पाक रुपये के अवमूल्यन के बाद इसका मूल्
१०·१८६६२१० ग्राम अथवा अमरीकी के २१ सेन्ट के बराबर हो गया है।

पाकिस्तान के अपनी मुद्रा के अवमूल्यन करने के निर्णय से भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर फिर गहरा प्रभाव पड़ा है—(अ) भारत-पाक-व्यापार में वृद्धि हुई है। (आ) विदेशों में भारतीय जूट के सामान और पाकिस्तान के जूट के सामान में प्रतिस्पर्धा होने लगी है। इस स्पर्धा के कारण ही भारत सरकार को जूट के सामान पर से १ अगस्त सन् १९५५ से निर्यातकर हटाना पड़ा है।

भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन
(Revaluation of the Indian Rupee)

प्राक्कथन—१८ सितम्बर १९४९ को स्टर्लिंग और रुपए तथा अन्य स्टर्लिंग-क्षेत्रीय मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ था। इस अवमूल्यन के एक वर्ष बाद ही पुनर्मूल्यन की चर्चा होने लगी थी। यह स्वाभाविक ही है कि रुपए के पुनर्मूल्यन की भी चर्चा होने लगी ·र जॉन मथाई (Sir John Mathai) भूतपूर्व भारतीय अर्थ-मन्त्री रुपये के पुनर्मूल्यन के सबसे बड़े पक्षपाती रहे हैं और उन्होंने अपने मत के समर्थन में जून सन् १९५१ में जो कुछ तर्क दिये, उनमें से कुछ नीचे दिये गये हैं।

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Revaluation):—मुख्य-मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) रुपये के अवमूल्यन से भारतीय विकास योजनाओं में बाधा पड़ी है क्योंकि हम पूँजीगत-वस्तुओं (Capital Goods) की अधिकांश आयात डॉलर-क्षेत्रों से करते हैं जिनके लिए हमें पहले से अधिक मूल्य देना पड़ रहा है। यही कारण था कि सन् १९५० में भारतीय सरकार को कितनी ही विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ा था। रुपये के पुनर्मूल्यन से ये वस्तुएँ सस्ती हो जायेंगी और भारत के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। (ii) अवमूल्यन से यह आशा थी कि हमारा निर्यात-व्यवहार बहुत बढ़ेगा। परन्तु निर्यात व्यापार में आशानुकूल बहुत वृद्धि नहीं होने पाई क्योंकि हमारी निर्यात वस्तुओं में बहुत लोच नहीं है, जैसे—चाय, जूट का सामान, मैंगनीज आदि। इन वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाने पर इनकी मांग एवं निर्यात में कोई विशेष कमी नहीं होने पायेगी। अतः रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिये। (iii) अवमूल्यन से यह आशा की जाती थी कि हमारे आयातों का मूल्य बहुत कम हो जायगा, परन्तु सरकार के भरसक प्रयत्न करने पर भी आयातों में कोई विशेष कमी नहीं होने पाई है क्योंकि भारत में होने वाला अधिकतर आयात आवश्यक वस्तुओं का है जिनका उत्पादन देश में कम होता है। अतः पुनर्मूल्यन करने से न केवल देश में आवश्यक आयात ही बढ़ेंगे वरन् देश को आवश्यक एवं उपभोग-सामग्री भी बहुत कम मूल्य पर प्राप्त होने लगेगी। (iv) पुनर्मूल्यन से देश में मुद्रा-प्रसार के प्रभाव कुछ कम हो जायेंगे। सन् १९४९ में अवमूल्यन के कारण देश में मूल्य-स्तर ऊँचा हो गया है। पुनर्मूल्यन के कारण ये मूल्य कम हो जायेंगे जिससे देश में औद्योगिक सम्बन्धों में तनाव

कम हो जायगा। (v) सन् १९४६ में रुपये का अवमूल्यन भारत से भुगतान का सतुलन ठीक करने के लिये किया गया था। परन्तु अब परिस्थिति बिल्कुल बदल चुकी है और भुगतान सतुलन हमारे देश के अनुकूल हो गया है। अवमूल्यन से देश में मूल्य स्तर तथा रहन-सहन का व्यय बढ़ता जा रहा है। पुनर्मूल्यन के समर्थकों का मत है कि रुपये के पुनर्मूल्यन से मूल्य-स्तर तथा जीवन व्यय सूचांक कम हो जायेंगे और मुद्रा-स्फीति की तीव्रता कम हो जायगी। सक्षेप में, रुपये का पुनर्मूल्यन देश की आन्तरिक सुरक्षा के हेतु उपयुक्त बताया गया और साथ ही साथ यह मत भी प्रकट किया गया है कि इसका देश की बाहरी अर्थ-व्यवस्था पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

<u>पुनर्मूल्यन के विपक्ष में तर्क</u> (Arguments against Devaluation)—पुनर्मूल्यन के विरोध मे जो तर्क दिये गये हैं, उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) पुनर्मूल्यन के समर्थकों का मत है कि रुपये का बाह्य मूल्य बढाने से हमारी आयातों का मूल्य कम हो जायगा जिससे न केवल देश की विकास योजनाओं को प्रोत्साहन मिलेगा वरन् उपभोक्ताओं को भी उपभोग पदार्थ सस्ते मिलने लगेंगे। परन्तु पुनर्मूल्यन के आलोचकों का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि पुनर्मूल्यन से आयात वस्तुओं का मूल्य कम ही हो जाय। इसका कारण स्पष्ट है। विदेशी निर्यातकर्ता हमारी विवशता देखकर कि हमें उनसे खाद्यान्न, मशीनरी ही नहीं एव अन्य आवश्यक वस्तुएं मगानी हैं, अपनी वस्तुओं का मूल्य बढा सकते हैं। इसके अतिरिक्त आयातकर्ता भी ऐसी वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर अधिकाधिक मात्रा मे लाभ कमाने का प्रयत्न करने लगेंगे क्योंकि वे जानते हैं कि उक्त वस्तुओं की पूर्ति इनकी माग से बहुत कम है। यही नहीं, आयात वस्तुओं का मूल्य कम हो जाने से देश के उत्पादन को भी धक्का पहुँचेगा। (ii) पुनर्मूल्यन के विरोधियो का मत है कि ऐसा करने पर यह सम्भव है कि अन्य देश भी प्रतिक्रियास्वरूप अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन कर दें। इस स्थिति में भारत को पुनर्मूल्यन से कोई विशेष लाभ नहीं होने पायेगा। (iii) यदि अकेले भारत में ही पुनर्मूल्यन किया गया, तब भारत निर्यात व्यापार में स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों से स्पर्धा नहीं कर सकेगा जिससे भारत का निर्यात न केवल स्टर्लिंग क्षेत्र मे ही कम हो जायगा वरन् अमेरिका में भी हमारी निर्यात-वस्तुओं का बाजार बहुत कम हो जायगा। (iv) पुनर्मूल्यन के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि चूंकि हमारी निर्यात की बहुत सी वस्तुए ऐसी हैं जिनकी माग विदेशों में बेलोच है, इसलिये पुनर्मूल्यन कर देने से देश की निर्यात में कोई विशेष कमी नहीं होने पायेगी और इस कारण रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिए। परन्तु पुनर्मूल्यन के विरोधियो ने कहा कि उक्त विचार भ्रमात्मक है क्योंकि भारत की निर्यात की अधिकांश वस्तुओ की माग बेलोच नहीं है, जैसे—चाय, जूट आदि। अत यदि पुनर्मूल्यन कर दिया गया तब इन वस्तुओं का विदेशों में मूल्य बढ जाने के कारण इनकी निर्यात काफी कम हो जायगी और विदेशी इन वस्तुओं की स्थानापन्न (Substitutes) वस्तुओं का भी उपयोग आरम्भ कर देंगे। इस कारण भी रुपये का पुनर्मूल्यन नहीं करना चाहिए। (v) पुनर्मूल्यन के पक्ष-पातियों ने इसका समर्थन मुद्रा-स्फीति की तीव्रता पर रोक लगाने के लिये किया है। परन्तु आलोचकों का मत है कि मुद्रा स्फीति के

प्रभावों को दूर करने का एकमात्र साधन पुनर्मूल्यन ही नही है वरन् इसके अन्य उपाय भी हैं, जैसे—बचत को प्रोत्साहन देना, करो मे वृद्धि करना, सरकारी व्यय में बचत तथा मूल्य नियन्त्रण आदि। अतः विनिमय की दर में मन चाहे तब परिवर्तन करके विनिमय की दर से खिलवाड़ नही करनी चाहिए और इस कारण उन्होने पुनर्मूल्यन का विरोध किया।

इन सब कारणों से ही श्री देशमुख, भूतपूर्व अर्थ-मन्त्री ने रुपये के पुनर्मूल्यन का विरोध किया था। उन्होने कहा कि भारत को अधिकाधिक मात्रा में विदेशी मुद्राओं को प्राप्त करना है ताकि न केवल व्यापाराधिक्य का ही संतुलन हो जाये वरन् हमारा देश आर्थिक विकास के हेतु अन्य आवश्यक वस्तुओं को भी पर्याप्त आयात कर सके। यह तब ही सम्भव है जब हम अपनी निर्यात बढ़ायें और आयात कम से कम कर दें। इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र उपाय रुपये का अवमूल्यन ही है। जब से पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया है तब से भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता तो लगभग समाप्त हो ही गई है। यही कारण है कि आज भारत में पुनर्मूल्यन की चर्चा लगभग समाप्त हो गई है। यह आवश्यक है कि अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन के सम्बन्ध में समय-समय पर विचार होता रहना चाहिए और किसी भी निर्णय को एक अन्तिम निर्णय नही मानना चाहिए। देश की आवश्यकतानुसार ही रुपये का अवमूल्यन अथवा पुनर्मूल्यन हो, यह ही एक उचित मौद्रिक नीति है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. 'रुपये का अवमूल्यन' पर नोट लिखिये। (१९५८ S, १९५७S)। २. सितम्बर सन् १९४९ मे किन कारणों से भारतीय रुपए का अवमूल्यन हुआ? इस अवमूल्यन से भारतीय आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा, स्पष्टतया समझाइए। (१९५८)। 3. In September 1949, India devalued the rupee, following the devaluation of Sterling. Examine the need and justification for this measure. (1956 S).

Agra University, B. Com.

1. Write a note on—Devaluation of Currency. (1958, 1956, 1954)

Rajputana University, B. A. & B. Sc.

1. How is the exchange value of the rupee determined? Was the devaluation of the Indian rupee in September 1949 justified? Give reasons for your answer. (1954).

Rajputana University, B. Com.

1. Indicate the circumstances leading to the devaluation of the Indian rupee in 1949 and discuss its economic effects. (1956).

Sagar University, B. Com.

१. टिप्पणी लिखिये—मुद्रा का अवमूल्यन। (१९५६)। २. मुद्रा का 'अवमूल्यन' (Devaluation) क्या है? वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय रुपए के अवमूल्यन के पक्ष एवं विपक्ष के तर्कों की परीक्षा कीजिये। (१९५८)। ३. मुद्रा के अवमूल्यन से आप क्या समझते हैं? भारतीय दशाओं में संदर्भ में बताइये कि विपरीत व्यापार सतुलन

(Unfavourable Balance of Trade) को सुधारने में अवमूल्यन का क्या हाथ होता है ? (१९५७) । ४ सन् १९४९ में किन परिस्थितियों मे मुद्रा-अवमूल्यन हुआ और इसका क्या परिणाम निकला ? वर्णन कीजिये । (१९११) ।

Jabalpur University, B. Com

१. नोट लिखिये—अवाहंण (Devaluation) और उसके परिणाम ।

Vikram University, B. A & B. Sc.

१. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—मुद्रा अवमूल्यन । (१९५९) ।

Gorakhpur University, B Com.

1. Write a short note on—Devaluation of the Rupee. (Pt. II. 1959).

Allahabad University, B. A.

१. सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया और इससे भारतीय उद्योग धन्धों तथा व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा ? (१९५७) ।

Allahabad University, B. Com.

1. Write a note on—Revaluation. (1957)

Nagpur University, B. A

१. सन् १९४९ में रुपए का अवमूल्यन क्यों किया गया ? इस अवमूल्यन के क्या परिणाम हुये ? क्या इससे अधिक अवमूल्यन होना आप आवश्यक समझते हैं ? (१९५९)



अध्याय ६

भारत में दशमिक मुद्रा प्रणाली

(Decimal Coinage in India)

<u>प्राक्कथन</u>—१ अप्रैल सन् १९५७ से भारत मे दशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाया गया है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय सरकार ने अनेक राजनैतिक व आर्थिक समस्याओं को हल किया है और उनमें से एक मुद्रा प्रणाली में सुधार है । यद्यपि नई मुद्रा प्रणाली अप्रैल सन् १९५७ से अपना ली गई है, परन्तु नई और पुरानी मुद्रा प्रणालियां दोनों ही तीन साल तक साथ ही साथ चलन में रहेंगी । अब तक की प्रचलित प्रणाली में १ रु० में १६ आने अथवा ६४ पैसे हैं । इस मुद्रा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यही है कि इसमे हिसाब-किताब करने में कठिनाई होती है । परन्तु इस प्रणाली के हिसाब किताब करने के दोष को इसमे थोड़ा-सा ही सुधार करके दूर किया *जा सकता है और सुधार यह है कि इस प्रणाली को दशमिक मुद्रा क्रम (Decimal* Coinage System) पर आधारित कर दिया जाय । दशमिक मुद्रा प्रणाली से अभिप्राय एक ऐसी प्रणाली से होता है जिसमे प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने ऊपर की मुद्रा इकाई का दसवां भाग होती है । इस तरह इस प्रणाली मे एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा करके या १० से भाग देकर दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है ।

संसार में १४० प्रकार के मुद्रा मान हैं जिनमें १०५ दशमलव पद्धति (Decimal System) पर आधारित हैं। अभी तक जिन देशों ने मीट्रिक सिस्टम (Metric System) अथवा दशमिक प्रणाली नहीं अपनाई है उनमें ब्रिटेन, अमेरिका तथा (Commonwealth) के कुछ अन्य प्रमुख देश भी हैं। जिन देशों में यह प्रणाली प्रचलित है, वहां प्रमुख मुद्रा के सौवें भाग को सेंट (Cent) कहते हैं। सैन्ट लेटिन शब्द 'सैन्टम' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ 'शतांश होता है। लंका में इसे 'स्यंट' कहते हैं जिसका अर्थ होता है "सौवां भाग"। स्याम में इसे 'सिताग' कहते हैं जो वास्तव में संस्कृत के 'शतांश' शब्द का अपभ्रंश है। पर भारत सरकार ने रुपये के सौवें भाग का नाम "नया पैसा" रक्खा है। भारत में नई प्रणाली में भी प्रमुख सिक्का रुपया ही रहेगा और उसे १०० भागों में विभाजित करके मुद्रा का दशमलवीकरण किया गया है।

संक्षिप्त इतिहास

भारत में दशमिक क्रम का इतिहास(History of the Metric System in India):—संसद में मुद्रा के दशमलवीकरण के सम्बन्ध में विधेयक उपस्थित किये जाने के अवसर पर प्रधान मन्त्री ने कहा था कि दशमलव प्रणाली का आविष्कार भारतवर्ष में हुआ था। इसी कारण यह आशा है कि हमारे देश में इस प्रणाली को कार्यान्वित करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। यह स्पष्ट है कि भारत में दशमिक क्रम की स्थापना का इतिहास काफी पुराना है। हाल ही में सबसे पहले सन् १८६७ और १८७१ के बीच के काल में इस प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न किया गया। उस समय की भारत की सरकार ने बहुत जाच-पड़ताल करके यह निर्णय किया था कि देश की अनेकों कठिनाइयों का एकमात्र उपाय दशमिक क्रम की स्थापना ही है। इस हेतु सन् १८७० में दशमिक एक्ट (Metric Act of 1870) पास किया गया, परन्तु दुर्भाग्य से सब से अब तक उक्त एक्ट कार्यान्वित नहीं किया गया। सन् १९४० में भारत में भारतीय दशमिक सभा (Indian Decimal Society) स्थापित हुई और इसने देश में दशमिक क्रम की स्थापना पर बहुत जोर दिया तथा जनता में इस प्रणाली से सम्बन्धित उपयुक्त ज्ञान का प्रचार किया। परिणामतः देश की अनेक संस्थाओं को शनैः शनैः दशमिक प्रणाली के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान हो गया और उन्होंने भी इस प्रणाली को अपनाने के लिये अनुरोध किया। भारतीय दशमिक सभा (Indian Decimal Society) के प्रचार व अनुरोध के परिणामस्वरूप ही सन् १९४६ में भारत सरकार ने धारा सभा के सामने एक बिल पेश किया जिसमें देश में दशमिक मुद्रा प्रणाली के अपनाने की व्यवस्था की गई थी। तत्पश्चात् सरकार ने इस बिल पर जनता का मत प्राप्त करने के लिये इसे देश में देशवासियों के सम्मुख रक्खा। इस बिल पर जो समय-समय पर मत दिये गये उनसे यह स्पष्ट है कि जनता ने एवं वाणिज्य व व्यापार संघों ने उक्त बिल का स्वागत किया। इसी समय सन् १९४८ में एक भारतीय मान संस्था विशेष समिति (Indian Standards Institution Special Committee, 1958) की स्थापना हुई। इस समिति ने भी देश में दशमिक क्रम की स्थापना के सम्बन्ध में जाच-पड़ताल की और सन् १९४९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह समिति भी इसी निर्णय पर पहुँची कि

देश में दशमिक क्रम की स्थापना होनी चाहिये परन्तु इस समिति ने इस बात की सिफारिश की कि यह प्रणाली देश में १०–१५ वर्ष में शनै शनै ही अपनाई जानी चाहिये।

सन् १९५६ में भारत सरकार ने बहुत सोच विचार करने के बाद भारतीय मुद्रा (संशोधन) नियम पास किया। इस नियम की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं — (i) इस एक्ट के अनुसार भारत की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया ही रहेगी। सबसे छोटी मुद्रा इकाई का नाम "नया पैसा" रहेगा (जब तक कि पुराना पैसा प्रचलन में है)। एक रुपया १०० नये पैसों में विभाजित किया जायगा अर्थात् यह १०० नये पैसों के बराबर होगा। (ii) एक रुपये के अतिरिक्त ५० पैसे और २५ पैसों के दो सिक्के और प्रचलित किये जायेंगे। वर्तमान अठन्नी ५० पैसों के बराबर और चवन्नी २५ पैसों के बराबर रक्खी गई है। रुपये, अठन्नी व चवन्नी सिक्कों का वजन व आकार ज्यों का त्यों ही रहेगा। (iii) पुरानी प्रणाली की दुअन्नी, इकन्नी और अधन्ना सिक्कों के स्थान पर क्रमश: १०, ५, २ पैसे के नये सिक्के बनाये जायेंगे। (iv) पुरानी प्रणाली के २ आने १ आने, २ पैसे तथा १ पैसे के सिक्के भी नये सिक्कों के साथ ही साथ प्रचलन में रहेंगे परन्तु इनका धीरे-धीरे विमुद्रीकरण (Demonetization) कर दिया जायगा। (v) तीन वर्ष बाद पूर्णरूप से नई मुद्रा प्रचलन में रहेगी (यद्यपि इस अवधि को आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाया जा सकता है)। (vi) रुपया, अठन्नी व चवन्नी के सिक्के गिलट (Nickel) के बनाये जायेंगे, १ पैसा तांबे का रहेगा तथा अन्य सिक्के तांबे और गिलट के मिश्रण से बनाये जायेंगे।

भारत में मुद्रा की दशमिक प्रणाली की विशेषताएं (Characteristics of the Decimal System of Coinage in India)—अब तक की प्रणाली में १ रु० में १६ आने तथा ६४ पैसे थे परन्तु अब नई दशमिक प्रणाली में ६४ पैसों की अपेक्षा १ रु० में १०० पैसे हो गये हैं। वर्तमान अठन्नी, चवन्नी व दुअन्नी के सिक्कों के स्थान पर क्रमश ५०,२५ तथा १०० नये पैसों के सिक्कों के बनाने की व्यवस्था की गई है। इस तरह इस नई प्रणाली में सिक्के इस प्रकार हैं–१०० नया पैसा, (या १ रुपया), ५० नया पैसा, २० नया पैसा, १० नया पैसा, ५ नया पैसा, २ नया पैसा तथा १ नया पैसा। स्पष्ट है कि वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना तथा १ पैसे की नई प्रणाली में कोई बिल्कुल ठीक व बराबर का सिक्का नहीं होगा, फिर भी १० नया पैसा, ५ नया पैसा २ नया पैसा तथा १ नया पैसा क्रमश: इनके बराबर ही माने जायेंगे। नई मुद्रा प्रणाली में भी पुराने रुपये, अठन्नी व चवन्नी के सिक्के साथ ही साथ प्रचलन में रहेंगे।

नई प्रणाली को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ—सरकार ने स्वयं नई मुद्रा प्रणाली को चालू करने के सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ मानी हैं—(i) पुरानी प्रणाली एक बहुत ही लम्बे समय से चालू रही है, इसलिए मुद्रा सम्बन्धी कोई भी नई प्रणाली जनता को अपरिचित होगी। जब तक नई और पुरानी प्रणाली साथ ही साथ चलेंगी तब तक तो जनता को मुद्रा प्रणाली बहुत ही जटिल प्रतीत होगी। इस कारण बहुत कुछ भावनाओं से प्रेरित होकर ही नई प्रणाली का विरोध किया गया है। ताकि जनता का

अधिक विरोध नहीं होने पाए और मुद्रा प्रणाली सरल रहे, इसीलिये नई प्रणाली में भी रुपया, अठन्नी तथा चवन्नी के पुराने सिक्के ही प्रचलन में रहेंगे। (ii) जब तक नई व पुरानी प्रणाली चलन में रहेंगी तब तक सीधे-सादे व्यक्तियों [redacted] ठगे जाने की सम्भावना है। असली गड़बड़ चवन्नी के नीचे के ही सिक्कों में रहेगी। परन्तु जब पुरानी प्रणाली का पूर्ण अन्त हो जायगा तब यह गड़बड़ भी समाप्त हो जायगी। (iii) मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन हो जाने पर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य निर्धारण के आधार में भी परिवर्तन हो जायगा। रेल व डाकखाने की दरें नये पैसों में व्यक्त की जायेंगी। यह कठिनाई भी अल्पकालीन नहीं है। परन्तु जब पुरानी प्रणाली का पूर्ण अन्त हो जायगा तब इसके साथ ही साथ इन सब कठिनाइयों का भी अन्त हो जायगा।

नई प्रणाली के लाभ (Advantages of the New System):—भारत सरकार के वित्त-विभाग ने दशमलव प्रणाली के कई लाभ बताये हैं:—(i) नई प्रणाली से देश में सरल तथा शीघ्र लेखा-विधि का निर्माण हो गया है। (ii) यह मूल्य निर्धारण की एक सप्रभाविक रीति है। इस प्रणाली में वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बहुत आसानी से नाप लिया जाता है। (iii) इस प्रणाली में विविध प्रकार की मुद्रा इकाइयों को *समाप्त कर दिया गया है और नई इकाइयों को दशमलवी आधार पर परिमापित किया* गया है। (iv) इस नई प्रणाली में मूल्यों के छोटे से छोटे परिवर्तन को अधिक सही तरीके से नापा जा सकता है। (v) विद्यार्थियों को गणित के सीखने में कम समय लगेगा तथा प्रश्नों की अनावश्यक जटिलता दूर हो जायगी।

लेखकों ने नई मुद्रा प्रणाली के कुछ और लाभ भी बताये हैं जो इस प्रकार हैं—इस समय देश के विभिन्न भागों में वजन व नाप और लम्बाई के नापने के बहुत से आधार हैं जिससे बहुत-सा राष्ट्रीय श्रम व राष्ट्रीय शक्ति बेकार हो जाती है। यह दोष दशमिक क्रम को न केवल मुद्रा-प्रणाली में बल्कि नाप-तोल व लम्बाई के नापने में भी अपनाने से दूर हो जायगा। (ii) संसार में लगभग १०५ देशों ने जिनमें विभिन्न जलवायु है और भिन्न-भिन्न संस्कृति के लोग रहते हैं, इस क्रम (System) को अपना रक्खा है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि जिस देश ने इस प्रणाली को एक बार अपना लिया है वह इसे त्यागना नहीं चाहता। चूँकि इस प्रणाली में हिसाब-किताब रखने की सरलता है, इसलिए जनमत भी इसके पक्ष में है। अतः जिस प्रणाली को विश्व की तीन-चौथाई जन-संख्या ने अपना रक्खा है, उसे भारत को भी अपना लेना लाभप्रद होगा। (iii) संसार के सभी सभ्य देशों में गणित के चिन्ह दशमलवीय आधार पर बनाये गये हैं। नाप-तोल की वही प्रणाली सरल व सुविधाजनक होती है जिसका *आधार दशमिक क्रम होता है। अतः ऐसी सरल एवं सुविधाजनक* प्रणाली को हमें भारत में भी अपनाना चाहिए और जब हमें अपने देश की वर्तमान नाप व तोल की दोषपूर्ण प्रणाली में परिवर्तन करना ही है, तब ऐसी रीति क्यों न अपनाई जाय जो सर्वश्रेष्ठ, स्थाई तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं पर अवलम्बित है और यह है दशमिक प्रणाली। अतः देश के आर्थिक विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के हेतु हमारे लिए दशमिक क्रम लाभप्रद है।

निष्कर्ष—काफी वाद विवाद और सोच विचार के बाद भारत में दशमिक प्रणाली को अपना लिया गया है और अब बडी से बडी गुणा तथा भाग की क्रिया केवल दशमलव बिन्दु को दाहिने या बाई की ओर हटा कर ही की जा सकती है। यह अवश्य है कि प्रारम्भ मे कुछ कठिनाई अवश्य अनुभव होगी। परन्तु कुछ समय पश्चात् यह काय अत्यन्त सुगम हो जायगा। यही नही इस समय देश में भार के माप की १४२ पद्धतियाँ हैं, दूरी के नापने के १८० विभिन्न तरीके प्रचलित हैं। असली 'मन' तो ४० सेर या ३२०० तोले का होता है, परन्तु देश के विभिन्न भागों में २८० तोले से लेकर ८३२० तोले तक के १०० प्रकार के 'मन' पाये जाते हैं। बीघा प्राय देश के प्रत्येक राज्य में विभिन्न क्षेत्रफल बतलाता है। इन सबके कारण व्यापारिक व्यवहार मे बहुत गडबडी रहती है और हिसाब किताब अनायास ही जटिल हो जाता है। देश में दशमिक प्रणाली न केवल मुद्रा म वरन् नाप तोल व लम्बाई के मापने मे अपनाने पर हिसाब किताब की सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इसी कारण सरकार का अगला कदम नाप तोल व लम्बाई के मापने मे दशमिक क्रम को अपनाना ही है। भारत सरकार ऐसा करने की ओर अब प्रयत्नशील भी है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University B A & B Sc

१ दशमिक मुद्रा पर नोट लिखिये। (१९५८, १९५९)

Agra University, B Com

१ भारतीय मुद्रा प्रणाली म दशमलव प्रणाली का क्यों समावेश किया गया है? हमारे समाज को इससे क्या लाभालाभ (Advantages and Disadvantages) हैं? (१९५९)।

Allahabad University, B Com

1. Write a note on—Decimal system of Coinage (1957, 1956)

Rajputana University B A & B Sc

1 What is decimal coinage? Give the advantages and dis advantages of this system under Indian conditions (19⁵6)

Jabalpur University B A

१ नोट लिखिए—दशमिक टकन (Decimal Coinage) (१९५८)।



अध्याय ८

भारत में नोट निर्गम का संक्षिप्त इतिहास तथा इसकी वर्तमान रीति

(Short History and Present Method of Note Issue in India)

संक्षिप्त इतिहास (Short History)

प्राक्कथनः—भारत मे पत्र-मुद्रा-चलन के इतिहास को हम तीन मुख्य कालों (Periods) मे विभाजित कर सकते हैं—(अ) सन् १८०६ से सन् १८६१ तक, (आ) सन् १८६१ से सन् १९३४ तक तथा (इ) सन् १९३४ से सन् १९५६ तक (ई) सन् १९५६ से सन् १९५९ तक।

(अ) सन् १८०६ से सन् १८६१ तक प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोटों का प्रकाशन

*इस काल की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) भारतीय मुद्रा प्रणाली में पत्र-*मुद्रा (Paper Currency) का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था। इससे पहले भारत में पत्र-मुद्रा का जनता को ज्ञान तक भी न था। (ii) सन् १८०६ में बैंक ऑफ बंगाल (Bank of Bengal) सन् १८४० मे बैंक ऑफ बम्बई (Bank of Bombay) तथा सन् १८४३ मे बैंक ऑफ मद्रास (Bank of Madras) की स्थापना हुई थी। सरकार ने इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को नोट-निर्गम का अधिकार ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा तक दे दिया था। जिससे उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल में भारत में नोटों का प्रकाशन केवल इन तीन प्रेसीडेन्सी बैंको द्वारा ही किया जाता था।* (iii) प्रेसीडेन्सी बैंकों के नोटों की कई विशेषतायें थीं:—इन नोटों का चलन क्षेत्र क्रमशः *कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास शहरों तक ही सीमित था;* इन नोटों का भुगतान बैंकों को माँग पर करना पड़ता था, ये नोट देश भर के लिये कानूनी मुद्रा नहीं थे, प्रत्येक बैंक को कुल नोटों की मात्रा का ३३⅓% (बाद में यह घटाकर २५% कर दिया गया था) धातु-निधि (Metallic Reserve) के रूप में रखना पड़ता था, सरकार ने प्रत्येक बैंक की नोट-निर्गम की एक अधिकतम सीमा भी निश्चित कर दी थी; तीनों बैंकों द्वारा निर्गमित नोटों की राशि तथा इनके रंग-रूप भिन्न थे। (iv) तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक यद्यपि व्यक्तिगत (Private) थे और ये अंशधारियों (Shareholders) के थे, परन्तु सरकार द्वारा भी इनके अंश (Shares) खरीदे जाते थे। इस तरह इन तीनों बैंकों के प्रबन्ध में सरकार का हाथ रहता था। सन् १८६१ में सरकार ने इन प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा निर्गमित नोटों का प्रचलन बन्द कर दिया था।

---

*कुछ विद्वानों का मत है कि नोट निर्गम का अधिकार इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के अतिरिक्त सात अन्य बैंकों को भी दे दिया गया था।

(आ) सन् १८६१ से सन् १९३९ तक:–सरकार द्वारा निश्चित असुरक्षित नोट-चलन पद्धति के आधार पर नोटो का प्रकाशन

इस काल की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं–(i) सन् १८६१ में सरकार ने पत्र-चलन-एक्ट (Paper Currency Act) पास किया और तीनो प्रेसीडेन्सी बैंकों के द्वारा निर्गमित नोटों के चलन को बन्द कर दिया। (ii) पत्र चलन एक्ट की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं —इस एक्ट के अनुसार भारत सरकार ने पत्र मुद्रा-चलन का कार्य स्वयं अपने हाथ में ले लिया था, सरकार ने विधान के अनुसार १०, २०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०,००० रुपये के नोटों का प्रकाशन किया, तत्पश्चात् १९६१ मे सरकार ने ५ रुपए के नोटो का भी प्रचलन किया, सरकार ने आरम्भ में देश को तीन निर्गम क्षेत्रों (Issue Circles) मे विभाजित किया—कलकत्ता, बम्बई और मद्रास और यह निश्चित कर दिया कि प्रत्येक क्षेत्र में निकले हुये नोट केवल उसी क्षेत्र के भीतर अपरिमित विधि ग्राह्य हो सकते थे, बाद मे चल कर सरकार ने निर्गम क्षेत्रों की संख्या तीन से बढाकर सात कर दी थी, उस समय की व्यवस्था के अनुसार नोटो में परिवर्तनशीलता थी परन्तु नोटों के बदले में सिक्के क्षेत्र के प्रधान कार्यालय पर ही मिल सकते थे, सरकार ने सरकारी भुगतान के सम्बन्ध में यह सुविधा दे रक्खी थी कि सरकार का भुगतान किसी भी क्षेत्र के नोटो में किया जा सकता था, नोटो के चलन के सम्बन्ध में जो क्षेत्र-प्रणाली स्थापित की गई थी, उसके कारण नोट जनता में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। परिणामत सरकार ने क्षेत्रों को धीरे धीरे तोड दिया–सन् १९०३ में ५ रुपये के नोट, सन् १९१० में १० और ५० रुपये के नोट और सन् १९११ में १०० रुपये के नोटों को देश भर में अपरिमित विधि ग्राह्य मुद्रा बना दिया गया और तब से आज तक प्रत्येक नोट सारे देश में कानूनी मुद्रा के रूप में चलन मे रहता है। (iii) सरकार ने इगलैंड की नोट निर्गम प्रणाली के आधार पर भारत मे भी सन् १८६१ के पत्र चलन-एक्ट (Paper Currrency Act 1861) के अनुसार निश्चित अरक्षित पत्र मुद्रा चलन पद्धति (Fixed Fiduciary System) की स्थापना की थी। इस प्रणाली के अनुसार ४ करोड रुपये के नोट सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर निकाले जा सकते थे, परन्तु यदि इस सीमा से अधिक नोट निकाले जाते थे, तब इस सीमा से ऊपर के प्रत्येक नोट की आड मे शत प्रतिशत रुपये के सिक्के, धातुयें तथा भारत सरकार की रुपये की प्रतिभूतिया (Rupee Securities of the Govt of India) रक्खी जाती थीं। सन् १८६३ मे सरकारी प्रतिभूतियो (Securities) के आधार पर छापी जा सकने वाली नोटो की सीमा बढाकर १४ करोड रुपये कर दी गई और सन् १९१४ में चेम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) ने इस सीमा को बढाकर २० करोड रुपये करवा दी। धातु निधि से सम्बन्धित नियमो में समय-समय पर संशोधन किये गये थे—सन् १८९८ म एक नियम के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह निधि का एक भाग सोने के रूप मे भी रख सकती थी अर्थात् भारत-मन्त्री के पास रक्खे हुए स्वर्ण के आधार पर भी वह पत्र-मुद्रा का निर्गम कर सकती थी। इसी तरह सन् १९०० के एक नियम के अनुसार सरकार को निधि का कुछ भाग

लन्दन में रखने का अधिकार दे दिया गया था (रुपये के सिक्कों को लन्दन में रखने का अधिकार नहीं दिया गया था)।

<u>भारत में सन् १८६१ से १९३९ तक अपनाई गई निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम पद्धति के गुण-दोष</u>—ऊपर यह बताया जा चुका है कि भारत में सन् १८६१ के पत्र-चलन एक्ट (Paper Currency Act) के अनुसार निश्चित असुरक्षित नोट-निर्गम पद्धति (Fixed Note Issue System) को अपनाया गया था। इस प्रणाली में कई गुण थे—(i) सुरक्षितता:—भारत की उस समय की नोट-निर्गम प्रणाली में सुरक्षा (Security) थी क्योंकि एक निश्चित सीमा के ऊपर जितने भी नोटों का निर्गम किया जाता था उसके लिए शत प्रतिशत निधि रक्खी जाती थी जिससे देश में मुद्रा-प्रसार का भय बहुत कम रहता था। (ii) परिवर्तनशीलता:—नोट चाँदी के रुपयों में परिवर्तनशील थे। परन्तु इस प्रणाली में कई दोष भी थे.—(i) स्वयं-संचालन का अभाव था:—इस प्रणाली में स्वयं-संचालन का अभाव रहता था और इसीलिये असुरक्षित नोटों की मात्रा में वृद्धि करने के लिए सरकार को समय-समय पर नये-नये नियम बनाने पड़ते थे। (ii) निधि में धातु भाग बहुत ज्यादा था:—इस प्रणाली में जो भी निधि (Reserve) रक्खी जाती थी, उसमें धातु-निधि (Metallic Reserve) का भाग बहुत रहता था जिससे यह प्रणाली अमितव्ययी एवं व्ययपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में निधि का कुछ भाग लन्दन में रक्खा जाता था। (iii) यह प्रणाली बहुत ज्यादा बेलोचदार थी:—उस समय तक देश में मौद्रिक बाजार व केन्द्रीय बैंकिंग का विकास नहीं होने पाया था, जिसके कारण यह प्रणाली बहुत ज्यादा लोचहीन थी। केन्द्रीय बैंक के नहीं होने के कारण सरकार को कोष (Reserve) को ट्रेजरीज में बन्द रखना पड़ता था जिसके कारण आवश्यकता के समय मुद्रा-बाजार में धन का अभाव अनुभव होता था। इसी तरह केन्द्रीय बैंक के नहीं होने के कारण सरकारी आय को केन्द्रीय बैंक में रखकर इसे देश के व्यापार के लिए उपयोगी नहीं बनाया जा सकता था।

<u>प्रथम महायुद्ध का पत्र-मुद्रा-चलन पर प्रभाव</u> (१९१४—१९१९):—यूँ तो आरम्भ से ही जनता का नोटों में बहुत कम विश्वास था, परन्तु प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होते ही जनता का पत्र मुद्रा में से विश्वास बिल्कुल उठ गया और पत्र-मुद्रा के बदले में सोने और बाद में चाँदी के सिक्कों की माँग हुई। परिणामतः युद्ध आरम्भ होने के प्रथम ८ महीनों में ही १० करोड़ रुपये के नोटों का परिवर्तन हुआ। परन्तु बढ़ते हुये व्यापार के कारण मुद्रा की माँग बढ़ी और माँग की पूर्ति, चाँदी के अभाव के कारण चाँदी के सिक्कों में न होकर, पत्र-मुद्रा द्वारा की गई जिससे जनता का चलन-पद्धति में फिर से विश्वास स्थापित हो गया। सरकार को सन् १९१९ में पत्र-मुद्रा के अरक्षित भाग की सीमा को २० करोड़ से बढ़ाकर १२० करोड़ रुपया करना पड़ा और यह भी तय कर दिया कि १०० करोड़ रुपये का विनियोग ब्रिटिश ट्रेजरी बिल्स में हो सकता था। इसके अतिरिक्त मुद्रा की बढ़ती हुई माँग के कारण सरकार को दिसम्बर १९१७ और जनवरी १९१८ में क्रमशः २½ रुपए और १ रुपए के नोट जारी करने पड़े और इनकी आड़ में कुछ भी संचित निधि नहीं रक्खी गई (जनवरी १९२६ में इनका चलन बन्द किया गया

था)। परिणामत भारत में पत्र-मुद्रा की बाढ मे जो पत्र-चलन निधि थी, यद्यपि सन् १६१४ मे उसमे धातु का भाग ७८·६% था, परन्तु सन् १६१६ मे यह प्रतिशत घट कर केवल ३५ रह गया और इसी तरह पत्र-चलन निधि मे प्रतिभूतियो (Securities) का प्रतिशत १६१४ की तुलना में २१ से बढ़कर ५४ हो गया। युद्ध काल में भारत मे पत्र-मुद्रा में वृद्धि भी बहुत हुई। जबकि सन् १६१४ में नोटों की कुल मात्रा ६६·१२ करोड़ रुपये थी, सन् १६१८ में यह बढ़कर १८२·६१ करोड़ हो गई (तिगुनी हो गई)।

सन १६१६ की बैबिंगटन-स्मिथ कमेटी की सिफारिशें (Recommendations of the Babington-Smith Committee) —प्रथम युद्ध की समाप्ति पर भारतीय चलन प्रणाली में जांच पड़ताल करने के लिये सरकार ने सन् १६१६ में बैबिंगटनस्मिथ कमेटी की नियुक्ति की थी। इस कमेटी ने पत्र-चलन को लोचदार बनाने तथा मूल्य स्थैर्य लाने के हेतु कुछ सुझाव दिये, जो मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(I) पत्र चलन के अरक्षित भाग को १२० करोड़ रुपये किया जाय जिसमें २० करोड़ रुपये से अधिक भारत सरकार की प्रतिभूतियां (Securities) नहीं होनी चाहियें। (II) पत्र-चलन कोष मे कुल चालू नोटों का कम से कम ४०% भाग सोने या चांदी के रूप में होना चाहिये। पत्र मुद्रा कोष का सोना चांदी भारत मे ही रक्खा जाय। इस तरह अरक्षित पत्र-चलन किसी भी समय कुल-चलन के ६०% से अधिक नही होना चाहिए। (III) रुपये की विनिमय दर २ शिलिंग प्रति रुपया की जाय (शिलिंगे स्वर्ण में परिवर्तनीय थे) और तदुपरान्त पत्र मुद्रा-निधि स्वर्ण का इस दर पर पुनर्मूल्यन (Revaluation) किया जाय। (IV) सरकार को नोटों के परिवर्तन की अधिक से अधिक सुविधायें देनी चाहियें और सरकार को यह अधिकार होना चाहिए कि वह नोटों के बदले मे सोना दे या चांदी के सिक्के दे। (V) मौसमी मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अरक्षित-पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त ५ करोड़ रुपए की मुद्रा, निर्यात बिलों (Export Bills) की आड़ पर चलाई जाय और इसे प्रेसीडेन्सी बैंकों को ऋण के रूप में दे दिया जाना चाहिए।

पत्र चलन एक्ट १६२३ —सन् १६२० और इसके आस-पास भारत की पत्र मुद्रा-प्रणाली मे संशोधन करने के लिये अनेक छोटे-छोटे नियम पास किये गए। इसलिये सन् १६२३ में भारत सरकार ने एक सामूहिक एक्ट पास किया जिसने पत्र मुद्रा-निधि में इस प्रकार परिवर्तन किये —(I) पत्र-चलन-निधि का कम से कम ५० प्रतिशत भाग धातु निधि के रूप में कर दिया गया अर्थात् अरक्षित भाग धातु निधि के मूल्य से अधिक नहीं होना चाहिये। यह स्मरण रहे कि बैबिंगटन-स्मिथ कमेटी ने यह केवल ४० प्रतिशत रखने की सिफारिश की थी। इस प्रतिशत मे वृद्धि करने का कारण केवल यह था कि नोटों के बदले में आसानी से रुपये दिये जा सकें। (II) शेष निधि को २० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों के रूप मे भारत में रक्खा जा सकता था और इसके अतिरिक्त-शेष-निधि का विनियोग इगलैंड मे प्रतिभूतियो के रूप मे रखना आवश्यक कर दिया गया। (III) इस निधि का सोना जो भारत सचिव के पास रहता था, वह अधिक से अधिक ५ करोड़ रुपयों की कीमत का हो सकता था। (IV) मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पत्र-मुद्रा का इस चलन नियन्त्रक (Controller of Currency) को यह अधिकार दिया गया

कि वह ९० दिन की अवधि के निर्यात-बिल्स के आधार पर अधिक से अधिक ५ करोड़ रुपये की मुद्रा चलन में ला सकता था। सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक्स को मिलाकर इम्पीरियल बैंक बना दिया गया। इस बैंक को ही इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के निर्गम का अधिकार दिया गया और इसे ५ करोड़ के स्थान पर १२ करोड़ रुपये की मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। यह स्मरण रहे कि इस एक्ट को बाद में एक संशोधित रूप में ही कार्यान्वित किया गया।

हिल्टन-यंग कमीशन

सन् १९२६ में हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशें (Recommendations of *the Hilton Young Commission of 1926*):—*भारतीय मुद्रा-प्रणाली की जांच*-पड़ताल तथा इसमें सुधार के सुझाव पेश करने के लिए सन् १९२६ में हिल्टन यंग कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन के मुख्य-मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं.—(i) देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिए और इसे ही इम्पीरियल बैंक के स्थान पर नोट निर्गम का एक-मात्र एकाधिकार दिया जाना चाहिए (ii) कमीशन ने भारत में आनुपातिक कोष-प्रणाली (Proportional Reserve System) की स्थापना की सिफारिश की थी और यह सुझाव दिया कि कोष भी ४०% होना चाहिए। (iii) कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि केन्द्रीय बैंक द्वारा जो नये नोट जारी किये जा रहे हैं, वे रुपयों के बजाय स्वर्ण-पाट (Gold Bullion) में परिवर्तित होने चाहिएँ। (२१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला की दर पर)। परन्तु यह आवश्यक बताया गया कि एक बार में कम से कम ४०० औंस सोने का प्रयोग अवश्य होना चाहिए। (iv) कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि स्वर्ण-मान-रिजर्व (Gold Standard Reserve) तथा पत्र-मुद्रा-चलन रिज़र्व (Paper Currency Reserve) दोनों को मिला कर एक (Consolidation) कर देना चाहिये (v) इसने १ रु० के नोट के पुनः चलन की सिफारिश की, परन्तु ये नोट रुपये में परिवर्तनशील नहीं होने चाहियें।

सन् १९२७ का करेंसी एक्ट (Currency Act of 1927):—हिल्टन-यंग कमीशन की बहुत सी सिफारिशों को सरकार ने स्वीकृत किया और इन्हें सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट द्वारा कार्यान्वित किया—(i) इस एक्ट के अनुसार देश में स्वर्ण-धातु मान (Gold-Bullion Standard) स्थापित किया गया। सरकार जनता से निश्चित दर पर स्वर्ण खरीदा करती थी और उसने कम से कम ४०० तोले सोना २१ रु० ३ आने १० पाई की दर पर बेचने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। परन्तु सरकार विदेशी-भुगतान के लिये सोना दे या स्टर्लिंग दे यह उसकी इच्छा पर निर्भर रहता था (ii) केन्द्रीय बैंक की स्थापना का बिल धारा-सभा में अस्वीकृत कर दिया गया। (iii) एक्ट के अनुसार रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पेंस तय कर दी गई। (iv) सन् १९३१ तक तो उक्त व्यवस्था चलती रही, परन्तु सन् १९३१ में इंगलैंड में स्वर्ण-मान के टूट जाने के कारण, रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से हो गया और देश में स्टर्लिंग-विनिमय-मान की स्थापना हो गई अर्थात् नोटों के बदले स्वर्ण-पाट (Gold Bullion) देना बन्द कर दिया गया और इसके स्थान पर विदेशी भुगतान के लिये केवल स्टर्लिंग दिया जाने

लगा। (v) नोट निर्गम प्रणाली मे कोई परिवर्तन नही किया गया। अब भी देश में निश्चित असुरक्षित नोट-निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) चलती रही।

(इ) सन् १९३४ से सन् १९५६ तक-रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली की स्थापना

इस काल की नोट निर्गम प्रणाली की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) आनुपातिक कोष निधि (Proportional Reserve System) प्रणाली का प्रादुर्भाव सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट से हुआ था। (ii) रिजर्व बैंक की स्थापना से भारत में नोट निर्गम का एकाधिकार इस बैंक को सौंप दिया गया है। इस बैंक ने १ अप्रैल १९३५ से अपना कार्य आरम्भ किया था। इसने नोट निर्गम का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक अपना निधि नोट प्रकाशन-विभाग (Note Issue Department) स्थापित किया है। इसने भारत सरकार के मुद्रा-विभाग (Currency Department) का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया है। इस तरह बैंक के दो विभाग हैं—बैंकिंग विभाग (Banking Department) तथा निर्गम विभाग (Issue Department) और ये दोनो विभाग एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक्-पृथक् रहते हैं। १ अप्रैल सन् १९३५ से भारत सरकार ने नोटो के प्रकाशन का कार्य बन्द कर दिया है और स्वर्णमान-निधि (Gold Standard Reserve) तथा पत्र-मुद्रा निधि (Paper Currency Reserve) को मिलाकर इसने इसे रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर दिया है। इस समय रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति या बैंक ऐसे नोट नही निकाल सकता है जिनका भुगतान इनके धारक (Bearer) को मांगने पर किया जाय। रिजर्व बैंक जो भी नोट निकालता है वे अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं और इनकी परिवर्तनीयता की भारत सरकार की गारन्टी होती है। द्वितीय महायुद्ध काल में मुद्रा की माग अधिक हो जाने के कारण १ रु० और २ रु० के नोट जारी किये गये। इस तरह आजकल देश मे १ रु०, २ रु०, ५ रु०, १० रु०, १०० रु०, १००० रु०, ५००० रु० तथा १०,००० रु० के नोट प्रचलन मे हैं।* दो रुपये और इससे ऊपर के नोटो के बदले में रुपये के सिक्के अथवा छोटी कीमत के नोटो के देने की गारन्टी रिजर्व बैंक ने दी है अर्थात् ये सब नोट परिवर्तनीय (Convertible) हैं। परन्तु १ रु० के नोट जिन्हे भारत सरकार ने प्रकाशित किया है, ये अपरिवर्तनीय (Inconvertible) हैं। (iii) सन् १९५६ तक नोट निर्गम विभाग के लिये यह आवश्यक था कि वह जितने रुपये के नोट निकाले, उतने ही रुपये का सोना, सोने के सिक्के, स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज, रुपये तथा भारत सरकार की प्रति-

* सरकार ने १२ जनवरी १९४६ को एक आदेश द्वारा ५०० रु० तथा इससे अधिक के नोटों को चलन में से समाप्त कर दिया था। इसका मुख्य उद्देश्य मुद्रा प्रसार को रोकना तथा कर बचाने वालों को दण्डित करना था। परन्तु सन् १९५३ मे भारत सरकार ने उक्त आदेश को रद्द कर दिया और ५०० रु० तथा इससे अधिक मूल्य के प्रकाशन पर से रोक हटा दी। परिणामत १ अप्रैल सन् १९५४ से रिजर्व बैंक ने १००० रु०, ५००० रु० तथा १०,००० रु० के नोटों का प्रकाशन आरम्भ कर दिया है (५०० रु० के नोटों का प्रकाशन आरम्भ नहीं किया है)।

भूतियाँ तथा कागजी मुद्रा पत्र-मुद्रा-चलन-निधि (Paper Currency Reserve) में जमा रखते। कुल नोटों के मूल्य का ४० प्रतिशत भाग सोने, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) एवं विदेशी मुद्राओं में रखना पड़ता था। यह स्मरण रहे कि सन् १९४८ में संशोधन से पूर्व विदेशी मुद्राओं का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग से लिया जाता था, परन्तु अब इस संशोधन के बाद मुद्रा-कोष (I. M. F.) के किसी भी सदस्य की मुद्रा को निधि के रूप में रक्खा जा सकता है। उक्त ४० प्रतिशत निधि के सम्बन्ध में एक और नियम था कि इस निधि में कम से कम ४० करोड़ रुपये के सोने के सिक्के या सोना होना चाहिये और इसका ¹⁷/₂₀ भाग भारत में ही रहना चाहिये। पत्र-मुद्रा-चलन-निधि (Paper Currency Reserve) का शेष ६०% भाग भारत सरकार की प्रतिभूतियों (Securities) या स्वीकृत हुंडियों या विनमय बिल्स या रुपये के सिक्कों के रूप में रहता था। इस सम्बन्ध में यह भी नियम था कि भारत सरकार की सिक्यूरिटीज की मात्रा कुल पत्र-मुद्रा-चलन-निधि के २५% या ५० करोड़ रुपये की कीमत से अधिक नहीं होनी चाहिये। विशेष परिस्थितियों के लिये यह व्यवस्था की गई थी कि राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस रकम में १० करोड़ रुपये की वृद्धि की जा सकती थी। विनिमय बिल्स तथा प्रतिज्ञा पत्रों के सम्बन्ध में यह नियम बना हुआ है कि रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बिल्स अथवा पत्रों को खरीद सकता है जिन पर किसी अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) की गारन्टी होती है तथा जिन पर कम से कम एक और आदरणीय पार्टी के हस्ताक्षर भी होते हैं। अतः रिजर्व बैंक ने करेन्सी सिद्धान्त (Currency Principle) के स्थान पर बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) को अपनाया था और इस सिद्धान्त के अनुसार सन् १९५६ तक आनुपातिक-कोष-प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोटों का प्रकाशन किया गया था।

(ई) सन् १९५६ से सन् १९६० तक—रिजर्व बैंक द्वारा न्यूनतम-मुद्रा-कोष प्रणाली की स्थापना।

यद्यपि वर्तमान मुद्रा-प्रणाली की कुछ विशेषतायें वही हैं जो सन् १९३४–१९५६ के काल में पाई जाती हैं, परन्तु हाल ही में इस प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। इस नई मुद्रा प्रणाली की कुछ मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

(i) सन् १९५६ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में एक संशोधन हुआ जिसने देश में आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली (Proportional Reserve System) के स्थान पर स्थिर (निश्चित) स्वर्ण-कोष प्रणाली या न्यूनतम मुद्रा-कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) को जन्म दिया। (ii) इस नई प्रणाली में सन् १९५६ के संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक के नोट निर्गम विभाग को नोट निर्गम के विरुद्ध कम से कम ४०० करोड़ रुपये विदेशी प्रतिभूतियों में और ११५ करोड़ रुपये के सोने के सिक्के अथवा स्वर्ण के रूप में सम्पत्ति संचित करनी पड़ती थी (सन् १९५६ से पहले रिजर्व बैंक के पास जो सोना था, उसका मूल्य २१·२४ रुपये (२१ रुपये १३ आने १० पाई) प्रति तोले के हिसाब से आंका जाता था, परन्तु अब इस संशोधन के अनुसार अमुक सोने का मूल्यांकन ६२·५० रुपये प्रति तोले के हिसाब से किया गया। (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने

सोने का यही मूल्य निर्धारित किया है) इस लिये स्वर्ण कोष मे न्यूनतम स्वर्ण की सीमा ४० करोड रुपये से बढ़कर ११५ करोड रुपये कर दी गई। सन् १९५६ में रिजर्व बैंक के पास ४०.०२ करोड रुपये का सोना था जो नई दर पर स्वत ११५ करोड रुपये का हो गया) (iii) अक्टूबर सन् १९५७ मे रिजर्व बैंक एक्ट मे फिर संशोधन किया गया। द्वितीय योजना के प्रारम्भ हो जाने के कारण विदेशी विनिमय की अत्यधिक आवश्यकता हुई जिससे रिजर्व बैंक के विदेशी कोष बहुत तेजी से और लगातार कम होते चले गये और इनमें कमी हो जाने की यह प्रवृत्ति निरन्तर चालू थी। इसलिये सन् १९५७ में रिजर्व बैंक एक्ट में पुन संशोधन करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग द्वारा रक्खे जाने वाले स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियो की अनुमानित कीमत कभी भी एव किसी समय २०० करोड रुपये से कम नही होनी चाहिये और इसमें भी स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण की कीमत ११५ करोड रुपये से कम नही होनी चाहिये। इस तरह आजकल विदेशी सिक्यूरिटीज की मात्रा ४०० करोड रुपये से घटाकर (२००—११५=) ८५ करोड रुपये कर दी गई है। (iv) केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमिति से इस मात्रा मे भी और भी कमी की जा सकती है। संक्षेप मे, इस नवीन मुद्रा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य भारतीय मुद्रा प्रणाली मे लोच व मितव्ययिता का लाभ तथा देश मे विदेशी मुद्रा के संकट को दूर करना है।

भारतीय वर्तमान नोट-निर्गम प्रणाली के गुण-दोष

(Merits and Demerits of the Present system of Note Issue in India)

<u>वर्तमान मुद्रा प्रणाली के गुण</u> —इस समय हमारे देश मे नोट निर्गम की न्यूनतम निधि प्रणाली प्रचलित है और एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के गुण इसमें पाये जाते हैं— (i) लोचकता —सन् १९५६ से पहल भारत में आनुपातिक नोट निर्गम प्रणाली थी, परन्तु इस वर्ष रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार हमारे देश में आनुपातिक नोट निगम प्रणाली के स्थान पर स्थिर (न्यूनतम व निश्चित) स्वर्ण कोष प्रणाली की स्थापना की गई। चूंकि इस नई प्रणाली मे रक्षित कोष में विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा निश्चित कर दी गई है (सन १९५६ के संशोधन के अनुसार यह रकम ४०० करोड रुपये थी परन्तु सन १९५७ में एक नये संशोधन के अनुसार यह रकम घटाकर केवल ८५ करोड रुपये कर दी गई) इसलिये आनुपातिक प्रणाली की तुलना मे यह नई प्रणाली और भी अधिक लोचदार हो गई है। अत मारत की नोट निर्गम प्रणाली में लोचकता का गुण पाया जाता है। (ii) मुद्रा का विदेशी मूल्य स्थिर रहता है—भारतीय वर्तमान मुद्रा प्रणाली का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिसके कारण भारतीय मुद्रा का विदेशी मूल्य स्थिर रहता है। परिणामत विदेशी विनिमय कार्य म पर्याप्त सरलता एव सुगमता रहती है। (iii) मुद्रा प्रणाली बहुत ही मितव्ययी है—नोट निर्गम की पुरानी रीति में कई प्रकार के सुरक्षित कोष रक्खे जाते थे जिससे वह बहुत ही व्ययपूर्ण प्रणाली थी। परन्तु इस नई प्रणाली मे तमाम चलन निधि को एक ही कोष मे एकत्रित कर दिया गया है। इस

कारण यह काफी मितव्ययी प्रणाली बन गई है। (iv) परिवर्तनशीलता:—इस प्रणाली में कम अधिक परिवर्तनशीलता भी पाई जाती है जिससे इस प्रणाली मे जनता का दृढ विश्वास बना रहता है। *(v) संकट काल में निधि सम्बन्धी नियमों में छूट मिल सकती है:*—राष्ट्रपति की अनुमति लेकर इस प्रणाली में संकटकाल मे निधि सम्बन्धी नियमों में छूट मिल जाती है। इस व्यवस्था से भी मुद्रा प्रणाली बहुत लोचदार बनी रहती है। यह अवश्य है कि इस प्रकार की छूट पाने के लिए बैंक को बढ़ती हुई दरों पर 'कर' देना पड़ता है जिसके कारण एक सीमा के बाद रिजर्व बैंक के लिये नोट निर्गम करना काफी महंगा रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय वर्तमान मुद्रा-प्रणाली में एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में पाये जाने वाले लगभग सब ही गुण पाये जाते हैं।

वर्तमान मुद्रा प्रणाली के दोष—इस प्रणाली के कुछ मुख्य दोष इस प्रकार हैं—(i) आन्तरिक मूल्य स्तर में स्थिरता नहीं रहती है.—यद्यपि इस प्रणाली में रुपये का बाह्य मूल्य स्थायी रखने का प्रयत्न किया गया है और इसमें स्थिरता रखी भी गई है, परन्तु यह प्रणाली रुपए के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता रखने में असफल रही है। (ii) सांकेतिक मुद्रा—इस प्रणाली के अन्तर्गत समाम मुद्रा सांकेतिक (Token Money) है। परिणामत. मुद्रा का वास्तविक मूल्य इसके मुद्रा मूल्य से बहुत ही कम होता है। (iii) स्वयं-संचालन का अभाव है—वर्तमान मुद्रा-प्रणाली में मुद्रा की मात्रा में देश के आर्थिक विकास, उत्पादन-शक्ति तथा वितरण की आवश्यकताओं के अनुसार घट-बढ़ बहुत कठिनाई से होने पाती है। यह एक प्रतिबन्धित (Managed) तथा कृत्रिम प्रणाली है जिसके संचालन के लिये सरकारी हस्तक्षेप अत्यावश्यक रहता है। अतः इस प्रणाली मे स्वयं-संचालकता नही है तथा इसमे लोच के गुण का बहुत कुछ अभाव पाया जाता है। (iv) प्रणाली की व्यवस्था ही ऐसी है कि जिसमें युद्धकाल तथा युद्धोत्तर काल में मुद्रा का अत्यधिक प्रसार होने की सम्भावना है। (v) मुद्रा प्रणाली का कोई स्पष्ट मान भी नहीं है—इसे *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान, स्वर्ण-समता मान तथा बहुमुद्रा-मान* के नाम से पुकारते हैं। चूंकि यह प्रणाली सभी देशों के आपसी समझौते पर आधारित है, इसलिये यह एक स्वतन्त्र प्रणाली भी नही है। (vi) परिवर्तनशीलता का अभाव है—इस प्रणाली में नोटों के बदले वास्तव में सोना-चादी नहीं मिलता है जिससे इसमें वास्तविक परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है। (vii) जटिलता—वर्तमान मुद्रा-प्रणाली कृत्रिम व प्रतिबन्धित होने के कारण बहुत ही जटिल है जिससे यह जनसाधारण की आसानी से समझ में नहीं आती है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. भारत में १९५६ में नोट जारी करने की विधि "आनुपातिक कोष-प्रथा" (Proportional Reserve System) से बदल कर "निश्चित कोष प्रणाली" (Minimum Reserve System) क्यों की गई थी? भारत के चलार्थ (Currency) पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? (१९५६)। 1. What principles should govern the note-issue in a country? In this connection, examine the provisions of the Reserve Bank of India Act. *(1956)*

Agra University, B. Com.

१ पत्र-मुद्रा के संचालन को नियंत्रित करने के विभिन्न उपायों (Methods) का आलोचनात्मक परिचय दीजिये। उनमे से हमारे देश ने किसको अपनाया है और क्यों? (१६५६ S)। २. भारत की विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा संचालन (Fiduciary Issue System) एवं न्यूनतम कोष पद्धति (Minimum Reserve Method) की विशेषताओं का विवेचन करिये। उनकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिए। (१६५६) 3. Write a note on—Fiduciary Reserve (1957 S) 4. Explain the various systems of note issue Which of these systems has been adopted in India? (1957, 1954) 5. Write a note on—Fiduciary Issue of Bank Notes (1956 S).

Allahabad University, B. Com.

1 Discuss the merits and defects of different systems of regulating note issue. How is the note issue in this country controlled by the Reserve Bank of India? (1957)

Rajputana University, B Com.

1. Explain the characteristics of an ideal system of note-issue and indicate how far does the Indian paper money possess the same? (1958)

परीक्षोपयोगी प्रश्न और उनके उत्तर का संकेत

प्रश्न १–(i) भारत मे १६५६ मे नोट जारी करने की विधि "आनुपातिक कोष प्रथा" (Proportional Reserve System) से बदलकर "निश्चित कोष प्रणाली" (Minimum Reserve System) क्यों की गई थी? भारत के चलार्थ (Currency) पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? (Agra B. A. १६५६), (ii) भारत की विश्वासाश्रित पत्र-मुद्रा संचालन (Fiduciary Issue System) एवं न्यूनतम कोष पद्धति (Minimum Reserve Method) की विशेषताओं का विवेचन कीजिये। उनकी पुष्टि के लिये अपनी अपनी युक्तियाँ दीजिये। (Agra, B. Com. १६५६) (iii) Explain the Various Systems of note Issue Which of these Systems has been adopted in India? (Agra, B. Com. 1957,54)

संकेत–उत्तर के आरम्भ मे नोट निर्गम की आनुपातिक कोष निधि तथा न्यूनतम कोष निधि प्रणालियो की विशेषताओ को लिखिये (इस सम्बन्ध मे नोट निर्गम के सिद्धान्त तथा रीतियाँ नामक अध्याय भी पढ़िये) यह स्पष्ट कीजिये कि इन दोनों पद्धतियो मे यद्यपि एक-से गुण (दोनों पद्धतियों के गुणो की तुलना कीजिये) पाये जाते हैं तथापि बाद वाली पद्धति मे अधिक लोच पाया जाता है और मुख्यतः इस दृष्टि से यह पद्धति प्रथम पद्धति से श्रेष्ठ है (दो पृष्ठ)। द्वितीय भाग मे यह बताइये कि सन् १६५६ से पहले भारत में प्रचलित आनुपातिक कोष निधि की क्या विशेषतायें थी और फिर यह बताइये कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सन् १६५६ मे प्रथम संशोधन तथा सन् १६५७ में द्वितीय संशोधन से भारत मे न्यूनतम कोष विधि प्रणाली की किस प्रकार स्थापना की गई (एक-डेढ़ पृष्ठ)। तृतीय भाग में यह बताइये कि इस नई प्रणाली की क्यों आवश्यकता अनुभव हुई— (i) द्वितीय पचवर्षीय योजना की सफलता के लिये योजना आयोग ने लगभग १२०० करोड़ रुपये की घाटे की वित्त-व्यव-

स्था का उल्लेख किया था। इसका अर्थ यह था कि सरकार को इतनी अधिक मात्रा में नोट छापकर अपनी मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी। इतनी अधिक मात्रा में नोट निर्गम पिछली आनुपातिक कोष निधि प्रणाली मे सम्भव नहीं था। इसका कारण यह था कि इतनी अधिक मात्रा में नोटों के निर्गम के लिये सरकार को अपने मुद्रा-कोप में एक बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी प्रतिभूतियों की आवश्यकता पड़ती जिसकी व्यवस्था उस समय की परिस्थितियों में सम्भव नहीं थी। (रिजर्व बैंक के उस समय के नियमों के अनुसार इसको कुल नोटों का ४०% सोने अथवा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में रखना पड़ता) इस नई प्रणाली ने उक्त कठिनाई को दूर कर दिया। (ii) दूसरी पंचवर्षीय योजना के कारण विदेशी भुगतान की स्थिति में भी भारी असन्तुलन उत्पन्न हो गया था जिसके कारण सरकार को उस समय की अपनी संचित विदेशी प्रतिभूतियों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ गई थी। इस स्थिति में घाटे की वित्त-व्यवस्था के हेतु नये-नये नोटों के निर्गम के लिये और अधिक मात्रा मे विदेशी प्रतिभूतियों की व्यवस्था करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। इस वित्तीय कठिनाई को दूर करने के लिये सरकार ने यही उचित समझा कि मुद्रा-प्रणाली मे अथवा नोट-निर्गम की रीति में ही संशोधन कर दिया जाये और ऐसा कर भी दिया गया। फलतः इस नई पद्धति द्वारा भारत ने विदेशी विनिमय संकट का सामना बहुत कुछ सफलता से कर लिया। अब इस नई व्यवस्था में भारतीय मौद्रिक व्यवस्था को इस प्रकार संगठित किया गया है कि रिजर्व बैंक सरकार की आवश्यकतानुसार नोटों को अधिक से अधिक मात्रा में छापकर उसकी मौद्रिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। डा० बी० के० आर० वी० राव इस नई पद्धति के समर्थक हैं—उनका मत है कि यह अस्थाई व्यवस्था है, योजना के पूरा हो जाने पर पुनः पुरानी आनुपातिक निधि प्रणाली अपनाई जा सकती है, कि इससे कुछ भी हानिकारक परिणाम निकलने की सम्भावना नहीं है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने इस रीति को देश के लिये अत्यधिक घातक माना है—कि यह आर्थिक दिवालियेपन का संकेत है, कि इससे देश में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार हो जाने का भय है, कि यह कदम देश के लिये खतरनाक सिद्ध हो सकता है। परन्तु नेहरू जी का मत था और है कि योजनाओं को सफल बनाने के लिये हर तरह का त्याग व कष्ट सहना होगा, योजनाओं की सफलता इसी पर निर्भर है। अतः नोट निर्गम की नई प्रणाली से देश में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार हुआ है, मूल्य-स्तर बढे हैं, द्रव्य के मूल्य मे कमी हो गई है आदि। ये ही भारतीय चलार्थ पर इस नई रीति के मुख्य प्रभाव हैं (तीन-चार पृष्ठ)।

प्रश्न २—"Domestic gold Standard is not only costly, but also stands in the way of the adoption of a Sound economic policy" Explain the Statement. (Bihar. B. A. 1953)

संकेतः—उत्तर के आरम्भ में राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (Domestic Gold Standard) का अर्थ समझाइये—यह वह मुद्रा व्यवस्था है जिसमें देश की वैधानिक मुद्रा (कानूनी ग्राह्य मुद्रा) तथा अन्य प्रकार की मुद्राओं का देश के स्वर्ण-कोष के साथ घना सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार के मान में यह आवश्यक नहीं है कि देश मे स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन हो। यह मान उस समय भी रहता है जबकि परिवर्तनीय या अपरिवर्तनीय

कागजी मुद्रा हो तथा इसके निर्गम का आधार स्वर्ण-कोष हो। निश्चित असुरक्षित नोट चलन रीति (Fixed Fiduciary Note Issue System) तथा आनुपातिक कोष निधि प्रणाली (Proportional Reserve System) दोनों मे नोट निर्गम का आधार एव सम्बन्ध किसी न किसी रूप में स्वर्ण कोष के साथ होता है (इन दोनो रीतियो की विशेषताओ को विस्तार से समझाइये (दो-तीन पृष्ठ)। द्वितीय भाग में बताइये कि राष्ट्रीय स्वर्ण-मान क्यो मूल्यवान (Costly) होता है—कि इसमे सोना बेकार मे फँसा रहता है, जबकि इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा अन्य कार्यों मे अधिक लाभप्रद उपयोग हो सकता है कि इसमें अमितव्ययिता होती है आदि (आधा पृष्ठ)। तृतीय भाग में बताइये कि राष्ट्रीय स्वर्णमान एक उचित आर्थिक नीति को अपनाने एव इसके सचालन में बाधक होता है—कि किसी राष्ट्र की आर्थिक व व्यापारिक उन्नति, बेकारी (Employment) आदि का वहां की मुद्रा की मात्रा से घनिष्ट सम्बन्ध होता है (इसे समझाइये) परन्तु स्वर्ण-कोष के साथ मुद्रा की पूर्ति का सम्बन्ध स्थापित करने से केन्द्रीय बैंक का हाथ बध जाता है अर्थात् मुद्रा-प्रसार व सकुचन देश की व्यापारिक स्थिति के अनुकूल न होकर, यह उपलब्ध स्वर्ण-कोष की मात्रा पर निर्भर रहता है, व्यापारिक उन्नति के समय जब मुद्रा-प्रसार की आवश्यकता होती है, उस समय स्वर्ण-कोष में वृद्धि न हो सकने पर (क्योंकि स्वर्ण की मात्रा एक दम से नही बढाई जा सकती है) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं होने पाती है जिसके कारण व्यापारिक उन्नति पर रोक लग जाती है। फिर आज ससार का अधिकाश सोना अमेरिका में एकत्रित हो गया है और अन्य देशो में सोने का अभाव है। अत राष्ट्रों मे उचित आर्थिक नीति अपनाने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय क्षेत्र में मुद्रा का सम्बन्ध सोने से तोड देना चाहिये या इसमें बहुत अधिक ढिलाई कर देनी चाहिये, फिर चाहे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सोने का महत्व भला ही बना रहे। आज अन्तर्राष्ट्रीय कोष की स्थापना से इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है (इस कोष द्वारा राष्ट्रों की मुद्रा का सोने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्बन्ध है)। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता का मूल कारण देशो का आर्थिक दृष्टि से पिछडा होना था, परन्तु आज प्रत्येक देश में अत्यधिक आर्थिक विकास हो गया है अथवा होता जा रहा है, प्रत्येक देश आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनना चाहता है। इस स्थिति मे प्रत्येक राष्ट्र एक स्वतन्त्र मौद्रिक नीति अपनाना चाहता है इस उद्देश्य की पूर्ति में राष्ट्रीय स्वर्णमान बाधक है (तीन-चार पृष्ठ)।

अध्याय ८

भारतीय मुद्रा बाजार
(Indian Money Market)

प्राक्कथन—किसी देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास वहां के सुसगठित मुद्रा-बाजार पर बहुत कुछ निर्भर रहता है क्योंकि इस बाजार से ही उस देश की कृषि,

व्यापार तथा उद्योग सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। चूंकि इस बाजार से ही देश की वाणिज्यिक एवं व्यापारिक तथा अन्य उत्पादनों के साधनों की साख तथा मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, इसलिये एक सुसंचालित एवं सुसंगठित मुद्रा-बाजार का किसी देश के आर्थिक जीवन में बहुत महत्व होता है। अतः जिस देश का मुद्रा बाजार जितना अधिक व्यवस्थित एवं विकसित होता है उस देश में आर्थिक विकास की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है।

मुद्रा-बाजार का अर्थ (Meaning of Money Market):—साधारण बोल-चाल की भाषा में बाजार शब्द का अर्थ किसी ऐसे स्थान-विशेष से लिया जाता है जहाँ वस्तुयें बेचने के लिये रक्खी जाती हैं और जहाँ बेचने व खरीदने वाले स्वयं जाकर वस्तुओं की जाँच-पड़ताल तथा देख-भाल करके क्रय-विक्रय करते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अर्थ इससे भिन्न है। कुर्नो (Cournot) के अनुसार "अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ किसी ऐसे स्थान-विशेष से नहीं होता जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता हो वरन् बाजार शब्द से उस समस्त क्षेत्र का बोध होता है जिसमें बेचने और खरीदने वालों में इस प्रकार का प्रतियोगितापूर्ण व स्वतन्त्र सम्बन्ध हो कि उस सारे क्षेत्र में, किसी वस्तु के मूल्य की प्रवृत्ति, सुगमता तथा शीघ्रता से, एक होने की पाई जाय।" जिस प्रकार किसी वस्तु के खरीदने व बेचने वाले होते हैं और इनमें आपस में वस्तु के क्रय-विक्रय के लिये प्रतियोगिता होती है, ठीक इसी प्रकार वस्तु की तरह मुद्रा के भी खरीदने व बेचने वाले होते हैं और इनमें भी आपस में मुद्रा के क्रय-विक्रय के लिये प्रतियोगिता होती है। मुद्रा के खरीदने वालों से अभिप्राय उन ऋणियों, व्यापारियों अथवा उद्योगपतियों से होता है जो रुपया उधार लेते हैं और मुद्रा के बेचने वालों से अभिप्राय उन ऋणदाताओं अथवा ऋणदाता संस्थाओं से होता है जो रुपया उधार देते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु को बेचने पर विक्रेता को वस्तु का मूल्य मिलता है, ठीक इसी प्रकार मुद्रा को उधार देने (मुद्रा का विक्रय करने) पर ऋणदाता को मुद्रा की कीमत उसके ऋण पर मिलने वाली ब्याज की दर होती है। अतः मुद्रा-बाजार उस बाजार को कहते हैं जहाँ पर मुद्रा एवं साख को खरीदने तथा बेचने वाले परस्पर मिलते हैं तथा जहाँ पर मुद्रा की माँग एवं पूर्ति का आवश्यकतानुसार आदान-प्रदान होता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा बाजार से अभिप्राय मुद्रा के उधार लेने-देने तथा इनसे सम्बन्धित अन्य क्रियाओं से होता है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा-बाजार (Money Market) तथा पूंजी बाजार (Capital Market) में थोड़ा सा भेद है। यद्यपि दोनों ही बाजारों में मुद्रा तथा साख को उधार लेने-देने के कार्य होते हैं परन्तु मुद्रा बाजार का उपयोग केवल ऐसे बाजार के लिये होता है जिसमें अल्पकालीन ऋण लिये-दिये जाते हैं और पूंजी बाजार शब्द का उपयोग एक ऐसे बाजार के लिये होता है जिसमें दीर्घकालीन ऋण लिए-दिये जाते हैं। इस तरह यदि मुद्रा-बाजार में अल्पकालीन ऋणों की पूर्ति होती है। तब पूंजी बाजार में दीर्घकालीन ऋणों की पूर्ति होती है। चूंकि अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन होता है, इस कारण विस्तृत अर्थ में पूंजी बाजार को

मुद्रा बाजार का ही अंग मान लिया जाता है अर्थात् सभी प्रकार के ऋणों का बाजार मुद्रा बाजार कहा जाता है। अतः मुद्रा बाजार और पूंजी बाजार में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

मुद्रा-बाजार के अंग

मुद्रा बाजार के अंग (Constituents of the Money Market)—भारतीय मुद्रा-बाजार को दो भागों में विभक्त करने की प्रथा बहुत समय से चली आई है। ये दो भाग हैं—प्रथम, यूरोपियन भाग तथा द्वितीय, भारतीय भाग। प्रथम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा विदेशी विनिमय बैंकों का समावेश है। द्वितीय में मिश्रित पूंजी वाले बैंक्स, स्वदेशी बैंक्स (देशी बैंकर, महाजन अथवा साहूकार) तथा सहकारी बैंक्स को सम्मिलित किया जाता है। यह स्मरण रहे कि मुद्रा बाजार के भारतीय भाग द्वारा ही हमारे देश की अधिकांश मौद्रिक एवं साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जिससे देश के आर्थिक जीवन में इनका बहुत अधिक महत्व है। भारतीय मुद्रा बाजार के यूरोपियन भाग पर सदा ही सरकार का नियन्त्रण एवं संरक्षण रहा है, परन्तु भारतीय-भाग आरम्भ से ही अनियंत्रित एवं अनियमित रहा है। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई थी। इस बैंक की स्थापना से पहले मुद्रा बाजार के यूरोपियन तथा भारतीय दोनों ही भागों में कोई विशेष प्रकार का सम्पर्क नहीं रहा है। यही कारण है कि सन् १९३५ तक हमारा मुद्रा बाजार बहुत दोषपूर्ण रहा है परन्तु तत्पश्चात् रिजर्व बैंक ने मुद्रा बाजार के उक्त दोनों भागों में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके इसको स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का नाम दिया गया है और इसका भारतीयकरण (Indianisation) भी कर दिया गया है तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। सरकार के इन महत्वपूर्ण कार्यों के परिणामस्वरूप अब मुद्रा बाजार के यूरोपियन तथा भारतीय भागों का अलग अलग महत्व लगभग कुछ भी नहीं रह गया है। भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य अंग इस प्रकार हैं—(अ) ऋणदाता—(i) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, (ii) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (iii) मिश्रित पूंजी वाले बैंक्स, (iv) विनिमय बैंक्स, (v) सहकारी बैंक्स (सहकारी साख समितियाँ), (vi) देशी बैंकर्स (साहूकार व महाजन), (vii) अन्य चिट फण्ड, निधियाँ, ऋण कार्यालय आदि। (आ) ऋण लेने वाले—केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारें, व्यापारी व उद्योगपति, कृषक, साधारण जनता। यह स्मरण रहे कि समस्त द्रव्य-बाजार में लेन देन बिल्स, नकद धन, प्रतिज्ञा पत्रों, हुण्डी अथवा अल्पकालीन प्रतिभूतियों एवं अन्य साख पत्रों द्वारा होता रहता है।

मुद्रा बाजार के दोष

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष (Defects of the Indian Money Market)—भारतीय मुद्रा बाजार में निम्नलिखित मुख्य-मुख्य दोष हैं—

(१) द्रव्य बाजार के विभिन्न अंगों में परस्पर संगठन एवं सहयोग का अभाव है (Lack of connection among the various constituents of the Money

(Central Banking Enquiry Committee) ने इस विषय में लिखा है कि "दर्शनी ब्याज दर (Call Rate) ¾%, हुण्डी ब्याज की दर (Hundi Rate) ३%, बैंक दर (Bank Rate) ४%, छोटे-छोटे व्यापारिक विपत्रों पर बम्बई में ब्याज दर ६¾% तथा कलकत्ते में १०% एक ही समय पर पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न बाजारों में साख के चलन में बहुत अन्तर है।"*

(३) सगठित बिल बाजार का अभाव (Absence of organised Bill Market)—भारतीय मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण दोष यह भी है कि इसमें व्यापारिक बिलों अथवा हुँडियों की बहुत कमी है। भारत में अनेक आर्थिक कमेटियों एवं कमीशनों ने इस प्रकार के अभाव को अनुभव किया है। जबकि विदेशों में बैंकों की सम्पत्ति (Assets) का एक महत्वपूर्ण भाग बिलों के रूप में होता है, तब भारत में मिश्रित पूँजी के बैंकों की कुल जमा (Deposits) का केवल ३ से ६% भाग ही बिलों के रूप में होता है। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में बिलों का उपयोग बहुत कम होता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह आशा की गई थी कि यह बैंक शीघ्र ही पुनः कटौती (Re-discount) आदि की सुविधायें देकर भारत में एक सुसगठित बिल-बाजार के निर्माण होने में सहायता एव प्रोत्साहन देगा जिससे आवश्यकता के समय द्रव्य-बाजार में धन का अभाव अनुभव नहीं हो पाये, परन्तु दुर्भाग्य से भारत में रिजर्व बैंक अभी तक एक सुव्यवस्थित बिल-बाजार का विकास करने में असफल रहा है। लगभग तमाम बैंकिंग जाँच समितियो तथा बैंकिंग विशेषज्ञों का मत है कि भारत में बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ बनाने के लिए देश में व्यापारिक बिलों के उपयोग में वृद्धि होनी चाहिए। भारत में एक सगठित बिल बाजार के अभाव के कई कारण हैं—(i) बैंकों द्वारा धन का प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में विनियोग—भारत में प्रारम्भ से ही बैंकों को अपने पास नकद कोष अधिक मात्रा में रखने पड़े हैं। इस कारण इन्होंने अपने अधिकाश धन का विनियोग प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो (First Class Securities) में किया है ताकि उनकी सम्पत्ति में तरलता (Liquidity in Assets) बना रहे। यही कारण है कि हमारे देश में बिल बाजार का अधिक विकास नहीं हो सका। परन्तु प्रतिभूतियों की अपेक्षा बिलों के भुनाने में रुपये के विनियोग से बैंकों को अधिक लाभ मिलता है इस कारण यह आशा की जाती है कि भविष्य में बिलों का उपयोग बढ़ेगा। (ii) स्वीकृत गृहों का अभाव.—हमारे देश में स्वीकृत गृहों (Acceptance Houses) का अभाव है जिससे बिल सम्बन्धी व्यापारियों की आर्थिक दशा का ठीक प्रकार से ज्ञान नहीं होने पाता है। ऐसी सस्थाओं के अभाव के कारण बैंक्स बिलों के भुनाने में हिचकते हैं। बिल बाजार के विकास के लिये उक्त सस्थाओं की स्थापना होना बहुत आवश्यक है। (iii) बिलों को पुन भुनाने वाली सस्था का अभाव रहा है—सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले भारत में ऐसी सस्था का अभाव था जिससे बिलों को पुन भुनाया जा सकता था।

---

* The Central Banking Enquiry Committee observes 'The fact that a Call Rate of ¾ percent and a Hundi Rate of 3 percent a Bank Rate of 4 percent, a Bombay Bazar Rate for Bills of small traders of 6¾ percent, and a Calcutta Bazar Rate for Bills of small traders of 10 percent exists simultaneously, indicates an extraordinary sluggishness in the movement of credit between various markets "

यह अवश्य है कि उस समय का इम्पीरियल बैंक (आज यह स्टेट बैंक कहलाता है) बिलों को पुनः भुनाने का कार्य भी किया करता था, परन्तु देश के विभिन्न बैंक इस बैंक से बिलों को पुनः भुनाने में हिचकिचाया करते थे क्योंकि वह बैंक अन्य बैंकों से *प्रतियोगिता किया करता था।* (iv) *व्यापारिक बिल तथा अर्थ बिल में भेद स्पष्ट नहीं था:*—इस कारण भी बैंक व्यापारिक बिलों को भुनाने में हिचकिचाते थे। अधिकांश बैंक व्यापारिक बिल्स में ही लेन-देन करना उचित समझा करते हैं। चूँकि बिल्स की सही प्रकृति के सम्बन्ध में उन्हें सन्देह रहता था, इस कारण वे इन्हें भुनाना ठीक नहीं समझा करते थे। परिणामतः बिल बाजार का विकास नहीं होने पाया। (v) **हुण्डियों में विविधता:**—हुंडियां प्रायः प्रान्तीय भाषाओं में प्रान्तीय रूढ़ियों के अनुसार लिखी जाती हैं जिससे इनमें बहुत विभिन्नता पाई जाती है। परिणामतः एक स्थान की हुंडियों का दूसरे स्थानों में उपयोग करने में असुविधायें अनुभव होती हैं। चूँकि हुंडियों की भाषा रूप व प्रकृति में स्थानान्तर के अनुसार भिन्नता पाई जाती है और बैंक उलझन में पड़ जाते हैं, इसलिये भी उन्होंने इनमें धन का बहुत कम विनियोग किया है। (vi) **नकद में ऋण देना अधिक अच्छा माना जाता है:**—बैंक बिलों को भुनाकर ऋण देने की अपेक्षा नकद में ऋण देना अधिक अच्छा समझा करते है क्योंकि ऐसे ऋणों को बैंक कभी भी रद्द कर सकता है और ग्राहक को भी ब्याज कम देना पड़ता है। इस तरह नकद-ऋण पद्धति में दोनों पक्षों को लाभ होने के कारण बिलों का उपयोग बहुत नहीं होने पाया है। (vii) **कोष विपत्रों का निर्गमन**—कोष-विपत्रों (Treasury Bills) की अवधि ३० से ९० दिन की हुआ करती है। बहुत समय से प्रान्तीय व केन्द्रीय सरकारें अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कोष-विपत्रों द्वारा कर लिया करती हैं। इन बिल्स में विनियोग भी अधिक सुरक्षित समझा जाया करता है तथा इनमें तरलता (Liquidity) भी बहुत होती है क्योंकि इन्हें स्टॉक-एक्सचेंज पर तुरन्त बहुत आसानी से बेचा भी जा सकता है। इसलिये कोष-विपत्रों के उपयोग से व्यापारिक विपत्रों (बिल्स) का अधिक प्रयोग नहीं हो सका है। (viii) **भारी स्टाम्प-कर (Heavy Stamp Duty)**—भारी स्टाम्प कर बिलों के चलन को हतोत्साहित करता रहा है। सन् १९४० से इस कर में कुछ कमी अवश्य हुई है।

(४) **द्रव्य बाजार में धन की कमी (Paucity of Loanable Funds):**—भारतीय मुद्रा-बाजार का एक गम्भीर दोष यह भी है कि इसमें उद्योग-धन्धों तथा व्यापार के लिये आवश्यक पूंजी तथा साख इनकी मांग की तुलना में बहुत कम रहती है। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—विनियोग के साधनों एवं बैंकिंग व्यवस्था का अभाव, बैंकों के समय-समय पर टूट जाने से जनता का इनके प्रति अविश्वास, देश में आय और बचत में कमी, आय के वितरण में असमानता तथा जनता में बैंकिंग की आदत का अभाव। इनमें अन्तिम कारण बहुत महत्वपूर्ण है। जिस देश में जनता में बैंकिंग की आदत नहीं जाग्रत होती है, वहां पर बचत भूमिगत (Hoarding) हो जाती है अथवा स्वर्ण तथा अचल सम्पत्ति में परिणत हो जाती है। भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में तो ऐसी संस्थाओं का अत्यधिक अभाव है जो बचत को एकत्रित कर सकें, जिससे भी देश

में द्रव्य बाजार में धन का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त देशवासियों की निर्धनता तथा अपव्ययपूर्ण सामाजिक रीति रिवाज भी उत्पत्ति-कार्य के लिये रुपये की कमी के उत्तरदायी हैं। आजकल सरकार ऐसे प्रयत्न कर रही है जिनसे निकट भविष्य में देश मे धन का बहुत अधिक अभाव नही रहेगा।

(५) मुद्रा बाजार मे लोच तथा स्थायित्व का अभाव—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व भारतीय मुद्रा-बाजार में लोच तथा स्थायित्व का अभाव रहा है क्योंकि साख पर नियन्त्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक द्वारा और मुद्रा पर नियन्त्रण का कार्य सरकार द्वारा किया जाता था। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् नोट निर्गम के एकाधिकार तथा बैंक दर एवं खुले बाजार की नीति से रिजर्व बैंक ने बहुत अंश तक मुद्रा बाजार के उक्त दोष को दूर कर दिया है। परन्तु भारतीय बैंकों के साधन सीमित होने के कारण तथा देश म बैंकिंग की आदत जाग्रत नहीं होने के कारण आज भी बैंक्स देश की बढ़ती हुई पूजी की माँग की पूर्ति नही कर पा रह हैं।

(६) देश में मुद्रा की मौसमी कमी (Seasonal Monetary Stringency and Seasona; Variation in the Rates of Interest)—मुद्रा बाजार का एक दोष यह भी है कि इसमें मुद्रा की पूर्ति बेलोचदार (Inelastic) है अर्थात् अधिक व्यापार के समय मे भी मुद्रा की पूर्ति मे विशेष वृद्धि नही होने पाती है। मुद्रा की पूर्ति मे अनिश्चितता के कारण व्यापारियो को बहुत कठिनाई अनुभव करनी पड़ती है जिससे देश मे व्यापार का ठीक ठीक विकास नही होने पाता है। जबकि देश में मुद्रा की मौसमी कमी रहती है, तब इसी के परिणामस्वरूप देश में ब्याज की दरो में मौसमी परिवर्तन भी होता रहता है। यदि नवम्बर स जून तक ब्याज की दर अधिक रहती है तब जुलाई से अक्टूबर तक यह दर काफी कम रहती है। देश के समुचित आर्थिक विकास के लिए ब्याज की दर म इस प्रकार का उच्चावचन (Fluctuation) अनुचित है।

(७) देशी बैंकर्स तथा महाजनों की अधिकता (Abundance of Moneylenders and Indigenous Bankers)—भारत में साहूकारो एवं देशी बैंकर्स तथा महाजनों की अधिकता है और ये रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में भी नहीं हैं। यद्यपि देश की कृषि-साख तथा आन्तरिक व्यापार के सम्बन्ध में इनका बहुत महत्त्व है, परन्तु देशी बैंकर्स तथा आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था में किसी भी प्रकार का गठबन्धन नहीं होने के कारण, ये समय-समय पर मुद्रा बाजार को काफी अस्त-व्यस्त कर डालते हैं। अत देशी बैंकर्स तथा महाजनो की अधिकता के कारण भी भारतीय मुद्रा बाजार में दोष उत्पन्न हो गये हैं।

(८) शाखा बैंकिंग की धीमी उन्नति (Slow development of Branch Banking)—द्वितीय महायुद्ध तक तो हमारे देश में बैंको की शाखायें बहुत कम थीं। परन्तु युद्धकाल तथा युद्धोत्तर काल में भारतीय बैंकों ने अपनी शाखायें स्थान-स्थान पर खोली हैं। शाखाएं मुख्यत बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रो तक ही सीमित रही हैं जबकि इनकी आवश्यकता ग्रामीण क्षेत्रो मे भी है। परिणामत देश मे बैंकिंग सुविधाओ की सामान्य कमी के कारण न बचत प्रोत्साहित होती है और न पर्याप्त मात्रा में धन

ही एकत्रित होने पाता है। दुर्भाग्य से जनता की निर्धनता, योग्य कर्मचारियों की कमी तथा धन संचय की भावना के अभाव के कारण जो कुछ शाखाएँ हाल ही में खुली भी हैं, उनमें से अधिकांश शाखाएँ सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर रही हैं।

मुद्रा-बाजार के दोषों को दूर करने के सुझाव (Suggestions to remove the defects of the Money Market):—अनेक बैंकिंग कमेटियों तथा कमीशनों ने भारतीय मुद्रा बाजार के विकास एवं संगठन के सम्बन्ध में सुझाव रक्खे हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:-(i) भंडार गृहों का निर्माण (Licenced Ware-houses):—अन्य देशों की भाँति भारत में भी बैंकों को लाइसेंसदार भंडार गृहों को बनाने के लिये, प्रान्तीय सरकार के संरक्षण में रहकर, प्रोत्साहित करना चाहिये। इन भंडारों के फलस्वरूप उनमें रक्खी हुई धरोहर पर बैंकों को ऋण देने की सुविधा हो जायगी। (ii) पुनः भुनाने की सुविधायें (Rediscounting Facilies):—देश में साख-पत्रों के पुनः भुनाने में भी सुविधा होनी चाहिये। मुद्दती हुण्डियों तथा अन्य साख-पत्रों के आधार पर साख देने की व्यवस्था होनी चाहिए। *(iii) हुंडियों का प्रमाणीकरण होना चाहिये* (Standardisation of Hundies):—भिन्न-भिन्न हुण्डियों की भाषा स्थानीय रीतियों तथा स्टाम्प-करों के अनुसार नियम बाधित (Standardised) हो जानी चाहिए ताकि समय की बचत तथा व्यर्थ की कठिनाइयाँ अनुभव नहीं होने पायें। (iv) अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन का निर्माण होना चाहिये (All India Banker's Association):—सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने इस प्रकार के एसोसियेशन के निर्माण करने की सिफारिश की थी। इस प्रकार के एसोसियेशन के बन जाने से बैंकों तथा साहूकारों को आपस में मिलकर कार्य करने का अवसर मिल जायेगा। ये अपनी कठिनाइयाँ एवं सुझाव भी *सरकार के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे। यह संघ बैंकिंग पद्धति को अधिक कार्यक्षम बनाने* के साधनों की भी सिफारिश कर सकेगा और विभिन्न बैंकों का केन्द्रीय बैंक के साथ सम्पर्क बढ़ाने में भी सहायक होगा। इस प्रकार का संघ सन् १९४६ में बम्बई में स्थापित *हुआ था। तमाम अनुसूचित्त बैंक्स (Scheduled Banks) इसके सदस्य हैं।* (v) देशी बैंकर्स का रजिस्ट्रेशन तथा उनके कार्यों पर नियन्त्रण (Licensing of Indigencous Bankers):—रिजर्व बैंक का देशी बैंकर्स पर नियन्त्रण होना चाहिये ताकि वह इनके

> मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के उपायः—
> १. भंडार-गृहों का निर्माण होना चाहिये।
> २. साख-पत्रों के पुनः भुनाने की सुविधाएँ होनी चाहियें।
> ३. हुण्डियों का प्रमाणीकरण होना चाहिये।
> ४. एक सुसंगठित अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन की स्थापना होनी चाहिये।
> ५. देशी बैंकर्स का रजिस्ट्रेशन तथा उनके कार्यों पर नियंत्रण होना चाहिये।
> ६. समाशोधन-गृहों का पुनर्संगठन होना चाहिये।
> ७. धन के हस्तान्तरण की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये।

कार्यों एवं व्यापार पर पूरा कन्ट्रोल रख सके। (vi) समाशोधन गृहों का पुनर्संङ्गठन (Re-organisation of Clearing Houses)—भारत में समाशोधन गृहों का महत्व मुख्यत स्थानीय होता है तथा इनकी कार्य-प्रणाली भी बहुत पिछड़ी हुई दशा मे है। मुद्रा-बाजार के विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन गृहों का विकास यूरोपीय ढंग पर हो जाय। (vii) धन हस्तान्तरण की सुविधायें (Remittance Facilities)—रिजर्व बैंक को महाजनों तथा देशी बैंकर्स को धन के हस्तान्तरण की सुविधाएँ देनी चाहियें। डाकखाने द्वारा हस्तान्तरण (Postal Remittances) की दर में भी बहुत कमी होनी चाहिए ताकि ग्रामीणों को लाभ पहुँच सके।

यह स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक की स्थापना तथा इसके राष्ट्रीयकरण और सन् १९४९ व १९५० के बैंकिंग कम्पनी विधान ने भारतीय मुद्रा बाजार के बहुत से दोषों को दूर कर दिया है। इस समय देश में बैंकिंग का धीरे धीरे विकास हो रहा है, परन्तु इसमे और अधिक विकास की बहुत ही आवश्यकता है। ताकि बैंकों मे आपस में प्रतियोगिता नहीं होने पाय तथा इनकी सेवाओं का भी दुहराव नहीं होने पाय, इसलिए भारतीय बैंकिंग का विकास एक निर्धारित योजना के अनुसार ही होना चाहिए। सरकार व अन्य गैर सरकारी संस्थायें देश में बचत को अत्यधिक प्रोत्साहन दे रहीं हैं जिससे उत्पत्ति-कार्यों के लिये पहले से अधिक पूँजी उपलब्ध होने लगी है। रिजर्व बैंक देश में एक सुव्यवस्थित बिल बाजार का विकास करने का भी भरसक प्रयत्न कर रहा है क्योंकि इसके अभाव में देश में बैंकिंग प्रणाली का भी समुचित विकास नहीं होने पायगा। इन सब प्रयत्नों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय मुद्रा बाजार मे दोष पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गये हैं।

भारत में बिल बाजार
(Bill Market in India)

बिल बाजार के विकास के लिये सुझाव (Suggestions for the development of a Bill Market in India)—यह सर्वविदित है कि किसी भी देश में बिल-बाजार की उन्नति के बिना बैंकिंग पद्धति का समुचित विकास नहीं होने पाता है। इसलिए सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में सुझाव इस प्रकार दिये थे—(i) केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जावे—सौभाग्य से इस बैंक की स्थापना सन् १९३५ में हो गई थी और तब ही से यह बैंक अपने केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य सुचारु करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। (ii) बैंक को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होना चाहिए इस कार्य को करने के लिये हमारे देश में ऐसी संस्थाओं का निर्माण होना चाहिये जो देश के व्यापारियों तथा उद्योग धन्धों का आर्थिक ज्ञान समुचित रूप से दे सकें। परिणाम यह होगा कि जब बैंकों का व्यापारियों में विश्वास बढ़ेगा तब उनके बिलों का भी उपयोग बढ़ जायगा। (iii) बट्टा दर कम ही होनी चाहिए—बिलों की बट्टा दर (Discount Rate) कम होने पर इनका उपयोग बढ़ जायगा। (iv) समाशोधन गृहों का निर्माण होना चाहिए—प्रान्तीय राजधानियों मे ऐसे गृहों के निर्माण से बिलों के भुनाने एवं भुगतान करने मे बहुत सुविधा हो जायगी। (v) स्टाम्प दर में कमी—वास्तव में सन्

१९४० मे स्टाम्प-दर में कमी कर दी गई थी। (vi) बिलों की एक रूपता—भाषा और लिपि सम्बन्धी भिन्नताएं दूर की जानी चाहियें। (vii) खड़ी फसलों की आड़ पर बिलों की स्वीकृति की जाय और ऐसे बिलों के आधार पर ऋण दिये जायें।

यह स्मरण रहे कि भारत में एक समुचित बिल-बाजार की स्थापना एवं इनके विकास के हेतु उक्त में से अनेक सुझावों को मान लिया गया है। सन् १९५२ मे रिजर्व बैंक ने इस ओर आवश्यक कदम उठाये थे और बिल-बाजार के निर्माण के हेतु एक योजना कार्यान्वित कर दी। इस योजना को बैंकों में लोकप्रिय बनाने के लिये रिजर्व बैंक ने इन्हें यह लालच दिया है कि बैंक इस योजना के अनुसार जो ऋण देंगे उन पर बैंक दर (Bank Rate) में ½% की छूट रहेगी। कुछ विशेष परिस्थितियों में स्टाम्प दर का आधा भाग भी रिजर्व बैंक द्वारा दिया जायगा।

बिल बाजार के विकास के लिए सुझाव हैं—

१. देश का केन्द्रीय बैंक सुसंगठित होना चाहिए।
१. बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की पूर्णतया जानकारी होनी चाहिए।
३. बट्टा-दर में कमी होनी चाहिये।
४. समाशोधन-गृहों का निर्माण होना चाहिये।
५. स्टाम्प-कर में कमी होनी चाहिये।
६. बिलों मे एकरूपता होनी चाहिये।
७. खड़ी फसलों की आड़ पर बिलों की स्वीकृति होनी चाहिये।

भारतीय पूंजी बाजार (Indian Capital Market)

पूंजी बाजार का अर्थ (*Meaning of the Capital Market*):—पूंजी बाजार से हमारा अभिप्राय उस बाजार से होता है जहां पर दीर्घकालीन ऋण लिए-दिए जाते हैं। इस बाजार का सम्बन्ध मुख्यतः दीर्घकालीन प्रतिभूतियों, बोंडों तथा अंशों (हिस्सों) में राष्ट्रीय पूंजी के विनियोग करने से होता है। इस बाजार में इसी प्रकार की प्रतिभूतियों (Securities) का व्यवसाय अर्थात् क्रय-विक्रय होता है। अतः यह स्पष्ट है कि सरकार तथा उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति इसी बाजार से होती है। पूंजी बाजार में एक ओर ऋण देने का कार्य जनता, बीमा कम्पनियां, ट्रस्ट सघ आदि द्वारा किया जाता है और दूसरी ओर उद्योग व व्यवसाय द्वारा ऋण लेने का कार्य किया जाता है। पूंजी-बाजार में ऋण अधिकांशतः शेयर्स या ऋण-पत्रों के खरीदने के रूप में दिये जाते हैं। यह कार्य अंश-दलालों (Share Brokers) तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस तरह ये ऋणी तथा ऋणदाताओं के बीच में मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं और इन दोनों पक्षों में सम्पर्क स्थापित करते हैं। ये दलाल एवं गृह कमीशन पर कम्पनियों के शेयर्स को बेचने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं। इस तरह एक तरफ ये कम्पनियों के लिये पूंजी एकत्रित करने का कार्य करते हैं और दूसरी तरफ अपने ग्राहकों (विनियोगकर्ताओं) को नई व पुरानी कम्प-

नियों के अंश खरीदने-बेचने मे सहायता देते हैं। इसीलिये इन सबको हम पूंजी-बाजार के अंग मानते हैं।

पूंजी बाजार व द्रव्य-बाजार में एक महत्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। पूंजी-बाजार में विनियोग यदि दीर्घकालीन होते हैं, जब द्रव्य बाजार मे विनियोग अल्पकालीन होते हैं। परन्तु इन दोनो प्रकार के बाजारो मे घनिष्ट सम्बन्ध होता है क्योंकि दीर्घकालीन ऋण की ब्याज की दर का प्रभाव अल्पकालीन ऋण की ब्याज की दर पर पड़ा करता है।

भारत में पूंजी का निर्माण

भारत मे पूंजी का निर्माण (Capital Formation in India)—भारत मे पूंजी निर्माण से सम्बन्धित आंकड़े सही-सही आज भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इसीलिये यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है कि भारत में पूंजी रचना किस गति से हुई है अथवा हो रही है। डा० पी० एस० लोकनाथन का अनुमान है कि सन् १६११ से १६३२ के बीच वार्षिक राष्ट्रीय बचत ७५ करोड रुपये थी। यह सर्वमान्य है कि द्वितीय महायुद्ध काल में वार्षिक राष्ट्रीय बचत मे बहुत अधिक वृद्धि हुई क्योंकि इस काल में मकान बनवाने तथा स्वर्ण का आयात करने आदि पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। परन्तु ईस्टर्न इकॉनोमिस्ट (Eastern Economist) के अनुमान के अनुसार युद्धोत्तर काल में इस स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया और राष्ट्रीय बचत मे बहुत कमी हो गई। इसके अनुसार सन् १६४६-४७, १६४७–४८ तथा १६४८–४६ मे बचत केवल १ ४% की दर पर हुई। योजना कमीशन का अनुमान था कि प्रथम पचवर्षीय योजना काल में कुल व्यक्तिगत बचत ५१५·८ करोड रुपया हो जायगी, परन्तु वास्तव मे देश में बचत इतनी अधिक मात्रा मे नहीं हो सकी। परन्तु द्वितीय पचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय-बचत का अनुमान बहुत अधिक रक्खा गया है। अब तक मे बचत सम्बन्धी जो कुछ भी आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में आज भी आशातीत बचत नहीं होने पा रही है। योजना कमीशन का यह अनुमान है कि द्वितीय योजना के अन्त तक बचत का प्रतिशत बढ़कर १२ हो जायगा। यह स्मरण रहे कि ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि कुछ देशो ने विभिन्न कालो में अपनी राष्ट्रीय आय का १६ या २०% तक बचाया है। परन्तु वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो में यदि कोई राष्ट्र अपनी आय का ५% तक बचा ले, तब भी यह स्थिति बहुत सन्तोषजनक समझी जाती है। यह आशा की जाती है कि द्वितीय योजना के अन्त तक भारत मे वार्षिक बचत लगभग ४०० करोड रुपये हो जायगी।

भारत में पूंजी निर्माण की मन्द गति के कारण (Causes of the slow growth of Capital Formation in India)—भारत में पूंजी निर्माण की मन्द गति के मुख्य-मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(१) आय मे कमी तथा विनियोग सुविधाओं का अभाव—देशवासियों की आय का स्तर बहुत ही नीचा है और जो कुछ बचत की भी जाती है उसके विनियोग करने के समुचित साधन भी कम हैं। परिणामत.

पूंजी-निर्माण की मन्द गति के कारण हैं—

१. आय में कमी तथा विनियोग सुविधाओं का अभाव ।
२. देशी राज्यों का अन्त तथा जमींदारी का उन्मूलन ।
३. राष्ट्रीयकरण का भय ।
४. करारोपण की ऊँची दर ।
५. मैनेजिंग एजेंटों की दोषपूर्ण नीति ।
६. स्टॉक एक्सचेंज की सट्टा-कार्यवाहियाँ ।
७. देश में धन का दोषपूर्ण वितरण ।
८. पूंजी निर्गम नियन्त्रण ।
९. धन का विदेशों को निर्यात ।
१०. मिश्रित अर्थ-व्यवस्था प्रणाली के अपनाये जाने के कारण निजी क्षेत्र पर कुछ प्रतिबन्ध ।

बचत जिसके द्वारा पूंजी का निर्माण होता है, कम ही होने पाती है । (ii) देशी राज्यों का अन्त तथा जमींदारी का उन्मूलन:—भारतीय स्वतन्त्रता से पहले देशी राज्यों के राजा तथा जमींदारी उन्मूलन से पहले जमीदार काफी बड़ी मात्रा में धन का संचय किया करते थे । परन्तु जब से राज्यों का पुनर्संगठन हुआ है और देशी राजाओं को शक्तिहीन बना दिया गया है तथा जमींदारी का अन्त हुआ है, तब से देश में धन की बचत में बहुत कमी हो गई है। (iii) **राष्ट्रीयकरण का भय:**—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के भय से भी बहुत से विनियोजक उद्योगों में अपनी बचत का विनियोग नहीं करते हैं । यद्यपि संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकार बिना मुआवजा दिये किसी भी उद्योग को अपने अधिकार में नहीं लेगी और सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में यह घोषित कर दिया गया है कि सरकार कम से कम १० वर्ष तक किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं करेगी, परन्तु सरकार की उद्योगों के राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा ने इतना अनिश्चित वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि इससे पूंजी के निर्माण में बहुत बाधायें पड़ती हैं । (iv) करारोपण की ऊँची दर:—समय-समय पर उद्योगपतियों ने यह आवाज उठाई है कि देश में करों की इतनी ऊंची दर है कि बचत-कर्ताओं को बचत करने का कोई प्रोत्साहन नहीं रह जाता है । इस आपत्ति में कुछ सत्य समझकर हाल ही में सरकार ने करों में विभिन्न प्रकार की छूट दी है । इसके अतिरिक्त देश में मृत्यु-कर (Estate Duty) भी लागू हो गया है । इस कर में भी बचत अथवा पूंजी के निर्माण को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है । (v) मैनेजिंग एजेन्टों की दोषपूर्ण नीति :—प्राय: मैनेजिंग एजेन्ट्स कम्पनी के धन का उपयोग करके स्वयं अपने को धनी बना लेते हैं । कभी-कभी ये हिस्सेदारों को धोखा देकर कम्पनी के लाभ का अधिकांश भाग स्वयं हड़प जाते हैं । इस स्थिति को देखकर सम्भावी विनियोजक बचत करने के लिए हतोत्साहित हो जाते हैं जिससे देश में पूंजी का पर्याप्त मात्रा में निर्माण नहीं होने पाता है । (vi) स्टॉक एक्सचेंज की सट्टा कार्यवाहियाँ :—स्टॉक एक्स-चेंज की क्रियायें इस प्रकार की होनी चाहियें कि ये स्वतन्त्र विनियोगों को प्रोत्साहन दें तथा कोषों के प्रवाह में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं पड़े । परन्तु जब इनकी क्रियायें सट्टे व्यवहारों से प्रभावित हो जाती हैं जिसके कारण मूल्यों में अकारण ही अत्यधिक

उच्चावचन (Fluctuation) हो जाता है, तब इससे वास्तविक विनियोगकर्ता हतोत्साहित हो जाते हैं। परिणामत देश में पूंजी-निर्माण में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। (vii) धन का दोषपूर्ण वितरण —हमारे देश में युद्ध काल तथा युद्धोत्तर काल में धन का वितरण इस प्रकार हुआ है कि अत्यधिक क्रय-शक्ति ऐसे व्यक्तियों के हाथों में चली गई है जिन्हें विनियोग या बचत करने की आदत ही नहीं है। दूसरी ओर उद्योगों में पूंजी का विनियोग करने वालों की बचत धीरे धीरे घट गई है। परिणामत धन के इस प्रकार के असमान वितरण से धन सचय में कमी हो गई है। (viii) पूंजी निर्गम नियन्त्रण (Capital Issue Control).—युद्धोत्तर काल में भारत में पूंजी निर्गम नियन्त्रण का कार्य कुछ इस प्रकार हुआ है कि धन का उचित विनियोग नहीं होने पाया। अत पूंजी निर्गम नियन्त्रण से पूंजी के निर्माण में शिथिलता आ गई। (ix) धन का विदेशों को निर्यात —कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें विदेशी पूंजी लगी हुई है। इनमे जो कुछ लाभ होता है उसका अधिकांश भाग विदेशों को ब्याज एव लाभ के रूप में चला जाता है। वास्तव में इस रकम का अधिकांश भाग हमारे देश में पूंजी के रूप में लगना चाहिये था, परन्तु इसके विदेशों को चले जाने से देश में पूंजी के निर्माण में कमी हो जाती है। (x) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—हमारे देश में मिश्रित अर्थ व्यवस्था अपना ली गई है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक विनियोजन के अन्तर्गत निजी क्षेत्र पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इनके कारण भी पूंजी के निर्माण में शिथिलता आ गई है।

<u>भारत में पूंजी के निर्माण को प्रोत्साहित करने के सुझाव</u> —स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने देश के औद्योगिक विकास का भरसक प्रयत्न किया है। पंचवर्षीय योजना का अन्त हो चुका है और द्वितीय योजना इस समय कार्यान्वित की जा रही है और तीसरी योजना की तैयारी की जा रही है। इन योजनाओं को सम्पन्न करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ रही है। इसलिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किये हैं जिससे देश में अधिकाधिक मात्रा में धन का सचय हो सके। यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक विकास के मार्ग में पूंजी का अभाव सब से बड़ी कठिनाई है। जब तक देश में पर्याप्त मात्रा में पूंजी का सचय नहीं होगा, तब तक देश का पर्याप्त आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकेगा भारत में पूंजी के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिये कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं—(1) स्वर्ण कोषों का उपयोग—एक अनुमान के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग १०% भाग स्वर्ण के रूप में आलमारियों में पड़ा है। यदि इस सचित स्वर्ण को काम में लाया जाय तब

> पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहित करने के मुख्य सुझाव हैं—
> १. स्वर्ण कोषों का उपयोग होना चाहिए।
> २. जमीन में गड़े हुए धन का उपयोग होना चाहिए।
> ३ सरकारी व्यय में बचत होनी चाहिए।
> ४. जनता में बचत को प्रोत्साहित करना चाहिए।
> ५ पूंजी के निर्यात पर रोक तथा विदेशी पूंजी की आयात को प्रोत्साहित करना चाहिए।

पाँच वर्ष तक राष्ट्रीय आय का लगभग २% भाग पूँजी के रूप में प्राप्त हो सकेगा। अतः सरकार को चाहिए कि वह जनता में देश भक्ति की भावना जाग्रत करे ताकि वह इस स्वर्ण का पूँजी निर्माण के रूप में उपयोग कर सके। (ii) ज़मीन में गढ़े हुए धन का उपयोगः—भारत में आज भी मनुष्यों में बैंकिंग की आदत जाग्रत नहीं हुई है। ग्रामीण जनता तो विशेषकर अपनी बचत को गाढ़कर ही रखती है। सरकार को इस प्रकार का प्रचार करना चाहिए कि देशवासी अपने गढ़े हुये धन को निकालकर उत्पत्ति कार्यों में लगा दें। यह तब ही सम्भव है जब कि विनियोग के लाभ तथा ऋणों की ब्याज की दरें आकर्षक हों और बचतकर्ता को अपने धन के विनियोग की पूर्ण सुरक्षा हो। (iii) सरकारी व्यय में बचतः—केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को अपना व्यय बहुत सोच-समझकर तथा मितव्ययितापूर्वक करना चाहिए। सरकार को अपने व्यय को कम करके बचत करनी चाहिये और इसका इस प्रकार विनियोजन करना चाहिये कि इससे वर्तमान समय में देश में औद्योगिक विकास हो तथा भविष्य में पूंजी-निर्माण में वृद्धि हो जाये। (iv) जनता में बचत को प्रोत्साहन देना चाहिएः—(क) ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों तथा बहुत छोटी-छोटी आमदनी वाले व्यक्तियों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार को समुचित प्रचार करना चाहिए ताकि इस वर्ग के व्यक्ति बचत कर सकें। इसलिये यह आवश्यक है कि सरकार को स्थान-स्थान पर ऐसे डाकखाने खोलने चाहियें जिनमें सेविंग्स बैंक का खाता खोला जा सके। सहकारी बचत समितियाँ व पारस्परिक समितियाँ (Mutual Societies) आदि का भी विस्तृत रूप से निर्माण करना चाहिये। (ख) मध्यम आय वर्गों में बचत का प्रोत्साहन देने के लिये उन्हें स्टॉक एक्सचेंज की सुविधायें उपलब्ध करानी चाहियें। (ग) कम्पनियों तथा उद्योगों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिये इनके लाभ या इनके अतिरिक्त लाभ पर कर की दर कम की जानी चाहिए तथा मशीन आदि की घिसावट के हेतु अधिक कटौती देनी चाहिये। इस प्रकार की बचत वर्तमान उद्योगों के विकास [illegible] लिए प्रमुख अर्थ-पूर्ति का साधन हो सकती है। (v) पूँजी के निर्यात पर रोक तथा विदेशी पूँजी की आयात को प्रोत्साहित करनाः—सरकार को पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने चाहियें और विदेशी पूँजीपतियों को इस बात के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे भारत में कमाये हुये लाभ को यहीं उत्पत्ति-कार्यों में पुनः लगा दें। इसी तरह सरकार को देश में ऐसी सुविधायें उपलब्ध करनी चाहियें कि विदेशी पूंजीपति भारत में अपनी पूँजी को लगाने के लिये आकर्षित हो जायें।

<u>भारत में पूँजी-निर्माण के लिये किये गये प्रयत्न</u> (Efforts made in India for Capital Formation):—देश के औद्योगिक विकास एवं कृषि विकास के लिये बहुत धन की आवश्यकता है। पूँजी की कमी अनुभव करके ही सरकार ने समय-समय पर ऐसे प्रयत्न किये हैं और आज भी कर रही है जिनसे देश में अधिक मात्रा में धन का संचय हो सकेगा। सरकार की कुछ मुख्य बचत योजनायें इस प्रकार हैं:—(i) डाकखाने के सेविंग्स बैंक के खाते.—भारतीय सरकार के अधिकांश डाकखानों में सेविंग्स बैंक खाता खोलने की सुविधा उपलब्ध है। कोई व्यक्ति अपने निजी ओर से या अपनी स्त्री व नाबालिग बच्चों की ओर से इन खातों में रुपया जमा कर सकता है। एक हफ्ते में अनेक बार

रुपया जमा किया जा सकता है और केवल एक बार रुपया निकाला जा सकता है। जमाकर्ताओं को उनकी जमा पर निर्धारित नियमों के आधार पर ब्याज दिया जाता है और यह ब्याज आय कर या अति कर से मुक्त होता है। एक व्यक्ति के लिए १०,००० रुपये और दो के लिए २०,००० रुपये तक २½ प्रतिशत ब्याज जोड़ा जाता है (ii) प्रमाण-पत्र—(क) बारह वर्षीय राष्ट्रीय योजना बचत सर्टीफिकेट्स—ये प्रमाण-पत्र (*Certificates*) उन व्यक्तियों द्वारा लिए जा सकते हैं जोकि कुछ वर्षों तक अपनी पूँजी व उसके ब्याज की प्रतीक्षा कर सकते हैं। ये पत्र भी डाकखानों द्वारा बेचे जाते हैं और ये ५, १०, ५०, १००, ५००, १००० तथा ५००० रुपए तक के मूल्य के होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी ओर से या अपने नाबालिग बच्चों की ओर से इन्हें खरीद सकता है। एक व्यक्ति अधिक से अधिक इनमें २५,००० रुपए तक लगा सकता है (इस रकम में पचवर्षीय तथा सप्तवर्षीय प्रमाण-पत्र भी सम्मिलित हैं)। दो व्यक्ति मिलाकर ५०,००० रु० तक के प्रमाण-पत्र खरीद सकते हैं। रुपए का भुगतान समझौते के अनुसार किसी एक को या दोनों को या किसी एक की मृत्यु के बाद जीवित व्यक्ति को हो सकता है। इन पत्रों पर ४.१६ प्रतिशत ब्याज की दर है और प्रत्येक १०० रुपये १२ साल में १६५ रुपये हो जाते हैं। जमाकर्ता को इन पत्रों की परिपक्वता से पहले भी रुपया निकालने का अधिकार है, परन्तु इन पत्रों पर ब्याज की दर पत्रों की समय अवधि बढ़ने पर ही बढ़ती है। इन पत्रों से प्राप्त ब्याज की राशि पर आय कर तथा अति कर नहीं लगता है और आय-कर की दर निर्धारित करने के लिये भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है। (ख) पचवर्षीय तथा सप्त वर्षीय प्रमाण-पत्र—बारह वर्षीय प्रमाण पत्रों की तरह पचवर्षीय तथा सप्त वर्षीय प्रमाण पत्र भी होते हैं। परन्तु इनमें अन्तर यह है कि इन पर ब्याज की दर कम होती है। पचवर्षीय प्रमाण पत्रों पर ३ प्रतिशत तथा सप्त वर्षीय पर ३.५७ प्रतिशत ब्याज की दर होती है। इन प्रमाण पत्रों पर भी समस्त वे ही नियम लागू होते हैं जो बारह वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर लागू होते हैं। (ग) सेविंग्स स्टाम्प (*Savings Stamps*)—ऐसे व्यक्ति जो एक बार में ५ रु० के भी प्रमाण पत्र नहीं खरीद सकते हैं, उनकी सुविधा के लिये ४ आने, ८ आने व १ रु० के सेविंग्स स्टाम्प जारी किये गए हैं और ये टिकट डाकखानों से मिल जाते हैं। इन टिकटों को एक कार्ड पर चिपकाना पड़ता है और यह कार्ड भी डाकखानों से ही मिलता है। जब कार्ड पर चिपके हुये टिकटों का मूल्य ५ रु० हो जाता है तब इस कार्ड के बदले में इस कार्ड पर चिपके टिकटों के मूल्य [redacted] बराबर का प्रमाण पत्र दे दिया जाता है। अतः यह एक छोटी बचत की योजना (Small Savings Scheme) है। (iii) दस वर्षीय ट्रेजरी सेविंग्स डिपोजिट सर्टीफिकेट (Ten Years Treasury Savings Deposits Certificates)—इस प्रकार के निक्षेपों (Deposits) में १०० रु० से कम रकम जमा नहीं की जा सकती है। इस योजना में केवल १००—१०० रु० के ही प्रमाण-पत्र होते हैं और एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रु० इस योजना में लगा सकता है परन्तु दो व्यक्ति मिलकर ५०,००० रु० तक रुपया लगा सकते हैं। धर्मार्थ संस्थायें इनमें १ लाख रुपये तक रुपया जमा कर सकती हैं। रुपया बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और दिल्ली नगरों में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में तथा अन्य नगरों में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की शाखाओं एवं सरकारी

खजानों में जमा किया जाता है। इस योजना में भी नाबालिगों की ओर से रुपया जमा किया जा सकता है। इन निक्षेपों में जमा रकम जमा करने की तारीख के १ वर्ष के बाद कभी भी निकाली जा सकती है, परन्तु यदि १० वर्ष की अवधि से पूर्व रुपया वापिस लिया जाता है, तब ब्याज की दर में कमी हो जाती है। अवधि के बढ़ने के साथ ही साथ ब्याज की दर भी बढ़ जाती है, परन्तु १० वर्ष की पूर्ण अवधि होने पर ब्याज की दर ४ प्रतिशत हो जाती है। जमाकर्ता को प्राप्त आय करों से मुक्त होती है। सर्टिफिकेट्स जमानत (Securities) के रूप में भी स्वीकार किये जाते हैं।

परीक्षा—प्रश्न

Agra University, B. A. & B Sc.

१. भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताओं का वर्णन करें। इसके दोषों पर दृष्टिपात करें। (१९६०)।

Agra University, B. Com.

१. भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों का वर्णन कीजिये। इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है? (१९६०)। 2. What are the defects of the Indian Money Market? Suggest any measures of reform you consider necessary. (1957 S) 3. What are the main constituents of the Indian Money Market? What control does the Reserve Bank exercise over them? (1956 S, 1954) 4. What are the main constituents of the Indian Money Market? Discuss their importance in financing trade and industry. (1955).

Rajputana University, B. Com.

1. Write a note on—Main features of the Indian Money Ma ket. (1958) 2 Write a note on—Indian Money Market—its defects and the way out. (1957) 3. Discuss the salient features of the Indian Money Market and show to what extent its main defects have been remedied since independence. (1956) 4. Discuss the importance of a well-organised Bill Market as an instrument of economic progress. Account for the absence of a Bill Market in India. What steps have been taken in this respect in recent times? (1954)

Sagar University, B. Com.

१. भारतीय मुद्रा-विपणि के मुख्य दोषों का उल्लेख कीजिये और इन्हें दूर करने के लिए निश्चित सुझाव दीजिये। (१९५४)।

Allahabad University, B. A.

१. भारतीय द्रव्य-बाजार की मुख्य विशेषतायें क्या हैं? इसके सगठन में किस प्रकार सुधार किया जा सकता है?

Allahabad University, B. Com.

1. Write a note on—Bill Market in India. (1956)

Gorakhpur University, B. Com.

1. Evaluate the recent efforts of the Reserve Bank of India to create a bill market in India. How will the existence of such a market facilitate monetary management in the country? (Pt. II. 1959) 2. Dis-

cuss the causes for the absence of a bill market in India. Suggest measures to remove them. (Pt I. 1959)

Bihar University, B Com.

1. Examine the present condition of the Indian Money Market. What suggestions can you offer for its improvement ? (1959) 2. What steps have been taken to develop a bill market in India ? What are its prospects ? (1959).

Nagpur University, B. A.

१. भारतीय मुद्रा विपणि के घटकों (Constituents) के विशेष लक्षणों को समझाइये। (१९५८)।

पुस्तक के अन्त में

"उत्तर कैसे लिखें ?"

परिशिष्ट

अवश्य पढ़िये।

भाग २ : : खंड २

भारतीय बैंकिंग

(Indian Banking)

[अध्याय ९. भारतीय बैंकिंग—इसका विकास एवं समस्यायें, १०. भारतीय बैंकिंग विधान, ११. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, १२. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, १३. भारत में मिश्रित पूंजी वाले बैंक्स (व्यापारिक बैंक्स), १४. भारत में विदेशी विनिमय बैंक्स।]

अध्याय ६

भारतीय-बैंकिंग—इसका विकास एवं समस्यायें

(Indian Banking—its Development and Problems)

सन् १९१३ तक भारतीय-बैंकिंग का विकास

अध्ययन की सुविधा के लिये हम भारतीय बैंकिंग के प्रारम्भिक इतिहास को तीन युगों में बाँट लेते हैं। प्रथम युग के अन्तर्गत हम अति प्राचीन काल से प्रेसिडेन्सी बैंक की स्थापना तक (१८०६) का इतिहास पढते हैं। द्वितीय युग के अन्तर्गत हम प्रेसिडेन्सी बैंक की स्थापना (१८०६) से सन् १८६० तक का इतिहास पढ़ते हैं और तृतीय युग के अन्तर्गत सन् १८६० से सन् १९१३ तक का इतिहास पढते हैं।

प्रथम युग (१८०६ तक का काल) —संक्षिप्त में इस युग की विशेषताएं इस प्रकार हैं —(i) भारत में बैंक प्रथा बहुत प्राचीनकाल से ही प्रचलित रही है। इस बात का प्रमाण अनेक प्राचीन ग्रंथो से मिल जाता है। वैदिक काल, बुद्ध काल तथा अन्य समय से सम्बन्धित साहित्य से यह पता चलता है कि प्रत्येक काल में अनेकों व्यापारिक व बैंकिंग सम्बन्धी कार्य होते थे। महाजन व साहूकार न केवल जनता को रुपया उधार देते थे वरन् व उनसे जमा पर रुपया भी स्वीकार किया करते थे। धीरे धीरे मुस्लिम शासन काल तक इन स्वदेशी बैंकर्स के कार्य बहुत महत्वपूर्ण हो गए— ये न केवल देश के आन्तरिक व्यापार को ही अर्थ-सहायता देते थे वरन् ये राजा महाराजाओं का भी एक बैंकर के रूप में कार्य करते थे तथा सरकार की ओर से लगान तक वसूल करते थे और विदेशियों की मदद के लिये मुद्रा परिवर्तन का भी कार्य करते थे। (ii) १७ वीं शताब्दी में अंग्रेजो के भारत आने पर स्वदेशी बैंकिंग-प्रणाली का पतन आरम्भ हो गया। चूंकि महाजन अंग्रेजी भाषा तथा विदेशी बैंकिंग प्रणाली से परिचित नही थे, इसलिये वे अंग्रेजों के व्यापार मे हाथ नही बढ़ा सके जिससे इनका महत्व धीरे धीरे बहुत कम हो गया। यही नही अंग्रेजो ने भी देशी बैंकिंग प्रणाली का उपयोग नही किया और अपना काम चलाने के लिए स्थान-स्थान पर एजेन्सी-गृहो (Agency Houses) की स्थापना की। ये एजेन्सी गृह, आढ़त गृह या व्यापारिक फार्म भी कहलाती हैं। इन व्यापारिक फर्मों मे मेसर्स एलेक्जेण्डर एण्ड कम्पनी (M/s Alexander & Co) तथा मेसर्स फर्गुसन एण्ड कम्पनी (Fergusan & Co.) बहुत अधिक प्रसिद्ध थीं। ये फर्में बैंकिंग का कार्य करती थी और सच तो यह है कि इन फर्मों (या एजेन्सी गृहो) की स्थापना से ही भारत में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का इतिहास आरम्भ होता है। ये फर्में अन्य व्यवसायो के साथ ही साथ जनता से निक्षेप (Deposits) स्वीकार करते थे और उनकी व्यापारिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं को पूरा किया करते थे। प्रारम्भिक काल में इन गृहों के पास अपनी निजी कुछ भी पूंजी नहीं थी, परन्तु इनके पास अंग्रेज नौकरों की जो कुछ भी राशि जमा रहती थी उसी से ये बैंकिंग का कार्य किया करते थे। (iii)

सन् १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक अधिकार का अन्त हो गया जिससे उक्त एजेन्सी-गृहों के व्यापार को भी बहुत धक्का लगा। परिणामतः इन गृहों का सन् १८३१ तक अन्त हो गया। (iv) यह स्मरण रहे कि कुछ एजेन्सी-गृहों ने अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाकर अपने आपको संयुक्त पूँजी के आधार पर सगठित किया और इस तरह भारत में संयुक्त पूँजी बैंकिंग प्रणाली का नेतृत्व किया। मैसर्स एलेक्जेण्डर एण्ड कम्पनी (M/s Alexander & Co.) ने सन् १७७० मे "दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान" के नाम से सर्व प्रथम यूरोपियन बैंक की स्थापना की। यह बैंक सन् १८३२ में टूट गया। (v) इस काल में अनेक बैंकों की स्थापना हुई तथा कुछ की तो पत्र-मुद्रायें तक चलन में थीं, परन्तु नये-नये बैंकों की स्थापना के साथ ही साथ कुछ पुराने बैंक टूटते भी गये। अतः भारतीय बैंकिंग के प्रारम्भिक काल मे किये गए सभी प्रयत्न असफल रहे।

द्वितीय युग (१८०६—१८६०):—इस युग का आरम्भ सन् १८०६ से होता है। सन् १८०६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञापत्र के अनुसार "बैंक ऑफ कलकत्ता" (Bank of Calcutta) की स्थापना हुई। इस बैंक का प्रमुख उद्देश्य अवमूल्यन चलन-पद्धति के दोषों का निवारण करना था। तत्पश्चात् सन् १८४० में "बैंक ऑफ बम्बई" (Bank of Bombay) तथा सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास, (Bank of Madras) की स्थापना हुई। सरकार ने इन तीनों बैंकों में अपना हिस्सा पूँजी रक्खी। प्रत्येक बैंक को नोट-निर्गम का भी अधिकार दिया गया था। चूँकि इन बैंकों द्वारा निर्गमित नोट अधिक प्रसिद्ध नहीं होने पाये, इस कारण सन् १८६२ में इनकी जगह सरकारी पत्र-मुद्रा ने ले ली। अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी ये तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक्स सन् १६२० तक सफलतापूर्वक चलते रहे। परन्तु सन् १६२१ में इन तीनों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक बना दिया गया जिसे अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कहते हैं।

तृतीय युग (१८६०—१६१३):—इस युग का आरम्भ सन् १८६० से होता है। सन् १८६० मे सर्वप्रथम सीमित देयता (Limited Liability) को वैधानिक मान्यता प्राप्त हुई। इस समय तक भारत में कोई बैंकिंग विधान नहीं था। इसीलिए सन् १८६० के बाद अनेकों बैंको की स्थापना हुई। शनैः शनैः १८७४ तक सीमित दायित्व वाले बैंकों की संख्या १४ हो गई। इनसे अधिकांश बैंको की स्थापना यूरोपियन व्यवस्था में ही की गई थी। सन् १८८१ में स्थापित "अवध कॉमरशियल बैंक" ही सर्वप्रथम बैंक था जो भारतीय व्यवस्था मे स्थापित किया गया था। तत्पश्चात् भारत में अनेकों बैंक स्थापित हुये, जैसे—पंजाब नेशनल बैंक (१८६४) पीपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया, (१६०१ में स्थापित परन्तु १६१३ में यह टूट गया),दी बैंक ऑफ इण्डिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफइण्डिया, इलाहाबाद, बैंक, बैंक ऑफ बडौदा आदि। ये पाच बैंक आज भी भारत के प्रथम पांच महान् बैंकों मे गिने जाते हैं। इन बडे-बड़े बैंकों के अतिरिक्त इस काल में अनेक छोटे-छोटे बैंक भी स्थापित हुए जिनकी सख्या सन् १६१३ तक ५६० तक पहुँच गई। चूंकि अधिकांश बैंक बिना समुचित आधार के खोले गए थे, इसीलिए सन् १६१३—१७ के बैंकिंग संकट काल में इनमे से अधिकांश बैंक टूट जाने वाले बैंकों के नाम इस प्रकार हैं :—दी इण्डियन स्पेशी

बैंक, दी बंगाल नेशनल बैंक, दी क्रेडिट बैंक ऑफ इण्डिया, दी स्टैंडर्ड बैंक, दी बोम्बे मर्चेंटस बैंक तथा दी बैंक ऑफ अपर इण्डिया आदि।

सन् १६१३–१७ का बैंकिंग संकट

<u>बैंकिंग संकट का अर्थ</u>—"बैंक तथा इसके कार्य" नामक अध्याय में हम पढ़ आये हैं कि बैंक की कार्य-प्रणाली जनता के विश्वास पर आधारित होती है। चूँकि बैंक अपनी जमा पूंजी से कई गुना अधिक धन ऋण के रूप में दे देता है, इसलिये प्रत्येक बैंक की देय (Liability) हर समय उसके नकद कोष (Cash Reserve) से अधिक होती है। इस दशा में यह स्वाभाविक ही है कि कोई भी बैंक अपने जमाकर्ताओं को एकदम, उनकी माँग होने पर, उनकी जमा राशि को नकद रूप में वापिस नहीं कर सकता है। जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि जमाकर्ताओं की माग बैंक के पास उपलब्ध नकद कोष से अधिक होती है, तब बैंक को इस माग का भुगतान करने में कठिनाई उत्पन्न होने लगती है यदि किसी कारण बैंक भुगतान करने में असमर्थ रहता है, तब यह उसके लिये घातक स्थिति होती है और उसे अपने फाटक बन्द करके अपने को दिवालिया घोषित करना पड़ता है। व्यवसायिक भाषा में इसे बैंकिंग संकट कहते हैं। कभी कभी किसी एक बैंक के दिवालिया हो जाने पर या दिवालिया हो जाने की केवल अफवाह उड़ जाने पर तमाम जमाकर्ताओं में इस प्रकार की सनसनी फैल जाती है कि वे सब ही अपने-अपने बैंकों से अपनी जमा राशि को निकालना आरम्भ कर देते हैं। बैंकिंग की भाषा में इसे "बैंकों पर दौड़" (A run on the Banks) कहते हैं। चूंकि प्रत्येक बैंक जमाकर्ता को उसकी माँग होने पर उसकी जमा पूंजी को वापिस देने की गारन्टी देता है, इसलिये जब बैंकों पर दौड़ का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, तब प्रत्येक बैंक अपने आपको संकट में पाने लगता है। यदि बैंक ऐसा है कि उसकी सम्पत्ति तरल (Liquid) अवस्था में है या यदि बैंक के पास ऐसे धन हैं कि वह संकट काल में तुरन्त ही केन्द्रीय बैंक से या अन्य बैंकों से रुपया ला सकता है, तब तो वह अपने जमाकर्ताओं की माग का भुगतान करके उनमे अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कर देगा और इसका परिणाम यह होगा कि कुछ समय बाद न केवल उसके पुराने जमाकर्ता उसके पास अपने धन पुन जमा कर देंगे बल्कि साथ ही साथ अन्य अनेक नये-नये ग्राहक भी उसके पास अपना धन जमा कर देंगे। परिणामत इस बैंक की स्थिति ठीक हो जायगी। परन्तु यदि बैंक या बैंक्स ऐसे हैं कि भरसक प्रयत्न करने पर भी वे अपने जमाधारियों को रुपया माँग पर वापिस नहीं दे पाते हैं, तब तो जनता का इन पर से विश्वास उठ जायेगा और ऐसी दशा में शीघ्र ही ये बैंक्स टूट भी जायेंगे। व्यवहारिक जीवन का यह अनुभव है कि जब किसी देश में किसी एक बैंक पर से जनता का विश्वास उठ जाता है, तब *जनता का अन्य बैंकों पर से भी विश्वास उठ जाता है या कम हो जाता है* और तमाम बैंकों पर "दौड़" होने लगती है। इसी परिस्थिति को 'बैंकिंग संकट' (Banking Crisis) कहते हैं।

<u>भारत में सन् १६१३–१७ का बैंकिंग संकट</u>—भारत में बैंकिंग संकट कई आये हैं और इन्होंने प्रत्येक बार देश की बैंकिंग व्यवस्था को बहुत हानि पहुँचाई है। सन्

१९१३-१७ का संकट भी इसी प्रकार का था। इस संकट के कई महत्वपूर्ण कारण थे— (i) सन् १९०२ के पश्चात् भारत में बैंकिंग का विकास इतनी तेजी से हुआ कि उसमें किसी भी प्रकार का स्थायीपन नहीं आ सका और परिस्थितियों में तनिक-सा प्रतिकूल परिवर्तन हो जाने पर बहुत से बैंक टूट गये। (ii) भारतीय मुद्रा-बाजार की अस्थायी प्रकृति थी तथा इसके विभिन्न अंगों में संगठन का अभाव था। बैंकिंग संकट के लिये यह एक बहुत ही उपयुक्त परिस्थिति थी। (iii) मुद्रा-पद्धति तथा साख-प्रणाली में लोच का अभाव था। इसके कारण बैंकों के लिए एक दूसरे से सहायता प्राप्त करना अथवा आवश्यकतानुसार अपने निक्षेपों (Deposits) को घटना-बढ़ना इनके लिए बहुत कठिन हो गया। (iv) नये-नये बैंक युद्धकालीन परिस्थितियों का मुकाबला नहीं कर सके और युद्ध के कारण उत्पन्न परिस्थितियों के स्वयं शिकार हो गये। (v) युद्धकाल में सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में धन खींचना शुरू किया, जिसके कारण मुद्रा-बाजार में धन की बहुत कमी हो गई और ब्याज की दरें बहुत ऊँची हो गईं। अधिक लाभ कमाने के लालच में बैंकों ने अत्यधिक मात्रा में ऋण देना आरम्भ कर दिया। परन्तु उनकी इस नीति का देश की बैंकिंग पद्धति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि असीमित मात्रा में ऋण देने का परिणाम यह हुआ कि बैंकों की नकद-निधि (Cash Reserves) बहुत कम हो गई और जब जनता की बैंकों पर दौड़ हुई तब अधिकांश बैंक इस दौड़ का मुकाबला नहीं कर सके और दिवालिया हो गये। अतः इन सब कारणों से भारत में सन् १९१३ में बैंकिंग संकट का श्रीगणेश हुआ और इस संकट का प्रभाव सबसे पहले ही पीपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया पर पड़ा जो सन् १९१३ में टूट गया। परिणामतः मुद्रा-बाजार में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया जिसका प्रभाव देश की तमाम बैंकिंग प्रणाली पर पड़ा और बैंक्स एक-एक करके फेल होने लगे और यह क्रम अबाधित रूप से सन् १९१७–१८ तक चलता रहा। बैंकिंग संकट के इस अल्पकाल में ८७ बैंक टूट गये। बैंकिंग संकट का अन्त सन् १९१७ में नहीं होने पाया और सन् १९१७–२४ तक के काल में लगभग १६१ बैंक टूटे और १९३१–३६ तक के काल में औसत रूप से प्रतिवर्ष ६४ बैंक टूट गये।

बैंकों के टूटने के कारण

बैंकों के टूटने के मुख्य कारण (Main Causes of Bank Failures):—बैंकिंग संकट काल में बैंकों के टूटने के अनेक कारण थे। इनमें से कुछ तो ऐसे कारण थे जिनका सम्बन्ध उसी काल से था और कुछ कारण ऐसे थे जो भारतीय बैंकिंग-प्रणाली में इसके दोषों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। ये मुख्य कारण इस प्रकार हैं:—(i) बैंकों का प्रबन्ध व संचालन अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में था—स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप देश में बैंकों की धड़ाधड़ स्थापना हुई थी। उस समय इन नये-नये बैंकों का संचालन एवं प्रबन्ध अनुभवी तथा योग्य व्यक्तियों द्वारा नहीं हो सका जिससे इन्होंने बैंकिंग के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया। परिणामतः ऐसे बैंक संकट काल में ठप्प हो गए। (ii) बैंकों की धोखेबाजी:—अनेक बैंक ऐसे थे जो प्रचार एवं विज्ञापन सामग्री में अपनी वास्तविक स्थिति को छुपा लिया करते थे और जनता को अपूर्ण सूचना देकर धोखा दिया

करते थे। कुछ बैंक्स अपनी अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया करते थे, परन्तु अपनी प्रार्थित पूंजी (Subscribed Capital) तथा परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) सम्बन्धी आंकड़ों को छुपा लिया करते थे क्योंकि इनका अधिकृत पूँजी से अनुपात बहुत ही कम हुआ करता था। ऐसे बैंकों को अपने कार्य के लिए जनता के निक्षेपों (Deposits) पर निर्भर रहना पड़ता था। परिणामतः तनिक सा भी संकट उन्हें ठप्प कर दिया करता था। कुछ बैंक्स झूठे हिसाब दिखा कर अपनी स्थिति अच्छी दिखाया करते थे और कुछ बैंकों के हिसाब कभी भी ऑडिट (Audit) नहीं हुआ करते थे और यदि कभी-कभी ऑडिट होते थे तब वे झूठी रिपोर्ट तैयार करवाया करते थे। परिणामतः बैंकों का प्रबन्ध ठीक नहीं होने के कारण वे अधिक समय तक जीवित नहीं रहने पाते थे, उदाहरणार्थ, पायनियर बैंक। (iii) बैंक्स ऊंची ब्याज की दर पर रुपया उधार लेते थे और इन्होंने अल्पकालीन निक्षेपों से दीर्घकालीन औद्योगिक ऋणों की पूर्ति की थी—बैंकों में आपस में प्रतिस्पर्धा अत्यधिक थी और प्रत्येक बैंक अपने आपको ही सबसे अधिक उन्नत करना चाहा करता था। चूँकि बैंकों के पास प्रायः परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) बहुत कम रहती थी, इसलिये अपने कार्य के सचालन के लिये वे ऊँची ऊँची ब्याज की दर देकर जमाकर्ताओं का धन आकर्षित करने का प्रयत्न किया करते थे। कभी कभी इनके ऋण लेने और ऋण देने की ब्याज की दर में बहुत कम अन्तर रह जाता था। इसी तरह अधिक लाभ कमाने के लालच में इन्होंने अपने नकद-कोषों (Cash Reserves) की मात्रा का बिना उचित ध्यान रक्खे ही जमाकर्ता के धन को लम्बे काल के लिये तथा लम्बी राशि में उधार दिया। कभी-कभी बैंकों ने अपनी पूँजी ऐसे कार्यों में लगा दी जिसका वापिस आना बहुत कठिन हो गया। आवश्यकता के समय जब बैंकों को अपनी पूंजी वापिस नहीं मिल सकी, तब परिस्थितिवश वे दिवालिये हो गये। ऐसे बैंकों के उदाहरण हैं—दी टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक, दी पीपिल्स बैंक ऑफ लाहौर आदि। (iv) धन का सट्टे व्यवहारों में विनियोग—ऐसे बहुत से बैंक्स थे जिन्होंने अपने धन का विनियोग सट्टा-व्यवसाय में किया जो एक बैंक के लिये अवांछनीय है। इस कारण जब आर्थिक मन्दी आई, तब ऐसे बैंकों को बहुत हानि उठानी पड़ी और इनके दिवाले निकल गये। यह स्मरण रहे कि कुछ बैंक्स ऐसे भी थे जो यद्यपि सट्टे व्यवसायों में धन लगाते थे, परन्तु इस बात को छुपाये रखते थे जिससे जनता को धोखा हो जाया करता था। इण्डियन स्पेसी बैंक के फेल होने का कारण यही था कि इसने सोने, चांदी व मोती के सट्टे व्यवहारों में बहुत बड़ी मात्रा में धन का विनियोग कर रक्खा था। (v) कुछ बैंकों के सचालकों ने बैंक के साधनों का निजी स्वार्थ में उपयोग किया—बैंकों के कुछ सचालक ऐसे थे कि उन्होंने अपने ही बैंकों से ऋण अपने निजी व्यवसाय के लिये या ऐसे व्यवसाय के लिए जिनमें उनकी दिलचस्पी थी लिए। प्रायः ऐसे सचालकों से ऋण वापिस नहीं आने पाता था और बैंक्स संकट आने पर टूट जाते थे। (vi) कुछ बैंक्स केवल अपने दुर्भाग्य के कारण ही टूट गये—किसी न किसी कारण ऐसे बैंकों पर से जनता का विश्वास उठ गया जिससे जमाकर्ताओं की इतनी अधिक मांग हुई कि इन्हें अपने आपको बाध्य होकर दिवालिया घोषित करना

पड़ा। यह अवश्य है कि इन बैंकों के इस दुर्भाग्य का मुख्य कारण व्यवस्था की शिथिलता ही थी। उदाहरणार्थ, बैंक ऑफ अपर इण्डिया, मेरठ तथा अलायन्स बैंक ऑफ शिमला। इन बैंकों द्वारा दिए गये ऋण पूर्णतया सुरक्षित थे, जिससे टूटने के बाद इनके हिस्सेदारों तथा निक्षेपदाताओं (Depositors) को पूरी-पूरी राशि का भुगतान मिला। (vii) कुल जमा की तुलना में नकद कोष का कम अनुपात:—भारत में बैंक्स सदा से ही अपनी कुल जमा का बहुत कम अनुपात नकद-कोष के रूप में रखते रहे हैं। परिणामतः ऐसे बैंक अपने ग्राहकों की मांग होने पर उसे सरलता से पूरी नहीं कर सके और आर्थिक संकट में फस गये। (viii) बैंकिंग विधान का अभाव:—सन् १९१३ तक भारत में कोई भी समुचित बैंकिंग विधान नहीं था जिससे बैंक्स प्रत्येक कार्य में अपने आपको स्वतन्त्र समझते थे। इस नियन्त्रण की कमी के कारण ही बैंक-संकट आया जिसमें सैकड़ों बैंक टूट गये। (ix) बैंक के अंशधारियों ने बैंकों के कार्य और प्रबन्ध में कोई सन्तोषजनक भाग नहीं लिया।—यह सच है कि यदि बैंक्स के हिस्सेदार बैंकों के प्रबन्ध में हिस्सा लेते, तब उनकी देखभाल के कारण संचालक अधिक बेईमानी तथा धोखेबाजी नहीं करने पाते और सम्भव है तब बैंक्स भी आर्थिक संकट में नहीं फंसते। (x) केन्द्रीय बैंक का अभाव:—प्रत्येक केन्द्रीय बैंक देश के बैंकों पर नियन्त्रण रखता है और संकट के समय इन्हें आर्थिक सहायता पहुंचाता है। सन् १९१३-१७ के बैंकिंग संकट काल तक देश में केन्द्रीय बैंक जैसी किसी भी संस्था की स्थापना नहीं हो सकी थी जिसके कारण देश में बैंकिंग का समुचित विकास नहीं होने पाया।

दोनों महायुद्धों के बीच के काल में भारतीय बैंकिंग

इस काल में भारतीय बैंकिंग की विशेषताएं इस प्रकार हैं.—(i) सन् १९१३ व १७ के बैंकिंग संकट का परिणाम यह हुआ था कि जनता का बैंकों पर से विश्वास उठ गया था। प्रथम महायुद्ध के प्रथम अर्ध-भाग में तो यही स्थिति रही, परन्तु द्वितीय अर्ध भाग में इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। युद्ध कालीन मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास धन अधिक मात्रा में आया और शनैः शनैः बैंकों के निक्षेप (Deposits) बढ़ गये। इस तरह जनता का बैंकों में पुनः विश्वास हो गया। जब बैंकों की जमा बढ़ने लगी, तब इन्होंने अपने कार्य का भी विस्तार करना आरम्भ कर दिया। स्थान-स्थान पर नये-नये बैंकों की भी स्थापना हुई। (ii) सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक्स को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई। इसकी परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) और निधि (Cash Reserves) उस समय पर ९·७ करोड़ रुपये थी। सन् १९५५ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया और इसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है। (iii) बैंकिंग संकट से जनता तथा सरकार ने यह अनुभव किया कि देश में बैंकिंग के समुचित विकास के लिये इस पर नियन्त्रण रखना बहुत आवश्यक है। दुर्भाग्य से सरकार इस समस्या के प्रति सन् १९२९ तक उदासीन बनी रही। सन् १९३० में केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति की गई और इसका उद्देश्य देश में बैंकिंग के सुधार के लिये सुझाव देने थे। इस कमेटी ने दो महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे—प्रथम, देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना

होनी चाहिए तथा द्वितीय देश में बैंकिंग विधान बनाया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से कुछ वर्ष तक कुछ न हो सका। परन्तु सन् १६३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना हुई तथा सन् १६३६ में इण्डियन कम्पनीज एक्ट में संशोधन किया गया। (iv) सन् १६२१ में सरकार की विस्फोतिक नीति के कारण मन्दी काल आया जिसके कारण जनता की आय घटने लगी। परिणामत बैंको का जमा धन भी कम हो गया और इन्हे आर्थिक सकट का सामना करना पडा। एक अनुमान के अनुसार सन् १६२१–२४ के काल मे ४४७ बैंको का दिवाला निकला। (v) सन् १६२४–३० का काल सामान्य आर्थिक दशाओ का काल रहा। इस काल मे बैंको पर कोई विशेष आपत्ति नहीं पडी। (vi) परन्तु सन् १६३०–३८ के काल में मन्दी की दशाय उत्पन्न हो जाने से काफी बडी सख्या में बैंक फेल हो गये। इस तरह यह स्पष्ट है कि दोनो महायुद्धो के काल मे यदि एक तरफ अनेक नये-नये बैंको का निर्माण हुआ, तब दूसरी ओर पुराने बैंक शनै शनै फेल होते गये। इसका कारण यह था कि जब आर्थिक दशायें सामान्य (Normal) हो जाती थीं, तब नये-नये बैंक खुलने लगते थे और जब मन्दी का काल आ जाता था, तब पुराने बैंक फेल होने लगते थे। अत इस काल मे नये नये बैंको के स्थापित होने और पुराने बैंको के ठप्प हो जाने का क्रम निरन्तर चलता रहा। (vii) दोनों महायुद्धों के काल मे भारतीय बैंकिंग का बडा अव्यवस्थित विकास हुआ। देश मे एक तरफ यू० पी०, बम्बई, मद्रास, बंगाल व पंजाब आदि प्रदेशों मे बैंको की सख्या मे बहुत वृद्धि हुई और दूसरी ओर उडीसा, मध्य-प्रदेश व बिहार आदि प्रदेशो में बैंको की सुविधाओ मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई। उस समय के देशी राज्यो म बैंकिंग का विकास लगभग नही के बराबर ही हुआ क्योकि बैंक्स इन रियासतो में शाखाए खोलते हुये डरा करते थे। यही नही बैंकिंग के अव्यवस्थित विकास का एक और भी रूप था। शाखाओ को खोलने की नीति अपनाते समय बडे-बडे बैंक्स इम्पीरियल बैंक की नकल किया करते थे और छोटे-छोटे बैंक्स बडे बडे बैंको की नकल करते थे। परिणामत शाखाये प्रायः बडे-बडे नगरों में ही खुली और कितने ही महत्वपूर्ण क्षेत्र ऐसे रह गये जिनको बैंकिंग की सुविधाए उपलब्ध नहीं हो सकीं। बैंकिंग के अव्यवस्थित विकास का एक और रूप यह भी था कि इस काल में निक्षेपो (Deposits) का केन्द्रीयकरण हो गया। यद्यपि सन् १६२२–३६ के १७ वर्ष के काल में बैंको की जमा राशि ७० करोड रुपये से बढकर ११० करोड रुपया हो गई थी, परन्तु इस राशि का लगभग ८३% भाग इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक्स तथा अन्य सात बडे बडे बैंकों के पास ही था। एक अनुमान के अनुसार इस ८३% में से ७१% भाग उस समय के सात महान् बैंकों के पास जमा हुआ था। अत यह स्पष्ट है कि इस काल में देश के छोटे छोटे बैंक्स निक्षेपो (Deposits) को आकर्षित करने में असफल हो रहे थे और निक्षेपों का केन्द्रीयकरण विशेषत बडे बडे बैंको के पास रहा था। इस स्थिति के कई मुख्य कारण थे—(अ) छोटे-छोटे बैंको की शाखायें प्राय छोटे छोटे नगरों मे ही थीं। इन नगरो मे व्यवसाय की कमी थी जिससे नागरिको के पास भी निक्षेप (Deposit) करने के लिये राशि बहुत कम थी। परिणामत बैंको की निक्षेप राशि भी कम ही रह गई। (आ) ऐसे स्थानो पर जहाँ बडे व छोटे बैंको की शाखायें थीं, बडे बैंक छोटे बैंकों से

प्रतियोगिता किया करते थे। यह स्वाभाविक ही है कि बड़े बैंकों की साख ऊँची होने के कारण ये कम ब्याज की दर पर भी छोटे बैंकों की ऊंची ब्याज की दर की तुलना में अधिक राशि एकत्रित कर लिया करते थे। (इ) बड़े-बड़े नगरों में धनी व्यक्ति प्रायः काफी संख्या में अधिक होते हैं। जब बड़े बड़े बैंकों की शाखायें इन नगरों में स्थापित होती थीं, तब इन्हें इन धनी व्यक्तियों का संरक्षण मिल जाया करता था। परिणामतः ये बड़े-बड़े बैंक्स अन्य छोटे-छोटे बैंकों की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में धन एकत्रित करने में सफल हो जाया करते थे। (ई) बड़े-बड़े बैंकों को इम्पीरियल बैंक से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। इस प्रतियोगिता से बचने एवं इसे टालने के लिये इन्होंने अपनी शाखायें देश के अन्य भागों में स्थापित कीं और यहां पर छोटे-छोटे बैंकों से प्रतियोगिता की। इस कारण भी बड़े-बड़े बैंकों की जमा राशि में बहुत वृद्धि हुई। (उ) भारत में बैंकों ने शाखा बैंकिंग प्रणाली को अपनाया है। इस पद्धति का यह गुण है कि बैंक की जितने अधिक व विस्तृत क्षेत्र में शाखायें होंगी, उतनी ही बैंक को हानि की कम सम्भावना होगी। यह प्रणाली निक्षेपों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बलवान बनाती है। अतः यह स्पष्ट है कि इन सब कारणों से दोनों महायुद्ध के बीच के काल में निक्षेपों (Deposits) में बड़े-बड़े बैंकों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति स्थापित हो गई।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय बैंकिंग

<u>द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर प्रभाव</u> (Effects of the Second World War on the Indian Banking)—द्वितीय महायुद्ध का बैंकिंग पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर पुराने बैंकों ने उन्नति की और दूसरी ओर नये-नये बैंकों की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंकिंग पर अन्य कितने ही प्रभाव पड़े, इन में से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—(i) बैंकों की जमा राशि में वृद्धि (Increase in the Deposits of the Banks)—सन् १९३९ में द्वितीय युद्ध प्रारम्भ हुआ था। भारतीय बैंकिंग प्रणाली अभी-अभी आर्थिक संकट के काल में से निकली ही थी कि युद्ध प्रारम्भ हो गया। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि जनता का बैंकों पर से विश्वास उठ जाय या कम हो जाय और युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तव में ऐसा ही हुआ भी। परिणामतः युद्धकाल के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में जनता ने बैंकों से अपना जमाधन लगभग ५·१२ करोड़ रुपये के बराबर निकाल लिया। परन्तु बैंकों में अविश्वास की स्थिति बहुत समय तक न चल सकी और शनैः शनैः जनता का इनमें पुनः विश्वास स्थापित हो गया। <u>परिणामतः सन् १९४१ के पश्चात् बैंकों की जमा राशि में अत्यन्त वृद्धि हो गई। सन् १९३९–४३ के काल में जमाराशि की मात्रा २४९·४५ करोड़ रुपये से</u> बढ़कर ६५५·०१ करोड़ रुपया हो गई और सन् १९४६ में इसकी मात्रा १,०६७ करोड़ रुपये हो गई। (ii) पुराने बैंकों ने नई-नई शाखायें खोलीं तथा देश में नये-नये बैंकों की स्थापना हुई—युद्ध के प्रारम्भिक दो वर्षों में बैंकिंग की प्रगति बहुत धीमी रही परन्तु तत्पश्चात् इसमें अत्यधिक विकास हुआ। सन् १९३९–४६ के बीच के काल में कुल बैंकों की संख्या १६५१ से बढ़कर ५,२२१ हो गई। इस काल में भारत बैंक लि० (अब यह पंजाब नेशनल बैंक में मिल चुका है), युनाइटिड कॉमरशियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमरशियल

बैंक लि० तथा हिन्दुस्तान मर्केन्टाइल बैंक लि० आदि की स्थापना हुई थी। सन् १९४६ तक परिगणित बैंकों (Scheduled Banks) की सख्या बढ़कर ९३ हो गई और इनके कार्यालयों की सख्या बढ़कर ३१०६ हो गई। इसी तरह अपरिगणित बैंकों (Non-Scheduled Banks) की सख्या सन् १९३९-४६ के काल में २३१ से बढ़कर २८८ हो गई। युद्ध काल मे लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध भारतीय व्यवसायी ने अपना अपना बैंक स्थापित कर लिया। यह स्पष्ट है कि यदि भारतीय सरकार सन् १९४३ में नई नई मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो के स्थापित करने पर नियन्त्रण नही लगाती, तब यह निश्चित सत्य है कि भारत मे बैंकों की सख्या युद्धकाल में और भी अधिक हो जाती। (iii) बैंकों की आमदनी मे बहुत वृद्धि हुई—युद्धकाल में बैंको के पास एक तरफ तो रुपये की अधिकता हो गई और दूसरी तरफ इन्होने इसका अधिकतम उपयोग किया क्योंकि व्यापारियों, उद्योगपतियो तथा सरकार द्वारा रुपये की माग में बहुत वृद्धि हो गई थी। परिणामत प्रत्येक बैंक ने बहुत अधिक मात्रा मे लाभ कमाया। यद्यपि सरकार ने आय-कर, अतिरिक्त लाभ कर, पूँजी लाभकर, आदि कर लगाये अथवा इनमे वृद्धि कर दी, परन्तु इस पर भी बैंको की आमदनी म कोई विशेष कमी नही होने पाई। यही कारण है कि युद्धकाल म बैंको को रिजर्व बैंक से सहायता लेने की भी अधिक आवश्यकता नहीं पड़ी। प्राय वर्ष में इस प्रकार की सहायता की माग १ करोड़ से ४ करोड़ रुपये तक ही सीमित रही। अत्यधिक लाभ कमाने का यह भी परिणाम हुआ कि बैंकों ने बड़ी-बड़ी मात्राओं में लाभांश (Dividend) बांटे। लाभांश की मात्रा बढ़ने से हिस्सों (Shares) में सट्टा होने लगा। (iv) बैंकों की विनियोग नीति पर प्रभाव—युद्धकाल में प्रत्येक बैंक की विनियोग नीति पर भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। युद्धकाल में सोने-चादी के मूल्य मे अत्यधिक परिवर्तन होते रहते थे जिसके कारण जमाकर्त्ताओं ने अपना धन चालू खातों में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा से रखना और चालू खातों की जमा का विस्तार हो गया। युद्ध से पहले बैंक्स अपनी कुल जमा का ५४ प्रतिशत ऋण, नकद साख तथा बिल्स के रूप म व्यापार व उद्योग धन्धो मे लगाते थे, परन्तु सन् १९४६ तक यह प्रतिशत घटते घटते ३२ ही रह गया। इम्पीरियल बैंक में तो यह अनुपात ५५ प्रतिशत से घटकर केवल २० ही रह गया। इसका कारण यह था कि युद्ध कालीन परिस्थितियो के कारण व्यापारियों तथा उद्योगपतियो को बहुत लाभ हुआ जिससे उनको बैंकों से उधार लेने की आवश्यकता बहुत कम हो गई। परिणामत बैंकों के आदेयो (Assets) में तरलता (Liquidity) का अश बहुत ही बढ़ गया और बैंकों ने अपने धन को या तो नकद कोष म रखना आरम्भ कर दिया या इसका विनियोग सरकारी प्रतिभूतियो (Securities) मे पहले स अधिक मात्रा मे करना आरम्भ कर दिया। परिगणित बैंको (Scheduled Banks) का इस प्रकार के विनियोग का प्रतिशत ५४ से बढकर ६१ हो गया और अकेले इम्पीरियल बैंक का ही यह प्रतिशत ४३ से बढ़कर ५१ हो गया। यह स्मरण रहे कि यद्यपि बैंकों के नकद कोष का अनुपात बहुत बढ गया था (परिगणित बैंको के नकद कोष ११ प्रतिशत से बढकर २५ प्रतिशत हो गये) परन्तु यह स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी उनके लाभ की स्थिति मे किसी भी प्रकार की कमी

नहीं आई क्योंकि व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के कारण लाभ का सामान्य स्तर बहुत ऊँचा ही बना रहा। अतः यह स्पष्ट है कि युद्धकाल में बैंकों की विनियोग नीति में बहुत ही आधारभूत परिवर्तन होने पर भी इनका विकास निरन्तर होता ही रहा। (v) भारतीय बैंकिंग का असन्तुलित प्रसार:—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्धकाल में भारतीय बैंकिंग का अत्यधिक प्रसार हुआ, परन्तु यह प्रसार बहुत कुछ बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के ही हुआ। कुछ पुराने अथवा नये बैंकों ने अपनी शाखाएँ ऐसे स्थानों पर भी खोली जहाँ पर उनकी बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि ऐसे स्थानों पर पहले से ही प्रचुर मात्रा में शाखाएँ थी। परिणामतः बैंकों में आपस में प्रतियोगिता होने लगी और इस संघर्ष में छोटे-छोटे बैंकों को बहुत कुछ हानि सहनी पड़ी। बहुत कुछ प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप ही युद्धोत्तर काल में सन् १६४७ में बंगाल में ही ५० से अधिक बैंक ठप्प हो गये। (vi) सुयोग्य कर्मचारियों का अभाव तथा बैंकों के कुशल संचालन में कमी:—युद्धकाल में बैंकिंग का विकास इतनी अधिक तेजी से हुआ कि योग्य, अनुभवी व कुशल प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों का बहुत अभाव हो गया। इस दशा में नये-नये बैंकों ने पुराने बैंकों के अनुभवी कर्मचारियों को ऊँची-ऊँची तनख्वाहों का लालच देकर नियुक्त किया। परन्तु इस होड़ में भी छोटे-छोटे बैंकों को हानि ही सहनी पड़ी क्योंकि वे ऊँची-ऊँची तनख्वाहों पर योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति करने में असमर्थ रहे जिससे ऐसे बैंकों का संचालन भी ठीक-ठीक नहीं हो सका।

युद्धकालीन बैंकिंग प्रसार के कारण.—युद्धकाल में भारतीय बैंकिंग में जो कुछ भी प्रसार हुआ उसके कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं:—(i) अत्यधिक मुद्रा प्रसार:—युद्ध-व्यय के फलस्वरूप देश में बहुत अधिक मात्रा में मुद्रा-प्रसार हुआ। पत्र मुद्रा की मात्रा बढ़कर छ गुनी से भी अधिक हो गई थी। मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाने के कारण व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने खूब लाभ कमाया था। इस लाभ का बहुत बड़ा भाग उन्होंने बैंकों में जमा कर दिया। बैंकों में नकद-कोष की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर इनकी साख-निर्माण शक्ति में भी वृद्धि हो गई जिससे इन्होंने बहुत लाभ कमाया। परिणामतः अधिक मात्रा में लाभ कमाने के लालच में पुराने बैंकों ने नई-नई शाखायें खोली और इन बैंकों की देखा-देखी अन्य नये बैंकों की भी स्थापना हो गई। (ii) बहुमूल्य धातुओं व कम्पनियों के शेयर्स के मूल्य में उच्चावचन:—युद्धकाल में सोना चाँदी धातुओं, शेयर्स के मूल्यों में समय-समय पर बहुत परिवर्तन हो रहे थे। अत्यधिक जोखिम के कारण व्यापारी इनमें रुपया लगाना उचित नहीं समझते थे। परिणामतः व्यापारियों ने अपना धन बैंकों में चालू खातों में जमा करना आरम्भ कर दिया ताकि वे आवश्यकता के समय रुपया आसानी से काम में ला सकें। (iii) मशीन व अन्य सामान मिलने में कठिनाई:—युद्धकाल में मशीनों, यन्त्रों व अन्य अनेक प्रकार के सामानों को विदेशों से मंगाने अथवा देश में खरीदने में कठिनाई अनुभव होने लगी। इस कारण ही व्यापारी अपने लाभ को चालू खाते में जमा रखना उपयुक्त समझते थे ताकि वे अवसर पाकर इसका उद्योगों में विनियोग कर सकें। जबकि सन् १६३६ में जमा राशि २५६ करोड़ रुपये थी, यह सन् १६४६ में बढ़कर १,१३६ करोड़ रुपये हो गई। (iv) ऋण

की माग मे वृद्धि —युद्धकालीन परिस्थितियों ने उद्योग व व्यापार को प्रोत्साहन दिया। अधिक लाभ कमाने के लालच मे व्यापारियों ने ऋण लेकर नये-नये व्यवसाय स्थापित किये अथवा पुराने व्यवसायों में प्रसार किया। इन कार्यों के लिये बैंकों से ऋण लिया गया। बैंकों के ऋण-कार्यों मे प्रसार होने से उन्हें पहले से अधिक लाभ होने लगा। परिणामत देश मे बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार हो गया। (v) रिजर्व बैंक की नीति—रिजर्व बैंक ने शाख-विस्तार की नीति अपनाई जिससे बैंको मे नई-नई शाखाएँ खोलकर शाख-विस्तार करने का प्रोत्साहन मिला। अत यह स्पष्ट है कि युद्धकाल में अनेक ऐसे व्यापारिक, व्यवसायिक व मौद्रिक कारण उत्पन्न हो गये थे जिनकी वजह से देश मे बैंकिंग का अत्यधिक प्रसार हुआ।

<u>भारत मे युद्ध कालीन बैंकिंग-विकास के दोष</u> (Defects of the War-time Banking Development of India)—द्वितीय महायुद्ध-काल में भारतीय बैंकिंग का विकास काफी दृढ़ आधार पर हुआ था, परन्तु फिर भी इस विकास मे अनेक दोष थे जिनमे से कुछ मुख्य दोष इस प्रकार हैं—बैंकिंग-सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण और इनमे आपस मे प्रतियोगिता—युद्ध-काल में पुराने बैंकों ने अपनी अनेक शाखाए खोलीं तथा कितने ही नये-नये बैंको की स्थापना हुई। परन्तु अधिकाश शाखायें ऐसे स्थानों पर खोली गईं जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि उन स्थानों पर पहले से ही बैंको की शाखायें पर्याप्त सख्या मे थी। कुछ बैंकों ने अपनी शाखायें ऐसे स्थानों पर खोलीं जो उनके प्रमुख व्यवसाय-क्षेत्र स बहुत दूर थीं। परिणामत बैंकों में अवांछित प्रतियोगिता बढ गई और इसका बैंकिंग विकास पर बुरा प्रभाव पडा। यह अवस्था स्वय बैंकों के लिये ही नहीं वरन् समस्त राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के लिये भी घातक रही। अत युद्ध-काल मे बैंकिंग सेवाओं का वितरण सतुलित नहीं हुआ और इनमें आपस मे प्रतियोगिता बहुत बढ गई। (ii) बैंकों के शेयर्स मे सट्टा—युद्ध-काल में बैंको के लाभ बहुत बढे जिससे इन्होंने लाभांश का वितरण भी अधिक किया। परिणामत बैंको के अंशो एव प्रतिभूतियों में सट्टा-व्यवहार हुये। (iii) लाभ का उपयोग सुरक्षित-निधि को बढ़ाने के स्थान पर लाभांश बांटने के लिये अधिक हुआ—युद्ध-काल में बैंको को बहुत अधिक मात्रा में लाभ प्राप्त हुआ, परन्तु इन्होंने इसका उपयोग अपनी आर्थिक स्थिति को और अधिक दृढ बनाने के स्थान पर, इसको लाभ के रूप में बांट दिया जो अनुचित था। (iv) युद्ध काल मे बैंकिंग व्यवसाय का नियन्त्रण एव सचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया जिनकी दिलचस्पी मूलत अन्य व्यवसायों में अधिक थी—युद्ध काल में बिरला ने यूनाइटिड कॉमरशियल बैंक, सिंघानिया ने हिन्दुस्तान कॉमरशियल बैंक, डालमिया न भारत बैंक (अब यह पंजाब नेशनल बैंक में मिल गया है) आदि खोले। इस तरह *युद्ध-कालीन बैंकिंग व्यवसाय में एक बहुत बडा दोष यह उत्पन्न हो गया कि बैंकिंग* व्यवसाय ऐसे व्यक्तियो क हाथों में चला गया जिनका मुख्य व्यवसाय व्यापार एव उद्योग था। यह एक बहुत ही दोषपूर्ण प्रवृत्ति होती है जो बैंकिंग-व्यवसाय को अन्य व्यवसायों पर आश्रित कर देती है। (v) योग्य कर्मचारियों का अभाव—बैंकिंग का विकास इतनी अधिक तेजी से हुआ कि *योग्य तथा अनुभवी कर्मचारियों का बहुत अभाव हो गया जिससे*

छोटे-छोटे बैंकों का संचालन ठीक-ठीक नहीं हो सका। (vi) **व्यवसाय की सही स्थिति को छिपाने का प्रयत्न:**—कुछ बैंकों ने अपने लेखों में हेर-फेर करके अपनी अव्यवस्था तथा दोषों को छिपाने का प्रयत्न किया और इस तरह इन्होने सट्टे व्यापार को दिये गए ऋणों तथा अरक्षित ऋणों को छिपाया। अतः अत्यधिक लाभ कमाने के लालच में कुछ बैंकों ने अनुचित रीतियों का भी उपयोग किया।

युद्ध-कालीन बैंकिंग विकास के उल्लिखित दोषों का परिणाम यह हुआ कि युद्ध-काल में भी बैंकों के टूटने का क्रम बराबर चलता रहा। यह अवश्य है कि शनैः शनैः बैंकों के ठप्प हो जाने की प्रवृत्ति कमजोर पड़ गई और युद्ध समाप्ति तक बैंकों के फेल हो जाने की संख्या बहुत कम हो गई क्योंकि तब तक बैंकों की आर्थिक स्थिति दृढ़ हो गई थी। जबकि सन् १६३६ में ६० और १६४० में १०२ बैंक फेल हुये तब १६४१ में ७७, १६४२ में ४६, १६४३ में ५१, १६४४ में २२, १६४५ में २६ तथा १६४६ में २६ बैंक फेल हुये।

भारत का विभाजन और इसका बैंकिंग पर प्रभाव

भारत [redacted] बंटवारे का प्रभाव—१५ अगस्त सन् १६४७ को देश का विभाजन हुआ और इस विभाजन के साथ ही साथ पंजाब व बंगाल में साम्प्रदायिक झगड़े भी आरम्भ हो गये। इस अराजकता के कारण देश में उत्पादन, आयात-निर्यात तथा अन्य सम्पत्ति का बहुत विनाश हुआ। विभाजन का प्रभाव विशेषतः पंजाब के बैंकों पर पड़ा था और इनको जो कुछ भी हानि हुई उसका सही-सही अनुमान आज तक भी नहीं लग सका है। *विभाजन के कारण अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया जिसने सट्टे व्यवहारों को प्रोत्साहन दिया।* यही कारण है कि अकेले सन् १६४७ में ३० बैंक ठप्प हो गये। यह स्मरण रहे कि कुछ बैंक्स ऐसे अवश्य थे जिन्होने विभाजन की वार्ता प्रारम्भ होते ही अपने प्रमुख कार्यालय दिल्ली अथवा पूर्वी पंजाब को स्थानान्तरित कर दिये और पश्चिमी पंजाब में अपनी शाखाओं द्वारा ऋण देना कम कर दिया, परन्तु इतना करने पर भी इन बैंकों को विभाजन से बहुत हानि सहनी पड़ी। ऐसे बैंकों में से 'पंजाब नेशनल बैंक भी एक ऐसा बैंक है जिसे काफी हानि उठानी पड़ी है। विभाजन होते ही अनेकों बैंकों को पश्चिमी पंजाब में अपनी शाखाएं बन्द भी करनी पड़ीं जिससे इन्हें अत्यधिक हानि हुई। इस परिस्थिति में रिजर्व बैंक ने कुछ ऐसे कदम उठाये जिनसे बैंक्स विभाजन कुप्रभावों से बहुत कुछ बच गये और ये टूटने नहीं पाये। रिजर्व बैंक द्वारा किये गए मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैं:—

(i) **रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन**—इस संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह अपरिगणित बैंकों (Non-Scheduled Banks) तक को उपयुक्त *प्रतिभूतियों (Securities)* की आड़ पर ऋण दे सकता है। (ii) **स्थगित शोधन काल:**—सन् १६४७ में एक आदेश जारी कर *दिया गया जिसके अनुसार जिन* बैंकों के प्रमुख कार्यालय दिल्ली अथवा पूर्वी पंजाब में हैं, उनके विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। यह भी आदेश दिया गया कि स्थगित शोधनकाल में (Moratorium Period) ये बैंक अपने भारत-स्थित चल निक्षेपों

(Current Deposits) का केवल १०% अथवा २५० रु० (जो भी कम हो) का भुगतान कर सकते थे। (iii) पुनर्वास के लिये सहायता—सरकार ने निर्वासित बैंकों के पुनर्वास के लिये १ करोड़ रुपये की सहायता दी थी। इस सहायता से कितने ही बैंकों को संकट से बचाया गया और उन्हें ठप्प नहीं होने दिया। (iv) रिजर्व बैंक को परीक्षण करने का अधिकार दिया गया—सरकार ने एक आदेश के अनुसार रिजर्व बैंक को, सरकारी आदेश पर, किसी भी बैंक के निरीक्षण का अधिकार तथा इसके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट सरकार को देने का अधिकार दिया। इस तरह रिजर्व बैंक ने बटवारे के दुष्परिणामों से बैंकिंग प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया और वह बहुत कुछ इस कार्य में सफल भी हुआ।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोष तथा बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उपाय

<u>भारतीय बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोष</u>—युद्धोत्तर काल में भारतीय बैंकिंग प्रणाली में अनेक दोष दृष्टिगोचर हुये हैं, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—(i) अनेक बैंकिंग कम्पनियों का होना और विशेषकर छोटी छोटी कम्पनियों का होना, (ii) प्रबन्धकों तथा अधिकारी वर्ग की स्पर्धा, (iii) बैंकों के प्रबन्ध में भिन्नता, (iv) व्यापार के तरीकों में भिन्नता, (v) बैंकों की सच्चाई तथा कार्य-कुशलता में भिन्नता, (vi) अचल सम्पत्ति के आधार पर बहुत बड़ी मात्रा में ऋण देना, (vii) अपर्याप्त जमानत पर ऋण देना विशेषकर बैंक के संचालकों एवं उनके मित्रों को इस तरह ऋण देना, (viii) बिना सोच विचार किए बैंकों की शाखाओं को खोलना और विशेषकर ऐसे स्थानों पर खोलना जहां पर पहले से ही बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त हैं, (ix) बैंकस को अनेक प्रकार से कुछ व्यापारों से अनुचित रूप में सम्बन्धित करना तथा (x) बैंक की वास्तविक स्थिति छुपाने के लिए झूठे आंकड़े देना अथवा गलत स्थिति विवरण बनाना आदि।

<u>भारतीय बैंकिंग के दोषों को दूर करने अथवा बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये सुझाव</u>—समय समय पर रिजर्व बैंक ने भारतीय बैंकिंग व्यवसाय की जांच पड़ताल की है और इस सम्बन्ध में अपनी वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित की है। रिजर्व बैंक ने भारतीय बैंकिंग के दोषों को दूर करने के लिये कितने ही सुझाव दिये हैं जिनमें मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(i) बैंकों के प्रबन्ध के विषय में सुझाव—भारतीय बैंकों को योग्य, कुशल तथा शिक्षण-प्राप्त प्रबन्धकों एवं संचालकों की सेवाओं का लाभ बहुत ही कम मात्रा में प्राप्त हो सका है जिसके कारण ये अपने कर्मचारियों का ठीक-ठीक निरीक्षण नहीं करने पाते हैं। इसी कारण कभी कभी आन्तरिक निरीक्षण तथा अंकेक्षण (Auditing) में भी बहुत दोष रह जाते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रबन्धक एवं संचालक ऐसे व्यक्ति होने चाहियें कि वे बैंक के कार्य में पूर्ण दिलचस्पी रक्खें, कि वे अपने कर्मचारियों के कार्यों की उचित देख-भाल कर सकें, कि वे बैंक की ऋण तथा विनियोग नीति बैंक तथा जनहित के विरुद्ध नहीं होने दें तथा बैंक की सम्पत्ति में पर्याप्त तरलता (Liquidity) रख सकें। चूंकि बैंक की सफलता उसके प्रबन्धकों के अनुभव, ज्ञान तथा योग्यता पर निर्भर रहती है, इसीलिये रिजर्व बैंक ने बैंक के कर्मचारियों के शिक्षण, उनको

नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार करने की सिफारिश की है। *(ii) बैंकों की विनियोग नीति के सम्बन्ध में सुझाव:*—रिजर्व बैंक ने अपनी जाँच के आधार पर यह अनुभव किया कि बैंक्स अपने धन का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में बहुत कम करते हैं और प्रायः बैंक्स अपने पास नकद-कोष भी बहुत ही कम रखते हैं। अपरिगणित बैंकों (Non-scheduled Banks) की दशा बहुत खराब पाई गई। जांच से पता चला कि इस प्रकार के १२३ बैंकों ने या तो सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) में रुपया लगा ही नहीं रक्खा था और यदि लगा भी रक्खा था तब यह उनके कुल निक्षेपों के 1% से भी कम ही था। इसके अतिरिक्त यह भी पता चला कि कुछ बैंको ने ऐसी कम्पनियों के शेयर्स में अपने धन का विनियोग कर रक्खा था जिनके प्रबन्ध में बैंक संचालक एवं प्रबन्धक पूर्ण रूप से भाग लेते थे। कितने ही ऐसे उदाहरण भी मिले जिनमें बैंकों ने ऐसे शेयर्स खरीद रक्खे थे जिनको सरलता एवं शीघ्रता से बेचा भी नहीं जा सकता था। इस तरह कुछ बैंकों की सम्पत्ति में तरलता का बहुत ही अभाव पाया गया। बैंक के कुशल संचालन के लिये यह आवश्यक है कि बैंक का विनियोग सरकारी सिक्यूरिटीज में ही अधिकांश मात्रा में होना चाहिये। इसीलिये रिजर्व बैंक ने समय-समय पर बैंकों को यह सलाह दी है कि वे अपना धन अधिक से अधिक मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियों में ही लगायें। (iii) बैंकों की ऋण नीति के सम्बन्ध में सुझाव:—रिजर्व बैंक ने अपनी जांच में यह भी देखा कि कुछ बैंक्स ऋणी की साख की बिना जांच-पड़ताल करे ही ऋण दे देते थे अथवा बिना पर्याप्त जमानत रक्खे या तरलता का कम ध्यान रक्खे ही ऋण दे देते थे और कभी-कभी अधिक लाभ कमाने के लालच में बैंकों ने अपनी शक्ति एवं साधनों से अधिक मात्रा में भी ऋण दे दिये थे। परन्तु इस सम्बन्ध में अब काफी सुधार हो चुका है। सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट की धारा २४ के अनुसार बैंकों को अपनी मांग व मुद्दती देनदारी का २०% तरल सम्पत्ति के रूप में रखना आवश्यक कर दिया गया है। रिजर्व बैंक ने बैंकों को समय-समय पर यह सुझाव दिया है कि उन्हें ऋण देने से पहले ऋणी की भुगतान-शक्ति की समुचित जांच कर लेनी चाहिए अथवा अचल सम्पत्ति की धरोहर पर कम से कम ऋण देने चाहियें तथा जोखिम के उचित बंटवारे के लिये यथासम्भव विभिन्न प्रकार के ही ऋण देने चाहियें। (iv) लाभांश के बंटवारे के सम्बन्ध में सुझाव:-यह अनुभव किया गया कि बहुत से बैंक्स, विशेषकर अपरिगणित बैंक्स (Non-scheduled Banks) अपने लाभ का अधिकांश भाग लाभांशों के रूप में बाँट दिया करते थे, यद्यपि उनका रक्षित-कोष (Reserve Fund) उनकी परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) के अनुपात में बहुत ही कम रहता था। इस स्थिति मे ऐसे बैंकों की आर्थिक स्थिति दृढ़ नहीं रहती थी। इस दोष को सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट की धारा १७ द्वारा बहुत कुछ दूर किया गया है। इस धारा के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का २०% भाग तक रक्षित-कोष में जमा करना पड़ता है जब तक कि रक्षित-कोष परिदत्त-पूँजी के बराबर नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया गया है कि लाभ घोषित करने से पहले प्रत्येक बैंक को अपने अशोध्य ऋणों (Irredeemable Debts) तथा ऋणों के अवमूल्यन की भी उचित व्यवस्था करनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि बैंकों को अपना रक्षित-कोष केवल न्यूनतम वैधानिक सीमा तक ही नहीं रखना चाहिये वरन्

इस कोष की जितनी भी अधिक मात्रा में व्यवस्था की जायगी, बैंक की दृढ़ता के लिए यह उतना ही अधिक अच्छा होगा। (v) नई-नई शाखायें खोलने के सम्बन्ध में सुझाव युद्धकाल में व्यवसायिक एवं व्यापारिक समृद्धि के कारण पुराने बैंकों ने नई-नई शाखायें अत्यधिक संख्या में स्थापित कीं और कभी-कभी ये शाखाएं ऐसे स्थानों पर भी खोली गई जहां पर पहले से ही पर्याप्त मात्रा में बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध थीं। इसीलिए ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने यह सिफारिश की है कि नई-नई शाखायें स्थापित करने के स्थान पर वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था को ही दृढ़ आधार पर जमाना चाहिये। इस समिति का सुझाव है कि यद्यपि अच्छे अच्छे बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों अथवा छोटे-छोटे नगरों में अपनी शाखाएं स्थापित करने की इजाजत दी जानी चाहिए परन्तु बैंकिंग में व्ययपूर्ण तरीके से प्रसार नहीं होना चाहिए और नई-नई शाखाएं खोलने की आज्ञा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि बैंकों में आपस में प्रतियोगिता नहीं हो सके। वास्तव में, रिजर्व बैंक ने इस समय इसी नीति को अपना रक्खा है। (vi) बैंकिंग रीतियों में सुधार—समय-समय पर बैंकों को यह सुझाव दिया जाता है कि उन्हें अपनी कार्यविधि समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों के आधार पर ही सचालित करनी चाहिए ताकि देश में बैंकिंग का विकास समुचित आधार पर हो सके।

भारत में बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banking in India)

प्राक्कथन—बैंकिंग का राष्ट्र के आर्थिक व सामाजिक जीवन में बहुत महत्व होता है। इसीलिए कुछ समय से यह मत जोर पकड़ रहा है कि भारत में बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए ताकि इसका संचालन राष्ट्रीय हित में किया जा सके और इन पर उचित नियन्त्रण भी रक्खा जा सके।

बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में युक्तियाँ (Arguments in Favour of Nationalisation of Banking)—कुछ मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—(i) साख का राष्ट्र हित में उपयोग—साख निर्माण कार्य प्रत्येक बैंक का एक प्रमुख कार्य होता है। इस यन्त्र का उपयोग राष्ट्र-हित अथवा राष्ट्र-विनाश दोनों ही रूप में हो सकता है। अत यह अत्यावश्यक है कि इस पर उचित नियन्त्रण हो ताकि इसका उपयोग व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर राष्ट्रीय हित एवं कल्याण के लिए किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साख की मात्रा तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं में समय समय पर समायोजन (Adjustment) होना चाहिए। बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का मत है कि इस प्रकार की समायोजन केवल बैंकों के राष्ट्रीयकरण से ही सम्भव है। (ii) व्यापार चक्रों की क्रूरता कम की जा सकती है—बैंकों की साख सम्बन्धी दोषपूर्ण नीति के कारण ही प्राय व्यापार-चक्रों का जन्म होता है। परन्तु यदि बैंकों द्वारा एक समुचित नीति अपनाई जाती है तब इस प्रकार के चक्रों का जन्म नहीं होने पाता है। साम्यवादी देशों में जहाँ बैंकों का राष्ट्रीयकरण रहता है, व्यापार चक्रों की क्रूरता नहीं दिखलाई देती है। अत व्यापार-चक्रों की क्रूरता को कम करने के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक है। (iii) बैंकों की अनुचित प्रतियोगिता कम या समाप्त की जा सकती है—बैंकिंग का

राष्ट्रीयकरण करने से बैंकों की अनुचित प्रतियोगिता कम या समाप्त की जा सकती है, जनता में बैंकों के प्रति विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है, उद्योग व कृषि व व्यापार के लिए वित्त की उचित व्यवस्था की जा सकती है, आदि। (iv) बैंकों के लाभों का समाज-हित में उपयोग:—चूंकि बैंक्स जनता के धन और जनता के विश्वास में व्यापार करते हैं, इसलिए उचित भी यही है कि इनके लाभ का उपयोग व्यक्तिगत-हित में नहीं वरन् समाज-हित में होना चाहिये। यह तब ही सम्भव है जब कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। (v) भारतीय बैंकिंग की कुछ अपनी निजी ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण इसके विकास के लिए इसका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक उपयुक्त है:-(क) भारत में यद्यपि बचत करने की शक्ति बहुत कम पाई जाती है, परन्तु जो कुछ भी बचत होती है वह प्रायः जमीन में गाड़कर रख दी जाती है जिससे इस बचत का उत्पादक कार्यों मे उपयोग नहीं होने पाता है। इसका कारण न केवल यह है कि बचत के विनियोग के साधन अपर्याप्त हैं बल्कि इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि जनता का बैंकों में कम विश्वास होने [redacted] कारण वे अपनी बचत को जमीन में दबा कर रखना ही ठीक समझते हैं। भारतीय बैंकिंग जनता में विश्वास क्यों नहीं उत्पन्न करने पाई है? इसके भी कई कारण हैं:—प्रथम, आरम्भ में बैंकोंग का कार्य विदेशियों के हाथ में था जिससे ये विदेशी संस्थाएं समझी जाती थीं। द्वितीय, लगभग प्रत्येक वर्ष काफी बड़ी संख्या में बैंक्स ठप्प हुए हैं। जनता में अविश्वास उत्पन्न करने का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कारण रहा है। अतः जनता में बैंकिंग के प्रति विश्वास उत्पन्न करने और उनकी बचतों को उत्पादक कार्यों के लिये आकर्षित करने के लिये भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण ही उचित समझा गया है। (ख) भारत मे व्यापारिक बैंकों की प्रधानता है, विनिमय बैंक्स मुख्यतः विदेशियों द्वारा चलाये जा रहे हैं तथा औद्योगिक व कृषि बैंक्स का जन्म ही नहीं होने पाया है। अतः भारतीय बैंकिंग का अब तक एक-अंगी (One-sided) विकास हो सका है। इसीलिये भारतीय बैंकिंग के समुचित विकास [redacted] लिये इसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना जाता है।

> **भारतीय बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में युक्तियां:—**
>
> १. साख का राष्ट्र हित में उपयोग हो सकेगा।
> २. व्यापार-चक्रों की क्रूरता कम की जा सकती है।
> ३. बैंकों की अनुचित प्रतियोगिता कम या समाप्त की जा सकती है।
> ४. बैंकों के लाभों का समाज हित में उपयोग हो सकेगा।
> ५. भारतीय बैंकिंग की कुछ अपनी निजी ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके कारण विकास के लिए इसका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक उपयुक्त है।

<u>बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में युक्तियां</u> (Arguments against the Nationalisation of Banking):—राष्ट्रीयकरण के विरोधियों ने दो मुख्य युक्तियां दी हैं:—(i) राजकीय व्यवसाय की अकुशलता.—सरकारी शासन में प्रायः दक्षता नहीं

रहती है तथा लोच व मितव्ययिता का अभाव रहता है जिससे बैंकिंग जैसे व्यवसाय को सरकार आसानी से चलाने नहीं पाती है। (ii) योग्य कर्मचारियों का अभाव—भारत मे विशेषकर इस समय भी योग्य, अनुभवी व ईमानदार बैंक सम्बन्धी कर्मचारियों का अभाव है। इस दशा में सरकार राष्ट्रीयकृत बैंको का कार्य सम्भालने मे असमर्थ रहेगी। इन कारणों से ही इस दल के समर्थकों का मत है कि भारत में बैंकिंग का वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण देश के लिये अहितकर होगा।

बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष विपक्ष मे दी गई उल्लिखित युक्तियों से यह स्पष्ट है कि बैंकिग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष से अधिक दलीलें हैं। व्यवहार रूप में भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (अब इसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है) का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। यह अवश्य है कि देश की वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में तमाम बैंकिंग प्रणाली के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना बहुत कम है।

भारत मे बैंकों का एकीकरण
(Amalgamation of Banks in India)

प्राक्कथन—बैंकों के एकीकरण का अर्थ है बैंकों का मिल जाना अथवा इनका एकत्रीकरण हो जाना। यह एकीकरण दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम, जब दो या दो से अधिक बैंक्स एक दूसरे से इस प्रकार मिल जायें कि इनका व्यक्तिगत अस्तित्व मिटकर एक नई सस्था का निर्माण हो जाये और यह नई सस्था सामूहिक रूप में तमाम बैंकों का कार्य करे, तब इस क्रिया को हम बैंको का एकीकरण कहते हैं। द्वितीय, जब एक या एक से अधिक बैंक्स किसी एक बैंक म जाकर मिल जाते हैं (यहाँ किसी नई सस्था का निर्माण नहीं हुआ है), तब इसे भी हम बैंकों का एकीकरण कहते हैं। भारत में बैंकों के एकीकरण की प्रवृत्ति बहुत थोड़े से समय से ही पाई जाती है। भारतीय बैंकिंग मे इस प्रकार की प्रवृत्ति के उत्पन्न हो जाने के कई कारण हैं—(i) द्वितीय महायुद्ध काल में भारतीय बैंकों एवं उनकी शाखाओं में असीमित विस्तार हुआ जिससे भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो गये और सन् १९४६-५१ के बीच ५ वर्ष की अल्प अवधि में ही लगभग १८३ बैंक्स टूट गय। (ii) युद्ध के पश्चात् बैंकों की जमा (Deposits) घटने लगी। बैंकों ने अपनी जमा पूँजी में वृद्धि के लिये नये-नये स्थानों पर शाखायें खोली और इनमें से अधिकांश स्थान ऐसे थे जहाँ पर वास्तव मे बैंकों की शाखाओं की आवश्यकता ही न थी। परिणामत ऐसे बैंको और उनकी शाखाओं की शोधनक्षमता (भुगतान-शक्ति) सुदृढ़ न रह सकी। (iii) बहुत से बैंकों ने ऊँचे वेतन का लालच देकर अन्य बैंकों के योग्य व कुशल कर्मचारियों को तोड़ लिया, परन्तु इस प्रकार की नियुक्ति से अपर्याप्त साधन वाले बैंको का कार्य व्यय अनावश्यक ही बहुत बढ़ गया। (iv) कुछ बैंकों ने अपने बढ़ते हुये व्यय की पूर्ति करने अथवा शीघ्र धन कमाने के हेतु सट्टे व्यवसाय में या अरक्षित-ऋणों में धन का विनियोजन किया। (v) कुछ बैंक्स भरसक प्रयत्न करने पर भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ नहीं बना सके और जैसे जैसे व्यापारिक मन्दी आई, वैसे ही इनकी युद्धकालीन सम्पन्नता का अन्त होता गया, जिससे इन्होंने अपनी अलाभकर शाखाओं

को भी शनैः शनैः बन्द करना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति में रिजर्व बैंक ने भी बैंकों के विलियन की प्रवृत्ति को रोकने के लिये कुछ प्रयत्न किये। सन् १९४९ के भारतीय बैंकिंग विधान में भी बैंकों के एकीकरण का प्रायोजन किया गया है ताकि अव्यवस्थित, प्रकुशल व कमजोर बैंकों का मजबूत व सुदृढ़ बैंकों के साथ एकीकरण किया जा सके और भारतीय बैंकिंग में पाई जाने वाली हानिकारक प्रतियोगिता का अन्त हो जाये।

बैंकों के एकीकरण के लाभ व दोष

एकीकरण के लाभ (Advantages of Amalgamation)—बैंकों के एकीकरण से अनेक लाभ प्राप्त हो सकते हैं—*(i) प्रबन्ध का केन्द्रीकरण और प्रबन्ध-व्यय में कमी*—बैंकों के एकीकरण से इनके प्रबन्ध का केन्द्रीकरण हो जाता है जिससे न केवल कुशलता में वृद्धि होती है वरन् प्रबन्ध-व्यय में मितव्ययिता आती है। परिणामतः बैंकों के साधन दृढ़ हो जाते हैं और इनका आकार भी बढ़ जाता है। (ii) छोटे बैंकों को कुशल कर्मचारियों की सेवाएं प्राप्त हो जाती हैं:—जब छोटे-छोटे बैंकों का किसी बड़े बैंक से एकीकरण हो जाता है, तब इन छोटे-छोटे बैंकों को कुशल व अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। परिणामतः इन छोटे-छोटे बैंकों की उपयोगिता बढ़ जाती है और बड़े बैंकों को भी शाखा-बैंकिंग (Branch Banking) प्रणाली के सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन बड़े बैंकों में आर्थिक संकट का सामना करने की अधिक शक्ति आ जाती है। (iii) ब्याज की वृद्धि में रोक:—जबकि देश में छोटे-छोटे बैंक होते हैं, तब इनमें आपस में ब्याज की दर में वृद्धि करके जमा पूंजी आकर्षित करने के लिए प्रतियोगिता हुआ करती है जिससे इन बैंकों की आर्थिक स्थिति क्षीण हो जाती है। एकीकरण से यह लाभ होता है कि बैंकों में आपस में इस प्रकार की गला-काट प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है। (iv) बड़े पैमाने के लाभ:—एकीकरण से बड़े-बड़े बैंकों की स्थापना सम्भव होती है जिससे ये बैंक बड़े पैमाने के सभी लाभ प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। (v) विशेषज्ञों की नियुक्ति सम्भव होती है:—एकीकरण से बैंकों का संगठन विशाल हो जाता है। इस स्थिति में बैंकों के लिये कुशल कर्मचारियों एवं विशेषज्ञों की नियुक्ति करना सम्भव हो जाता है जिससे बैंकों का माम एवं व्यवसायिक कुशलता दोनों में ही

> **बैंकों के एकीकरण के लाभ हैं—**
>
> १. बैंकों के एकीकरण से इनके प्रबन्ध का केन्द्रीकरण हो जायगा जिससे इनके प्रबन्ध व्यय में कमी हो जायगी।
> २. छोटे-छोटे बैंकों को कुशल कर्मचारियों की सेवाएं प्राप्त हो जायेंगी।
> ३. ब्याज की वृद्धि में रोक होगी।
> ४. बैंकों को बड़े पैमाने के लाभ प्राप्त हो सकेंगे।
> ५. बैंकों में विशेषज्ञों की नियुक्ति सम्भव हो सकेगी।
> ६. नकद-कोषों के उपयोग में *मितव्ययिता होगी।*
> ७. बैंकों की जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जायगा।
> ८. बैंकों पर नियन्त्रण में सुविधा होगी।

वृद्धि हो जाती है। (vi) नकद कोषों के उपयोग में मितव्ययिता —जब बैंक्स छोटे-छोटे होते हैं, तब इनमें से प्रत्येक को अपने पास पर्याप्त मात्रा में नकद-कोष रखना पड़ता है। परन्तु एकीकरण हो जाने पर इन बैंकों के नकद-कोषो के उपयोग में मितव्ययिता हो जाती है क्योंकि किसी एक शाखा में निधि (Fund) की कमी हो जाने पर इसे दूसरी शाखाओं से मगाकर पूरा किया जा सकता है। (vii) बैंकों की जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है —एकीकरण का यह भी लाभ है कि बैंकिंग व्यवसाय में जो कुछ भी जोखिम होती है उसका भौगोलिक वितरण हो जाता है अर्थात् जब कभी किसी क्षेत्र विशेष में कोई आर्थिक सकट उत्पन्न हो जाता है तब इसका प्रभाव समस्त अर्थ व्यवस्था पर बहुत ही कम पड़ने पाता है। (viii) बैंकों पर नियन्त्रण की सुविधा .—छोटे-छोटे अनेक बैंकों के स्थान पर जब एकीकरण से कुछ थोड़े से ही बैंको की स्थापना हो जाती है, तब केन्द्रीय बैंक को इन बैंको के निरीक्षण व नियन्त्रण में बहुत सुविधा हो जाती है जिससे मुद्रा-बाजार में ऋण देने की नीति में समानता अथवा ब्याज की दरों में समानता आ जाती है और बैंकिंग-व्यवसाय की कुशलता बढ़ जाती है।

<u>एकीकरण से हानियाँ</u> (Disadvantages of Amalgamation) —एकीकरण से यद्यपि अनेक लाभ हैं परन्तु इसमें कुछ दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं —(i) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है —एकीकरण से आर्थिक स्रोतो अथवा आर्थिक शक्ति का भी कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीकरण हो जाता है जिससे जनता के शोषण (Exploitation) की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। (ii) भ्रष्टाचार व सट्टे व्यवहारों की सम्भावना —एकीकरण से बैंकिंग कलेवर में अत्यधिक विस्तार भ्रष्टाचार तथा सट्टे-व्यवहारो के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। (iii) बेरोजगारी की सम्भावना —एकीकरण से कर्मचारियों की छटनी की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है जिससे बेकारी के फैलने का डर उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इस तर्क में अधिक सत्यता प्रतीत नहीं होती है क्योंकि जब कि एक ओर अलाभकर शाखाएं बन्द होंगी तब दूसरी ओर ऐसे क्षेत्रों में जहाँ बैंकिंग सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ पर नई नई शाखाओं की स्थापना की जायगी। परिणामत एकीकरण से बेरोजगारी की सम्भावना बहुत कम होती है। (iv) शाखा बैंकिंग के दोष —एकीकरण में शाखा-बैंकिंग प्रणाली के सभी दोष होते हैं।

भारत मे बैंकों का एकीकरण
(Amalgamation of Banks of India)

अन्य देशो की भाँति भारत में भी बैंकों में एकीकरण की प्रवृत्ति बहुत समय से पाई जाती है। (i) भारत मे एकीकरण का सबसे पहला उदाहरण सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना का है। (ii) रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इस बैंक ने बैंकिंग-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए बैंको के एकीकरण में बहुत सहायता दी है। सन् १९३७ में इस बैंक की सहायता से ही क्वीलोन बैंक तथा त्रावनकोर नेशनल बैंक का एकीकरण हुआ और त्रावनकोर नेशनल एण्ड क्वीलोन बैंक की स्थापना हुई। परन्तु दूसरे महायुद्ध के पश्चात् देश में इस प्रकार की बैंकिंग दशाएं उत्पन्न हो गई कि इनसे बैंको के एकीकरण को बहुत प्रोत्साहन मिला। (iii)

सन् १९४९ में रिजर्व बैंक की सहायता से कोमिला बैंकिंग कारपोरेशन लि० में दी न्यू स्टेन्डर्ड बैंक का समावेश हुआ। (iv) बंगाल के विभाजन [redacted] पश्चात् सन् १९५० में चार बैंकों—कोमिला बैंकिंग कॉरपोरेशन, कोमिला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बंगाल सैन्ट्रल बैंक को मिलाकर युनाईटिड बैंक ऑफ इण्डिया लि० का निर्माण किया गया। (v) भारत सरकार ने सन् १९५० में भारतीय बैंकिंग विधान में इस प्रकार के संशोधन किये कि समुचित एवं वांछित एकीकरण को प्रोत्साहन मिले। सन् १९५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलियन हुआ। (vi) सन् १९५२ मे राजस्थान के तीन बैंक—दी बैंक ऑफ जयपुर, दी बैंक ऑफ बीकानेर तथा दी बैंक ऑफ राजस्थान को मिलाकर दी राजस्थान बैंक लिमिटेड मे परिवर्तित कर दिया गया। (vii) सरकार की एक नई योजना के अनुसार लगभग ४०० छोटे-छोटे बैंकों को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में मिलाया जायगा ताकि देश को बैंकों के एकीकरण के लाभ उपलब्ध हो सकें। अतः यह स्पष्ट है कि इस समय देश में बैंको के एकीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है और रिजर्व बैंक ने इस कार्य में बहुत सहायता दी है।

भारतीय बैंकिंग का भविष्य
(Future of Indian Banking)

भारत एक बहुत ही विस्तृत देश है, इसमें प्रचुर अविकसित प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं और देश के आर्थिक विकास के लिये सरकार द्वारा योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। इस स्थिति में भारतीय बैंकिंग का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होता है। रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने, इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण तथा बैंकिंग कम्पनी विधान के बन जाने और विभिन्न प्रकार के औद्योगिक वित्त निगमों की स्थापना के कारण देश में बैंकिंग के विकास की सम्भावनायें बहुत बढ़ गई हैं। यह आशा की जाती है कि जैसे-जैसे कर्मचारियों के शिक्षण द्वारा उनकी कुशलता मे वृद्धि होगी, वैसे ही वैसे भारतीय बैंकिंग का भी विकास दृढ़ आधार पर होता चला जायेगा।

परीक्षा–प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

1. What were the issues involved in the nationalisation of the Imperial Bank of India? Do you favour nationalisation of commercial banking in India? (1956 S)

Agra University, B. Com.

1. What are the different types of banks working in India? Explain their special features. (1958) 2. What important changes have taken place in the banking organisation in India in recent years and why? *(1956 S) 3. Describe the developments that have taken place in the* banking system in India since 1926 and discuss their effects. (1956 S)

Allahabad University, B. Com.

1. Do you consider the present banking facilities in India to be adequate for her commercial, agricultural and industrial development? (1957) 2. "The number of banks that have failed within the last 50 years is sufficient to show that to be a good banker requires qualities as rare and as important as those which are necessary to attain eminence

in any other pursuits" Examine carefully this statement and show what essential qualifications a bank manager should possess (1957)
3. Examine critically the arguments for and against nationalisation of commercial banking in India. How far has nationalisation of the Imperial Bank of India been a step in the right direction? (1956)

Gorakhpur University, B. Com.

1. Examine the case for nationalisation of commercial banking in India (Pt II 1959)

Rajputana University, B A. & B Sc

1 Discuss the main trends in the development of Indian banking since 1947 and point out their lesson for the future (1956)

Rajputana University, B Com

1. Examine the case for the nationalisation of commercial banking in India (1957)

Vikram Univerity, B Com

1 Describe the defects of Indian Banking Organisation Suggest suitable lines of reform and future banking developments (1959)

अध्याय १०

भारतीय बैंकिंग-विधान

(Banking Legislation in India)

भारत में बैंकिंग विधान की आवश्यकता (Need for Banking Legislation in India)—बीसवीं शताब्दी मे बैंकिंग विधान की आवश्यकता सभी देशों में अनुभव हुई है। इससे पहले स्वर्ण मान की स्वय-चालक प्रकृति के कारण विभिन्न देशो में साख का अत्यधिक प्रसार नही होने पाता था बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे बैंक दर नीति काफी सप्रभावी थी जिससे साख-निर्माण नियन्त्रित हो जाता था। परन्तु स्वर्ण-मान का अन्त तथा बैंक दर की सप्रभाविकता मे कमी हो जाने से एक ऐसे बैंकिंग विधान की आवश्यकता अनुभव हुई जिससे न केवल देश में समुचित बैंकिंग का विकास हो सके वरन् देश में साख के निर्माण पर उचित नियन्त्रण रखा जा सके। इसके अतिरिक्त भारत में एक समुचित बैंकिंग-विधान की आवश्यकता के अन्य कई और महत्वपूर्ण कारण भी थे—(1) भारतीय बैंकिंग के प्रारम्भिक काल से ही समय-समय पर अनेक बैंक फेल हुए हैं। बैंकिंग का विकास एव विस्तार सुदृढ आधार पर नहीं होने पाया है। कुछ बैंकों ने मन चाहे तरीके से अपनी शाखाएँ खोलीं जिनमें से अधिकाश शाखाएँ बाद में अलाभकर सिद्ध हुई। आरम्भ में देश के बैंकिंग व्यवसाय को नियन्त्रित करने के लिये केवल सन् १८८१ का निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेन्ट्स एक्ट (Negotiable Instruments Act, 1881) तथा सन् १९१३ का इण्डियन कम्पनीज एक्ट (Indian Companies Act,

1913) थे, परन्तु ये एक्ट्स भारतीय बैंकिंग को नियन्त्रित करने में असफल रहे। इसीलिये बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश में एक ऐसे बैंकिंग-विधान की आवश्यकता समझी गई जिसके द्वारा बैंकिंग का समुचित विकास हो सके। (ii) देश में देशी बैंकर्स तथा मिश्रित पूँजी के बैंक्स में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। यह प्रतिस्पर्धा देश-हित में नहीं है, विशेषकर जबकि देश में बैंकिंग सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। बैंकिंग की उक्त दोनों प्रणालियों में सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु देश में एक समुचित बैंकिंग-विधान की आवश्यकता है। (iii) सन् १९३५ के रिजर्व बैंक एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को जो अधिकार प्राप्त हुये थे, वे अपर्याप्त थे जिसके कारण रिजर्व बैंक सरकार की मुद्रा, साख तथा विदेशी विनिमय की नीति को ठीक प्रकार से कार्यान्वित नहीं कर सका। अतः यह अनुभव किया गया कि रिजर्व बैंक अपने कार्यों में तभी सफल हो सकता है जबकि उसे एक बैंकिंग विधान द्वारा विस्तृत अधिकार सौंपे जायें। इन सब कारणों से देश में बैंकिंग का विकास जनहित में होने के लिये एक बैंकिंग-विधान की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की गई।

<u>भारत में बैंकिंग-विधान का इतिहास</u> (*History of Banking Legislation in India*):—(अ) आरम्भ में देश में बैंकिंग व्यवसाय को नियन्त्रित करने के लिये केवल सन् १८८१ का निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेन्ट्स एक्ट (Negotiable Instruments Act) तथा सन् १९१३ का इण्डियन कम्पनीज एक्ट (Indian Companies Act 1913) ही थे, परन्तु ये बैंकिंग व्यवसाय पर उचित नियन्त्रण करने में असफल ही रहे। (आ) समय-समय पर अनेक बैंक फेल हुये। बैंकों के फेल हो जाने के कारणों का विश्लेषण करते हुये तथा इस स्थिति में सुधार करने के हेतु सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee, 1931) ने सर्वप्रथम देश में *एक पृथक् बैंकिंग-विधान की सिफारिश की थी।* परन्तु सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार नहीं किया वरन् इसने १९३६ में इण्डियन कम्पनीज एक्ट में संशोधन (Amendment) किया और इसमें बैंकिंग कम्पनीज सम्बन्धी कुछ धाराएँ जोड़ दी। सन् १९३६ के इण्डियन कम्पनीज (संशोधन) एक्ट की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं:— (i) इस एक्ट में बैंक व बैंकिंग कम्पनी की परिभाषा दी गई है। इस एक्ट के अनुसार बैंकिंग कम्पनी वह है जिसका मुख्य कार्य-व्यवसाय जनता से रुपये को चालू खाते तथा अन्य ऐसी जमाओं के रूप में स्वीकार करना है जो कि चैक, ड्राफ्ट या आदेश (आज्ञा) द्वारा निकाली जा सकती हैं। (ii) प्रत्येक बैंक को एक सचित कोष बनाना होगा जिसमें *वह अपने लाभ का कम से कम २० प्रतिशत भाग प्रति वर्ष हस्तान्तरित करेगा, जब तक* कि संचित-कोष बैंक की परिदत्त-पूँजी (Paid-up Capital) के बराबर नहीं हो जाये। (iii) प्रत्येक बैंक की प्राप्त पूँजी कम से कम ५०,००० रुपये होनी चाहिये, जो उसे अंशों (*Shares*) *को बेचकर प्राप्त करनी चाहिये।* (*iv*) *भविष्य में किसी भी बैंकिंग कम्पनी* का संचालन मैनेजिंग एजेन्ट्स नहीं कर सकते हैं। (v) प्रत्येक बैंक (सदस्य बैंक को *छोड़कर*) *को रिजर्व बैंक के पास अपनी मांग देन* (*Demand Liabilities*) का ५ प्रतिशत तथा समय देन (Time Liabilities) का १½ प्रतिशत रखना आवश्यक रक्खा गया। यह भी अनिवार्य कर दिया गया कि प्रत्येक महीने प्रत्येक बैंक रजिस्ट्रार को

अपनी देय तथा नकद-कोष का लेखा भेजेगा। (vi) बैंकिंग कम्पनी को किसी गौण कम्पनी के अंश प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया, जब तक कि गौण कम्पनी कोई ऐसा व्यवसाय न करती हो जो मुख्य कम्पनी के ही कार्य से सम्बन्धित हो। (vii) कोई भी कम्पनी थोड़े समय के लिये भुगतान स्थगित कर सकती है (Moratorium) यदि रजिस्ट्रार इसकी सिफारिश करता है और अदालत को, यह विश्वास है कि कम्पनी का संकट अल्प-कालीन है। (viii) कोई भी बैंक, एक्ट में बैंक की परिभाषा में दिये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा। (ix) कोई भी बैंक अपनी प्राप्त पूँजी के ४० प्रतिशत से अधिक रकम को किसी भी एक कम्पनी में नहीं लगा सकेगा। (इ) सन् १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ। इस एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को दिये गये अधिकारों ने भारत में बैंकिंग-विधान के अभाव को कुछ अंश तक दूर कर दिया। इस एक्ट में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि सभी बैंकों को रिजर्व बैंक के पास अपनी जमा का एक निश्चित प्रतिशत रखना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को बैंकिंग-विधान के सम्बन्ध में सुझाव देने का भी आदेश दिया गया। (ई) सन् १९३४ का रिजर्व बैंक एक्ट तथा सन् १९३६ का इण्डियन कम्पनीज (संशोधन) एक्ट पास होने पर भी बैंकिंग कम्पनियों के कार्यों में दिन-प्रतिदिन नई-नई कठिनाइयाँ आती गईं बैंकों के कार्यों में बेईमानी व कुप्रबन्ध के कारण बैंकों के फेल होने का वेग बहुत बढ़ गया। रिजर्व बैंक ने इस समस्त स्थिति की विस्तृत जाँच की और सन् १९३९ में भारत सरकार के सामने एक स्वतन्त्र बैंकिंग-विधान बनाने का प्रस्ताव रख दिया। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने के कारण भारत सरकार इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर सकी। (च) रिजर्व बैंक की सन् १९३९ की कुछ सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४३-४४ में इण्डियन कम्पनीज (द्वितीय संशोधन) एक्ट पास किया क्योंकि इस समय तक कम्पनियों के प्रबन्ध का ढाँचा इतना बिगड़ चुका था कि इसमें आन्तरिक सुधार आवश्यक हो गया। इस संशोधन के अनुसार जिस कम्पनी के साथ बैंकिंग बैंकर शब्द का प्रयोग होता था उसे बैंकिंग कम्पनी घोषित कर दिया गया चाहे इस कम्पनी का कार्य ऐसी जमायें लेना जो चैक द्वारा निकाली जा सकें, हो या नहीं हो। इस तरह बैंकिंग कम्पनी की इस नई परिभाषा से बैंकिंग कम्पनी तथा अन्य कम्पनियों का भेद स्पष्ट हो गया। (छ) युद्ध-काल में मुद्रा-प्रसार के कारण भारतीय बैंकिंग में बहुत तेजी से प्रसार हुआ। कुछ तो समय-समय पर बनाये गये बैंकिंग-सम्बन्धी नियमों की अस्पष्टता के कारण और कुछ युद्ध-कालीन परिस्थितियों के कारण, युद्ध-कालीन भारतीय बैंकिंग में अनेक दोष उत्पन्न हो गये ("भारतीय बैंकिंग—इसका *विकास एवं समस्याएं*" नामक अध्याय पढ़िए)। भारतीय बैंकिंग के दोषों को दूर करने के लिये रिजर्व बैंक ने सन् १९३९ में एक ड्राफ्ट बिल तैयार किया था। अब उसने इस ड्राफ्ट बिल को दोहराया तथा सरकार के सामने इसे पास करने के लिए पुनः रक्खा। यद्यपि सरकार ने इस बिल को विधान सभा (Legislative Assembly) में पेश किया था, परन्तु चुनावों (Elections) तथा गवर्नर जनरल के निश्चय के कारण, इस बिल

को स्थगित कर दिया गया। यह अवश्य है कि समय-समय पर जारी किये गये ऑर्डीनेंसो (Ordinances) द्वारा सरकार ने रिजर्व बैंक को बैंकों की अव्यवस्था एवं दोषो को दूर करने के लिये विशेष अधिकार दिए। रिजर्व बैंक ने अपने सन् १६४४ के बिल को कुछ संशोधन करके सन् १६४६ में पुनः भारत सरकार के सामने रक्खा, परन्तु यह बिल भी इस समय पास नही हो सका। (ए) अन्ततः २२ मार्च सन् १६४८ को एक नया बैंकिंग बिल पेश किया गया, जो १६ मार्च सन् १६४६ से लागू किया गया है। इस तरह जो प्रस्ताव सन् १६३६ मे रक्खा गया था तथा तब से सन् १६४८ तक जितनी भी आज्ञायें समय-समय पर जारी की गई थी, उन सबको एक सम्मिलित एक्ट के रूप में सन् १६४६ में पास कर दिया गया। आजकल मुख्यतः इस एक्ट की विभिन्न धाराओं द्वारा भारतीय बैंकों का संचालन एवं नियन्त्रण होता है।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १६४६
(Banking Companies Act of 1949)

<u>प्राक्कथन</u>:—सन् १६४६ मे भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट पास हुआ था। यह एक्ट जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़ कर भारत के सभी राज्यों मे स्थित बैंकों (सहकारी बैंकों को छोड़कर) पर लागू होता है। इस एक्ट की कुछ मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं:—

(१) <u>उद्देश्य</u> (Objects):—इस एक्ट का मुख्य उद्देश्य भारतीय बैंको के कुछ महत्वपूर्ण दोषों को दूर करना है। बैंकों के वे दोष जिनको दूर करने के लिए यह एक्ट पास किया गया था, इस प्रकार हैं:— (i) बैंक्स अचल सम्पत्ति की आड़ पर अनुपात से अधिक ऋण दे दिया करते थे। (ii) जिन कम्पनियों अथवा व्यापारों में बैंक के संचालकों या उनके सम्बन्धियों का स्वार्थ होता था, उन्हें अपर्याप्त प्रतिभूति (Security) पर ही ऋण दे दिया जाता था। (iii) बैंकों ने और विशेषकर युद्ध-काल में, अपनी शाखायें अत्यधिक सख्या मे खोली थी। इनमें से अधिकांश शाखाये अलाभकर थी। (iv) जिन व्यापारों में बैंक के संचालकों का स्वार्थ होता था उनमें बैंक का धन बहुत बड़ी मात्रा में फंसा दिया जाया करता था। (v) बैंक के प्रबन्धक अथवा संचालक बैंक के धन का उपयोग करके अन्य औद्योगिक कम्पनियो पर अधिकार एवं नियन्त्रण प्राप्त कर लिया करते थे। यह बैंक के धन का दुरुपयोग था। (vi) कुछ बैंक्स बैंक का चिट्ठा इस प्रकार बनाया करते थे कि इससे उनकी वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होने पाता था और बैंक्स अपनी कमजोरियों को छुपाने में सफल हो जाया करते थे। (vii) छोटे-छोटे बैंक्स कभी-कभी अपने आर्थिक साधनों से अधिक मात्रा में ऋण प्रदान किया करते थे। इस तरह भारतीय बैंकिंग एक्ट १६४६ [redacted] बन जाने से भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ क्योंकि अब तक के बैंकिंग विधान में जो कुछ अस्पष्टता थी अथवा दोष थे उनका इस एक्ट द्वारा बहुत कुछ निवारण हो गया।

(२) <u>बैंक की परिभाषा</u> (Definition of a Bank):—इस एक्ट के पूर्व बैंक अथवा बैंकिंग सम्बन्धी कोई भी परिभाषा स्पष्ट एवं समुचित नही थी। इस एक्ट द्वारा सर्व प्रथम इस दोष का निवारण किया गया है। "बैंक उसे कहते हैं जिसमें जनता से

उधार देने के लिए अथवा विनियोग के लिए निक्षेप (Deposits) स्वीकार किए जायँ तथा जो धनादेश (Cheques), विकर्ष (Draft) अथवा आदेश (Order) अथवा अन्य प्रकार से निकाले जा सकें एवं माँग पर भुगताये जायें।" कोई भी कम्पनी इस व्यवसाय को तब ही कर सकती है जबकि वह अपने नाम के सामने बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग शब्द का प्रयोग करती है और इस एक्ट के अनुसार बैंकिंग कम्पनी के अतिरिक्त और कोई दूसरी कम्पनी अपने नाम के साथ बैंक, बैंकर या बैंकिंग शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती है। अतः एक बैंक वह कम्पनी है जो भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार स्थापित हुई हो और बैंकिंग का व्यवसाय करती हो। यह स्मरण रहे कि ऐसी औद्योगिक कम्पनियां जो अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये निक्षेपों (Deposits) को स्वीकार करती हैं, इस एक्ट के अनुसार वे बैंकिंग कम्पनी नहीं हैं।

(३) बैंक का व्यवसाय (Banking Business)—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में एक ऐसी विस्तृत सूची दी गई है जिसमें उन सब व्यवसायों का उल्लेख है जो एक बैंक कर सकता है—रुपया लेना व देना, हुंडी व विनिमय बिल्स का भुनाना, विनिमय साध्य साख-पत्रों का जमा करना, सोने-चांदी तथा विदेशी विनिमय पत्रों का क्रय विक्रय करना, साख प्रमाण-पत्रों को जारी करना, सुरक्षा (Safe Custody) के लिये बहुमूल्य वस्तुओं को रखना, स्टॉक-शेयर्स-डिबेन्चर व अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों (Securities) का लेन-देन करना या अन्य व्यक्तियों की ओर से क्रय विक्रय करना, व्यापारिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना, ट्रस्टों के लिए उत्तरदायी होना, कमीशन एजेन्ट व गारन्टी देने का कार्य करना आदि। भुगतान में आई हुई सम्पत्ति के अतिरिक्त बैंक्स अन्य किसी भी प्रकार की सम्पत्ति या माल का लेन-देन न तो अपने नाम से और न दूसरे के नाम से कर सकेंगे अर्थात् बैंक्स को प्रत्यक्ष व्यापार का अधिकार नहीं है। एक्ट की धारा ६ के अनुसार कोई भी बैंक ७ वर्ष से अधिक अवधि के लिए, बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के, किसी भी प्रकार की अचल सम्पत्ति को, जो बैंक के स्वयं के कार्य में नहीं आ रही है, नहीं रख सकते हैं। यह स्मरण रहे कि इस एक्ट की धारा १९ के अनुसार कोई भी बैंकिंग कम्पनी उत्तर-साधक (Executor) के कार्य या ट्रस्टी के कार्य या धरोहर के कार्य के अतिरिक्त कोई सहायक कम्पनी (Subsidiary Company) स्थापित नहीं कर सकती है। एक बैंकिंग कम्पनी, किसी अन्य कम्पनी की प्राप्त पूंजी के ३० प्रतिशत से अधिक या अपनी स्वयं की परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) के ३० प्रतिशत से अधिक रकम (जो भी कम हो) के शेयर्स नहीं खरीद सकती है और जिस कम्पनी के प्रबन्ध में बैंकिंग कम्पनी के संचालक या प्रबन्धक का स्वार्थ हो, बैंक उसके अंश (Shares) नहीं खरीद सकता है।

(४) बैंकों का प्रबन्ध (Management of the Banks)—इस एक्ट की धारा १० के अनुसार बैंक्स के प्रबन्ध के लिये प्रबन्धकर्ताओं अर्थात् मैनेजिंग एजेन्ट्स (Managing Agents) की नियुक्ति नहीं की जा सकती है। बैंक का संचालक ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता है जो अन्य किसी दूसरी कम्पनी का भी संचालक है या जो अन्य किसी दूसरे व्यवसाय में लगा हुआ है या जो पहले से ही अन्य किसी बैंक का संचालक

है। कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों की भी नियुक्ति नहीं करेगा जो कभी अदालत द्वारा दिवालिया (Insolvent) घोषित कर दिया गया है या जो किसी फौजदारी के अपराध में जेल काट चुका है या जिसका प्रतिफल (Remuneration) कम्पनी के लाभ पर कमीशन या लाभ के कुछ भाग के रूप में दिया जाता है या जिसे पारितोषण (Remuneration) कम्पनी के अंश (Shares) के आधार पर दिया जाता है।

(५) बैंक्स की परिदत्त पूंजी तथा निधि (Paid-up Capital and Reserve Fund of the Banks):—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ में बैंकों के साधनों (Resources) के सम्बन्ध में अनेक धारायें हैं। जो बैंकिंग कम्पनी विधान पास होने के पहले से कार्य कर रही थी, वह विधान पास होने के तीन साल पश्चात् तथा विधान पास होने के पश्चात् स्थापित कोई भी बैंकिंग कम्पनी उस समय तक कार्य नहीं कर सकती जब तक कि उसकी पूंजी तथा निधि का मूल्य इस प्रकार से नहीं हो—(i) यदि किसी बैंक का कार्य एक से अधिक राज्य में है, तब इसकी दत्त पूंजी (Paid-up Capital) तथा निधि (Reserves) कम से कम ५ लाख रुपया होनी चाहिये। (ii) यदि कोई बैंक बम्बई या कलकत्ता या दोनों में कार्य करता है तब इसकी दत्त पूंजी तथा निधि मिला कर कम से कम १० लाख रुपए होनी चाहिये। (iii) यदि किसी बैंक का कार्य केवल एक राज्य (State) में है और कलकत्ता व बम्बई में कार्य नहीं होता है, तब ऐसे बैंक के प्रमुख कार्यालय की दत्त पूंजी व रिजर्व मिला कर एक लाख रुपये तथा अन्य प्रत्येक कार्यालय की इस प्रकार की रकम १० हजार रुपये (यदि ये कार्यालय एक ही जिले में हैं) या २५ हजार रुपये (यदि ये कार्यालय अलग-अलग जिलों में हैं) होनी चाहिये। जिस बैंक का केवल एक ही कार्यालय एक ही स्थान पर होगा, उसके लिये उक्त रकम ५० हजार रुपये होनी चाहिए। (iv) जब किसी बैंक के समस्त कार्यालय एक ही राज्य में होते हैं और कुछ कार्यालय कलकत्ते या बम्बई में हैं, तब ऐसे बैंक की दत्त एवं रिजर्व पूंजी मिलाकर कम से कम ५ लाख रुपये की होनी चाहिए और कलकत्ते व बम्बई से बाहर के किसी भी कार्यालय में २५ हजार रुपये के मूल्य की पूंजी व रिजर्व रखना आवश्यक है। (v) ऐसे बैंक्स जो भारत से बाहर रजिस्टर्ड हुये हैं, परन्तु भारत में व्यवसाय करते हैं, तब इनकी दत्त पूंजी और रिजर्व कोष मिला कर कम से कम १५ लाख रुपये होनी चाहिए और यदि ऐसे बैंक की शाखाएँ बम्बई व कलकत्ते में भी हैं, तब उक्त रकम कम से कम २० लाख रु० होनी चाहिये। यह रकम रिजर्व बैंक में जमा कर दी जायगी ताकि यदि ऐसा बैंक टूट जाय, तब रिजर्व बैंक में जमा पूंजी से सर्व प्रथम भारतीयों का भुगतान दिया जा सके।

(६) बैंकों की पूंजी तथा मतदान का अधिकार (Capital of Banks and the Right of Voting):—बैंकिंग एक्ट के अनुसार किसी भी बैंक की प्रार्थिक पूंजी (Subscribed Capital) उसकी अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) के आधे से किसी भी प्रकार कम नहीं होनी चाहिए और इसी तरह बैंक की परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) उसकी प्रार्थिक पूंजी के आधे से किसी भी तरह कम नहीं होनी चाहिये। यदि कोई बैंक अपनी पूंजी बढ़ाना चाहता है तब दो वर्ष के अन्दर वह इन शर्तों को पूरा करके

तथा रिजर्व बैंक की आज्ञा प्राप्त करके, अपनी पूंजी बढ़ा सकता है। प्रत्येक बैंक अपनी पूंजी साधारण हिस्सों (Ordinary Shares) के रूप में या साधारण हिस्सों तथा उन पूर्वाधिकार हिस्सों (Preferential Shares) के रूप में रखेगा जो १ जुलाई सन् १९४४ से पहले बेचे गये हैं। प्रत्येक हिस्सेदार (Shareholder) का मतदान अधिकार (Right of Voting) उसके द्वारा दी गई पूंजी के अनुपात में होगा, परन्तु किसी भी अंशधारी को कुल मतदान अधिकार के ५ प्रतिशत से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होगा। कोई भी बैंक अपनी अपरिदत्त-पूंजी (Un-called Capital) की जमानत पर ऋण आदि नहीं ले सकेगा।

(७) बैंकों के लाभ-बटवारे पर प्रतिबन्ध (Restrictions on the Profit Distribution of the Banks)—एक्ट धारा १७ के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वह लाभ का कम से कम २० प्रतिशत भाग प्रति वर्ष सचित कोष (Reserve Fund) में उस समय तक जमा करेगा जब तक कि यह कोष बैंक की परिदत्त पूंजी के बराबर नहीं हो जाय। लाभ का निर्धारण किस प्रकार होता है ? यह भारतीय कम्पनीज एक्ट १९१३ की धारा ८७ C (३) के अनुसार निर्धारित होता है—यह वह लाभ है जो कि ऋणों पर ब्याज तथा कटौती घटाने के पश्चात् बचता है, किन्तु आय-कर या डिबेन्चर्स पर ब्याज देने के पहले रहता है। इस लाभ को वास्तविक लाभ (Net Profit) कहते हैं।

(८) बैंक्स की रोक-निधि (Cash Reserves of the Banks)—एक्ट की धारा १८ के अनुसार प्रत्येक गैर-अनुसूचित बैंकिंग कम्पनी (Non Scheduled Banks) को अपनी माग देय (Demand Liabilities) का ५% और काल देय (Time Liabilities) का २% नकद-कोष अपने पास या रिजर्व बैंक के पास या दोनों जगह रखना पड़ेगा। अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) के लिये इस प्रकार की जमा रखने की व्यवस्था पहले से ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में कर दी गई थी। प्रत्येक बैंक को प्रत्येक माह के अन्तिम शुक्रवार को इस आशय का एक विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ेगा।

(९) बैंकों की सम्पत्ति (Assets of the Banks)—एक्ट में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि सम्पत्ति में तरलता (Liquidity) रह सके। धारा २४ के अनुसार, एक्ट लागू होने के २ वर्ष के पश्चात् प्रत्येक बैंक को प्रत्येक व्यापारिक दिन अपनी कुल काल-जमा (Time Deposits) तथा माग जमा (Demand Deposits) का २०% भाग भारत में नकद रुपया, सोना या अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों (Approved Securities) के रूप में रखना पड़ेगा। रिजर्व बैंक के पास जो नकद-धन या सिक्यूरिटीज होंगी, वे भी नकद धन समझी जायेंगी। इस धारा का मुख्य उद्देश्य यह है कि बैंक्स अपने पास अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त धन तरल रूप में रक्खें। इस व्यवस्था द्वारा छोटे छोटे बैंकों का एक बहुत महत्वपूर्ण दोष दूर हो गया—अब ये बैंक्स अपनी सम्पत्ति की तरलता को त्याग कर अपने व्यवसाय में वृद्धि नहीं कर सकेंगे। एक्ट की धारा २५ के अनुसार प्रत्येक बैंक को हर तीसरे महीने

अन्तिम दिन अपने कुल काल-देय एवं माँग-देय को कम से कम ७५% के बराबर सम्पत्ति भारत में रखनी पड़ेगी। इस प्रकार की सम्पत्ति (Assets) में केवल उन्हीं प्रतिभूतियों (Securities), प्रतिज्ञा-अर्थ-पत्र (Promissory Notes) तथा विपत्रों (Bills) का समावेश होगा जिन्हें रिजर्व बैंक भुना (Discount) सकता है या जिनका वह क्रय-विक्रय कर सकता है या जिनके आधार पर वह ऋण दे सकता है आदि। प्रत्येक बैंक को प्रतिमाह या प्रति तीन महीनों में इस आशय का एक विवरण (Statement) रिजर्व बैंक को भेजना पड़ेगा।

(१०) बैंकों की शाखायें (Branches of the Banks)—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना भारत के किसी भी भाग में न तो नई जगह पर अपनी शाखा खोल सकता है और न किसी शाखा को एक स्थान से हटाकर किसी दूसरे स्थान पर ही स्थानान्तरित कर सकता है। ऐसे बैंक जो भारत में रजिस्टर्ड हैं, वे रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना न तो अपना कार्यालय किसी भी देश में स्थापित कर सकते हैं और न अपना वर्तमान कार्यालय ही बदल सकते हैं।

(११) ऋणों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Loans)—एक्ट के अनुसार कोई भी बैंक अपने अंशों की जमानत पर या अपने संचालकों को बिना उचित प्रतिभूति (Security) के ऋण (Unsecured Loans) नहीं दे सकता है। एक बैंक ऐसी किसी फर्म अथवा कम्पनी को भी ऋण नहीं दे सकता है जिसमें उसका कोई भी संचालक हिस्सेदार या मैनेजिंग एजेन्ट या ऋणों की प्राप्ति के लिये जमानतदार है। प्रत्येक बैंक को प्रतिमाह रिजर्व बैंक को एक विवरण भेजना पड़ेगा जिसमें उन अरक्षित ऋणों का वर्णन रहता है जो उन फर्मों एवं कम्पनियों को दिए गये हैं जिनमें बैंक के संचालकों अथवा व्यवस्थापकों का निज स्वार्थ है। यदि रिजर्व बैंक इन ऋणों को बैंक में धन-जमाकर्ताओं के हित के विरुद्ध समझेगा, तब वह उक्त बैंक को उक्त ऋण देने के लिये मना कर देगा। एक्ट की धारा २१ के अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह धन हित में बैंकों की ऋण नीति को निर्धारित कर सकता है और वह बैंकों को यह निर्देश दे सकता है कि वे केवल किन-किन कार्यों के लिये ऋण दे सकते हैं। एक्ट की इस व्यवस्था से साख-नियन्त्रण द्वारा सट्टे कार्यों तथा मूल्यों में वृद्धि पर रोक लगा सकता है।

(१२) बैंकों का एकीकरण (Amalgamation of Banks)—एक्ट की धारा ४४ ए के अनुसार दो या दो से अधिक बैंकिंग कम्पनियों का एकीकरण किया जा सकता है। एकीकरण के हेतु बैंक की साधारण बैठक बुलाई जाती है जिसके सामने एकीकरण की योजना प्रस्तुत की जाती है और जब यह योजना बहुमत से स्वीकृत (Pass) कर दी जाती है, तब बैंक इसे रिजर्व बैंक के पास भेज देता है। रिजर्व बैंक की आज्ञा प्राप्त होने पर एकीकरण की योजना लागू हो जाती है। एकीकरण का प्रस्ताव पास होते समय यदि बैंक के किसी अंशधारी (Shareholder) ने अपना मत एकीकरण की योजना के विरुद्ध दिया है या वह लिखित में सूचना दे देता है कि वह उक्त योजना के विरोध में

है, तब वह बैंक में से अपने शेयर्स वापिस निकाल सकता है और इस प्रकार से निकाले गये शेयर्स का मूल्य रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित किया जाता है।

(१३) न्यायालयों द्वारा बैंकों का निस्तारण (Winding up of the Banks by the Courts)—बैंको के निस्तारण के सम्बन्ध में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में उचित व्यवस्था की गई है। जब कोई बैंकिंग कम्पनी अपने ऋणों का भुगतान नहीं कर सकती तब रिजर्व बैंक की प्रार्थना पर न्यायालय इस बैंक के निस्तारण की आज्ञा दे सकता है। कोई बैंक अपने ऋणों के भुगतान के लिये अयोग्य कब समझा जायगा? एक बैंक ऋण के भुगतान के लिये अयोग्य तब ही समझा जायगा जबकि उसके किसी भी कार्यालय या शाखा पर किये गये कानूनन भुगतान की माग को दो दिन तक अस्वीकार कर दिया जाता है (ऐसे स्थान पर जहां रिजर्व बैंक का कार्यालय है) और ऐसे स्थान पर जहाँ रिजर्व बैंक का कार्यालय नहीं है उक्त माग को पाच दिन तक अस्वीकार कर दिया जाता है अथवा रिजर्व बैंक उक्त बैंको को ऋणों के भुगतान के लिये अयोग्य घोषित कर देता है। रिजर्व बैंक न्यायालय से किसी बैंक के निस्तारण के लिये तब ही प्रार्थना करता है जबकि (अ) केन्द्रीय सरकार उसे ऐसा करने के लिए आदेश देती है, (आ) कोई बैंक निर्धारित समय के अन्दर तरल सम्पत्ति (Liquid Assets) की प्रतिशत की माग को पूरा करने अथवा भारत स्थित प्रचल सम्पत्ति से सम्बन्धित नियमों का पालन करने में असफल रहता है। जिस समय रिजर्व बैंक किसी बैंक के निस्तारण (Liquidation) के लिये प्रार्थना करता है, तब न्यायालय द्वारा रिजर्व बैंक को ही सरकारी निस्तारण (Official Liquidator) नियुक्त किया जाता है। जब तक न्यायालय उचित नहीं समझता तब तक सरकारी निस्तारक के साथ सलाहकारिणी समिति (Advisory Committee) या ऋणदाताओं की सभा की नियुक्ति नहीं की जाती है। न्यायालय द्वारा ही किसी बैंक के समस्त लेन देन का निश्चय किया जाता है और इस सम्बन्ध में उसकी आज्ञा अन्तिम समझी जाती है। बैंकिंग कम्पनीज एक्ट की धारा ४४ के अनुसार कोई भी लाइसेंस प्राप्त बैंक, ऋण चुकाने की अयोग्यता बिना रिजर्व बैंक द्वारा प्रमाणित कराये, स्वेच्छापूर्वक निस्तारण (Voluntary Winding up) नहीं कर सकता है। इस तरह अब किसी भी बैंक का ऐच्छिक निस्तारण नहीं हो सकता है।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) एक्ट १९५० (Banking Companies Amendment Act of 1950)—भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के पास होने के एक वर्ष बाद ही इसमें संशोधन करने की आवश्यकता अनुभव हुई जिससे सन् १९४९ के विधान के कुछ दोष दूर हुये। इस संशोधन की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(1) नई शाखाओं का खोलना तथा शाखाओं का स्थान परिवर्तन—बैंकिंग एक्ट १९४९ में धारा २३ के अनुसार कोई भी बैंक नई शाखाओं को स्थापित अथवा शाखाओं का स्थानान्तरण तब ही कर सकता था जबकि वह रिजर्व बैंक से इसकी पूर्व अनुमति ले लेता था परन्तु इस धारा में यह स्पष्ट नहीं था कि यह धारा केवल भारत स्थित बैंकों के लिये अथवा उनकी भारतीय शाखाओं के लिये थी या यह उनकी विदेशी शाखाओं के लिये भी थी।

अतः इस संशोधन से यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत में अथवा विदेश में नई शाखायें खोलने से पहले या भारत में अथवा विदेश में शाखाओं का स्थानान्तरण करने से पहले रिजर्व बैंक से अनुमति लेना अनिवार्य है। (ii) बैंकों की सम्पत्ति—बैंकिंग एक्ट १९४९ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी, माँग-देय (Demand Liabilities) तथा काल-देय (Time Liabilities) का ७५% भाग सम्पत्ति के रूप में भारत में रखना अनिवार्य था। परन्तु इस १९५० के संशोधन के अनुसार बैंक अब इस ७५% सम्पत्ति से सम्बन्धित तमाम या इसके कुछ भाग की प्रतिभूतियाँ (Securities) व आयात-निर्यात बिल्स आदि भारत के बाहर भी रख सकते हैं। इस संशोधन से "सम्पत्ति" शब्द का अर्थ अधिक विस्तृत कर दिया गया है। (iii) बैंकों का एकीकरण:—बैंकों के एकीकरण को अधिक सुविधाजनक बनाने के हेतु अब रिजर्व बैंक को एकीकरण (Amalgamation) सम्बन्धी योजनाओं पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार दे दिया गया है और सम्बन्धित बैंकों को यह निर्णय मान्य होगा। (iv) बैंकों का निस्तारण (Liquidation):—रिजर्व बैंक को अब यह अधिकार दे दिया गया है कि वह टूटने वाले बैंकों के दोषी व्यक्तियों को दण्डित करे तथा बैंकों का निस्तारण शीघ्रता से कराये। (v) किसी बैंक तथा उसके ऋणदाताओं (Creditors) में तब तक कोई समझौता कार्यान्वित नहीं हो सकेगा जब तक कि रिजर्व बैंक द्वारा इस समझौते को मान्यता प्राप्त नहीं होती है।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) एक्ट १९५३ (Banking Companies Amendment Act of 1953)—सन् १९५२ में यह अनुभव किया गया कि बैंकों के निस्तारण (Liquidation) के सम्बन्ध में जो विधान था वह बहुत कठिन था। इसलिये बैंकों के निस्तारण को सरल, सुविधाजनक एवं कम व्यय वाला बनाने के हेतु सन् १९५३ में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में दोबारा संशोधन किया गया। इस संशोधन की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—(i) छोटे-छोटे जमाकर्ताओं को सुविधा:—सेविंग्स खाते तथा चालू (Current) खातों में जिन जमाकर्ताओं की छोटी-छोटी रकमें होंगी, उन्हें एक निश्चित रकम तक के भुगतान में प्राथमिकता (Priority) दी जायगी। (ii) रकम वसूली:—न्यायालय निस्तारक (Liquidator) की डिग्री को लगान वसूली की विधियों के अनुसार वसूल करने की आज्ञा दे सकता है। (iii) निस्तारक को बैंक के व्यापार के बन्द हो जाने के छः महीने के अन्दर ही न्यायालय को ऋणियों की ऐसी सूची देनी होगी जिनके मामलों का निपटारा न्यायालय को करना होगा। (iv) न्यायालय व सरकार को टूटने वाले बैंकों का रिजर्व बैंक द्वारा निरीक्षण कराने का अधिकार होगा और बैंक के दोषों की सूचना निस्तारक (Liquidator) को दे दी जायगी। (v) न्यायालय आवश्यकता पड़ने पर बैंक के संचालकों की भी जांच करा सकती है और यदि कोई संचालक अयोग्य समझा जाता है तब न्यायालय उसे पांच वर्षों के लिये बैंक का संचालक होने से वंचित कर सकेगा आदि।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अधिकार (Powers of the Reserve Bank of India under the Indian Banking

Companies Act, 1949) —देश में बैंकिंग व्यवस्था को संगठित एवं नियन्त्रित करने के लिये बैंकिंग विधान में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को अनेक अधिकार सौंपे गये हैं। यह विशेषता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि विधान में ५५ धारायें हैं जिनमें से २७ धारायें केवल रिजर्व बैंक के अधिकारों के सम्बन्ध में हैं इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य अधिकार इस प्रकार हैं—(i) बैंकों का निरीक्षण—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ के पास होने से पहले भी रिजर्व बैंक को बैंकों के निरीक्षण का अधिकार था और इसी कारण रिजर्व बैंक तथा बैंकों में घनिष्ट सम्बन्ध रहता था। परन्तु रिजर्व बैंक का निरीक्षण का यह अधिकार बैंकिंग एक्ट पास होने के पश्चात् और भी विस्तृत हो गया है। रिजर्व बैंक अब अनेक कार्यों व कर्तव्यों के पालन एवं उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंकों का निरीक्षण कर सकता है। बैंकिंग एक्ट की धारा ३५ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक किसी समय अपनी इच्छा से अथवा केन्द्रीय बैंक की आज्ञा होने पर किसी बैंक के हिसाब किताब तथा अन्य सम्बन्धित विवरणों का निरीक्षण कर सकता है। निरीक्षण किये जाने वाले बैंक के संचालकों एवं प्रबन्धकों का यह कर्तव्य होगा कि वे रिजर्व बैंक के निरीक्षकों के समक्ष सभी प्रकार के हिसाब-किताब की पुस्तकें तथा अन्य सम्बन्धित पत्र प्रस्तुत करें। यह निरीक्षण न सिर्फ असन्तोषप्रद बैंकों का किया जायगा वरन् इस नये एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक का यह कर्तव्य है कि वह तमाम बैंकिंग कम्पनियों का यथाक्रम निरीक्षण करे ताकि वह बैंकों की कार्य-प्रणाली के दोषों को बतलाकर, उनको दूर करने के उपाय प्रस्तुत कर सके और इस तरह देश में एक स्वस्थ बैंकिंग प्रणाली की स्थापना की जा सके। निरीक्षण के उपरान्त यदि रिजर्व बैंक यह अनुभव करता है कि अमुक बैंक का कार्य जमाकर्ताओं के हित में नहीं हो रहा है तब वह केन्द्रीय सरकार के आदेश से उसे अपना कार्य बन्द करने के लिये आज्ञा दे सकता है या उसे जमा (Deposits) प्राप्त करने से रोक सकता है। (ii) ऋण नीति को नियन्त्रित करने का अधिकार—रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों को नियन्त्रित कर सकता है। यदि रिजर्व बैंक को यह ज्ञात हो जाय कि किसी बैंक की अथवा समस्त बैंकों की ऋण नीति देश हित में नहीं है, तब वह अमुक बैंक अथवा बैंकों की ऋण-नीति को निर्धारित कर सकता है और बैंकों को इस नीति का पालन करना पड़ता है। इस तरह रिजर्व बैंक किसी एक बैंक को अथवा तमाम बैंकों को यह आदेश दे सकता है कि केवल किन किन कार्यों के लिए ऋण दिये जायें, ऋण एवं प्रतिभूति में कितना अन्तर (Margin) हो तथा ब्याज की दर क्या होनी चाहिए। (iii) लाईसेंस प्रदान करना तथा शाखाओं की स्थापना पर नियन्त्रण करना—बैंकिंग एक्ट की धारा २२ के अनुसार कोई भी बैंक अपना बैंकिंग व्यवसाय तब तक आरम्भ नहीं कर सकता जब तक कि वह इसके लिये रिजर्व बैंक से लाईसेंस (Licence) नहीं ले ले। रिजर्व बैंक लाईसेन्स तब ही देगा जबकि वह बैंक का निरीक्षण करके इस बात की सन्तुष्टि कर लेता है कि वह बैंक अपनी तमाम (Deposits) का आवश्यकतानुसार भुगतान करने में समर्थ है अथवा जब वह इस बात को भली प्रकार देख लेता है कि अमुक बैंक की कार्य-पद्धति जन-हित के विरुद्ध नहीं है। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का लाईसेंस नये व पुराने (एक्ट पास होने के ६ माह के अन्दर) अथवा देशी व

विदेशी सभी प्रकार के बैंकों को प्राप्त करना पड़ेगा। जिन शर्तों पर किसी बैंक को लाईसेंस प्रदान किया जाता है, यदि उनका पूर्ण पालन नहीं किया जाय तब रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह लाईसेंस को रद्द कर दे। एक्ट की धारा २३ के अनुसार रिजर्व बैंक से लिखित में आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी बैंक देश में अथवा विदेश में न तो अपनी नई शाखा ही खोल सकता है और न शाखाओं का स्थानान्तरण ही कर सकता है। रिजर्व बैंक इस प्रकार की आज्ञा देने से पहले बैंक का निरीक्षण करके यह मालूम करेगा कि अमुक बैंक की आर्थिक स्थिति कैसी है, उसका प्रबन्ध एवं संचालन किस प्रकार का है, पूंजी एवं साधनों की पर्याप्तता है या नही आदि। इस प्रकार के निरीक्षण से यदि रिजर्व बैंक को यह सन्तोष हो जाता है कि बैंक की नई शाखा जन-हित में रहेगी, तब तो वह नई शाखा खोलने की अनुमति दे देगा वरना नही। (iv) बैंकों का एकीकरण (Amalgamation of the Banks) :—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में बैंकों के एकीकरण की व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में विस्तार से ऊपर लिखा जा चुका है। कोई भी न्यायालय तब तक बैंकिंग कम्पनियों के एकीकरण की योजना को स्वीकृति (Sanction) नहीं दे सकता है, जब तक कि यह योजना रिजर्व बैंक द्वारा प्रमाणित नहीं कर दी जाये। इसी तरह कोई भी बैंक किसी भी प्रकार के एकीकरण अथवा पुनर्गठन की योजना तब तक नही बना सकता जब तक कि उसने इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त नही कर ली है। रिजर्व बैंक को इन योजनाओं को स्वीकृत करने तथा रद्द करने का पूर्ण अधिकार है। (v) बैंकों से अनेक प्रकार के विवरणों को प्राप्त करने का अधिकार :—रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनियों से विभिन्न प्रकार के विवरणों अथवा आवश्यक सूचनाओं को प्राप्त करने का अधिकार है और वह इन्हे जनता के हित मे प्रकाशित भी कर सकता है। इन विवरणो का निरीक्षण करके रिजर्व बैंक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि बैंकिंग कम्पनियाँ एक्ट की विभिन्न धाराओं का पालन कर रही हैं या नही और यदि रिजर्व बैंक किसी बैंक की कार्य-प्रणाली मे कोई दोष देखता है तब वह अमुक बैंक के प्रबन्धकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करके उक्त दोष को दूर कराने मे सहायक होता है। इस समय रिजर्व बैंक बैंकों से कई प्रकार के विवरण प्राप्त कर रहा है :—(अ) प्रत्येक असूचीबद्ध (Non-scheduled) बैंक को प्रत्येक मास की १५ तारीख को एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमे गत मास की अन्तिम शुक्रवार के दिन उसकी कुल मांग-देय (Demand Liabilities), काल देय (Time Liabilities) तथा रोक निधि (Cash Reserve) का विवरण होगा। (आ) प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास नियमित रूप से एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमें उन अप्रतिभूत ऋणों (Unsecured Loans) तथा अग्रिमों (Advances) की रकम लिखी होगी जो ऐसी कम्पनियों को दिये गये हैं जिनमें बैंकिंग कम्पनी के संचालक अथवा प्रबन्धक का किसी न किसी प्रकार का स्वार्थ है। (इ) प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास प्रत्येक मास की १५ तारीख को एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमे उसकी माँग-देय, काल-देय तथा २५% सम्पत्ति किस प्रकार रक्खी गई है, इसका विवरण होगा। (ई) प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास एक ऐसा त्रैमासिक विवरण भेजना होगा जिसमें मांग-देय तथा काल-देय की ७५% सम्पत्ति भारत में किस प्रकार रखी गई

है, इसका विवरण होगा। (उ) प्रत्येक बैंक का जो भी स्थिति विवरण लेखा (Balance Sheet) हो उसकी तीन प्रतियाँ (Copies) अंकेक्षक (Auditors) के वृत्त लेख के साथ रिजर्व बैंक के पास भेजनी होती हैं। (vi) बैंकों का निस्तारण (Liquidation of Banks) —जब कभी अदालत द्वारा किसी बैंक का निस्तारण (Liquidation) निश्चित कर दिया गया हो, तब यदि रिजर्व बैंक इस बैंक का सरकारी निस्तारण (Official Liquidator) नियुक्त किया जाने की प्रार्थना करे, तब रिजर्व बैंक ही इस बैंक का सरकारी निस्तारक नियुक्त किया जा सकेगा। (vii) बैंकों को सलाह देने का अधिकार —रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह किसी भी बैंक को अथवा समस्त बैंकिंग कम्पनियों को किसी विशेष प्रकार के लेन देन अथवा व्यवहारों के सम्बन्ध में सलाह दे सकता है या उन्हें किसी विशेष व्यवहार अथवा विशेष व्यवहारों को करने से रोक सकता है। (viii) अन्य अधिकार —(अ) रिजर्व बैंक की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार किसी बैंक को कुछ समय के लिए या सदा के लिए बैंकिंग कम्पनीज एक्ट की व्यवस्थाओं से मुक्त कर सकती है। (आ) रिजर्व बैंक की अनुमति पर कोई बैंक ७ वर्ष से अधिक समय के लिए अचल सम्पत्ति रख सकता है। (इ) कुछ समय के लिए रिजर्व बैंक बैंकों को परिदत्त पूंजी तथा सुरक्षित कोषों में छूट दे सकता है।

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन (Amendment) हुआ। इससे रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों पर कुछ और अधिक अधिकार प्राप्त हो गये जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं —(i) रिजर्व बैंक विभिन्न बैंकों से एक ऐसा लेखा प्राप्त करने लगा है जिसमें यह लिखा हुआ होता है कि बैंक की कितनी पूंजी सरकारी प्रतिभूतियों (Govt Securities) में लगी हुई है, कि अन्य बैंकों में उसकी कितनी पूंजी जमा है तथा तत्कालीन देय धन (Money at Short Notice) कितना है। (ii) बैंकिंग कम्पनीज एक्ट की धारा २५ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी सम्पत्ति का ७५% भाग भारत में प्रत्येक तीन मास के अंत में रखना अनिवार्य है। इस आशय का एक विवरण प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास प्रति तीन मास के बाद भेजना पड़ता है। परन्तु इस सम्पत्ति में कौन-कौन सी प्रतिभूतियों (Securities) का समावेश होगा? इस संशोधन से रिजर्व बैंक को अमुक सम्पत्ति में सम्मिलित होने वाली प्रतिभूतियों की सूची प्रकाशित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। (iii) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को यह छूट दे सकता है कि वह रिजर्व बैंक के पास किसी समय न्यूनतम वैधानिक शेष (Minimum Statutory Balance) नहीं रखे। (iv) रिजर्व बैंक अन्य बैंकों की तरह राज्कीय सहकारी बैंकों (State Co operative Banks) से भी विवरण के लेखे माँग सकता है। (v) रिजर्व बैंक जब चाहे तब किसी बैंक को किसी अवधि के लेखे न भेजने की छूट दे सकता है। अत सन् १९५१ के रिजर्व बैंक एक्ट के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों पर कुछ ऐसे अधिकार मिल गये हैं जिनसे वह भारतीय बैंकिंग को और अधिक सुदृढ़ बना सकेगा।

भारतीय बैंकिंग विधान के दोष (Defects of the Banking Legislation in India) —यह सच है कि बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ तथा इसमें सन् १९५० व सन्

१९५३ के संशोधनों द्वारा रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था को नियंत्रित करने के बहुत से अधिकार दे दिये गये हैं और अब यह आशा है कि देश में बैंकिंग का अव्यवस्थित एवं दोषपूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। भारतीय बैंकिंग विकास में जो एक बहुत ही दोषपूर्ण प्रवृत्ति पाई जाती थी—बैंकों तथा उनकी शाखाओं का केवल बड़े बड़े नगरों व व्यापारिक केन्द्रों में ही केन्द्रित होना—इस प्रवृत्ति का बहुत कुछ अन्त हो गया है क्योंकि अब बैंक की किसी भी नई शाखा की स्थापना या शाखाओं का स्थानान्तरण बिना रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के नहीं किया जा सकेगा। इसी तरह एक्ट में बैंकों की पूँजी-सम्बन्धी धाराओं के कारण बैंकों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जायगी और कमजोर व अयोग्य बैंकों की स्थापना पर रोक लग जायगी। रिजर्व बैंक को बैंकों के निरीक्षण के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं जिससे यह आशा की जाती है कि विभिन्न बैंकिंग कम्पनियाँ कोई ऐसे कार्य नहीं करेंगी जो जन-हित में नहीं हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय बैंकिंग विधान में अब भी कुछ दोष पाए जाते हैं और इनमें से कुछ मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं.—(1) देशी बैंकर्स पर नियन्त्रण का अभाव:—भारतीय बैंकिंग विधान में अभी तक स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) के सम्बन्ध में कुछ भी व्यवस्था नहीं की गई है। यह सर्वविदित है कि भारतीय मुद्रा-बाजार का यह अंग देश की लगभग ७५% साख की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है अथवा यह लगभग ९०% ग्रामीण साख की पूर्ति करता है। अतः बैंकिंग विधान का एक दोष यह है कि यह भारतीय मुद्रा बाजार के एक बहुत महत्वपूर्ण अंग को नियन्त्रित नहीं करता है। देश में बैंकिंग के विकास एवं संगठन के लिये तथा साख व मुद्रा के संतुलित नियन्त्रण के लिये स्वदेशी बैंकिंग पर नियन्त्रण की बहुत आवश्यकता है। (ii) बैंकिंग विधान सहकारी बैंकों पर लागू नहीं होता:—अनुभव से पता चला है कि सहकारी बैंक्स कम अधिक मात्रा में व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार की बैंकिंग प्रणालियों को समान नियमों से नियन्त्रित किया जाय। यदि ऐसा नहीं किया जा सकता, तब सहकारी बैंकों के कार्य-क्षेत्र को वैधानिक रीति से सीमित कर देना चाहिए। अतः भारतीय बैंकिंग विधान का यह भी दोष है कि यह सहकारी बैंकों पर लागू नहीं होने पाता है। (iii) सम्पत्ति की तरलता (Liquidity):- बैंकिंग विधान में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक बैंक की सम्पत्ति उसकी माँग-देय और काल-देय के एक निश्चित अनुपात में रहेगी। आलोचकों का मत है कि विधान में बजाय उक्त व्यवस्था करने के यह व्यवस्था की जानी चाहिये थी कि बैंक्स अपने पास एक विशेष प्रकार की ही सम्पत्ति रक्खें ताकि आवश्यकता के समय में रिजर्व बैंक से इस सम्पत्ति के आधार पर ऋण ले सकें। आलोचकों ने अपने मत की पुष्टि इस तर्क से की है कि भारत में अधिकांश बैंकों का विलियन (Liquidation) इस कारण से नहीं हुआ क्योंकि उनके पास पर्याप्त सम्पत्ति का अभाव था वरन् इनका मुख्य कारण उनकी सम्पत्ति में तरलता (Liquidity) का अभाव था। अतः आलोचकों का मत है कि सम्पत्ति की तरलता के लिये विशेष वैधानिक प्रतिबन्धों का भारतीय बैंकिंग विधान में अभाव है।

निष्कर्ष—भारतीय बैंकिंग विधान में कुछ उल्लिखित दोष रहते हुये भी यह

कहा जा सकता है कि बैंकिंग विधान के बन जाने से भारतीय बैंकों का विकास अब बहुत दृढ़ आधार पर हो सकेगा। अचल-सम्पत्ति की आड़ पर या अपर्याप्त जमानत के आधार पर ऋण बहुत अधिक मात्रा में देना बैंक के संचालकों एवं प्रबन्धकों तथा उनके सम्बन्धियों को ऋण देना, बिना सोच विचार किये शाखाओं को खोलना जिससे अलाभकर शाखाओं का स्थापित होना, बड़े बड़े नगरों व व्यापारिक केन्द्रों में ही बैंकों का केन्द्रित होना, कुछ व्यापारों से साथ बैंकों का बैंक सम्बन्धी अनुचित सम्बन्ध स्थापित होना, योग्य व कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति न करना या इनका अभाव संचित कोष का अभाव या इनकी अपर्याप्तता, बिना पर्याप्त संचित कोष रखते, बैंक के लाभ का बंटवारा करना आदि आदि अनेक दोष अब बैंकिंग विधान के बन जाने से बहुत कुछ दूर हो गये हैं जिससे एक ओर जमाकर्ताओं (Depositors) के हित की रक्षा होने लगी है और दूसरी ओर भारतीय बैंकों पर समय-समय पर जो आर्थिक संकट आते रहते हैं उनसे उनकी रक्षा होने लगी है क्योंकि विधान द्वारा रिजर्व बैंक को इतने अधिक अधिकार मिल गये हैं कि वह संकट के समय बैंकों की तुरन्त सहायता कर देता है और उन्हें टूटने से बचा लेता है। इस तरह अब यह आशा हो गई है कि बैंकिंग विधान द्वारा भारतीय बैंकिंग का विकास सुसंगठित व सुदृढ़ आधार पर हो सकेगा और एक सुव्यवस्थित बैंकिंग प्रणाली द्वारा देश का आर्थिक कल्याण हो सकेगा।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University B Com

१. भारत में १९४७ के बाद बैंकिंग के क्षेत्र में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों को उनके उद्देश्य तथा मुख्य विशेषताओं सहित बताइये। (१९६०)

Rajputana University, B. Com

1 Discuss the main defects of the Indian Banking Organisation How far has the recent banking legislation in India removed them? Explain (1955)

Allahabad University B Com

1 Write a note on—Bank Return (1956)

Gorakhpur University, B Com

1 Discuss the part played by legislation in the development of Joint Stock Banking in the U S A and India (Pt II 1959)

Nagpur University B. A

१ भारतीय अधिकोषण की रचना में जो न्यूनतायें हैं उनका वर्णन कीजिये। वे १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट से कहाँ तक दूर हुई हैं? (१९५६)।

अध्याय ११

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया
(Reserve Bank of India)

प्राक्कथन.—भारत में बहुत समय से ही एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई थी। किन्तु इस ओर जितने भी प्रयत्न किए गए वे सब असफल ही रहे। सन् १९२० में स्वर्ण मान के पुनः संस्थापन के लिए ब्रुसेल्स (Brussels) की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया था कि "जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं, वहाँ पर शीघ्र ही एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय।" भारत सरकार ने स्वर्ण-मान की योजना को सफल बनाने तथा देश में केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने के हेतु सन् १९२० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया (अब इसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया हो गया है) स्थापित किया। यह अनुभव किया गया कि केन्द्रीय बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक का कार्य सतोषजनक नहीं था और देश की मुद्रा व साख पर दोहरा नियन्त्रण (सरकार व इम्पीरियल बैंक दोनों का) रहता था जिससे देश में एक पृथक् से केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् १९२७ में हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने भी यह अनुभव किया कि जब किसी देश में मुद्रा व साख पर दो पृथक्-पृथक् संस्थाओं का नियन्त्रण रहता है तब प्रणाली में दोष का होना स्वाभाविक ही है क्योंकि इन दोनों संस्थाओं की नीति में भिन्नता हो सकती है। इसीलिये इस कमीशन ने उक्त दोष को दूर करने के लिये भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। देश के अधिकांश अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों का भी यही मत था कि साख व मुद्रा के उचित संचालन एवं नियन्त्रण के लिये भारत में एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता है।

भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना क्यों की गई ? (Why was the Reserve Bank of India Established ?):—रिजर्व बैंक की स्थापना कई कारणों से की गई थी:—(i) देश में मुद्रा व साख का समुचित प्रबन्ध—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले देश में मुद्रा पर नियन्त्रण सरकार का तथा साख पर नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक का था। मुद्रा व साख पर इस दोहरे नियन्त्रण के कारण देश में व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा एवं साख का समायोजन (Adjustment) नहीं होने पाता था जिससे देश की मुद्रा व साख में भी उचित सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाता था। अतः मुद्रा एवं साख का समुचित प्रबन्ध करने के हेतु देश में रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी और इसी कारण इसका निर्माण भी किया गया। (ii) रुपये के आन्तरिक व बाह्य मूल्य में स्थिरता—केवल रिजर्व बैंक ही मुद्रा व साख की मात्रा में देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार संकुचन व प्रसार करके रुपये के आतरिक मूल्य में स्थिरता ला सकता था। इसी तरह केवल रिजर्व बैंक ही रुपये के बाह्य-मूल्य में भी स्थिरता ला सकता था। अतः रुपये के

आन्तरिक व बाह्य मूल्य में स्थिरता लाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक की स्थापना हुई थी। (iii) **बैंकों के नकद कोषों का केन्द्रीयकरण**—रिजर्व बैंक की स्थापना इस कारण भी की गई ताकि विभिन्न बैंकों के नकद-कोषों का केन्द्रीकरण हो सके और इस निधि (Reserves) का बैंकों की सहायता के लिए उपयोग किया जा सके ताकि देश की मुद्रा एवं साख पद्धति लोचदार हो सके। (iv) **सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था**—सरकार के बैंक के रूप में कार्य करने के लिए भी रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। यह बैंक ही सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध कर सकता था, सरकार को आवश्यकता के समय आर्थिक सहायता दे सकता था, मुद्रा एवं साख व आर्थिक मामलों में सलाह दे सकता था। यद्यपि इनमें से कुछ कार्य इम्पीरियल बैंक द्वारा किए जाते थे, परन्तु यह बैंक इन्हें उचित ढंग से नहीं करने पाता था। (v) **कृषि अर्थ-व्यवस्था**—कृषि-साख की उचित व्यवस्था करने के लिए भी रिजर्व बैंक की नितान्त आवश्यकता थी। (vi) **बैंकिंग का विकास**—देश में बैंकिंग प्रणाली के सुसंगठित विकास के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। (vii) **मुद्रा बाजार का संगठन**—मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों को सुसंगठित करने के हेतु भी रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। (viii) **विभिन्न देशों से मौद्रिक सम्पर्क**—संसार के विभिन्न देशों से (विशेषकर ऐसे देशों से जहाँ पर केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके थे) मौद्रिक संपर्क स्थापित करने तथा इसको बढ़ाने के हेतु भी रिजर्व बैंक का निर्माण किया गया था। अतः यह स्पष्ट है कि उक्तलिखित कुछ मुख्य कार्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये ही देश में एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता समझी गई और इसीलिए इन्हीं की पूर्ति के हेतु सन् १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ तथा १ अप्रैल १९३५ से इस बैंक ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

इम्पीरियल बैंक को ही देश का केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया? (Why was the Imperial Bank not made the Central Bank of India?)—इसके कई मुख्य कारण थे—(i) **देश के बैंकों का इम्पीरियल बैंक में विश्वास**—इम्पीरियल बैंक की कार्य प्रणाली इस प्रकार की थी कि वह देश में स्थित अन्य बैंकों से प्रतियोगिता किया करता था जिसके कारण इन बैंकों का इम्पीरियल बैंक में कोई विश्वास नहीं था। इस दशा में इम्पीरियल बैंक को एक केन्द्रीय बैंक के रूप में सतोषप्रद तरीके से चलाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था क्योंकि अन्य बैंकों पर उसका प्रभाव पहले से ही बहुत कम होने के कारण उसकी केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्यक्षमता में बहुत कम विश्वास था। (ii) **व्यापारिक कार्यों का अन्त**—किसी भी देश का केन्द्रीय बैंक इतनी अधिक संख्या में शाखाएँ नहीं रख सकता है जितनी कि इम्पीरियल बैंक ने खोल रक्खी थीं। अतः इम्पीरियल बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक बनाने का यह अर्थ होता कि एक तरफ तो इसकी नई-नई शाखाओं के खुलने पर रोक लग जाती और दूसरी ओर कुछ शाखाएँ बन्द कर दी जातीं। देश की उस समय की बैंकिंग-व्यवस्था में बैंकिंग सुविधाओं को कम करना उचित नहीं होता। यही नहीं इम्पीरियल बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक बनाने का एक और परिणाम यह होता कि

इसे अपने व्यापारिक कार्यों को त्यागना पड़ता जो भी सर्वदा उचित नहीं था। (iii) **इम्पीरियल बैंक के संचालक मण्डल का विरोध** — इम्पीरियल बैंक का संचालन मण्डल इस बैंक के साधारण बैंकिंग कार्यों को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। (iv) **चलन के प्रबंध का अधिकार** —एक केन्द्रीय बैंक के नाते इम्पीरियल बैंक को देश में चलन के प्रबन्ध का अधिकार दे दिया जाता। परन्तु उसके पास इस अधिकार के दुरुपयोग का भय था। इन सब कारणों से यह निश्चय किया गया कि इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक में परिवर्तित नहीं करना चाहिये वरन् देश में एक नये सिरे से केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाना चाहिये ताकि यह नया बैंक अपनी नई-नई परम्पराएँ (Traditions) बना सके।

शेयर-होल्डर्स का बैंक या सरकारी बैंक

(Shareholders Bank versus Government Bank)

प्राक्कथन:—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट बनाने से पहले इस सम्बन्ध में काफी चर्चा हुई कि यह बैंक अंशधारियों (Share-holders) का बैंक हो या सरकारी बैंक हो। दोनों पक्षों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये और अन्त में उस समय तय किया गया कि यह अंशधारियों का बैंक होना चाहिये।

अंशधारियों का बैंक के पक्ष में दलील:—(Arguments in favour of Share-holders Bank):—(i) राष्ट्र के आर्थिक हित के दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक पर किसी भी राजनैतिक दल का प्रभाव नहीं होना चाहिये ताकि बैंक अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सके। यदि रिजर्व बैंक सरकार का बैंक होगा तब इस पर कुछ न कुछ राजनैतिक प्रभाव अवश्य रहेगा जिससे इसके कार्यों में राजनैतिक पक्ष-पात एवं भेद-भाव के कारण बाधा अवश्य रहेगी। अतः रिजर्व बैंक अंशधारियों का बैंक होना चाहिये। (ii) सन् १९३४ तक संसार के प्रमुख राष्ट्रों में बैंक के केन्द्रीय बैंक अंशधारियों के बैंक थे। इस कारण रिजर्व बैंक का भी हिस्सेदारों का बैंक होना उचित समझा गया। (iii) एक शेयर-होल्डर्स के बैंक में भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व हो सकता है। बैंक की नीति एवं शेयर-होल्डर्स के हितों की रक्षा का दायित्व इसके संचालकों पर होता है। पूंजीपतियों के प्रभाव तथा लाभ के उचित विभाजन की समस्या को कानून द्वारा हल किया जा सकता है और वास्तव में रिजर्व बैंक एक्ट में ऐसा किया भी गया है। अतः विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व तथा कार्य-क्षमता की दृष्टि से रिजर्व बैंक को शेयर-होल्डर्स का बैंक होना चाहिये। (iv) सन् १९३४ से पहले भारत सरकार की मुद्रा-नीति राष्ट्र के हितों के विरुद्ध होती चली जा रही थी जिसके कारण जनता रिजर्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक ही बनवाना चाहती थी। इन सब तर्कों के आधार पर सन् १९३४ में रिजर्व बैंक एक हिस्सेदारों का बैंक बना दिया गया और इस रूप में इस बैंक ने ३१ दिसम्बर १९४८ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् रिजर्व बैंक को सरकारी बैंक बनाने का प्रश्न फिर उठा। चूंकि प्राय-सभी राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंकों को सरकारी बैंक बनाया जा रहा था, इसलिए भारत सरकार ने भी १ जनवरी १९४९ से इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया।

सरकार का बैंक के पक्ष मे दलील —(Arguments in favour of Nationalisation of the Reserve Bank) —रिजर्व बैंक को सरकारी बैंक बनाने के पक्ष मे समय-समय पर जो युक्तियाँ दी गई थी, उनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं:— (i) युद्धोत्तर काल की पुनर्निर्माण योजनायें —युद्धोत्तर-काल (Post-war Period) मे देश के आर्थिक पुनर्निर्माण अथवा पुनर्संगठन से सम्बन्धित जितनी भी योजनाएँ थीं उनकी सफलता के लिये रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था और इसलिये १ जनवरी १९४९ से इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। (ii) युद्ध काल मे रिजर्व बैंक की दोषपूर्ण मुद्रा-नीति —रिजर्व बैंक की युद्ध-कालीन दोषपूर्ण मुद्रा नीति के कारण भारत मे बहुत अधिक मुद्रा प्रसार हो गया था जिसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर भी बहुत बढ गया था। इस दोषपूर्ण स्थिति मे सुधार रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही हो सकता था। (iii) सरकार की आर्थिक तथा मुद्रा-नीति —सरकार के द्वारा निर्धारित आर्थिक और मुद्रा-नीति केन्द्रीय बैंक तब ही सफलतापूर्वक कार्यान्वित कर सकता है जबकि इस पर सरकार का स्वामित्व होता है। इसीलिए लगभग तमाम प्रगतिशील देशो मे केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया। भारत मे भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति तब ही हो सकती थी जबकि यहाँ के रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। अत रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे बल डाला गया है। (iv) पूँजीपतियों का बैंक पर प्रभाव —कुछ व्यक्तियो का यह मत था कि पिछले कुछ वर्षों मे रिजर्व बैंक पर पूँजीपतियो का बहुत अधिक प्रभाव हो गया था। यह स्थिति देश-हित मे नही थी। अत बैंक पर पूँजीपतियो के प्रभाव को कम करने अथवा दूर करने के लिए बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था। (v) भारतीय मुद्रा बाजार का संगठन —रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगो को सुसंगठित नही कर सका और विशेषकर वह स्वदेशी बैंकर्स को अपनी अनेक योजनाओ में भी नियन्त्रित नही कर सका। राष्ट्रीयकरण से भारतीय मुद्रा-बाजार के इन दोषो को दूर हो जाने की पूर्ण आशा है। (vi) बैंकों से आवश्यक विवरण की प्राप्ति —एक हिस्सेदारो का बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक को देश के विभिन्न बैंको से बैंकिंग सम्बन्धी अनेक आवश्यक विवरण प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई अनुभव होती थी। परन्तु बैंक का राष्ट्रीयकरण होने के पश्चात् इसे इन बैंको से आवश्यक सूचना प्राप्त करने मे कोई भी कठिनाई नही हो सकती थी क्योंकि तब यह एक सरकारी विभाग होने के कारण इसे विभिन्न विवरण बहुत आसानी से प्राप्त हो जाते। अत बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया। (vii) देश में बैंकिंग का विकास —देश मे बैंकिंग-प्रणाली के समुचित विकास के लिये रिजर्व बैंक को अनेक अधिकार दिये गये हैं। बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ द्वारा तो इस बैंक को और भी अधिक अधिकार सौंपे गये हैं ताकि देश मे बैंको की कार्य-क्षमता मे बहुत वृद्धि हो जाय। रिजर्व बैंक अपने इन अधिकारो का तभी अच्छी प्रकार से उपयोग कर सकता था जबकि इसका राष्ट्रीयकरण हो जाय। अत. देश मे बैंकिंग स्तर मे सुधार लाने के लिये इसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया है। (viii) अनेक आर्थिक समस्याओं का हल —युद्ध-कालीन परिस्थितियो के कारण लगभग प्रत्येक

देश की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी और प्रत्येक देश के समक्ष अपनी-अपनी अनेक आर्थिक समस्याएँ थी, जैसे—विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता, विदेशी व्यापार मे स्थिरता, भुगतान का असंतुलन, आर्थिक विषमता का निवारण, उत्पादन मे वृद्धि, आय व रोजगार में वृद्धि आदि। इनमे से बहुत सी समस्यायें इस प्रकार की थी कि इनका हल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। यह सहयोग मुख्यत: अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I. B. R. & D.) द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। दोनो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं का किसी देश से व्यवहार वहाँ के केन्द्रीय बैंक द्वारा ही होता है। अतः चूँकि रिजर्व बैंक को इन महत्वपूर्ण कार्यों को करना था, इस कारण ऐसे बैंक का जन-हित में राष्ट्रीयकरण करना ही आवश्यक समझा गया। (xi) रिजर्व बैंक के कार्य बहुत व्यापक हैं—चूँकि रिजर्व बैंक के कार्य तथा अधिकार बहुत महत्वपूर्ण हैं, इसलिये बैंक पर स्वामित्व सरकार का ही होना चाहिये। इन सब कारणो से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध कुछ थोड़े से आक्षेप होते हुये भी इसका १ जनवरी १९४९ को राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

रिजर्व बैंक का वर्तमान विधान
(Present Constitution of the Reserve Bank)

(१) पूंजी (Capital):—सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ने एक अंशधारियो के बैंक के रूप मे कार्य आरम्भ किया और इसकी कुल अंश पूंजी (Share Capital) ५ करोड़ रुपया रक्खी, जिसे १००-१०० रुपये के पूर्णतया शोधित (Fully Paid) अशो मे बांटा गया था। ताकि बैंक की सचालन-शक्ति कुछ थोड़े से ही हाथों मे केन्द्रित नही होने पाये, इसलिये उस समय देश को पांच क्षेत्रो मे बांटा गया था—दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, तथा रंगून और प्रत्येक क्षेत्र से प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा को निर्धारित कर दिया गया, जो इस प्रकार थी—दिल्ली ११५ लाख रुपये, बम्बई १४० लाख रुपये, मद्रास ७० लाख रुपये, कलकत्ता, १४५ लाख रुपये तथा रंगून ३० लाख रुपये। परन्तु कुछ ही वर्षो मे हस्तान्तरण द्वारा लगभग सारे अश बम्बई क्षेत्र मे ही केन्द्रित हो गये और जिस उद्देश्य से देश को पांच क्षेत्रों मे बांट कर विभिन्न क्षेत्रों में एक निर्धारित रकम के हिस्से बेचे गये थे, वह उद्देश्य ही लगभग समाप्त हो गया। यद्यपि प्रारम्भ में प्रत्येक व्यक्ति को केवल पांच हिस्से ही दिये गये थे, परन्तु कुछ ही समय में हस्तान्तरण द्वारा कुछ व्यक्तियों ने बहुत अधिक संख्या मे हिस्से खरीद लिये। बाध्य होकर सन् १९४० में सरकार ने यह नियम बना दिया कि किसी भी व्यक्ति के पास २० हजार रुपये मूल्य से अधिक के हिस्से नही हो सकते और यदि किसी व्यक्ति के पास स्वयं अपने नाम मे या साझे में इस रकम से अधिक के हिस्से हो जायेंगे तब उसका नाम अंशधारियों की सूची से काट दिया जायगा।* परन्तु यह नियम भी हिस्सो को बम्बई क्षेत्र

---

*राष्ट्रीयकरण से पहले अशधारियो को मतदान का अधिकार (Right of Voting) था, परन्तु प्रत्येक अंशधारी की मतदान की संख्या सीमित रक्खी गई थी। चुनाव के समय प्रत्येक अंशधारी प्रति पांच अंशों के लिये एक मत दे सकता था और मत की संख्या अधिक से अधिक दस थी।

में केन्द्रित होने से नहीं रोक सका। यह स्मरण रहे कि केन्द्रीय सरकार तथा केन्द्रीय धारा-सभा (Parliament) की पूर्व अनुमति होने पर अथवा संसद (Parliament) की सिफारिश होने पर बैंक की अंश पूँजी कम या अधिक की जा सकती है। रिजर्व बैंक की पूँजी आज भी राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ५ करोड़ रुपये की है, परन्तु अब इस रकम के तमाम हिस्से सरकार के पास हैं। सरकार ने बैंक के तमाम हिस्से १०० के बदले में ११८ रुपये १० आ० देकर खरीद लिये हैं। इस राशि का १८ रुपये १० आने भुगतान नकद (Cash) में दिया गया तथा शेष १०० रु० के बदले में ३% ब्याज देने वाले सरकारी बोंड्स (First Development Loans) दिये गये जिनका भुगतान सन् १९७० या सन् १९५७ में सरकार की इच्छानुसार तीन माह की पूर्व सूचना के बाद किया जायगा।

(२) प्रबन्ध (Management) —१ जनवरी सन् १९४९ से, रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात्, इस बैंक का प्रबन्ध भारत सरकार के हाथ में चला गया है। सरकार बैंक के गवर्नर (Governor of the Reserve Bank of India) की सम्मति से राष्ट्र एवं जन-हित की दृष्टि से बैंक को समय-समय पर आदेश देती रहती है और बैंक का केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) इन आदेशों के अनुसार बैंक का संचालन करता है। बैंक के गवर्नर को केन्द्रीय बोर्ड के आदेशों का पालन करना पड़ता है। वर्तमान केन्द्रीय बोर्ड में १४ सदस्य हैं * जिनकी नियुक्ति विभिन्न हितों की रक्षा की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है—(अ) एक गवर्नर तथा दो उप-गवर्नर्स — इनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा पाँच वर्ष की अवधि के लिये की जाती है। ये वेतन प्राप्त कर्मचारी होते हैं और इनका वेतन केन्द्रीय सरकार की सलाह से केन्द्रीय बोर्ड निश्चित करता है। (आ) स्थानीय बोर्डों में से नियुक्त संचालक (Directors) —केन्द्रीय बोर्ड में चार संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा चार स्थानीय बोर्डों (Local Boards) के सदस्यों में से प्रत्येक बोर्ड में से एक के हिसाब से, नियुक्त किये जाते हैं। इन संचालकों की भी अवधि पाँच वर्ष होती है परन्तु इस अवधि के समाप्त होने पर इनको पुनः नियुक्त किया जा सकता है। (इ) अन्य संचालक — केन्द्रीय बोर्ड में छः संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं इनमें से प्रत्येक दो बारी-बारी से एक, दो तथा तीन वर्ष के बाद निवृत्त (Retired) होते रहते हैं। (ई) सरकारी कर्मचारी —केन्द्रीय बोर्ड में एक सरकारी कर्मचारी भी केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किया जायगा। यह केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार किसी भी समय तक काम कर सकता है परन्तु इस कर्मचारी को मतदान का अधिकार (Right of Voting) नहीं होता है। केन्द्रीय बोर्ड की एक वर्ष में कम से कम छः बैठक होनी चाहिएँ, परन्तु तीन महीने में एक बैठक अवश्य होनी चाहिये। गवर्नर को यह अधिकार है कि वह

*राष्ट्रीयकरण से पहले केन्द्रीय बोर्ड में १६ सदस्य होते थे जिनमें से १ गवर्नर तथा २ उप गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त होते थे, ४ संचालक सरकार नियुक्त करती थी, ८ संचालक विभिन्न क्षेत्रों में अंशधारी निर्वाचित (Elect) करते थे और १ सरकारी कर्मचारी सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता था।

बोर्ड की बैठक बुला सकता है। इसी तरह कोई तीन संचालक गवर्नर से बोर्ड की बैठक बुलाने के लिये निवेदन कर सकते हैं।

स्थानीय प्रबन्ध के लिये चार स्थानीय बोर्ड क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में है।* ये बोर्ड केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार प्रबन्ध करते हैं तथा पूछे जाने पर आवश्यक मामलों पर अपनी सम्मति देते हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में पाँच सदस्य होते है जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। ये चार बोर्ड इस प्रकार है:—उत्तर प्रदेश बोर्ड, दक्षिण-प्रदेश बोर्ड, पूर्व-प्रदेश बोर्ड तथा पश्चिमी-प्रदेश बोर्ड।

(३) बैंक के कार्यालय (Office of the Bank).—इस समय रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में हैं।† इसकी शाखाएँ लन्दन, लाहौर व कराची में भी हैं। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से रिजर्व बैंक किसी भी स्थान पर अपनी शाखा खोल सकता है। रिजर्व बैंक ने स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया) को जहाँ-जहाँ पर इसकी शाखाएँ हैं वहाँ पर इसे अपना एकमात्र एजेन्ट नियुक्त किया हुआ है। रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय अब स्थायी रूप से बम्बई में है।

(४) बैंक का संगठन (Organisation)—रिजर्व बैंक के कई प्रमुख विभाग हैं:—
(i) नोट-प्रकाशन विभाग (Note–Issue Department):—इस विभाग का प्रमुख कार्य पत्र-मुद्रा चलन करना है। इस विभाग के दो उप-विभाग हैं:—(अ) कोषाध्यक्ष-विभाग:—इस उप-विभाग का कार्य केवल नोट निकालना तथा पत्र-मुद्राओं का प्रधान एवं गौण मुद्राओं का परिवर्तन करना है। (आ) साधारण विभाग.—इस उप-विभाग का कार्य नोटों को जाँचने, इन्हें रद्द करने, हिसाब रखने तथा आन्तरिक अंकेक्षण (Auditing) आदि करने का है। इस नोट-प्रकाशन विभाग ने सरकारी चलन-विभाग की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली है और इस विभाग को ही स्वर्ण-मान-निधि (Gold Standard Reserve) का भी हस्तान्तरण हो गया है। (ii) बैंकिंग विभाग (Banking Department).—इस विभाग का निर्माण १ जुलाई १६३५ को हुआ था। इस विभाग ने आरम्भ से ही अनुसूची-बद्ध बैंकों (Scheduled Banks) की माँग-देय (Demand Liabilities) तथा काल-देय (Time Liabilities) का क्रमशः ५% और २% भाग अपने पास जमा (Deposit) के रूप में रखना आरम्भ किया

* राष्ट्रीयकरण से पहले स्थानीय बोर्डों (Local Boards) की संख्या पाँच थी—दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा रंगून। प्रत्येक बोर्ड में आठ सदस्य होते थे जिनमें से पाँच सदस्य सम्बन्धित क्षेत्र के हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते थे और शेष तीन सदस्य केन्द्रीय बोर्ड द्वारा स्थानीय हिस्सेदारों में से नियुक्त किये जाते थे और ये भिन्न-भिन्न हितों के प्रतिनिधित्व करते थे। स्थानीय बोर्डों का प्रमुख कार्य केन्द्रीय बोर्ड के लिये संचालक चुनना तथा उसके पूछने पर आवश्यक मामलों पर सलाह देना था।

† द्वितीय महायुद्ध काल में रंगून का कार्यालय बन्द कर दिया था, परन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इसे दुबारा नहीं खोला गया।

और यह बैंकों को आवश्यकता के समय सहायता देता है। यह विभाग समाशोधन गृह (Clearing House) का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त यह विभाग अन्य बहुत से कार्य भी करता है, जैसे—सरकार की ओर से लेन देन करना, सरकारी ऋण की व्यवस्था करना, सरकारी धन का हस्तान्तरण करना, सरकार को आर्थिक सहायता देना, बैंकों को आर्थिक सलाह देना आदि। (iii) कृषि-साख विभाग—इस विभाग के प्रमुख कार्य हैं—केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी बैंक तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं की कृषि साख सम्बन्धी नीति निर्धारित करना, कृषि-साख के सम्बन्ध में खोज करने के लिए विशेषज्ञों को नियुक्त करना आदि। (iv) विदेशी विनिमय विभाग (Foreign Exchange Department)—द्वितीय महायुद्ध काल में स्वतन्त्र रूप मे यह विभाग खोला गया था। विनिमय दर को स्थायी रखने के उद्देश्य से यह विभाग निश्चित दर पर विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करता है। (v) बैंकिंग क्रियाओं का विभाग (Department of Banking Operations)—इस विभाग के तीन उप विभाग हैं—(अ) सचालन विभाग (Operation Division)—यह उप विभाग उन सब कार्यों को करता है जो रिजर्व बैंक को एक बैंक के नाते करने पड़ते हैं। (आ) निरीक्षण विभाग (Inspection Division)—इस उप-विभाग के मुख्य कार्य हैं—बैंकों का वार्षिक निरीक्षण करना और इस बात को देखना कि वे सरकार अथवा रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये हुये आदेशों का कहाँ तक पालन करते है बैंकों द्वारा भेजे गये विभिन्न प्रकार के विवरण-पत्रों की जांच करना, बैंकों के दोषों को दूर करने के लिये एक वार्षिक रिपोर्ट अपने सुझावों सहित प्रकाशित करना आदि। इस विभाग के कार्य ही ऐसे हैं कि यह बैंकिंग पद्धति का उचित नियन्त्रण करके इसे सुदृढ और सुसगठित बनाने मे सफल हो सकेगा। (इ) निस्तारण विभाग (Liquidation Division)—यह उप-विभाग बैंकों के बन्द कर देने से सम्बन्धित कार्यों को करता है। इस तरह आज यह विभाग सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को दिये गये अनेक अधिकारों को उचित ढग से काम मे लाने मे सहायक होता है। (vi) अन्वेषण तथा समक विभाग (Department of Research and Statistics)—इस विभाग का कार्य, मुख्यत मुद्रा साख, कृषि, उत्पादन, लाभांश, ब्याज दरें, मुद्रा बाजार आदि विभिन्न विषयों सम्बन्धी अन्वेषण एव अनुसधान (Research) करना तथा इन विषयों से सम्बन्धित आंकड़ों को प्रकाशित करना है। रिजर्व बैंक का यह विभाग मुद्रा व अर्थ सम्बन्धी एक वार्षिक रिपोर्ट एक मासिक पत्र आदि प्रकाशित करता है।

रिजर्व बैंक के कार्य (Functions of the Reserve Bank)

प्राक्कथन—रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है और इसलिए यह उन सब कार्यों को करता है जो एक केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाते हैं। किसी एक केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में अन्य स्थान पर "केन्द्रीय बैंक" नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इसीलिए यहाँ पर रिजर्व बैंक के कार्यों का सक्षिप्त में ही वर्णन किया जायगा। रिजर्व बैंक के कार्यों को दो श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) केन्द्रीय बैंक के कार्य तथा (आ) साधारण बैंक के कार्य।

(अ) केन्द्रीय बैंकिंग कार्य:—रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते यह निम्नलिखित केन्द्रीय बैंकिंग कार्य करता है:—

(i) नोट-निर्गम कार्य (Issue of Paper Currency):—रिजर्व बैंक को पत्र-मुद्रा प्रकाशित करने का एकाधिकार प्राप्त है। इस बैंक ने सर्वप्रथम सन् १९३८ में अपनी पत्र-मुद्राएँ प्रकाशित की थी। यह कार्य पत्र-चलन-विभाग (Note Issue Department) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यह विभाग बैंकिंग विभाग से पृथक् होता है तथा इसका स्थिति विवरण (Balance Sheet) भी पृथक् से बनाया जाता है और इसे साप्ताहिक प्रकाशित किया जाता है। नोट निर्गम प्रणाली में जनता का विश्वास बनाए रखने के लिये यह व्यवस्था की गई है कि रिजर्व बैंक को पत्र मुद्रा की सुरक्षा के लिए सुरक्षित कोष रखना होगा। इस कोष का नाम पत्र-मुद्रा, निधि (Paper Currency Reserve) है। कोष की सम्पत्ति में स्वर्ण-मुद्रा स्वर्ण, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ (Sterling Securities) रुपए के सिक्के, रुपए की प्रतिभूतियाँ (Rupee Securities) आदि का समावेश होता है। सन् १९४६ से पहले इस कुल सम्पत्ति का ४०% भाग स्वर्ण, स्वर्ण-मुद्रा तथा विदेशी-प्रतिभूतियों के रूप में रखना पड़ता था जिसमे किसी भी समय ४० करोड़ रुपए से कम का स्वर्ण नही होना चाहिए था। स्वर्ण का मूल्यांकन ८·४७५१२ ग्रेन प्रति रुपए की दर से किया जाता था अर्थात् स्वर्ण का मूल्य २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोला के हिसाब से लगाया जाता था। परन्तु प्रतिभूतियो (Securities) का मूल्यांकन उनके बाजार-मूल्य के हिसाब से किया जाता है। उक्त कोष की सम्पत्ति का शेष ६०% भाग रुपये मे, सरकारी प्रतिभूतियो मे, स्वीकृति व्यापारिक बिलों के रूप मे रक्खा जाता था। रुपयो का मूल्य उनके अंकित मूल्य (Face Value) से तथा प्रतिभूतियो का मूल्य इनके बाजार-मूल्य के हिसाब से लगाया जाता है। रिजर्व बैंक के चलन-विभाग में सम्पत्ति के अन्तर्गत केवल वे ही विदेशी प्रतिभूतियाँ रक्खी जाती हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I.M.F.) के सभासद देशों मे ही भुगतान होने वाला होता है। इस समय रिजर्व बैंक २, ५, १०, १००, १०००, रुपये के नोटो का प्रकाशन कर रहा है।*

सन् १९५६ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे एक संशोधन हुआ जिसने देश में अनुपातिक कोष-निधि प्रणाली के स्थान पर स्थिर-स्वर्ण कोष प्रणाली-या न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) को जन्म दिया है। इस नई प्रणाली मे रिजर्व बैंक के नोट निर्गम विभाग को नोट निर्गम के विरुद्ध कम से कम ४०० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड रुपये का सोना या सोने के सिक्के सम्पत्ति के रूप में रखने पड़ते थे (सन् १९५६ से पहले रिजर्व बैंक के पास जो सोना था, उसका मूल्य २१·२४ रुपये प्रति तोला के हिसाब से आँका जाता था, परन्तु अब इस संशोधन के

*सन् १९४६ के मुद्रा के अद्रव्यीकरण (Demonetisation) से पहले रिजर्व बैंक ५०० रु० और १०,००० रु० नोट के प्रकाशित किया करता था परन्तु अद्रव्यीकरण आर्डिनैन्स के कारण इन नोटों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया है।

अनुसार अमुक सोने का मूल्याकन ६२.५० रुपये प्रति तोले के हिसाब से किया जाने लगा है। इसीलिये स्वर्ण कोष मे न्यूनतम स्वर्ण की सीमा ४० करोड रुपए से बढाकर ११५ करोड रुपए कर दी गई है।) अक्टूबर सन् १९५७ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे फिर संशोधन किया गया। इस सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग द्वारा रक्खे जाने वाले स्वर्ण के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियो की अनुमानित कीमत कभी भी एव किसी समय भी २०० करोड रुपये से कम नही होनी चाहिये। इस तरह आजकल विदेशी सिक्यूरिटीज की मात्रा ४०० करोड रुपए से घटाकर (२००−११५) = ८५ करोड रुपये की कर दी गई है। यह अवश्य है कि केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से इस मात्रा मे भी और भी कमी की जा सकती है। फलत भारतीय मुद्रा-प्रणाली अत्यधिक लोचदार हो गई है।

(ii) सरकारी बैंकर का कार्य (Banker to the State)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारो के बैंकर का भी काम करता है। यह विभिन्न सरकारो तथा सरकारी संस्थाओ से रुपया प्राप्त करता है तथा जितना रुपया इस तरह प्राप्त हो जाता है उस सीमा तक सरकारो के आदेश से इसका भुगतान भी करता है। सरकारो से उनकी जमा-राशि पर किसी प्रकार का ब्याज नही दिया जाता है। रिजर्व बैंक सार्वजनिक ऋणो (Public-Debts) की व्यवस्था करता है, ऋण-सम्बन्धी जमा प्राप्त करता है, ऋणो के ब्याज का तथा असल का भुगतान करता है, ऋण-सम्बन्धी हिसाब-किताब रखता है आदि। यह केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो की किसी भी अवधि की प्रतिभूतियो (Securities) का क्रय-विक्रय करता है। सरकारी बैंकर होने के नाते यह सरकारो के लिये विदेशी विनिमय करता है तथा उनकी ओर से एक स्थान से दूसरे स्थान को धन का हस्तान्तरण करता है। यह बैंक सरकार को भी ऋण दिया करता है परन्तु ये ऋण या माँग पर तुरन्त शोधनीय (Payment on Demand) होते हैं या काम-चलाऊ अग्रिम (Ways and Means Advances) के रूप मे होते हैं जो अधिक से अधिक ९० दिन के अन्दर शोधनीय होते हैं। परन्तु ये ऋण पर्याप्त जमानत प्राप्त करके ही दिये जाते हैं। रिजर्व बैंक सरकारो के जो कुछ भी कार्य उनके बैंकर के रूप मे करता है उसके बदले मे इसे कुछ भी प्रतिफल (Remuneration) नहीं मिलता है क्योंकि वह बिना ब्याज दिये सरकार का रुपया अपने पास रखता है। परन्तु सरकारी हुंडियो के बेचने पर इसे प्रति १ लाख रुपये के बिल पर दो हजार रुपया कमीशन के रूप मे मिलता है। यह सरकार को मुद्रा, साख तथा आर्थिक नीति सम्बन्धी सलाह भी समय समय पर देता रहता है।

(iii) बैंकों के बैंक का कार्य—(Banker's Bank)—रिजर्व बैंक का यह कर्तव्य है कि वह बैंकों का नियन्त्रण, पथ-प्रदर्शन तथा सहायता करके देश मे एक सुसगठित बैंकिंग प्रणाली का निर्माण करे। बैंको का नियन्त्रण करने के हेतु यह अनुसूची-बद्ध बैंको (Scheduled Banks) की माँग-देय (Demand Liabilities) का ५% और काल-देय (Time Liabilities) का २% नकद-कोष अपने पास जमा रखता है। इस तरह बैंको के नकद-कोषो का केन्द्रीयकरण हो जाता है। रिजर्व बैंक इस केन्द्रित धन-राशि

का उपयोग इन्ही बैंकों की आर्थिक सहायता करने के लिये करता है क्योंकि वह देश के बैंकों का अन्तिम ऋणदाता (Lender of the last resort) है। इससे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार देश के अन्य बैंक जनता से जमा पर रुपया प्राप्त करके उनको ऋण आदि देते है, उसी प्रकार रिजर्व बैंक देश के बैंको से उपयुक्त जमा प्राप्त करके उन्हें आर्थिक संकट काल में ऋण देकर सहायता करता है। इस व्यवस्था से यह लाभ होता है कि आर्थिक संकट काल मे देश की बैंकिंग-व्यवस्था अस्त-व्यस्त नही होने पाती है वरन् रिजर्व बैंक के नियन्त्रण द्वारा इसका सुसगठित विकास हो जाता है। रिजर्व बैंक बैंक दर (Bank Rate) तथा खुले बाजार की क्रियाओ (Open Market Operations) द्वारा बैंको की जमा को घटा-बढा कर उनकी साख-नीति को प्रभावित करता रहता है। यह समाशोधन-गृह (Clearing House) का कार्य करके भी बैंको की सहायता करता है। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने रिजर्व बैंक को देश के बैंको को नियन्त्रित करने के लिये विशेष अधिकार दिये है, जैसे—बैंकों को बैंकिंग कार्य करने के लिये लाइसेंस प्रदान करना, बैंको की संख्या एवं नई शाखाओ पर नियन्त्रण करना, बैंको की एकीकरण (Amalgamation) योजनाओ की जांच करके इनको स्वीकृत करना, बैंको का निरीक्षण करना, कमजोर बैंको का निस्तारण (Liquidation) करवाना, बैंकों की ऋण-नीति निर्धारित करना, बैंको के विभिन्न विवरण-पत्रों की जाँच करना और दोषो के सुधार के लिये सुझाव देना, बैंको को समय-समय पर सलाह देना आदि ("भारत मे बैंकिंग विधान" नामक शीर्षक पढिये)। इस तरह रिजर्व बैंक बैंको के बैंक के रूप मे बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है।

(iv) विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करना (Regulation of Foreign Exchange):—रिजर्व बैंक का यह कर्तव्य है कि वह रुपये का बाह्य-मूल्य (External Value of the rupee) स्थिर रखे। इसीलिये यह बैंक निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। सन् १९४७ मे भारत, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) का सदस्य बन गया और इस सदस्यता के कारण देश ने स्टर्लिंग से जो भी अब तक का वैधानिक सम्बन्ध था तोड़ दिया।* सन् १९४७ से रिजर्व बैंक ने न केवल स्टर्लिंग का ही क्रय विक्रय किया है वरन् यह इन अन्य सब देशो की मुद्राओं का भी क्रय-विक्रय करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य है, और विदेशी मुद्राओं का क्रय-

*सन् १९४७ से पहले रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४० के अनुसार रिजर्व बैंक पर एक निश्चित दर पर स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय की जिम्मेदारी थी। इसे स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय क्रमशः १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पेंस तथा १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पेंस प्रति रुपया की दरों के मध्य मे करना पड़ता था और यह क्रय-विक्रय भी कम से कम १०,००० पौंड स्टर्लिंग का होता था। सन् १९४७ मे रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४० व ४१ मे संशोधन किया गया जिसके अनुसार रुपये और स्टर्लिंग का यह वैधानिक सम्बन्ध तोड़ दिया गया। यह संशोधन इस कारण आवश्यक हो गया था क्योंकि भारत सन् १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य बन गया था।

विक्रय उन दरो पर किया जाता है जो केन्द्रीय सरकार अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष से निश्चित करती है। रिजर्व बैंक दो लाख रुपये से कम मूल्य की मुद्रा का क्रय-विक्रय नहीं करता है। इस प्रकार का विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली के कार्यालयों मे होता है।

(v) अन्य केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य –(क) साख नियन्त्रण (Credit Control)–रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि यह देश मे व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार साख की मात्रा मे संकुचन या प्रसार करे। यह इस उद्देश्य की पूर्ति मूलत देश के बैंको की ऋण-नीति को नियन्त्रित करके करता है। यह बैंक दर के परिवर्तनो एव खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा ही अपने उद्देश्य मे सफल होने पाता है। इस सम्बन्ध मे आगे चल कर विस्तार से लिखा गया है। (ख) *कृषि-वित्त व्यवस्था (Agricultural Finance)* —रिजर्व बैंक का एक पृथक् विभाग कृषि-साख विभाग है। इस विभाग मे कृषि-साख की समस्याओ का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञो की नियुक्ति की जाती है। यह कृषि साख के विकास के हेतु राज्य सरकारो तथा सहकारी बैंको को सलाह भी देता रहता है। इस सम्बन्ध मे "ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था" शीर्षक नामक अध्याय मे लिखा गया है। (ग) समाशोधन गृह (Clearing House) —रिजर्व बैंक देश का शीर्ष बैंक होने के नाते समाशोधन-गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है। इस सम्बन्ध मे 'केन्द्रीय बैंक' शीर्षक नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा गया है। (घ) मुद्रा परिवर्तन –रिजर्व बैंक बड़े नोटो के बदले छोटे नोट अथवा नोटो के बदले गिलट के रुपये देने का कार्य भी करता है। (ड) मुद्रा का स्थानान्तरण —रिजर्व बैंक मुद्रा एव कोष का स्थानान्तरण करने का कार्य भी करता है। यह अपने कार्यालयो पर दर्शनी हुंडी (Demand Draft) भी जारी किया करता है। (त) रिजर्व बैंक सरकार तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओ को आर्थिक मामलो मे सलाह देता है, यह बैंकिंग तथा साख सम्बन्धी आंकड़े (Statistics) एकत्रित तथा प्रकाशित करके इन्हे वितरित किया करता है।

(आ) रिजर्व बैंक के एक साधारण बैंक के रूप मे कार्य (Functions of the Reserve Bank as an ordinary Bank) —रिजर्व बैंक एक साधारण बैंक की तरह कुछ साधारण बैंकिंग क्रियाएँ भी करता है जिनम से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं— (i) *जमा खातों मे रुपया प्राप्त करना —रिजर्व बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारो, बैंको तथा अन्य व्यक्तियों से बिना ब्याज दिये जमा (Deposit Account)* पर रुपया प्राप्त करता है। (ii) *व्यापारिक एव वाणिज्यिक बिलों का क्रय-विक्रय* —रिजर्व बैंक भारत मे भुगतान किये जाने वाले अधिक से अधिक ९० दिन की अवधि के व्यापारिक एव वाणिज्यिक बिलो तथा प्रतिज्ञा पत्रो का क्रय-विक्रय करता है अथवा इनकी पुन कटौती (Re-Discount) करता है। (iii) कृषि बिल्स का क्रय विक्रय —यह बैंक भारत मे भुगतान होने वाले, अधिक से अधिक १५ महीने की अवधि के, कृषि बिल्स का क्रय-विक्रय एव पुन कटौती करता है। (iv) ऋण देना —यह बैंक राज्य सरकारो, स्थानीय सरकारों, सदस्य बैंकों तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको को मांग पर भुगतान किया

जाने वाला ऋण या अधिक से अधिक ९० दिन के लिये ऋण देता है। यह ऋण स्वीकृत प्रतिभूतियों (Securities), सोना-चांदी, सदस्य बैंकों तथा सहकारी बैंको के ऋण-पत्रों आदि की जमानत पर दिया जाता है। (v) विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय.—यह भारत के बाहर अन्य देशों की प्रतिभूतियो का भी क्रय-विक्रय करता है परन्तु ये ऐसी हुआ करती हैं जो खरीदने की तारीख के १० वर्ष के अन्दर ही पक जाती हैं। (vi) ऋण लेना:—रिजर्व बैंक अपने व्यापारिक कार्यों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये सदस्य बैंकों या किसी भी अन्य देश के केन्द्रीय बैंक से अपनी सम्पत्ति की जमानत पर अधिक से अधिक ३० दिन की अवधि के लिए ऋण ले सकता है, परन्तु इस प्रकार के ऋणों की रकम किसी भी समय बैंक की कुल पूँजी से अधिक नहीं हो सकती है। (vii) मूल्यवान धातुओं का क्रय-विक्रय करना:—रिजर्व बैंक सोने के सिक्को तथा सोना-चांदी का भी क्रय-विक्रय किया करता है। (viii) अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों में खाता खोलना:—रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) के सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंकों मे खाता खोल सकता है और उनसे एजेन्सी (Agency) के सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I. B. R. &. D.) के लेन-देन के कार्य भी करता है।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य
(Functions that the Reserve Bank cannot do)

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य:—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार बैंक कुछ कार्य एवं बैंकिंग व्यवहार करने के लिये वर्जित कर दिया गया है। ये मुख्य-मुख्य वर्जित कार्य इस प्रकार हैं:—(i) रिजर्व बैंक देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग में न तो भाग ले सकता है और न इन्हे वह खोल ही सकता है। वह इन्हें आर्थिक सहायता भी नही दे सकता है। अतः रिजर्व बैंक देश के किसी भी व्यापार में विशेष रुचि नही रख सकता है। (ii) रिजर्व बैंक अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नही दे सकता है और न वह इस प्रकार की सम्पत्ति को (अपनी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त) खरीद ही सकता है। (iii) रिजर्व बैंक न तो अपने हिस्से और न किसी अन्य बैंक अथवा कम्पनी के शेयर्स ही खरीद सकता है और न वह ऐसे अंशों की जमानत पर ऋण ही दे सकता है। (iv) माँग पर भुगतान होने वाले विपत्रो के अतिरिक्त वह अन्य किसी भी प्रकार के पत्रो को न तो लिख सकता है और न स्वीकार ही कर सकता है। (v) बैंक के पास जमा (Deposits) पर वह ब्याज नही दे सकेगा। (vi) बैंक अरक्षित ऋण (Unsecured Loans) भी नही दे सकता है। यह स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक पर उक्त प्रतिबन्ध इस कारण लगाये गये हैं कि एक ओर तो वह देश के अन्य बैंकों से प्रतियोगिता नहीं कर सके और दूसरी ओर वह स्वयं सुरक्षित रहे तथा इसके व्यवसायिक कार्यों का आधार दृढ़ रह सके।

रिजर्व बैंक तथा मुद्रा और साख नियन्त्रण
(Reserve Bank and the Money & Credit Control)

प्राक्कथन:—किसी भी देश के केन्द्रीय बैंक का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश में मुद्रा तथा साख का नियमन एवं नियन्त्रण करे। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार का

नियन्त्रण किस प्रकार कर सकता है ? वह यह कार्य मुद्रा की क्रय शक्ति के विभिन्न अंगो पर नियन्त्रण करके कर सकता है। देश मे प्रचलित साकेतिक सिक्के, कागजी नोट तथा बैंको की वह जमा राशि जो चैक आदि साधनो द्वारा निकाली जा सकती है आदि, मुद्रा की क्रय शक्ति के विभिन्न अग माने जाते हैं। एक केन्द्रीय बैंक इन सब अगो पर जिस सीमा तक नियन्त्रण रखने पाता है उसकी मुद्रा व साख नियन्त्रण शक्ति भी उतनी ही अधिक मानी जाती है। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि रिजर्व बैंक किस सीमा तक और किस प्रकार इन अगो पर नियन्त्रण रखता है—

(अ) रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा नियन्त्रण—अन्य केन्द्रीय बैंको की तरह रिजर्व बैंक को भी नोट-निर्गम का एक मात्र अधिकार प्राप्त है। वह इस कार्य को अपने नोट निर्गम विभाग (Note Issue Department) द्वारा करता है। यह विभाग इसी बैंक के बैंकिंग विभाग (Banking Department) से पूर्णतया पृथक् है। नोट-निर्गम विभाग नोटो का प्रचलन पत्र मुद्रा-निधि (Paper Currency Reserve) के आधार पर करता है और इस निधि की सम्पत्ति स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्के, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, रुपये के सिक्के, रुपये की प्रतिभूतियाँ (Securities), सरकारी हुण्डियाँ (Treasury Bills) आदि के रूप मे होती है। रिजर्व बैंक इस सम्पत्ति के किसी भी अग को बढ़ाकर तथा उतने ही मूल्य के नोटो का प्रकाशन करके मुद्रा प्रसार कर देता है, और इसी तरह वह प्रचलित नोटो को वापिस लेकर अथवा रद्द करके तथा उतने ही मूल्य की सम्पत्ति को नोट-विभाग मे से कम करके मुद्रा सकुचन किया करता है। परन्तु यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न किया जाता है ? जब कभी रिजर्व बैंक को देश मे मुद्रा प्रसार करना होता है तब वह अपने बैंकिंग विभाग मे से रुपये की प्रतिभूतियाँ या विदेशी प्रतिभूतियाँ या दोनो, बैंक के नोट-निर्गम विभाग को हस्तान्तरित कर देता है और यह विभाग इन प्रतिभूतियो के मूल्य के बराबर नोट प्रकाशित करके इनसे मुद्रा प्रसार कर देता है। कभी-कभी इस प्रकार का मुद्रा-प्रसार सरकारी हुँडियो (Ad hoc Treasury Bills) के आधार पर भी किया जाता है। परन्तु जब कभी रिजर्व बैंक को मुद्रा सकुचन करना होता है तब वह उक्त से उल्टा क्रम अपनाता है अर्थात् वह बैंक के चलन विभाग म से रुपये की प्रतिभूतियाँ या विदेशी प्रतिभूतियाँ या दोनो को बैंक के बैंकिंग विभाग को हस्तान्तरित करके तथा इनके मूल्य के बराबर नोटो की मात्रा को कम करके मुद्रा-सकुचन किया करता है। कुछ विचारको का मत है कि रिजर्व बैंक का नोट निर्गम अथवा मुद्रा नियन्त्रण का कार्य बहुत ही सतोषजनक रहा है। बैंक की पत्र-मुद्रा निधि मे सोने के सिक्के अथवा स्वर्ण की मात्रा कभी ४० करोड रुपये से कम नही रही है वरन् सन् १९४८–४९ तक यह इस न्यूनतम सीमा से बहुत अधिक ही रही है। इसके विपरीत कुछ आलोचको का मत है कि रिजर्व बैंक मुद्रा नियन्त्रण के कार्य मे पूर्णतया असफल रहा है जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय महायुद्ध काल मे पत्र मुद्रा की मात्रा २११ करोड रुपये (१९३८–३९) से बढकर १,१७९ करोड रुपये (१९४५–४६) हो गई। वास्तव मे निष्पक्ष दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि युद्धकालीन अत्यधिक पत्र मुद्रा के प्रसार का दायित्व रिजर्व बैंक पर इतना अधिक नही है जितना कि यह अग्रेजी सरकार पर है जिसने रिजर्व बैंक एक्ट की उस धारा का लाभ उठाया जिसके

अन्तर्गत रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) के आधार पर नोट-निर्गम कर सकता था। यह अवश्य है कि इस समय रिजर्व बैंक चलन में आये हुये नोटों की मात्रा को घटाकर देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति को दूर करने में पूर्णतया असफल ही रहा है।

(आ) रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण (Credit Control by the Reserve Bank):—अन्य केन्द्रीय बैंको की भांति रिजर्व बैंक को भी देश-हित में साख-नियन्त्रण का अधिकार दिया गया है। इसलिए देश के समस्त बैंको के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वे अपनी माग देय (Demand Liabilities) का ५% और काल-देय (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास जमा के रूप मे रक्खें। रिजर्व बैंक के पास साख-नियन्त्रण के निम्नलिखित मुख्य साधन हैं—

(i) बैंक-दर (Bank Rate)—बैंक दर वह होती है जिस पर रिजर्व बैंक अन्य व्यापारिक बैंको को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है या जिस दर पर वह व्यापारिक बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिल्स की पुनः कटौती (Re-Discount) करता है। बैंक-दर नीति द्वारा साख-नियन्त्रण तब ही प्रभावशाली होता है जबकि देश की बैंकिंग संस्थायें आर्थिक संकट के समय अपने ऋण के लिये अथवा बिल्स की पुनः कटौती के लिये देश के केन्द्रीय बैंक पर आश्रित होती हैं (विस्तृत विवरण के लिये "केन्द्रीय बैंक" शीर्षक वाला अध्याय पढ़िये)। भारत में रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति आरम्भ से ही अधिक सफल नही हो सकी है और आज भी यह बहुत सप्रभाविक (Effective) नही है। यह बात इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि देश के विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दर भिन्न-भिन्न हैं। बैंक दर के सप्रभाविक नही होने के दो मुख्य कारण हैं—(अ) देश में मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की बाहुल्यता है जिससे व्यापारिक बैंकों तथा अन्य बैंकों को बहुत अधिक मात्रा में जनता से जमा-राशि प्राप्त हुई है। परिणामतः देश की बैंकिंग संस्थायें साख-निर्माण तथा आर्थिक सहायता के लिये रिजर्व बैंक पर बहुत निर्भर नहीं रहती हैं। (आ) रिजर्व-बैंक तथा देश की समस्त बैंकिंग संस्थाओं में वह घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नही हो सका है कि ये पूर्ण सहयोग से कार्य कर सकें। रिजर्व बैंक की दर सन् १६३८ से नवम्बर १६५१ तक ३% रही, परन्तु नवम्बर सन् १६५१ मे यह ३½% की गई और सन् १६५७ मे यह बढाकर ४% कर दी गई। बैंक दर की वृद्धि के कारण देश में अन्य ब्याज की दरो में भी वृद्धि हो गई जिससे देश में द्वितीय युद्ध काल में अपनाई गई सुलभ मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का अन्त होकर सन् १६५१ से दुर्लभ मुद्रा-नीति (*Dear Money Policy*) का आरम्भ हो गया। सुलभ मुद्रा-नीति के तीन मुख्य लाभ हैं—(अ) यह नीति मन्दी व बेकारी की समस्या के निवारण में बहुत सहायक होती है। (आ) इस नीति से सरकारी ऋण लेने मे बहुत सुविधा रहती है तथा (इ) इस नीति की सहायता से युद्धोत्तर काल में युद्ध विनिष्ट राष्ट्रो का आर्थिक निर्माण एवं पुनर्निर्माण बहुत आसानी से हो जाता है। परन्तु सुलभ मुद्रा-नीति में कई महत्वपूर्ण दोष भी हैं :—(अ) इस नीति से देश की पूंजी-निर्माण शक्ति बहुत कम हो जाती है। यही कारण था कि सन् १६५१ में प्रथम बार तथा सन् १६५७ में द्वितीय बार

रिजर्व बैंक को अपनी बैंक दर बढ़ानी पड़ी ताकि देश की पूंजी-निर्माण शक्ति मे उचित वृद्धि हो सके और पचवर्षीय योजनाओ के लिये पर्याप्त पूँजी उपलब्ध हो सके। (आ) सुलभ मुद्रा-नीति का दोष यह भी है कि इस नीति से विदेशी पूँजी आकर्षित नही होने पाती है। इसीलिये रिजर्व बैंक ने दो बार बैंक दर को बढ़ाकर विदेशी पूँजीपतियो को ऊँचे ब्याज दर का प्रलोभन दिया है ताकि पचवर्षीय योजनाओ के लिये अधिकाधिक विदेशी पूँजी प्राप्त हो जाय। (इ) यह मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न करती है। इसीलिए दुर्लभ मुद्रा नीति (Dear Money Policy) को अपनाकर देश मे मुद्रा-स्फीति की दशाओ को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। अत रिजर्व बैंक ने बैंक दर को बढ़ाकर अथवा दुर्लभ नीति अपनाकर देश की पूंजी निर्माण शक्ति में वृद्धि की है, विदेशी पूंजी आकर्षित हो जाने की परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं, मुद्रा-स्फीति की दशाओं पर रोक लगाई है, विदेशी व्यापार की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया है, तथा बैंकों को असीमित मात्रा मे ऋण प्रदान करने की नीति को नियन्त्रित किया है आदि। इस तरह बैंक दर की वृद्धि के कारण ऋण का लेना कम हो गया तथा बहुत से ऋण वापिस किये गये और बाजार मे कम-अधिक मात्रा मे मन्दी की लहर आ गई। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की बैंक दर द्वारा मुद्रा एव साख-नियन्त्रण की नीति सन् १६५१ के बाद के काल मे अपेक्षाकृत अधिक सफल हुई है।

(ii) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations) —एक केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर नीति को अधिक प्रभाविक बनाने के लिये खुले बाजार की क्रियायें भी करता है। जबकि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में आकर सरकारी सिक्यूरिटियो तथा प्रथम श्रेणी के बिलों व प्रतिज्ञा-पत्रों आदि का क्रय विक्रय देश हित में साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से करता है, तब इन क्रियाओं को खुले बाजारकी क्रियायें कहते हैं? रिजर्व बैंक को भी अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति खुले बाजार की क्रियायें करने का अधिकार दिया गया है ताकि वह भी इस नीति द्वारा अपनी बैंक दर नीति को अधिक सप्रभ भी बना सके। गत वर्षों मे सदस्य बैंक आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को सरकारी प्रतिभूतियाँ (Govt. Securities) असीमित मात्रा मे बेचकर धन प्राप्त कर लिया करते थे जिससे साख का प्रसार हो जाया करता था। परन्तु सन् १६५१ मे रिजर्व बैंक ने अपनी नीति मे भी परिवर्तन कर दिया और यह घोषणा कर दी कि वह बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सरकारी प्रतिभूतियाँ अथवा ऋण पत्र नही खरीदेगा (वह इन्हे केवल विशेष परिस्थितियो मे ही खरीदेगा) वरन् वह बैंक दर पर स्वीकृत ऋण-पत्रो के आधार पर ही केवल ऋण देगा। रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओ की नीति में परिवर्तन के लाभ तीन हुये हैं —(अ) बैंक दर पहले की अपेक्षा बहुत प्रभावी हो गई है, (आ) मुद्रा की पूर्ति मे लोचकता उत्पन्न हो गई है क्योकि व्यस्त व्यवसायिक काल में बैंक्स ऋण-पत्रो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले लेते हैं और इस प्रकार की दशाओ का अन्त होने पर बैंक्स रिजर्व बैंक को ऋण राशि लौटा देते हैं और अपने ऋण-पत्र वापिस कर लेते हैं। (इ) इस नीति से रिजर्व बैंक का देश के विभिन्न बैंकिंग सस्थाओ पर सप्रभाविक नियन्त्रण स्थापित हो गया है। परन्तु रिजर्व बैंक की इस नई नीति से तीन

हानियाँ भी हुई हैं :—(अ) खुले बाजार की क्रियाओं की नीति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि यह गुप्त रहे परन्तु रिजर्व बैंक की उक्तलिखित नवीन नीति से ये क्रियायें अब गुप्त नहीं रह सकती हैं। (आ) जबकि रिजर्व बैंक ऋण-पत्रों का स्वयं क्रय-विक्रय किया करता था, उस समय इन पत्रों के मूल्य के बहुत स्थिरता रहती थी, परन्तु रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति के परिवर्तनों से अब ऋण-पत्रों का मूल्य भी बहुत कम हो गया है। यह स्पष्ट है कि सरकारी ऋण पत्रों के मूल्यों मे इस प्रकार का परिवर्तन सर्वदा अनुचित ही है। (इ) उक्तलिखित परिवर्तित नीति बैंकों के लिये अत्यधिक महँगी असुविधाजनक तथा कष्टदायक है। यह सम्भव है कि इस प्रकार की नीति से एक सुसंगठित मुद्रा-बाजार के विकास में बहुत बाधा पड़ जाय।

(iii) रिजर्व बैंक की बिल योजना (Bill Scheme of the Reserve Bank)—देश में व्यापार की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा में वृद्धि करने के हेतु रिजर्व बैंक ने जनवरी सन् १६५२ मे एक नई बिल योजना कार्यान्वित की। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों को, पूर्व निश्चित शर्तों पर, बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर एक समय पर कम से कम १० लाख रुपये (प्रारम्भ मे यह न्यूनतम सीमा २५ लाख रुपये थी) का ऋण देता है। इस प्रकार के बिल बाजार के शीघ्र निर्माण के हेतु रिजर्व बैंक ने बैंकों को यह आकर्षण दिया है कि वे उक्त ऋण को बैंक दर से ½% कम पर ही ले सकेंगे। बिल बाजार प्रणाली को लोकप्रिय बनाने के हेतु रिजर्व बैंक ने यह भी घोषित किया है कि वह इस प्रकार के बिलों पर लगाये जाने वाले मुद्रांक कर (Stamp Duty) का आधा भाग स्वयं अपने पास से देगा। रिजर्व बैंक की यह योजना बैंकों के लिये बहुत प्रिय सिद्ध हुई है। यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि सन् १६५२, ५३, ५४, ५५ में सदस्य बैंकों ने बिलों के आधार पर क्रमशः ८२,६६,१४७ तथा १३५ करोड़ रुपये के ऋण उक्त योजना के अन्तर्गत लिये। अतः इस नवीन योजना द्वारा रिजर्व बैंक ने एक ओर तो देश में बिल बाजार के अभाव को दूर कर दिया है और दूसरी ओर उसे इस नीति द्वारा साख को नियन्त्रित करने का और अधिक अवसर मिल गया है।

(iv) नकद-कोष (Cash Reserves) :—अन्य-केन्द्रीय बैंकों की तरह रिजर्व बैंक को भी देश के विभिन्न बैंकों की जमा-राशि पर नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूची बद्ध बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माँग देय (Demand Liabilities) का ५% और काल-देय (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। अब तो १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार देश के अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक के पास या अपने पास उक्त प्रतिशत में नकद-जमा रखनी पड़ती है। ताकि देश में साख का केवल उचित मात्रा में ही निर्माण हो सके, इसलिए सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने यह भी अनिवार्य कर दिया है कि देश की प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी अपनी माँग तथा काल-देय का २०% भाग अपने पास नकद, स्वर्ण अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रक्खे। बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में हाल ही के कुछ संशोधनों द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह उक्त के सम्बन्ध में बैंकों को कुछ रियायतें भी

दे सकता है। इस तरह रिजर्व बैंक को बैंकों की नकद-जमा पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया है। परन्तु आलोचकों का यह मत है कि उक्त व्यवस्था में चूंकि बैंकों का रिजर्व बैंक के पास या स्वयं बैंकों के पास नकद कोष समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत के रूप में रहता है (रिजर्व बैंक इन प्रतिशतों में स्वयं कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है) इसलिए रिजर्व बैंक की नकद-कोष द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति अधिक प्रभावशाली एवं सफल नहीं हो सकी है। इसका कारण स्पष्ट है देश की बैंकिंग संस्थाएँ अपने शेष धन से ही पर्याप्त मात्रा में साख-निर्माण का कार्य कर लेती हैं और उन्हें इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है। यह सच है कि यदि अमेरिका के फैडरल बैंक की तरह भारत में रिजर्व बैंक को भी देश की बैंकिंग संस्थाओं के नकद कोष में परिवर्तन करने का अधिकार होता, तब वह इस परिवर्तन द्वारा बैंकों की साख-निर्माण शक्ति का बहुत ही अधिक प्रभावी नियन्त्रण कर लेता।

(v) <u>अन्य साधन</u>—(अ) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)—रिजर्व बैंक की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा साख नियन्त्रण की नीति सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के पास हो जाने पर ही कुछ प्रभावी हो सकी है। इस एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनीज के नियन्त्रण के हेतु कुछ विशेष अधिकार मिल गये हैं। अब यह बैंक किसी भी बैंक को किसी विशेष प्रकार का लेन-देन करने से रोक सकता है। वह किसी भी बैंक को किसी भी मामले पर सलाह दे सकता है। वह किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उसे अपनी निरीक्षण रिपोर्ट भेज सकता है। और बैंक के संचालकों की उस रिपोर्ट पर विचार करने के लिये बैठक बुला सकता है तथा किसी भी बैंक को उसकी कार्य-प्रणाली में देखे गये दोषों को सुधारने के लिये रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये सुझावों का पालन करने के लिये भी वह आदेश दे सकता है। इस तरह रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा भी साख का नियन्त्रण कर सकता है। (आ) जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार करना (Direct Dealing)—रिजर्व बैंक को कुछ विशेष परिस्थितियों में देशहित की दृष्टि से, सरकारी प्रतिभूतियों, बिल्स, प्रतिज्ञा-पत्रों तथा विदेशी विनिमय का सीधे रूप से जनता से क्रय-विक्रय करने का अधिकार दिया गया है। यह अवश्य है कि व्यवहार में रिजर्व बैंक इस अधिकार का उपयोग नहीं करेगा और वास्तव में उसने इस अधिकार का उपयोग अभी तक किया भी नहीं है। परन्तु रिजर्व बैंक के पास इस प्रकार का अधिकार होने से ही इसका अन्य बैंकों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है क्योंकि देश के बैंक्स रिजर्व बैंक के इस अधिकार के कारण इसके द्वारा निर्धारित साख-नियन्त्रण की नीति के विरुद्ध चलने का साहस नहीं कर सकेंगे। (इ) साख का राशनिंग (Rationing of Credit)—सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि वह देशहित में समस्त बैंकों की अथवा किसी एक बैंक की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है और इस प्रकार निर्धारित नीति का पालन सब बैंकों अथवा सम्बन्धित बैंकों को करना पड़ता है। यह ही नहीं रिजर्व बैंक को यहाँ तक अधिकार है की वह बैंकों को यह आदेश तक दे सकता है कि वे केवल प्रमुख कार्यों के लिए ही ऋण

दें तथा ऋण भी अमुक ब्याज की दर पर दे। चूंकि बैंकिंग संस्थाओं को रिजर्व बैंक के इन आदेशों का पालन पूर्णतया करना पड़ता है, इसलिये रिजर्व बैंक की साख का राशनिंग द्वारा साख नियन्त्रण की नीति काफी प्रभावी व सफल रही है। (ई) **प्रकाशन तथा नैतिक प्रभाव की नीति (Method of Publicity and Moral Suation):—** चूंकि रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग संस्थाओं से अभी तक बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है, इसलिये वह प्रकाशन द्वारा साख नियन्त्रण की नीति को नहीं अपना सका है। परन्तु रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं पर अपना नैतिक प्रभाव डालने में अवश्य थोड़ा बहुत सफल हुआ है और वह इस रीति द्वारा ही बैंकों के अनेक दोषों को दूर कर रहा है।

रिजर्व बैंक की अप्रभावी साख-नियन्त्रण अथवा मुद्रा-नियन्त्रण नीति के कारण (Causes for the ineffective Credit-Control and Monetary-Control Policy of the Reserve Bank):— उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के पास साख-नियन्त्रण अथवा मुद्रा-नियन्त्रण के बहुत से साधन हैं। परन्तु अनुभव से यही पता चलता है कि इतने अधिक साधन होने हुवे भी रिजर्व बैंक देश में साख एवं मुद्रा के नियन्त्रण में बहुत अधिक सफल नहीं होने पाया है। इसके कई कारण हैं:—(i) **मुद्रा बाजार तथा बिल बाजार का अभाव:—** देश में अभी तक एक सुव्यवस्थित एवं संगठित मुद्रा-बाजार तथा बिल-बाजार का निर्माण नहीं होने पाया है जिसके कारण रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण के हेतु बैंक दर नीति सप्रभावी नहीं होने पाई है। (ii) **देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं है:—** देश में श्रमिकों की मजदूरी तथा वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में अनेक नियन्त्रण पाये जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं है। इस अवस्था में रिजर्व बैंक की कोई भी साख एवं मुद्रा-नियन्त्रण नीति बहुत प्रभावशाली नहीं हो सकती है। (iii) **स्वदेशी बैंकिंग का स्वतन्त्र अस्तित्व –** रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंकर्स पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं कर सका है जिससे देशी बैंकर्स की आधुनिक बैंकिंग पद्धति से पूर्ण पृथकता पाई जाती है। चूंकि रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा-बाजार के एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग पर कोई नियन्त्रण नहीं है, इसलिए भी यह बैंक अपनी साख एवं मुद्रा नीति में बहुत सफल नहीं होने पाता है। (iv) **बैंकों के पास नकद-कोष का बाहुल्य.—** भारत में विशेषकर युद्धकाल में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के कारण, बैंकों के पास बहुत अधिक मात्रा में राशि जमा की गई। समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास या अपने पास नकद के रूप में या स्वीकृत प्रतिभूतियों अथवा बिल्स आदि के रूप में रखने पर भी, बैंकों के पास शेष धन इतनी अधिक मात्रा में बच रहता है कि वे इसकी सहायता से काफी बड़ी मात्रा में साख का निर्माण कर देते हैं और इस कार्य के लिये प्रायः रिजर्व बैंक पर निर्भर नहीं रहते हैं। यह भी एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण है जिसकी वजह से रिजर्व बैंक का देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाता है। अत बैंकों के पास नकद कोष का बाहुल्य भी एक ऐसा कारण है जिसकी वजह से रिजर्व बैंक अपनी साख एवं मुद्रा नियन्त्रण नीति में सफल नहीं होने पाता है।

रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

रिजर्व बैंक का स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया से सम्बन्ध (Reserve Bank and the State bank of India) –रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १९३४ के पास होने पश्चात् जब इस बैंक ने कार्य आरम्भ किया तब इस बैंक में और इम्पीरियल बैंक (वर्तमान स्टेट बैंक) में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक की जिन जिन स्थानों पर शाखाएँ थी वहाँ पर यह बैंक रिजर्व बैंक का एक मात्र एजेन्ट का कार्य करने लगा। इसी समझौते के अनुसार रिजर्व बैंक इम्पीरियल बैंक को उसकी सेवाओं के लिये कुछ कमीशन भी देता था परन्तु सन् १९५१ में इन दोनों संस्थाओं में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक को उसकी सेवाओं के लिये कमीशन इस प्रकार देना निश्चित हुआ—प्रथम पाँच वर्षों में १५० करोड़ रुपये तक $\frac{1}{16}$% अर्थात् १ आना प्रतिशत, १५० से ३०० करोड़ रुपये तक $\frac{1}{32}$% अर्थात् दो पैसे प्रतिशत तथा ३०० से १२०० करोड़ रुपए तक $\frac{1}{64}$% अर्थात् एक पैसा प्रतिशत परन्तु १२०० करोड़ रुपये के बाद $\frac{1}{128}$% दिया जायेगा। १ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और इसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) रख दिया गया। पूर्व की तरह आज भी स्टेट बैंक रिजर्व बैंक का उन स्थानों पर प्रतिनिधित्व करता है जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं। ताकि रिजर्व बैंक का नियन्त्रण स्टेट बैंक पर पूर्णतया रह सके, इसलिये स्टेट बैंक के ५५% शेयर्स बैंक को दिये गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही रिजर्व बैंक स्टेट बैंक की शाखाओं द्वारा देश के विभिन्न बैंकों पर नियन्त्रण रखता है (विस्तृत अध्ययन के लिये "स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया" शीर्षक नामक अध्याय पढ़िये)।

रिजर्व बैंक और स्वदेशी बैंकर्स

रिजर्व बैंक तथा विदेशी बैंकर्स (Reserve Bank and the Indigenous Bankers) —भारतीय साख-व्यवस्था और विशेषकर ग्रामीण साख व्यवस्था में स्वदेशी बैंकर्स का एक महत्वपूर्ण स्थान है। रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपनी विभिन्न योजनाओं द्वारा इन बैंकर्स को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह अपने प्रयत्नों में सदा असफल ही रहा। सर्व प्रथम सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने इन बैंकर्स को नियमबद्ध करने की एक योजना बनाई थी। किन्तु स्वदेशी बैंकर्स ने इस योजना को स्वीकार नहीं किया। सन् १९४१ में रिजर्व बैंक ने फिर एक नई योजना बनाई, परन्तु देशी बैंकर्स के विरोध के कारण यह भी कार्यान्वित नहीं की जा सकी (विस्तृत अध्ययन के लिए "स्वदेशी बैंकिंग" शीर्षक नामक अध्याय पढ़िये)। यह स्मरण रहे कि भारतीय मुद्रा-बाजार (Indian Money Market) का इस समय भी एक बहुत बड़ा दोष यह है कि रिजर्व बैंक देश की स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित नहीं करने पाता है जिसके परिणामस्वरूप वह साख नियन्त्रण के हेतु अपनी बैंक-दर नीति को सप्रभावी नहीं बनाने पाता है। रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है। इसलिये हम

यह आशा है कि रिजर्व बैंक शीघ्र ही मुद्रा-बाजार के इस महत्वपूर्ण अंग को भी नियमित एवं नियंत्रित करने में सफल हो जायगा ताकि वह अपनी साख-नियंत्रण की नीति में भी सफल हो सके।

रिजर्व बैंक और अनुसूचीबद्ध तथा असूचीबद्ध बैंक्स
(Reserve Bank and the Scheduled and Non-Scheduled Banks)

रिजर्व बैंक और अनुसूचीबद्ध बैंकों का सम्बन्ध (Relationship between the Reserve Bank and the Scheduled Banks):—रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् देश के बैंकों का विभाजन दो श्रेणियों में हो गया है—प्रथम अनुसूचीबद्ध (सदस्य) बैंक्स (Scheduled Banks) तथा द्वितीय असूचीबद्ध (असदस्य) बैंक्स (Non-Scheduled Banks)। अनुसूचीबद्ध बैंक्स उन बैंकों को कहते हैं जिनका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ४२ के अनुसार एक्ट की दूसरी श्रेणी (Scheduled II of the R.B. of India Act) में सम्मिलित कर लिया जाता है और जिनका नाम केन्द्रीय सरकार द्वारा सदस्य बैंकों की सूची में गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। अनुसूचीबद्ध बैंक्स वे हो सकते हैं:—(अ) जो भारत में अपना बैंकिंग कार्य करते है, तथा जिनकी परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) तथा निधि (Reserves) मिलाकर पांच लाख रुपये से कम नहीं होती है।

अनुसूचीबद्ध बैंकों के अधिकार (Rights) और दायित्व (Liabilities)-अनुसूचीबद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक द्वारा कुछ अधिकार दिये जाते हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) इन बैंकों को व्यापारिक बिल, साधारण बिल प्रतिज्ञा-पत्रों की रिजर्व बैंक द्वारा पुनः कटौती (Discounting of Bills etc.) कराने का अधिकार है। (ii) इन बैंकों को ट्रस्टी सिक्यूरिटीज, सोना-चांदी तथा अन्य मान्य प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण लेने का अधिकार होता है। परन्तु इन दोनों सुविधाओं को देने से पहले रिजर्व बैंक इस बात को देख लेता है कि बैंक की ऋण-नीति देश हित में है या नहीं। दूसरे शब्दों में रिजर्व बैंक केवल प्रतिभूतियों की अच्छाई को देख कर ही ऋण नहीं दे देता क्योंकि उसी पर यह दायित्व है कि बैंक्स उसके द्वारा दिये गये ऋणों का दुरुपयोग नहीं करें। (iii) इन बैंकों को रिजर्व बैंक से एक स्थान से दूसरे स्थान पर सस्ती तथा शीघ्र राशि-हस्तान्तरण की सुविधा भी मिलती है। (iv) रिजर्व बैंक इन बैंकों को समाशोधन-गृह (Clearing House) की भी सुविधाएं देता है। (v) आर्थिक संकट-काल में रिजर्व बैंक इन बैंकों को उचित सलाह देता है और हर प्रकार से सहायता देने का प्रयत्न करता है। परन्तु इन अधिकारों (Rights) के साथ ही साथ अनुसूचीबद्ध बैंकों के कुछ दायित्व (Liabilities) भी हैं:—(i) प्रत्येक अनुसूचीबद्ध बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपनी माग देय (Demand Liabilities) का ५% और काल-देय (Time Liabilities) का २% भाग नकद जमा के रूप में रखना पड़ता है। यदि कोई सदस्य बैंक इस शर्त को पूर्ति नहीं करता है, तब उसे नकद-कोष की कमी पर दंड के रूप में

ब्याज (Penal Interest) देना पडता है । ऐसी दशा मे रिजर्व बैंक उक्त बैंक को नई जमाएँ प्राप्त करने के लिये रोक सकता है । (ii) प्रत्येक अनुसूचीवद्ध बैंक को प्रति सप्ताह (Weekly Return) केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के पास एक ऐसा विवरण भेजना पडता है जिसमे कई बातो का समावेश होता है—बैंक की माँग-जमा तथा काल जमा की मात्रा, पत्र-मुद्रा तथा सरकारी पत्र-मुद्रा की वह मात्रा जो कि भारत मे है, बैंक के पास भारत मे कितने रुपये तथा कितनी अन्य मुद्राएँ (छोटे) सिक्के हैं, बैंक द्वारा किये गये ऋणो, अग्रिमो (Advances) तथा पुन कटौती किये गये बिल्स की राशि, बैंक का कितना रुपया रिजर्व बैंक मे जमा है तथा बैंक के पास नकद रुपया कितना है आदि । इस प्रकार का विवरण नही भेजने पर बैंको को १०० रुपये प्रतिदिन के हिसाब से दड देना पडता है । (iii) उक्त विवरण के अतिरिक्त इन बैंको को रिजर्व बैंक के पास वे विवरण भी भेजने पडते हैं जो बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार भेजने आवश्यक हैं ।

रिजर्व और असूचीवद्ध बैंक (Reserve Bank and the Non-Scheduled Banks).—वे बैंक्स जिनका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ४२ के अनुसार एक्ट की दूसरी श्रेणी (Schedule II of the Act) मे सम्मिलित नही किया गया है, असूचीवद्ध बैंक्स (Non Scheduled) कहलाते हैं । सदस्य बैंक भी दो प्रकार के होते हैं —प्रथम, जिनकी दत्त पूँजी (Paid-up Capital) तथा निधि (Reserve) मिला कर ५०,००० रुपये से अधिक होती है तथा द्वितीय वे बैंक्स जिनकी दत्त पूँजी तथा निधि मिलाकर उक्त रकम से कम होती है । रिजर्व बैंक का सम्बन्ध केवल प्रथम श्रेणी के ही बैंको से रहता है। इस श्रेणी के बैंक्स भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार रजिस्टर्ड रहते हैं और उन्हे उसी विधान की २७७ (क) धारा के अनुसार बैंकिंग व्यापार करने का अधिकार होता है भारतीय कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत तमाम बैंकिंग कम्पनियो को रजिस्ट्रार ऑफ कम्पनीज के पास अपने वैधानिक विवरण (Statutory Returns) की तीन प्रतिलिपियाँ भेजनी पडती है जिनमे से एक प्रति रिजर्व बैंक के पास भेज दी जाती है। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज के एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक का उक्त असदस्य बैंको पर थोडा सा नियन्त्रण स्थापित हो गया है इस एक्ट के अनुसार अब इन बैंको को भी रिजर्व बैंक के पास एक मासिक विवरण पत्र भेजना पडता है और इन असदस्य बैंकों को भी अपनी माँग-देय का ५% तथा काल देय का २% भाग नकद कोष के रूप मे अपने पास या रिजर्व बैंक के पास रखना पडता है (यह स्मरण रहे कि अनुसूचीवद्ध बैंको को इस प्रकार की राशि अनिवार्यत रिजर्व बैंक के पास ही रखनी पडती है) । रिजर्व बैंक ने सन् १९४० से उक्त प्रकार के बैंको को भी धन के स्थानान्तरण की सुविधाएँ देना प्रारम्भ कर दिया है । इस सुविधा के दे देने से रिजर्व बैंक का असदस्य बैंको से सम्बन्ध स्थापित हो गया है और इस सम्बन्ध को और भी अधिक बढाने के लिये उसने अनुसूचीवद्ध बैंको को अपने यहाँ खाते खोलने की सुविधा भी दी है परन्तु इनमें किसी भी समय दस हजार रुपये से कम जमा-राशि नही रहेगी और इस राशि का उपयोग केवल पारस्परिक समाशोधन के कार्यो मे ही होगा । इसके अतिरिक्त सन् १९४९ के कम्पनीज एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक अब असदस्य बैंको का भी निरीक्षण कर सकता है और वास्तव मे

उसने निरीक्षण करना आरम्भ भी कर दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि अब तो रिजर्व बैंक का सदस्य बैंकों के साथ भी कम-अधिक मात्रा में सम्बन्ध स्थापित हो गया है और यह आशा की जाती है कि वह इन बैंकों की कार्य-प्रणाली को भी प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके देश में एक सुसंगठित बैंकिंग-व्यवस्था का निर्माण कर सकेगा।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में कुछ संशोधन
(Amendments in the Reserve Bank of India Act)

(i) सन् १९५१ का संशोधन [Reserve Bank of India (Amendment) Act 1951]:—इस संशोधन की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार है—(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट केवल जम्मू और काश्मीर को छोड़कर समस्त भारत में लागू होगा। (ii) कृषि-बिल्स की अवधि ९ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है। (iii) रिजर्व बैंक किसी भी विदेशी सरकार या व्यक्ति का एजेन्ट के रूप मे कार्य भारतीय सरकार की अनुमति से कर सकता है। (iv) रिजर्व बैंक पार्ट ब राज्यो के मौद्रिक व ऋण सम्बन्धी कार्य उससे समझौता करके कर सकता है। (v) गवर्नर की अनुपस्थिति मे डिप्टी गवर्नर बैंक का प्रबन्ध तथा सचालन करेगा। (vi) यह उन व्यापारिक बिलों की भी पुनः कटौती कर सकेगा जिन पर किसी राज्य के सहकारी बैंक के हस्ताक्षर हैं। (vii) रिजर्व बैंक का बैंकिंग विभाग सरकारी सिक्यूरिटीज किसी भी मूल्य तक, और चाहे जितने समय की, अपने पास रख सकेगा। (viii) सदस्य बैंको को अपने विवरण पत्रों मे विनियोगो (Investments) का उल्लेख करना भी आवश्यक कर दिया गया। (ix) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंको से भी वे विवरण मांग सकता है जो कि सदस्य बैंक रिजर्व बैंक के पास भेजते हैं। (x) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को निर्धारित कोष रखने तथा निर्धारित अवधि मे साप्ताहिक विवरण भेजने से मुक्त भी कर सकता है। (xi) उस समय के इम्पीरियल बैंक को रिजर्व बैंक का एक मात्र एजेन्ट के रूप में कार्य करने का जो अधिकार था, वह केवल पार्ट ए व पार्ट सी राज्यों तक सीमित कर दिया गया। यह स्पष्ट है कि इस संशोधन द्वारा एक तरफ तो रिजर्व बैंक का कार्य क्षेत्र बढ़ा दिया गया और दूसरी तरफ से उसे देश में कृषि-साख की उचित व्यवस्था करने के लिये कुछ और अधिकार दे दिये गये।

(२) सन् १९५३ का संशोधन–[Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1953]—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में सन् १९५३ मे संशोधन कृषि-साख के विस्तार की दृष्टि से ही किया गया था। इस संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को कृषि-कार्यों के लिये १५ महीने से ५ साल तक की अवधि के लिये ५ करोड़ रुपये तक ऋण देने का अधिकार दिया गया। राज्य सरकार, सहकारी समितियाँ तथा बैंक्स द्वारा यह रुपया कृषकों को नया कुआँ खोदने, ट्रैक्टर आदि खरीदने छोटे-मोटे बाँध बनाकर सिंचाई सुविधायें उपलब्ध करने आदि के लिये दिया जायगा। देश के सहकारी बैंक्स को विशेषकर उक्त सुविधा से लाभ हुआ क्योंकि ये बहुत कम ब्याज की दर पर रिजर्व बैंक से रुपया उधार लेंगे और कम ब्याज की दर पर ही कृषकों को उक्त कार्यों के लिये रुपया उधार दे सकेंगे।

(३) सन् १९५५ का संशोधन—[Reserve Bank of India (Amendment) Act,1955]–रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में यह संशोधन अखिल भारतीय ग्राम्य साख जाँच समिति (All India Rural Credit Survey Committee Report, 1955) की सिफारिशों के आधार पर किया गया। उक्त समिति की रिपोर्ट को कार्यान्वित करने के लिये रिजर्व बैंक ने दो कोषों का निर्माण किया है—प्रथम, राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund] और द्वितीय, राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]। प्रथम कोष में रिजर्व बैंक प्रारम्भ से ही १० करोड़ रुपया जमा करेगा और जून १९५६ से प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपये जमा करता रहेगा। इस कोष का उपयोग इस प्रकार होगा —(अ) इस कोष म से राज्य सरकारों को अधिक से अधिक २० वर्ष की अवधि के लिये ऋण दिये जायेंगे ताकि वे इस राशि से सहकारी साख समितियों के शेयर्स खरीद सकें। इस व्यवस्था का उद्देश्य समितियों की अंश पूँजी (Share Capital) म वृद्धि करना है। (आ) रिजर्व बैंक इस कोष में से राज्य सहकारी बैंकों को १५ महीने से ५ वर्ष की अवधि तक के मध्यम कालीन ऋण (Medium Period Loans) देगा। ताकि वे संस्थायें इस ऋण से कृषि-साख की व्यवस्था कर सकें। (इ) रिजर्व बैंक इस कोष म से केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों (Central Land Mortgage Banks) को अधिक से अधिक २० वर्ष की अवधि के लिये दीर्घकालीन ऋण देगा। (ई) इस कोष में से राज्य सरकारों को केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीदने के लिये भी ऋण दिये जायेंगे। द्वितीय कोष में रिजर्व बैंक ३० जून सन् १९५६ से प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपया जमा करेगा। इस कोष में जो धन रक्खा जायगा उसका उपयोग केवल राज्य सहकारी बैंकों को ऋण देने के लिये किया जायगा और इन बैंकों को यह अधिकार होगा कि वे अकाल, बाढ़, सूखा अथवा अन्य प्राकृतिक आपत्तियों के समय अल्पकालीन ऋण को आवश्यकतानुसार मध्यकालीन ऋण में परिवर्तित कर दें। अतः सन् १९५५ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में जो संशोधन हुआ उससे यह स्पष्ट है कि देश में कृषि-साख को बहुत सहायता मिली है।

(४) सन् १९५६ व सन् १९५७ के संशोधन–इन संशोधनों के द्वारा इस देश म अनुपातिक कोष-निधि-प्रणाली के स्थान पर स्थिर स्वर्ण कोष प्रणाली का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में ऊपर विस्तार से लिखा जा चुका है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया व्यवहार में
(The Reserve Bank of India in Action)

रिजर्व बैंक की महत्ता (Importance of the Reserve Bank) —रिजर्व बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में बहुत बार यह प्रश्न उठता है कि क्या यह बैंक अपने उद्देश्यों में सफल रहा है? या इस बैंक से देश को कहाँ तक लाभ पहुँचा है? सन् १९३५ से पहले देश में एक केन्द्रीय बैंक नहीं होने के कारण भारतीय बैंकिंग का पर्याप्त विकास नहीं होने पाया था, मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंग असंगठित रहते थे, मौसमी मुद्रा की

दुर्लभता रहती थी तथा इम्पीरियल बैंक की बैंक दर साख-नियन्त्रण करने में बहुत कुछ असफल ही रहती थी आदि। इसीलिए रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने पर इससे बहुत सी आशाएं थीं। रिजर्व बैंक के २२ वर्ष के जीवन-काल के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संस्था में कुछ दोष रहते हुए भी यह अपने उद्देश्यों में बहुत कुछ सफल रहा है और इसने देश की अत्यधिक सेवा की है। इस बैंक के कारण ही देश में बैंकिंग का सुदृढ व सुव्यवस्थित विकास होने पाया है। संक्षेप में, रिजर्व बैंक निम्नलिखित कार्यों को करने में समर्थ रहा है और उसने इनमें सफलता भी प्राप्त की है:—

(i) नोट-निर्गम का कार्य:—यह कार्य बहुत संतोषजनक रहा है। जब से इस बैंक को नोट-निर्गम का अधिकार दिया गया है, तब से आज तक इसने नोट-निर्गम विधि में स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण-पाट की मात्रा कभी भी ४० करोड रुपये से कम नहीं होने दी है वरन् सन् १९४८–४९ तक यह रकम इस सीमा से अधिक ही रही है। (ii) सस्ती-मुद्रा नीति.—(Cheap Money Policy):—रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ से ही सस्ती-नीति को अपनाया है। इस नीति द्वारा भारतीय व्यापार, उद्योग व कृषि की बढ़ती हुई रुपये की मांग की पूर्ति सफलता से हो सकी है। इस बैंक के जन्म से ही नवम्बर सन् १९५१ तक बैंक की दर ३ % रही है। इसमें सन् १९५१ में प्रथम बार परिवर्तन हुआ जबकि यह बढ़ाकर ३½% कर दी गई और अब सन् १९५७ में द्वितीय बार परिवर्तन हुआ है। इस समय यह बढ़ा कर ४% कर दी गई है। (iii) सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था:—इस बैंक ने सरकार के बैंकर के रूप में सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा किया है। यह सरकारों को बहुत कम ब्याज की दरों पर ऋण दिलाने में सफल हुआ है। (iv) बैंकों का अन्तिम ऋणदाता:—आर्थिक संकट काल में इस बैंक ने बैंकों के अन्तिम ऋणदाता के रूप में बहुत सहायता की है और देश के अनेक बैंकों को टूटने से बचाया है। (v) औद्योगिक वित्त-व्यवस्था (Industrial Finance):—रिजर्व बैंक के सहयोग तथा पथ-प्रदर्शन द्वारा ही औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करने के लिए स्थापित हो सका है। (vi) कृषि अर्थ व्यवस्था:—कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन तथा अनुसन्धान के लिये रिजर्व बैंक ने आरम्भ से ही कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) स्थापित किया था। परन्तु हाल ही में रिजर्व बैंक एक्ट में सन् १९५३ में और फिर सन् १९५५ में भी संशोधन हुये हैं जिनके कारण अब रिजर्व बैंक कृषि-साख व्यवस्था करने में और भी अधिक प्रयत्नशील हो गया है। इसके द्वारा सहकारी आन्दोलन को भी बहुत बल मिला है। (vii) ब्याज की दरों में परिवर्तन:—रिजर्व बैंक ब्याज की दरों में विभिन्न ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों को भी बहुत कुछ कम करने में सफल हो सका है। (viii) धन का हस्तान्तरण:—सरकार, जनता, सदस्य बैंकों, सहकारी समितियों तथा कुछ शर्तों पर असदस्य बैंकों को धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करने में इसने सुविधाएं दी हैं। (ix) बैंकिंग विधान—रिजर्व बैंक एक्ट तथा सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को जो विशेष अधिकार प्राप्त हुए हैं उनका उपयोग करके इसने देश में एक सुदृढ तथा सुव्यवस्थित बैंकिंग-

प्रणाली की रचना की है। भारतीय बैंकों का समय समय पर निरीक्षण आर्थिक सकट की समय उनकी सहायता करके इसने उनका सहयोग प्राप्त किया है जिससे भारतीय बैंकों के दोष अब धीरे-धीरे दूर होते जा रहे हैं। (x) विदेशी विनिमय—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित करके इसने रुपये का बाह्य मूल्य स्थायी रक्खा है।

रिजर्व बैंक की आलोचना

रिजर्व बैंक की आलोचना—यद्यपि रिजर्व बैंक पिछले २२ वर्षों से बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है, परन्तु इसके विरुद्ध कुछ आरोप भी हैं। रिजर्व बैंक के कार्यों की आलोचना मुख्यत इस प्रकार की जाती है—(i) रुपये के आन्तरिक मूल्य मे अस्थिरता (Instability in the Internal Value of the Rupee)—आलोचकों का मत है कि रिजर्व बैंक रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थिर रखने मे असफल रहा है। द्वितीय महायुद्ध काल मे नोटो की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हुई। जबकि सन् १९३८–३९ मे नोटो की मात्रा केवल २११ करोड रुपये थी तब सन् १९४५–४६ मे इसकी मात्रा बढ कर १,१७९ करोड रुपया हो गई। मुद्रा की मात्रा मे इस प्रकार की वृद्धि के कारण रुपये के आन्तरिक मूल्य मे बहुत ह्रास अथवा देश के मूल्य-स्तर मे अत्यधिक वृद्धि हुई जिसके घातक प्रभाव देश को आज भी सहन करने पड रहे है। इसीलिये आलोचको का मत है कि रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति असफल रही है। परन्तु रिजर्व बैंक की उक्त नीति का समस्त दोष उसी पर ही नही थोपा जा सकता है वरन् ब्रिटिश सरकार ने भारतीयो की परतन्त्रता के कारण रिजर्व बैंक एक्ट की उस धारा का लाभ उठाया जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियो (Sterling Securities) के आधार पर नोट निर्गम कर सकता था। चूंकि रिजर्व बैंक नोट निर्गम के सम्बन्ध मे उस समय कोई स्वतन्त्र नीति नही अपना सकता था, इसलिये युद्धकालीन नोट-निर्गम की दोषपूर्ण नीति का पूरा दायित्व रिजर्व बैंक पर नही रक्खा जा सकता है। (ii) बिल-बाजार का विकास (Development of the Bill Market)—रिजर्व बैंक देश मे एक सुसगठित बिल बाजार का विकास करने तथा सदस्य बैंको को बिलो की पुन कटौती (Re Discount) की पर्याप्त सुविधाएँ देने म असफल रहा है। यह स्पष्ट है कि देश मे बैंकिंग के समुचित विकास के लिये इसे उक्त सुविधाओं को अविलम्ब अधिकाधिक मात्रा मे प्रदान करना चाहिये। (iii) मुद्रा-बाजार का विकास (Development of the Indian Money Market)—आलोचको का मत है कि रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा-बाजार को सुदृढ व सुसगठित करने मे भी असफल रहा है। यह मुद्रा-बाजार की विभिन्न साख-सस्थाओं म यथेष्ट सहयोग उत्पन्न नही करने पाया है और मुद्रा बाजार के एक महत्वपूर्ण अग (स्वदेशी बैंकर्स) पर तो इसका बिलकुल भी नियन्त्रण नही है। रिजर्व बैंक एक्ट तथा सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट से इसे जो विशेष अधिकार प्राप्त हुये हैं उनका इसे पूरा पूरा उपयोग करना चाहिये और देश की विभिन्न साख-सस्थाओ मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी तरह इसे स्वदेशी बैंकिंग तथा सहकारी बैंक्स एव सहकारी साख समितियों को भी अपने नियन्त्रण मे लाने का प्रयत्न करना चाहिये। (iv) कृषि साख की व्यवस्था (Organisation of Agricultural Credit)—रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह भी कहा

जाता है कि यह अभी तक कृषि-साख की उचित व्यवस्था नहीं कर सका है और न यह उन संस्थाओं पर भी नियन्त्रण कर सका है जो कृषि-साख की व्यवस्था करती हैं, जैसे महाजन व देशी बैंकर्स, सहकारी साख-समितियाँ व सहकारी बैंक्स आदि। (v) बैंकों का फेल होना (Bank Failures):—कुछ आलोचकों का यह मत है कि रिजर्व बैंक देश में बैंकों को फेल होने से बचाने में असमर्थ रहा है। इनका मत है कि रिजर्व बैंक बैंकों का अन्तिम ऋणदाता है, इस कारण इसका यह कर्त्तव्य है कि यह उनको आवश्यकता के समय सहायता देकर टूटने से बचाये। परन्तु इस आलोचना में अधिक तथ्य नहीं है। रिजर्व बैंक समय-समय पर यदि बैंकों को सकट के समय आर्थिक सहायता नहीं देता, तब बहुत से बैंक बहुत पहले ही फेल हो जाते। कुछ समय पहले फेल होने वाले अधिकांश बैंक्स ऐसे थे जिनकी वास्तविक स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान रिजर्व बैंक को नहीं होने पाता था। परन्तु सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में उक्त स्थिति में बहुत सुधार हो गया है क्योंकि अब रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि वह कमजोर बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) करवा सकता है।

निष्कर्ष:—रिजर्व बैंक में यद्यपि अब तक कुछ दोष रहे हैं या आज भी कुछ दोष हैं, परन्तु इसने देश में आर्थिक स्थायित्व का एक नया युग स्थापित कर दिया है। इसने समय-समय पर कितने ही महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। द्वितीय महायुद्ध के कारण उत्पन्न होने वाली मौद्रिक एवं विनिमय समस्याओं का तथा अन्य अनेक घटनाओं का इसने सफलतापूर्वक मुकाबला किया है। आज यही आशा है कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् यह देश-हित में और भी अधिक उपयोगी कार्य करने में सफल होगा और देश के आर्थिक हितों की रक्षा करने में सदा अग्रसर रहेगा।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. A. & B. Sc.

१. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की पिछले दस वर्षों की कार्यवाही पर आलोचनात्मक विचार करें। (१९६०) २. भारत के रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक का कार्य कहाँ तक सुचारु रीति से किया है? उदाहरण सहित उत्तर दीजिये। (१९५९ S) ३. रिजर्व बैंक एक्ट पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिये। सन् १९५६ के रिजर्व बैंक संशोधन एक्ट के क्या उद्देश्य हैं? (१९५७ S) ४. रिजर्व बैंक के कार्यों पर प्रकाश डालिए। (१९५७) 5. What principles should govern the note-issue in a country? In this connection, examine the provisions of the Reserve Bank of India Act. (1956)

Agra University, B. Com.

१. तुलनात्मक नोट लिखिये—अनुसूचित बैंक और गैर अनुसूचित बैंक। (१९६०) २. नोट लिखिये—रिजर्व बैंक का कृषि-साख-विभाग। (१९५९) 3. What part does the Reserve Bank play in the banking system of India? How does it control the volume of credit in the country? (1585) 4. Explain the difference—Demand Liability and Time Liability of a Bank. (1988 S) 5. What part does the Reserve Bank of India play in relation to the currency and banking systems of the country? (1957 S) 6. Explain the

difference between—A Scheduled Bank and a Non-scheduled Bank. (1957 S) 7. *Write a note on—Open market operations of the Reserve* Bank of India. (1957) 8. Write a note on—Scheduled Banks. (1956 S, 1954) 9 What part does the Reserve Bank of India play in the banking system of this country? How does it control currency and credit in the country? (1956) 10 Describe the central banking functions of the Reserve Bank of India How does it control the volume of currency and credit in the country and maintain the foreign exchange value of the rupee? (1955 S) 11. Write a note on—Agricultural credit department of the Reserve Bank (1955) 12. Explain briefly the constitution and functions of the Reserve Bank of India. How does it exercise control over currency and credit in the country? (1954) 13 Write a note on—Rebate on Bills Discounted (1954)

Banaras University, B. Com.

1 Examine the functions of the Reserve Bank of India (a) as note issuing authority and (b) as banker's bank. (1959)

Rajputana University, B Com.

1. "During recent years, the Reserve Bank of India's policy has been directed, on the one hand, to checking the inflationary pressures generated by a development programme with a substantial amount of deficit financing, and on the other to assist in the extension of credit facilities for those sectors wherein development was being hampered by inadequacy of credit facilities" Discuss. (1959) 2 How does the Reserve Bank of India control and regulate the supply of currency and credit? *Indicate your answer in the light of the recent Ordinance* (Oct. 31, 1957) reducing the statutory minimum current reserve to R. 200 crores. (1958) 3 How does the Reserve Bank of India control and regulate the supply of currency and credit? (1957) 4 Give a critical estimate of the working of the Reserve Bank of India during the last decade of its existence (1955) 5. Write a note on—Nationalisation of Reserve Bank of India (1954)

Vikram University, B Com

1. How does the Reserve Bank of India control and regulate the supply of currency and credit? (1959)

Allahabad University, B A

१ भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यों की विवेचना कीजिए। (१९५६) 2. What is 'bank credit'? How does the Reserve Bank of India control it? (1954)

Allahabad University, B Com

1. What is Bank Rate? How does it influence other money rates? *Discuss with reference to India* (1957) 2. *Describe briefly the* functions of the central Bank as to (a) structure (b) operations and (c) Supervision of the money market. How far has the Reserve Bank of India succeeded in integrating the banking system of the country? (1956)

Gorakhpur University, B Com

1 What are the weapons in the hands of a central Bank to control volume of credit and currency in a country? How far has the Reserve Bank of India's policy succeeded in cheaking the *rise in the* Prices of certain commodities? (Pt. II. 1959) 2 How does the Reserve

अध्याय १३

भारत में मिश्रित पूँजी के बैंक्स (व्यापारिक बैंक्स)

(Joint Stock Banks in India)

<u>संक्षिप्त इतिहास</u>.—मिश्रित पूँजी के बैंक्स अथवा व्यापारिक बैंक्स उन बैंकों को कहते है जिनकी स्थापना भारतीय कम्पनीज एक्ट १९१३ (Indian Companies Act, 1913) के अनुसार हुई है। यद्यपि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कुछ कार्य व्यापारिक बैंक्स के भी करता है, परन्तु इसको हम व्यापारिक बैंकों की श्रेणी मे सामान्यतः नही रखते हैं क्योंकि इसका निर्माण पृथक् एक्ट से हुआ है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया साधारणतया व्यापारिक बैंकों के कार्य करता ही नही, इसलिये यह व्यापारिक बैंकों की श्रेणी मे नही रक्खा जा सकता। अतः रिजर्व बैंक अथवा स्टेट बैंक को छोड़कर देश के अन्य जितने भी सीमित दायित्व वाले बैंक कार्य कर रहे हैं वे सब व्यापारिक बैंक्स या मिश्रित पूँजी के बैंक्स कहे जाते है। यह स्मरण रहे की यद्यपि विनिमय बैंक्स व्यापारिक बैंकों के भी कार्य करते हैं, परन्तु चूंकि ये विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था से मूलतः सम्बन्धित होते है, इसलिये उन्हे मिश्रित पूँजी के बैंक्स* अथवा व्यापारिक बैंकों की श्रेणी मे न रख कर, इन्हे, विनिमय बैंक्स, कहते हैं।

भारत मे व्यापारिक बैंकों का इतिहास बहुत पुराना नही है। जिस समय अग्रेज व्यापारी भारत आये, तब उन्होने स्वदेशी बैंकर्स को उनकी आवश्यकता को पूर्ण करने मे असमर्थ पाया जिसके कारण उन्होंने एजेन्सी-गृहो (Agency Houses) की स्थापना कलकत्ते और इसके आस-पास की। ये गृह ही भारत मे आधुनिक बैंकिंग के निर्माता है। कुछ समय पश्चात् आर्थिक कठिनाइयो के कारण उक्त गृह शनैः शनैः बन्द होते चले गये और इनका स्थान मिश्रित पूँजी के बैंको ने ले लिया। यूँ तो सन् १७८५ मे और इसके आस-पास सीमित दायित्व वाले बैंको की स्थापना का श्रीगणेश हो गया था जिनमे से कुछ को पत्र-मुद्रा चलन का भी अधिकार था, परन्तु इस प्रकार के व्यापारिक बैंकों की स्थापना तथा इनकी प्रगति मुख्यत सन् १८६० के पश्चात् ही हुई। यह इस बात से स्पष्ट है कि सन् १८६८ तक देश मे बैंको की सख्या २५ हो गई थी, यद्यपि इस समय

*"मिश्रित पूँजी के बैंक्स" वाक्यांश भ्रमात्मक है। वास्तव मे ऐसे बैंको की यह विशेषता होती है कि इनकी पूंजी एक से अधिक व्यक्तियो एवं सस्थाओ द्वारा दी जाती है। इस प्रकार की विशेषता यदि व्यापारिक बैंको मे होती है, तब यह विनिमय बैंको मे अथवा औद्योगिक बैंको आदि में भी हो सकती है। अतः 'मिश्रित पूंजी के बैंक्स' और 'व्यापारिक बैंक" वाक्यांश पर्यायवाची नही है। परन्तु परम्परा ही कुछ ऐसी है कि केवल "व्यापारिक बैंको" को "मिश्रित पूंजी के बैंक्स" कहते हैं और विनिमय बैंक्स अथवा औद्योगिक बैंको को मिश्रित पूंजी के बैंक्स नही कहा जाता यद्यपि इन बैंकों की भी पूंजी एक से अधिक व्यक्तियों अथवा सस्थाओं द्वारा दी जाती है।

तक कितने ही बैंक खुले और कितने ही बैंक ठप्प भी हो गये। बैंकों की संख्या में सन् १६०० तक कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई, परन्तु तत्पश्चात् देश में व्यापारिक बैंकों का विशेष विकास हुआ। इसी समय कुछ ऐसे शक्तिशाली बैंकों की स्थापना हुई जो आज तक जीवित हैं और देश की बड़ी सेवा कर रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही देश में बैंकों की बाढ़ सी आ गई क्योंकि इस समय तक स्वदेशी आन्दोलन को काफी बल मिल चुका था। भारत में बैंकिंग के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट है। सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के पास होने तक, समय-समय पर दसियों बीसियों नये नये बैंकों अथवा उनकी शाखाओं की स्थापना हुई और इसी काल में कुल मिलाकर सैंकड़ों बैंक ठप्प भी हुये। इस सम्बन्ध में "भारत में बैंकिंग का विकास" शीर्षक नामक अध्याय में सविस्तार लिखा गया है।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण (Classification of the Commercial Banks) —भारतीय व्यापारिक बैंकों को चार वर्गों में विभाजित किया जाता है— (i) इस श्रेणी में उन सब व्यापारिक बैंकों का समावेश होता है जिनकी परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) एवं निधि (Reserves) मिलाकर ५ लाख रुपये से अधिक होती है। इस प्रकार के बैंकों का नाम रिज़र्व बैंक की दूसरी सूची (Schedule II) सम्मिलित कर दिया जाता है। (ii) इस श्रेणी में वे बैंक्स हैं जिनकी परिदत्त पूजी और निधि १ लाख से ५ लाख रुपये तक है। (iii) इस श्रेणी में वे बैंक्स हैं जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हज़ार रुपये से १ लाख रुपये तक है। (iv) इस श्रेणी में वे बैंक्स हैं जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हज़ार रुपये से कम होती है। इस समय इस अन्तिम श्रेणी के बैंकों की संख्या ८६ (१६५४) है। सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार अब कोई भी नया बैंक ५० हज़ार रुपये से कम पूँजी का स्थापित नहीं किया जा सकता है। चूंकि इस श्रेणी के बैंकों की आर्थिक दशा बहुत ही हीन होती है, इसीलिये इस प्रकार के बैंकों का शनैः शनैः अन्त होता जा रहा है। व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण एक दूसरे तरीके से भी व्यक्त किया जाता है—प्रथम, अनुसूचीबद्ध बैंक्स तथा द्वितीय असूचीबद्ध बैंक्स। प्रथम श्रेणी के बैंकों की अर्थात् अनुसूची-बद्ध बैंकों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं —(अ) ये वे बैंक्स हैं जिनकी परिदत्त पूँजी तथा निधि मिलाकर ५ लाख रुपये से अधिक होती है (आ) रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की दूसरी सारिणी (Schedule II) में इन बैंकों के नाम का समावेश होता है, (इ) इन बैंकों को अपनी माँग देय (Demand Liabilities) का ५% तथा काल देय (Time Liabilities) का २% रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास जमा करना पड़ता है। इस तरह अनुसूची-बद्ध बैंक्स वे बैंक्स हैं जिनके सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक को यह विश्वास रहता है कि ये अपने तमाम कार्य अपने जमाकर्ताओं (Depositors) के हित में ही करते हैं। इन बैंकों को रिज़र्व बैंक द्वारा विशेष सुविधायें भी दी जाती हैं। ये रिज़र्व बैंक से उचित सिक्यूरिटीज के आधार पर ऋण ले सकते हैं अथवा हुण्डियों व विनिमय पत्रों की पुनः कटौती करवा सकते हैं आदि। कोई भी मिश्रित पूंजी का बैंक जो रिज़र्व बैंक एक्ट की धारा ४२ (६) की

शर्तें पूरी करता है, उसका समावेश उक्त सूची मे किया जाता है और इसे हम अनुसूची-बद्ध बैंक कहने लगते हैं। द्वितीय श्रेणी के बैंकों अर्थात् अनुसूची-बद्ध बैंकों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं.—(अ) ये वे मिश्रित पूंजी के बैंक्स हैं जिनके नाम का समावेश रिजर्व बैंक की द्वितीय सारिणी (Schedule II) मे नही किया जाता है। रिजर्व बैंक इस प्रकार के बैंको को भी सीमित मात्रा मे कुछ सुविधाएँ दिया करता है।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

व्यापारिक बैंकों के कार्य (Functions of a Commercial Bank)—एक व्यापारिक बैंक किसी एक साधारण बैंक के सभी कार्य करता है। किसी एक बैंक के कार्यों के सम्बन्ध मे "बैंक्स—विकास, परिभाषा, कार्य तथा वर्गीकरण" शीर्षक नामक अध्याय मे विस्तार से लिखा जा चुका है। इसीलिए इस अध्याय मे बैंको के कार्यों के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षेप मे लिखा गया है। एक व्यापारिक बक मुख्यतः इस प्रकार से कार्य करता है—(i) जमा पर रुपया प्राप्त करना:—व्यापारिक बैंकों का एक प्रमुख कार्य राष्ट्रीय बचत को एकत्रित करना है। ये इस बचत को या तो हिस्सों (Shares) को बेचकर या जमा (Deposits) द्वारा प्राप्त करते हैं। जमा खाते चार प्रकार के होते हैं—निश्चित कालीन जमा खाता, सेविंग्स बैंक का खाता, अनिश्चित कालीन जमा खाता तथा चालू खाता। बैंक्स इन जमा खातो पर साधारणतया ब्याज देते हैं। प्रायः व्यापारिक बैंको के पास जमा की मात्रा देशवासियो की आय, बचाने की क्षमता, उपलब्ध बैंकिंग सुविधाएँ, बैंको मे जनता का विश्वास, ब्याज की दर आदि पर निर्भर रहती है। (ii) ऋण-देना :—व्यापारिक बैंक्स उनके द्वारा प्राप्त जमा को उधार देकर समाज के आर्थिक जीवन मे अमूल्य सहायता देते हैं। इनके द्वारा साख-वितरण का यह कार्य या तो उचित प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण देकर (Loans) या अधिविकर्ष (Over-draft) या हुण्डियो की पुनः कटौती (Re-discount) द्वारा मुख्यतः किया जाता है। (iii) एजेन्सी कार्य करना.—व्यापारिक बैंक्स अपने ग्राहको की एजेन्सी के कार्य भी करते हैं। इस रूप में ये अपने ग्राहको के विनिमय-साध्य साख-पत्रों का भुगतान एकत्रित करते है, ग्राहको की ओर से रुपये का भुगतान करते हैं व इसे प्राप्त करते हैं, उनकी ओर से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करते हैं अथवा रुपये का हस्तान्तरण करते हैं। व्यापारिक बैंक्स साख प्रमाण-पत्रों को जारी करते है, यात्रियो के चैक जारी करते हैं, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं, भारत निर्णयकर्ता के रूप में कार्य मे करते हैं, सुरक्षा सम्बन्धी कार्य करते हैं, धन सम्बन्धी सलाह देते हैं तथा सरकार व अन्य संस्थाओ के ऋणों का अभिगोपन (Under-writing) करते हैं आदि।

व्यापारिक बैंकों की कठिनाइयाँ और इनके दोष

भारत में व्यापारिक बैंकों की कठिनाइयाँ और इनके दोष (Difficulties and Defects of the Commercial Banks in India):—यद्यपि द्वितीय महायुद्ध काल में भारत मे व्यापारिक बैंकों का बहुत विकास हुआ, परन्तु देशों की तुलना मे हमारे देश में बैंकिंग की सुविधाएँ अब भी अपर्याप्त हैं। यदि स्विट्जरलैण्ड (*Switzerland*) में

प्रति १,३३३ व्यक्तियो के पीछे एक बैंक है और इगलैण्ड (England) मे प्रति ३६०० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, तब भारतवर्ष मे प्रति २ लाख ७६ हजार व्यक्तियो के पीछे एक बैंक है। इन आँकडो से स्पष्ट है कि हमारे देश म व्यापारिक बैंकिंग का विकास बहुत मन्द गति से हुआ है। व्यापारिक बैंकिंग के विकास की शिथिलता के मुख्य कारण इस प्रकार हैं — (i) बैंकिंग-सकट —देश मे समय-समय पर बैंकिंग सकट आने के कारण कितने ही बैंक फेल हुये हैं जिससे बैंको मे जनता के विश्वास पर बहुत आघात पहुँचा है। साधारण व्यक्ति इन बैंको मे अपने धन को जमा करना उचित नही समझते हैं। बैंको मे अविश्वास का एक कारण यह भी है कि आज भी इनके शेयर्स मे सट्टा व्यापार किया जाता है। (ii) जनता की सकुचित मनोवृत्ति तथा बैंकिंग आदत का अभाव —यूँ तो देशवासियों की औसत आय ही बहुत कम है जिससे बचत कम होने पाती है, परन्तु कुछ व्यक्ति जो कुछ भी बचत करते हैं, उसे वे बैंको मे जमा नही करते हैं वरन् वे इसे अपने पास गाड कर रखना ही अधिक सुरक्षित समझते हैं। जनता मे बैंकिंग की आदत के अभाव के कारण बैंको के पास पर्याप्त मात्रा मे जमा-धन प्राप्त नही होन पाता है जिससे उन्हें पर्याप्त मात्रा मे कार्यशील-पूँजी प्राप्त नही होती है। (iii) उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम —हिन्दू व मुस्लिम उत्तराधिकार के नियम (Hindu and Muslim Laws of Inheritance) ऐसे हैं कि बैंको को ऋण-भुगतान के समय अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसीलिये बैंक्स अचल सम्पत्ति की आड पर ऋण देना असुरक्षित समझते हैं। (iv) सरकार व सरकारी सस्थाओं से प्रोत्साहन नहीं मिला है —सरकार, सार्वजनिक सस्थाएँ जैसे—नगरपालिकाएँ, पोर्ट ट्रस्ट, बोर्ड ऑफ वार्ड्स आदि ने व्यापारिक बैंको को बहुत कम प्रोत्साहन दिया है। यदि ये सस्थाएँ व्यापारिक बैंको से लेन-देन करती, तब न केवल इनकी साख बढती वरन् इनकी जमा राशि भी बढ़ती जिससे इनकी व्यापारिक उन्नति हो जाती। अत सरकारी व अर्ध सरकारी सस्थाओ द्वारा व्यापारिक बैंकों मे अपने कोष नही रखने के कारण भी देश मे व्यापारिक बैंकिंग को प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। (v) विनिमय व विदेशी बैंकों से प्रतियोगिता —व्यापारिक बैंकों को विनिमय बैंको से बहुत अधिक प्रतियोगिता करनी पडती है। विनिमय बैंको की शाखाएँ न केवल आयात निर्यात के केन्द्रो तक ही सीमित हैं वरन् इनकी शाखाएँ देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों पर भी पाई जाती हैं। विनिमय व विदेशी बैंको की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी पाई जाती है। जिससे भारतीय जनता का इन बैंको मे विश्वास भी बहुत अधिक होता है। इस कारण इन बैंको के पास जमा (Deposits) भी स्वदेशी व्यापारिक बैंकों की तुलना में बहुत अधिक एकत्रित हो जाती है और ये इस जमा राशि के भारतीय बैंकों से, देशी व्यापार तथा साधारण बैंकिंग के कार्यों मे, प्रतियोगिता करते हैं जिसमे इन बैंकों के पास व्यापार की कमी रहती है। (vi) भारत का विदेशी व्यापार मुख्यत विदेशियों के हाथ मे रहा है —विदेशी व्यापारियो ने अपना लेन-देन मुख्यत विदेशी बैंको के साथ ही रक्खा है। इस कारण देश के व्यापारिक बैंक्स पनप नही सके हैं। (vii) इम्पीरियल बैंक तथा स्वदेशी बैंकर्स से प्रतियोगिता —केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार देश के व्यापारिक बैंको को एक ओर तो इम्पीरियल

बैंक व विनिमय बैंकों से और दूसरी ओर देश के स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) से प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिसके कारण ये सदा संकटमय अवस्था में रहते हैं अथवा तीव्र प्रतियोगिता का जीवन व्यतीत करते हैं। (viii) बैंकों की शाखाओं का अभाव:—द्वितीय महायुद्ध काल तक भारत में शाखा-बैंकिंग पद्धति (Branch Banking System) का बहुत अभाव रहा है जिसके कारण बहुत से छोटे-छोटे बैंक्स बहुत अधिक समय तक जीवित नहीं रह सके। अतः बैंकों की शाखाओं के अभाव के कारण जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं होने पाया है और जनता में बैंकिंग की आदत भी पर्याप्त मात्रा में जाग्रत नहीं हो सकी है। (ix) बैंकों को कार्य-शैली में त्रुटियाँ:—व्यापारिक बैंकों की कार्य-प्रणाली में भी अनेक ऐसे दोष हैं जिनके कारण देश में इन बैंकों का पर्याप्त विकास नहीं हो सका:—(अ) व्यापारिक बैंकों ने अपने अधिकांश धन का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में किया है जिसके कारण देश में व्यापारिक बिल्स का अधिक प्रचार तथा उपयोग नहीं हो सका है। चूंकि देश में एक समुचित बिल-बाजार का विकास नहीं होने पाया है, इस कारण व्यापारिक बैंकिंग का भी पर्याप्त विकास नहीं हो सका है क्योंकि देश में सुरक्षित विनियोग के साधनों का अभाव रहा है। (आ) बैंक्स अपने ग्राहकों को बिना किसी अन्य व्यक्ति की जमानत या स्वीकृत प्रतिभूति के ऋण नहीं देते जिससे इनकी व्यापारिक प्रगति में बाधा पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे देश में पाश्चात्य देशों की तरह सैयड्स (Syeds) तथा डन्स (Duns) जैसी संस्थाएँ नहीं हैं जो बैंकों को उनके ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी दे सकें। (इ) पाश्चात्य देशों की तरह भारत में बैंक्स ग्राहकों को उनकी व्यक्तिगत साख पर ऋण नहीं देते हैं। इसका कारण यह है कि बैंक्स और ग्राहकों में पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध नहीं पाया जाता है जिससे उन्हें अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी नहीं होने पाती है। परन्तु पाश्चात्य देशों में "एक व्यक्ति एक बैंक" (One man One bank) की प्रथा पाई जाती है अर्थात् किसी एक व्यापारी का किसी एक बैंक से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध होता है और व्यापारी अपने बैंक को समय-समय पर अपनी आर्थिक स्थिति से अवगत कराता रहता है। परिणाम यह होता है कि बैंक और ग्राहक में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वह अपने ग्राहक को उसकी व्यक्तिगत साख पर भी ऋण दे देता है इसके विपरीत भारतीय व्यापारी केवल किसी एक बैंक से ही अपना सम्बन्ध नहीं रखता वरन् वह बैंकों को अपनी आर्थिक स्थिति की पूर्ण सूचना देना भी पसन्द नहीं किया करता है जिसके कारण बैंक्स उसको व्यक्तिगत साख पर रुपया नहीं देते। अतः चूंकि भारत में व्यक्तिगत साख के आधार पर ऋण देने की प्रथा नहीं है, इस कारण बैंकों की विशेष व्यापारिक प्रगति नहीं होने पाई है। (ई) कुछ व्यापारिक बैंकों ने बैंकिंग के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया है—जैसे, धन का सट्टे-व्यापार में विनियोग करना, ऊँचे-ऊँचे लाभांश वितरित करना और रक्षित-कोष का निर्माण नहीं करना आदि। इस प्रकार की दोषपूर्ण नीति अपनाने से अनेक बैंक फेल हो गये और इससे भारतीय बैंकिंग में जनता का विश्वास बहुत कम हो गया। (उ) बैंकों में आपस में पारस्परिक सहयोग के अभाव के कारण गलाकाट प्रतियोगिता रहती है जिससे छोटे-छोटे बैंकों की आर्थिक-स्थिति क्षीण हो जाती है और तनिक से

आर्थिक सकट के समय ये फेल हो जाते हैं। (ऊ) बैंको की अनुदार सेवा, अंग्रेजी भाषा द्वारा कार्य करना, शाखाओं का अभाव, दूषित सचालन मडल आदि ऐसे कारण रहे हैं जिनके कारण या तो बैंको की कोई विशेष व्यापारिक प्रगति नहीं होने पाई है या बहुत से बैंक समय समय पर फेल हुये हैं जिससे भारतीय बैंकिंग को बहुत क्षति पहुँची है। (x) *सरकारी सहायता का अभाव*—हाल ही तक सरकार भारतीय बैंकिंग के प्रति उदासीन रही है। परिणामत जनता का देश के बैंकिंग मे अधिक विश्वास उत्पन्न नहीं होने पाया है। (xı) **बैंकों में विदेशी कर्मचारियों की नियुक्ति**—हमारे देश मे बैंको में ऊँचे-ऊँचे पदो पर विदेशी कर्मचारियो की नियुक्ति की प्रथा चली आई है। ये व्यक्ति न तो देश के व्यापारियो से निकट सम्बन्ध स्थापित करने पाये हैं और न ये उनका विश्वास ही प्राप्त कर सके हैं जिससे बैंकिंग की प्रगति में बाधा पडी है।

भारतीय बैंकिंग के दोषो एवं कठिनाइयो को दूर करने के सुझाव

भारतीय बैंकिंग के दोषों एव कठिनाइयों को दूर करने के सुझाव (Suggestions to improve the conditions of Commercial Banking in India) —भारतीय बैंकिंग की उत्तलिखित कठिनाइयो को दूर किये बिना हमारे देश मे व्यापारिक बैंकिंग का पर्याप्त विकास नहीं हो सकता और जब तक देश मे बैंकिंग का समुचित विकास नहीं होता, तब तक व्यापार कृषि और उद्योगो की भी यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती। यद्यपि सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के पास हो जाने से भारतीय बैंकिंग के बहुत से उक्तलिखित दोष स्वत ही दूर हो जायेंगे और वास्तव मे इस समय तक दूर हो भी गये हैं, किन्तु फिर भी भारतीय बैंकिंग के समुचित विकास के लिये समय समय पर निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं—(1) **नई नई शाखाओं की स्थापना के लिये प्रोत्साहन**—देश मे समुचित बैंकिंग-व्यवस्था के विकास के लिये यह आवश्यक है कि बैंको को ग्रामीण क्षेत्रो तथा छोटे-छोटे नगरो मे नई-नई शाखाएँ खोलने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। रिजर्व बैंक इस ओर विशेष सक्रिय कार्य कर सकता है। उसे चाहिए कि वह बैंको की नई-नई शाखाओ के पास कुछ राशि अपनी ओर से जमा करे और जब उक्त शाखाएं समर्थ हो जाएँ, तब वह उक्त राशि को शनै शनै निकाल ले। इसी तरह रिजर्व बैंक को उक्त बैंको को धन के स्थानान्तरण तथा बिल्स की पुन कटौती की भी विशेष सुविधाएँ देनी चाहिएँ। यद्यपि इस समय रिजर्व बैंक बैंको को उक्त सुविधाएं दे रहा है, परन्तु ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग के विकास के हेतु यह सिफारिश की है कि रिजर्व बैंक को धन-स्थानान्तरण शुल्क बहुत कम कर देना चाहिये। (ii) **बैंकों मे जनता का विश्वास उत्पन्न कराने** [redacted] **लिये** *सरकार को सक्रिय कार्य करने चाहिएँ*—इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु सरकार को यह चाहिये कि वह पोर्ट-ट्रस्ट- नगरपालिकाएँ, बोर्ड ऑफ वार्ड्स आदि अर्ध-सरकारी सस्थाओं को यह आदेश दे कि उन्हे अपने कोषों को देश के प्रमुख व्यापारिक बैंको मे रखने के लिए प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि देश मे जनता का विश्वास व्यापारिक बैंकों मे बढ सके। इसके अतिरिक्त सरकार को स्वय भी बैंको को करो (Taxes) की कमी के रूप मे सुविधाएँ

प्रदान करनी चाहिएँ तथा अपने ऋण-कार्यों के कुछ भाग का संचालन भी देश के व्यापारिक बैंकों को सौंप देना चाहिये ताकि वे भी अपनी समुचित उन्नति कर सकें। इसी तरह सरकार को बैंकों को स्टाम्प-ड्यूटी (Stamp Duty), रजिस्ट्रेशन-फीस (Registration Fees) आदि में छूट अथवा माफी के रूप में भी सुविधा देनी चाहिए आदि। (iii) **विनिमय बैंकों का कार्य-क्षेत्र आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित कर देना चाहिये:**—सरकार को विनिमय बैंकों का कार्य-क्षेत्र इस प्रकार सीमित कर देना चाहिये की ये व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता नही कर सकें। यह तब ही सम्भव है जबकि इनका कार्य-क्षेत्र केवल *आयात-निर्यात के केन्द्रों तक ही सीमित कर दिया जाय।* सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार अब विनिमय बैंकों को भी देश मे अपने कार्य के संचालन के लिए लाइसैन्स (Licence) लेना पड़ेगा। इस तरह रिजर्व बैंक अब इन बैंकों पर भी नियन्त्रण करने लगा है, परन्तु उसे इस ओर अधिक सक्रिय कार्य करने चाहिएँ, ताकि व्यापारिक बैंकों और विनिमय बैंकों में गला-काट प्रतियोगिता का अन्त हो जाये। (iv) **अखिल भारतीय बैंकिंग संघ** (All India Bank's Association) इस प्रकार के संघ की स्थापना हो चुकी है। इस संघ को देश के समस्त बैंकों को अपना सदस्य बनाकर उनमें पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की वृद्धि करनी चाहिये। बैंकों की आपसी प्रतियोगिता में जितनी कमी होगी, उतना ही अधिक बैंकों की समुचित उन्नति हो सकेगी। इस संघ को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी शाखायें खोलनी चाहियें ताकि अमुक क्षेत्र के बैंक्स आपस में मिलकर अपनी असुविधाओं व कठिनाइयों पर सोच-विचार कर सकें और उनके निवारण के लिये कुछ निर्णय ले सकें। सरकार को भी इस संघ द्वारा दिये गए सुझावों पर सहानुभूति से विचार करना चाहिये। (v) **स्वदेशी बैंकर्स को स्थानीय बैंक में परिणत करने के लिये सहायता:**—सरकार को तथा रिजर्व बैंक को *स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) को स्थानीय बैंक में परिणत हो जाने* के लिये सहायता देनी चाहिये ताकि उन क्षेत्रों में जहाँ पर अभी तक व्यापारिक बैंकों की शाखायें स्थापित नही हो सकी हैं और स्वदेशी बैंकर्स बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं, आधुनिक बैंकिंग की सुविधायें उपलब्ध हो सकें। इस तरह देश मे देशी बैंकर्स के मितव्ययी-प्रबन्ध तथा आधुनिक बैंकों की कुशलता का सम्मिश्रण हो जायगा। (iv) **छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण:**—सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया है कि वह छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) करा सकता है। *अतः रिजर्व बैंक को चाहिये कि उसे प्रभावकर एवं बहुत छोटे-छोटे बैंकों का* शीघ्र ही एकीकरण करा देना चाहिये। (vii) **बैंकों को कार्य-प्रणाली की त्रुटियों का निवारण होना चाहिये:**—बैंकों को अपनी कार्य-प्रणाली की त्रुटियों का निवारण करना चाहिये। यद्यपि देश के विभिन्न बैंक्स इस समय इस ओर बहुत प्रयत्नशील हैं, परन्तु इसमे और भी अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। बैंकों को योग्य व कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए, अखिल भारतीय बैंकिंग संघ को कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिये, ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का कार्यालय-समय जनता की दृष्टि से सुविधाजनक होना चाहिये, बैंकिंग कार्यों में अंग्रेजी के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओं का

उपयोग करना चाहिये (विदेशी व्यवहारों मे ही केवल अंग्रेजी का उपयोग होना चाहिये) ताकि जन साधारण भी बैंको से अपना लेन देन का कार्य कर सकें और बैंकों के व्यापारिक क्षेत्र में वृद्धि हो सके, बैंको के हिसाब रखने की रीतियो मे सुधार होना चाहिए, बैंको के ऋण सामान्यतया उत्पादक कार्यों के लिए ही होने चाहियें और ऋण-सम्बन्धी जमानत के नियम भी उदार होने चाहियें बैंको को व्यापारिक बिल्स के उपयोग को प्रोत्साहित करना चाहिये आदि। (viii) **"एक व्यक्ति—एक बैंक" की पद्धति को प्रोत्साहन देना चाहिये**—पाश्चात्य देशो की तरह भारत में भी "एक व्यक्ति—एक बैंक" की पद्धति अपनाई जानी चाहिये। यह तब ही सम्भव है जबकि बैंक्स ऐसे व्यक्ति एव सस्थाओ को अपना ग्राहक नही बनाये जिनका लेखा (Accounts) अन्य किसी दूसरे बैंक में भी है। इस पद्धति का यह लाभ है कि बैंको को अपने ऋणियो एव ग्राहको की आर्थिक स्थिति का पूरा पूरा ज्ञान रहने के कारण वे उनको उनकी व्यक्तिगत साख के आधार पर भी रुपया उधार दे सकेंगे जिससे बैंको की बहुत व्यापारिक उन्नति हो सकेगी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ऐसी सस्थाओ की भी स्थापना होनी चाहिये जो बैंको तथा व्यापारियो के सम्बन्ध मे गुप्त व विश्वसनीय सूचनाएं एकत्रित करती रहे। (ix) **उत्तराधिकारियों के नियमों मे सुधार**—उत्तराधिकार के वर्तमान नियमो के कारण व्यापारिक बैंको को जमानत सम्बन्धी जो कुछ भी वैधानिक अड़चनो का सामना करना पडता है, उनसे उनके ऋण-कार्यों मे बहुत रुकावट होती है। अत उक्त नियमो मे इस प्रकार का सुधार होना चाहिये कि उक्त बाधाओ का शीघ्र ही निवारण हो जाये। (x) **रिजर्व बैंक व स्टेट बैंक की नीति**—आर्थिक सकट के समय इन दोनो बैंको को अपनी नीति अधिक उदार बना देनी चाहिये। इसी तरह स्टेट बैंक को व्यापारिक बैंको के प्रति प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की नीति अपनानी चाहिये। (xi) **"जमा-बीमा पद्धति" अपनाई जानी चाहिये**—अमेरिका की तरह हमारे देश मे भी "जमा-बीमा पद्धति" (Deposit Insurance System) अपनाई जानी चाहिये ताकि बैंको मे जमाकर्ताओं की जमा की पूर्ण सुरक्षा हो सके। इस कार्य के लिये देश मे जमा बीमा कम्पनियो (Deposit Insurance Companies) की स्थापना होनी चाहिये। इस पद्धति के अपनाने से कई लाभ प्राप्त हो सकेंगे—(अ) बैंको की ऋण नीति मे समानता आ जायगी (आ) जमा बीमा कम्पनियो द्वारा बैको की ऋण नीति कम अधिक मात्रा मे नियन्त्रित हो जायगी, (इ) बैंको के आर्थिक सकटो का निवारण हो जायगा। परन्तु भारत म वर्तमान दशाओ मे उक्त योजना की सफलता की बहुत कम सम्भावना है क्योंकि देश में बैंकिंग का स्तर बहुत ही निम्न है।

निष्कर्ष—यह सर्वमान्य है कि भारतीय व्यापारिक बैंको की वर्तमान कार्य प्रणाली मे अनेक त्रुटियाँ हैं और इनमे सुधार की बहुत आवश्यकता है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों म भारतीय बैंकिंग प्रणाली मे सुधार के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। सन् १९४९ मे बैंकिंग कम्पनीज एक्ट पास हुआ जिसने रिजर्व बैंक को बैंको पर अनेक प्रकार से नियन्त्रण करने का अधिकार दिया। रिजर्व बैंक एक्ट मे स्वय सशोधन किया गया है ताकि यह देश के बैंकिंग विकास म सक्रिय कार्य कर सके और व्यापारिक बैंकों की समु-

वित उन्नति के लिये उन पर उचित देख-रेख रख सके। ग्रामीण व अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में बेंकिंग सुविधाओं का शीघ्र विकास किया जा रहा है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि भारतीय बेंकिंग का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. Com

1. What are the main points of difference between a Joint stock Bank and a Co-operative Bank? (1958 S, 1957)

Allahabad University, B. Com.

1. Discuss the broad fectures of commercial banking in India and show how various agencies for industrial finance are integrated in this country? (1956)

Rajputana University, B. A.

1. Briefly discuss the functions of Commercial Banks. How far Indian Commercial Banks perform these functions? (1957)

Rajputana University, B. Com.

1. Examine the case for the nationalisation of Commercial Banking in India. (1957)

Bihar University, B. Com.

1. Examine the economic functions of Commercial banks. Can you suggest some special functions to be discharged by the Commercial banks in India to make them more useful? (1959)

Nagpur University. B. A.

१. भारतीय वाणिज्य-अधिकोषों की सुरक्षितता (Safety) और तरलता (Liquidity) के हेतु क्या व्यवस्था की गई है? (१९५५)

अध्याय १४

भारत में विदेशी विनिमय बेंक्स

(Foreign Exchange Banks in India)

संक्षिप्त इतिहास

परिभाषा और संक्षिप्त इतिहास (Definition and Short History):—
विदेशी विनिमय बैंकों से हमारा अभिप्राय उन बैंकों से होता है जो विदेशी विनिमय में व्यवसाय करते हैं और भारत में विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करते हैं। वास्तव में भारत में विनिमय बैंक्स वे व्यापारिक बैंक्स हैं जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में और शाखाएँ भारत में हैं। भारत में विनिमय बैंक्स की शाखायें मुख्यतः बन्दरगाहों तथा उन

अन्य व्यापारिक केन्द्रो पर पाई जाती हैं जहाँ पर आयात-निर्यात का व्यापार होता है। कुछ समय से इन बैंको ने अपनी शाखायें देश के आन्तरिक भागो मे भी स्थापित की हैं और अब ये बैंक्स भी अन्य व्यापारिक बैंको की तरह साधारण बैंकिंग के कार्य भी करने लगे हैं। यह स्वाभाविक है कि इस दशा मे देश के व्यापारिक बैंको और विदेशी विनिमय बैंको मे प्रतिस्पर्धा होने लगी है जिसका हमारे देश के बैंकिंग पर बहुत ही घातक प्रभाव पड़ा है। विदेशी बैंकों के साधन तथा उनकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक होती है जिसके कारण भारतीय व्यापारिक बैंक्स उनसे प्रतियोगिता करने मे असमर्थ ही रहते हैं।

भारत मे विदेशी विनिमय बैंक्स का उद्गम ईस्ट इडिया कम्पनी के शासन काल में हुआ। भारत मे ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो जाने पर देश का विदेशी व्यापार मुख्यत अग्रेजो के हाथ मे आ गया। उस समय अग्रेजो ने ऐसे बैंको की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जो भारत और इगलैंड की मुद्राओ का विनिमय कर सकें और भारत के विदेशी व्यापार की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें। चूँकि ब्रिटिश सत्ता ने विदेशियो को भारत मे इस प्रकार के बैंको को स्थापित करने की पूरी-पूरी सुविधायें प्रदान की, इसलिये बहुत थोड़े से ही समय मे इनकी देश मे बहुत उन्नति हो गई। परिणामत देश मे विनिमय बैंक्स शनै शनै शक्तिशाली होते चले गये और स्वदेशी बैंक्स जो कि उस समय तक विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था किया करते थे, दुर्बल होते चले गये। भारतीय व्यापारिक बैंको ने भी समय-समय पर विदेशी विनिमय व्यवसाय म प्रवेश करने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रारम्भ मे उन्हे इस कार्य मे सफलता प्राप्त नही हो सकी। "एलायस बैंक ऑफ शिमला" ने सर्व प्रथम यह कार्य आरम्भ किया था, परन्तु १९२३ में यह बैंक ठप्प हो गया। इसी तरह सन् १९३६ मे "सैन्ट्रल बैंक ऑफ इडिया" ने लन्दन मे अपनी शाखा स्थापित करके विदेशी विनिमय कार्य आरम्भ किया परन्तु सन् १९३८ मे उसे इस कार्य को बन्द करना पड़ा। इस तरह भारतीय बैंकों ने प्रारम्भ मे विदेशी विनिमय व्यवसाय मे प्रवेश करने के जितने भी प्रयत्न किये वे सभी असफल हुये। इसके अनेक कारण हैं —(i) विदेशी बैंको की कार्यशील पूंजी भारतीय बैंको की तुलना मे बहुत अधिक थी जिसके कारण वे बहुत शक्तिशाली बैंक बन गये और प्रतियोगिता मे भारतीय बैंको को हरा सके। (ii) विदेशी बैंको की शाखायें प्राय अनेक देशो मे थी परन्तु भारतीय बैंको की शाखाये विदेशो मे नहीं थी जिससे वे विदेशी व्यापार मे प्रवेश नही करने पाते थे। (iii) विदेशी बैंको का विदेशी मुद्रा-बाजार से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था जिससे वे अपनी अधिकाश कार्यशील पूंजी विदेशो मे ही एकत्रित कर लेते थे। परन्तु भारतीय बैंकों का सम्बन्ध विदेशी मुद्रा बाजार से इतना घनिष्ठ नहीं था जिसके कारण वे विदेशी बैंको से प्रतियोगिता मे टिकने नही पाते थे। (vi) विदेशी बैंको के कर्मचारी भारतीय बैंको की तुलना मे बहुत कुशल थे। अत विदेशी बैंक की उन्नति का एक मुख्य कारण उनके प्रबन्ध की कुशलता भी थी (v) भारतीय बैंक्स विदेशी व्यापार के प्रति तटस्थ ही रहते थे। इसका कारण यह था कि इनके साधन कम रहते थे और वे इनका भारतीय व्यापार में ही अधिक लाभप्रद उपयोग कर लेते थे। यह बैंक जो विदेशी व्यापार मे प्रवेश करना चाहता है, न केवल उसकी

कार्यशील पूंजी ही अधिक होनी चाहिये वरन् उसे कुछ वर्षों तक विदेशी व्यापार मे हानि सहने के लिए भी तत्पर रहना चाहिये। परन्तु अधिकाश भारतीय बैंक्स इस प्रकार की हानि को उठाने के लिये तैयार नही थे। जिसके कारण भारतीय बैंक्स विदेशी व्यापार मे पनप नही सके। (vi) विदेशी बैंकों को भारत मे व्यापार करने मे अनेक सुविधाएँ उपलब्ध थी और सरकार की ओर से इन्हें हर प्रकार की सहायता मिलती थी, परन्तु भारतीय बैंकों को विदेशों में न केवल सुविधाएँ ही नही मिलती थी वरन् वहाँ की सरकारो द्वारा भी अनेक प्रकार की बाधाएँ लगाई जाती थी। इसके अतिरिक्त भारत सरकार की नीति ही ऐसी थी कि भारतीय बैंको को विदेशों मे अपनी शाखायें स्थापित करने में उन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता था। (vii) विदेशी बैंको के विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्यों का प्रारम्भ बहुत समय पहले हो गया था जिससे इन्होने इन कार्यों के सम्बन्ध में एक विशेष प्रतिष्ठा एवं ख्याति प्राप्त कर ली थी। परन्तु भारतीय बैंकों की इस प्रकार की ख्याति नही होने के कारण, ये विदेशी बैंको से *प्रतियोगिता में* नही ठहर सके। (viii) भारत का अधिकाश विदेशी व्यापार विदेशियों के हाथो मे ही रहा है। इन्होने भारतीय बैंकों को कभी भी अपना व्यापारिक कार्य सौपना पसन्द नही किया वरन् ये अन्य व्यापारियो को भी ऐसा नही करने देते थे। इस अवस्था मे भारतीय बैंको का पनपना ही असम्भव था। यह स्मरण रहे कि उपरलिखित कारणों में से अधिकाश कारण आज भी बहुत अधिक प्रभावी हैं जिनके कारण आज भी भारतीय बैंको के विदेशी विनिमय कार्यों का बहुत अधिक विकास नही होने पा रहा है।

विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य
(Functions of the Foreign Exchange Banks)

विदेशी विनिमय बैंकों के कार्यः—विनिमय बैंको के मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैं:—

(१) निर्यात व्यापार को आर्थिक सहायता देनाः—विनिमय बैंक्स विदेशी विनिमय बिल्स की *स्वीकृति (Acceptances)* व *कटौती (Discounting)* करके सहायता देते हैं। इस क्रिया द्वारा भारतीय बन्दरगाहो से विदेशी बन्दरगाहो तक और विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों तक वस्तुओं की निर्यात-आयात सुगम हो जाती है। निर्यात व्यापार को आर्थिक सहायता देने की प्रणाली इस प्रकार है—जब कभी कोई एक भारतीय निर्यातकर्ता (Indian Exporter) अपने माल का निर्यात करता है, तब वह अपने *विदेशी ग्राहक (Foreign Importer)* या उसके बैंक पर दर्शनी स्वीकृति बिल (Document on Acceptance or D.A.) या भुगतान बिल (Document on payment or D.P.) जारी करता है। ये दोनो प्रकार के बिल्स साधारणतया प्रस्तुत करने की ३ मास की अवधि में शोधनीय होते हैं। आयातकर्ता को अपने देश में स्थित बैंक या साख कार्यालय से साख का प्रबन्ध करना पड़ता और जब निर्यातकर्ता इस प्रकार की साख की व्यवस्था की सूचना प्राप्त कर लेता है तब वह आयातकर्ता पर बिल या ड्राफ्ट जारी कर देता है। निर्यातकर्ता द्वारा जारी किए गये बिल के साथ कुछ अन्य पत्र भी होते हैं, जैसे—जहाजी कम्पनी की रसीद, बीमा कम्पनी की रसीद, माल का बीजक

आदि। चूं कि विदेशी बिल्स विनिमय बैंकों द्वारा तुरन्त खरीद लिये जाते हैं, इसलिये भारतीय निर्यातकर्ता विदेशी आयातकर्ता पर जारी किये गये बिल को भारत में स्थित किसी ऐसे विदेशी विनिमय बैंक से भुना कर रुपये प्राप्त कर लेते हैं जिसकी शाखा आयातकर्ता के देश म है। भारत स्थित विनिमय बैंक इस प्रकार खरीदे गये बिल को विदेश (आयातकर्ता के केन्द्र) में अपनी शाखा को भेज देता है। यह शाखा या तो बिल को अपने पास परिपक्वता की अवधि तक रखता है और इस तिथि के आ जाने पर आयातकर्ता से धन प्राप्त कर लेता है या इसे अपने मुद्रा-बाजार मे बेचकर तुरन्त धन प्राप्त कर लेता है। अत यह स्पष्ट है कि विनिमय बैंक ने भारत मे विदेशी विनिमय बिल रुपयो (भारतीय मुद्रा) को देकर खरीदा है और इस बिल की रकम को विदेश में (आयातकर्ता के देश म) विदेशी मुद्रा में प्राप्त किया है। यह स्मरण रहे कि कभी-कभी निर्यातकर्ता स्वय बिल को विनिमय बैंक के पास सग्रहण (Collection) के लिये भेज दिया करता है। इस दशा म निर्यातकर्ता को बिल का रुपया बिल की अवधि समाप्त होने पर ही मिलता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ब्रिटिश विनिमय बैंक्स ने अपने अल्पकालीन कोषो का भारतीय विदेशी व्यापार की अर्थ-सहायता करने म बहुत बडे पैमाने पर उपयोग किया है।

(२) आयात व्यापार को आर्थिक सहायता देना —विनिमय बैंक्स आयात व्यापार को भी बहुत बडे पैमाने पर आर्थिक सहायता देते हैं। आयातकर्ता भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो ऐसे आयातकर्ता हैं जिनकी लन्दन मे एजन्सी है और दूसरे ऐसे आयातकर्ता है जिनकी लन्दन मे एजन्सी नही है। विनिमय बैंक्स इन दोनो प्रकार के आयातकर्ताओ की ही मदद करते है। (अ) मानलो, एक ऐसा यूरोपियन आयातकर्ता है जिसकी लन्दन मे एजन्सी है और वह इगलैण्ड से माल मगाता है। इस अवस्था मे इगलैण्ड का निर्यातकर्ता लन्दन मुद्रा-बाजार या लन्दन के किसी विनिमय बैंक पर एक विपत्र बिल (Documentary Bill) लिखेगा और इसे आयातकर्ता की लन्दन स्थित शाखा से स्वीकृत कराकर, लन्दन के द्रव्य-बाजार मे किसी विनिमय बैंक से कटौती करा लेगा। इस तरह निर्यातकर्ता अपने माल का मूल्य स्टर्लिंग में प्राप्त कर लेता है। लन्दन का विनिमय बैंक इस बिल को स्वीकार करके जहाजी रसीद, समुद्री बीमा व बीजक आदि विपत्र (Documents) भारत म अपनी शाखा को भेज देता है। बैंक की भारत-स्थित शाखा ६० दिन की अवधि समाप्त होने पर भारतीय आयातकर्ता से बिल की राशि वसूल कर लेता है और इसे अपने लन्दन कार्यालय को भेज देता है। इस प्रकार इस पद्धति में आयातकर्ता को भुगतान करने के लिए ६० दिन की अवधि मिल जाती है और निर्यातकर्ता को तत्काल ही राशि मिल जाती है। (ब) मानलो, एक ऐसा भारतीय आयातकर्ता है जिसकी लन्दन मे कोई एजन्सी नही है और वह इगलैण्ड से माल मगाता है, इस अवस्था मे इगलैण्ड का निर्यातकर्ता भारतीय व्यापारी पर विनिमय बिल लिखकर और उसके साथ ही साथ अधिकार पत्र, जैसे—जहाजी रसीद, समुद्री बीमा रसीद, माल का बीजक आदि नत्थी करके इसकी कटौती लन्दन के किसी ऐसे विनिमय बैंक द्वारा करता है जिसकी भारत मे शाखा है। लन्दन का बैंक इस बिल को इसके विपत्रो (Documents) सहित

अपनी भारत-स्थित शाखा के पास भेज देता है। यदि यह शोधन विपत्र (Document against Payment) है, तब तो बैंक को आयातकर्ता से तुरन्त भुगतान मिल जायगा और व्यापारी को भी तुरन्त माल मिल जायगा, परन्तु यदि यह स्वीकृत-प्रलेख (Document against Acceptance) है, तब आयातकर्ता को बिल को स्वीकृत (Acceptance) करने के बाद माल मिल जायगा और बैंक उससे बिल की परिपक्व अवधि समाप्त होने पर राशि प्राप्त कर लेगा। बैंक इस रकम को अपने प्रधान कार्यालय को भेज देगा। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार विदेशी विनिमय बिल्स दोनो ही अवस्था में अक्सर स्टर्लिंग मे लिखे जाते हैं और साधारणतया ६० दिन की अवधि के होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद अब निर्यात और आयात बिल्स कुछ दूसरी चलनों में भी लिखे जाने लगे है।

(३) आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध:—आजकल विदेशी विनिमय बैंक्स देश के आन्तरिक व्यापार को भी आर्थिक सहायता प्रदान करने लगे हैं, यद्यपि यह इनका प्रधान कार्य नहीं है। इस तरह अब ये बैंक्स न केवल भारत के बन्दरगाहों से विदेशी बन्दरगाहों तथा विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहो तक माल के मंगाने-भेजने मे ही आर्थिक सहयोग देते हैं बल्कि ये देश मे बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों और इन नगरों से बन्दरगाहों तक माल के मंगाने-भेजने मे भी आर्थिक सहायता देते है। इस प्रकार का कार्य करने के हेतु विनिमय बैंक्स ने देश के अन्दर प्रमुख-प्रमुख स्थानो पर अपनी शाखाएँ स्थापित कर ली हैं और अब व्यापारियो के लिये आन्तरिक व विदेशी दोनो प्रकार के व्यापारों के लेन-देन का कार्य इन बैंकों द्वारा करने में अधिक सुविधा होने लगी है। भारत में विनिमय बैंक्स की इस विशेष परिस्थिति ने उन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे देश के आन्तरिक व्यवसाय मे भी भारतीय व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता कर सकें। यही कारण है कि विनिमय बैंक्स अपनी समस्त जमा राशि का बहुत बड़ा भाग आन्तरिक व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाने के काम मे लाते है और कुछ दशाओ मे तो आन्तरिक व्यापार की वित्तीय व्यवस्था एक बड़े अंश तक इन्ही बैंकों पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, दिल्ली व अमृतसर के कपड़े का व्यापार, कानपुर के चमड़े का व्यापार तथा बंगाल के जूट-व्यापार मे विनिमय बैंक्स ने बहुत बड़ी मात्रा में अपनी पूँजी लगा रखी है।

(४) साधारण बैंकिंग के कार्य:—कुछ विनिमय बैंक्स देश के अन्दर अन्य प्रकार के बैंकिंग व्यवसायो मे भी भाग लेते हैं। ये देशी बिल्स या हुंडियों की कटौती करते है, देशी-विदेशी दोनो ही प्रकार के बिल्स का लेन-देन करते है, जनता से माग पर वापिस दी जाने वाली राशि जमा (Deposits) पर प्राप्त करते हैं व इन पर ब्याज देते है, व्यापारियों को ऋण व अधिविकर्षण (Over Draft) की सुविधाएँ देते हैं, एजेन्सी का कार्य करते है, रुपये के स्थानान्तरण का कार्य करते हैं आदि। चूँकि इन बंको के आर्थिक साधन बहुत सुदृढ होते है, इसलिए ये भारतीय बंकों से सभी दिशाओ मे प्रतिस्पर्धा करते हैं। इनकी साख व प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण जनता का भी इनमें विश्वास अधिक होता

है जिससे ये जमा-राशि भी अपेक्षाकृत बहुत कम ब्याज की दर पर बहुत अधिक मात्रा म आकर्षित कर लेते है।

विनिमय बैंक्स की वर्तमान स्थिति

<u>भारत में विदेशी विनिमय बैंक्स की वर्तमान स्थिति</u>—भारत मे विदेशी विनिमय बैंक्स बहुत समय से कार्य कर रहे हैं। सन् १९५६ मे भारत म इनकी सख्या १५ थी और देश भर म इनकी ६३ शाखाय थी। ये शाखाय बड़े बड़े नगरो मे ही स्थित है। कलकत्ते, बम्बई, दिल्ली व मद्रास में इनकी शाखायें क्रमश २०, १५, १०, १० है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विनिमय बैंक्स न केवल विदेशी व्यापार को ही आर्थिक सहायता देते है वरन् ये देश के आन्तरिक व्यापार की भी वित्त-व्यवस्था करते हैं। मार्च सन् १९५६ के अन्त म भारत में इनकी जमा धन २०१ करोड रुपया थी, जबकि इस समय भारत म इनके ऋणो और अग्रिमो की कुल राशि १६६ करोड रुपया थी। रिजर्व बैंक के एक अनुसन्धान के अनुसार विनिमय बैंक्स देश के निर्यात बाजार के ७०% भाग का और आयात व्यापार के ९०% भाग का अर्थ-प्रबन्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंको के कार्यो के क्षेत्र म भी विनिमय बैंक्स महत्वपूर्ण काय करते है। विनिमय बैंक्स की इस महत्वपूर्ण वर्तमान अवस्था के कई कारण हैं जिनम से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार है —(i) देश में विनिमय बैंक्स काफी समय से अपना कार्य कर रहे है जिससे इन्होंने ख्याति एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है और इस कारण जनता का भी उनमे बहुत विश्वास उत्पन्न हो गया है। (ii) भारत का अधिकाश विदेशी व्यापार अभारतीय सस्थाओ व व्यक्तियो के हाथ म है जो न केवल अपना समस्त कार्य इन बैंको का सौंपते है बल्कि अन्य व्यापारियो को भी ऐसा करने के लिय प्रोत्साहित करते हैं। (iii) भारत सरकार ने इन कार्यों पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया है। यह अवश्य है सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट द्वारा इनके कार्यों पर अब कम अधिक नियन्त्रण लगा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले तो वास्तव म सरकार ने कई बार परोक्ष रूप से इनको सहायता भी दी थी। (iv) विनिमय बैंक्स क पास साधनो की प्रचुरता रही है जिससे ये बहुत ही प्रबल एव शक्तिशाली बन गये है। इन्ह लन्दन मुद्रा-बाजार की सेवाओ की सुविधा प्राप्त है जिसस इनकी शक्ति और भी अधिक बलिष्ठ हो गई है। (v) विनिमय बैंक्स की सफलता तथा उन्नति का एक कारण उनका सुप्रबन्ध भी है। ये अनुभवी व कुशल कर्मचारियो द्वारा बैंक का सचालन कराते हैं जिससे इन्होने कार्यवाहन की भारी कुशलता प्राप्त कर ली है। इन सब कारणो से विनिमय बैंको ने भारत म एक बहुत ही प्रभावशाली स्थान ग्रहण कर लिया है।

विनिमय बैंक्स की कार्य-प्रणाली के दोष तथा इनके उपाय

<u>भारत मे विनिमय बैंक्स की कार्य-प्रणाली के दोष</u>—यद्यपि विनिमय बैंक्स ने देश के विदेशी व आन्तरिक व्यापार को समय समय पर बहुत आर्थिक सहायता प्रदान की है, परन्तु इनकी कार्य प्रणाली के विरुद्ध भारतीय-हित की दृष्टि से अनेक आक्षेप लगाये गये है। कुछ प्रमुख आक्षेप इस प्रकार हैं—(i) विनिमय बैंक्स भारतीय बैंको के सबसे

बड़े प्रतिद्वन्द्वी है। अपनी साख व प्रतिष्ठा के कारण ये कम ब्याज की दर पर ही पर्याप्त मात्रा मे जमा-धन आकर्षित कर लेते हैं। इससे भारतीय बैंको को बाध्य होकर अपनी ब्याज की दर बढानी पडती है। आन्तरिक व्यापार मे इनका दिन प्रति दिन हिस्सा बढता जा रहा है। सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट से पहले तो इनके कार्यों पर सरकार का कोई नियन्त्रण नही था, जिसके कारण बैंक्स के भारतीय जमाकर्ताओं के हितो की रक्षा नही होने पाती थी। चूंकि विनिमय बैंक्स अपने कार्यों में मूलतः स्वतन्त्र रहे है, इसलिये इन्होंने भारतीय बैंको से प्रतियोगिता की और इनमें से अनेक को ठप्प कर दिया। (ii) विनिमय बैंक्स ने सदा से ही भारतीय विरोधी नीति अपनाई जिसके कारण भारत के विदेशी व्यापार मे भारतीयों का हिस्सा घट कर केवल लगभग १५% रह गया। उदाहरण के लिये, भारतीय आयातकर्ताओ को साख-पत्र खोलने से पहले वस्तुओं के मूल्य का १० से १५% तक इन बैंको के पास जमा करना पड़ता है जबकि यूरोपीय आयात-कर्ताओ को ऐसा करने की आवश्यकता नही होती है। ये भारतीय आयात-निर्यातकर्ताओं को दर्शनी-स्वीकृति बिल्स (D/A or Documents on Acceptances) या भुगतान बिल्स (D/P or Documents on Payment) की वे सुविधाएँ नही देते जो विदेशी व्यापारियो को दी जाती है। ये विदेशी व्यापारियों को बहुत अच्छी आर्थिक स्थिति वाले भारतीय व्यापारियो या व्यापार-गृहों की आर्थिक स्थिति की झूठी सूचना दे देते हैं, परन्तु बहुत खराब व असन्तोषजनक आर्थिक स्थिति वाले विदेशी व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की सूचना अच्छी बताकर भारतीयो को धोखा देते हैं, विनिमय बैंक्स अपने भारतीय ग्राहको से बहुधा यह अनुरोध करते है कि वे अपने समस्त विदेशी कार्य विदेशी संस्थाओ (विदेशी बीमा कम्पनियाँ, जहाजी कम्पनियाँ व दलाल-गृह आदि) द्वारा कराये जबकि यूरोपियन ग्राहको को ऐसा करने के लिये बाध्य नही किया जाता (एक अनुमान के अनुसार इस नीति के कारण भारतीय निर्यातकर्ता विदेशी बीमा कम्पनियों को प्रतिवर्ष लगभग २-३ करोड रुपये का प्रीमियम देते रहे है) जिससे भारतीय बीमा कम्पनियो व जहाजी कम्पनियों को इन्होने प्रगति नही करने दी। जब इन बैंको द्वारा भारतीय आयात-कर्ता पर कोई ड्राफ्ट आता है तब तो ये उसे पत्रो की जाच सम्बन्धी बहुत कम सूचनाएँ देते है किन्तु विदेशी व्यापारियो को इस सम्बन्ध मे बहुत अधिक सुविधाएँ देते है आदि। (iii) विदेशी विनिमय बैंको ने सदा ही उच्च-श्रेणी के सभी कर्मचारी विदेशी रक्खे हैं जिससे भारतीयो को कार्य को सीखने का बहुत कम अवसर मिला है। परन्तु साधारण कार्यों के लिये इन्होंने भारतीयो की नियुक्ति की है और यह भी अपेक्षाकृत कम वेतन पर। (iv) विनिमय बैंक्स की कार्य-प्रणाली अब तक बहुत कुछ ऐसी रही है कि भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध लन्दन के मुद्रा-बाजार के कोषों द्वारा रहा है। यह अवश्य है कि कुछ समय से इस स्थिति मे परिवर्तन हुआ है और अब ये बैंक्स भारत मे ही काफी जमा-राशि प्राप्त कर लेते है और इस धन से अपना कार्य करते हैं जिससे अब भारत के विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध की निर्भरता लन्दन मुद्रा-बाजार पर बहुत कम हो गई है। (v) भारतीय व्यापारियो को विनिमय बैंकों की कार्य-प्रणाली के नियमों व इनमे होने वाले परिवर्तनो के विषय मे कुछ भी नही बताया जाता है और इस सम्बन्ध

में उनसे कोई सलाह भी नहीं ली जाती है। (vi) विनिमय समझौतों के पूरा होने में देर होने पर ये बैंक्स भारतीय ग्राहकों से बहुत अधिक व अनुचित हर्जाना लेते हैं और इसे उनकी रकम में से घटा लेते हैं। इसी तरह ये दूसरे देश की मुद्राओं के लिये अनुचित व बहुत अधिक दर लेते हैं। अतः दिन प्रति दिन के प्रत्यक्ष व्यवसाय के लिये विनिमय बैंक्स भारतीय व्यापारियों से बहुत भेद-भाव रखते हैं। (vii) इस आरोप में कुछ सत्यता है कि इन बैंकों ने भारतीय पूंजी को विदेशी उद्योग व विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) में लगाया है जो सर्वदा देशहित में नहीं है। इस नीति के कारण न केवल जमा-पूँजी से प्राप्त होने वाला लाभ विदेशियों को प्राप्त होता है वरन् भारतीय भुगतान-सन्तुलन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। (viii) इनके विरुद्ध कभी कभी यह आरोप लगाया जाता है कि इन्होंने सदा ही भारतीय हितों का विरोध किया है और विदेशों में भारत विरोधी वातावरण उत्पन्न किया है। (ix) विनिमय बैंक्स ने भारत की राजनैतिक व आर्थिक स्थिति में भी रोड़े अटकाये हैं। ये हमेशा यह प्रयत्न किया करते थे कि भारतीयों को समाशोधन गृह (Clearing House) तथा विनिमय बैंक्स संघ (Exchange Bank's Association) आदि की सुविधायें न दी जायें। (x) अन्य दोष—विनिमय बैंक्स के प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं जहाँ से उनकी नीति निर्धारित होती है। इस प्रकार की नीति भारतीय हित में कभी भी नहीं हो सकती और न इस नीति से भारतीय व्यापार ही पनपने पाता है क्योंकि यह भारतीय परिस्थितियों से सदा अनभिज्ञ रहते हैं। यद्यपि इन्होंने भारत में कार्य करके बहुत लाभ कमाया है तथा काफी बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित करके विदेशी उद्योगों में लगाई है, परन्तु इन बैंकों की नीति-निर्धारण में भारतीयों का कोई हाथ नहीं रहा है। (xi) विनिमय बैंक्स ने भारतीय मुद्रा-बाजार को दो भागों में विभाजित किया है। चूँकि इन बैंकों का सम्पर्क लन्दन मुद्रा बाजार से रहा है, इस कारण इनके पास उधार देने वाली पूँजी का कभी भी अभाव नहीं रहा है। फलतः भारतीय मुद्रा-बाजार के इस विदेशी भाग पर रिजर्व बैंक का कोई विशेष प्रभाव नहीं रहा है जिस के कारण मुद्रा बाजार का ठीक-ठीक संगठन व नियन्त्रण नहीं हो सका है।

विनिमय बैंक्स के दोषों को दूर करने के उपाय

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ और विनिमय बैंक्स—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि एक तरफ विदेशी विनिमय बैंक्स के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगने चाहिएँ और दूसरी तरफ भारतीय विनिमय बैंक्स को सहायता एवं प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, तब ही विनिमय बैंक्स के अनेक दोष दूर हो सकते हैं। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४९ में भारतीय बैंकिंग एक्ट बनाया गया जिसके द्वारा अन्य बैंकों की भांति विदेशी विनिमय बैंक्स पर जो अनेक प्रतिबन्ध लगाये गए जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) भारत के बाहर स्थापित होने वाली सभी बैंकिंग कम्पनियों को कम से कम १५ लाख रुपये की परिदत्त पूंजी (Paid up Capital) और कोष (Fund) रखना आवश्यक कर दिया गया है और यदि इनका व्यवसाय बम्बई व कलकत्ते में भी है तब इनको २० लाख रुपए की पूंजी तथा कोष रखना होगा। इन बैंकों को यह राशि

नकदी तथा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप मे रिजर्व बैंक के पास जमा करनी पड़ती है। (ii) भारत-स्थित सभी बैंको को रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र (Licence) लेना पड़ेगा। इसी प्रकार शाखाएँ खोलने के लिये भी पूर्व अनुमति लेनी होगी। भारतीय बैंक नियमों का पालन नही करने पर रिजर्व बैंक को बैंकों का लाइसैन्स रद्द करने का भी अधिकार है। लाइसैन्स केवल उन्ही विदेशी बैंको को दिया जायगा जिनके स्वयं के देश मे भारतीय बैंको के विरुद्ध किसी प्रकार का वैधानिक प्रतिबन्ध नही है तथा जिन बैंकों की न केवल आर्थिक स्थिति ठीक है वरन् जिनकी व्यवस्था भारत हित मे है। (iii) प्रत्येक विदेशी बैंक को भारत-स्थित शाखाओ की जमा-राशि के ७५% भाग को भारत मे ही रखना होगा। इसी प्रकार उन्हे माग-दायित्व व काल-दायित्व का क्रमशः ५% व २% भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करना होगा। (iv) प्रत्येक विदेशी बैंक को भारतीय मुद्रा में अपना वार्षिक स्थिति-विवरण बनाना होगा और इसे प्रधान कार्यालय व अन्य कार्यालयों में प्रदर्शित करना होगा। इस स्थिति-विवरण की एक प्रतिलिपि (Copy) ऑडिटर्स (Auditors) की रिपोर्ट सहित रिजर्व बैंक को भी भेजनी होगी। रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह जो भी अन्य विवरण चाहे उसे भी इन बैंको से मंगा सकता है। सन् १९४९ के बैंकिंग एक्ट की अन्य महत्वपूर्ण बातो को पुस्तक मे अन्यत्र लिखा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि बैंकिंग एक्ट से रिजर्व बैंक को जो अधिकार मिले हैं उनसे वह इन विनिमय बैंको पर अच्छा नियन्त्रण रख सकता है और इन्हे भारतीय बैंकों का सहयोगी बना सकता है। परन्तु आलोचको का मत है कि उक्त एक्ट के बन जाने पर भी स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नही हुआ है क्योकि विदेशी बैंको को लाइसैन्स बहुत आसानी से अब भी प्राप्त हो जाता है और इनके कार्यों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नही लगा है।

भारतीय विनिमय बैंक्स

(Indian Owned Foreign Exchange Banks)

प्राक्कथनः—सन् १९३१ की बैंकिंग जाँच समिति ने भारतीय व्यापारियो की असुविधाओ को दूर करने तथा भारतीय विदेशी व्यापार की उन्नति के हेतु यह सुझाव दिया था कि भारत मे भारतीयों के भी विनिमय बैंक्स होने चाहिये ताकि इनके भारतीय व्यापारियो व ग्राहको को लाभ पहुँच सके। इस समिति ने यह बताया था कि भारतीय बैंको का विदेशी विनिमय व्यवसाय मे भाग नही लेने के कारण इन्हे विदेशी विनिमय बैंकों से प्रतियोगिता सहनी पडती है, जिनकी पूँजी व कोष बहुत ज्यादा है तथा इसी कारण उन की विदेशी केन्द्रो मे शाखाओ की अनुपस्थिति है। इस समिति का मत था कि जो भारतीय बैंक्स अच्छी स्थिति मे है, उन्हे विदेशो मे शाखाएँ खोलनी चाहिएँ और यदि वे शाखाएँ खोलने मे असमर्थ हो, तब उन्हे विदेश-स्थित बैंको से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये ताकि न केवल ये अपने ग्राहको को विदेशी व्यापार की सुविधाएँ दे सकें वरन् नई शाखाओ को स्थापित करने का जो प्रारम्भिक व्यय होता है, उसे भी इन्हे नही करना पड़े। परन्तु अनेक सुझावो के होते हुए भी इस दिशा मे कोई विशेष प्रगति नही होने पाई और आज भी विदेशी विनिमय बैंको का देश के बैंकिंग व्यवसाय पर पूर्ण प्रभाव है।

भारत मे भारतीय विनिमय बैंक्स की क्यों कमी है ?—इसके अनेक कारण हैं, जिनम से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं —(i) आन्तरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध म विदेशी व्यापार के अर्थ प्रबन्ध की तुलना में लाभ अधिक होता है। इस कारण अधिकांश भारतीय मिश्रित पूँजी के बैंको ने विदेशी विनिमय-कार्य मे रुचि नही ली। (ii) विदेशी विनिमय के कार्य मे रुपया प्राय तीन मास से अधिक काल के लिए तो फँस ही जाता है। भारतीय बैंको के पास सदा ही बहुत ही सीमित कोष रहे हैं। इस स्थिति मे उनके लिए विदेशी विनिमय कार्य बहुत ही असुविधाजनक हो जाता। अत उन्होंने आन्तरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध पर ही सन्तोष कर लिया। (iii) विदेशी विनिमय का कार्य केवल योग्य, कुशल व अनुभवी कर्मचारियो द्वारा ही किया जा सकता है। भारत में इस प्रकार के कार्य-सचालन के लिये निपुण कर्मचारियो का सदा ही अभाव रहा है। इस कारण भी भारतीय बैंको ने विदेशी विनिमय के कार्यों को करने की चेष्टा नही की। (iv) विदेशो म शाखाएँ स्थापित करने तथा उन्हें सफलतापूर्वक चलाने म अनेक राजनैतिक व कानून सम्बन्धी कठिनाइयाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त बैंक की विदेशी शाखा पर्याप्त मात्रा मे कार्यो को तत्कालित तब ही कर सकती है, जबकि इसे बहुत मात्रा म पूंजी, अनुभव व प्रतिष्ठा के लाभ प्राप्त होते हैं। भारतीय बैंको म इन सभी का अभाव होने के कारण, ये विदेशो मे शाखाएँ खोलने म असमर्थ रहे। अत इन सब कारणो से व्यवहारिक रूप म भारतीय बैंको ने विदेशी विनिमय का कार्य अभी तक नही किया है जिससे विदेशी व्यापार करने वाले भारतीयो को बहुत कठिनाइयाँ सहनी पडी हैं। आश्चर्य ही नहीं वरन् यह खेद का विषय है कि विदेशी विनिमय व्यवसाय लाभप्रद, सुरक्षित तथा सरल होने हुये भी भारतीय बैंक इस ओर बहुत उदासीन रहे है।

भारतीय बैंकों के विदेशी विनिमय कार्य की वर्तमान स्थिति—यह हर्ष का विषय है कि विगत कुछ वर्षों म भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंको ने विदेशी विनिमय व्यापार करने व विदेशो में अपनी शाखाएँ खोलने म बहुत रुचि दिखलाई है। सन् १९४६ में अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) की विदेशी शाखाओ की सख्या ६२८ थी जो सन् १९५४ मे घटकर केवल १०७ ही रह गई। सन् १९५१ मे २५ सदस्य व १२ असदस्य (Non-Scheduled) ऐसे भारतीय बैंक्स थ जिन्होंने आठ विदेशो म क्रमश १११ व १६ कार्यालय स्थापित किये थ। सदस्य बैंको के कार्यालय इस प्रकार थे—पाकिस्तान ७६, मलाया १२, बर्मा ८, लका ३, फ्रेंच इण्डिया ३, जापान २, थाईलैंड २, ब्रिटेन २। असदस्य बैंको के कार्यालय केवल पाकिस्तान मे ही थे। इसस स्पष्ट है कि बैंकों के अधिकाश विदेशी कार्यालय पाकिस्तान म थे। कुछ बैंको के विदेशी कार्यालय इस प्रकार थे—इम्पीरियल बैंक के ३०, यूनाइटिड बैंक ऑफ इण्डिया क १४, इण्डियन ओवरसीज बैंक के ११, यूनाइटिड कॉमर्शियल बैंक के ६, बैंक ऑफ इण्डिया के ५ तथा इण्डिया बैंक के ५ कार्यालय।

यह स्मरण रहे कि भारतीय बैंको की विदेश स्थित शाखाओ मे कुल देन के अनुपात म, भारतीय शाखाओ की तुलना म, बहुत बडी मात्रा म नकद कोष रखे जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि आरम्भ म सुरक्षा व सम्मान पर अधिक ध्यान

दिया जा रहा है। यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय बैंकों ने अपना विदेशी विनिमय व्यवसाय बढाने का बहुत प्रयत्न किया है, परन्तु ये अब भी विदेशी विनिमय व्यवसाय मे बहुत पीछे हैं। आशा है कि रिजर्व बैंक के सहयोग से ये शीघ्र ही इस कार्य मे भी बहुत सफलता प्राप्त कर लेंगे और भारतीय व्यापारियों को जो कठिनाइयाँ अपने विदेशी व्यापार में इस समय अनुभव होती है, उन्हें भी ये शनैः शनैः दूर करने में सफल हो सकेंगे।

विनिमय बैंक्स की भारत को देन

विनिमय बैंक्स का महत्व—भारत में विनिमय बैंक्स बहुत समय से कार्य कर रहे हैं। यद्यपि इनकी कार्य-प्रणाली में अनेक दोष रहे हैं और कुछ दोष आज भी हैं, फिर भी यह सर्वमान्य है कि इन्होंने ही भारत मे वर्तमान बैंकिंग पद्धति का बीजारोपण किया है, भारतीयों मे बैंकिंग आदत को जन्म दिया है, बैंकों मे जनता का विश्वास उत्पन्न किया है तथा देश मे बैंकिंग के विकास व विदेशी व्यापार की उन्नति में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत में विदेशी विनिमय बैंक की संख्या सन् १९५० मे केवल १५ थी और इनके पास १५·७५ करोड़ रुपये की पूंजी व सुरक्षित कोष थे, इनकी जमा-राशि १६२·४७ करोड़ रुपये की थी तथा इनके नकद कोष २३·६७ करोड रुपये के बराबर थे। इन बैंकों द्वारा देश के निर्यात व्यापार के ७०% और आयात व्यापार के ६०% भाग का अर्थ-प्रबन्ध किया जाता है। यही नही कि बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रो पर अन्य अनेक प्रकार की बैंकिंग की सुविधाएँ भी उपलब्ध करते हैं। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर तो इन विदेशियों के विनिमय बंको के कार्यों पर नियन्त्रण रक्खा जाय और दूसरी ओर भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय के कार्यों को करने के लिये प्रोत्साहित किया जाय और उन्हे हर प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। यदि ऐसा किया गया तब शीघ्र ही विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध भी मूलतः भारतीयो द्वारा ही किया जाने लगेगा।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. Com.

1. Write a note on–विनिमय अधिकोष (१६१६ S, 1958 S, 1957 S, 1956 S, 1954) 2. Write a note on—D/A and D/P Bills. (1957, 1955 S, 1954) 3. What part do Exchange Banks play in financing the external trade of India? What charges have been levelled against them and how does the Indian Government try to control their activities? (1956) 4. Describe the operation of the Exchange Banks in connection with the financing of India's foreign trade. What objection have been raised against them and how far have they been removed by the Indian *Banking Companies Act, 1949? (1955 S)*

Allahabad University, B. Com.

1. Explain how the foreign trade of India is financed with special reference to (a) the various agencies engaged in the business and (b) the character of the instruments employed. (1956)

Rajputana University, B. Com.

1 Write a note on—Importance of Exchange Banks in India (1957) 2 Discuss the main functions performed by the Exchange Banks in India and point out how far have their defects been remedied since independence (1956) 3 Examine the various complaints in the working of foreign exchange banks in India What has the Government of Free India done to remove these complaints ? Discuss (1954)

Gorakhpur University, B. Com

1. What do you understand by Exchange Banking ? How do exchange banks keep their funds equitably distributed in different centres ? (Pt. II 1959)

Bihar University, B Com

1 Describe the present position of the foreign Exchange Banks in India. (1958)

चुने प्रश्न
श्रौर
उनके उत्तर का संकेत

निन्यानवे फी सदी विद्यार्थियों की यह समस्या रहती है कि वे किसी प्रश्न के उत्तर में किन-किन बातों का समावेश करें श्रौर किन-किन बातों को उत्तर में नहीं लिखें तथा श्रमुक प्रश्न का उत्तर परीक्षा में श्रपनी उत्तर-पुस्तिका के कितने पृष्ठों में लिखें श्रादि। इस समस्या को हल करने के हेतु ही, प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक श्रध्याय के श्रन्त में परीक्षोपयोगी प्रश्नों को चुनकर, उनके उत्तर की "रूप-रेखा" दी गई है तथा साथ ही साथ यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि उत्तर के विभिन्न भागों में लिखी जाने वाली सामग्री कितनी लाइनों श्रथवा पृष्ठों में लिखी जानी चाहिये। लेखक का पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक में दिये गये प्रश्नों के उत्तर-संकेतों से विद्यार्थी विशेषतया लाभान्वित होंगे श्रौर परीक्षा में निस्सन्देह प्रथम श्रेणी के श्रंक तो श्रवश्य ही प्राप्त कर सकेंगे।

"राजहंस"

द्वारा

"सरल अध्ययन माला"

के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकें

पाठ्य पुस्तकों की तरह बहुत बड़ी

तथा कीमती नहीं होतीं

इनमे

सम्पूर्ण पाठ्य सामग्री

परीक्षा प्रश्नों, सम्भावित प्रश्न तथा पाठ्य क्रम

के आधार पर ,

इस प्रकार दी जाती है कि विद्यार्थी को विषय का

सरलतापूर्वक बोध हो जावे और वह उस विषय

पर आने वाले प्रत्येक प्रश्न का श्रेष्ठ

उत्तर लिखकर उच्च श्रेणी के

अङ्क प्राप्त कर सकें ।

भाग ३ खण्ड १

भारत में
कृषि-वित्त, औद्योगिक-वित्त
तथा
विदेशी पूँजी

(Agricultural Finance, Industrial Finance & Foreign Capital in India)

[अध्याय १. भारत में कृषि-वित्त व्यवस्था, २. भारत में औद्योगिक वित्त-व्यवस्था, ३. भारत में विदेशी पूंजी ।]

अध्याय १

भारत में कृषि वित्त-व्यवस्था

(Agricultural Finance in India)

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता (Rural Indebtedness)

प्राक्कथन—भारत एक कृषि प्रधान देश है और इस समय लगभग ७२% जन-सख्या कृषि कार्य करती है। इसीलिये यह स्वाभाविक ही है कि देश की अर्थ व्यवस्था मे कृषि व कृषकों की आर्थिक समस्याओं का अधिक महत्व है। इस अध्याय म हम विस्तार मे कृषकों की ऋण समस्या व साख-समस्या का अध्ययन करेंगे और इनके हल के लिये सुझाव प्रस्तुत करेंगे।

ग्रामीण ऋण का अनुमान (An Estimate of Rural Indebtedness in India)—समय समय पर विभिन्न लेखकों एव सस्थाओं ने ग्रामीण ऋण का जो कुछ भी अनुमान लगाया है वह इस प्रकार है—सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति के अनुमान के अनुसार ग्रामीण ऋण की रकम ९०० करोड रुपये थी, डा० आर० के० मुकर्जी के अनुसार सन् १९३५ में इसकी रकम १२०० करोड रुपये थी और बम्बई योजना के अनुसार सन् १९४५ में भी ग्रामीण ऋण की रकम लगभग १२०० करोड रुपये थी। परन्तु कुछ लेखकों का यह विचार है कि युद्धकाल म अधिकाश कृषकों का पुराना ऋण समाप्त हो गया है और इस समय ग्रामीण ऋण की रकम घटकर बहुत कम हो गई है।

ग्रामीण ऋण–ग्रस्तता के कारण

ग्रामीण ऋण के कारण (Causes of Rural Indebtedness)—ग्रामीण ऋण ग्रस्तता के कई महत्वपूर्ण कारण हैं—(i) भूमि पर जन सख्या का दबाव—कृषि योग्य भूमि की तुलना मे देश म जन-सख्या अधिक है और इसम दिन प्रति दिन और अधिक वृद्धि होती चली आ रही है। कुछ कृषकों को कृषि के अतिरिक्त अन्य और कोई दूसरा व्यवसाय करने के लिये नही मिल पाता है। कृषि म कृषक की आवश्यकता से कम उत्पादन होने के कारण उसे बाध्य होकर ऋण लेना पडता है। (ii) भूमि के छोटे छोटे टुकडे व इनका छिटकापन—इस कारण कृषि अनार्थिक हो जाती है और कृषक को अपने भरण पोषण के लिये ऋण लेना पडता है। (iii) पूर्वजों का ऋण कृषकों की आर्थिक दशा अधिक नही रहने के कारण वे अपनी भुगतान शक्ति से अधिक ऋण ले लेते हैं और प्राय इसके बिना भुगतान किये ही मर जाते हैं। परिणामत कृषकों के बच्चों को ऋण की अदायगी करनी पडती है चूंकि इनकी आर्थिक दशा भी खराब ही होती है, इसलिये प्राय ये भी ऋण का भुगतान नही करने पाते और ऋण के भार को अपने बच्चों के लिये छोड जाते हैं। इसीलिये यह कहना सच है कि "भारतीय कृषक ऋण मे ही जीवित रहता है और ऋण म ही मर जाता है। (iv) प्राकृतिक सकट—

बाढ, वर्षा की कमी या अधिकता, टिड्डी व फसल की बीमारियां आदि से भारतीय कृषक को समय-समय पर आर्थिक सकट का सामना करना पड़ता है। ऐसे सकट के समय यह स्वत ही महाजन के चगुल में फस जाता है और उसका ऋण-भार बढ़ता ही जाता है। (v) **फिजूलखर्ची व मुकदमेबाजी**—विवाह, मृत्यु, अन्य अनेक प्रकार के उत्सवो पर वह बिना किसी सोच-विचार किये आवश्यकता से अधिक व्यय करता है। इसी तरह कृषको का मुकदमेबाजी से विशेष स्नेह होता है। इन सब कार्यों के लिये प्राय: उसे ऋण लेना ही पड़ता है और एक बार लेने के बाद अक्सर वह इसके भुगतान के लिए असमर्थ रहता है। (vi) **कम उत्पादन और उपज की बिक्री का कम मूल्य**—खेतों का छोटा व बिखरे होना, कमजोर व अस्वस्थ पशु, खाद की कमी, सिंचाई की अनिश्चितता, कृषि-यन्त्रो का पिछड़ापन एवं अभाव आदि अनेक ऐसे कारण है जिनकी वजह से कृषि में प्रति एकड़ उत्पादन बहुत कम पाया जाता है। यह ही नही जो कुछ उपज होती है उसकी बिक्री का तरीका इतना दोषपूर्ण होता है कि उसे इसका उचित से कम मूल्य मिल पाता है। परिणामतः कृषक की आर्थिक दशा खराब होने के कारण वह ऋणग्रस्त हो जाता है। (vii) **साख-व्यवस्था का अभाव और ऊंची ब्याज की दर**—यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों मे अनेकों सहकारी साख समितियां पाई जाती है, परन्तु इनकी कार्य-प्रणाली अत्यधिक दोषपूर्ण होने के कारण, महाजन को इनसे विशेष लाभ नही होने पाता है और उसे बाध्य होकर महाजन की शरण मे जाना पड़ता है। महाजन व साहूकार उसकी विवशता का लाभ उठाकर उससे अत्यधिक ब्याज की दर लेते है और न मालूम कितने तरीके अपनाकर अपने मूलधन तक में वृद्धि कर देते हैं इस अवस्था मे कृषक अपने ऋण-भार से मुक्त नही होने पाता है।

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के परिणाम (Effects of Rural Indebtedness)—ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के अनेक आर्थिक, सामाजिक व नैतिक परिणाम होते हैं और विशेषकर उस अवस्था में जबकि ऋण मुख्यतः अनुत्पादक कार्यों के लिये लिया गया हो। कृषकों पर ऋण-भार बढ जाने के कारण भूमि शनैः शनैः कृषकों के हाथो से निकल कर अकृषको (Non-Agriculturist) के हाथो मे पहुँच जाती है जिससे न केवल कृषि-उत्पत्ति मे कमी हो जाती है वरन् कृषक बेरोजगार हो जाते हैं। इस अवस्था में कृषकों मे असन्तोष उत्पन्न हो जाता है जिससे सामाजिक व राजनैतिक उथल-पुथल का बीज बोया जाता है। ऋण के दबाव के कारण कभी-कभी कृषक को अपनी उपज महाजन के हाथो बहुत कम मूल्य पर बेचनी पडती है जिससे कृषक की आर्थिक दशा बहुत ही खराब हो जाती है। अनुभव से यही पता चलता है कि जबकि एक बार कृषक ऋण-ग्रस्त हो जाता है, तब वह प्राय: इसके भार से पूर्णतया मुक्त नही होने पाता है जिससे अन्ततः उसका नैतिक पतन तक हो जाता है।

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या का हल (Solution of the Problem of Rural Indebtedness)—ग्रामीण ऋण की समस्या के हल के लिये समय-समय पर कई सुझाव दिये गए हैं–(i) कृषकों को अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण-लेने के लिये

हतोत्साहित करना चाहिये । ग्राम पंचायतो द्वारा प्रचार तथा शिक्षा के प्रचार से इस ओर सफलता मिल सकती है । (ii) पुराने ऋणो के भुगतान की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये । इस उद्देश्य की पूर्ति कानून द्वारा भी हो सकती है। वास्तव में इस समय अनेक ऐसे नियम है जिनकी सहायता से कृषक अपने आपको दिवालिया घोषित करवा सकता है या अपने ऋण भार को कम करवा सकता है या अपने ऋण को पूर्णत अवैधानिक घोषित करवा सकता है । (iii) सन् १९५४ की गैडगिल कमेटी (Gadgil Committee) का यह सुझाव था कि या तो ग्रामीण ऋण के बाह्य भार को कम कर देना चाहिये या इनका भुगतान भूमि-बन्धक बैंको अथवा कृषी-साख संघो (Agricultural Credit Corporations) द्वारा होने चाहिये । इन्ही सुझावो का समर्थन बाद में चलकर सन् १९४६ व १९४७ मे क्रमश सौराईया कमेटी व नानावती कमेटी ने भी किया था। परन्तु गैडगिल कमेटी की सिफारिशो को कार्यान्वित नही किया गया क्योंकि जिस साख-व्यवस्था का सुझाव इस कमेटी ने दिया था वह प्रान्तीय व केन्द्रीय बैंक द्वारा ही अच्छी प्रकार से कार्योन्वित की जा सकती थी। जो रकम उक्त संघो के निर्माण मे लगाई जाय, यदि उसी रकम को प्रान्तीय व केन्द्रीय बैंको मे लगा दिया जाय, तब ये समस्याएं अपना कार्य और भी अच्छी प्रकार से कर सकेंगी । अत ग्रामीण ऋण की समस्या के हल के लिये सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन देने की भी बहुत आवश्यकता है ताकि कृषको की साख की आवश्यकता की पूर्ति सुगमता व शीघ्रता से पूरी हो सके और वे अनावश्यक ही ऋण-ग्रस्त नही हो सके ।

भारत में कृषि साख-व्यवस्था (Agricultural Credit in India)

प्राक्कथन कृषक की आर्थिक दशा अच्छी नही होने के कारण, उसे समय-समय पर ऋण लेना पड़ता है उसे प्राय तीन प्रकार के ऋणो की आवश्यकता होती है (i) अल्पकालीन ऋण—कृषको को बीज-खाद के खरीदने, फसल काटने व दाय (Threshing) करने, पौधो को स्थानान्तरित करने, फसल बेचने, जमीन कर चुकाने, पशु व स्वयं अपने परिवार के दैनिक व्यय आदि के लिए अल्पकालीन ऋणो की आवश्यकता हुआ करती है। अक्सर इस प्रकार के ऋण की अदायगी अगली फसल मे कर दी जाती है। (ii) मध्यकालीन ऋण—पशु व कृषि यन्त्रो के खरीदने, सिंचाई की व्यवस्था करने, जमीन को इकसार करने आदि के लिए भी कृषक को ऋण की आवश्यकता हुआ करती है । इस प्रकार के मदों पर किये गये व्यय को प्राय कृषक दो से पाच वर्ष की अवधि में लौटाया करता है । इस कारण इन ऋणो को अल्पकालीन ऋण कहते है । (iii) दीर्घकालीन ऋण)—कृषक को भूमि मे स्थायी सुधार करने के लिए भी ऋण की आवश्यकता हुआ करती है । कभी-कभी वह भूमि खरीदन, ट्रेक्टर आदि मूल्यवान यन्त्रो को खरीदने, पुराने ऋणों का भुगतान करने आदि के लिए ऋण लिया करता है । इस प्रकार के ऋणो की अदायगी वह २५-३० वर्ष मे ही करने पाता है। इसीलिए ये ऋण दीर्घकालीन ऋण कहलाते हैं ।

ग्रामीण वित्त के साधन (Sources of Rural Finance)—ग्रामीण ऋण-

ग्रस्तता की समस्या के उक्तलिखित अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारतीय कृषक सम्पन्न नहीं है और उसे समय-समय पर अनेक कार्यों के लिए ऋण लेना पड़ता है। यह सच है कि अभी तक देश में कृषि-वित्त की कोई संतोषजनक व्यवस्था नहीं होने पाई है। कृषक को न केवल उचित समय पर पर्याप्त मात्रा में ऋण नहीं मिल पाता वरन् यह ऋण उसे महगा भी बहुत मिलता है। परिणामतः उसकी आय और भी कम हो जाती है जिससे ऋणों की आवश्यकता और उनका भार और भी अधिक बढ़ जाता है। इस समय देश में ग्रामीण वित्त के निम्नलिखित मुख्य साधन है—(i) साहूकार, (ii) स्वदेशी बैंकर, (iii) व्यापारिक बैंक्स, (iv) सरकार, (v) सहकारी साख समितियां, (vi) भूमि-बन्धक बैंक्स तथा (vii) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया।

[१] महाजन व साहूकार (*Money Lender*)

प्रयक्करण—भारत में अति प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में बैंकिंग व्यवसाय होता चला आया है। इसका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। उस समय के ऋणदाता न केवल व्यापार व कृषि की वित्त की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। वरन् वे राजा-महाराजाओं की धन की आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। मुगल-काल में भी महाजन व साहूकारों की बहुत प्रतिष्ठा थी, परन्तु मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर इनके बैंकिंग व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आ जाने पर तो स्वदेशी बैंकिंग की और भी अधिक अवनति हुई क्योंकि ये अंग्रेजी व्यापारपद्धति के साथ अपने व्यापार का समायोजन (Adjustment) नहीं कर सके। देश में ऐजन्सी-गृहों (Agency Houses) की स्थापना हुई जिससे महाजन व विदेशी बैंकर्स का प्रभाव और भी कम हो गया। तत्पश्चात् आधुनिक ढंग के व्यापारिक बैंक्स अथवा सहकारी साख समितियों की स्थापना से इनकी और भी अधिक अवनति हो गई और आज भी इन्हें इन संस्थाओं से बहुत अधिक प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। यद्यपि महाजन व साहूकारों का महत्व शहरों व छोटे-छोटे नगरों में अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया, परन्तु गावों व कस्बों में और विशेषकर उन स्थानों पर जहां पर न तो आधुनिक व्यापारिक बैंक्स ही हैं और न सहकारी समितियां ही है, इनका महत्व आज भी बहुत है और ये आज भी इन स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से बहुत कुछ पुराने ढंग से अपना लेन-देन का काम करते हैं। सच तो यह है कि इनकी प्रतिस्पर्धा में भी अब तक सहकारी साख समितियों को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। महाजन व साहूकारों का महत्व तो इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि ये कृषि कार्यों के लिए दिये जाने वाले ६० % ऋण की आज भी पूर्ति करते हैं।

महाजन व साहूकारों का वर्गीकरण (Classification of Money Lenders):—महाजन व साहूकार वे व्यक्ति हैं जो अपने व्यापार के साथ ही साथ जमानत पर या बिना किसी जमानत के ही धन उधार देते हैं। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में संख्या अथवा कार्य की दृष्टि से इनका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने साहूकारों का वर्गीकरण व्यवसायी अथवा अव्यवसायी और इनका भी वर्गी-

करण नागरिक अथवा ग्रामीण साहूकारों में किया है। कुछ ऋणदाता फेरी वाले भी लेते हैं जिन्हें काबुली व पठान महाजन कहा जाता है। अक्सर व्यवसायी ऋणदाताओं को महाजन व साहूकार कहते हैं और अव्यवसायी ऋणदाताओं के अन्तर्गत हैं—कृषक, व्यापारी, जमींदार, वकील, पेंशन पाने वाले, पुरोहित आदि।

साहूकारों के कार्य

साहूकारों के कार्य (Functions of the Money Lenders)—साहूकारों व महाजनों द्वारा किये गए मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) ऋण देना—महाजन व साहूकारों का मुख्य कार्य ऋण देना होता है। ऋण उत्पादक अथवा अनुत्पादक दोनों ही कार्यों के लिए दिया जाता है यह जमानत या बिना जमानत दोनों ही प्रकार से दिया जाता है। ऋण नकद रूप में अथवा किस्म में दिया जाता है। कभी-कभी अचल-सम्पत्ति या फसल की जमानत पर भी ऋण दे दिया जाता है। ये अक्सर अल्पकालीन ऋण ही देते हैं, परन्तु जब कभी ऋण मध्यकालीन दिए जाते हैं तब ये ऐसा ऋण पर्याप्त जमानत पर ही देते हैं। यह स्मरण रहे कि फेरीवाले ऋणदाता ऋण केवल अल्पकाल के लिए ही दिया करते हैं। यह अवश्य है कि जब कभी फसल खराब हो जाने के कारण या अन्य किसी कारण से ऋण की अदायगी नहीं होने पाती है, तब ऋणदाता ऋण की अवधि बढ़ा देते हैं और ऋणी से अधिक रकम का नया रुक्का लिखवा लेते हैं। (ii) आन्तरिक व्यापार को सहायता देना—महाजन व साहूकार आन्तरिक व्यापार को सहायता देकर भी एक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। ये कच्चे आढ़तियें का कार्य करते हैं अर्थात् किसान अपनी उपज इनके पास लाकर रख देता है और इनसे अपनी आवश्यकतानुसार ऋण ले लेता है। परन्तु यहां पर शर्त यह होती है कि कृषक अपनी उपज को उक्त महाजन द्वारा ही बेचेगा। (iii) व्यापार करना—महाजन व साहूकार लेन-देन के अतिरिक्त अपना कुछ निजी व्यापार भी करते हैं या तो ये स्वयं भी कृषि करते हैं या छोटी-मोटी दूकान करते हैं। कभी-कभी महाजन (अपनी दूकान में बेची जाने वाली वस्तुओं के रूप से ऋण देते हैं।

व्यापार की कार्य-प्रणाली व ब्याज की दर—केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (१९२९) के मतानुसार महाजन व साहूकारों की कार्य-प्रणाली बहुत सरल व लोचदार होता है, ऋणी को उसके पास तक पहुंच बहुत आसानी से हो जाती है। ऋणी के स्वभाव व चरित्र का उसे पूर्ण ज्ञान रहता है और उस उसकी आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी होती है जिससे उसे अपने ऋण-कार्य में अक्सर हानि की बहुत कम सम्भावना रहती है। महाजनों का खाता एवं हिसाब रखने का ढंग बहुत सरल होता है और इसमें प्रान्त प्रान्त में भिन्नता पाई जाती है। महाजन ऋणों पर जो कुछ भी ब्याज की दर लेते हैं उसमें न केवल प्रान्त-प्रान्त में भिन्नता होती है। वरन् इसमें भी एक ही प्रान्त में अन्तर पाया जाता है। यदि जमानत पर्याप्त व अच्छी है, तब ब्याज की दर कम होती है। इसके विपरीत दशाओं में यह दर भी अधिक ही होती है। प्रायः ब्याज की दर

१२% से ३७% तक होती है। परन्तु जब कभी व्याज की दर एक आना प्रति रुपया प्रति माह होती है तब यह ७५% होती है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण बहुत ही कम पाये जाते है। इतनी अधिक ऊंची व्याज की दर के कई कारण हैं:— (i) ग्रामीण क्षेत्रों मे ऋण-प्रदायक संस्थाओ का बहुत अभाव है जिससे महाजन अपने आपको एकाधिकारी की अवस्था में पाता है और मन-चाही व्याज की दर लेता है। (ii) महाजन के पास स्वय पूंजी का अभाव रहता है क्योकि वह नागरिको से जमा पर धन प्राप्त नही करता है। इसके विपरीत उस से ऋण की माग बहुत होती है। इस अवस्था मे वह अधिक व्याज की दर लेने मे सफल हो जाता है। (iii) ऋणी अवसर अशिक्षित होते हैं। उन्हे इस बात की जानकारी नही होने पाती कि अपने गाव मे कौन-सा महाजन या आस-पास के गावों में किस गॉव मे उन्हे कम व्याज की दर पर रुपया उधार मिल सकता है। परिणामतः वे अपने परिचित साहूकार की व्याज की दर को ही ठीक मानते है। (iv) महाजन थोड़ी-थोड़ी रकम बहुत से व्यक्तियों को उधार देते है जिससे उसका प्रबन्ध-व्यय बहुत होता है और यह ऊंची दर पर ही ऋण देता है। (v) चूंकि ऋणी प्राय. बिना किसी जमानत के रुपया उधार लेता है या वह अपर्याप्त जमानत पर ऋण लेता है, इस लिये ऋण मे जोखिम का अंश अधिक होने के कारण वह व्याज की दर भी अधिक लेता है।

साहूकारों के दोषपूर्ण कार्य:—सन् १६२६ की केन्द्रीय बैंकिंग जॉच समिति के अनुसार महाजन व साहूकारो के कार्यों मे अनेक दोष पाये गये है, जिनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(i) कुछ महाजन कभी कभी ऋणी को ऋण देते समय उससे एक खाली कागज पर दस्तखत करा लेते है या अगूठा लगवा लेते हैं और बाद उधार दी गई रकम को उस पर लिख लेते है। परन्तु इस रीति मे दोष यह है कि कभी कभी महाजन ऋण की रकम को बढ़ाकर लिख लेते है। (ii) अपने बही-खातो मे ऋणी का खाता खोलते समय ये भेंट के रूप में कुछ रुपये लेते है जो सर्वदा अनुचित है। (iii) ऋण की रकम पर अगाऊ व्याज काट लेते है। (iv) ऋणी से अनेक प्रकार के काय बेगार के रूप मे करवाते है। (v) कभी-कभी ऋणी से यह शर्त करली जाती है कि वह अपनी उपज ऋणदाता द्वारा ही बेचेगा। परिणामतः कृषकों को अपेक्षाकृत कम मूल्य पर ही अपनी उपज बेचनी पड़ती है। इस तरह ऋणदाता ऋणी से व्याज के रूप मे और उपज की बिक्री के रूप मे दो प्रकार से लाभ उठाता है। (vi) कभी-कभी ऋणी को ऋणदाता के मुनीमो व नौकरो को भी कमीशन के रूप में कुछ रकम देनी पड़ती है। इन सब दोषो के कारण महाजन व साहूकार का एक घृणित व्यक्ति की तरह विरोध किया जाता है और उसे "भारतीय शाइलॉक" (Indian Shylock) या भारतीय ज्यूज़ (Jews) की उपमा से सुशोभित किया जाता है। परन्तु फिर भी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे आज भी उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

साहूकारों के कार्यों पर नियन्त्रण

साहूकारों के कार्यों पर नियन्त्रण—यद्यपि साहूकारो का कृषि अर्थ-व्यवस्था मे

एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु यह भी सर्वमान्य है कि उनके कुछ कार्य एवं व्यवहार अत्यधिक दूषित हैं और ब्याज की दर तो सामान्यत बहुत ऊंची होती ही है। यही कारण है कि समय-समय पर इनके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए अनेक वैधानिक उपायों का सहारा लिया गया है जिसमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार है —(i) **अत्यधिक ब्याज की दर के नियमन सम्बन्धी नियम** (Regulation of Usury) —यह नियम सर्वप्रथम सन् १९१८ में बना था, परन्तु तत्पश्चात् इसमें लगभग सभी प्रान्तीय सरकारों ने संशोधन किये हैं। इस नियम के अनुसार न्यायालय ऋण-खातों की तमाम शर्तों की छानबीन कर सकता है, पुराने खाते बन्द करवाकर नये खाते खुलवा सकता है तथा ब्याज की दर को कम करके फिर से ऋण की रकम निर्धारित कर सकता है। (ii) **हिसाब-किताब सम्बन्धी नियम** —विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने ऐसे नियम पास कर दिये हैं जिनके कारण साहूकारों को ऋण सम्बन्धी हिसाब-किताब रखने पड़ते हैं और ऋणी को समय समय पर ऋण की रकम तथा ब्याज की रकम का पृथक्-पृथक् ब्यौरा भेजना पड़ता है। कुछ प्रान्तों में ऐसा भी नियम है कि हिसाब किताब ठीक न रहने की अवस्था में साहूकार पर जुर्माना व सजा दोनों ही हो सकती है जैसे, बिहार में इसी तरह का नियम है। ऋण की रकम वापिस मिलने पर रसीद देना अनिवार्य कर दिया गया है। (iii) **ब्याज की अधिकतम सीमा** — कुछ प्रान्तीय सरकारों (पंजाब, बिहार, आसाम, उत्तर-प्रदेश) ने ब्याज के सम्बन्ध में नियम बना दिये हैं। ऋणदाता अब कानून द्वारा निर्धारित ब्याज की दर से अधिक ब्याज की दर नहीं ले सकता है। कुछ प्रान्तों में चक्रवृद्धि ब्याज (Compound Interest) लेने के विरुद्ध नियम बना दिए गये है। सब ही प्रान्तों में ब्याज मूलधन से अधिक नहीं लिया जा सकता है। (iv) **साहूकारों का रजिस्ट्रेशन** —कुछ प्रान्तों में ऐसे नियम है कि साहूकारों को अपना कार्य प्रारम्भ करने से पहले रजिस्ट्रेशन करवाना पड़ता है और लाइसेंस लेना पड़ता है। साहूकार के बेईमानी करते हुए पकड़े जाने पर उसका लाइसेंस रद्द कर दिया जाता है। कुछ प्रान्तों में इस आशय के नियम है कि केवल वही साहूकार वैधानिक कार्यवाही कर सकता है जो रजिस्टर्ड होता है। (v) **ऋणों को तय करने के सम्बन्ध में नियम** (Debt Conciliation Acts) — कुछ प्रान्तों (मध्य प्रदेश, पंजाब, बंगाल, मद्रास) ने ऋणों को तय करने के नियम भी बना दिये हैं। इस कानून के अनुसार प्रान्त में ऋण तय करने वाले बोर्ड (Debt Conciliation Boards) स्थापित कर दिये जाते हैं। ये बोर्ड किसान की सम्पत्ति के आधार पर ऋण के भुगतान की किस्तें तय करता है, ऋणी तथा ऋणदाताओं में समझौता कराकर ऋण की रकम को कम करवाता है आदि। (vi) **ऋणों का अनिवार्यतः कम करना** — मद्रास, मध्यप्रदेश, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि प्रान्त ने एक ऐसा नियम बना दिया है जिसके द्वारा ऋण अनिवार्यतः कम कर दिये जाते हैं। इस प्रकार के नियमों की इसलिए आवश्यकता पड़ी कि कभी-कभी ऋण तय करने वाले बोर्ड (Debt Conciliation Board) ऋणदाता और ऋणी में समझौता करने में असफल रहते थे जिससे इन बोर्डों से कृषकों को कुछ भी लाभ नहीं होने पाता था।

(vii) शोध विलम्ब काल (Moratorium):—कुछ प्रान्तों मे (उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश) सरकार ने एक एक्ट द्वारा न्यायालयों को यह अधिकार दे दिया है कि वे ऋण-सम्बन्धी झगड़ों की कार्यवाही को, यदि चाहे तब कुछ समय के लिये स्थगित कर सकते हैं। इस तरह ऋण की डिग्री व बेदखली शीघ्र व एक साथ होने में रुकावट पड़ सकती है।

(viii) सम्पत्ति के हस्तान्तरण सम्बन्धी नियम:—पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बंगाल आदि प्रान्तों में ऐसे भी नियम बनाये गये है कि ऋण सम्बन्धी मामलों मे कृषक की सम्पत्ति आसानी से बेची नही जा सके। इस नियम का परिणाम यह हुआ है कि अब ऋणदाता ऋणी को डरा-धमका कर उससे अनुचित लाभ नही उठा सकता है।

(२) स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers)

परिभाषा—स्वदेशी बैंकर्स की ठीक-ठीक परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। क्योंकि इन्हे महाजन व साहूकार से पृथक् करना कठिन होता है। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (१९२९) के अनुसार 'इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) आफ इंडिया, विनिमय बैंक व्यापारिक बैंक तथा सहकारी समितियों को छोड़कर जो फर्म हुँडियो का व्यवहार करती हों, जनता से जमा पर धन प्राप्त करती हों तथा ऋण देती हों स्वदेशी बैंकर्स कहलाती हैं।"* डा० एस० सी० जैन (L. C. Jain) के अनुसार "स्वदेशी बैंकर कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिगत फर्म है जो ऋण देने के साथ ही जमा पर रुपया स्वीकार करती है या हुडियों में व्यवहार करती है या दोनो कार्य करती है।"† स्वदेशी बैंकर का कार्य एक धनी व्यक्ति, बैंकिंग साझेदारी फर्म तथा व्यापारी बैंकर जिसकी विभिन्न स्थानो पर शाखाएं होती है आदि, द्वारा किया जाता है। देश के विभिन्न क्षेत्रो में इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं:— बंगाल में इन्हे सेठ व बनिया, उत्तर-प्रदेश व पंजाब मे साहूकार, महाजन (Money Lender) व खत्री, बम्बई मे सर्राफ व मारवाड़ी तथा मद्रास मे चेट्टी (Chettys) कहा जाता है। देश की अर्थ-व्यवस्था में स्वदेशी बैंकर्स का आज भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वदेशी बैंकर्स व साहूकार में भेद

स्वदेशी बैंकर व साहूकार में भेद (Distinction between Indigenous Banker and the Money Lender):—पानन्दीकर (Panandhiker) जेसे प्रसिद्ध लेखकों ने स्वदेशी बैंकर्स व साहूकार (या महाजन) मे कई महत्वपूर्ण भेद बताये हैं, जिनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार है:—(i) स्वदेशी बैंकर्स अक्सर जमा पर धन प्राप्त करते है व हुडियों का लेन-देन भी करते हैं, किन्तु साहूकार इस प्रकार का बैंकिंग-कार्य बहुत कम करते हैं। (ii) स्वदेशी बैंकर्स ऋण देते समय इस बात की पूंछ-तांछ अधिक करते है कि ऋण किस कार्य के लिये लिया जा रहा है, परन्तु महाजन इस तरह की पूंछ-ताछ

*"All bankers other than the Imperial Bank of India, Exchange Banks, the Joint Stock Banks and Co-operative Socities and the expression includes any individual or private receiving deposits and dealing it, Hundies or lending money."

†"Any individual or private firm which in addition to making loans, either receives deposits or deals in Hundies or both."

बहुत कम करते हैं। महाजन "ऋण लेने के उद्देश्य" का ज्ञान आवश्यक नहीं समझता है। (iii) स्वदेशी बैंकर्स द्वारा साहूकार की तुलना में ब्याज की दर भी कम ली जाती है। (iv) स्वदेशी बैंकर्स मुख्यत व्यापार व उद्योग की अर्थ-सहायता के लिये ऋण देते हैं, परन्तु साहूकार व महाजन कृषि के लिए तथा उपभोग के कार्यों के लिए भी ऋण दे देते हैं। (v) स्वदेशी बैंकर्स मुख्यत बैंकिंग व्यवसाय करते हैं और इस कार्य का उनके लिए विशेष महत्व होता है परन्तु महाजन लेन-देन के कार्य के साथ ही साथ व्यापार भी करते हैं और व्यापार करना ही उनका प्रमुख कार्य होता है। (vi) स्वदेशी बैंकर्स न केवल अपने निजी धन से ऋण देते हैं वरन् वे जमा द्वारा प्राप्त पूंजी से भी ऋण देते हैं, परन्तु महाजन केवल अपने निजी धन में से ही ऋण देते हैं। यह स्मरण रहे कि स्वदेशी बैंकर्स तथा साहूकारों में इन भेदों के होते हुये भी कभी-कभी इन दोनों में भिन्नता करना कठिन हो जाता है क्योंकि भेद की सीमा बहुत ही सकीर्ण है।

स्वदेशी बैंकर्स व आधुनिक बैंकिंग संस्थाएं

स्वदेशी बैंकर्स व आधुनिक बैंकों में भेद (Distinction between Indigenous Bankers and the Modern Banking Institutions)—स्वदेशी बैंकर्स और आधुनिक बैंकों में भी कई महत्वपूर्ण भेद हैं, जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं— (i) स्वदेशी बैंकर्स अपने कार्यों में बहुत-कुछ स्वतन्त्र होते हैं और वे अपने लेखे व हिसाब किताब की पुस्तकें गुप्त रखते हैं। परन्तु आधुनिक बैंक्स इण्डियन कम्पनीज एक्ट (१६१३) तथा भारतीय कम्पनीज एक्ट (१६४६) के अन्तर्गत कार्य करते हैं और इन्हें उक्त विधानों के अनुसार अपने लेखे ठीक ठीक रखने पड़ते हैं। इनका अंकेक्षण (Auditing) करवाना होता है तथा स्थिति विवरण (Balance Sheet) आदि को पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाना होता है। (ii) स्वदेशी बैंकर्स अपनी कार्यशील पूंजी का एक बहुत छोटा सा भाग ही जमा के रूप में प्राप्त करते हैं और अंश-पूंजी (Share Capital) के रूप में तो ये कुछ भी धन एकत्रित नहीं करते हैं, परन्तु आधुनिक बैंकों का पूर्ण व्यापार अंश-पूंजी के अतिरिक्त मुख्यत जमा-धन (Deposits) पर निर्भर रहता है। इसलिये आधुनिक बैंकों के साधन स्वदेशी बैंकर्स की तुलना में बहुत विशाल होते हैं। (iii) स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली में चैकों का चलन नहीं है, सभी भुगतान नकद रूप में दिये जाते हैं परन्तु आधुनिक बैंकों में चैकों द्वारा रुपया निकालने की भी सुविधा होती है। (iv) स्वदेशी बैंकर्स आधुनिक बैंक की तरह अपना कार्य केवल बैंकिंग तक ही सीमित नहीं रखते वरन् ये बैंकिंग कार्यों के साथ ही साथ व्यापार, उद्योग, आढ़त व सट्टा आदि के कार्य भी करते हैं। (v) स्वदेशी बैंकर्स अपने ग्राहकों के साथ वैयक्तिक एवं घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु आधुनिक बैंकिंग में इस प्रकार के वैयक्तिक व घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव रहता है। (vi) स्वदेशी बैंकर्स अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋण देते हैं, परन्तु आधुनिक बैंक मुख्यत अल्पकालीन ऋण देते हैं और इस तरह ये अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋणों में भेद करते हैं। (vii) स्वदेशी बैंकर्स चल व अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देते हैं और कभी-कभी बिना किसी की जमानत लिये भी

ऋण दे देते है, परन्तु आधुनिक बंकस बिना किसी जमानत के ऋण नही देते और अवसर यह जमानत भी अचल सम्पत्ति के रूप मे नही होती है अर्थात् ये ऐसी प्रतिभूति (Security) के आधार पर ऋण देते हैं जिसे ये किसी भी समय सरलता से बाजार मे बेच सकते है । (viii) स्वदेशी बंकर्स की ब्याज की दरें आधुनिक बैंको की तुलना मे बहुत अधिक ऊची होती है । (ix) स्वदेशी बंकर्स की आय प्रणाली आधुनिक बंको की तुलना में बहुत सरल होती है । देशी बंकर्स का कार्य साधारणतया प्रादेशिक भाषाओं मे ही किया जाता है। (x) स्वदेशी बंकस विदेशी विनिमय बिल्स की कटौती आदि नहीं करते है, परन्तु व्यापारिक बंक विदेशी व्यापार की अर्थ-सहायता करते है और बिल्स को भी भुनाते हैं । (xi) स्वदेशी बंकस का रिजर्व बंक से सम्बन्ध लगभग नही के बराबर होता है, परन्तु आधुनिक बंकस पूर्णतया रिजर्व बंक के नियन्त्रण में कार्य करते है । (xii) स्वदेशी बंकर्स की शाखाए नही होती है, परन्तु आधुनिक बंको की शाखाए दूर-दूर तक फैली हुई होती है ।

स्वदेशी बंकर्स के कार्य

<u>स्वदेशी बंकर्स के कार्य</u> (Functions of the Indigenous Bankers):—स्वदेशी बैंकर्स के मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैः-(i) जनता से जमा पर धन प्राप्त करनाः— स्वदेशी बंकर्स जनता से जमा धन (Deposits) प्राप्त करते है और इन पर ब्याज देते है जो सहकारी संस्थाओ तथा आधुनिक बंको से अधिक होता है (३% से ६% तक)। परन्तु उक्त बैंकर्स जमा-राशि बहुत अधिक मात्रा मे स्वीकार नही किया करते है क्योंकि उस स्थिति में जमाकर्ताओ द्वारा यकायक धन निकाले जाने की परिस्थिति में इनकी आर्थिक स्थिति संकट में पड सकती है । इसीलिये अवसर ये अपने मित्रो व सम्बन्धियों के ही धन को जमा किया करते है । बम्बई की कुछ संस्थाओ को छोड़कर बाकी स्वदेशी बंकर्स चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा नही देते है । (ii) रुपया उधार देनाः— स्वदेशी बंकर्स का प्रमुख कार्य ऋण देने का होता है और यह इनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है । ये मुख्यतः व्यापार व उद्योग व कृषि कार्यों के लिए ऋण देते हैं, परन्तु कभी-कभी ये उपभोग के कार्यों के लिये भी ऋण देते हैं। ऋण की रकम बढ़ने पर ये जमानत भी अच्छी किस्म की स्वीकार करते हैं, कभी-कभी ये व्यक्तिगत जमानत पर ही ऋण दे देते है । ऋण देते समय वे किसी न किसी प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Note) लिखा लेते हैं । व्यापारिक कार्यों के लिये ऋण ये या तो हुंडियो को खरीद कर या इनकी कटौती करके देते है । अच्छी जमानत के ऋण पर ये ६% से १८% तक ब्याज लेते हैं, परन्तु अपर्याप्त जमानत के ऋण पर या किस्तो मे भुगतान किये जाने वाले ऋण पर मे १८% से ३७% तक ब्याज ले लेते हैं । इनकी ब्याज दर हमेशा भिन्न होती है और यह जमानत व उधार लेने वालो की साख पर निर्भर रहती है । ये भूमि, जेवर, फसल आदि की जमानत पर भी ऋण दे देते हैं । कुछ ऋण वस्तुओं अथवा माल (Goods) के रूप में दिये जाते है और माल के रूप में ही वसूल भी किये जाते है। स्वदेशी बंकर्स कृषि को, साहूकारो व जमींदारों द्वारा अर्थ-सहायता देते है। ऐसे कृषक

जो इन्हे भूमि आभूषण के रूप मे पर्याप्त जमानत दे देते है, उन्हे ये प्रत्यक्ष रूप मे ऋण दे देते है। और कुछ को ये साहूकारो व जमीदारो द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में ऋण दे देते हैं। चूकि स्वदेशी बैंकर्स आढतिये का भी कार्य करते है तथा हुडियो को भी भुनाते है, इसलिये ये देश के आन्तरिक व्यापार को भी अर्थ सहायता करते है। शिल्पकारो को यह कच्चा माल बेचते है और इस शर्त पर उन्हे ऋण दे देते हैं कि वे अपना तैयार माल इन्ही के द्वारा बेचेगे। इस तरह स्वदेशी बैंकर्स कुटीर-उद्योगो की भी अर्थ-सहायता करते है। कभी-कभी स्वदेशी बैंकर्स बडे पैमाने के उद्योगो मे धन का विनियोग ५-७ वर्ष की अवधि तक के लिये कर देते है और इस तरह देश के बडे उद्योगों की अर्थ-सहायता करते हैं। यह स्मरण रहे कि ये बैंकर्स गोदामों में पडे माल की जमानत पर ऋण नही देते हैं। यदि ये इस ढग से भी ऋण देने लगें, तब न केवल इनके व्यापारिक कार्यों मे उन्नति होगी वरन् बडे पैमाने के उद्योगो की भी बहुत अधिक अर्थ-सहायता हो सकेगी। अत इन्हे गोदामो मे पडे माल के आधार पर भी ऋण देना प्रारम्भ कर देना चाहिये। (iii) हुंडियो का व्यवसाय करना —स्वदेशी बैंकर्स विभिन्न प्रकार की हुडिया को जारी करते हैं, इनका क्रय-विक्रय करते हैं अथवा इन्हे भुनाते है। हुडिया स्वदेशी ढग से लिखी जाती है। (iv) अन्य व्यापार —स्वदेशी बैंकर्स उक्त बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त गैर-बैंकिंग कार्य भी करते हैं और आजकल इनकी इस प्रकार के कार्यों की ओर प्रवृत्ति बहुत बढती जा रही है। ये व्यापार व दुकानदारी करते है। इसका एक कारण यह भी है कि इन्हे आधुनिक बैंको की प्रतियोगिता के कारण समय-समय पर बहुत हानि हुई है और इस क्षति की पूर्ति ये गैर-बैंकिंग कार्य करके पूरा करते हैं। इनमे से कुछ अनाज, कपास व अन्य अनेक प्रकार की प्रतिभूतियो में सट्टा (Speculation) करते है और कुछ व्यापारिक फर्मों के एजेन्ट (Agents) के रूप मे कार्य करते है।

स्वदेशी बैंकर्स की कार्य-प्रणाली

स्वदेशी बैंकर्स की कार्य-प्रणाली —स्वदेशी बैंकर्स की बैंकिंग की रीतिया बहुत सरल व सुगम होती है। इनका कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित होता है, प्राय यह एक छोटा-सा कस्बा या नगर होता है। इनके हिसाब रखने के तरीके भी बहुत सीधे-साधे होते है। प्राय ये इतने सही व सीधे होते हैं कि इनके अकेक्षण (Auditing) की भी आवश्यकता नही होती है। ऋणियो से इनका व्यक्तिगत व घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जिससे इनको अपना व्यापार करने मे सुविधा रहती है। इनके ऋण देने के तरीके इस प्रकार है —(i) प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋण —स्वदेशी बैंकर्स ऋण देते समय ऋणी से एक इस प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लेता है जिसमे न केवल मूलधन की रकम व ब्याज की दर लिखी होती है वरन् उस अवधि का भी जिक्र होता है, जिसके समाप्त होने पर ऋणी ऋण को लौटाने का वायदा करता है। इस प्रकार के पत्र पर दो जमानतियो के हस्ताक्षर होते हैं और ऋणी से ऋण की रकम वसूल नही होने पर जमानतदारो को ऋण की अदायगी करनी पड़ती है। (ii) रसीद या टीप —इस विधि मे ऋणी से केवल रसीद लिखा ली जाती है जिसमे ब्याज की दर भी लिखी हुई होती है। (iii) दस्तावेज व तमस्सुक —सरकारी स्टाम्प के कागजो पर ही दस्तावेज व तमस्सुक लिखा जाता है। इस दस्तावेज

के अनुसार ऋणी ऋण का मूलधन व एक निश्चित दर पर ब्याज एक निश्चित अवधि के बाद लौटाने का वायदा करता है। (iv) किश्तः—इस रीति में ऋण की अदायगी किश्तों में होती है और पहली किश्त ऋण देते समय ही काट ली जाती है। इस रीति को कभी-कभी बनज अथवा रेहती भी कहते हैं। (v) टिकट बही:—इस रीति मे बही में ऋण की रकम लिखकर टिकट के ऊपर ऋणी के हस्ताक्षर लिए जाते है। ऋण की अवधि व ब्याज की दर का जिक्र नही रहता है। ये बातें ऋणदाता व ऋणी में आपस में जबानी तय कर ली जाती हैं। न्यायालयों मे उक्त बही स्वीकार की जाती हैं (vi) हाथ-उधारः—इस प्रकार से रुपया उधार देने में कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती है और जबानी वायदे पर ही उधार दे दिया जाता है। कभी-कभी इस रीति में ऋणी से केवल शपथ लिखा ली जाती है। (vii) रुजही:—यह भी एक किश्त प्रणाली है जिसमें ऋण की अदायगी किश्तों में की जाती है। पहली किश्त ऋण देते समय ले ली जाती है, तत्पश्चात् किश्तों की निर्धारित रकम प्रतिदिन तब तक ली जाती है, जब तक कि तमाम रकम की अदायगी नही हो जाती है। (iii) गिरवी.—इस प्रथा मे सोना, चाँदी, जेवर व अन्य मूल्यवान वस्तु की आड़ पर ही ऋण लिया जाता है। इस प्रकार की आड़ की वस्तुओं के मूल्य का अधिक से अधिक भाग ऋण मे दिया जाया करता है। (ix) रहन (Mortgage):—यहां पर भी सम्पत्ति की आड़ पर ही ऋण दिया जाता है। परन्तु रहन व गिरवी में अन्तर यह है कि रहन मे भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति की आड़ पर और गिरवी में केवल चल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण दिया जाता है। (x) माल के रूप में ऋणः—कृषक को प्रायः वस्तुओं के रूप में ऋण दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कृषक को अनाज के रूप में ऋण इस शर्त पर दिया जाता है कि वह फसल कटने पर इसका सवाया या ड्योढ़ा वापिस कर देगा।

स्वदेशी बैंकर्स का आधुनिक बैंकों से सम्बन्धः—उपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वदेशी बैंकर्स मुख्यतः अपनी पूंजी से लेन-देन का कार्य करते हैं, परन्तु ये कभी-कभी अपने मित्रों व सम्बन्धियों से जमा-धन (Deposits) भी प्राप्त कर लेते है। परन्तु ऋण की मांग बढ़ जाने पर कभी-कभी ऐसी परिस्थितियां भी उत्पन्न हो जाती हैं जबकि स्वदेशी बैंकर्स को आधुनिक बैंकों से सहायता लेनी पड़ती है। परन्तु व्यापारिक बैंक्स एवं विनिमय बैंक्स केवल उन्ही स्वदेशी बैंकर्स को ऐसे समय मे आर्थिक सहायता देते हैं जिनका नाम उनकी स्वीकृत सूची मे होता है। परन्तु उनके द्वारा इस प्रकार की सहायता देने की भी एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन स्वदेशी बैंकर्स को व्यापारिक बैंकों से पर्याप्त मात्रा में सहायता नही मिलने पाती है और वे अन्य मार्गो से ऋण प्राप्त करते हैं। आधुनिक बैंक्स इनकी हुण्डियो के भुनाने की भी सुविधा देते हैं। परन्तु स्वदेशी बैंकर्स को इस प्रकार की सुविधा से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता है क्योंकि इनके पास छोटे-छोटे व्यापारियों तथा कृषकों की जो कुछ भी हुण्डिया आती हैं वे व्यापारिक बैंकों की दृष्टि से अयोग्य होती हैं। कुछ समय से स्टेट बैंक व रिजर्व बैंक ने भी इन स्वदेशी बैंकर्स को इनकी हुण्डियों के पुनः भुनाने की सुविधा देना आरम्भ कर दिया है।

स्वदेशी बैंकर्स और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का सम्बन्ध — स्वदेशी बैंकर्स ने सदा स ग्रामीण क्षेत्रो की लगभग समस्त मुद्रा की आवश्यकता की पूर्ति की है और ये इस प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य आज भी न केवल ग्रामीण क्षेत्रो मे वरन् छोटे-छोटे नगरो मे भी करते हैं। इसीलिए केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१६२६) ने यह सिफारिश की थी कि रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात इसका देश के मिश्रित पूंजी बैंको व सहकारी बैंको के साथ सम्बन्ध स्थापित होने के साथ ही साथ स्वदेशी बैंकर्स स भी सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए और इसे उन्हे भी पुन कटौती की सुविधायें देनी चाहियें। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१६२६) की सिफारिशो के आधार पर सन् १६३७ मे रिजर्व बैंक ने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार कुछ निश्चित शर्तों पर स्वदेशी बैंकर्स रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची मे सम्मिलित हो सकते थे और इनका उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो सकता था। ये शर्तें इस प्रकार थी —(i) केवल ऐसे स्वदेशी बैंकर्स को रिजर्व बैंक की स्वीकृति सूची मे सम्मिलित किया जा सकता था जो कम से कम २ लाख रुपये से व्यवसाय करते हो और पाच वर्ष की अवधि मे इसे बढाकर ५ लाख रुपय करने को तैयार हो, (ii) जो अपने गैर बैंकिंग कार्य बन्द करने के लिए तैयार हो, (iii) जो अपने हिसाब-किताब को ठीक-ठीक रखकर इसका अकेक्षण (Auditing) कराये तथा इसकी एक मासिक सूचना रिजर्व बैंक को भेजने को तैयार हो ताकि रिजर्व बैंक को सूचिबद्ध स्वदेशी बैंकर्स की आर्थिक स्थिति का समुचित ज्ञान रह सके, (iv) जो अपना स्थिति-विवरण (Balance sheet) प्रकाशित करने के लिए तैयार हो, (vi) जो जनता से खूब जमा धन (Deposits) प्राप्त करने के लिए तैयार हो तथा अन्य बैंको की तरहअ पनी माग-देय (Demand Liabilities) का ५%तथा काल देय (Time Liabilities) का २%रिजर्व बैंक के पास जमा रखने के लिये तैयार हो, (v) जो अन्य बैंको की तरह रिजर्व बैंक के पास समय-समय पर अपने कार्यों का आवश्यक विवरण भेजन के लिए तैयार हो आदि। इन शर्तों के बदले मे रिजर्व बैंक ने स्वदेशी बैंकर्स को व्यापारिक बैंको की तरह अग्रिम Advances), बिल्स भुनाने तथा राशि स्थानान्तरण की सुविधाए प्रदान की। परन्तु स्वदेशी बैंकर्स ने रिजर्व बैंक के उक्त सुझाव एव शर्तों को अनुपयुक्त बताया तथा इनका बहुत विरोध किया। परिणामत भारतीय बैंकिंग के देशी व आधुनिक अगो के बीच आवश्यक सामञ्जस्य स्थापित नही होने पाया है। स्वदेशी बैंकर्स द्वारा उक्त सुझावो के विरोध के कई कारण थे — (i) देशी बैंकर्स अपने लाभदायक व्यवसाय एव व्यापार को छोडने के लिए तैयार नही थे, (ii) कुछ बैंकर्स को इम्पीरियल बैंक व व्यापारिक बैंको से काफी सहायता मिल जाया करती थी जिसके कारण उन्होने रिजर्व बैंक की उक्त योजना मे कोई दिलचस्पी नही ली। (iii) कुछ बैंकर्स अपने हिसाब किताब के निरीक्षण व अकेक्षण (Auditing) के विरुद्ध थे जिससे उन्होने उक्त योजना का बहुत विरोध किया। (iv) कुछ बैंकर्स ने रिजर्व बैंक द्वारा लगाई गई अनेक शर्तों को अपमानजनक समझा और रिजर्व बैंक के सुझावो को स्वीकार नही किया। अत यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति

(१९२९) की सिफारिशों तथा रिजर्व बैंक के प्रस्तावों १९३७ के अनुसार देश में स्वदेशी बैंकिंग का आधुनिक बैंकिंग से समन्वय नहीं हो सका। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अब यह आशा की जाने लगी है कि यह बैंक फिर से एक ऐसी योजना बनायेगा जिससे स्वदेशी बैंकिंग संस्थाओं का उचित व सप्रभाविक उपयोग हो सकेगा।

परन्तु विदेशी बैंकर्स का रिजर्व बैंक से सम्बन्धिकरण हो जाने पर क्या-क्या लाभ प्राप्त हो सकेंगे ? :—(i) स्वदेशी बैंकर्स का रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों का संगठन हो जायेगा। रिजर्व बैंक देश की आवश्यकताओं के अनुसार साख-नियन्त्रण करने में सफल हो सकेगा। (ii) स्वदेशी बैंकर्स और आधुनिक बैंकिंग संस्थाओं में प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता की भावना जागृत हो जायेगी और इनकी व्यापारिक उन्नति होगी। (iii) रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित हो जाने तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं से प्रतियोगिता का अन्त हो जाने पर इनका बैंकिंग व्यापार स्वतः इतना अधिक बढ़ जायगा कि इन्हें बैंकिंग व्यवसाय के साथ ही साथ अन्य व्यापार करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। (iv) रिजर्व बैंक को देश की आर्थिक व बैंकिंग स्थिति का बहुत कुछ ठीक-ठीक अनुमान हो सकेगा क्योंकि वह इन बैंकर्स से समय-समय पर अनेक प्रकार के विवरण-पत्र मंगा सकेगा। इस अवस्था में देश में बैंकिंग का पर्याप्त विकास हो सकेगा। (v) रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर, स्वदेशी बैंकर्स में जनता का तथा देश की अन्य बैंकिंग संस्थाओं का विश्वास बढ़ जायेगा जिससे देश की बैंकिंग व्यवस्था में इनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान हो जायेगा। अतः यह स्पष्ट है कि यदि स्वदेशी बैंकर्स का रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित हो जाये, तब इससे देश को बहुत लाभ पहुंचेगा। इसी दृष्टि से सन् १९५१ में बम्बई में समस्त स्वदेशी बैंकर्स का एक अखिल भारतीय सर्राफ सम्मेलन भी किया गया था परन्तु अभी तक इनको संगठित एवं शक्तिशाली बनाने का कोई ठोस प्रयत्न न तो किया ही गया है और न इस प्रकार के प्रयत्न में कोई सफलता ही मिल सकती है।

स्वदेशी बैंकिंग में दोष

स्वदेशी बैंकिंग में दोष (Defects of the Indigenous Banking):—स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली में कितने ही दोष पाये जाते है जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:— (i) स्वदेशी बैंकर्स अपने बैंकिंग के व्यवसाय के साथ ही साथ अन्य अनेक प्रकार के व्यवसाय भी करते हैं जिससे बैंक के रूप में इनकी उपयोगिता कम हो जाती है। कभी-कभी ये सट्टा व्यापार तक करते हैं जिससे इनके पास धन जमाकर्ताओं तक को हानि हो जाने की सम्भावना रहती है। परिणामतः जनता का इनमें विश्वास कम हो जाता है। (ii) इनकी कार्य-पद्धति सामान्यतया धोखेबाजी तथा अनुचित व्यवहारों से भरी हुई होती है। ये अनेक प्रकार की कटौतियां काटते हैं, ऋण-वसूली की रसीद नहीं देते हैं, कोरे कागज पर हस्ताक्षर करवा लेते हैं, ऋण की रकम बढ़ाकर लिख देते हैं आदि। इस तरह ये अपने ऋणी की अज्ञानता का अनुचित लाभ उठाते हैं और अपने कूट-कर्मों से अपने आप को पूंजीपति बना लेते हैं। यह कहना सच है कि ये अपने ऋणियों को

ऋण के भार से मुक्त होने का अवसर बहुत ही कम देते हैं। (iii) स्वदेशी बैंकर्स की ब्याज की दरें बहुत ऊची होती हैं जिससे ऋणियो का अनुचित शोषण होता है। (iv) चू कि स्वदेशी बैंकर्स मूलत अपनी निजी पूंजी से और बहुत कम अश मे उधार ली गई पूंजी से बैंकिंग व्यवसाय करते हैं, इस कारण इनके पास सदा कार्यशील पूजी का अभाव रहता है। यही कारण है कि ये हुडियो के क्रय विक्रय का व्यवसाय बहुत ही कम करने पाते हैं। (v) चूंकि स्वदेशी बैंकर्स ने अपने पास धन जमा करने की प्रणाली को प्रोत्साहन नही दिया है, इसलिये इसका जनता की बचत करने की आदत पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है और देश की संचित राशि एव निष्क्रिय (Inactive) राशि का उत्पादन-कार्यों मे उपयोग नही हो सका है। (vi) स्वदेशी बैंकर्स साधारणतया परम्परागत आधारो पर कार्य करते हैं जिससे इनकी कार्य विधियों मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। इसीलिये ये अपने हिसाब-किताब अथवा स्थिति-विवरण-पत्रो को न तो प्रकाशित ही करवाते हैं और न इनका अकेक्षण (Auditing) ही करवाते हैं। परिणामत जनता का इनमे बहुत कम विश्वास है। (vii) स्वदेशी बैंकर्स आधुनिक बैंकिंग के सिद्धान्तों का पालन नही करते हैं और अक्सर अपर्याप्त जमानत पर या कभी-कभी व्यक्तिगत जमानत तक पर ऋण दे देते हैं। और अपने व्यवसाय मे जोखिम के अश को बहुत अधिक बढा देते हैं। (viii) देशी बैंकर्स मे आपस मे भी सहयोग का अभाव है। ये न केवल आपस मे ही प्रतियोगिता करते हैं वरन् ये इस प्रकार की प्रतियोगिता के साथ ही साथ आधुनिक बैंको से भी प्रतियोगिता करते हैं। जिससे इनकी आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है। यही कारण है कि भारतीय मुद्रा-बाजार दो मुख्य भागो मे विभाजित हो गया है—प्रथम, स्वदेशी बैंकर्स तथा द्वितीय, आधुनिक बैंकर्स जिससे भारतीय मुद्रा-बाजार मे न केवल लेन-देन की पद्धति मे वरन् ब्याज की दरो मे भी बहुत भिन्नता पाई जाती है।

स्वदेशी बैंकिंग में सुधार व इसके विकास के लिये सुझाव

<u>स्वदेशी बैंकर्स के सुधार व उन्नति के लिये कुछ सुझाव</u>—स्वदेशी बैंकर्स मे उक्त लिखित दोष होते हुये भी लगभग सभी बैंकिंग जाच समितियो ने यह स्वीकार किया है कि इनका देश की ग्रामीण वित्त-व्यवस्था मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि ये लगभग ९०% ग्रामीण साख की पूर्ति करते हैं। इसीलिये यह कहा जाता है कि इनकी सेवाओ का अन्त कर देना ग्रामीण साख व्यवस्था के लिये उचित नही होगा। स्वदेशी बैंकर्स का तीन दिशाओ मे सुधार हो सकता है—प्रथम, इनकी कार्य विधि म सुधार, द्वितीय—इनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार तथा तृतीय, इनके अनुचित कार्यो का अन्त। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१९२९) तथा प्रांतीय बैंकिंग जाच समितियो ने स्वदेशी बैंकिंग म सुधार के लिए कितने ही सुझाव प्रस्तुत किये है, जिनम से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं— (i) स्वदेशी बैंकर्स को बैंकिंग कार्यो के अतिरिक्त और अन्य व्यवसायिक कार्य एव सट्टा व्यापार नही करना चाहिए। उनका रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये और जिन स्थानो पर रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) की शाखायें नही हैं, वहा पर इन्हें उनके एजेन्ट के रूप मे कार्य करना चाहिए। (ii) रिजर्व बैंक को अन्य व्यापा-

रिक बैंकों की तरह इन पर भी इनकी पूंजी, जमा-धन तथा कार्य-विधि के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाने चाहियें और इसके बदले में इन्हें अग्रिम (Advances) तथा स्वीकृत पत्रों की पुनः कटौती की सुविधाएं देनी चाहियें। इस सुविधा को प्राप्त करने के लिये उन्हें रिजर्व बैंक के पास अपने जमा-धन के अनुपात में कुछ राशि भी जमा करनी होगी। (iii) व्यापारिक बैंकों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक इनकी हुंडियों की पुनः कटौती करनी चाहिये। (iv) स्वदेशी बैंकर्स को अपने व्यवसाय को आधुनिक ढंग पर संगठित करना चाहिये, इन्हें अपने हिसाब-किताब को आधुनिक ढंग पर रखना चाहिये तथा रिजर्व बैंक को इनके अंकेक्षण (Auditing) तथा निरीक्षण का अधिकार दिया जाना चाहिये। इससे न केवल इनकी व्यापारिक उन्नति होगी वरन् जनता का इनमें विश्वास बहुत बढ़ जायगा। (v) रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक को स्वदेशी बैंकर्स को भी राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं प्रदान करनी चाहियें। इससे इनका देश के मुद्रा-बाजार में स्थान महत्वपूर्ण हो जायगा। (vi) स्वदेशी बैंकर्स को लाइसेंस प्रदान करना चाहिये और इस प्रकार के लाइसेंस प्राप्त बैंकर्स का एक संघ बनना चाहिये ताकि इसके द्वारा न केवल इनकी पारस्परिक प्रतियोगिता का अन्त किया जा सके वरन् इनमें सहयोग व सद्भावना जागृत करके इनकी कुशलता बढ़ाई जा सके। (vii) स्वदेशी बैंकर्स को अपने व्यवसाय का स्थानान्तरण बिल की दलाली के व्यवसाय में करना चाहिये। इससे देश में एक संगठित बिल-बाजार का निर्माण सम्भव हो सकेगा। (viii) स्वदेशी बैंकर्स तथा मिश्रित पूंजी के बैंकों का यथासम्भव एकीकरण (Amalgamation) किया जाना चाहिये। (ix) बैंकों का एक अखिल भारतीय संघ बनाना चाहिये जिसमें स्वीकृत स्वदेशी बैंकर्स को भी सदस्य बनाना चाहिए। (x) स्वदेशी बैंकर्स तथा महाजन व साहूकारों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को इस प्रकार के नियम बनाने चाहिये कि इनके अनुचित व्यवहारों का अन्त हो सके तथा ब्याज की दर में भी कमी आ सके। राज्य सरकारों ने ऋणी वर्ग के हितों की रक्षा के लिए समय-समय पर जो नियम बनाये हैं, उनका कार्यवाहन सन्तोषजनक नहीं हो सका है, इसलिए उक्त बैंकिंग जांच समितियों ने यह भी सुझाव रक्खा है कि सरकार द्वारा निर्मित नियमों में उचित सुधार होना चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में साख-व्यवस्था को किसी भी प्रकार से कमी नहीं हो सके।

स्वदेशी बैंकर्स का महत्व

स्वदेशी बैंकर्स का महत्व (Importance of the Indigenous Bankers):—भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में स्वदेशी बैंकर्स का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह इसी से स्पष्ट है कि सहकारी संस्थाओं तथा अन्य बैंकों के होते हुए भी ये लोग लगभग ९०% ग्रामीण साख की पूर्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे कस्बों एवं नगरों में ये व्यापार को अर्थ-सहायता भी करते हैं। बम्बई व अहमदाबाद जैसे औद्योगिक केन्द्रों पर तो ये कारखाने वालों की साख पूर्ति अधिक से अधिक दो माह की अवधि के लिये कम-अधिक मात्रा में करते हैं और कहीं कहीं स्वयं भी कारखानों के मालिक पाये जाते हैं। यह सच है कि छोटे-छोटे उद्योगों की मांग, ग्रामीण-साख तथा आन्तरिक व्या-

पार की साख की पूर्ति के लिये आज भी ये बहुत कुछ एकाधिकार की अवस्था मे है। यद्यपि इनकी कार्य-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है, परन्तु इसमे सुधार की बहुत सम्भावना है और यदि बैंकिंग जाच समितियो के सुझावो के आधार पर स्वदेशी बैंकर्स की कार्य-विधि एव कार्य की दशाओ मे परिवर्तन कर दिया गया, तब य वास्तव मे देश की बैंकिंग पद्धति मे एक महत्वपूर्ण सम्पत्ति (Assets) हो जायेंगे।

(३) व्यापारिक बैंक्स तथा अन्य संस्थाए

कृषि की अर्थ सहायता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से ही की जाती है। एक ओर यदि कुछ ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा सस्थाए हैं जो कृषि की अर्थ-सहायता प्रत्यक्ष रूप मे करती है, तब दूसरी ओर ऐसी सस्थाए भी हैं जो अर्थ-सहायता परोक्ष रूप मे करती हैं। भारत मे कृषि की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष अर्थ-सहायता करने वाली कुछ सस्थाए इस प्रकार है —(i) व्यापारिक बैंक्स —इस प्रकार के बैंक्स कृषको की साधारणतया प्रत्यक्ष रूप मे अर्थ सहायता नही करते हैं वरन् य व्यापारियों तथा निर्यातकर्ताओ के व्यापार को सहायता देकर अथवा उन्हे ऋण देकर अप्रत्यक्ष रूप म कृषको की आर्थिक सहायता करते हैं। इसी प्रकार जब बैंक्स कृषि-उपज के बाजार की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये व्यापारियो की हुंडी भुनाते हैं तब भी ये परोक्ष रूप मे कृषि की अर्थ-सहायता करते हैं। कभी-कभी बैंक्स उपज की जमानत पर भी बडे बडे व्यापारियो को ऋण दे देते है। अत व्यापारिक बैंक्स प्रत्यक्ष रूप म कृषको को आर्थिक सहायता नही किया करते हैं वरन् ये जो कुछ भी सहायता करते हैं वह परोक्ष रूप मे ही होती है। (ii) बीमा कम्पनियां — ये भी कृषको की प्रत्यक्ष रूप म कुछ भी आर्थिक सहायता नही करते हैं। *कुछ बीमा कम्पनियां भूमि-बन्धक बैंको के डिबेन्चर्स खरीद लेती है और चूंकि* भूमि बन्धक बैंक्स भूमि की आड पर कृषको को ऋण देते हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि बीमा कम्पनियां भी अप्रत्यक्ष तरीके से कृषको की अर्थ-सहायता करती है। (iii) ऋण कार्यालय —इस प्रकार के कार्यालय बगाल मे बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी सख्या लगभग १००० तथा पूंजी करीब १० करोड रुपये है। य सस्थाए अपना कार्य जनता से प्राप्त राशि से ही करती हैं तथा इस प्रकार की जमा पर ४% से ८% तक ब्याज देती हैं। इन सस्थाओ द्वारा भूमि, जेवर अथवा कभी कभी व्यक्तिगत साख पर कृषको तथा जमींदारो को ऋण दिया जाता है। (iv) चिट-कोष तथा निधियां —इस प्रकार की सस्थाए मुख्यत मद्रास प्रान्त म पाई जाती हैं। इन सस्थाओ का रजिस्ट्रेशन इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत होता है और इनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यो में बचत की भावना को जाग्रत करना होता है। ये अपने सदस्यो को पर्याप्त जमानत पर या कभी कभी उनकी साख पर ऋण देती है तथा सदस्यो को अपने पुराने ऋणो से मुक्त होने मे सहायता देती हैं। इन सस्थाओ द्वारा भी कृषको को अर्थ-सहायता कम अधिक मात्रा मे दी जाती है। परन्तु यदि ये सुसगठित हो जायें, तब य भी कृषि अर्थ-सहायता के लिये महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।

[४] कृषि अर्थ-व्यवस्था और सरकार—तकावी ऋण

सरकार के तकावी ऋण—(Taqavi Loans):—कृषि अर्थ-व्यवस्था मे सरकार का सदा से ही एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कृषि सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था की पूर्ति के लिये सरकार ने दो कानून बनाये हैं—प्रथम, भूमि सुधार ऋण कानून, १८७३ (Land Improvement Loans Act) और द्वितीय, कृषक ऋण विधान १८८४, (Agriculturists Loans Act)। प्रथम कानून के अन्तर्गत कृषक को ऋण केवल भूमि में स्थायी सुधार के लिये दिया जाता है और यह दीर्घ-कालीन ऋण होता है इस ऋण की अवधि कानून के अनुसार अधिक से अधिक ३५ वर्ष की होती है, परन्तु व्यवहार में ऋण प्रायः २० वर्ष से अधिक अवधि के लिये नहीं दिये जाते हैं। द्वितीय कानून के अनुसार ऋण केवल कृषक की अल्प-कालीन आवश्यकताओं के अनुसार दिये जाते हैं, जैसे—बीज खरीदना, खाद व पशु खरीदना, औजार खरीदना आदि। इस प्रकार इन ऋणों द्वारा सरकार कृषक की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप में करती है। इन दोनों प्रकार के ऋणों को साधारणतया तकावी ऋण (Taqavi Loans) के नाम से पुकारा जाता है। इस समय सरकार प्रतिवर्ष करीब ६५ करोड़ रुपये के तकावी ऋण देती है, (३५ करोड़ रुपये भूमि सुधार कानून के अन्तर्गत, ६० करोड़ रुपये कृषक ऋण कानून के अन्तर्गत)।

सरकारी ऋणों में त्रुटियां (*Defects of the Government Loans*):—सरकार द्वारा दिये गये तकावी ऋण मे कई दोष हैं जिनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—
(i) **तकावी ऋणों पर ब्याज की दर बहुत अधिक होती है**:—प्रायः यह ६$\frac{1}{4}$% वार्षिक होती है। आलोचकों का मत है कि जबकि सहकारी संस्थाएं केवल ६% ब्याज लेती है, तब सरकार को तो इस ब्याज की दर से भी कम ब्याज की दर लेनी चाहिये। (ii) **ऋणों को प्राप्त करने में अधिक कठिनाई होती है**:—आवेदन-पत्र पटवारियों द्वारा जाते हैं जो अपने इस कार्य के लिये रिश्वत लेते हैं और जब यह पत्र तहसील मे जाता है, तब तहसील के कर्मचारियों को भी कुछ न कुछ रिश्वत देनी पड़ती है। अतः ऋण प्राप्त होने से पूर्व ही कृषक को कुछ न कुछ व्यय अनावश्यक ही करना पड़ता है और कर्मचारियों की खुशामद करने में समय भी बहुत लगाना पड़ता है। (iii) **ऋण मिलने में समय बहुत लगता है**:—आवेदन पत्र देने और ऋण प्राप्त होने में समय का बहुत अन्तर होता है। इस तरह कृषक को अपनी आवश्यकता के समय ऋण नहीं मिलने पाता है और यह अपर्याप्त मात्रा में मिलता है। (iv) **ऋण निश्चित तिथि पर लौटाना पड़ता है**:—ऐसा नहीं होने पर यह सरकारी कर्मचारियों द्वारा बड़ी कठोरता से वसूल किया जाता है। विवश होकर तकावी ऋण-भुगतान के लिये कृषक को महाजन का सहारा लेना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा तकावी ऋण देने की पद्धति में अनेक ऐसे दोष हैं जिनके कारण ये ऋण कृषकों को आकर्षक नहीं हो सके। इसीलिए समय-समय पर सरकार के समक्ष यह सुझाव रक्खा गया है कि उसे इन ऋणों को आकर्षक बनाने के लिये अपनी नीति उदार बनानी चाहिये और उसकी ऋण-वितरण क्रियायें शीघ्रगामी होनी चाहियें। आजकल सरकार ने अधिक अन्न उपजाओ

नीति के फलस्वरूप अपनी ऋण-नीति बहुत उदार बनाली है और वह तकावी ऋण के रूप में कृषकों की अधिकाधिक अर्थ-सहायता कर रही है। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१९२९) ने यह सुझाव दिया था कि तकावी-ऋण के शीघ्र वितरण के लिये सरकार को इन्हें सहकारी समितियों द्वारा वितरित कराना चाहिये, परन्तु इनकी वसूली का दायित्व उन पर नहीं रखना चाहिये।

[५] सहकारी साख समितियां और सहकारी बैंक्स

भारत में सहकारिता का संक्षिप्त इतिहास (Short History of co-operation in India)— सहकारी आन्दोलन का श्रीगणेश जर्मनी में हुआ और तत्पश्चात् यह यूरोप के अन्य देशों में फैला। भारत में भी कृषकों की ऋण-ग्रस्तता के निवारण के लिये, उन्हें बहुत कम ब्याज की दर पर आर्थिक सहायता देने के लिए एवं उन्हें महाजन व साहूकार के चंगुल से छुड़ाने के लिये, इस आन्दोलन का उद्गम सर्व-प्रथम मद्रास प्रान्त में हुआ। सन् १८९१ के भारतीय दुर्भिक्ष कमीशन (Indian Famine Commission) ने भारत में सहकारिता को अपनाने के लिए सिफारिश की थी। सन् १८९५-९७ में श्री फ्रैडरिक निकलसन (Frederik Nicholson) ने अपनी रिपोर्ट में सहकारी साख समितियों की स्थापना की सिफारिश की थी। अन्ततः सन् १९०४ में सबसे पहला सहकारी साख-समिति एक्ट (Indian Co-operative Societies Act) पास हुआ जिसका उद्देश्य रेफसन (Raiffeisen) सिद्धान्तों के आधार पर ग्रामीण सहकारी साख समितियों की स्थापना करके ग्रामीण वित्त की व्यवस्था करना था। इस एक्ट में ग्रामीण समितियों पर नगर समितियों की अपेक्षा अधिक बल डाला गया था। जिस समिति में ⅘ सदस्य ग्रामीण होते थे, वह ग्रामीण समिति कहलाती थी अन्यथा वह नागरिक समिति कही जाती थी। सन् १९०६-११ में इन ग्रामीण समितियों का कार्य व संख्या में बहुत विकास हुआ और सन् १९०४ के एक्ट में अनेक दोष अनुभव होने लगे। प्रथम, साख समितियों के अतिरिक्त अन्य गैर-साख-समितियों को वैधानिक सुरक्षा नहीं दी गई। द्वितीय, साख-समितियों के नियन्त्रण व सहायता के लिये किसी केन्द्रीय संस्था का अभाव अनुभव हुआ। इसीलिये सन् १९१२ में एक नये एक्ट के द्वारा पिछले एक्ट के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। इस नए एक्ट के कारण सहकारी आन्दोलन में और भी अधिक वृद्धि हुई— न केवल नई-नई प्रकार की समितियों की स्थापना हुई (अनाज की बिक्री, खाद-बीज औजार खरीदना आदि की समितियां) वरन् समितियों की कुल संख्या, इनकी सदस्य संख्या, इनकी कार्यशील-पूंजी आदि में बहुत वृद्धि हो गई। सन् १९१९ में सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया और इस आन्दोलन के सम्बन्ध में राज्य सरकारों ने संशोधक नियम बनाने आरम्भ कर दिये। शनैः शनैः सहकारी आन्दोलन में अनेक दोष दृष्टिगोचर होने लगे जिसके कारण समितियों की अवनति होने लगी। सन १९२९ में मन्दी (Depression) के कारण कृषकों की आय बहुत कम हो गई क्योंकि कृषि उपज का मूल्य बहुत कम हो गया जिससे सहकारी आन्दोलन को बहुत क्षति पहुंची। परिणामतः कुछ प्रान्तीय सरकारों

ने जांच समितियों को नियुक्त किया और उनकी रिपोर्टों के आधार पर सहकारी आन्दोलन में उचित सुधार करने के प्रयत्न किये ताकि समितियों का उचित ढंग से पुनर्निर्माण हो सके। सन् १६३६-४५ के द्वितीय महायुद्ध काल में सहकारिता को बहुत प्रोत्साहन मिला। उपज का ऊंचा मूल्य मिल जाने के कारण कृषकों ने भी समितियों के अपने पुराने ऋण वापिस कर दिए। पिछले कुछ वर्षों में देश का विभाजन हो जाने पर भी सहकारी आन्दोलन ने बहुत प्रगति की है। देश में सहकारिता की वर्तमान स्थिति को प्रदर्शित करने वाले सन् १६५५-५६ के आंकड़े इस प्रकार हैः—समितियों की कुल संख्या—२,४०,३६५, प्रारम्भिक समितियों की कुल सदस्यता—१७·६२ मिलियन, कुल कार्यशील पूंजी ४६८·८ करोड़ रुपये, प्रारम्भिक समितियों द्वारा दिए ऋण की मात्रा—१४०·७ करोड़ रुपये, प्रारम्भिक कृषि साख-समितियों की संख्या—१,५६,६३६, प्रारम्भिक गैर कृषि साख-समितियों की संख्या–१००,००३; प्रारम्भिक कृषि गैर-साख-समितियों की संख्या ३०,२६८ तथा गैर-कृषि गैर-साख-समितियों की संख्या—२७,७४५।

सहकारिता का अर्थ

<u>सहकारिता किसे कहते हैं ?</u> (What is Co-operation ?):—सहकारिता का मुख्य सिद्धान्त है—"एक के लिए सब और सबके लिए एक" (All for one and one for all)। इससे यह स्पष्ट है कि सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें सब व्यक्ति समान अधिकारों के साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए सामुदायिक रूप से कार्य करते हैं। इस संगठन द्वारा निर्धन व असहायों में भी स्वावलम्बन (Self-sufficiency), आत्म-विश्वास (Self-reliance), बचत तथा विनियोग (Savings and Investment) की भावनाएं जागृत हो जाती हैं और यह समाज के नैतिक पतन को रोकता है। इस आन्दोलन का सबसे अधिक महत्व भी यही है।

सहकारी साख समितियां और व्यापारिक बैंक्स

<u>सहकारी साख समितियों तथा व्यापारिक बैंक्स में भेद</u> (Distinction between Co-operative Credit Societies and the Commercial Banks):—इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में मुख्य-मुख्य भेद इस प्रकार हैं—(i) यूं तो सहकारी साख समितियां और व्यापारिक बैंक दोनों ही जनता के जमा-धन (Deposists) स्वीकार करते है, परन्तु सहकारी समितियां केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं जबकि व्यापारिक बैंक्स ऐसे किसी भी व्यक्ति व संस्था को ऋण देते हैं जो इसका महत्तम उपयोग कर सके। इस तरह यदि समितियां अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति के लिए कार्य करती हैं, तब बैंक्स व्यापारिक उन्नति के लिए कार्य करते हैं। (ii) सहकारी साख समितियों का अपने सदस्य ग्राहकों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है क्योंकि ऋण केवल उनके सदस्यों को ही दिये जाते हैं, परन्तु बैंक और इनके ऋणियों एवं ग्राहकों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता है। (iii) सहकारी समितियां मुख्यतः अपने ग्राहकों एवं सदस्यों की समितियां होती हैं और ये ऋण देते समय इस बात की विशेष जानकारी प्राप्त करती है कि ऋण किस

कार्य के लिए लिया जा रहा है। ये उत्पादन कार्यों के लिए ही ऋण देती है (कभी-कभी अनुत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण दे देती है) और इनकी ब्याज की दर भी बहुत कम होती है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंक इस बात का बहुत कम ध्यान रखता है कि ऋण किस कार्य के लिए लिया जा रहा है, वह अनुत्पादक कार्य के लिये भी बहुत आसानी से ऋण दे देता है क्योंकि वह तो केवल यही देखता है कि ऋण की जमानत मे तरलता एव विक्रय-साध्यता है या नही है। (iv) सहकारी समितिया साधन-हीन व्यक्तियो को उनकी व्यक्तिगत साख पर ऋण देती हैं ताकि इनमें स्वावलम्बन व बचत की भावना जाग्रत हो सके और ऋणी अपनी आर्थिक उन्नति कर सकें। इसके विपरीत बैंक्स केवल उचित एव पर्याप्त जमानत के आधार पर ही ऋण देते हैं। चू कि इस प्रकार की जमानत केवल वे ही व्यक्ति दे सकते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है, इसलिए बैंक्स केवल धनी व साधन-सम्पन्न व्यक्तियो को ही ऋण देते हैं और इस तरह ये धनी को और अधिक धनी बनाने मे सहायक होते हैं। (v) यदि सहकारी समितियो का सचालन भारतीय सहकारिता विधान के अन्तर्गत होता है तब बैंकों का सचालन भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत होता है। (vi) सहकारी साख समितियो का काय प्रजातन्त्रात्मक ढग से किया जाता है, अशधारी (Share-holders) तथा सदस्य ही समिति का सचालन करते हैं और सभी सदस्यो का वारी-वारी से समिति का कार्य करने का अवसर मिलता है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंको मे कार्य-सचालन एव प्रबन्ध अशधारी (Share-holders) प्रत्यक्ष रूप म नहीं करत हं वरन् यह कार्य इनके द्वारा चुने हुये प्रतिनिधियो द्वारा किया जाता है। अत यह स्पष्ट है कि सहकारी साख समितियो मे प्रत्येक अशधारी अथवा सदस्य समिति का स्वामी होता है, यदि वह उधार देन वाला है तब वही उधार लेने वाला भी होता है जिससे समिति के कार्यों मे बहुत सजीवता पाई जाती है और यह अपने सदस्यो की आर्थिक उन्नति करने मे वास्तव मे सफल हो जाती है।

भारत मे साख सहकारिता का ढाचा (Structure of Co-operative Credit in India)—भारत मे सहकारी साख प्रणाली सघीय आधार पर सगठित की गई है। सबसे नीचे ग्रामीण अथवा नगर साख समितिया है, इन समितियो के उपर केन्द्रीय बैंक्स (Central Banks) हैं और सबसे ऊपर प्रान्तीय सहकारी समितिया या शीर्ष बैंक (Apex Banks) हैं। प्रारम्भिक समितिया और केन्द्रीय बैंक्स के बीच मे केन्द्रीय समितिया या केन्द्रीय सघ (Central Unions) होते हैं जो प्रारम्भिक समितियो और केन्द्रीय बैंको के बीच सम्बन्ध स्थापित करते है, समितियों के निरीक्षण का कार्य करते हैं तथा स्वय ऋण देने का कार्य नही करते हैं। यहा पर हम विस्तार से विभिन्न प्रकार की सहकारी सस्थाओ का अध्ययन करेंगे।

ग्रामीण प्रारम्भिक सहकारी साख समितियां
(Rural Primary Co-operative Credit Societies)

प्राक्कथन—प्रारम्भिक साख समितियो का इतिहास अब लगभग ५३ वर्षो का हो

गया है। आरम्भ से ही ये ग्रामीण क्षेत्रो अथवा छोटे-छोटे कस्बो में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। इस समय भी इस प्रकार की समितिया कुल समितियो की ६०% है। सहकारी साख समितियां रैफईसन समितियों (Raiffeisen Societies) के नमूने पर बनाई जाती है और इनका वर्तमान ढाचा इस प्रकार है—

(i) संगठन (Organisation)—कोई भी दस या दस से अधिक व्यक्ति (अधिकतम संख्या १०० होती है) मिलकर सहकारी साख समिति स्थापित कर सकते है। ये व्यक्ति सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार के पास एक आवश्यक विवरणो की एक प्रति-लिपि भेज कर अपनी प्रारम्भिक सहकारी साख समिति का रजिस्ट्रेशन करवा सकते है। इन समितियो का कार्यक्षेत्र प्राय: एक गाव ही होता है ताकि समिति का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के चरित्र व आर्थिक स्थिति से भली-भाति परिचित हो सके और पारस्परिक नियंत्रण एवं निरीक्षण से समिति का कार्य सफलतापूर्वक चल सके। (ii) पूंजी (Capital)—प्रारम्भिक साख समिति को पूंजी के साधन दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक व बाह्य। आन्तरिक साधनों मे अंश पूंजी (Share Capital), प्रवेश शुल्क (Membership Fee), सदस्यों की जमा राशि (Deposits) तथा सुरक्षित कोष (Reserve Fund)। भारत मे इन समितियो की अंश-पूंजी की मात्रा बहुत कम रहती है क्योंकि कृषको के पास इतना धन नही होता है कि वे समितियो के अंश खरीद सके और फिर अंशो को बेचे बिना भी समितियो की स्थापना की जा सकती है। सदस्यों के प्रवेश-शुल्क की राशि भी केवल नाम-मात्र की ही होती है। सदस्यो की जमा-राशि भी अधिक प्राप्त नही होती क्योंकि सदस्यो का मुख्य उद्देश्य अपनी साख की आवश्यकताओ की पूर्ति करना ही होता है और फिर जमा-धन बहुत कुछ ब्याज की दर तथा समिति मे जनता के विश्वास पर निर्भर रहता है। समिति की पूंजी के बाह्य साधनो मे असदस्यो की जमा-राशि, सरकारी ऋण तथा केन्द्रीय व राज्य सहकारी बंको से प्राप्त ऋण की राशि का समावेश होता है। इन समितियों के असदस्यो से भी नाम-मात्र की ही पूंजी प्राप्त होती है क्योंकि गावो मे प्रथम तो जनता बहुत निर्धन होती है और फिर समितियो मे रुपया जमा करने की तुलना मे निजी रूप से रुपया उधार देने से ऋणदाता को अधिक लाभ प्राप्त होता है जिससे ग्रामीण जनता अपनी बचत को साख समितियो मे जमा न करके ऋणियो को स्वयं अधिक ब्याज की दर पर उधार देते है। इसके अतिरिक्त समितियो का दायित्व असीमित होने के कारण भी जमाकर्ता अपने धन को समितियो मे जमा करते हुए डरते है। प्रारम्भिक साख समितिया अपने ऋणो के लिए केन्द्रीय व राज्य सहकारी बंको पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। (iii) सचित कोष (Reserve Fund):—समितियो की कार्य-शील पूंजी के अन्तर्गत सचित कोष का भी एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। समस्त समितियो को अपने लाभ का एक भाग सुरक्षित कोष मे जमा करना अनिवार्य होता है। जिन समितियो मे अंश-पूंजी नही होती है, वहा पर समस्त लाभ सुरक्षित कोष मे जमा कर दिया जाता है। समिति के लाभ का कुछ भाग शिक्षा तथा समाज-हित के कार्यों पर भी व्यय किया जाता है। सचित कोष का उपयोग मुख्यत. समिति की आकस्मिक हानि की पूर्ति के लिए किया जाता है। (iv)ऋण-नीति (Loans)—प्रारम्भिक साख समितिया केवल अपने सदस्यो को ही ऋण दिया करती है और प्राय: ये केवल उत्पादक कार्यो के लिए ही दिये जाते है,

जैसे—बीज खाद-पशु खरीदने, कुएं बनवाने, लगान देने, सिंचाई का भुगतान करने तथा अन्य कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए, पुराने ऋणों के भुगतान के लिए, कभी-कभी विवाह आदि अनुत्पादक कार्यों के लिए, भूमि का सुधार आदि। इस तरह समितियां मुख्यतः तीन प्रकार के ऋण देती हैं—प्रथम, उत्पादक, द्वितीय, पुराने ऋणों के भुगतान के लिए तथा तृतीय, अनुत्पादक ऋण। ऋण, ऋणी की ऋण चुकाने की शक्ति तथा ऋण के उद्देश्यों को *ध्यान में रखते हुए उसकी निजी सम्पत्ति के ५०% तक दे दिया जाता है।* पिछले कुछ वर्षों के आंकड़ों के अध्ययन से यह पता चलता है कि अधिकांश समितियों ने दो या तीन वर्ष की अवधि की तुलना में एक वर्ष या इससे भी कम अवधि के लिए ऋण मुख्यतः दिये हैं। (v) **ब्याज की दर**—ऋणों पर ब्याज की दर विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न होती है। अक्सर यह ६¼% से १५% तक होती है। उत्तर-प्रदेश में यह प्रायः १२½% से १५% तक है। इसका मुख्य कारण यह है कि केन्द्रीय सहकारी संस्थाएं स्वयं प्रारम्भिक साख समितियों से बहुत अधिक ब्याज की दर लेती हैं। (vi) **प्रबन्ध**—समिति का दिन प्रतिदिन का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा चुने गये व्यक्तियों की एक प्रबन्ध-कारिणी समिति द्वारा किया जाता है जिसमें ५ से लेकर ६ व्यक्ति होते हैं। इन्हें अपने कार्य के लिए कोई वेतन नहीं दिया जाता है। समिति का प्रत्येक सदस्य चुनाव में केवल एक ही मत दे सकता है। समिति का एक मंत्री भी होता है जो प्रायः वेतन-भोगी होता है और इसके नीचे कार्य करने वाले अन्य कर्मचारी वेतन-भोगी ही होते हैं। समिति की साधारण सभा (General Meeting) जिसमें समिति के समस्त सदस्य होते हैं समिति की नीति का निर्माण करती है जिसे प्रबन्धकारिणी समिति कार्यान्वित करती है। (vii) **दायित्व** (Liability) —प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों का दायित्व प्रायः असीमित होता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में सरकार सीमित दायित्व वाली समितियों की स्थापना की भी आज्ञा दे देती है। जब समिति में असीमित दायित्व होता है, तब यह स्वभाविक ही है कि प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है (viii) **हिसाब-किताब तथा अंकेक्षण**—*प्रत्येक समिति को एक निश्चित रूप से अपना हिसाब-किताब रखना पड़ता* है और इसका सहकारी अंकेक्षण (Co-operative Auditing) किया जाता है। कभी-कभी समितियां अपने हिसाब की जांच-पड़ताल के लिए अपने निजी अंकेक्षक (Auditors) भी नियुक्त कर लेती हैं। समिति के खातों का प्रतिवर्ष रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अंकेक्षकों द्वारा भी अंकेक्षण किया जाता है। रजिस्ट्रार को यह अधिकार होता है कि वह ऐसी समितियों को बन्द कर सकता है जो अकुशल हैं या जिनका प्रबन्ध ईमानदार नहीं है या जिनका प्रबन्ध बार-बार चेतावनी देने पर भी नहीं सुधरने पाता है या जिन्हें प्रति वर्ष घाटा ही सहना पड़ताहै या जिनके पुनर्स्थापना की कोई सम्भावना नहीं है आदि।

ग्रामीण प्राथमिक सहकारी साख समितियों की वर्तमान स्थिति (Present day Condition of the Rural Primary Co-operative Credit Societies) — किसी ग्रामीण सहकारी साख समिति की स्थापना जिस आधार पर की जाती है, उसका वर्णन विस्तार से ऊपर किया जा चुका है। *ये समितियां प्रायः उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण*

देती है, जैसे चालू कृषि-कार्यों के लिए तथा भूमि मे स्थाई सुधार के लिए दीर्घ-कालीन ऋण, परन्तु कभी-कभी ये समितिया विवाह आदि अनुत्पादक कार्यो के लिये अथवा पुराने ऋणों के भुगतान के लिए भी ऋण देती हैं। भारत मे सहकारी आन्दोलन आरम्भ से ही मूलत. साख आन्दोलन रहा है। यद्यपि पिछले दस वर्षो मे साख-समितियो के कार्यो मे अनेकरूपता आई है परन्तु फिर भी आन्दोलन का साख-पक्ष अब भी बहुत प्रबल है। देश की समस्त सहकारी संस्थाओ मे प्रारम्भिक सहकारी साख संस्थाओ का आज भी बाहुल्य है। सन् १९५५-५६ में कुल प्रारम्भिक समितियो मे इनका प्रतिशत ६७·६ था। १९५६ में प्रारम्भिक कृषि साख समितियो की संख्या १,५६,६३० थी, इनकी कार्यशील पूंजी ७६ १० करोड रुपये थी, इनके सदस्यों की संख्या ७७,९०,८५० थी तथा इन्होने सन् १९५५—५६ मे ४९ ६१ करोड रुपये का ऋण प्रदान किया था।

नगर सहकारी साख समितियां
(Urban Co-operative Credit Societies)

प्राक्कथन:—नगर सहकारी साख समितिया या गैर-कृषि सहकारी साख-समितिया छोटे-छोटे कस्बो व नगरो मे पाई जाती हैं। इस प्रकार की समितियो का निर्माण शुल्ज-डिलिट्ज (Schulzh—Delitzsch) नमूने पर या इटली की लुभाट्टी बैंको (Luzatti Banks) के आधार पर होता है। इन समितियो के संगठन की विशेषताएं इस प्रकार हैं:—

(i) **संगठन:**—समितियो का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित होता है, अक्सर यह एक छोटा सा नगर या कस्बा होता है। सदस्यों का दायित्व सीमित होता है और कुल सदस्य संख्या में कृषक २५% से अधिक नही होते। (ii) **पूंजी:**—समिति की पूंजी मुख्यत: अंश बेचकर प्राप्त होती है। अंशों का मूल्य भी अधिक ही होता है। यह या तो ५ रु० या १० रु० होता है। इनकी कार्यशील पूंजी में सदस्यो व असदस्यो की जमा-राशि का भी समावेश होता है। ये अपने ऋण कार्यो के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक्स या सरकार पर बहुत कम निर्भर रहती हैं वरन् इनके पास इतनी अधिक पूंजी होती है कि ये उल्टे केन्द्रीय सहकारी अधिकोष के पास कुछ जमा-राशि रख देती है। चूंकि इनका दायित्व सीमित होता है, इसलिए इनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत रहता है। (iii) **प्रबन्ध:**—समिति के तमाम सदस्यो की सभा को साधारण समिति कहते है। यह समिति एक कार्यकारिणी समिति की नियुक्ति करती है, जो समिति की नीति को कार्यान्वित करती है। कार्य-कर्ताओ को वेतन दिया जाता है। (iv) **लाभ-वितरण**—समिति को जो कुछ लाभ होता है, उसका ¼ भाग अनिवार्य रूप मे संचित कोष में रक्खा जाता है, शेष मे से कुछ भाग जन-हित कार्यो पर व्यय करके बाकी तमाम लाभांश के रूप मे बांट दिया जाता है। (v) **ऋण नीति:**—ये समितियां भी मुख्यत: उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण देती है। ऋण की अवधि सामान्यत: २ वर्ष होती है परन्तु कभी-कभी ऋण ३ से ५ वर्ष तक के लिये दे दिया जाता है। ये व्यक्तिगत जमानत स्वर्ण, चादी, कृषि उपज आदि की जमानत पर ऋण देती हैं। (vi) **अंकेक्षण**—रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अंकेक्षक इन समितियो का वर्ष मे एक बार अंकेक्षण करते हैं।

नगर गैर-कृषि सहकारी साख समितियों की वर्तमान स्थिति (Present Day Condition of the Urban Non-Agricultural Co-operative Credit Societies)—छोटे-छोटे नगर एवं कस्बो मे इस प्रकार की समितियो का बहुत महत्व है क्योंकि ये इन क्षेत्रो मे मिश्रित पूंजी वाले बैंकों जैसा कार्य करती हैं। बम्बई व मद्रास प्रान्त मे इस प्रकार की समितियो का विशेष विकास हुआ है। इन प्रांतों मे इन्हे पीपिल्स बैंक्स (People's Banks) कहते हैं। चूंकि इन समितियों मे शिक्षित व्यक्ति ही सदस्य रहते है और इनके साधन भी अपेक्षाकृत विशाल रहते है, इसलिए इन समितियों का व्यवस्था-स्तर भी ऊंचा ही पाया जाता है। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य मितव्ययिता सिखाना है और ये अपने सदस्यो को ही बहुत कम ब्याज की दर पर ऋण देती हैं। इस प्रकार की समितियां बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओ तथा सरकारी विभागों मे पाई जाती है। कभी कभी साम्प्रदायिकता (Communal) के आधार पर इस प्रकार की समितियां समाज के दलित व पिछड़े वर्गों म पाई जाती है, जैसे—बढ़ई, लुहार, आदि। सन् १६५६ मे इस प्रकार की प्रारम्भिक गैर-कृषि सहकारी साख समितियां की सख्या १०,००३ थी, इनमे सदस्यों की सख्या २० ७२ लाख थी इनकी कार्यशील—पूंजी ८५ ७३ करोड रुपए थी। आंकडो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों मे गैर-कृषि समितियां न कृषि समितियों की तुलना म अधिक प्रगति की है।

केन्द्रीय सहकारी बैंक्स (Central Co-operative Banks)

प्राक्कथन—प्रारम्भिक सहकारी साख सस्थाओं के साधन उनकी आवश्यताओं की अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं, इसीलिए इन समितियां की सहायता के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंको (Central Co-operative Banks) की स्थापना की गई है। इस तरह यह स्पष्ट है कि यह सहकारी बैंक किसी विशेष क्षेत्र या तहसील या जिले की प्राथमिक सहकारी साख समितियो के ऊपर होता है जिसका प्रमुख कार्यालय सुविधानुसार किसी विशेष नगर में रक्खा जाता है। साधारणत एक जिले मे इस प्रकार का एक ही बैंक होता है। यह बैंक अपने क्षेत्र मे कुछ शाखाएं भी खोलता है। इस प्रकार के बैंको की स्थापना सन् १९१२ के भारतीय सहकारी विधान के बाद ही हुई है। ये बैंक दो प्रकार के होते हैं—(i) सहकारी बैंक यूनियन (Co-operative Banking Unions) तथा (ii) केन्द्रीय सहकारी बैंक्स (Central Co-operative Banks)। इन दोनों मे एक मुख्य भेद है कि सहकारी बैंकिंग यूनियन की सदस्यता केवल सहकारी साख समितियो तक ही सीमित रहती है, परन्तु केन्द्रीय सहकारी बैंको के सदस्य व्यक्ति तथा सहकारी साख समितियां दोनों ही होते हैं। पंजाब व बंगाल में प्रथम प्रकार के ही बैंक्स पाये जाते है जिन्हे बैंकिंग यूनियन्स का नाम दिया गया है। केन्द्रीय सहकारी बैंको के संगठन की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(i) प्रबन्ध—(Management) केन्द्रीय सहकारी बैंक का प्रबन्ध इनके सदस्य-समितियों द्वारा चुने गये संचालकों व अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

बैंक अपनी सदस्य समितियों के कार्यों का निरीक्षण करता है। बैंक की साधारण सभा बैंक की नीति निर्धारित करती है जिसे बैंक के डाइरेक्टर्स कार्यान्वित करते हैं। (ii) पूंजी (Capital)—बैंक की कार्यशील-पूंजी अंशों के बेचने से, सदस्य-समितियों की संचित राशि तथा अन्य प्रकार की राशि की जमा, (Deposits) से जनता की जमा से, ऋणों आदि से प्राप्त होती है। जमा-धन तीन प्रकार के खातों द्वारा प्राप्त होता है—चालू खाता, सेविंग्स खाता तथा निश्चित कालीन खाता। बैंक अल्पकालीन ऋण लेता है और ये मुख्यतः स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंक्स, प्रान्तीय सहकारी बैंक तथा सरकार आदि से लिये जाते हैं। व्यापारिक बैंकों की तुलना में इन्हें स्टेट बैंक से अधिक सहायता प्राप्त होती है। सदस्य समितियों को ऋण देने से पूर्व बैंक अपने अकेक्षकों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति का निरीक्षण करा लेता है। (iii) कार्य.—इन बैंकों का मुख्य कार्य प्राथमिक सहकारी साख समितियों को आर्थिक सहायता देना है। इनमें से अधिकांश बैंक बैंकिंग व्यवसाय के अनेक कार्य करते हैं जैसे—जमा-धन प्राप्त करना, हुंडियों का भुनाना, चैक व ड्राफ्ट आदि की सुविधाएं देना प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना, बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना, स्वीकृत व मान्य प्रतिभूतियों (Securities) व कृषि उपज के आधार पर व्यक्तियों को ऋण देना आदि। कुछ प्रान्तों में ये बैंक्स सहकारिता की शिक्षा का प्रबन्ध व सहकारी साख समितियों का प्रचार करते है। (iv) लाभ वितरण—बैंक को जो कुछ कुल लाभ होता है उसमें से व्यय निकालने के बाद जो कुछ शुद्ध लाभ बच रहता है उसका उपयोग प्रधानतः लाभांश के वितरण करने में किया जाता है। बैंक्स सामान्यतः ५ प्रतिशत से अधिक वार्षिक लाभांश नहीं देते है।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों की वर्तमान स्थिति (Present Day condition of the Central cooperative Banks)—भारत में केन्द्रीय सहकारी बैंकों ने सतोषजनक प्रगति की है और द्वितीय महायुद्ध का तो इन पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा है। सन् १९५६ में देश में ४७८ सेंट्रल बैंक्स और बैंकिंग यूनियन्स थे, जिनकी कार्यशील पूंजी ६२.६६ करोड रुपये थी। यद्यपि हाल ही में इनकी संख्या कुछ कम हो गई है, परन्तु इनका आर्थिक संगठन पहले से बहुत अच्छा हो गया है। कुछ प्रान्तों में इस प्रकार के बैंकों ने गैर-साख सम्बन्धी कार्य करना भी आरम्भ कर दिया है। जैसे—'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में सहायता देना, रसायनिक खाद-लोहा-वस्त्र, चीनी व कृषकों की उपभोग की अन्य अनेक वस्तुओं को उचित मूल्य पर बेचना आदि। युद्धकाल में उपज का मूल्य अधिक हो जाने के कारण कृषकों की आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो गई जिससे इनकी ऋण की आवश्यकता भी बहुत कम हो गई थी। परिणामतः प्राथमिक सहकारी समितियों ने भी केन्द्रीय सहकारी बैंकों से बहुत कम मात्रा में ऋण लिया जिससे इन बैंकों के समक्ष अतिरिक्त कोष (Surplus Fund) की समस्या उत्पन्न हो गई। परन्तु अनुभव से पता चलता है कि गैर-साख कार्यों के करने के कारण इन बैंकों के पास अब अतिरिक्त कोषों की समस्या नहीं रही है वरन् कभी-कभी इनको उल्टा धन का अभाव महसूस होने लगा है। आलोचकों का मत है कि गैर-साख कार्यों के करने के कारण

इन बैंकों के पास धन का अभाव इतना अधिक रहता है कि ये सहकारी समितियों की ऋण की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करने पाते है। इन बैंकों के समुचित विकास के लिये कई महत्वपूर्ण सुझाव भी दिए गये है —(i) केन्द्रीय सहकारी बैंकों को अपनी कार्य शील पूंजी बढाने की दृष्टि से अंश पूंजी (Share Capital) बढानी चाहिये और जब तक परिदत्त पूंजी (Paid up Capital) संचित कोष के बराबर नहीं हो जाये, तब तक लाभ का अधिक से अधिक भाग संचित कोष में रक्खा जाना चाहिये, (ii) इन बैंकों को अपने निजि व राष्ट्र-हित के लिए ग्रामीण जनता से अधिक से अधिक जमा राशि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ताकि इन्हें अपने कार्यों के लिये प्रान्तीय बैंकों से ऋण नहीं लेना पड़े और ये आत्म निर्भर हो जायें। (iii) जिन प्रान्तों में प्राथमिक सहकारी साख समितियों को ऋण की अधिक आवश्यकता रहती है वहां पर इन बैंकों को गैर-साख सम्बन्धी कार्य कम करने चाहिये। बैंकों को समितियों से ब्याज भी कम ही लेना चाहिये ताकि ये भी कृषकों को कम ब्याज की दर पर ऋण दे सकें।

प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-opertive Banks)

प्राक्कथन —प्रान्तीय सहकारी बैंकों को शीर्ष बैंक (Apex Banks) भी कहते हैं। सन् १९५५ में मैकलगन समिति ने इस प्रकार के बैंकों की स्थापना की सिफारिश की थी ताकि ये केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन एवं नेतृत्व कर सकें और इन्हें आवश्यक पूंजी प्राप्त करने में सहयोग दे सकें। इन बैंकों की स्थापना का सुझाव इसलिए भी दिया गया ताकि ये बैंक्स सहकारी साख समितियां तथा मुद्रा बाजार में समन्वय स्थापित कर सकें। इसलिए इस प्रकार के बैंक्स सभी प्रान्तों में पाए जाते है। ये शीर्ष बैंक्स भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम अमिश्रित शीर्ष बैंक— इस प्रकार के अंश केवल सहकारी बैंकों द्वारा ही खरीदे जा सकते है। द्वितीय, मिश्रित शीर्ष बैंक—इस प्रकार के बैंक के शेयर्स सहकारी बैंक्स (समितियां) तथा निजी व्यक्ति दोनों ही खरीद सकते हैं। केवल पंजाब व बंगाल के शीर्ष बैंक अमिश्रित है और शेष सब प्रान्तों के बैंक मिश्रित हैं। सामान्यतया मिश्रित बैंकों के ४०% अंश निजी व्यक्तियों और शेष ६०% अंश छोटी-छोटी सहकारी समितियों तथा अन्य प्रकार के सहकारी बैंकों के पास हैं। शीर्ष बैंकों (Apex Banks) के संगठन की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं —

(i) प्रबन्ध (Management) —शीर्ष बैंकों एवं प्रान्तीय सहकारी बैंकों का प्रबन्ध एक प्रबन्ध कार्यकारिणी या बोर्ड आफ डाईरेक्टर्स (Board of Directors) द्वारा किया जाता है। इस बोर्ड के बनाने के नियम विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न है। परन्तु अधिकांश बोर्डों में समितियों व व्यक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। कुछ प्रान्तों में सहकारी विभाग का रजिस्ट्रार स्वयं सदैव डाइरेक्टर (Ex-officio Director) होता है। कभी-कभी उसे कुछ डाईरेक्टर्स नियुक्त करने का अधिकार होता है।

(ii) पूंजी (Capital) —प्रान्तीय बैंकों को पूंजी अंशों (Shares) के विक्रय से, सदस्य समितियों तथा उनकी शाखाओं की जमा से, व्यापारिक बैंकों से, स्टेट बैंक से तथा सरकार से प्राप्त होती है। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की अतिरिक्त राशि भी इसको

जमा के रूप में प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त शीर्ष बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर सहकारी प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर रिजर्व बैंक से रुपया उधार लेने की सुविधा प्राप्त है। रिजर्व बैंक इन्हें कृषी-सम्बन्धी कार्यों तथा कृषी उपज की बिक्री आदि के लिये बैंक दर से भी कम ब्याज की दर पर आर्थिक सहायता देता है। अब तो रिजर्व बैंक कृषि बिल्स १५ महीने तक की परिपक्वता (Maturity) पर भी स्वीकार करता है। (iii) कार्य.—इन बैंको का मुख्य कार्य केन्द्रीय सहकारी बैंकों को अर्थ-सहायता देना है और इस तरह इन बैंको के द्वारा प्राथमिक सहकारी समितियों को अर्थ-सहायता देना है। अतः शीर्ष बैंक सहकारी आन्दोलन की आर्थिक शक्ति को बढ़ाते हैं और प्राथमिक सहकारी साख समितियो तथा मुद्रा बाजार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त ये बैंक्स कभी-कभी अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं। यही नहीं कभी-कभी ये विशेष प्रकार की सहकारी समितियो की स्थापना एवं विकास मे भी सहयोग देते हैं, जैसे.–गृह-निर्माण समिति (Co-operative Housing Society), सहकारी विक्रय-समिति (Co-operative Marketing Society) आदि।

शीर्ष बैंको की वर्तमान अवस्था (Present Day Condition of the Apex Banks):—शीर्ष बैंको की स्थापना से देश के सहकारी आन्दोलन को दृढ़ता अथवा आर्थिक शक्ति मिली है। ऋण देने का कार्य अब चार सीढ़ियो मे होता है:—(i) जब व्यक्तियो को ऋण की आवश्यकता होती है, तब इन्हें प्राथमिक सहकारी साख समितियाँ ऋण देती हैं। (ii) जब इन सहकारी साख समितियों को ऋण की आवश्यकता होती है तब केन्द्रीय सहकारी बैंक्स इन्हें ऋण देते हैं। (iii) जब केन्द्रीय बैंको को ऋण की आवश्यकता होती है, तब प्रान्तीय सहकारी बैंक्स एवं शीर्ष बैंक्स इनको ऋण दे देते हैं और (iv) जब इन शीर्ष बैंकों को धन की आवश्यकता होती है तब इन्हें स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंक अथवा रिजर्व बैंक ऋण दे देते हैं। सन् १६५६ मे भारत मे शीर्ष बैंको (State Co-operative Banks) की संख्या २४ थी और इनकी कार्यशील पूंजी ६३·३३ करोड़ रुपये थी। आकड़ो से यह स्पष्ट है कि सन १६५६ मे ऐसे बैंको के कुल कोषो का केवल १६·४% भाग ही इन बैंको का अपना निजी था। आलोचकों का मत है कि शीर्ष बैंको की यह स्थिति बहुत ही असन्तोषजनक है।

सहकारी आन्दोलन के दोष और इसके सुधार के कुछ सुझाव

Defects of the Co-operative Movement and Some *Suggestions for its Improvement*)

सहकारी साख आन्दोलन के दोष (Defects of the Co-operative Credit Movement):—भारत मे सहकारी साख आन्दोलन का इतिहास अब लगभग ५३ वर्ष पुराना हो गया है। सहकारी आन्दोलन मे इस लम्बे जीवनकाल मे अनेक दोष दृष्टिगोचर हुए हैं जिनमे से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार है—

(i) **सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप**.—सहकारी साख आन्दोलन का एक गम्भीर दोष यह है कि यह सरकार की ओर से जनता पर ऊपर से थोपा गया है तथा जनता मे

स्वय सहकारी प्रेरणा जागृत नहीं हुई है। सरकार के अत्यधिक हस्ताक्षेप के कारण इस आदोलन मे जनता का आवश्यक विश्वास भी उत्पन्न नही होने पाया है। सरकारी हस्तक्षेप के कारण समिति के सदस्यो को यह बाध रहता है कि उनकी समिति एक प्रकार का बैंक है जिसका किसी न किसी प्रकार से सरकार से सम्बन्ध है और जहा से उन्हे महाजन व साहूकार की अपेक्षा कम ब्याज की दर पर ऋण मिलता है और जिसके भुगतान की भी कोई जल्दी नही होती है। (ii) ऋण का प्रबंध —सहकारी साख समितियो को मूलत अल्पकालीन ऋण और कभी कभी मध्यमकालीन ऋण देना चाहिए, परन्तु इन्हे दीर्घकालीन ऋण बिल्कुल भी नही देना चाहिए, और दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य भूमि बन्धक बैंको तक ही सीमित रहना चाहिए। परन्तु साख समितियो ने अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणो मे भेद बहुत कम समझा और इन्होने दीर्घकालीन ऋण भी दिए है जिनका भुगतान प्राप्त करने मे इन्हे बहुत असुविधा हुई है। (iii) साख समितियों मे औपचारिकता (Formalities) अधिक पाई जाती है — यह अधिक औपचारिकता का परिणाम होता है कि कृषक को ऋण लेने मे काफी समय लग जाता है और यह कार्य उसके लिए असुविधाजनक भी बहुत हो जाता है। इसीलिए बाध्य होकर कृषक महाजन से ऋण लेता है और अन्तत उसी के चगुल मे फस जाता है। (iv) सहकारिता के सिद्धान्तो से अनभिज्ञता —समितियो के अधिकाश सदस्य सहकारिता के सिद्धान्तो को जानते ही नही जिसके कारण सहकारी समितियो के प्रबन्धको तथा कर्मचारियो का समितियो पर नियन्त्रण बहुत बढ गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सदस्य अपने आप को सहकारिता से पृथक् समझने लगे है जिससे सहकारिता का मूल तत्व "एक के लिए सब और सब के लिए एक" समाप्त होता जा रहा है। (v) प्रबन्ध की अकुशलता — समितियो के प्रबन्धक सदस्यो में से ही निर्वाचित किए जाते है जो बैंकिंग कार्यो से अपरिचित होते है। परिणामत समिति के कार्यो मे अकुशलता आ जाती है और अनुचित व्यवहारो की सख्या बहुत बढ जाती है। कुछ प्रबन्धक अपने सम्बन्धियो तथा परिचितो को ही ऋण दे देते है और इनकी वसूली की ओर कोई ध्यान नही देते है जिससे समिति के बकाया ऋणो की मात्रा धीरे धीरे बहुत बढ जाती है और समिति की आर्थिक दशा बहुत खराब हो जाती है। (vi) हिसाब-किताब रखने का ढग दोषपूर्ण है —समितियो का हिसाब किताब नियमानुसार नही रक्खा जाता है और न इनका नियमित रूप से तथा भली भाति निरीक्षण एव अकेक्षण (Auditing) ही कराया जाता है। परिणामत समितियो की पूजी का दुरुपयोग होता है। (vii) समितियो के आर्थिक साधन अपर्याप्त हैं —समितियो को अपनी पूजी के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक पर मूलत निर्भर रहना पडता है जिससे प्राय इनके पास धन का अभाव रहता है। समितिया ग्राम नागरिको से जमा धन (Deposits) भी आकर्षित करने मे असफल रही है। साधनो की अपर्याप्तता के कारण ये ग्राम के महाजन व साहूकारो से प्रतिस्पर्धा करने मे असफल रहा है जिससे इनके समुचित विकास मे बाधा पडी है। (viii) ब्याज की दर अधिक है —सहकारी साख समितियो की ब्याज की दर भी सामान्यत ऊची रहती है। इसके कई कारण है –(अ) समितिया जमा

(Deposists) आकर्षित करने मे असफल रही है जिससे ये अपनी आवश्यकता की पूर्ति केन्द्रीय सहकारी बेंक से ऋण लेकर करती है। अधिकांश प्रान्तो मे ये बैंक्स बहुत छोटी-छोटी संस्थाएं हैं। इस कारण ये स्वयं शीर्ष बैंक (Apex Banks) से ऋण लेकर प्राथमिक सहकारी साख समितियो को रुपया उधार देते है और ये शीर्ष बैंक भी कभी-कभी व्यापारिक बैंको व सरकार आदि से ही ऋण लेते हैं। अतः जो धन ऊपर से नीचे तक शीर्ष बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा प्राथमिक सहकारी साख समिति द्वारा वास्तविक ऋणी तक पहुँचता है उस पर प्रत्येक सीढ़ी पर कुछ न कुछ ब्याज की दर बढ़ जाने के कारण अन्ततः अन्तिम ऋणी को बहुत अधिक ब्याज की दर देनी पड़ती है। यही कारण है कि साख समिति के सदस्यों को अपने ऋण पर ब्याज की दर बहुत अधिक देनी पड़ती है। (ix) **सदस्यों का चरित्र**—सहकारी समिति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि इसमे सदस्यों का समुचित निर्वाचन हो, सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग हो, सदस्यो मे उच्च चरित्र व ईमानदारी हो, इनके हिसाब-किताब का उचित प्रकेक्षण हो आदि भारतवर्ष मे व्यवहार मे शायद ही ये सब बातें पाई जाती हों।

सहकारी साख आन्दोलन की सफलता और इसके सुधार के लिये कुछ सुझाव:— यद्यपि सहकारी आन्दोलन मे उक्तलिखित अनेक दोष है और प्रगति मे समय-समय पर अनेक बाधाएं पड़ी हैं, फिर भी इसे कुछ कार्यों मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है:—(i) *सहकारी आन्दोलन ने ग्रामीण क्षेत्र में तथा छोटे-छोटे नगरो मे ब्याज की दर को* बहुत कम कर दिया है। (ii) इस आन्दोलन ने नागरिको मे थोड़ी-बहुत बचत व इसके विनियोग करने की भावना को प्रोत्साहन दिया है। (iii) अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋणों की मात्रा में काफी कमी हुई है। (iv) सहकारी आन्दोलन ने कृषको व शिल्पकारो में नैतिकता व स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत की है तथा इनमे सहयोग की भावना को जागृत किया है। इन्ही सफलताओं के कारण इस आन्दोलन ने यशस्विता प्राप्त की है और देश मे शनैः शनैः आर्थिक क्रांति की है।

बढेगी। (iii) **उत्पादक ऋण**—ऋण मुख्यत उत्पादक कार्यों के लिए ही दिये जाने चाहिए, परन्तु नियम इतने कडे नही होने चाहिए कि कृषक को महाजन का सहारा लेना पडे। (iv) **ऋणों की अवधि**—समितियों को मुख्यत अल्पकालीन (फसल के अन्त तक) और विशेष परिस्थितियो मे मध्यकालीन (तीन से पाच वर्ष तक) ऋण देने चाहिए। दीर्घकालीन ऋण देने का काय केवल भूमि-बन्धक बैंको तक ही सीमित कर देना चाहिए। ऋण देते समय ऋणी की ऋण-भुगतान शक्ति और ऋण के उद्देश्य के अनुसार ऋण की रकम निर्धारित करनी चाहिए। ऋण की राशि तब ही दी जानी चाहिये जबकि ऋणी को वास्तव मे उसकी आवश्यकता होती है। समितियो को इस बात की जाच करते रहना चाहिये कि ऋण का उपयोग समुचित हो रहा है या नही। इसीलिए ऋण का कुछ भाग नकद में और शेष भाग उन वस्तुओ के रूप में दिया जाना चाहिए जिनको खरीदने के लिए ऋण लिया जा रहा है। (v) **ऋणो का भुगतान**—ऋणो को प्रदान करने में समितियो को अधिक सावधानी से कार्य करना चाहिए। जब तक पुराने ऋण का भुगतान नही हो जाय, तब तक सामान्यतया नया ऋण नही दिया जाना चाहिए। ऋण का भुगतान नियमित रूप में होना चाहिए और बकाया ऋण का भुगतान किस्तों में वसूल करना चाहिए। (vi) **ब्याज की दर**—इस समय ऋणो पर प्राय ९% ब्याज की दर ली जाती है। यह बहुत अधिक है और इसे घटा कर ६$\frac{1}{4}$% पर ले आना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समितियो को अधिकाधिक जमा (Deposits) आकर्षित करनी चाहिए। सहकारी बैंको को इन समितियो को बहुत कम ब्याज की दर पर रुपया उधार देना चाहिए। सरकार को भी शीर्ष बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंको को अनुदान (Subsidy) के रूप मे बहुत कम ब्याज की दर पर रुपया उधार देना चाहिए। केन्द्रीय सहकारी बैंको को अपना सगठन आधुनिक बैंकिंग पद्धति के आधार पर करना चाहिये ताकि वे सस्ते ब्याज की दर पर राशि एकत्रित कर सके। मौसमी कृषि कार्यों के लिये तथा फसल की बिक्री के लिए रिजर्व बैंक को भी सहकारी आन्दोलन को विशेष सुविधाजनक दरो (Special Concessional Rates) पर ऋण सुविधाए देनी चाहिए। (vii) **ऋणों की स्वीकृति मे कम से कम समय लगना चाहिए**—इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य की अधिकतम ऋण राशि प्रतिवर्ष निश्चित कर देनी चाहिए ताकि आवेदन पत्र आने पर अविलम्ब ऋण दिया जा सके। समितियों के जिम्मेदार अधिकारियो को आवश्यकता के समय एक सीमित मात्रा का ऋण स्वीकृत करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। (viii) **नई समितियों की स्थापना**—नई नई समितियों की स्थापना की स्वीकृति देने से पूर्व इस बात की जाच हो जानी चाहिए कि इनकी आवश्यकता है या नही और इनका सगठन सुदृढ है या नही। (ix) **समितियों की कार्य प्रणाली सुविधाजनक एव सुगम होनी चाहिये**—यह तब ही सम्भव है जब कि कर्मचारियो मे जन सेवा का भाव होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी कर्मचारियो के शिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। साथ ही सहकारिता सिद्धान्तो की शिक्षा उन ग्रामीणो को भी दी जानी चाहिए जिनको

भविष्य मे समितियो का प्रबन्ध करना है तथा जिनके हित के लिए इस आन्दोलन की रचना की गई है। (x) **अंकेक्षण (Auditing)**—समितियो तथा बैंको का निरीक्षण एवं अंकेक्षण प्रमाणिक अकेक्षको (Auditors) द्वारा होना चाहिए ताकि हिसाब-किताब के रखने मे जो कुछ भी अनियमितता है उसका अन्त हो सके और रजिस्ट्रार को सहकारी सस्थाओं की आर्थिक-स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो सके और वह दुर्बल सस्थाओ का या तो सुधार या इनका अन्त कर सके। (xi) **करों से मुक्ति**-सरकार को आय-कर, रजिस्ट्रेशन शुल्क, स्टाम्प ड्यूटी, न्यायालय-शुल्क आदि से सहकारी सस्थाओ को मुक्त कर देना चाहिए। (xii) **सन् १९४९ की ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति के सुझाव**—इस समिति ने सहकारी आन्दोलन को सहायता देने के उद्देश्य से कुछ सिफारिशें की है, जो इस प्रकार हैं:—(अ) सहकारी सस्थाओं को द्रव्य भेजने की सुविधा मिलनी चाहिये। रिजर्व बैंक को भी इन्हें विशेष सुविधाएं प्रदान करनी चाहिएं। (आ) सहकारी समितियों के लिए, डाकखाने में जमा किए जाने वाले धन के जमा करने तथा निकालने के नियमो मे उदारता होनी चाहिए। (इ) राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों की बिक्री के लिए सहकारी बैंक व समितिया, अधिकृत दलाल नियुक्त किये जाने चाहिएं तथा (ई) सहकारी सस्थाओं के प्रबन्ध, अंकेक्षण, नियन्त्रण आदि के लिये योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जाने चाहिएं और सहकारी आन्दोलन पर राजनैतिक दलबन्दी का किसी भी प्रकार से प्रभाव नही पड़ना चाहिए आदि।

(६) भूमि बन्धक बैंक्स
(Land Mortgage Banks)

प्राक्कथन:—कृषको को प्राय. तीन प्रकार के ऋणो की आवश्यकता हुआ करती है फिर चाहे वे संसार के किसी भी देश के कृषक क्यों न हो। सहकारी साख समितिया केवल कृषको की अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता की पूर्ति करती है। दीर्घकालीन ऋण की पूर्ति का क्षेत्र भूमि-बन्धक बैंकों के लिए सीमित कर दिया गया है। कृषक को लगान, कर तथा उपज की बिक्री के लिए धन अल्पकालीन ऋण द्वारा प्राप्त हो जाता है और प्रायः यह एक वर्ष की अवधि मे लौटा भी दिया जाता है। बीज, खाद साधारण यन्त्रो के लिए ऋण मध्यकालीन लिया जाता है जो प्राय एक से तीन वर्ष की अवधि में लौटा दिया जाता है परन्तु भूमि मे स्थायी सुधार करने, कुआं बनाने, पुराने ऋणो का भुगतान करने, आवश्यकतानुसार नई भूमि खरीदने, ट्रैक्टर आदि खरीदने, बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने आदि के लिए दीर्घकालीन ऋण लिए जाते हैं जिन्हे प्राय. बीस वर्ष की अवधि मे लौटा दिया जाता है। इस प्रकार के ऋणो का मुख्य स्रोत गाव का महाजन व साहूकार ही रहा है, परन्तु कुछ समय से ऐसे ऋणों की पूर्ति भूमि बन्धक बैंकों द्वारा होने लगी है।

परिभाषा.—"भूमि बन्धक बैंक्स वे संस्थायें हैं जो कृषकों को भूमि को बन्धक रख कर उन्हें दीर्घकालीन ऋण देते हैं।"— इंगलैंड व अमेरिका मे इस प्रकार की ऋणों की अवधि ३० से ७५ वर्ष होती है—परन्तु भारत में व्यवहार में ये ऋण २० वर्ष की अवधि से अधिक नही होते हैं।

भूमि बन्धक बैंको के प्रकार

भूमि-बन्धक बैंकों के भेद (Types of Land Mortgage Banks) —भूमि बन्धक बैंक्स प्राय तीन प्रकार के होते हैं —(i) सहकारी भूमि बन्धक बैंक (Co-operative Land Mortgage Banks) —इस प्रकार का बैंक ऋण के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा बनाया जाता है और यह शुद्ध सहकारी आधार पर स्थापित किया जाता है। बन्धक बौंड (Mortgage Bonds) बेचकर पूंजी एकत्र की जाती है, इन पर ब्याज दिया जाता है और ये वाहक (Bearer) को शोधनीय होते हैं। इस तरह इन बैंकों में निजी पूंजी नहीं होती। कभी कभी ये बैंक्स पूंजी ऋणों के रूप में भी प्राप्त करते हैं। ये बैंक्स केवल अपने सदस्यों को ही ऋणों की सुविधाएं देते हैं। ये बैंक्स लाभ के उद्देश्य से कार्य नहीं करते बरन् इनका लक्ष्य दीर्घकालीन ऋणों पर ब्याज की दर को कम करना है, इसीलिए ये लाभांश घोषित नहीं करते हैं। सहकारी भूमि बन्धक बैंकों का उदाहरण जर्मनी में मिलता है, वहां पर ये बैंक्स ऋणी व्यक्तियों सहकारी सघ के रूप में हैं। अमेरिका में भी सघीय फार्म ऋण बैंक (Federal Farm Loans Banks) सहकारी आधार पर स्थापित किए गए हैं। भारत में इस प्रकार के शुद्ध सहकारी भूमि बन्धक बैंकों का विकास बहुत कम होने पाया है। (ii) मिश्रित पूंजि वाले भूमि बन्धक बैंक (Joint Stock Land Mortgage Banks) —ये बैंक भी भूमिका बन्धक (Mortgage) रखकर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देते हैं ये व्यापारिक बैंकों की तरह सीमित दायित्व वाले होते हैं और इन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होता है ताकि ये मन चाही मात्रा में ब्याज की दर लेकर ऋणियों का शोषण नहीं करने लगें और ऋण-पत्र-धारियों के प्रति अनुचित व्यवहार न करें। इनकी पूंजी अंशों (Shares), ऋण-पत्र तथा बन्धक बौंड (Mortgage Bonds) के विक्रय द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार के बैंक्स वाणिज्यिक आधार पर अपना कार्य करते हैं, लाभ कमाना इनका लक्ष्य होता है और ये लाभांश घोषित करते हैं। भारत में इस प्रकार के बैंक्स नहीं हैं, परन्तु यूरोप के सभी देशों में इस तरह के मिश्रित पूंजी वाले भूमि बन्धक बैंक्स पाये जाते हैं। (iii) अर्ध-सहकारी भूमि बन्धक बैंक्स —(Quasi Co-operative Land Mortgage Banks) — इस प्रकार का बैंक प्रथम दोनों प्रकार के बैंकों का मिश्रित रूप होता है। ये परिमित दायित्व वाली संस्थायें होती हैं और इनके अधिकांश सदस्य उधार लेने वाले व्यक्ति होते हैं और शेष सदस्य व्यापारी होते हैं जो बैंक को पूंजी देकर सहायता करते हैं। इन बैंकों की पूंजी अंशों की बिक्री, ऋण-पत्रों की निकासी तथा ऋणों द्वारा प्राप्त होती है, परन्तु इनकी अधिकांश पूंजी ऋण-पत्रों के निर्गमन से प्राप्त होती है। प्रत्येक अंशधारी को मतदान का अधिकार होता है, परन्तु यह मतदान शक्ति अंशों की संख्या पर निर्भर नहीं होती है। भारत में इसी प्रकार के अर्ध-सहकारी भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना हुई है और इनमें सहकारिता का अंश काफी रहता है।

भारत में भूमि बन्धक बैंकों का सगठन तथा कार्य

प्राक्कथन —भारत में भूमि बन्धक बैंक दो रूप में कार्य करते हैं;—प्रथम, प्रार-

म्भिक भूमि बन्धक बैंक और द्वितीय, केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक। इस प्रकार के बैंकों की प्राथमिक इकाई ही मुख्य कार्य करती हैं। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक्स प्राथमिक बैंकों के मध के रूप में ही कार्य करते है। किसी एक प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक (Primary Land Mortgage Bank) के संगठन व कार्यों की मुख्य-मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं —

(i) **कार्यशील पूंजी**.—भूमि बन्धक बैंकों की कार्यशील पूंजी अंश बेचकर, ऋण-पत्र बेचकर बन्धक बोंड (Nortgage Bonds) बेचकर जमा-धन (Deposits) तथा व्यक्तियों, समितियों बैंक के ऋण आदि के रूप में प्राप्त की जाती है। पूंजी का अधिकांश भाग ऋण-पत्र बेचकर ही प्राप्त किया जाता है जैसे बम्बई, मद्रास, उड़ीसा आदि के बैंक्स। बैंक के संचित कोष (Reserve Fund) तथा अन्य कोष भी कार्यशील पूंजी का कार्य करते है। प्रान्तीय सरकारें इस प्रकार के बैंकों के ऋण-पत्रों के मूलधन व ब्याज की गारन्टी देती हैं। (ii) **कार्य**:—प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स कई महत्वपूर्ण कार्य करते है :—(अ) अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की उन्नति करने के लिए, अचल सम्पत्ति की जमानत पर अपने सदस्यों को चार कार्यों के लिए मुख्यतः ऋण देते हैं— प्रथम, कृषी सम्बन्धी पुराने ऋण का भुगतान करने के लिए ऋण। यह स्मरण रहे कि इन बैंकों द्वारा अधिकांश ऋण कृषकों के पुराने ऋणों के भुगतान के लिए ही दिये जाते हैं। जब से कृषकों का पुराने ऋणों का भार कम हुआ है, तब से ही ये बैंक्स अन्य रचनात्मक कार्यों के लिए भी ऋण देने लगे हैं। द्वितीय, कृषि रीतियों में सुधार तथा कृषि योग्य भूमि में सुधार के लिए ऋण। तृतीय मूल्यवान कृषि सम्बन्धी औजार व मशीन खरीदने के लिए ऋण तथा चतुर्थ, नई भूमि खरीदने व नई भूमि को तोड़ने अथवा कृषकों की गिरवी रक्खी हुई भूमि व मकानों को छुड़वाने के लिए ऋण। (आ) सदस्यों में बचत, सहयोग, आत्म-निर्भरता की भावना को जागृत करना और इससे सम्बन्धित गुणों को उत्पन्न करना। (इ) भूमि के उपयोग और इससे सम्बन्धित समस्याओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सलाह देना। (iii) **ऋण की अवधि**.— भारत मे बन्धक बैंक्स अधिक से अधिक ४० वर्ष की अवधि के लिए ऋण दे सकते हैं, परन्तु व्यवहार में ये केवल २० वर्ष की अवधि तक के ऋण देते है। इनके ऋण-पत्रों की परिपक्वता-अवधि भी इससे अधिक नहीं होती है। (iv) **ऋण की मात्रा**—बन्धक बैंक्स पुराने ऋण के भुगतान व भूमि खरीदने या इनमें सुधार करने के लिये सदस्यों को उसके पास गिरवी रखी गई भूमि के मूल्य के ५०% तक रकम ऋण के रूप मे दे देते है परन्तुण की रकम सामान्यतः दस हजार रुपये से अधिक नहीं होती है। कुछ राज्यों मे लगान के तीन गुने तक ऋण के रूप दे दिया जाता है। ऋण देने से पहले बैंक कृषक द्वारा आड मे रक्खी जाने वाली भूमि पर उसका अधिकार, उसकी ऋण के भुगतान करने की शक्ति एव सामर्थ्य तथा ऋण की आवश्यकता की जाच-पड़ताल कर लेता है। (v) **ब्याज की दर**—विभिन्न प्रान्तों में बन्धक बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर में भिन्नता पाई जाती है। अक्सर ये ऋण पर ब्याज की दर ५% से १०% तक लेते हैं और जमा-धन

(Deposits) पर २½% से ६% तक ब्याज दे देते हैं। (vi) प्रबन्ध सचालक सभा (Board of Directors) द्वारा किया जाता है। बन्धक रखी जाने वाली भूमि क समुचित मूल्याकन करने के लिए तथा वैधानिक सलाह देने के लिए विशेषज्ञो की नियुक्ति की जाती है। सचालक सभा का ऋण देने या ऋण नही देने के सम्बन्ध मे दिया गया निर्णय अंतिम माना जाता है। (vii) लाभ का बटवारा—बैंको के लाभ का कुछ भाग लाभाश के रूप म बाट दिया जाता है, परन्तु यह सामान्यतया ५% से अधिक नही होता है और शेष भाग सचित कोषो म जमा कर दिया जाता है। बम्बई व मद्रास प्रात मे यह नियम है कि बैंको को अपने लाभ का ४०% या ८०% सचित कोष म जमा करना पड़ेगा।

भारत मे भूमि बन्धक बैंको का विकास तथा इनको वर्तमान स्थिति

भूमि बन्धक बैंको का उद्गम व वर्तमान स्थिति—भारत के सब प्रथम भूमि बन्धक बैंक सन् १९२० म पजाब म भग नामक स्थान पर स्थित किया गया था। यह बैंक शीघ्र ही टूट गया। पजाब म इसके बाद भी कई बन्धक बैंक खोले गये, किन्तु उनमे से किसी को भी सफलता नही मिल सकी। वास्तव म सही सही सिद्धातो पर सन् १९२९ में मद्रास प्रात मे एक 'सेंट्रल (केन्द्रीय) लैंड मोर्टगेज बैंक' स्थापित किया गया और तब से इस प्रात मे बराबर बन्धक बैंको ने प्रगति की है और आज भी यही प्रान्त इस प्रकार के बन्धक बैंको के सम्बन्ध मे सर्वोच्च है। मद्रास सरकार ने उक्त केन्द्रीय बैंक के २½ लाख रुपये की कीमत के अपने ऋण-पत्र स्वय लिये और समस्त ऋण-पत्रो पर ६% ब्याज देने की जिम्मेदारी ली थी। इस बैंक ने प्रान्त मे प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंको का समुचित सगठन कर दिया है क्योंकि यह प्राथमिक बैंक के सघ के रूप मे कार्य करता है। सन् १९५० मे मद्रास म १२१ प्राथमिक बैंक्स थे। बन्धक बैंको के सम्बन्ध में मद्रास के बाद बम्बई प्रात का दूसरा स्थान है। इस प्रात म इन बैंको का सगठन सन् १९३५ से प्रारम्भ हुआ। सन् १९५० म बम्बई म केवल १९ प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स थे। यद्यपि अन्य अनेक प्रातो मे इस प्रकार के बैंको की स्थापना हुई है, परन्तु उनमे सहकारी सस्थाओ के अभाव के कारण इनका पर्याप्त विकास नही हो सका। सन् १९५० म उत्तर प्रदेश मे ६, आसाम मे २, पश्चिमी बगाल म २, अजमेर म १२ प्रारम्भिक बन्धक बैंक्स थे। सन् १९५१–५२ मे समस्त भारत मे २५६ प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स थे जिनमे से अकेले मद्रास प्रात मे ही १३० बैंक्स थे। परन्तु सन् १९५६ मे केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको (Ceneral Land Mortggae Banks) की सख्या बढकर ९ हो गई और उसकी कार्यशील पूजी भी १८.५२ करोड हो गई। इसी वर्ष प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंको की सख्या बढकर ३०२ हो गई और इनकी कार्यशील पूजी बढकर ११.३४ करोड रुपये हो गई। इन्होने केवल १.७३ करोड रुपये का ऋण प्रदान किया जिससे यह स्पष्ट है कि देश मे दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करने मे इनका हाथ नहीं के बराबर है।

निष्कर्ष—यह बहुत ही खेद की बात है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे अभी

तक भूमि बन्धक बैंकों का पर्याप्त विकास नहीं होने पाया है। इनके अभाव से ही कृषक महाजन व सहकार पर निर्भर हो गया है और उसका ऋण-भार बढ़ता ही चला गया है। यह भी आश्चर्य की बात है कि जिन स्थानों पर बन्धक बैंक्स हैं, वहां पर भी इन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी है। पंजाब में जहां पर इस प्रकार के बैंक का सर्वप्रथम निर्माण किया गया था, इनकी कुछ भी उन्नति नहीं हुई और उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल आदि प्रान्तों में भी इनकी उन्नति एवं विकास सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। यह सच है कि यदि इन बैंकों ने किसी प्रान्त में कम-अधिक प्रगति की है, तब वह मद्रास ही है।

भूमि बन्धक बैंकों का महत्व

भूमि बन्धक बैंकों का महत्व:—(Importance of the Land Mortgage Banks):—लगभग सभी बैंकिंग जांच समितियों ने यह स्वीकार किया है कि देश में कृषि-अर्थ की समुचित व्यवस्था नहीं होने के कारण कृषकों को मिलने वाला ऋण उन्हें बहुत ही ऊंची ब्याज की दर पर मिलता है। प्रायः उन्हें २०% से ७५% तक ब्याज की दर देनी पड़ती है। प्राथमिक सहकारी साख समितियों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है और ये भी अपने इस ५३ वर्ष के जीवन-काल में विशेष प्रगति नहीं कर सकी हैं। जिन क्षेत्रों में इस प्रकार की समितियों का निर्माण हो चुका है, वहां पर इन्होंने कृषकों की अल्प व मध्यमकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करके उनकी बहुत सेवा की है। परन्तु उसकी दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति ये संस्थाएं भी नहीं कर सकी हैं। विवश होकर कृषक को महाजन के चंगुल में फंसना ही पड़ता है। जमींदारी उन्मूलन (Abolition) के पश्चात् तो ऋण प्राप्ति के स्रोत और अधिक सूख गये हैं और सूखते जा रहे हैं। स्पष्ट है कि जिन स्थानों पर अभी तक प्रारम्भिक सहकारी समितियों तक की स्थापना नहीं हो सकी है, वहां तो कृषि-वित्त के साधनों का और भी अधिक अभाव है और इन स्थानों के कृषक और भी अधिक ऋण-ग्रस्त पाये जाते हैं। अतः भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषकों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भूमि बन्धक बैंक्स ही एक-मात्र सहारा हैं और इनकी अधिकाधिक संख्या में अविलम्ब स्थापना होनी चाहिये। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना से देश को अनेक लाभ प्राप्त होंगे.—(i) इस प्रकार के बैंकों की स्थापना से कृषक की साहूकारों व महाजनों पर निर्भरता कम हो जायगी जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी साख संगठन को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि भारत में इस प्रकार के बैंक भी सामान्यतया सहकारी आधार पर ही संगठित किए जाते हैं। (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर में कमी हो जायगी। (iii) कृषक की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जायगी। बैंक्स कृषक को नई-नई भूमि खरीदने, कृषि-यन्त्रों के खरीदने, भूमि में स्थाई सुधार करने आदि के लिये दीर्घकालीन ऋण देंगे जिससे उसकी उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जायगी और उसकी आय में अस्थिरता कम हो जायगी। (iv) कृषि-उत्पत्ति में वृद्धि हो जायगी क्योंकि दीर्घ-कालीन ऋण मिल जाने के कारण कृषक को कृषि की सीमा का विस्तार करने का अवसर मिल जायगा और वर्तमान खाद्य-संकट का निवारण हो सकेगा। (v) पुराने ऋणों का भुगतान हो जाने के कारण उसके ऋण का तथा ब्याज का भार कम हो जायगा जिससे

भविष्य मे उसकी आय मे वृद्धि की भी सम्भावना उत्पन्न हो जायगी। अत यह स्पष्ट है कि भारत की वर्तमान कृषि अर्थ-व्यवस्था के लिये भूमि बन्धक बैंकों का बहुत महत्व है।

भूमि बन्धक बैंको के दोष तथा इनके सुधार के कुछ सुझाव

बन्धक बैंकों के दोष —भारत मे भूमि बन्धक बैंको मे कितने ही दोष पाये जाते हैं जिनमे से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं —(i) कृषक जमानत के रूप मे जो अपनी भूमि गिरवी रखता है उसके मूल्य का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जाता है। (ii) ऋणियों द्वारा ऋण की वार्षिक किस्तें ठीक समय पर नहीं दी जाती हैं। (iii) बन्धक बैंको ने अब तक मुख्यत पुराने ऋणों के भुगतान के लिये ऋण दिये हैं। भूमि में स्थायी सुधार के लिये दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा बहुत कम है। इसका कारण यह है कि भूमि सुधार का कार्य बहुत खर्चीला होता है और फिर बैंक के लिये यह जानना कठिन हो जाता है कि कृषक द्वारा भूमि सुधार का प्रस्ताव ठीक है या नहीं और फिर इस प्रस्ताव के आधार पर कितना ऋण दिया जाय, इसके निर्णय मे कठिनाई होती है। (iv) बैंकस पर्याप्त कोष प्राप्त नहीं कर सके हैं और ये अपनी पूंजी मुख्यत ऋण-पत्रो से प्राप्त करने पाते हैं। केवल वही बैंकस कुछ आकर्षित कर सके हैं जिनके ऋण-पत्रो की गारन्टी सरकार ने दी है। कभी कभी ऋण-पत्रो की निकासी का तरीका भी दोषपूर्ण होता है। (v) बन्धक बैंको से प्राय कृषक को ऋण बहुत देरी से मिलने पाता है और ऋणों पर ब्याज की दर भी बहुत ऊंची होती है।

बन्धक बैंकों में दोषों के सुधार के लिये कुछ सुझाव —कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं— (i) *सरकार का सहयोग* —प्रान्तीय सरकारों को बन्धक बैंको को बहुत सहायता देनी चाहिये। इन्हें न केवल स्टाम्प कर तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क आदि से मुक्त कर देना चाहिए वरन् इन्हे बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता भी देनी चाहिये ताकि ये न केवल पुराने ऋणों के भुगतान के लिये ऋण दे सके बल्कि ये भूमि में स्थायी सुधार के लिए भी ऋण दे सके। इस समय कृषको के पुराने ऋणो का बोझ बहुत हल्का हो गया है, इसलिये इन्हे भूमि सुधार कार्यो के लिए मुख्यत ऋण देना चाहिए ताकि देश की वर्तमान खाद्यान्न समस्या का हल हो सके। (ii) **बन्धक बैंकों की कार्य-विधि में सुधार होने चाहियें** —बैंको को ऋण थोड़े समय के लिये ही देने चाहियें ताकि ये अधिक मात्रा में ऋण दे सकें। ऋणों के उपयोग से प्राप्त आय को केवल ऋणों के भुगतान के लिये उपयोग में लाना चाहिए। प्रथम ऋण के पश्चात् प्रत्येक अगले ऋण के लिए बैंकस को अधिक ब्याज की दर लेनी चाहिए। (iii) **सचित कोष मे वृद्धि** —बन्धक बैंको को अपने सचित कोष मे वृद्धि करनी चाहिये ताकि इनकी आर्थिक स्थिति दृढ़ हो जाय। इस हेतु इन्हें अपने लाभ का बंटवारा तब तक नहीं करना चाहिए जब तक कि इनका सचित-कोष पर्याप्त नहीं हो जाय। (iv) **जमा धन (Deposits)** —बन्धक बैंको मे जमा रखने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये अगर यदि बैंकस जमा धन रखते भी हैं तब यह दीर्घकालीन होना चाहिये। (v) **ऋणों की अवधि अधिक होनी चाहिये** —बन्धक बैंकों के

ऋणो की अवधि फिनलंड में ३० वर्ष, न्यूजीलंड मे ३६½ वर्ष, आस्ट्रेलिया में ४२ वर्ष, इटली व जापान मे ५० वर्ष, डेनमार्क मे ६० वर्ष, आयरलंड मे ६८½ वर्ष तथा फ्रास मे ७५ वर्ष है जबकि भारत में यह केवल २० वर्ष ही है। अत. कुछ व्यक्तियो का मत है कि भारत में ऋणों की ब्याज की दर की अवधि तथा ऋणियो की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहनी चाहिये। (vi) **बन्धक भूमि बेचने का अधिकार**.—बन्धक बैंको को बिना न्यायालय की सहायता के बन्धक-भूमि को बेच कर अपनी ऋण राशि प्राप्त करने का अधिकार दिया जाना चाहिये और इसलिये सम्बन्धित कानूनो मे सशोधन कर देना चाहिये। (vii) **सरकारी ऋण**—"अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" के अन्तर्गत सरकारें प्रति वर्ष काफी बड़ी मात्रा मे ऋण कृषको को देती है। ऋण सहकारी समितियों अथवा बन्धक बैंको के माध्यम से दिये जाने चाहियें ताकि इन संस्थाओ की पर्याप्त उन्नति हो सके।

सरकार और सहकारी साख आन्दोलन

__सरकार द्वारा सहकारी साख आन्दोलन की सहायता__—सरकार सहकारी साख आन्दोलन की सहायता कई प्रकार से करती है:—(i) सरकार रजिस्ट्रेशन शुल्क तथा स्टाम्प-कर आदि की छूट देकर सहकारी समितियों की मदद करती है। (ii) सरकार द्वारा समितियो को ऋण बहुत ही कम ब्याज की दर पर दिया जाता है। (iii) सरकार ऋणो मे सहकारी समितियों को प्राथमिकता देती है। (iv) सरकार रिजर्व बैंक द्वारा कृषि-साख की समस्याओ का अध्ययन करती है। और इनको हल करने का प्रयत्न करती है। (v) सरकार सहकारी साख सस्थाओं के विकास के लिये वार्षिक अनुदान (Grants) भी दिया करती है। (vi) सरकार सहकारी साख सस्थाओं का अपने साख-विभाग के कर्मचारियो द्वारा निरीक्षण कराया करती है और उनके दोषो को दूर करने के लिये समय-समय पर सलाह भी दिया करती है (vii) सरकार ने कृषि साख को वैधानिक सहायता भी दी है जिसके अन्तर्गत इसने सहकारी साख आन्दोलन के समुचित विकास के लिए भिन्न-भिन्न विधान बनाये हैं।। (viii) कभी-कभी सरकार अपनी राशि सहकारी बैंको के पास जमा करके इनकी आर्थिक स्थिति बहुत दृढ बना देती है। इससे जनता का इनमे विश्वास बढ़ जाता है जिससे वे स्वयं ही इन सस्थाओं के पास धन जमा करने लगते है। इस तरह यह स्पष्ट है कि सरकार अनेक क्रियाओ द्वारा देश के सहकारी साख आन्दोलन को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया करती है।

रिजर्व बैंक और कृषि अर्थ-व्यवस्था
(Reserve Bank and the Agricultural Finance)

__रिजर्व बैंक द्वारा कृषि अर्थ-व्यवस्था में सहायता__ (Agricultural Finance and the help given by the Reserve Bank of India):—रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से तो उसका महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। रिजर्व बैंक समय-समय पर सहकारी संस्थाओ को आर्थिक सहायता देता है, परन्तु इससे

भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य उसके द्वारा इन सस्थाओं को उनकी ऋण-नीति एवं सगठन के सम्बन्ध मे सलाह देना है। इस बैंक ने देश की कृषि अर्थ-व्यवस्था को सगठित करने के लिये समय समय पर अनेक उपाय किये है जिनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं— (1) रिजर्व बैंक ने एक कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) स्थापित किया है जिसके द्वारा यह कृषि कार्यों के लिये अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है। रिजर्व बैंक कृषि कार्यों के लिये प्रत्यक्ष सहायता नहीं दिया करता है क्योंकि यह एक आशावायुक्त व्यवसाय है। यह विभाग कृषि साख से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का अध्ययन करता है और उनका हल प्रकाशित करके उन्हें जनता के समक्ष रखता है। यह समय-समय पर सहकारी संस्थाओं को उनकी ऋण नीति व आर्थिक सगठन आदि के सम्बन्ध मे भी सलाह देता है और इस तरह देश में कृषि अर्थ-व्यवस्था के लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न करता है। केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकार तथा सहकारी बैंक्स आदि इस विभाग की सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं। यह विभाग सहकारिता सम्बन्धी अनेक पुस्तिकाए, सांख्यिकी एव समीक्षाए भी प्रकाशित करता है जिससे देश मे सहकारी आन्दोलन को बहुत बल मिलता है। (ii) रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंको के माध्यम द्वारा सहकारी समितियो को आर्थिक सहायता पहुचाता है। रिजर्व बैंक पर उसके एक्ट द्वारा यह प्रतिबन्ध है कि मध्यकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण नही दे सकता है। यही नही कृषि की अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति भी वह केवल अप्रत्यक्ष रूप से प्रान्तीय व केन्द्रीय सहकारी बैंकों द्वारा ही कर सकता है अर्थात वह प्रत्यक्ष रूप से प्राथमिक सहकारी बैंको द्वारा ही कर सकता है। (iii) रिजर्व बैंक सहकारी समितियो द्वारा लिखे गये तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको व सदस्य बैंको द्वारा बेचान किए गये प्रतिज्ञा पत्रो व विपत्रो को जिनकी अवधि १५ महीने से कम है तथा जो मौसमी कृषि कार्यों तथा उपज की बिक्री करने के लिये ही भारत में लिखे गयें हैं, खरीद सकता है व बेच सकता है अथवा इनकी पुन कटौती कर सकता है। (iv) रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंको अथवा भूमि बन्धक बैंको को भी मान्य प्रतिभूतियो (Securites) एव उनके ऋणपत्रो के आधार पर अधिक से अधिक ९० दिन की अवधि के लिये ऋण दे सकता है। परन्तु यहा पर भी शर्त यही है कि य केवल कृषि साख की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही लिए जाते हैं। इस प्रकार के ऋणो पर भी ब्याज की दर कम ही ली जाती है परन्तु जो बैंक इस प्रकार की सुविधा का लाभ उठाना चाहता है उसे समय-समय पर रिजर्व बैंक को विभिन्न प्रकार की रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। (v) रिजर्व बैंक कभी-कभी केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीद कर भी उनकी आर्थिक सहायता करता है। उदाहरण के लिय, इसने मद्रास के केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक के ऋण-पत्र खरीदकर इसकी सहायता की है। रिजर्व बैंक के इस प्रकार के सहयोग का परिणाम यह भी होता है कि बैंको के ऋण प्राप्त करने के साधनो मे वृद्धि हो जाती है। (vi) ताकि रिजर्व बैंक से शीघ्र ही ऋण प्राप्त किये जा सकें, इसलिये रिजर्व बैंक ने प्रार्थना-पत्रो में जो कुछ मुख्य-मुख्य बात दी जानी चाहिय उनका प्रामाणीकरण (Standardisation) कर दिया है। इस विधि के अनुसार

'सूचनाएं' देने पर तथा रजिस्ट्रार की सिफारिश प्राप्त कर लेने पर, प्रार्थियों को एक सप्ताह में ही ऋण मिल सकने की सम्भावना रहेगी। (vii) रिजर्व बैंक प्रान्तीय बैंकों द्वारा सहकारी संस्थाओं को कृषि कार्यों की अर्थ-पूर्ति व कृषि उपज के क्रय-विक्रय के लिये अरक्षित ऋण भी दे सकता है। (viii) रिजर्व बैंक अब वस्तु-अधिकार वाले कागज पत्रों की प्रतिभूति के आधार पर ही ऋण देने लगा है किन्तु भारत में अनुज्ञाबद्ध गोदामों (Licenced Warehouses) की कमी के कारण इस सुविधा का विशेष लाभ नहीं उठाया गया है। (ix) रिजर्व बैंक सहकारी सस्थाओं को १½% ब्याज की दर पर ऋण देता है, परन्तु यह ऋण केवल कृषि-साख-सुविधाओं के लिये ही दिया जाता है। (x) रिजर्व बैंक सहकारी संस्थाओं को राशि-हस्तान्तरण की सुविधाएं भी प्रदान करता है। ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति की सिफारिश को कार्यान्वित करने के लिये इसने इस सुविधा का शुल्क बहुत ही कम कर दिया है और इस सुविधा के लाभ को उठाने के सम्बन्ध में जितनी भी शर्तें थी, उनमें से बहुत सी शर्तों को हटा दिया गया है। (xi) रिजर्व बैंक भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों (*Debentures*) को खरीद कर कृषि-साख की दीर्घकालीन आवश्यकता की पूर्ति परोक्ष रूप से करता है। सरकार द्वारा इस प्रकार के पत्रों के मूलधन व ब्याज की गारन्टी दी जाती है जिसके कारण रिजर्व बैंक के लिये इस प्रकार के पत्रों को खरीदना एक प्रकार का विनियोग (Investment) होता है। (xii) रिजर्व बैंक ने सहकारिता-शिक्षा-देने की व्यवस्था पूना में की है ताकि सहकारी बैंकों एवं सहकारी समितियों को योग्य, अच्छे व कुशल कर्मचारी आसानी से मिल सकें और सहकारी आन्दोलन की प्रगति हो सके। इस तरह रिजर्व बैंक ने सहकारी संस्थाओं के सम्बन्ध में एक उदार नीति अपनाई है। इसने सहकारी संस्थाओं से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सन् १९५१ में कृषि साख के लिये एक स्थायी सलाहकार समिति (Standing Advisory Committee on Agricultural Credit) बनाई थी। यद्यपि रिजर्व बैंक द्वारा दी गई सुविधाओं का उपयोग मुख्यतः मद्रास व बम्बई प्रान्त ने किया है, परन्तु जैसे-जैसे अन्य प्रान्तों में सुसंगठित केन्द्रीय सहकारी बैंक्स तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक्स की स्थापना होगी, वैसे ही वैसे देश में कृषि-अर्थ व्यवस्था का भी समुचित विकास हो जायगा।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि अर्थ-व्यवस्था

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि वित्त व्यवस्था—प्रथम व द्वितीय दोनों पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि-साख-व्यवस्था के समुचित विकास के लिये प्रयत्न किये गये हैं। प्रथम योजनाकाल में रिजर्व बैंक की सिफारिश के आधार पर सहकारी आन्दोलन, विशेषकर सहकारी साख आन्दोलन, पुनर्संगठित करने के प्रयत्न किये गये। ग्रामीण-साख-अनुसंधान कमेटी १९५१ (Rural Credit Survey Committee, 1951) की सिफारिशों आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में सहकारी आन्दोलन के विकास के लिये योजनाएं बनाई गई हैं। सन् १९६०-६१ तक १०,४०० बड़ी-बड़ी साख-समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक समिति में ५०० सदस्य होंगे और इसका कार्य एक योग्यता प्राप्त मैनेजर द्वारा किया जायगा। ग्रामीण साख-समितियां (Rural Credit-

Societies) प्रारम्भिक बिक्री समितियों (Primary Marketing Societies) से सम्बन्धित (Affiliated) कर दी जायगी। सन् १९५६ में कृषि उत्पत्ति (विकास व भंडार) निगम एक्ट (Agricultural Produce [Development and Ware-housing] (Corporation Act) पास किया गया जिसके द्वारा केन्द्रीय भंडार निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की जायगी और राज्यों में भी इसी प्रकार के निगमों की व्यवस्था की जायगी। रिजर्व बैंक भी सहकारी समितियों के विकास के लिये रुपया देगा। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में सहकारी समितियों के विकास के लिये ४७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। योजना में प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की सदस्यता ५ से बढ़कर १५ मिलियन और अल्पकालीन ऋणों की मात्रा ३० करोड़ से बढ़ाकर १५० करोड़ रुपय, मध्यम कालीन ऋणों की मात्रा १ करोड़ से बढ़ाकर ५०। करोड़ रुपय तथा दीर्घ कालीन ऋणों की मात्रा ३ करोड़ से बढ़ाकर २५ करोड़ रुपये की गई है। इस तरह यह स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में सहकारी साख के विकास पर ही मुख्यतः बल डाला गया है।

ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति, १९४९
(Rural Banking Enquiry Committee, 1949)

प्राक्कथन—सन् १९४९ में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में ग्रामीण क्षेत्रों की बैंकिंग सुविधाओं के विकास की आवश्यकताओं की जांच करने के लिए एक ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति नियुक्त की गई। इस कमेटी ने सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट पेश की थी। इस समिति ने ग्रामीण साख अर्थ-व्यवस्था के पुनर्संगठन के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को मानकर अपनी सिफारिशें पेश की हैं। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(i) समिति ने यह मान लिया है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत को एकत्रित करने का कार्य तथा उनके लिए साख व्यवस्था के कार्यों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, समिति का यह मत था कि बचत को एकत्रित करने तथा साख की व्यवस्था करने का कार्य एक ही संस्था द्वारा किया जाना चाहिए। (ii) अल्पकालीन मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्तीय-व्यवस्थाओं के लिए पृथक-पृथक संस्थाएं होनी चाहिए, परन्तु इन सबका आधार सहकारिता ही होना चाहिए। (iii) भूमि तथा ऋण के सम्बन्ध में विभिन्न सरकारों द्वारा बनाये गए नियम व्यावहारिक होने चाहिए और इस प्रकार के नियम बनने से पहले अधिकारियों को इस बात की पूर्णतया जांच कर लेनी चाहिए कि प्रमुख नियमों का साख संस्थाओं तथा इनके विकास पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा।

ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विकास में रुकावटें—ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विकास में अनेक अड़चनें पड़ती हैं जिनमें से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(i) हमारे देश में वर्तमान कृषि-व्यवस्था अच्छी नहीं है। जब तक कृषि-व्यवसाय का उचित विकास नहीं किया जायगा, तब तक देश में बैंकिंग सुविधाओं का भी पर्याप्त विकास नहीं हो सकेगा। (ii) यातायात व संवाद-वाहन के साधनों का बहुत अभाव है। (iii) ग्रामीण जनता की अशिक्षितता बैंकिंग विकास में बहुत बाधक है। (iv) प्रथम तो अधिकांश ग्रामीण अत्यधिक निर्धन हैं

जिसके कारण इनके पास कुछ भी धन बचत के रूप मे नही बच पाता है और फिर ऐसे व्यक्ति जो धनवान् है तथा जिनके पास बचत के रूपमें धन भी काफी मात्रा मे एकत्रित हो जाता है, उन्हे अधिक ब्याज की दर पर लेन-देने करने की पहले से ही आदत पड़ी हुई है। इस कारण इनसे यह आशा नही की जा सकती कि ये अपना धन साख संस्थाओ मे काफी बड़ी मात्रा मे जमा कर देंगे क्योकि ये संस्थाएं जमा-धन पर अपेक्षाकृत बहुत ही कम ब्याज की दर देती हैं। (v) ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग संस्थाओ को स्थापित करने मे बहुत व्यय होता है, परन्तु आमदनी के साधन बहुत कम होते हैं तथा (vi) विभिन्न सरकारो ने भूमि से सम्बन्धित जितने भी नियम बनाये हैं उनसे साख-निर्माण कार्य मे बहुत बाधाएं पड़ती हैं।

<u>ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग विकास के लिये कुछ सुझाव</u>:—ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति ने ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधा के विकास के लिए कितने ही सुझाव दिए हैं, जिनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार है —(i) **डाकखानों के सेविंग्स बैंक खातों का अधिक उपयोग**—समिति की राय मे ग्रामीण क्षेत्रो मे डाकखानो की सख्या मे बहुत वृद्धि की जानी चाहिये और इनमे सेविंग्स बैंक खाते की व्यवस्था होनी चाहिए। डाकखानो को जमा (*Deposits*) प्राप्त करने के सम्बन्ध मे पर्याप्त विज्ञापन करना चाहिए तथा उन अधिकारियो को जो जमा अधिक मात्रा मे एकत्रित करते है, विशेष पारितोषण दिया जाना चाहिये। समिति की राय मे डाकखाने ग्रामीण बचत को एकत्रित करने में बहुत सफल होंगे क्योकि ग्रामीण जनता का इनमे बहुत विश्वास होता है तथा इनका कार्य-क्षेत्र भी बहुत विस्तृत होता है। इसके अतिरिक्त चूंकि डाकखानो का कार्य बहुत सरल तथा मितव्ययी होता है, इसलिए भी इनसे ग्रामीण क्षेत्रो को बहुत लाभ पहुच सकेगा। समिति की राय मे सेविंग्स बैंक खाते के नियम बहुत सरल किये जाने चाहिये तथा डाकखानों का कार्य मुख्यतः स्थानीय भाषाओ मे ही किया जाना चाहिये। इस समय जमाकर्ता की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियो को रुपये मिलने के सम्बन्धित नियम बहुत ही जटिल है। समिति की राय में ये नियम बहुत उदार होने चाहियें। इन सुझावो को यदि मान लिया जाय, तब समिति की राय मे डाकखानो के सेविंग्स बैंक के खातों की उपयोगिता बहुत बढ़ जायगी और ये ग्रामीण क्षेत्रो मे काफी मात्रा में धन एकत्रित करने मे सफल हो सकेंगे। (ii) **बैंकिंग संस्थाओ मे विकास**.—ग्रामीण क्षेत्रो मे स्थित वर्तमान सहकारी संस्थाओ को राज्य सरकारो से कुछ विशेष सुविधाएं उपलब्ध हैं, जैसे—स्टाम्पकर, रजिस्ट्रेशन-शुल्क तथा अकेक्षण-शुल्क मे छूट अथवा मुक्ति। समिति की राय मे इन समितियो को और भी अधिक प्रोत्साहन देने के लिए उन्हे उक्त सुविधाएं और भी अधिक प्रदान की जानी चाहिये। समिति को जाच के बाद यह पता चला कि इस समय तक व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंक्स का विकास नगरो तथा कस्बो तक ही सीमित रहा है। इसलिए समिति ने यह सुझाव दिया कि व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंको को छोटी-छोटी तहसीलों तथा छोटे-छोटे कस्बो मे व्यवसाय बढाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समिति ने यह सिफारिश की थी कि इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) को पाच वर्ष की अवधि मे २०० शाखायें स्थापित

करनी चाहियें और इसलिए इसने इम्पीरियल बैंक के एक्ट मे भी कुछ संशोधन करने का सुझाव रक्खा था। इस बैंक की शाखाएं मुख्यत ऐसे स्थानो पर स्थापित की जानी चाहियें जहां पर सरकारी व्यवसाय अधिक मात्रा मे किया जाता है परन्तु इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) की शाखाएं नही हैं (iii) **द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधायें** — समिति ने यह सुझाव भी दिया कि ग्रामीण क्षेत्रो में द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर सस्ते मूल्य पर भेजने की भी सुविधाएं प्रदान की जानी चाहियें। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) तथा सरकारी खजाना को ग्रामीण क्षेत्रो मे नोटो व सिक्को के परिवर्तन तथा विनिमय की भी सुविधाएं देनी चाहिये। (iv) **माल गोदाम विकास बोर्ड** (Warehousing Development Board) — समिति ने यह भी सुझाव दिया कि देश मे एक माल-गोदाम विकास बोर्ड केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारो तथा रिजर्व बैंक के व्यय से स्थापित होना चाहिए। (v) **दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था** — इस सम्बन्ध मे समिति ने सुझाव दिया है कि जिन ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रारम्भिक बन्धक बैंक्स अथवा केन्द्रीय बन्धक बैंक्स नही है, वहां पर इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिये। (vi) **शिक्षा तथा यातायात के साधन** — समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों म बैंकिंग का विकास करने के लिये शिक्षा का प्रसार तथा यातायात के साधन मे पर्याप्त विकास करने की भी सिफारिश की है।

आलोचना — ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति (१९४९) की सिफारिशो मे अनेक दोष बताये गये है जिनमे से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं — (i) समिति ने यह तो ठीक ही कहा है कि अल्पकालीन साख की व्यवस्था प्रारम्भिक सहकारी समितियो द्वारा की जानी चाहिए, परन्तु इसने इस ओर कुछ भी नही कहा कि इन समितियों की उपयोगिता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है। (ii) समिति ने अपनी जांच तथा सिफारिशो मे ग्रामीण क्षेत्रो की वित्तीय सहायता देने के स्थान पर उनके द्वारा बचत एकत्रित करने पर अधिक बल डाला है। प्रथम तो डाकखाने अधिक धन एकत्रित करने मे असफल रहेंगे और फिर यदि इन्होने धन एकत्रित कर भी लिया, तब भय यह है कि इसका उपयोग सहकारी संस्थाओं द्वारा नहीं किया जा सकेगा। इसीलिए आलोचको का मत है कि समिति की सिफारिशो से सहकारी बैंकिंग प्रणाली को अधिक लाभ पहुँचने की बहुत कम सम्भावना है। (iii) समिति ने दीर्घकालीन ऋणो के सम्बन्ध मे केवल यह सिफारिश की है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे भूमि बन्धक संस्थाओं की अधिकाधिक स्थापना होनी चाहिए, परन्तु इसने इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही बताया कि ये संस्थाएं धन किन-किन सूत्रो से प्राप्त कर सकेंगी। अत समिति ने बन्धक बैंको की कठिनाइयो की ओर बिलकुल भी ध्यान नही दिया है। (iv) आलोचको का मत है कि समिति ने कृषि अर्थ-प्रमण्डल (*Agricultural Finance Corporation*) की स्थापना के सुझाव को बिना किसी सोच-विचार के ही रद्द कर दिया, जो सर्वदा अनुचित था।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसंधान कमेटी, १९५१
(All India Rural Credit Servey Committee, 1951)

प्राक्कथन — रिजर्व बैंक ने सन् १९५१ में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता

में एक कमेटी ग्रामीण साख का अनुसंधान (Rural Credit Servey) करने के लिए नियुक्त की थी। इस कमेटी ने सन् १९५४ के अन्त में अपनी रिपोर्ट पेश की थी। इस कमेटी ने देश के ५ जिलों के ६०० गांवों में १,२७,३४३ परिवारों की जाच की थी। इस समिति को अपनी जाच में यह पता चला कि भारतीय कृषकों की अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन धन की आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न साधनों द्वारा इस प्रकार होती है:— सरकार ३·३%, सरकारी साख समितियां तथा बैंक्स ३·१%, व्यापारिक बैंक्स ०·९%, रिश्तेदारों तथा सम्बन्धियों १४·२% भूस्वामियों १·५%, कृषक साहूकार २४·९%, व्यवसायी साहूकार ४४·८%, व्यापारी तथा आढ़तिये ५·५% तथा अन्य साधन ८·१%। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि कृषि अर्थ-व्यवस्था में सरकार व सहकारी संस्थाओं का कुछ भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं है क्योंकि ये दोनों मिलकर कुल ऋण पूर्ति का (३·३+३·१=) ६·४% देते हैं, जबकि ९४% ऋण की पूर्ति निजी संस्थाओं द्वारा की जाती है। यह भी स्मरणीय है कि निजी साधनों में भी अकेले कृषक साहूकारों व व्यवसायी साहूकारों द्वारा (२४·९+४४·८=) ६९·७% धन की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। इसीलिये इस कमेटी का यह मत है कि देश में समुचित कृषि-अर्थ-व्यवस्था के लिये सहकारी साख आन्दोलन का विकास होना चाहिये।

ग्रामीण साख अनुसंधान कमेटी की सिफारिशें।—यह सर्व मान्य है कि अब तक सहकारी आन्दोलन की असफलता के मुख्य कारण रहे हैं:—योग्य कर्मचारियों का अभाव, पूंजी का अभाव, सहकारिता की शिक्षा का अभाव, सहकारिता के सिद्धान्तों की अनभिज्ञता व इनकी अवहेलना आदि। सहकारी आन्दोलन के दोषों को दूर करके देश में एक समुचित कृषि-व्यवस्था का निर्माण करने के हेतु ग्राम्य साख अनुसंधान कमेटी ने कितनी ही महत्वपूर्ण सिफारिशें की है जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:— (i) **रिजर्व बैंक का अधिक से अधिक सहयोग**—कमेटी का सुझाव था कि सरकार को ग्रामीण क्षेत्रों सहकारी साख की उन्नति के लिये रिजर्व बैंक का सहयोग अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहिए। इसीलिये इसने यह सिफारिश की कि रिजर्व बैंक को राज्य की सरकारों को सहकारी बैंकों की सहायता करने के लिये दीर्घकालीन ऋण देने चाहिए तथा राज्य सरकारों की गारन्टी पर सहकारी बैंकों को अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण (१५ महीने से ५ वर्ष तक के लिए) देते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त भूमि-बन्धक बैंकों के सम्बन्ध में भी इस कमेटी ने यह सिफारिश की कि रिजर्व बैंक को इस प्रकार के बन्धक बैंकों को भी दीर्घकालीन ऋण देने का अधिकार दिया जाना चाहिए। (ii) **विभिन्न प्रकार के कोषों का निर्माण**:—समिति ने इस बात की सिफारिश की है कि रिजर्व बैंक की देख-रेख में एक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long term) Operation Fund] तथा एक राष्ट्रीय साख (स्थायीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] क्रमशः ५ करोड़ व एक करोड़ रुपये से कृषि कार्यों में व्यय करने के लिए स्थापित किये जाने चाहिए। स्थापना के पश्चात् रिजर्व बैंक को प्रति वर्ष कोषों में ५ करोड़ रुपया बढ़ाना चाहिए। इन कोष में से राज्य सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण और बन्धक बैंकों को दीर्घकालीनों

ऋण दिये जायेंगे। इसी तरह केन्द्रीय सरकार के साथ और कृषि मंत्रालय को भी एक राष्ट्रीय कृषि साख (रिलीफ व गारन्टी) कोष [National Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund] की स्थापना करनी चाहिए जिसमें इस मंत्रालय को प्रति वर्ष १ करोड़ रुपया सहकारी साख समितियों को सहायता देने के लिये जमा करना चाहिये। इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक राज्य सरकार को सहकारी साख आन्दोलन को सहायता प्रदान करने के हेतु एक राज्य कृषि साख (रिलीफ व गारन्टी) कोष [State Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund] की स्थापना करनी चाहिये। (iii) तकावी ऋण —कमेटी ने तकावी ऋण के सम्बन्ध में यह सिफारिश की है कि इस प्रकार के ऋणों की भी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। (iv) सहकारी आन्दोलन की व्यवस्था —इस कमेटी का सुझाव था कि राज्यों को सहकारी आन्दोलन के विकास के हेतु सहकारिता की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए तथा सहकारी समितियों का समय-समय पर निरीक्षण करके व इनका समुचित प्रबन्ध करके तथा इनको आर्थिक सहायता देकर सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहित करना चाहिये। कमेटी का यह सुझाव था कि सहकारी संस्थाओं में प्रत्येक अवस्था में सरकार की साझेदारी होनी चाहिये और राज्य सहकारी बैंकों तथा बन्धक बैंकों में राज्य सरकारों को ५१% अंश खरीदने चाहिए। इसी तरह की साझेदारी केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा बड़ी-बड़ी प्रारम्भिक समितियों में भी होनी चाहिये। (v) उपज की उचित बिक्री —कृषक की उपज का उचित बिक्री के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सुझाव रक्खा था कि एक अखिल भारतीय माल गोदाम प्रमण्डल (All India Ware-housing Corporation) तथा विभिन्न राज्यों में भी इसी प्रकार के राजकीय प्रमण्डल स्थापित होने चाहिए। विभिन्न स्थानों पर माल गोदाम स्थापित हो जाने का एक लाभ यह भी होगा कि इन गोदामों द्वारा व्यापारिक बैंक्स भी कृषि अर्थ व्यवस्था में अधिक सहयोग देने लगेंगे। कमेटी का मत था कि सरकार की नीति ऐसी होनी चाहिए कि कृषि उपज के मूल्यों में स्थायित्व रह सके। (vi) स्टेट बैंक आफ इण्डिया की स्थापना —इम्पीरियल बैंक तथा भूतपूर्व स्टेट्स में स्थापित स्टेट्स बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) करके एक सुदृढ़ स्टेट बैंक आफ इण्डिया स्थापित किया जाना चाहिए जिसका प्रमुख कार्य कृषि और सहकारी बैंकिंग का विकास करना होना चाहिये। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि स्टेट बैंक को अपना कार्य आरम्भ करने के बाद ५ वर्ष की अवधि में ही ४०० नई शाखाएं ग्रामीण अथवा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित करनी चाहिए। (vii) साहूकार के कार्यों तथा उनकी ब्याज की दर पर नियन्त्रण —साहूकार तथा महाजन के कार्यों को नियन्त्रित करने तथा इनके द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर को कम करने के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को नियम बनाने चाहिए। (viii) अग्रिम बाजारों पर नियन्त्रण —कृषकों के हितों की रक्षा के हेतु कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि सरकार को अग्रिम बाजारों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। (ix) अन्य सुझाव —कमेटी ने इस बात की भी सिफारिश की कि देश में यातायात के साधनों में पर्याप्त विकास होना चाहिए, ग्रामीण उद्योग-धन्धों को समुचित आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए तथा सहकारी

संस्थाओं के कुशल संचालन के लिए योग्य, ईमानदार तथा परिश्रमी के ४७
व्यवस्था की जानी चाहिए आदि।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान कमेटी की रिपोर्ट पर सरकारी कार्यवाही:—सरकार ने ग्रामीण साख अनुसन्धान कमेटी की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है और उनको कार्यरूप देना आरम्भ कर दिया है:—(i) **इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण:**—सरकार ने १६ अप्रैल १९५५ को स्टेट बैंक आफ इंडिया बिल लोकसभा में पेश किया और दोनों सदनों द्वारा पास होकर यह ८ मई सन् १९५५ को राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। इस एक्ट के अनुसार इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और अब इसके स्थान पर स्टेट बैंक आफ इण्डिया १ जुलाई सन् १९५५ से कार्य करने लगा है। इस बैंक को ५ वर्ष की अवधि में ४०० शाखाएं स्थापित करने का उत्तरदायित्व दिया गया है। (ii) **विभिन्न कोषों की स्थापना**—सन् १९५५ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट में भी संशोधन किया गया जिसके अनुसार इसने राष्ट्रीय साख कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term) Operations Fund] और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष [National-Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] की स्थापना की है। प्रथम कोष १० करोड़ रुपये से स्थापित किया गया है और यह राज्य सरकारों एवं केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को दीर्घकालीन ऋण और अग्रिम देने के काम में आ रहा है। द्वितीय कोष में रिजर्व बैंक जून १९५६ से प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपया हस्तांतरित करने लगा है और इस कोष में से प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ऋण इसलिये दिया जा रहा है कि वे अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणों में बदल सकें। धीरे-धीरे इन कोषों की रकम को बढ़ाया जायगा। (iii) **पोस्ट आफिस के सेविंग्स बैंकों के खाते**—नये-नये डाकखानों की स्थापना की जा रही है और उनमें सेविंग्स बैंक के खाते खोलने की सुविधा भी अधिकाधिक दी जा रही है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और नई दिल्ली के प्रधान कार्यालयों में सेविंग्स बैंक के खातों में से प्रति सप्ताह दो बार रुपया निकालने और अधिकतम रकम एक सप्ताह में १००० रु० तक निकालने की योजना चालू की गई है। (iv) **ऋण-पत्र**—रिजर्व बैंक ने यह तय कर दिया है कि अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (All India Industrial Finance Corporation) एवं प्रादेशीय वित्त निगमों (State Finance Corporations) तथा भूमि बन्धक बैंकों (Land Mortgage Banks) के ऋण-पत्र सरकारी प्रति-भूतियों (Govt. Securities) के समान, उधार लेने के सम्बन्ध में समझे जायेंगे। (v) **बैंकर्स ट्रेनिंग कालिज:**—देश में बैंकिंग कार्य को सुचारु रूप से चालू रखने के लिये तथा योग्य व कुशल व्यक्तियों की पूर्ति के हेतु सन् १९५४ में बम्बई में रिजर्व बैंक ने एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालिज स्थापित किया।

परीक्षा-प्रश्न

Agra University, B. Com.

१. सहकारी बैंकों से आप क्या समझते हैं? भारत जैसे देश के लिये उनके

उपयोगिता बताइये और देश मे कार्य करने वाली विभिन्न प्रकार की सहकारी बैंको की प्रकृति सक्षेप मे समझाइये। (१९६०) २. भारत मे सहकारी-साख सगठन एव प्रयोग (Organisation and working) के दोपो की विवेचना करिये। आप उनको दूर करने के क्या उपाय बताते हैं ?(१९५९S) ३ भारतवर्ष के कृषको के लिये भू-बन्धक अधिकोपो का महत्व है ? उनकी वर्तमान स्थिति को श्रेष्ठतर बनाने के लिये आपके क्या-क्या प्रस्ताव हैं ?(१९५९) 1. Explain the difference between the two—Primary. Co-operative Credit Society any and a Co-operative Central Bank. (1958, 1956 S, 1954) 2 What are the agencies of rural finance in India ? How far has the co-operative movemet succeeded in replacing the village Mahajan ? (1957) 3. Write a note on—Indigineous Banker (1957 S, 1955 S) 4 Write a note on—Co-operative Central Bank. (1957 S, 1955 S) 5. What are Co-operative banks ? Indicate their importance in a country like India and explain the nature of the different types of co-operative banks working in the country. (1955) 6. Write a note on—Primary Co-operative Credit Societies (1955) 7. Describe the main agencies of rural finance in India. How far has the co-operative movement succeeded in replacing the village mahajan (1954)

Rajputana University, B A & B. Sc.

1. Write a short essay on indigenous bankers (देशी बैंकर) and their working What imporvements will you suggest to remove their defects ? (1958) 2 Comment on the problem of rural credit in India and show how the Reserve Bank of India is trying to solve it Has the creation of the State Bank of India, in any way, helped in this work ? (1956) 3. What efforts has the Reserve Bank of India made to facilitate rural credit in the past three years ? Show how far the e efforts have been successful (1954)

Rajputana University, B Com.

1. How far have the Co operative Banks secceeded in their objective and indicate the help that the Reserve Bank of India does and should render to them in this connection ? (1956) 2 Diseeuss the nature constitution and functions of co-operative banks in India ? Give a brief critical estimate of their work in India as rural financiers (1954

Vikram University, B. Com.

1. What is the importance of indigenous banker in India Banking system ? What measure should be adopted to make him more useful to the Country ? (1959)

Aligarh University, B. A.

1. Make out a case for the extension of modern banking facilities to rural sector of India. What is being done by the State in this respect ?

Gorakhpur University, B. Com.

1. Account for the slow growth of co-operative banking in India. How can it be made popular, effective and stable ? (Pt. I. 1956)

अध्याय २
भारत में औद्योगिक वित्त
(Industrial Finance in India)

प्राक्कथनः—भारत में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग एवं विकास करने के हेतु देश का औद्योगीकरण होना अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। परन्तु इस कार्य के लिये पूंजी की आवश्यकता बहुत अधिक मात्रा में हुआ करती है। भारत में औद्योगिक विकास के अभाव का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि यहां के उद्योगों को पर्याप्त व आवश्यकता के समयसुविधापूर्वक पूंजी उपलब्ध नहीं हो सकी है। यह सच है कि आज पूंजीवादी युग मे कोई भी उद्योग धन्धा बिना प्रचुर मात्रा मे पूंजी के उपलब्ध होने मे पनप नहीं सकता है। भारत मे औद्योगिक-वित्त (Industrial Finance) की समस्या को सुलझाने के लिये विभिन्न कमीशन्स तथा जाच समितियो ने अपने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। सर्व प्रथम सन् १९१६–१८ के औद्योगिक कमीशन (Industrial Commission) ने और तत्पश्चात् सन् १९३१ की केन्द्रीय जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने इस बात पर जोर दिया कि देश के उद्योग-धन्धो को पर्याप्त वित्तीय सुविधाएं दी जानी चाहिये ताकि भारत का समुचित आर्थिक विकास हो सके। औद्योगिक कमीशन ने यह सुझाव दिया कि देश मे औद्योगिक बैंको (Industrial Banks) की स्थापना होनी चाहिये और जब तक ऐसे बैंको की स्थापना नहीं होने पाये तब तक व्यापारिक बैंको को ही, सरकार की गारन्टी पर अथवा समुचित जमानत के आधार पर, उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देनी चाहिये। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (१९३१) ने भी देश की औद्योगिक वित्त-समस्या पर सविस्तार विचार किया और समस्या को हल करने के लिये देश में एक भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Indian Industrial Finance Corporation) तथा विभिन्न प्रान्तो मे प्रान्तीय औद्योगिक वित्त मण्डलो (Provincial Finance Corporations) की स्थापना की सिफारिश की ताकि ये संस्थाएं अंशो तथा ऋण-पत्रो को खरीद कर औद्योगिक कम्पनियों को आर्थिक सहायता कर सकें।

<u>उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताएं</u>:—उद्योग-धन्धों की वित्तीय आवश्यकताएं दो प्रकार की होनी है —(i) स्थाई पूंजी (Fixed Capital) :—इस प्रकार की पूंजी की आवश्यकता नये पुराने दोनो ही प्रकार के उद्योगों को होती है। जब कोई उत्पादक कोई कारखाना स्थापित करना चाहता है तब उसे भूमि, इमारत, मशीन व यन्त्र तथा अन्य अनेक प्रकार के स्थिर पूंजीगत माल (Fixed Capital Goods) की आवश्यकता हुआ करती है। इन वस्तुओं को खरीदने के लिये कभी-कभी उसे दीर्घकालीन ऋण लेना पड़ता है। इसी प्रकार पुराने उद्योगो को भी जीर्ण मशीन व यन्त्रो के बदलने (Replacement), उद्योग के विस्तार के लिए तथा नये-नये किस्म के यन्त्रों के खरीदने के लिए भी दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता हुआ करती है। इन दीर्घकालीन ऋणो से खरीदी या बनवाई हुई सम्पत्ति अचल, स्थायी एवं टिकाऊ होती है अर्थात् उत्पत्ति-

ध मे बार-बार काम मे आती है। इसीलिए इसे स्थिर पूंजी (Fixed Capital) भी कहा जाता है। (ii) कार्य शील पूंजी (Working Capital) —इसे कार्यवाहक, सक्रिय अथवा अल्पकालीन पूंजी भी कहते हैं। उद्योगो को इस प्रकार की पूंजी की आवश्यकता दिन प्रति दिन कार्य चलाने के लिये हुआ करती है, जैसे—कच्चा माल अन्य आवश्यक वस्तुएं खरीदने के लिये, उत्पत्ति की बिक्री के लिये, उत्पादन पर लगने वाला वेतन का व्यय आदि।

उद्योगो की वित्त आवश्यकताओ की पूर्ति

<u>उद्योगों की वित्त आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन</u> (Sources of Industrial Finance) यह स्पष्ट है कि पूंजी की अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार की आवश्यकताएं हुआ करती है। अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति तो व्यापारिक बैंक्स कर सकते हैं और आजकल करते भी है, परन्तु दीर्घकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये देश मे १९४६ तक कोई भी समुचित व्यवस्था नही थी। वर्तमान समय मे कोई एक कारखाने वाला अपनी पूंजी निम्न साधनो से प्राप्त करता है—

(१) अश पूंजी (Share Capital) —औद्योगिक कम्पनिया विभिन्न प्रकार के अश जारी करती हैं और इनके द्वारा पूंजी प्राप्त करती हैं। अश मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं— (अ) साधारण अश (Ordinary Shares) तथा (आ) पूर्वाधिकार अश ((Preferential Shares)। पूर्वाधिकार अश भी कई प्रकार के होते हैं–जैसे सचयी पूर्वाधिकार अश, असचयी पूर्वाधिकार अश। कम्पनियो मे मध्यम श्रेणी के मनुष्यो को आकर्षित करने के लिये अस्थगित अश (Deferred Shares) भी होते हैं। प्रत्येक कम्पनी विभिन्न प्रकार के अश भिन्न भिन्न प्रकार व श्रेणी के विनियोजनकर्ताओ (Investors) को अपनी पूंजी का विनियोग करने के लिये आकर्षित करन के लिये निर्गमित करती है। जब कभी कोई कम्पनी यह अनुभव करती है कि दिन प्रतिदिन का काय चलाने के लिये भी उसकी अश पूंजी अपर्याप्त है तब वह अल्पकालीन ऋण ले लिया करती है परन्तु कभी कभी कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट्स भी कम्पनी को अल्पकालीन ऋण अथवा अग्रिम (Advances) दे दिया करते हैं।

(२) ऋण पत्रों द्वारा प्राप्त पूंजी (Debentures) — ऋण-पत्र वह पत्र है जिसके द्वारा कम्पनी ऋण का ज्ञापन (Acknowledgement) करती हैं, जिस पर कम्पनी की साधारण नाम मुद्रा (Common Seal) लगी रहती है तथा जिस पर ऋण के भुगतान की अवधि, ढग, ब्याज-दर, जमानत का विवरण, ट्रस्टियो का विवरण, तथा ऋण की अन्य शर्तें लिखी होती हैं। ऋण-पत्र भी कई प्रकार के होते हैं —बन्धक ऋण-पत्र (Mortgage Debentures), अप्रतिभूत ऋण पत्र (Simple or Naked Debentures) शोध्य ऋण-पत्र (Redeemable Debentures), अशोध्य ऋण-पत्र (Irredeemable Debentures) आदि। शेयर्स की तरह ऋण पत्रो के इतने अधिक रूपो का कारण भी यही है कि ये विभिन्न प्रकार के विनियोजनकर्ताओ को आकर्षित करने के लिए निर्गमित किये जाते हैं क्योंकि कुछ विनियोगकर्ता यदि पूंजी की सुरक्षा की ओर

ध्यान देते है तब अन्य विनियोगकर्ता स्थायी आय, कम जोखिम अथवा अधिक जमानत की ओर अधिक ध्यान देते हैं। कोई सीमित दायित्व वाली कम्पनी ऋण-पत्रों द्वारा तभी पूंजी एकत्रित करती है जबकि वह अंशों द्वारा पर्याप्त पूंजी एकत्रित नही करने पाती है या जब इसके व्यापार मे बहुत प्रसार होता है अथवा जब वह द्रव्य बाजार में ब्याज की दर बहुत कम होने के कारण अपनी पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति करना चाहती है। यह स्मरण रहे कि पाश्चात्य देशो मे ऋण-पत्रो द्वारा पूंजी एकत्रित करने का साधन बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योकि कम्पनिया अपनी पूंजी की आवश्यकता की अधिकांश पूर्ति इसी साधन द्वारा करती हैं, परन्तु भारत में कम्पनियां इस साधन का अधिक उपयोग नही करने पाती है। इसके कई कारण हैः—(i) **ऋण-पत्रों में विनियोग करने के प्रति अरुचि तथा ऋण-पत्रों के सुव्यवस्थित बाजार का अभावः**— भारत मे ऐसी संस्थाओं का अभाव है जो ऋण-पत्रो में अपनी पूंजी का विनियोग करती है। पाश्चात्य देशों में बीमा कम्पनियां अपने धन का विनियोग प्रथम श्रेणी के ऋण-पत्रो मे बहुत बड़ी मात्रा मे किया करती हैं, परन्तु भारत मे बीमा कम्पनियों ने (राष्ट्रीयकरण से पहले) विनियोग के इस साधन को पसन्द नही किया। भारतीय व्यापारिक बैंक्स कम्पनियो के ऋण-पत्र खरीदकर उन्हे आर्थिक सहायता दे सकते हैं, परन्तु इन्होने अभी तक ऐसा नही किया है। यदि बैंक्स इनको खरीदना प्रारम्भ कर दें, तब एक तरफ तो उद्योगो को बहुत आर्थिक सहायता हो जाय और दूसरी ओर बैंको को भी अधिक जोखिम नही उठानी पड़े। परन्तु बैंक्स द्वारा ऋण-पत्रों के खरीदने का कार्य इसलिए नही किया जा रहा है क्योकि देश में अभी तक एक सुव्यवस्थित ऋण-पत्रो का बाजार उत्पन्न नही होने पाया है जिससे बैंको को उनके द्वारा खरीदे हुए ऋण-पत्रों को बेचने की सुविधाएं प्राप्त नही हुई हैं। (ii) **बैंकों की प्रवृत्तियाः**— ऐसी व्यापारिक कम्पनियां जो ऋण-पत्र देती है और जमाओं पर २% से ७% तक ब्याज देती हैं। इस तरह औद्योगिक कम्पनियां जारी करती हैं, उनकी साख बैंकों की दृष्टि मे बहुत कम होती है जिससे बैंक्स इन्हें आर्थिक सहायता देने में हिचकिचाते हैं। परिणामतः व्यापारिक कम्पनिया स्वय ऋण-पत्रों द्वारा पूंजी एकत्रित करने के साधन का उपयोग नही करती हैं। (iii) **ऋण-पत्रों से सम्बन्धित शर्तें**—पाश्चात्य देशो मे ऋण-पत्रों के सम्बन्ध में ऐसी शर्तें होती हैं कि विनियोगकर्ता इनमे पूंजी का विनियोग करने के लिये आकर्षित हो जाता है, जैसे—भुगतान के समय कुछ प्रीमियम का देना, अधिक ऋण-पत्र खरीदने वालो को बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स का सदस्य बनाने का अधिकार, ऋण-पत्र खरीदने वालो को कम्पनी के साधारण अंशो को विशिष्ट दर पर खरीदने का अधिकार आदि। परन्तु भारतीय कम्पनियो के ऋण-पत्रो के सम्बन्ध में प्रायः इस प्रकार की शर्तों अथवा विनियोगकर्ता के अधिकारों का अभाव रहता है जिसके कारण ये पत्र विनियोगकर्ताओं को आकर्षक नही होते। (iv) **निर्गमन-व्ययः**-कम्पनियां भी इस प्रकार के ऋण-पत्रों को जारी करने मे हिचकिचाती हैं क्योंकि उनकी निकासी मे वैधानिक व्यय, स्टाम्प-कर तथा अभिगोपन कमीशन (Underwriting Commission) आदि के रूप में व्यय बहुत अधिक हो जाता है। देश मे अभिगोपन-गृहों (Underwriting Houses) की कमी के कारण ऋण-पत्रो के क्रय-विक्रय में कठिनाई

भी बहुत अधिक अनुभव होती है।

(३) मैनेजिंग एजेन्ट्स (प्रबन्ध अभिकर्ताओं) से ऋण (Loans from the Managing Agents)—मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का विकास मुख्यत भारत में ही हुआ है और पाश्चात्य देशों में यह प्रणाली बहुत कम पाई जाती है। इस प्रणाली का भारत में *उद्योगों के स्थापित होने में, इनके प्रबन्ध में तथा आवश्यकतानुसार इनको आर्थिक* सहायता देने में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में कम्पनियों की अधिकाश स्थिर अथवा सक्रिय पू जी पूर्ति इन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुई है। मैनेजिंग एजेन्ट्स अनेक प्रकार से कम्पनियों की आर्थिक सहायता करते हैं। ये स्वय कम्पनी के शेयर्स खरीदते हैं या सकट काल में कम्पनी को आवश्यकतानुसार ऋण देते हैं या अपने आप कम्पनी के ऋण-पत्र खरीदते हैं या इन्हें अपने मित्रो से खरीदवाते हैं या कम्पनी को ऋण दिलवाते समय स्वय जमानती बन जाते है। इसलिये आजकल मैनेजिंग एजेन्ट्स कम्पनी के अ शो अथवा ऋणपत्रो का अभिगोपन(Underwriting) का कार्य भी करने लगे हैं। जिन कम्पनियो में जनता से जमा (Deposits) प्राप्त करने की प्रणाली पाई जाती है उनमे इस साधन द्वारा प्राप्त पू जी की मात्रा इन्हीं की प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता पर निर्भर रहती है।

(४) सार्वजनिक जमाए (Public Deposits) —कुछ कम्पनिया जनता से जमा-धन (Deposits) प्राप्त करती हैं और इस धन का उपयोग अपनी अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति में करती हैं। परन्तु इस प्रकार का धन केवल वे कम्पनिया ही आकर्षित करने वाली हैं जिनकी व्यवस्था तथा सुदृढ़ता में जनता का विश्वास होता है। उदाहरण के लिए, अहमदाबाद तथा बम्बई के वस्त्र-उद्योग ने काफी बड़ी मात्रा में इस साधन द्वारा धन एकत्रित किया है। ये जमाए प्राय स्थाई-जमा (Fixed Deposits) के रूप में होती हैं और इनकी अवधि अवसर ६ माह से १ वर्ष तक होती है, परन्तु अहमदाबाद में यह ७ वर्ष तक है। कम्पनिया इस प्रकार की जमाओ को प्राप्त करने के लिये किसी भी प्रकार की प्रतिभूति नही इस पद्धति द्वारा तथा सुविधापूर्वक बहुत कम ब्याज की दर पर प्रचुर मात्रा में पू जी प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु इस प्रणाली में अनेक दोष हैं—(i) मन्दी तथा आर्थिक सकट के काल में जब कम्पनियों की आर्थिक दशा खराब होने लगती है, तब जमाकर्ता अपनी जमाए निकालते हैं *जिसके कारण कम्पनियो की आर्थिक दशा और भी अधिक खराब* हो जाती है। (ii) कम्पनियाँ जब कभी उक्त जमाओं को स्थिर पू जी के रूप में उपयोग में ले आती है, तब इन्हें इनको आवश्यकता के समय वापिस करने में कठिनाई अनुभव होती है जिससे कम्पनियो की साख एव प्रतिष्ठा को धक्का पहुचता है। (iii) चू कि कम्पनिया कम ब्याज की दर पर इस साधन द्वारा प्रचुर मात्रा में पू जी प्राप्त कर लेती हैं, इसलिये उनके कार्यों में सट्टे-व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है। इन दोषो के कारण आलोचकों का मत है कि औद्योगिक कार्यों के लिये पू जी प्राप्त करने का उक्त साधन *लाभप्रद, सरल तथा सुविधाजनक नही है। कुछ तो इन दोषो के कारण और कुछ* व्यापारिक बैंकों के पर्याप्त विकास के कारण, औद्योगिक कम्पनियो को भी स्वय उक्त तरीका श्रेष्ठ प्रतीत नहीं होता है और इस साधन का उपयोग दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है। दूसरी ओर बैंकिंग विकास तथा बैंकों में जनता का विश्वास बढ़ जाने के

कारण भी औद्योगिक कम्पनियां अब पहले से बहुत कम मात्रा में जमाएं आकर्षित करने पाती हैं। अतः औद्योगिक कार्यों के लिये सार्वजनिक जमाओं द्वारा पूंजी प्राप्त करने के साधन का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता है।

(५) बैंकों से ऋण (Bank Loans):—भारत में औद्योगिक बैंक्स (Industrial Banks) का निर्माण नहीं हो सका है। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना के लिए जब कभी प्रयत्न किये गये, वे किन्हीं कारणों से सफल नहीं हो सके और स्थापना के कुछ ही समय बाद या तो ठप हो गये या व्यापारिक बैंकों में परिणित हो गये। औद्योगिक बैंकों की असफलता के मुख्य कारण रहे हैं:—अल्पकालीन जमाओं से दीर्घकालीन ऋण देना, एक ही उद्योग में बहुत अधिक मात्रा में राशि फंसा देना, प्रबन्ध की कुशलता, प्रबंधकों की बेईमानी तथा औद्योगिक बैंकिंग सम्बन्धी ज्ञान का पूर्ण अभाव आदि। इन कारणों से सन् १९२३ में स्थापित टाटा औद्योगिक बैंक भी ठप्प हो गया और बाद में यह सैंट्रल बैंक आफ इण्डिया में मिला दिया गया। परन्तु देश के व्यापारिक बैंकों (Commercial Banks) ने उद्योगों को अल्पकालीन ऋण देकर इनकी बहुत ही आर्थिक सहायता की है। व्यापारिक बैंक्स उद्योगों को बिल्स की कटौती करके, सुरक्षित अल्पकालीन ऋण देकर, नकद-साख (Cash Credit) खाता खोलकर, अधिविकर्ष (Overdraft) सुविधाएं देकर तथा कभी-कभी व्यक्तिगत साख पर रुपया उधार देकर मदद करते हैं। इसके अतिरिक्त बैंक्स कच्चा-माल व तैयार माल तथा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर भी उद्योगों की आर्थिक सहायता करते हैं। प्रायः ऋण की अवधि १ वर्ष की ही होती है और ब्याज की दर ४% से ६% तक होती है। बैंक्स व्यक्तिगत साख पर तो लगभग नहीं के बराबर ऋण देते हैं, परन्तु पाश्चात्य देशों में व्यक्तिगत-साख पर ऋण देने की प्रथा बहुत प्रचलित है जिससे वहां के व्यापारियों को धन का अभाव बहुत कम महसूस होता है। माल की आड़ पर ऋण देते समय बैंक्स २५% से ३०% तक का अन्तर (Margin) अपने पक्ष में रखते हैं।

(६) देशी बैंकर, महाजन-साहूकार तथा व्यक्तिगत ऋणदाता.—उद्योग-पतियों को कभी-कभी महाजन-साहूकार व बैंकर्स अथवा अन्य किसी व्यक्तिगत ऋणदाता के पास अपनी दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिये जाना पड़ता था। इसलिये कुछ समय पहिले ये भी औद्योगिक पूंजी की पूर्ति के बहुत महत्वपूर्ण साधन थे। परन्तु इनकी कार्य-विधि अत्यधिक असन्तोषजनक तथा ब्याज की दर बहुत ही ऊंची होने के कारण, आजकल औद्योगिक वित्त की दृष्टि से इनका महत्व अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया है।

(७) राजकीय ऋण (Govt. Loans):—सरकारें भी उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती है। परन्तु उद्योगों को सरकार से प्राप्त ऋण प्रिय नहीं होते हैं क्योंकि इनके मिलने में बहुत समय लगता है तथा कम्पनी को कितने ही दफ्तरों में से होकर अपना आवेदन-पत्र भेजना पड़ता है जिससे वह कार्य बहुत असुविधाजनक होता है। इसके अनिश्चित मिलने वाली ऋण की मात्रा प्रायः उद्योगों की आवश्यकता से बहुत कम ही होती है।

(८) विनियोग ट्रस्ट्स (Investment Trusts):—औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में

इस प्रकार के ट्रस्टो का महत्व युद्धकाल तथा युद्धोत्तरकाल मे बहुत बढ गया है। ये ट्रस्ट सीमित दायित्व तथा बहुत विशाल पूंजी वाली कम्पनिया होती हैं। इनके द्वारा पूंजी अपने अशो को जनता को बेचकर एकत्रित की जाती है और इसका उपयोग दूसरी औद्योगिक कम्पनियो के अशों तथा ऋण-पत्रो को खरीदने मे किया जाता है। यह स्वाभाविक ही है कि विनियोग ट्रस्ट्स अपने धन का विनियोग ऐसी कम्पनियो मे करते हैं जो प्रतिवर्ष काफी मात्रा मे लाभाश घोषित करती हैं। इस तरह इनके धन का विनियोजन किसी एक कम्पनी अथवा किसी एक उद्योग में न होकर विभिन्न कम्पनियो अथवा भिन्न-भिन्न उद्योगो मे किया जाता है ताकि एक तरफ तो इनके विनियोग की जोखिम बहुत कम हो जाती है और दूसरी ओर इन्हे लाभ भी बहुत अधिक प्राप्त हो जाता है। ट्रस्ट्स कभी-कभी अपनी प्रतिभूतियों (Securities) का ऊचे मूल्य पर बेचकर बहुत अधिक मात्रा मे लाभ कमाते हैं। आजकल ट्रस्ट्स नई-नई कम्पनियो के शेयर्स व ऋण-पत्रो का अभिगोपन (Underwriting) स्वय भी करने लगे हैं जिससे इनके लाभ की मात्रा और भी अधिक हो जाती है। ट्रस्ट्स को जो कुछ लाभ होता है जिसम से कुछ भाग य अपने अशधारियो को लाभ के रूप मे वितरित कर देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि विनियोग ट्रस्टो द्वारा उद्योगो को पर्याप्त मात्रा में पूंजी एकत्रित करने म काफी सहायता मिलने लगी है। इन ट्रस्टो से अल्प साधन वाले विनियोजको को भी बहुत सहायता मिलती है। ये व्यक्ति अपने धन का विनियोजन ट्रस्टो में कर देते हैं जिससे इन्हे बिना अधिक जोखिम उठाये उचित लाभ भी मिल जाता है। ऐसे व्यक्तियो के पास न तो इतना समय होता है और न इतनी योग्यता व शक्ति ही होती है कि वे लाभप्रद प्रतिभूतियों के सम्बन्ध म जानकारी प्राप्त कर सकें जिससे वे स्वय लाभ कर विनियोग के साधनो को नही ढूंढ पाते हैं। परन्तु जब य अपना धन ट्रस्टो म लगा देते हैं, तब ये उक्त झझटो से बच जाते हैं क्योकि ट्रस्टो के योग्य व विद्वान कर्मचारी एव प्रबन्धक लाभप्रद साधनो म अपने अशधारियो की पूंजी का विनियोजन करते रहते हैं। ट्रस्टो का एक यह भी लाभ है कि ये जनता म विनियोग करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। परन्तु ट्रस्टो का विकास बहुत ही सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिये क्योकि यदि इन्होने बेईमानी से कार्य किया तब इसका विनियोजनकर्ताओ पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ेगा और इनकी असफलता देश के आर्थिक एव औद्योगिक विकास के लिए बहुत ही घातक सिद्ध होगी।

(६) स्टाक एक्सचेंज बाजार (Stock Exchange Markets) — इस प्रकार के बाजारो से औद्योगिक सस्थाओ को अप्रत्यक्ष रूप म आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। ये वे बाजार हैं जिनमे कम्पनियो के अश व ऋण-पत्रो के क्रय-विक्रय की सुविधाएं होती हैं। यह स्मरण रहे कि इन सस्थाओ (बाजारों) मे कुछ स्वीकृत प्रतिभूतियों (Approved Securities) का ही क्रय-विक्रय स्वतन्त्रता पूर्वक हो सकता है। इस बाजार मे केवल उन कम्पनियो के शेयर्स या ऋण-पत्रो का क्रय-विक्रय हो सकता है जो स्टाक एक्सचेंज की शर्तों को पूरा करके एक्सचेंज के अधिकारियो से लिखित म अनुमति ले लेते हैं। भारत म बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के स्टाक एक्सचज बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इन एक्सचेंजो द्वारा बडी-बडी कम्पनिया तथा सरकार कुछ ही घन्टो मे जनता से करोडों

रुपए एकत्रित कर लेती हैं। अतः स्टाक एक्सचेंज औद्योगिक वित्त की पूर्ति में परोक्ष रूप से बहुत सहायक होते हैं।

(१०) औद्योगिक वित्त प्रमंडल से ऋण (Loans from the Industrial Finance Corporation):—केन्द्र में तथा कुछ प्रान्तों मे औद्योगिक वित्त प्रमंडलों की स्थापना हो चुकी है जिनकी स्थापना से एक तरफ तो देश मे औद्योगिक बैंकों (Industrial Banks) का अभाव बहुत कुछ दूर हो गया है और होता जा रहा है और दूसरी तरफ उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी है। सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) ने देश में इस प्रकार के प्रमंडलों की स्थापना की सिफारिश की थी। इन प्रमन्डलों की पूंजी अंशों से, सरकार से तथा ऋण-पत्रों को बेचकर प्राप्त होती है। जनता का इनमे विश्वास उत्पन्न करने के हेतु सरकार प्रमण्डलो के ऋण-पत्रों की गारन्टी (Guaranttee) कर देती है। इस तरह देश मे उद्योगपतियों को नये-नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों के विकास एवं प्रसार के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत उपलब्ध हो गया है। यह स्मरण रहे कि ये प्रमंडल उद्योगों की अल्पकालीन अथवा कार्यशील पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करते है और यह कार्य मुख्यतः व्यापारिक बंको के लिये ही सीमित कर दिया गया है।

[ब] भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रण्मडल
(The Industrial Finance Corporation of India)

भारतीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल की स्थापना के समय औद्योगिक वित्त की अवस्था—भारत में युद्धोत्तर (Post War) काल में उद्योग-धन्धों की दीर्घकालीन व मध्यमकालीन आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली संस्थाओं का अभाव बहुत ही अधिक अनुभव किया गया क्योंकि युद्ध के बाद समस्त उद्योगों को अपनी युद्धकाल मे घिसी हुई मशीनों एवं यंत्रों को बदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस कार्य के लिये पूंजी की आवश्यकता भी बहुत बड़े पैमाने पर हुआ करती है। युद्ध काल में तो इन कारखाने वालों ने अपने अत्यधिक लाभ को मुख्यतः लाभांश के रूप में वितरित कर दिया और यह इस कारण किया गया था क्योंकि इन्हें युद्ध के पहले के कम मात्रा में वितरित लाभांशों की क्षति की पूर्ति करनी थी। अतः युद्धोत्तर काल में एक तरफ तो उद्योगपतियों की पूंजी की माग बहुत अधिक बढ़ गई और दूसरी तरफ भारतीय द्रव्य बाजार मे पूंजी मिलने की सम्भावनाएं बहुत कम हो गईं। इसके कई मुख्य कारण थे—(i) युद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे समाज के मध्यम वर्ग की आय बहुत कम हो गई जिससे उसकी बचत-शक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। चूंकि मध्यम वर्ग ही अधिकांशतः विनियोग किया करता है, इसलिये द्रव्य-बाजार मे पूंजी का अभाव प्रतीत हुआ। इसके विपरीत ग्रामीण व श्रमी वर्ग की आय बहुत बढ़ी, परन्तु इन दोनों वर्गों ने अपनी बढ़ी हुई आय का उपयोग मुख्यतः उपभोग के कार्यों मे किया जिससे विनियोग के लिये धन अथवा बचत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हुई। (ii) युद्धकाल में नागरिकों ने अपनी निजी उपभोग की

वस्तुओं का बहुत अभाव महसूस किया था। युद्ध समाप्त होते ही उपभोग की वस्तुओं की माग बहुत बढ़ गई जिसके कारण भी बचत कम होने लगी। (iii) सरकार की करारोपण नीति (Taxation Policy) की अस्थिरता के कारण देश अनिश्चित वातावरण उत्पन्न हो गया जो पू जी के विनियोग के लिये सदा घातक रहता है। (iv) शेयर्स व ऋण-पत्रों में विनियोग की अपेक्षा कच्चे माल व आयात वस्तुओं को खरीदकर रखने में अधिक लाभ प्रतीत होने लगा जिसके कारण कम्पनियां अंशों व ऋण पत्रों को बेचकर पर्याप्त मात्रा में पू जी प्राप्त नहीं कर सकी। (v) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी का उन्मूलन (Abolition) हुआ तथा राजकुमारों की स्टेट्स को भारतीय संघ में मिला दिया गया। उक्त वर्ग अपनी बचत का काफी बड़ा भाग उद्योगों में विनियोजित किया करता था, परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने से वे अब द्रव्य-बाजार में अधिक पू जी की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। इन सब कारणों से उद्योगपतियों को युद्धोत्तर काल में पू जी की बहुत कमी अनुभव हुई और वे न तो अपने वर्तमान उद्योग का पर्याप्त विकास कर सके और न नए-नए उद्योग ही स्थापित कर सके। इस अवस्था में सरकार ने औद्योगिक वित्त की इस बिगड़ी हुई दशा में सुधार करने के हेतु केन्द्र तथा राज्यों में औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों की स्थापना करने का निश्चय किया ताकि देश का समुचित औद्योगिक विकास हो सके।

भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की स्थापना —औद्योगिक वित्त की कमी को दूर करने तथा देश की निष्क्रिय पू जी को गतिशील बनाकर देश के उद्योगों की उन्नति में विनियोग करने के हेतु केन्द्रीय सरकार ने सन् १६४८ में एक औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) की स्थापना हुई। इस प्रमण्डल की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं —,

(१) पू जी (Capital) — भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल की अधिकृत पू जी (Authorised Capital) १० करोड रुपये है और इसे पांच पांच हजार के बीस हजार अंशों में बांटा गया है। इनमें से १० हजार अंश तो निर्गमित कर दिये गये हैं और शेष आवश्यकतानुसार समय-समय पर जारी किये जायेंगे। इन अंशों को केन्द्रीय सरकार तथा अन्य उल्लेखित संस्थायें इस अनुपात में खरीद सकती हैं—केन्द्रीय सरकार २०%, रिजर्व बैंक २०%, अनुसूचिबद्ध बैंक्स २५%, बीमा कम्पनियां व विनियोग ट्रस्ट्स व इसी प्रकार की अन्य मान्य संस्थाए २५% तथा सहकारी बैंक्स १०% *(कुल योग १००%)। एक्ट के अनुसार अंशों का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है। यह अवश्य है कि उक्त विभिन्न वर्गों के बीच अंशों का हस्तान्तरण हो सकता है। परन्तु यहां पर यह बाधा लगा दी गई है कि किसी भी वर्ग के पास उसके निश्चित हिस्से के १०% से अधिक अंश एकत्रित नहीं हो सकते हैं। यह भी व्यवस्था कर दी गई है कि यदि कोई वर्ग अपने हिस्से के अंशों को नहीं खरीद पाता है तब इस वर्ग के लिये निर्धा-

*इस तरह रिजर्व बैंक १ करोड रुपये, केन्द्रीय सरकार १ करोड रुपये, अनुसूचीबद्ध बैंक्स १ २५ करोड रुपये, विनियोग ट्रस्ट्स आदि १ २५ करोड रुपये तथा सहकारी बैंक्स ० ५० करोड रुपये के अंश खरीदेंगे।

रित शेष हिस्से केन्द्रीय सरकार या रिजर्व बैंक द्वारा खरीदे जा सकते हैं और रिजर्व बैंक व सरकार को यह अधिकार होगा कि वे बाद मे इन हिस्सो को अन्य उपयुक्त संस्थाओ को बेच सकते हैं। उक्त प्रमण्डल के हिस्से विभिन्न वर्गो ने अपने हिस्से से अधिक के खरीदे है, परन्तु सहकारी बैंक अपने हिस्सो को नही खरीदने पाये है। इसीलिए रिजर्व बैंक को इनके हिस्से के ३·६५ लाख रुपये के हिस्सो को खरीदना पड़ा है। भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के हिस्सो की गारन्टी केन्द्रीय सरकार ने की है अर्थात् यदि प्रमण्डल असफल होने के कारण टूटता है तब अंशधारियों को अंश का मूल्य सरकार द्वारा दिया जायगा। इसी तरह सरकार ने अंशो पर न्यूनतम लाभांश २½% की भी गारन्टी दी है। परन्तु अंशो पर अधिक से अधिक लाभांश ५% दिया जा सकता है। इसमे अधिक जो कुछ भी लाभ होगा वह केन्द्रीय सरकार को दिया जायगा। लाभांश की दर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित की जायगी। प्रमण्डल के लाभ पर आय-कर तथा अतिरिक्त कर भी लगेगा। प्रमण्डल को अपना वार्षिक स्थिति-विवरण (Balance Sheet) तथा कार्य-विवरण केन्द्रीय सरकार के पास भेजना पड़ेगा। अंशो की बिक्री द्वारा पूंजी प्राप्त करने के अतिरिक्त यह दीर्घकालीन जमाओ (Long Term Deposits) तथा ऋण-पत्रो (Debentures) की बिक्री से भी धन-राशि प्राप्त कर सकता है। परन्तु प्रमण्डल द्वारा उधार लिये हुये समस्त ऋणो की रकम इसकी परिदत्त-पूंजी (Paid-up Capital) तथा संचित कोष के पाच गुने से अधिक नही हो सकती है। अर्थ-प्रमण्डल ने उद्योगो में अधिक मात्रा मे आर्थिक सहायता देने के हेतु १६४६–५० व १६५०–५१ मे ५५० लाख रुपये के बन्ध (Bonds) बेचे जिन पर इसने ३½% ब्याज की दर देने की गारन्टी दी है। इन बन्धो का भुगतान सन् १६६४ मे किया जायगा। इन बन्धो ने मूलधन तथा ब्याज की गारन्टी भी केन्द्रीय सरकार ने की है। यही नही अर्थ-मण्डल केन्द्रीय सरकार की अनुमति से अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के द्वारा विदेशी मुद्रा भी खरीद सकता है। सन् १६५५ के प्रमण्डल विधान के सशोधन के अनुसार अब यह केन्द्रीय सरकार से ऋण भी प्राप्त कर सकता है।

(२) **प्रबन्ध व कार्यालय** (Management and Offices):—अर्थ प्रमण्डल का प्रबन्ध १२ सदस्यो के एक संचालक-मंडल (Board of Directors) द्वारा किया जाता है। इनमें से एक प्रबन्ध-संचालक (Managing Director) तथा ३ तीन अन्य सचालक तो केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते है, २ संचालक रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त किये जाते है तथा शेष ६ सचालक प्रमण्डल के अन्य अंशधारी चुनेंगे (२ सचालक सहकारी बैंक्स, २ सचालक अंशधारी बैंक्स तथा २ संचालक अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित होते हैं)। निर्वाचित संचालकों की कार्य अवधि ४ वर्ष होती है और मनोनीत (Nominated) सचालकों की अवधि मनोनीत करने वाली संस्था पर निर्भर रहती है। प्रबन्ध सचालक भी ४ वर्ष की अवधि के लिए होता है और वह वेतन-भोगी होता है। सरकार चाहे तब इस व्यक्ति को पुन: नियुक्त कर सकती है। संचालक मंडल की सहायता के लिए ५ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) भी होती है जिसमे दो सदस्य निर्वाचित सदस्यो द्वारा निर्वाचित किये जाते है और दो सदस्य

सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं। प्रबन्ध सचालक इस समिति का अध्यक्ष (Chairman) होता है। प्रमण्डल के कार्यों की सफलता के लिए इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि समय समय पर सलाहकार समितियो (Advisory Committees) को भी नियुक्त किया जा सकता है। प्रमडल की सामान्य नीति का सचालन केन्द्रीय सरकार के ग्रादेशानुसार होगा। इसीलिए यदि सचालक मडल (Board of Directors) सरकार की नीति के अनुसार कार्य नही करे, तब केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार होगा कि वह इस सभा के बदले नई सभा की नियुक्ति कर सकती है। इस प्रमडल का प्रधान कार्यालय दिल्ली मे है और इसके कार्यालय बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास मे भी हैं। कानपुर मे इनकी शाखा इस कारण से नही खोली जा सकी क्योकि इस क्षेत्र के उद्योगो से ऋण प्राप्त करने के बहुत कम ग्रावेदन पत्र प्राप्त हो सके हैं। प्रमडल अन्य स्थानों पर भी केन्द्रीय सरकार की अनुमति से शाखाए स्थापित कर सकेगा।

(३) ऋण देने की कार्य-विधि (Loans) —प्रमडल का उद्देश्य औद्योगिक कम्पनियो को दीर्घकालीन तथा मध्यमकालीन ऋण देना है विशेषत जबकि उन्हे साधारण बैंकिंग सुविधाए अपर्याप्त प्राप्त हो तथा उनके पू जी प्राप्त करने के अन्य साधन भी दुर्लभ हों। प्रमडल के मुख्य मुख्य कार्य इस प्रकार है — (1) ऋण देना —यह सीमित दायित्व वाली औद्योगिक कम्पनिया या सहकारी समितियो को २५ वर्ष की अधिकतम अवधि तक के लिए ऋण दे सकता है। परन्तु ऋण देने से पहले यह ऋणी से अनेक बातो की जानकारी प्राप्त करता है, जैसे–उत्पादन की वस्तु का स्वभाव, भूमि व फैक्टरी व मकान आदि पर अधिकार व इनका मूल्य, फैक्ट्री की स्थिति, ऋण का उद्देश्य, कच्चे माल की प्राप्ति व लाभ की सम्भावना, ऋण भुगतान की सामर्थ्य तथा जमानत का स्वभाव आदि। इन सब बातो की जानकारी प्राप्त करके प्रमडल अपने किसी कर्मचारी द्वारा उक्त सब बातो की जाच करा लेता है। जबकि प्रमडल इस बात से सन्तुष्ट हो जाता है कि उद्योग का राष्ट्रीय महत्व है, उत्पादित वस्तु की देश को आवश्यकता है, यह कुशल कर्मचारियो द्वारा चलाया जा रहा है, उद्योग के लिए कच्ची सामग्री की पर्याप्त उपलब्धता है, ऋण की आड के लिये पर्याप्त जमानत है आदि, तब वह ऐसी कम्पनी को ऋण प्रदान कर देता है। ऋण व्यक्तियों, साझेदारियां तथा निजी औद्योगिक कम्पनियां को नहीं दिया जाता है। प्रमडल द्वारा जो भी ऋण दिया जाता है वह स्थाई सम्पत्ति की आड पर प्राय स्थायी सम्पत्ति के खरीदने के लिये दिया जाता है अर्थात् यह कच्चे माल अथवा पक्के माल की आड पर कच्ची सामग्री आदि के खरीदने के लिये ऋण नही देता है। यह बाधा इस कारण लगाई गई है ताकि प्रमण्डल व्यापारिक बैंको से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सके। ऋणो का भुगतान किस्तो मे किया जा सकता है और किस्ता द्वारा ऋण की अदायगी प्राय ऋण लेने के दो तीन साल बाद आरम्भ होती है। ऋण भारतीय मुद्रा अथवा किसी विदेशी मुद्रा में दिए जा सकते हैं। किसी एक कम्पनी अथवा सस्था के लिए ऋण की अधिकतम सीमा ५० लाख रुपये रक्खी गई है। सन् १९५५ के एक्ट मे एक सशोधन द्वारा यह सीमा बढाकर १ करोड रुपय कर दी गई है। ऋण का उचित उपयोग किया जा रहा है या नहीं, इस बात को जानने के लिये प्रमण्डल कम्पनी से रिपोर्ट मांग सकता है अथवा स्वय भी समय समय पर कम्पनी की जाच करा सकता

है। (ii) **अंश या ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Underwriting) करना:**—प्रमण्डल कम्पनियों के अंश, बन्धों (Bonds) तथा ऋण-पत्रों (Debentures) का अभिगोपन कर सकता है। (iii) **मूलधन तथा ब्याज की गारन्टी देना**—प्रमण्डल कम्पनियों के ऋण-पत्रों के ब्याज अथवा मूलधन की गारन्टी भी दे सकता है और इस तरह गारन्टी देकर कम्पनियों को धन-राशि प्राप्त करने में मदद कर सकता है। गारण्टी देने के कार्य के बदले में प्रमण्डल कम्पनी से कमीशन (Commission) ले सकता है। (iv) **विदेशी मुद्रा में ऋण दिलवाना.**—यदि किसी कम्पनी को किसी विदेश की मुद्रा में ऋण की आवश्यकता है, तब प्रमण्डल केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से या अन्य किसी स्रोत से विदेशी मुद्रा में ऋण प्राप्त कर सकता है। (v) **कम्पनियों को अपने अधिकार में लेकर चलाये:**—यदि कोई ऋणी कम्पनी ऋण की शर्तों का उल्लंघन करती है, तब प्रमण्डल को यह भी अधिकार होता है कि वह गिरवीं रक्खी हुई सम्पत्ति को ठेके (Lease) पर भी दे सकता है। (vi) **जमाएं प्राप्त करना**—प्रमण्डल जनता से कम से कम ५ वर्ष की अवधि की जमाएं (Deposits) प्राप्त कर सकता है, परन्तु जमा-राशि किसी भी समय प्रमण्डल की परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) के दुगने से अधिक नहीं हो सकती है। (vii) **उद्योगों को तान्त्रिक सलाह**—प्रमण्डल ऋण लेने वाली कम्पनियों को तान्त्रिक सलाह (Technical Advice) देने के लिए तान्त्रिक सलाहकार समितियां भी नियुक्त कर सकता है।

(४) **ऋण देने की शर्तें (Conditions on which Loans are Granted):**—प्रमंडल कुछ शर्तों के आधार पर ऋण दे सकता है—(i) **ऋण कुछ पूर्व निर्धारित उद्योगों को ही दिया जाता है.**—ऋण केवल सीमित दायित्व वाली लोक कम्पनियों (Public Limited Companies) को अथवा सहकारी समितियों को दिया जा सकता है। यह केवल वस्तुओं के निर्माण, इनका क्रिया-कलाप (Processing), खनिज उद्योग, विद्युत निर्माण व वितरण तथा अन्य ऐसे कार्यों के लिए दिया जा सकता है जिनका कि प्रमंडल विधान में, उल्लेख किया गया है। (ii) **ऋण का उद्देश्य व जमानत:**—ऋण केवल अचल सम्पत्ति के खरीदने के लिये अचल सम्पत्ति (भूमि, मकान, यन्त्र आदि) की आड़ (Mortgage) पर ही दिया जा सकता है। इस तरह कच्ची-सामग्री व पक्के माल की आड़ पर प्रमंडल कार्यशील पूंजी के लिए ऋण नहीं दे सकता है क्योंकि यह कार्य व्यापारिक बैंकों का है और प्रमंडल को व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करनी है। अचल सम्पत्ति की जमानत के अतिरिक्त प्रमंडल ऋण लेने वाली कम्पनी से उसके संचालकों से व्यक्तिगत व सामूहिक जमानत भी लेता है। इस प्रकार की जमानत इस कारण ली जाती है ताकि ऋण का उपयोग तथा कम्पनी का प्रबन्ध समुचित रूप से किया जा सके। (iii) **ऋणी कम्पनी के संचालक मण्डल में प्रमण्डल के संचालकों की नियुक्ति:**—अर्थ प्रमंडल को यह अधिकार है कि वह ऋणी कम्पनी के संचालक मंडल (Board of Directors) में दो संचालकों की नियुक्ति कर सकता है। ताकि प्रमंडल की ओर से ये यह देखते रहें कि कम्पनी में उनके हितों की रक्षा हो रही है या नहीं। (iv) **ऋणी कम्पनी के लाभों का बटवारा:**—ऋणी कम्पनी पर यह प्रबन्ध होता है कि

जब तक यह प्रमडल के ऋण का भुगतान नही कर दे तब तक यह ५% से अधिक वार्षिक लाभाश नही बाट सकती है। परन्तु इस दर मे ऋणी कम्पनी तथा प्रमण्डल की सम्मति से परिवर्तन भी हो सकता है। (v) ऋण भुगतान की अवधि—ऋण-भुगतान की अवधि सामान्यतया १२ वर्ष होती है। (vi) ऋण की किस्तें—ऋणो का भुगतान साधारणतया एक-समान किस्तो मे होगा, परन्तु किस्त की रकम क्या होगी यह ऋणी कम्पनी तथा प्रमण्डल दोनो की सम्मति से निश्चित की जायेगी। प्राय ऋण लेने के तीन वर्ष बाद ही किस्तो के रूप मे ऋण का भुगतान आरम्भ होता है। कभी-कभी किस्तो की रकम क्रमागत-वृद्धि दर (Graduate Scale of Instalments) के आधार पर निश्चित की जाती है। (vii) बन्धक सम्पत्ति का बीमा—कम्पनी जिस अचल सम्पत्ति की आड पर प्रमण्डल से ऋण लेती है उस सम्पत्ति का बीमा कराना अनिवार्य है।

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की क्रियाए—प्रमण्डल के कार्यों का शनै शनै विस्तार होता जा रहा है। प्रमण्डल के जीवन के प्रथम चार वर्षों मे इसे इतनी कम मात्रा मे लाभ प्राप्त हुये कि यह निश्चित लाभाश भी नही बाट सका वरन् इस काल म उल्टे केन्द्रीय सरकार को इसे २,८६ लाख रुपय सहायतार्थ देने पडे। प्रमण्डल न अपने कोषों को बढाने के लिय बन्धो (Bonds) की निकासी की है। सन् १६५२ के अन्त तक इसने ५८१ करोड रुपये के बौड्स की निकासी की थी। प्रमण्डल न १६४७-४८, १६४८-४६, १६४६-५०, तथा १६५०-५१ म क्रमश ३४२ लाख, ७१६ लाख, ६५८ लाख तथा १,४०३ लाख रुपये की सहायता देश के प्रमुख उद्योगो को दी। ऋणो पर ५% से ५½% तक ब्याज की दर निर्धारित की गई है। ठीक समय पर भुगतान करने पर ½% ब्याज की दर मे कमी कर दी जाती है। प्रमण्डल ने जून सन् १६५० के अन्त तक १२५ उद्योगो को कुल मिलाकर २८ करोड रुपय के ऋण दिए जिनम से लगभग १५·२२ करोड रुपये के ऋण नय उद्योगो को तथा शेष १२·८५ करोड रुपय के ऋण पुराने उद्योगो को नवीनीकरण आधुनिकीकरण तथा विस्तार के लिए दिए। आर्थिक सहायता प्राप्त उद्योगों मे प्रथम स्थान चीनी उद्योग, द्वितीय स्थान सूती कपडे का उद्योग तथा तृतीय स्थान सीमट उद्योग का है। ३० जून १६५५ तक प्रमण्डल को २४ ७० लाख रुपये का लाभ हुआ जिसम १५ लाख रुपय सुरक्षित कोष मे हस्तातरित कर दिये गए।

औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल की आलोचना (Criticism of the Industrial Finance Corporation)—समय-समय पर औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल के विधान तथा कार्य-वाहन के विरुद्ध अनेक आलोचनाए दी गई हैं, जिनमे स कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं— (i) पूजी के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति—प्रमण्डल अपने विधान के अनुसार केवल बडे-बडे उद्योगो को ही आर्थिक सहायता देता है। चू कि इसके द्वारा छोट-छोट उद्योगो को अर्थ-सहायता नही दी जाती है, इसलिए प्रमण्डल पूजी के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति रखता है। (ii) प्रमण्डल की नीति पक्षपातपूर्ण है—सन् १६४८ मे प्रमण्डल ने उडीसा टैक्सटाइल मिल्स को ५० लाख रुपये का ऋण केवल इसलिये दिया था क्योंकि इस मिल के साथ प्रमण्डल के सभापति का सम्बन्ध था (बिहार [redacted] पूर्वपूर्व प्रधान मंत्री)। परन्तु

इस आलोचना मे अधिक तथ्य नहीं है और यह निराधार है। प्रमण्डल ने ऋण इसलिए नही दिया था, क्योंकि उक्त मिल में सभापति का हित था वरन् यह मिल की सम्पत्ति की समुचित जमानत के आधार पर ही दिया गया था, फिर चाहे ऋणी का प्रमण्डल के संचालकों से सम्बन्ध हो या नही हो, इसमें हानि ही क्या है ? (iii) **ब्याज की दर ऊंची है:**—आलोचको का मत है कि प्रमण्डल अपने ऋणो पर बहुत ऊंची ब्याज की दर लेता है जिसके कारण बहुत कम कम्पनिया इससे ऋण लेने के लिए इच्छुक रहती हैं। परन्तु इस आलोचना मे भी अधिक तथ्य नही है। प्रमण्डल की वास्तविक ब्याज की दर ५३% है जोकि उसके वर्तमान ऋण-पत्रो (Debentures) की ब्याज की दर से बहुत अधिक नही है। इसी तरह प्रमण्डल ३३% दर पर अपने बन्ध (Bonds) बेच कर धन एकत्रित करता है और इसका कम ब्याज वाली अल्पकालीन प्रतिभूतियो से विनियोग करता है (रुपया ऋणियों द्वारा किस्तो मे लिया जाता है)। (iv) **ऋणों को स्वीकृत करने में बहुत विलम्ब होता है:**—ऋण केवल अचल सम्पत्ति की आड़ पर दिया जाता है। प्रमण्डल को ऋण देने से पहले इस सम्पत्ति के मूल्य व अधिकार के सम्बन्ध मे जाच पड़ताल करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त प्रमंडल को ऋणी की साख-योग्यता, उद्योग का सम्भावी लाभ आदि अनेक बातो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। अत. ऋण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त करने मे स्वाभाविक ही समय भी बहुत लगता है। (v) **स्वीकृत ऋणों की पूरी राशि ऋणियों द्वारा नहीं ली जाती है:**—प्रमंडल द्वारा स्वीकृत किये गये अब तक के ऋणो से पता चलता है कि ऋणी-उद्योगो ने ऋणो की लगभग ५१% राशि अभी तक नही ली है जिससे एक तरफ प्रमंडल को ब्याज की हानि होती है और दूसरी तरफ यह ऋण भी अधिक कम्पनियो को नही देने पाता है। इसीलिए अब प्रमंडल "न लिये गये ऋणो" पर शुल्क लेने का विचार कर रहा है। (vi) **प्रमण्डल का कार्य रूढ़िवादी रीति से किया जाता है:**—इसके कार्यो मे दीर्घ-सूत्रता (Red-Tapism) का बोल बाला है। यह कम्पनियों के आवेदन-पत्रो को छोटे-छोटे कारणों (Technical Grounds) के आधार पर रद्द कर देता है। प्रमण्डल की इस प्रकार की कार्य-विधि देश के औद्योगिक विकास मे बहुत बाधक रहेगी। यही कारण है कि प्रमण्डल अब तक केवल २८ करोड रूपये के ऋण प्रदान कर सका है। (vii) **अभीगोपन करना, गारन्टी देना तथा ऋण-पत्रो को खरीदना**—आलोचको का मत है कि प्रमण्डल ने अभी तक ऋण-पत्रो के अभिगोपन (Under-writing) का कार्य आरम्भ नहीं किया है। इसी तरह इसने ऋण-पत्रों के खरीदने अथवा इनकी गारन्टी देने का भी कार्य आरम्भ नही किया है। (vii) **प्रमण्डल ने ऋण मुख्यतः एसे उद्योगों को तथा ऐसे राज्यों में दिये हैं जो पहले से ही विकसित हैं**—इस आलोचना मे कुछ तथ्य प्रतीत होता है। प्रमण्डल द्वारा दी गई राशि में से अधिकांश ऋण चीनी व सूती वस्त्र उद्योग को दिया गया है जो पहले से ही विकसित तथा दृढ है।

निष्कर्ष:— औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की स्थापना हुए अभी थोड़ा समय हुआ है परन्तु इसने अपने इस अल्प जीवन काल मे जो कुछ कार्य किये है, वे सराहनीय हैं और ये इसकी सहायता के द्योतक हैं। प्रमण्डल को अपने कार्यों के करने में अने

कठिनाइयां अनुभव होती हैं —(i) आवेदन-पत्र भेजने वाली कम्पनियां अपनी भावी योजनाओं का पूर्ण विवरण नही भेजती हैं जिससे प्रमण्डल को ऋण प्रदान करने मे कठिनाई होती है। (ii) कुछ कम्पनियों मे भूमि पर स्वामित्व मैनेजिंग एजेन्ट्स का होता है और कारखानों की इमारत पर स्वामित्व कम्पनी का होता है। ऐसी अवस्था मे प्रमण्डल इस प्रकार की सम्पत्ति की आड़ पर ऋण नही दे पाता है। (iii) कभी-कभी कम्पनियां अपने आवेदन-पत्रों के साथ जो योजनाएं भेजती हैं वे अपूर्ण होती हैं क्योंकि ये तान्त्रिक सलाह (Technical Advice) से नही बनाई जाती हैं जिससे न तो उत्पादन-व्यय व सम्भाव लाभ के सम्बन्ध मे और न मशीन व यन्त्रों के मूल्य व इनकी उपलब्धी के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी दी जाती है आदि। यह स्वाभाविक ही है कि जब प्रमण्डल को कम्पनियों के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त नही होगी, तब वह उनके आवेदन-पत्रों पर किस प्रकार तुरन्त ही ऋण स्वीकृत कर सकता है ? अत यह स्पष्ट है कि प्रमण्डल को अपने कार्यों को करने मे अनेक कठिनाइयां एव बाधाओं का सामना करना पड़ता है। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी प्रमण्डल ने प्रशंसनीय कार्य किया है और इसका भविष्य बहुत उज्जवल प्रतीत होता है।

(आ) राज्य औद्योगिक वित्त-प्रमण्डल

(The State Industrial Finance Corporations)

प्राक्कथन —भारतीय औद्योगिक वित्त-प्रमण्डल का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित है। यह केवल सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियां (Public Limited Companies) तथा उन सहकारी समितियों को ऋण देता है जो उत्पत्ति, खनिज व शक्ति-उत्पादन तथा इसके वितरण से सम्बन्धित उद्योगों मे लगी हैं। इस कारण प्रमण्डल के कार्यों की कमी को पूरा करने के लिये राज्यों ने राज्य वित्त-प्रमण्डलों (State Finance Corporations) की स्थापना की माग की ताकि ये सस्थाएं माध्यमिक व छोटे पैमाने के उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकें और देश का एक अगी विकास नही होने पाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु सितम्बर सन् १६५१ मे लोकसभा मे राज्यों को ऐसे प्रमण्डलों को स्थापित करने का अधिकार एक विशेष एक्ट पास करके प्रदान किया। इस तरह राज्य प्रमण्डल अब उन उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकेंगे जो केन्द्रीय प्रमण्डल से सहायता प्राप्त करने के अधिकारी नही हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा पास किया गया एक्ट—स्टेट अर्थ-प्रमण्डल एक्ट १६५१, किसी भी प्रान्त म तभी लागू होगा जबकि इस प्रान्त का नाम भारत सरकार की सूची मे प्रकाशित हो जायगा अर्थात् किसी भी प्रान्त मे एक्ट को कार्यान्वित करने की विधि केन्द्रीय सरकार द्वारा ही तय की जायगी। स्टेट अर्थ-प्रमण्डल एक्ट की बहुत सी धाराएं भारतीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल एक्ट की धाराओं से मिलती-जुलती हैं, परन्तु कुछ बातों मे ये भिन्न भी हैं।

<u>प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-प्रमण्डलों की विशेषताएं</u> —राज्यों मे स्थापित अर्थ-प्रमण्डलों की विशेषताएं इस प्रकार हैं —(i) पूंजी —किसी भी प्रान्तीय प्रमण्डल की पूंजी कम से कम ५० लाख रुपए और अधिक से अधिक २ करोड़ रुपए के बीच मे हो सकती है। किसी प्रान्त के प्रमण्डल मे कितनी पूंजी रहेगी, इसके लिए केन्द्रीय सरकार से आज्ञा लेनी पड़ती है। यह पूंजी प्रान्तीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचीबद्ध बैंक्स,

विनियोग ट्रस्ट, सहकारी बैंक्स, बीमा कम्पनिया आदि अन्य आर्थिक संस्थाओ द्वारा दी जायगी। प्रमण्डल की पूंजी मे किस सस्था का कितना भाग रहेगा, यह केन्द्रीय सरकार की सलाह से ही तय किया जायगा। प्रमण्डल की कुल पू जी का २५% भाग केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से, जनता को निर्गमित किया जा सकता है और इस भाग का हस्तांतरण स्वतन्त्रता से हो सकता है (भारतीय प्रमण्डल मे ऐसी व्यवस्था नही है)। परन्तु शेष ७५% पूंजी का हस्तांतरण उक्त संस्थाओं तक ही सीमित रहेगा। यदि रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य सब सस्थाओ द्वारा अपने-अपने हिस्से के अंश नही खरीदे जा सके हैं, तब प्रांतीय सरकार को इन्हे खरीदने का अधिकार होगा और बाद में इसे इन्हे योग्य सस्थाओ को बेचने का अधिकार होगा। पूंजी व लाभाश की जमानत प्रातीय सरकार लेती है। (ii) जमाएं (Deposits):—राज्य प्रमण्डलों में जनता द्वारा जमा की गई रकम (ये जमाएं ५ वर्ष से कम की अवधि के लिए प्राप्त नहीं की जा सकती है) प्रमण्डल को परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) से अधिक नही हो सकती है। परन्तु केन्द्रीय प्रमण्डल मे जनता की जमा प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) के बराबर तक हो सकती है। (iii) **ऋण की अवधि:**—स्टेट अर्थ-प्रमण्डल मे ऋण अधिक से अधिक २० वर्ष की अवधि तक के लिए दिया जा सकता है और यह संस्था ऋण-पत्र भी अधिक से अधिक इसी अवधि तक के खरीद सकती है या ऐसे पत्रों की गारन्टी दे सकती है, परन्तु केन्द्रीय प्रमण्डल मे अवधि अधिक से अधिक २५ वर्ष तक की है। (iv) **ऋण की रकम:**—स्टेट प्रमण्डल किसी भी कम्पनी को १० लाख रुपये से अधिक ऋण नही दे सकता। परन्तु केन्द्रीय प्रमण्डल किसी भी कम्पनी को अधिक से अधिक १ करोड़ रुपये तक दे सकता है। (v) **अंशो व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना**—केन्द्रीय प्रमण्डल की तरह राज्य प्रमण्डल की कम्पनियो के निर्गमित अंशो तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Underwriting) कर सकता है। (vi) **ऋण की जमानत**—स्टेट प्रमण्डल किसी कम्पनी को सरकारी तथा अन्य मान्य प्रतिभूतियो (Securities), स्वर्ण तथा चल व अचल सम्पत्ति की आड पर ही ऋण दे सकता है। यह अपने निजी अशों की जमानत पर ऋण नही दे सकता है और न यह किसी कम्पनी की प्रतिभूतियो को ही खरीद सकता है। केन्द्रीय प्रमण्डल केवल अचल सम्पत्ति की आड पर ही ऋण दे सकता है। (vii) **प्रमण्डल का प्रबन्ध**—इसका प्रबन्ध एक संचालक सभा (Board of Directors) द्वारा होता है जिसमे १० सदस्य होते हैं। इस बोर्ड में ३ सदस्य प्रातीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, १ सदस्य रिजर्व बैंक तथा १ सदस्य केन्द्रीय प्रमण्डल द्वारा मनोनीत होता है। इनके अतिरिक्त ३ सदस्य अंशधारी आर्थिक संस्थाओं (अनुसूचीबद्ध बैंक्स, सहकारी बैंक्स तथा अन्य संस्थाएं) द्वारा चुने जाते हैं तथा १ सदस्य अंशधारी जनता का प्रतिनिधि होता है। प्रबन्ध-मण्डल में १ प्रबन्ध-संचालक (Managing Director) प्रांतीय सरकार संचालक-सभा की अनुमति से नियुक्ति करती है। प्रत्येक चुने हुये संचालक की अवधि ४ वर्ष होती है। प्रमण्डल की एक कार्यकारिणी-समिति (Executive Committee) भी होती है जिसमें एक प्रबन्ध-संचालक (अध्यक्ष) तथा ३ और सदस्य होते हैं। इन तीन संचालकों में से २ संचालक

मनोनीत सचालको द्वारा चुने जाते है और १ संचालक चुने हुए सचालको द्वारा। सचालक सभा को सलाहकार समितियो की नियुक्ति करने का भी अधिकार है।

राज्य औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल एक्ट के अन्तर्गत पजाब, मध्य प्रदेश तथा उत्तर-प्रदेश आदि राज्यो मे प्रान्तीय वित्त प्रमन्डलो की स्थापना हो चुकी है।

(अ) उत्तर-प्रदेशीय औद्योगिक-वित्त प्रमण्डल

(The Uttar Pradesh Industrial Finance Corporation)

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल की कुछ विशेषताए (Some Characteristics of U. P. Industrial Finance Corporation) —(i) प्रमण्डल की स्थापना—सन् १९५१ मे केन्द्रीय सरकार द्वारा पास किया गया राजकीय वित्त प्रमण्डल एक्ट के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश मे एक अर्थ प्रमण्डल की स्थापना हुई जिसने २१ जनवरी सन् १९५५ से कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रमण्डल का प्रधान कार्यालय कानपुर मे है। (ii) उद्देश्य—इस प्रमण्डल का उद्देश्य राज्य के मध्यम श्रेणी के तथा छोटे-छोटे उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। ये मुख्यत यन्त्रो व मशीनो को खरीदने तथा उद्योगो के नवीनीकरण व आधुनिकीकरण के लिये अर्थ-सहायता प्रदान करते हैं। प्रमण्डल से सहायता केवल वे उद्योग व व्यक्ति प्राप्त कर सकते है जिन्हे भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (केन्द्रीय प्रमण्डल) से सहायता नही मिल सकती है। इस तरह प्रमण्डल से सहायता या तो व्यक्ति या छोटी छोटी सहकारी समितिया किसी उपयोगी कुटीर उद्योग-धधे को चलाने अथवा इसके प्रसार के लिये प्राप्त कर सकती हैं। (iii) पूजी व लाभांश—उत्तर प्रदेशीय अर्थ-प्रमण्डल की अधिकृत पूजी ३ करोड रुपये है जो १००-१०० रुपये के पूर्ण भुगतान (Fully Paid up) वाले तीन लाख अशो मे विभाजित कर दी गई है। आरम्भ म केवल ५० हजार अश ५० लाख रुपये के बेचे गए है और शेष ५० लाख रुपये के ५० हजार अश प्रान्तीय सरकार जब चाहे तब और जिस प्रकार उचित समझे बेच सकेगी। इस प्रमण्डल के वर्तमान ५० हजार अशो का वितरण इस प्रकार है—सरकार १८,००० रिजर्व बैंक ७,५००, अनुसूचीबद्ध बैंक्स १४,०००, सहकारी बैंक्स १,०००, ट्रस्ट तथा अन्य आर्थिक सस्थाए २,५०० तथा व्यक्तिगत व वित्तीय-सस्थाओ के अतिरिक्त अन्य सस्थाए ५,००० (कुल योग ५०,००० अश)। राज्य सरकार ने अशो के मूलधन तथा कम से कम ३½% व्याज की दर (कर-मुक्त) की गारन्टी दी है। (iv) प्रबन्ध—इस प्रमण्डल का प्रबन्ध १० सदस्यो के सचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा सम्पन्न किया जायगा। (v) ऋण—प्रमण्डल सहकारी समितियो को अधिक से अधिक ५ ००० रुपये की तथा सहकारी समितियो को अधिक से अधिक १०,००० रुपये की आर्थिक सहायता मिल सकती है। ऋणो का भुगतान किश्तो मे किया जा सकता है। ऋण की अधिक से अधिक अवधि २० वर्ष है।

[आ] राजस्थान औद्योगिक वित्त प्रमण्डल

(The Rajasthan Industrial Finance Corporation)

राजस्थान औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की मुख्य बातें (Salient Features of

the Rajasthan State Finance Corporation):—ये इस प्रकार हैं—(i) प्रमण्डल की स्थापना:—केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९५१ में बनाये गये एक्ट के अन्तर्गत राजस्थान सरकार ने जनवरी सन् १९५५ में राजस्थान औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की स्थापना की जिसने उसी वर्ष अप्रैल में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। (ii) उद्देश्य:—अन्य राज्यों के प्रमण्डलों की तरह इस प्रमण्डल की भी स्थापना का उद्देश्य राजस्थान में मध्यम श्रेणी के व छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है ताकि देश में इस प्रकार के उद्योगों का समुचित विकास हो सके। (iii) पूंजी:—इस प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी दो करोड़ रुपये है जिसे १००-१०० रु० के २ लाख अंशो में बांटा गया है। आरम्भ में इनमें से केवल १ लाख अंशों को ही निर्गमित किया गया है जिनका वितरण इस प्रकार किया गया है—सरकार ३६००, रिजर्व बैंक २५,०००, अनुसूचीबद्ध बैंक्स, बीमा कम्पनियां, ट्रस्ट तथा सहकारी बैंक्स ४५,००० तथा आर्थिक अन्य संस्थाएं ५००० (कुल योग १ लाख अंश)। प्रमण्डल में इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई है कि व्यक्ति व वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाएं कुल अंशो के २५% से अधिक के अंशधारी नहीं हो सकते हैं। सरकार ने मूलधन तथा कम से कम ३½% ब्याज की दर की गारन्टी की है। (iv) प्रबन्ध:—प्रमण्डल का प्रबन्ध एक १० सदस्यों के संचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा किया जाता है जिसमें १ अध्यक्ष, १ प्रबन्ध संचालक तथा ८ अन्य संचालक हैं। इन अन्य संचालकों में १ रिजर्व बैंक तथा १ भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल का प्रतिनिधि भी सम्मिलित है। (v) ऋण:—प्रमण्डल उन व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों तथा संस्थाओं को वित्त सहायता देगा जो किसी वस्तु का निर्माण, खनिज कार्य, विद्युत-शक्ति का निर्माण व वितरण, वस्तु का संरक्षण आदि करती हैं। ऋण की रकम १०,००० रुपये से १० लाख रुपये तक हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक ऋण की अवधि प्रमण्डल स्वतः ही निश्चित करेगा परन्तु साधारणतया यह अवधि १०–१२ वर्ष से अधिक नहीं होती है। ऋणों पर ब्याज की दर ६½% है, परन्तु निश्चित समय पर ऋण के वापिस हो जाने पर इसमें ½% की छूट दे दी जाती है। ऋण समुचित जमानत के आधार पर दिये जाते हैं। यह अचल सम्पत्ति जैसे भूमि, इमारत, मशीन आदि की आड़ पर ऋण देता है और कच्ची सामग्री व माल (कच्चा व पक्का दोनों) की जमानत पर ऋण नहीं देता है। ऋण देने के बदले में यह ऋणी कम्पनी के संचालक-मण्डल में अपना एक संचालक नियुक्त करता है, कम्पनी के बीमे की मांग करता है, ऋण के भुगतान होने तक लाभांश पर प्रतिबन्ध लगाता है, कम्पनी के हिसाब-किताब की जांच करने का अधिकार आदि प्राप्त करता है।

कुछ अन्य औद्योगिक वित्त प्रमंडल

(Some other Industrial Finance Corporations)

[अ] राष्ट्रीय उद्योग विकास प्रमंडल लिमिटेड

(The National Industrial Development Corporation Ltd.)

राष्ट्रीय उद्योग विकास प्रमण्डल (लिमिटेड) की कुछ मुख्य विशेषताएं (Salient Features of the National Industrial Development Corporation):—ये इस

प्रकार हैं —(i) प्रमण्डल की स्थापना व पूंजी—इसकी स्थापना २० अक्टूबर १९५४ को हुई। यह एक विशुद्ध सरकार संस्था है, जिससे इसे प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी कहा जाता है। इसका रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत १ करोड़ रुपये की पूंजी से हुआ है और यह पूंजी केन्द्रीय सरकार द्वारा दी गई है। पूंजी में वृद्धि करने के हेतु प्रमण्डल को अपने शेयर्स तथा ऋण-पत्र (Debentures) निर्गमित करने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों, बैंक्स व व्यक्तियों से जमा-राशि भी प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता के समय इसे ऋण प्राप्त करने का भी अधिकार दिया गया है। (ii) उद्देश्य —प्रमण्डल का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) तथा निजी क्षेत्र (Private Sector) में सतुलित औद्योगिक विकास करना है। इस तरह प्रमण्डल देश में नये-नये उद्योगों की जाच करेगा और उनकी स्थापना को प्रोत्साहित करेगा। (iii) प्रमण्डल के कार्य—(अ) प्रमण्डल व्यक्तियों फार्मों, कम्पनियों तथा सरकारी उद्योगो की सहायता पूंजी, साख, मशीनरी तथा अन्य अनेक प्रकार की वस्तुओं के रूप में करेगा। (आ) यह कम्पनिया द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की गारन्टी करेगा। (इ) कम्पनियो के शेयर्स व ऋण-पत्रों (Debentures) का अभिगोपन (Under writing) करेगा। (ई) उद्योगों को कुशल व्यक्तियों एव विशेषज्ञों की सेवाए प्रदान करेगा। (उ) देश में औद्योगिक विकास के हेतु यह नये-नये उद्योगो की स्थापना तथा व्यवस्था मे सहायता देगा और आवश्यकता पड़ने पर नई-नई योजनाओं को स्वय भी सचालित कर सकता है। (ऊ) प्रमण्डल व्यापारिक संस्थाओं के साथ साझेदारी (Partnership) भी कर सकता है। (ए) उद्योगों को सहायता देने के हेतु यह कम्पनियों के सचालक-मडल में सलाहकार अथवा सचालक भी नियुक्त कर सकता है। (iv) प्रबन्ध —इस उद्योग विकास-प्रमडल का प्रबन्ध एक सचालक-समिति (Board of Directors) द्वारा किया जाता है जिसमें कम से कम १५ और अधिक से अधिक २५ सचालक हो सकते हैं। प्रमडल के सचालकों में बड़े-बड़े वैज्ञानिक, विशेषज्ञ, उद्योगपति तथा अन्य कुशल व योग्य व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं।

[आ] औद्योगिक साख तथा विनियोग प्रमडल लिमिटेड
(The Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd)

भारतीय औद्योगिक साख तथा विनियोग प्रमण्डल की मुख्य विशेषताए (Salient Features of the Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd)— ये इस प्रकार हैं—(i) प्रमण्डल की स्थापना—इसकी स्थापना ५ जनवरी सन् १९५५ को भारतीय कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत हुई है। इसने अपना कार्य मार्च १९५५ से आरम्भ कर दिया। (ii) उद्देश्य—भारत मे निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास मे सहायता प्रदान करने के हेतु इस प्रमण्डल की स्थापना हुई है। प्रमण्डल नये-नये उद्योगों की स्थापना, पुराने उद्योगों का विस्तार अथवा नवीनीकरण व आधुनिकीकरण करने, निजी क्षेत्र में देशी व विदेशी पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करने, विनियोग बाजार के विस्तार

को प्रोत्साहित करने तथा निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने आदि के लिये स्थापित किया गया है। (iii) प्रमंडल के कार्य—अपने उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु प्रमण्डल इस प्रकार कार्य करेगा—(अ) मध्यकालीन व दीर्घ कालीन ऋण प्रदान करना, (आ) कम्पनियों के अंशों व ऋण-पत्रों (Debentures) का अभिगोपन (Under-writing) करना, (इ) निजी क्षेत्रों से आने वाले ऋणों की गारन्टी देना। इससे निजी क्षेत्रों से ऋण आकर्षित होंगे, (ई) कम्पनियों को तान्त्रिक सलाह (Technical Advice) देना, (उ) निजी क्षेत्रों में व्यवसायों को प्रोत्साहित करना, (ऊ) उद्योगों में विनियोग को प्रोत्साहित करना। इस तरह प्रमंडल समस्त वे कार्य करेगा जिनसे देश में उद्योगों का विकास तथा वर्धन हो सकेगा। (iv) पूंजी—प्रमंडल की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) २५ करोड़ रुपये है। इसे सौ-सौ रुपये के ५ लाख साधारण अंशों (Ordinary Shares) में तथा सौ-सौ रुपये के २० लाख अवर्गीकृत अंशों में विभाजित किया गया है। इस समय तक पूर्ण परिदत्त (Fully Paid-up) १००–१०० रुपये के केवल ५ करोड़ रुपये मूल्य के ५ लाख अंश ही निर्गमित किये गये हैं। इन अंशों का वितरण इस प्रकार किया गया है—बीमा कम्पनियां २ करोड़ रुपये, अमेरिकन वित्त-मंडल तथा अन्य आर्थिक संस्थायें १ करोड़ रुपये तथा भारतीय जनता व अन्य भारतीय संस्थायें १·५० करोड़ रुपये (कुल योग ५ करोड़ रुपये) प्रमण्डल में इस बात की व्यवस्था की गई है कि शेयर्स हस्तान्तरित होकर किसी एक वर्ग के पास एकत्रित नही होने पायें। इसीलिये अंशों के हस्तान्तरण के रजिस्ट्रेशन का अधिकार भारत सरकार ने स्वयं अपने हाथ में रक्खा है। प्रमंडल की पूंजी में वृद्धि करने के हेतु भारत सरकार इसे ७½ करोड़ रुपये के ब्याज रहित अग्रिम (Advances) देगा जिसके भुगतान अग्रिम देने के पन्द्रह वर्ष बाद पन्द्रह किश्तों में भारत सरकार को किया जायगा। जब तक सरकार का रुपया प्रमंडल के पास रहेगा, भारत सरकार को प्रमंडल की संचालक समिति में एक प्रबन्धक नियुक्ति करने का अधिकार होगा। (v) विश्व बैंक से सहायता—इस बैंक ने प्रमण्डल को आवश्यकतानुसार विभिन्न देशों की मुद्रा में समय-समय पर १ करोड़ रुपये की सहायता देना स्वीकार कर लिया है। इस रकम के मूलधन व ब्याज की गारन्टी भारतीय सरकार ने दी है। (vi) सुरक्षित कोष—प्रमडल की स्थापना के पांच वर्ष बाद लाभांश का २५% भाग सुरक्षित कोष में हस्तान्तरित कर दिया जायगा। (vii) प्रमण्डल की हानि तथा विलोपन—यदि प्रमण्डल को हानि हो जाये और इस का दायित्व अदत्त पूंजी (Uncalled Capital) तथा अग्रिम (Advances) की कुल मिलाकर राशि का २०% से अधिक हो जाय, तब भारत सरकार, प्रमंडल तथा विश्व बैंक प्रमंडल की प्रगति के लिए विचार विमर्श करेंगे। परन्तु यदि हानि इतनी अधिक हो जाती है कि प्रमंडल का दायित्व अदत्त पूंजी तथा अग्रिम की कुल मिलाकर राशि का ३०% से अधिक हो जाता है, तब भारत सरकार को यह अधिकार होगा कि वह विश्व बैंक व प्रमडल से विचार विमर्श करने के बाद इसके विलीयकरण के लिये प्रार्थना-पत्र दे दे।

[ई] राष्ट्रीय लघु-उद्योग प्रमन्डल
(The National Small Inbustries Corporation Ltd)

राष्ट्रीय लघु-उद्योग प्रमन्डल की कुछ मुख्य बातें (Salient Features of the National Small Industries Corporation Ltd) ये इस प्रकार हैं—(i) प्रमन्डल की स्थापना व उद्देश्य—भारत सरकार ने सन् १९५५ में छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने तथा इनको प्रोत्साहन देने के हेतु इस प्रमन्डल की स्थापना की। (ii) प्रमन्डल के कार्य—(अ) प्रमन्डल ऐसे उद्योगों को जिनमें विद्युत-शक्ति का उपयोग होता है परन्तु ५० से कम श्रमिक कार्य कर रहे हैं और ऐसे उद्योगों को जिनमें विद्युत शक्ति का उपयोग नहीं होता है परन्तु १०० से कम श्रमिक कार्य कर रहे हैं तथा जिन उद्योगों की विनियोजित पूंजी ५ लाख रुपये से अधिक नहीं है, आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। (आ) प्रमन्डल बड़े-पैमाने के उद्योगों तथा छोटे-छोटे उद्योगों में सम्बन्ध स्थापित करेगा। (इ) यह छोटे छोटे उद्योगों के लिये सरकारी आर्डरों का एक उचित भाग प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। (ई) जिन उद्योगों को सरकारी आर्डर प्राप्त हो जायेंगे उन्हें आर्थिक तथा तान्त्रिक सलाह (Technical Advice) प्रदान करना ताकि ये उद्योग सरकारी आर्डर का माल तैयार कर सकें। (iii) पूंजी—सरकार ने इस प्रमन्डल की स्थापना एक निजी लिमिटेड कम्पनी (Private Limited Company) के रूप में की है इसकी पूंजी १० रुपये हैं जिसे सौ सौ रुपये के दस हजार अंशों में विभाजित किया गया है।

औद्योगिक वित्त व्यवस्था में सुधार के सुझाव

<u>औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के लिये सुझाव</u>—(Suggestions for the Improvement of Industrial Finance)—भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा हाल ही में कितने ही प्रकार के औद्योगिक वित्त प्रमन्डलों का निर्माण तथा उद्योगों को अन्य अनेक प्रकार से सहायता देने की संस्थाओं की स्थापना की जाने पर भी देश में इस समय औद्योगिक वित्त की असन्तोषजनक व्यवस्था है जिसके कारण भारत का समुचित औद्योगिक एवं आर्थिक विकास नहीं हो पा रहा है। देश में इस समय व्यापारिक बैंकों की प्रधानता है जो उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण के स्थान पर केवल अल्पकालीन ऋणों को देना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। जिससे देश के उद्योगों व्यापारिक बैंकों से बहुत कम मात्रा में सहायता प्राप्त होती है। इसलिए भारत में औद्योगिक वित्त व्यवस्था की कठिनाइयों को दूर करने के लिए समय-समय पर कुछ सुझाव दिए गए हैं, जिनमें से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(i) अभिगोपनगृह (Under writing Houses)— भारत में कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों (Debentures) के अभिगोपन (Under-writing) की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। भारतीय बैंकों को यह कार्य करना चाहिए और इस तरह इन्हें नये-नये उद्योगों की स्थापना में सहयोग देना चाहिये तथा वर्तमान उद्योग को अल्पकालीन अर्थ-सहायता प्रदान करनी चाहिए। भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमन्डल तथा राज्य औद्योगिक वित्त प्रमन्डलों को अभिगोपन का कार्य सौंपा गया है, परन्तु इस ओर इन्होंने कम ध्यान दिया

है। अतः न केवल उक्त प्रमन्डलों को यह कार्य शीघ्रता से करना चाहिए वरन् देश में अभिगोपन-गृहों की भी स्थापना होनी चाहिए। (ii) **व्यापारिक बैंकों को जर्मन प्रणाली के आधार पर संगठित करना चाहिए:**—व्यापारिक बैंको को उद्योगों की आवश्यकता-पूर्ति की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। बड़े-बड़े बैंको को जर्मन प्रणाली का अनुकरण करना चाहिए अर्थात् बड़े-बड़े बैंकों का मिल कर एक संघ बना लेना चाहिए (जर्मनी में इसे कनसोरटियम कहते हैं) ताकि इस संघ द्वारा ये कम्पनियों के अंशों व ऋण-पत्रों में एक निश्चित मात्रा तक धन का विनियोग कर सकें और इस तरह देश के उद्योगों को सहायता प्रदान कर सकें। अतः बड़े-बड़े बैंकों को उद्योगों से सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें उचित आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (iii) **व्यक्तिगत जमानत पर ऋण देना चाहिए:**—व्यापारिक बैंकों को व्यक्तिगत साख पर व्यक्तियों व फर्मों को रुपया उधार देना चाहिए (उचित सुरक्षा का ध्यान रखते हुए)। पाश्चात्य देशों में इसी तरह की प्रथा प्रचलित है जिसके कारण वहां के उद्योगों को व्यापारिक बैंकों से बहुत अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है। (iv) **औद्योगिक बैंकों की स्थापना होनी चाहिए**—चूंकि व्यापारिक बैंक्स उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं इसलिए देश में औद्योगिक बैंक्स की अधिक से अधिक स्थापना होनी चाहिए। भूतकाल में ऐसे बैंकों की असफलता [redacted] जो कुछ कारण थे, वे अब नहीं रहे हैं। इसके अतिरिक्त सरकार को इस प्रकार की संस्थाओं को बहुत सहायता देनी चाहिए ताकि औद्योगिक बैंक्स ज्यादा सेज्यादा संख्या में खुल सकें। यद्यपि हाल ही में भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमन्डल (Industrial Finance Corporation) की स्थापना हुई है जिसने दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति करने के साधन के अभाव को बहुत कुछ दूर कर दिया है, परन्तु अकेली एक संस्था से उद्योगों की आर्थिक आवश्यकता (दीर्घकालीन) की पूर्ति एक सीमा तक ही हो सकती है। (v) **औद्योगिक बन्धक बैंक्स की स्थापना होनी चाहिए**—जिस प्रकार कृषि में कृषक की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति भूमि बन्धक बैंकों के द्वारा होती है, इसी प्रकार उद्योग में उद्योगपतियों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति औद्योगिक बंधक बैंकों से हो सकती है जो उद्योग की अचल सम्पत्ति को बन्धक (*Mortgage*) रख कर रुपया उधार देंगे। (vi) **विनियोग ट्रस्टों की स्थापना होनी चाहिए:**—देश में विनियोग ट्रस्टों की स्थापना से जनता में धन के विनियोग की प्रवृत्ति प्रोत्साहित होगी। यह अवश्य है कि इस प्रकार की संस्थाओं का संचालन कुशल व ईमानदार व्यक्तियों के हाथ में ही होना चाहिए वरना अकुशल व बेईमानीपूर्ण संस्थाओं के टूटने पर देश में धन की बचत व इसका विनियोग करने वाले व्यक्तियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा और यह देश की आर्थिक प्रगति के लिए बहुत घातक सिद्ध होगा। (vii) **औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल के कार्य में प्रसार:**—अब तो केन्द्र में भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल तथा राज्यों में राज्य औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डलों की स्थापना हो चुकी है। इन संस्थाओं के कार्यों में बहुत प्रसार किया जाना चाहिए ताकि देश के उद्योगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत कुछ इन्हीं के द्वारा की जा सके। (viii) **सर्राफ कमेटी की महत्वपूर्ण सिफारिशों को कार्यान्वित करना चाहिए**—सन १९५३

मे रिजर्व बैंक ने श्री ए० डी० सर्राफ की अध्यक्षता म एक कमेटी नियुक्त की थी । इस कमेटी को निजी औद्योगिक क्षेत्र (Private Industrial Sector) के लिए वित्तीय साधनो की वृद्धि के सुझाव प्रस्तुत करने थ । इस कमेटी की रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित हुई थी जिसमे इसे निजी औद्योगिक क्षेत्र म अर्थ पूर्ति के साधनो की वृद्धि के लिये अनेक सुझाव दिये । इसमें से कुछ मुख्य मुख्य इस प्रकार है—(अ) व्यापारिक बैंकों को बड़ी बड़ी व कुशल कम्पनियों के अशो व ऋण पत्रो मे अपनी राशि का अधिकाधिक विनियोग करना चाहिये । इन्हे इस प्रकार के पत्रो की साख पर उच्च कोटि के ग्राहको को अग्रिम (Advances) देना चाहिए । (आ) व्यापारिक बैंको को केन्द्र अथवा प्रान्त मे स्थापित किये गए प्रमण्डलो के अशो ऋण पत्रो (Debentures) व बॉन्डों (Bonds) मे अपने धन का विनियोग करना चाहिये ताकि एक तरफ तो इन बैंको के विनियोग की तरलता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े और दूसरी ओर उक्त वित्तीय संस्थाओं को अपने काय सचालन मे पूजी का अभाव अनुभव नहीं होने पाये । (इ) जमाकर्ताओं के हितो की रक्षा के हेतु जमा बीमा प्रमण्डल (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना होनी चाहिये । (ई) देश म बैंकिंग तथा बिल-बाजार का विकास किया जाना चाहिये । जहा तक हो सके अविकसित क्षेत्रो म अथवा छोटे छोटे नगरो एव कस्बो म बैंको की शाखाए स्थापित की जानी चाहियें । बड़े-बड़े बैंको को छोटे छोटे गावो मे बैंकिंग सुविधाय प्रदान करने के हेतु चल-बैंक्स (Mobil Banks) की स्थापन करनी चाहिये । बैंकिंग के विकास के लिए राशि हस्तान्तरण की सुविधाए बहुत कम मूल्य पर दी जानी चाहियें ।

पचवर्षीय योजनाओ मे औद्योगिक वित्त की व्यवस्था

(Five Year Plans and the Industrial Finance)

प्रथम व द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे औद्योगिक वित्त की व्यवस्था के लिये मुख्य मुख्य काय इस प्रकार किये गये हैं—(i) प्रथम योजना काल मे तीन महत्वपूर्ण प्रमण्डलो की स्थापना हुई है—राज्य वित्त प्रमडलों (State Finance Corporations) की स्थापना, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमडल (National Industrial Development Corporation) की स्थापना, औद्योगिक साख तथा विनियोग प्रमडल (Industrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना । (ii) प्रथम योजना काल मे भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमडल (Indian Industrial Finance Corporation) के सचालन मे सुधार तथा इसके कार्यों मे बहुत प्रसार हुआ है । (iii) प्रथम योजना काल म औद्योगिक विकास के लिये सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) मे १७८ करोड़ रुपये के व्यय करने की योजना बनाई गई थी । (iv) इस समय द्वितीय पचवर्षीय योजना काल म औद्योगिक विकास के लिए ८९१ करोड रुपये व्यय करने की योजना बनाई गई है ।

परीक्षा-प्रश्न

Rajputana University B A.

1 Write a short essay on 'Industrial Finance in India.' (1957)

Rajputana University, B. Com.

1. Write a short note on—International Finance Corporation. (1959)

Vikram University, B. Com.

1. Write a short note on—International Finance Corporation. (1959)

Allahabad University, B. A.

१. उद्योग-धन्धों के लिये पूंजी एकत्रित करने में क्या मुख्य कठिनाइयां होती हैं, वर्णन कीजिये । भारत में इन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया गया है, समझाइये । (१६५७)

Allahabad University, B. Com.

1. Discuss the broad features of the Commercial Banking in India and show how various agencies for industrial finance are integrated in the country. (1956)

Banaras University, B Com.

1. Write a note on—'New institutions for Industrial Finance in India since 1948.' (1949)

अध्याय ३

भारत में विदेशी पूंजी

(Foreign Capital in India)

संक्षिप्त इतिहास (Short History)

भारत में विदेशी पूंजी का संक्षिप्त इतिहास—अब से लगभग ४५० वर्ष पहले भारत में पुर्तगालियों (Portugese) ने सर्वप्रथम विदेशी पूंजी का विनियोजन किया था—उन्होंने अपनी पूंजी से कालीकट में एक फैक्ट्री स्थापित की । तत्पश्चात् फ्रेन्च, ब्रिटिश तथा डच्च कम्पनियों ने अपनी पूंजी भारत में लगाई । समय-समय पर भारत में लगाई गई पूंजी को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—प्रथम व्यापारिक पूंजी—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत मे विनियोजित विदेशी पूंजी मूलतः व्यापारिक पूंजी थी, अर्थात् ब्रिटिश व्यापारियों ने भारतीय उद्योगों को इस कारण आर्थिक सहायता दी ताकि उन उद्योगों मे उत्पादित माल को वे यूरोप में ले जाकर बेच सकें और लाभ कमा सकें । इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् इस नीति मे परिवर्तन हो गया और अब ब्रिटिश व्यापारियों ने भारत से कच्चे-माल का निर्यात और इंगलैंड से पक्के माल का आयात आरम्भ कर दिया । तब से आज तक ब्रिटिश व्यापारियों ने अपनी पूंजी का एक बड़ा भाग इन्हीं व्यापारिक कार्यों में लगाया है । द्वितीय, औद्योगिक पूंजी—ब्रिटिश सरकार की अहस्तक्षेप की नीति (Laissez Faire)

के कारण अठारहवीं शताब्दी के अन्त से भारत में, शनैः शनैः, काफी बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी का विनियोग देश के उद्योग-धन्धों की स्थापना में हुआ है। इस प्रकार के विनियोजन को कई बातों ने बहुत प्रोत्साहित किया है—देश में शान्ति व सुरक्षा, कच्ची सामग्री को ले जाने और विदेशों से पक्के माल को लाने में जो यातायात व्यय होता है उसमें बचत यदि प्रमुख उद्योग भारत में ही स्थापित किये जायें, देश में आर्थिक विकास की भारी सम्भावना और पूंजी के विनियोग के नये नये अवसर (रेल, सड़क, नहर आदि में पूंजी का विनियोग), भारतीय पूंजी का शर्मीलापन तथा देशवासियों में औद्योगिक साहस का अभाव आदि। इस प्रकार की पूंजी का देश में उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत आयात हुआ और बीसवीं शताब्दी में भी आज तक इस पूंजी की आयात हो रही है। **तृतीय ऋण पूंजी**—देश में औद्योगिक पूंजी के साथ ही साथ थोड़ी बहुत मात्रा में ऋण पूंजी की भी आयात हुई है। इस प्रकार की पूंजी का महत्व हाल ही में कुछ वर्षों से बढ़ा है। ऋण पूंजी वह पूंजी है जो भारत में केवल ब्याज कमाने के लालच से आती है। विदेशी ऋण-दाता का स्वार्थ केवल अपना मूलधन तथा इस पर ब्याज कमाने तक सीमित रहा है। आज भारत में ऋण पूंजी की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम है।

विदेशी पूंजी के लाभ—दोष

भारत में विदेशी पूंजी की आवश्यकता एवं लाभ—भारत में विदेशी पूंजी का महत्व अनेक कारणों से बताया जाता है, जिनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(i) **देश का आर्थिक विकास**—इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता देश का आर्थिक विकास है। दुर्भाग्य से हमारे पास इस काम के लिये पर्याप्त पूंजी नहीं है। यही कारण है कि यद्यपि प्रकृति की भेंटों में देश में बाहुल्यता है, परन्तु पूंजी के अभाव में देश में इनका यथेष्ठ शोषण नहीं हो सका है और देशवासी प्रचुरता के बीच निर्धन हैं। देश के औद्योगीकरण एवं आर्थिक नियोजन (Economic Planning) की सफलता के लिये हमें काफी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता है। देश में पूंजी-निर्माण का कार्य भरसक प्रयत्न करने पर भी आवश्यक गति से नहीं हो रहा है। फलतः उत्पादन के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए हम आन्तरिक व बाहरी दोनों सूत्रों से पूंजी एकत्रित करनी चाहिये और आज हम ऐसा कर भी रहे हैं। अतः देश में पड़े बेकार साधनों के अधिकतम उपयोग तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए हमें विदेशी पूंजी की आयात को अधिकाधिक प्रोत्साहित करना चाहिए। अमेरिका, जापान, रूस आदि प्रगतिशील देशों ने भी प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए विदेशी पूंजी का ही उपयोग किया है। (ii) **व्यवसायिक जोखिम**—औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यवसायों में जोखिम बहुत होती है तथा व्यवसायों की स्थापना में प्रारम्भिक खर्चे बहुत होते हैं जिससे आरम्भ में हानि की बहुत सम्भावना रहती है। विदेशी पूंजी के विनियोग से यह सम्भव रहता है कि व्यवसायों की प्रारम्भिक जोखिम तो विदेशी उठायें और बाद में व्यवसायों के स्थापित हो जाने पर इन्हें देशवासियों द्वारा प्राप्त कर लिये जायें। (iii) **व्यापारिक**

ज्ञान व प्रबंध-कला की आयात—विदेशी पूंजी की आयात से व्यापारिक ज्ञान व प्रबन्ध-कला की आयात भी साथ ही साथ हो जाती है। इससे देश में उत्पादन-क्षमता में बहुत वृद्धि हो जाती है। (iv) प्रतियोगिता का वातावरण—विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के हेतु स्वदेश के उत्पादन की नई-नई, रीतियां अपनानी पड़ती हैं तथा व्यवसाय में अनेक प्रकार के सुधार करने पड़ते हैं। अन्ततः देशवासियों को इस प्रतियोगिता से लाभ पहुँचता है। (v) देश में सम्पत्ति का सृजन—कभी-कभी विदेशी पूंजी देश में ऐसी सम्पत्ति का सृजन कर देती है कि मूलधन व ब्याज को दे देने के बाद भी देश में सदा लाभ देने वाली काफी सम्पत्ति बच रहती है, जैसे—भारतीय रेल, नहरें आदि। अतः यदि विदेशी पूंजी का उत्पादक उपयोग किया गया है तब इसका देश की समृद्धि के लिए बहुत महत्व होता है। (vi) पूंजीगत वस्तुओं की आयात में सहायता—भारत में वर्तमान दशाओं में हमें विदेशों से काफी बड़ी मात्रा में मशीनें, विशेषज्ञ, कच्ची सामग्री तथा कभी-कभी भोज्य सामग्री मंगानी पड़ रही है। हमारे अधिकांश निर्यात बेलोच हैं जिसके समय-समय पर भुगतान का सन्तुलन देश के प्रायः प्रतिकूल रहता है और कभी-कभी विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की कठिनाइयों के कारण हम उक्त पूंजीगत सामान (Capital Goods) विदेशों से नहीं मंगाने पाते हैं। कठिनाई का हल विदेशी पूंजी की आयात से हो सकता है और वास्तव में आज ऐसा ही बहुत कुछ हो रहा है।

भारत में विदेशी पूंजी की हानियाँ—विदेशी पूंजी से देश को अनेक हानियां भी होती हैं और हो भी सकती हैं। इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं–(i) झण्डा व्यापार का अनुगमन करता है (Flag follows the Trade):—विदेशी पूंजी के विरोधियों का मत है कि विदेशी पूंजी देश में विदेशियों के आर्थिक अधिकारों को जन्म देती है और आर्थिक अधिकार राजनैतिक आधिपत्य को जन्म देता है। इस तरह विदेशी पूंजी से यह शंका रहती है कि यह देश की आर्थिक व राजनैतिक स्वतन्त्रता को संकट में डाल सकती है। विदेशी पूंजीपति व्यापार करते-करते देश के राजनैतिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने लगते हैं और कभी-कभी देश के वैधानिक विकास में भी रोड़ा अटकाने लगते हैं। एशिया में लगभग समस्त राष्ट्रों में ऐसा ही हुआ है। इसीलिए आलोचकों ने कहा है कि विदेशी पूंजी का प्रमुख राजनैतिक दोष यह है कि "झण्डा व्यापार के पीछे-पीछे चलता है।" (ii) देश के साधनों का विदेशी हित में शोषण:—विदेशी पूंजी से कभी-कभी देश के प्राकृतिक साधनों का शोषण विदेशियों के हित में होता है। इसके अतिरिक्त देश को विदेशी पूंजी पर ब्याज व लाभांश देना पड़ता है। एक अनुमान के अनुसार भारत को प्रतिवर्ष लगभग ३६ करोड़ रुपए ब्याज व लाभांश के रूप में विदेशी पूंजी के प्रयोग पर देने पड़ते हैं जिससे देश में सम्पत्ति का बहुत ह्रास होता है। परन्तु कुछ व्यक्तियों का मत है कि उक्त रकम के विदेशों को चले जाने पर भी भारतवासियों को मजदूरी व रोजगार के रूप में जो लाभ प्राप्त होते हैं, वे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। (iii) भारतीयों का व्यवसायिक शिक्षण.—विदेशी पूंजीपतियों ने अपनी भारतीय मिलों व कल-कारखानों में बहुत ही भेद-भावपूर्ण व पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया है। इन्होंने उच्च पदों पर

यूरोपियन्स तथा निम्न व साधारण पदो पर भारतीयो को नौकर रक्खा जिससे इन्होंने भारतीयो को शिक्षण व अनुभव प्राप्त करने से वंचित रक्खा है। यह नीति भारत के लिए बहुत ही अहितकर सिद्ध हुई है। केन्द्रीय सरकार ने सन् १६५२ मे एक जांच कराई जिससे पता चला कि उस समय भारत मे १२५७ विदेशी फर्में थी जिनमें एक हजार व इससे अधिक वेतन पाने वाले भारतीयों की संख्या २२५८ थी जबकि इसी श्रेणी के विदेशी कर्मचारियों की संख्या ६६६४ थी। इसी तरह इन्होंने दिन प्रति दिन के व्यवहार मे भी भारतीय व्यापारियों की तुलना म विदेशी व्यापारियों के साथ सदा रियायतें की हैं। अत विदेशी पूंजी से देशवासियों की स्थिति हीन हो जाती है। (iv) व्यवसायों पर विदेशी नियन्त्रण—जब किसी व्यवसाय में विदेशी पूंजी लगी होती है, तब इस पर नियन्त्रण भी विदेशियों का ही होता है। सुरक्षा व आधार उद्योगो (Basic Industries) मे यह स्थिति देश को संकट में कभी भी डाल सकती है तथा इससे देश की स्वतन्त्रता मे कभी भी बाधा पड सकती है। (v) देश मे पूंजी का निर्माण—हमारे देश मे विदेशी पूंजी की आयात बनी रहने के कारण, देश म पूंजी का निर्माण पर्याप्त गति से नहीं हो सका जिससे देश के आर्थिक विकास की काफी क्षति हुई है।

निष्कर्ष—विदेशी पूंजी के उपरोक्त दोष बहुत कुछ विदेशी पूंजी के न होकर ये. विदेशी नियन्त्रण के हैं। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी विदेशी पूंजी की आलोचना मे कुछ सत्यता प्रतीत होती है। परन्तु इससे यह समझ लेना बहुत बडी भूल होगी कि विदेशी पूंजी प्रत्येक दशा म बुरी ही है। यदि विदेशी पूंजी की आयात के साथ विदेशी प्रबन्ध व नियन्त्रण नहीं आये, तब समुचित नियन्त्रण द्वारा विदेशी पूंजी के उपयोग से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है और देश के आर्थिक विकास मे इससे बहुत सहायता ली जा सकती है। अत सबसे अधिक दोष औद्योगिक पूंजी की आयात में है और आजकल भारत में इसी की प्रधानता भी है। यह स्पष्ट है कि हमे इस प्रकार की विदेशी पूंजी पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये। परन्तु देश मे ऋण पूंजी की आयात को प्रोत्साहित करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार की पूंजी मे किसी प्रकार का भय नहीं रहता है।

भारत सरकार की नीति

भारत सरकार की विदेशी पूंजी सम्बन्धी वर्तमान नीति.—भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व सरकार ने विदेशी पूंजी के दोषो की गम्भीरता पर कभी भी ध्यानपूर्वक विचार नहीं किया वरन् उसने सदा विदेशी पूंजीपतियो को अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की। यद्यपि समय समय पर विद्वानो ने तथा कुछ समितियों (सन् १६२५ की विदेशी पूंजी समिति तथा नेशनल प्लानिंग कमेटी आदि) ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया, परन्तु सरकार ने कभी भी उनकी बातो को नहीं माना और इस ओर पूर्णतया तटस्थ रही जिससे देश को राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रो मे बहुत हानि हुई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने विदेशी पूंजी की समस्या पर विचार किया और ८ अप्रैल सन् १६४८ को औद्योगिक नीति प्रकथन (Industrial Policy

Statement) में सरकार ने अपनी विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति की भी घोषणा करदी। सरकार ने इस बात को स्वीकार किया कि देश में भारतीय पूंजी के साथ ही साथ विदेशी पूंजी की भी आवश्यकता है परन्तु उसने विदेशी पूंजी से सम्बन्धित कुछ शर्तों को भी स्पष्ट कर दिया। कुछ मुख्य शर्तें इस प्रकार हैं—(i) विदेशी पूंजीपतियों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार ही कार्य करना पड़ेगा। भारत सरकार विदेशी उद्योगों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी जो भारतीय उद्योगों पर लागू नहीं होगे। सरकार अपनी औद्योगिक नीति ऐसी बनायेगी कि परस्पर लाभ की दृष्टि से भारत में विदेशी पूंजी की ओर अधिक विनियोग हो सके अतः सरकार देशी-विदेशी पूंजी में कोई भेद-भाव नहीं करेगी और दोनों के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करेगी। (ii) विदेशी सामान्य नियमों का पालन करते हुये लाभ कमा सकते हैं और अपना लाभ व मूलधन भारत से निकाल भी सकते है। रुपया भेजने सम्बन्धी जो सुविधाएं पहले थीं, वे आगे भी रहेंगी। (iii) विदेशी कर्मचारी उन पदों पर रक्खे जा सकते हैं जिनके लिये उपयुक्त व योग्य भारतीय कर्मचारी उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु प्रभुत्व का बहुमत व नियन्त्रण भारतीयों के ही हाथ में रहेगा तथा विदेशी कम्पनियों को भारतीयों के शिक्षण की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी। (iv) जब कभी विदेशी कम्पनियों को सरकारी अधिकार में लिया जायगा तब उचित आधार पर क्षति-पूर्ति दी जायगी। (v) जब तक विदेशी कम्पनियां भारत की औद्योगिक नीति के अनुकूल, रचनात्मक तथा सहयोगी कार्य करती रहेंगी, तब तक भारतीय सरकार उन्हें किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायेगी। भारत की विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति का समय-समय पर स्पष्टीकरण किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि भारत सरकार ऐसी विदेशी पूंजी का स्वागत करेगी जिससे राजनैतिक शर्तें जुड़ी हुई नहीं हैं परन्तु जहां पर विदेशी पूंजी लगी हुई है, वहां पर स्वामित्व व नियन्त्रण में भारतीयों का बहुमत होगा तथा भारतीयों की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था की जायगी।

विदेशी पूंजी की वर्तमान स्थिति

भारत में विदेशी पूंजी की वर्तमान स्थिति:—प्रथम पंचवर्षीय योजना:—भारत को प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में लगभग ३०६ करोड़ रुपये की विदेशी पूंजी मिली है। इसमें विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त राशि भी सम्मिलित है। इस पूंजी का प्रमुख भाग अमेरिका से प्राप्त हुआ है। इस देश से २३८ करोड़ रुपये की पूंजी मिली है जिसमें से १२६·६० करोड़ रुपये का ऋण और शेष सहायता के रूप में प्राप्त हुआ है। सन् १९५५-५६ के अन्त तक इस कुल सहायता में से २०४ करोड़ रुपये तो व्यय किये जा चुके हैं और शेष रकम को दूसरी पंचवर्षीय योजना में व्यय किया जायेगा। विभिन्न देशों से प्राप्त राशि का ब्यौरा इस प्रकार है:—अमेरिका २९·०४ करोड़ डालर आस्ट्रेलिया ९६ लाख पौंड, कनाडा ७·०७ करोड़ डालर, न्यूजीलैंड १६·४० लाख पौंड, फोर्ड फाउनडेशन ८० लाख डालर, नार्वे १ करोड़ क्रोनर तथा विश्व बैंक ६·६० करोड़ डालर। (ii) द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना में यह आशा की गई है कि योजना काल के अन्त तक ८०० करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता विदेशों से प्राप्त हो

जायेगी (लगभग १६० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष)। इसके अतिरिक्त इस योजना में ४०० करोड रुपये का घाटा भी दिखाया गया है। इस घाटे की पूर्ति भी विदेशी ऋण से होने की आशा है। अब तो अमेरिका, रूस व ब्रिटेन के अतिरिक्त फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, स्वीटजरलंड, जापान तथा चैकोस्लोवेकिया आदि देशों से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होने लगी है। भारत को न केवल मुद्रा-कोष व विश्व बैंक से काफी बडी मात्रा में ऋण मिल रहा है बल्कि अमेरिका के आयात निर्यात बैंक (Import Export Bank) से भी काफी ऋण मिल रहा है। विदेशों की व्यक्तिगत फर्में भी भारतीय उद्योगों में साझेदारी के आधार पर पूंजी लगारही हैं जिससे देश में अनेक उद्योगों का विस्तार हुआ है।

हमारे देश में विदेशी पूंजी के उपयोग के सम्बन्ध में काफी वाद विवाद रहा है। एक ओर आचार्य विनोबा जी और उनके साथी हैं जो देश के स्वावलम्बन के पक्ष में हैं और दूसरी ओर साम्यवादी विचारक हैं जो असाम्यवादी (Non-Communistic) देशों की हमारे देश में बढती हुई पूंजी को शंका की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु सरकार ने देश में आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूंजी के सहयोग को अनिवार्य माना है और इसे बहुत प्रोत्साहित भी किया है। यद्यपि पिछले दिनों देश की राष्ट्रीयकरण की नीति ने विदेशी पूंजीपतियों को सशंक कर दिया, परन्तु सरकार द्वारा उन्हें अनेक प्रकार के आश्वासन दिये जाने के कारण अब फिर विदेशी पूंजी काफी मात्रा में भारत में आकर्षित हो रही है। स्वयं सरकार ने अनेक उद्योग फ्रांस, स्वीटजरलंड, रूस, ब्रिटेन व अमेरिका के सहयोग से आरम्भ किये हैं। यह सच है कि जितनी अधिक मात्रा में विदेशी पूंजी भारत में आकर लगेगी, उतना ही उनका पूर्ण राष्ट्रीयकरण कठिन हो जायेगा। परन्तु औद्योगिक विकास के ऊंचे लक्ष्य का मानदंड विदेशी पूंजी के उपयोग व सहयोग को अनिवार्य एवं आवश्यक बना रहा है। विद्वानों का मत है कि द्वितीय योजना काल में हमें जितनी विदेशी सहायता मिलने की आशा है, वह नहीं मिल सकेगी। फलतः हम विदेशी सहायता एवं अनुदान पर निर्भर नहीं रहना चाहिये वरन् इस ओर हम आत्म-निर्भर बनना चाहिये।

परिशिष्ट १

उत्तर कैसे लिखें ?

(How to answer a question ?)

प्राक्कथन—यह प्रतिदिन का अनुभव है कि जब विद्यार्थी अर्थशास्त्र की परिभाषा देकर परीक्षा भवन से बाहर निकलता है और अपने सब साथियों से बात-चीत करके, जब वह किसी प्रश्न-पत्र में प्राप्त हो सकने वाले नम्बरों का जोड़ लगाता है, तब प्रायः उसका यह अनुमान बहुत ऊँचा हुआ करता है। कभी-कभी यह देखने में आता है, कि एक परिश्रमी छात्र यद्यपि प्रथम श्रेणी के नम्बर प्राप्त करने की आशा करता है, परन्तु जब वास्तव में नम्बर आते हैं, तब पता चलता है कि या तो उसके तृतीय श्रेणी के नम्बर आये हैं, या वह उस प्रश्न-पत्र में फेल है। इसके विपरीत कभी-कभी एक सामान्यतः असावधान दिखाई देने वाला छात्र परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त कर लेता है। ऐसा क्यों होता है ? इसका एकमात्र कारण यह है कि उक्त परिश्रमी विद्यार्थी प्रश्नोत्तर लिखने की कला से अनभिज्ञ है जबकि उक्त द्वितीय श्रेणी का विद्यार्थी इस कला से कम-अधिक परिचित है। इसलिये नीचे हम प्रश्नोत्तर लिखने की कला के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख कर रहे हैं:—

(१) प्रश्न-पत्र का पठन:—परीक्षा में प्रश्न-पत्र के प्राप्त होते ही इसे सावधानी से धीरे-धीरे पढ़ना आरम्भ करना चाहिये। एक बार प्रश्न-पत्र को पढ़ने के बाद दुबारा इसे धीरे-धीरे व समझ-समझ कर पढ़ना चाहिये; और जो प्रश्न अच्छी तरह याद हैं, उन पर चिन्ह लगाना चाहिये। तदुपरान्त प्रश्न-पत्र में लिखे नोट को पुनः पढ़ना चाहिये और जितने प्रश्नों के उत्तर लिखने का आदेश दिया गया है, चिन्हित प्रश्नों में से उतने ही प्रश्न छांट लेने चाहियें।

(२) प्रश्नों का चुनाव:—अर्थशास्त्र में प्रश्न प्रायः दो प्रकार के होते हैं—प्रथम Reflective तथा द्वितीय वर्णात्मक (Descriptive)। प्रथम प्रकार के प्रश्नों में प्रायः किसी अर्थशास्त्री द्वारा कहा गया या लिखा गया वाक्य होता है और विद्यार्थियों को यह आदेश होता है कि वे उस उद्धरण Quotation को समझायें। उदाहरण के लिये—"अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है इस कथन को पूर्णतया समझाइए। प्रायः Reflective प्रश्न वे होते हैं जिनमें किसी परिभाषा अथवा किसी सिद्धान्त की व्याख्या कराई जाती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर अक्सर ऐसे विद्यार्थी लिखते हैं जिनकी विषय की तैयारी अच्छी है। यह सच है कि ऐसे प्रश्नों के उत्तर में न केवल अंक अच्छे मिलते हैं वरन् उत्तर में लिखना भी कम पड़ता है। परन्तु द्वितीय प्रकार के प्रश्नों में बहुत लिखना पड़ता है और जब तक विषय की बहुत अच्छी विवेचना नहीं की जाय, उच्च-स्तर के अंक नहीं मिल पाते हैं किन्तु इनमें उत्तीर्णांक (Pass Marks) तो प्रायः मिल ही जाते हैं। जबकि

प्रथम वर्ग के प्रश्नो के उत्तर म तनिक सी गलती हो जाने पर शून्य (Zero) तक दिया जाता है द्वितीय वर्ग के प्रश्नो के उत्तरो म शून्य की नौबत सम्भव है कभी भी नहीं आती है जब तक कि प्रश्न मूलत गलत ही नहीं समझा गया हो। इससे यह स्पष्ट है कि विद्यार्थियो को दोनों ही प्रकार के प्रश्नो को चुनना चाहिये। यह भी स्मरण रहे कि विद्यार्थियो को नोटस (Short Notes) वाला प्रश्न भी अवश्य लिखना चाहिये क्योंकि यद्यपि इस प्रकार के प्रश्न मे कुछ अधिक लिखना पडता है, परन्तु अंक अपेक्षाकृत अधिक मिल जाते हैं।

(३) समय का उचित विभाजन —यूनिवर्सिटियों मे परीक्षा का समय तीन घण्टे का होता है और प्राय १० म से ५ प्रश्नों के उत्तर लिखने होते हैं। प्रश्न को प्रश्न पत्र को दो तीन बार धीरे धीरे सावधानी से तथा समझ कर पढ़ना चाहिए जिसमें स्वाभाविक ही ५–१० मिनट लग जायेंगे। आपको प्रश्नो को दुहराने के लिये भी १०–१५ मिनट रखने चाहिये। इस तरह पाच प्रश्नो के उत्तर लिखने के लिये लगभग ढाई या पौने तीन घण्टे बचते हैं। अक्सर प्रथम प्रश्न के लिखने में ४०–४५ मिनट लग जाते हैं क्योंकि सबसे पहले उसी प्रश्न का उत्तर लिखा जाता है जो सबसे अधिक याद होता है। इस तरह चार प्रश्नो के उत्तर लिखने के लिये लगभग २ घण्टे बच रहते हैं। इस स्थिति मे इनम से प्रत्येक प्रश्न के उत्तर के लिखने म आध घण्टे से अधिक नही लगना चाहिये। अत परीक्षा म अपने समय का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए कि नियत समय में पाचो प्रश्नो के उत्तर लिख जा सकें। यहा यह बात स्मरण रहे कि परीक्षा म पाचो प्रश्नो के उत्तर ही लिखे जाने चाहियें क्योंकि पाच प्रश्नो पर, यद्यपि ये बहुत अच्छे भी नहीं लिखे गये हैं, उन दो या तीन प्रश्नो की तुलना में जो बहुत अच्छे लिखे गय हैं अक्सर अधिक नम्बर प्राप्त हो जाते हैं।

(४) उत्तर का आकार (Size) —प्राय विद्यार्थी यह पूछा करते हैं कि उत्तर कितने पृष्ठो म होना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर अशत प्रश्न पर और अंशत लिखन शैली पर निर्भर रहता है क्योंकि सभी प्रश्नो के लिये कोई समान आकार नही रक्खा जा सकता है। प्रश्नोत्तर के पृष्ठो की सख्या इसलिये भी ठीक नही बतलाई जा सकती क्योंकि कुछ विद्यार्थी बहुत बडे-बडे अक्षर लिखते हैं तब कुछ विद्यार्थी बहुत छोटे छोटे अक्षर लिखते हैं तथा अन्य कुछ विद्यार्थी शब्दो के बीच म बहुत अधिक स्थान छोडते हैं। यह स्पष्ट है कि किसी उत्तर का आकार मूलत प्रश्न के स्वभाव पर और अशत विद्यार्थी के लेख तथा लेखन कला पर निर्भर रहता है। यह भी स्मरण रहे कि सब प्रश्नो के उत्तर समान आकार के नहीं होते हैं—यदि कुछ प्रश्नो के उत्तर ४ ५ पृष्ठों म लिखे जा सकते हैं तब कुछ अन्य प्रश्नो के उत्तर ८ १० या इससे भी अधिक पृष्ठो म लिखे जा सकते हैं परन्तु साधारणत अन्य बातें ठीक-ठीक रहने पर अर्थात् अक्षरो की बनावट न बहुत बडी और न बहुत छोटी रहने पर अथवा शब्दो के बीच म रिक्त स्थान भी साधारण रहने पर किसी प्रश्न का उत्तर ७ या ८ पृष्ठो से अधिक नही लिखा जाना चाहिये। सक्षिप्त टिप्पणी के लिए २½ या तीन पृष्ठ ही पर्याप्त होते हैं। विद्या-

र्थियों का यह विचार बिल्कुल गलत है कि परीक्षक प्रायः पृष्ठ गिनकर नम्बर देते हैं। परीक्षक अपने कार्य में बहुत व्यस्त रहते हैं, इसलिये वे ठीक-ठीक आकार के उत्तर ही अधिक पसन्द किया करते हैं।

(५) उत्तर लिखने का ढंग:—प्रश्नों का उत्तर एक निबन्ध के रूप में लिखा जाना चाहिये। उत्तर को प्रायः तीन भागों में बांटा जा सकता है—(i) भूमिका (Introduction), (ii) मुख्यांश (Mainbody) तथा (iii) निष्कर्ष (Conclusion)। (i) भूमिका के आरम्भ में 'भूमिका' या 'परिचय' एक या दो पैरों में लिखा जाना चाहिये भूमिका को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से लिखना चाहिये। किसी अर्थशास्त्री अथवा लेखक के कथन के उद्धरण (Quotation) से भूमिका प्रारम्भ की जा सकती है। यह स्मरण रहे कि यदि प्रश्न किसी उद्धरण (Quotation) के रूप में है, तब उसका आरम्भ या अन्त भी प्रायः उसी उद्धरण से होना चाहिये। इस तरह भूमिका को लिखने के पश्चात् उत्तर का मुख्यांश आरम्भ करना चाहिये। (ii) मुख्यांश (Mainbody):—किसी उत्तर में मुख्यांश सबसे बड़ा भाग होता है। प्रायः यह ५–६ पृष्ठों में होता है। इस भाग को कई अनुच्छेदों (Paragraphs) में लिखना चाहिये और स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार कितने ही छोटे-छोटे शीर्षक (Sub-Headings and Points) दिये जाने चाहियें। उत्तर इस प्रकार लिखने में न केवल विद्यार्थी अपने उत्तर में अनावश्यक सामग्री को नहीं लिखेगा वरन् यह अपने उत्तर को उचित क्रम में लिख सकेगा जिससे एक ओर समय की बचत होगी और दूसरी ओर नम्बर भी अधिक प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त परीक्षक भी बहुत कम कठिनाई से उत्तर-पुस्तिका को जांच सकेगा। (iii) निष्कर्ष (Conclusion):—किसी उत्तर का यह अंश भी भूमिका की तरह महत्वपूर्ण होता है। इस भाग में उत्तर का सार लिखा जाता है और भावी आशाएं भी व्यक्त की जा सकती हैं। इस भाग को पृथक् से एक अनुच्छेद (Paragraph) में लिखा जाना चाहिये। प्रायः यह भाग आधे पृष्ठ में पर्याप्त रहता है।

यह स्पष्ट है कि प्रश्न चाहे Reflective हो, या वर्णात्मक (Descriptive) हो परन्तु इसमें कभी-कभी किसी अर्थशास्त्री अथवा लेखक के कथनों को उद्धृत (Quote) किया जाता है। यदि उद्धरण की ठीक-ठीक भाषा याद नहीं है, तब उन्हें Inverted Comas में नहीं लिखना चाहिए वरन् लेखक अथवा अर्थशास्त्री के विचारों को उनके नाम से सम्बन्धित करके इन्हें अपनी भाषा में लिख देना चाहिये। उद्धरणों को हिन्दी अथवा अंग्रेजी दोनों में से किसी भी भाषा में लिखा जा सकता है। इसे रेखांकित कर देना चाहिये ताकि परीक्षक का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हो जाए। परिभाषा शब्द भी अंग्रेजी में कोष्ठक में लिखे जाने चाहिए। परन्तु जब कभी भी अङ्ग्रेजी शब्दों अथवा वाक्यों का प्रयोग किया जाय, तब शब्दों में हिज्जे (Spelling) ठीक होने चाहियें। गलत हिज्जे होने पर परीक्षक पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वह इस कारण प्रायः नम्बर भी कम देता है। गलत उद्धरण (Quotations) देने की अपेक्षा अपने शब्दों में ही अर्थशास्त्री अथवा लेखक के विचार सारांश में दे देना अधिक हितकर होता है।

(६) **अच्छे उत्तर की अन्य बातें**—कोई विद्यार्थी किसी प्रश्न का उत्तर लिखते समय यदि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखेगा तब वह निसन्देह ही उस उत्तर पर अपेक्षाकृत अधिक नम्बर प्राप्त कर सकेगा। ये बातें इस प्रकार हैं—(i) फाउनटिन पेन में स्याही—विद्यार्थियों को परीक्षा के कुछ ही समय पहले कोई अच्छी स्याही खरीदनी चाहिये। यह स्याही ऐसी हो जो सूखने पर काफी चमकीली तथा गाढ़ी लगे ताकि परीक्षक को उत्तर पढ़ने में बहुत सुविधा हो सके। फीकी स्याही का परिणाम फीके (कम नम्बर) होते हैं। (ii) फाउनटिन पेन का निब—आजकल ६०% विद्यार्थी फाउनटिन पेन का उपयोग करते हैं। कुछ विद्यार्थी तो इम्तहान से दो चार दिन पहले ही फाउनटिन पेन खरीदते हैं। यह ठीक नहीं है। आप को परीक्षा के लिये कम से कम दो फाउनटिन पेन तैयार करने चाहियें। इनकी तैयारी का अर्थ है कि परीक्षा के लिए आप ऐसे फाउनटिन पेन अलग उठाकर रख दें जिन्हें आपने काफी समय तक इस्तेमाल किया हो। ऐसा करने पर फाउनटिनपेन आपको परीक्षा में धोखा नहीं दे सकेगा और आप इसकी सहायता से जल्दी-जल्दी उत्तर लिख सकेंगे। परन्तु इसका एक बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि आपका निब घिस कर आपके हाथ पर ठीक बैठ जायगा। प्राय विद्यार्थी परीक्षा में उत्तर बहुत पतले निब के फाउटिन पेन या होल्डर से लिखते हैं। यह ठीक नहीं है। यदि निब बहुत मोटा नहीं है, तब यह बहुत पतला भी नहीं होना चाहिये—यदि निब कुछ मोटा है तब यह अच्छा ही है क्योंकि तब आप स्वत कुछ बड़े-बड़े व ठीक-ठीक अक्षर परीक्षा में लिखेंगे। बहुत पतले निब से लिखा उत्तर, प्राय परीक्षक कठिनाई से पढ़ने पाता है जिससे वह झुंझलाकर या तो आपका उत्तर ही पूरा नहीं पढ़ता और यदि पढ़ता है तब काट छाट कर डालता है और आपको बहुत ही कम नम्बर देता है। अत जितना सुन्दर लेख होगा शब्दों व अक्षरों की बनावट जितनी सुन्दर व साफ होगी, स्याही जितनी गाढ़ी व चमकीली होगी, अन्य बातें समान रहने पर, परीक्षक उतने ही अधिक नम्बर देता है (iii) उत्तरपुस्तिका में हाशिया (Margin)—यह आवश्यक है कि प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तर-पुस्तिका में अपने उत्तर के प्रत्येक पृष्ठ पर केवल बाईं और कुछ हाशिया छोड़ना चाहिये। यह एक इन्च से लेकर १½ इन्च चौड़ाई तक का होना चाहिये। यदि हाशिया इससे अधिक चौड़ा है या पृष्ठ के दाईं ओर भी अनावश्यक ही हाशिया छोड़ना है, तब परीक्षक को यह महसूस हो जाता है कि विद्यार्थी ने अनावश्यक ही पृष्ठों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया है जिससे उसमें उसे कम नम्बर देने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। (iv) उत्तर का प्रारम्भ तथा प्रश्न संख्या—प्रत्येक प्रश्न के उत्तर का प्रारम्भ उत्तरपुस्तिका में सदा एक नये पृष्ठ से ही करना चाहिये। हाशिये में पृष्ठ की सबसे ऊपर वाली पंक्ति में उस प्रश्न का नम्बर लिखिये जिसका उत्तर लिखना आपने उस पृष्ठ पर आरम्भ किया है। प्रश्न का नम्बर वही हो जो प्रश्न पत्र में उस प्रश्न के पहले छपा है। यदि आपने प्रश्न को पांच पृष्ठों में लिखा है तब इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रश्न का नम्बर भी प्रत्येक पांच पृष्ठों पर लिखें। अत प्रश्न का नम्बर केवल एक बार उत्तर के प्रारम्भ करते समय ही लिखना चाहिये। (v) उत्तर में चित्र—किसी प्रश्न के उत्तर में यदि कोई रेखाचित्र बनाया जा

सकता है तब यह अवश्य ही बनना चाहिये, चाहे प्रश्न में यह चित्र बनाने के लिये कहा गया हो या नहीं भी कहा गया हो। (vi) हिन्दी के साथ ही साथ कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग—उत्तर में कुछ खास-खास अर्थशास्त्र के शब्दों के साथ ही साथ इनके पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द लिख दिए जाएं तब उत्तर अच्छा लगता है, परन्तु यह कहीं-कहीं होना चाहिए। ऐसे विद्यार्थी जिनकी अंग्रेजी बहुत कमजोर है, इस ओर कदम न उठायें वरना लाभ के स्थान पर उन्हें हानि अधिक होगी। (vii) उत्तर में शीर्षक—अर्थशास्त्र के प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में कुछ न कुछ मुख्य बातें लिखी जाती है। विद्यार्थियों को इन मुख्य बातों को अलग-अलग पैरे में क्रम-संख्या देकर लिखनी चाहियें और प्रत्येक पैरे का जहां तक सम्भव हो शीर्षक (Heading) भी लिखना चाहिये। शीर्षक पहिले हिन्दी में और बाद में यदि अंग्रेजी में लिखा जाय तब तो बहुत ही उत्तम होगा। परन्तु जिन विद्यार्थियों की अंग्रेजी अच्छी नहीं है, उन्हें अंग्रेजी में शीर्षक नहीं लिखने चाहियें। शीर्षक लिखने के बाद इनके नीचे एक साफ सीधी लाइन खींच देनी चाहिए ताकि परीक्षक बहुत आसानी से इस बात को जान जाये कि अमुक पैरे में क्या बात लिखी गई है? परीक्षक को उत्तर पढ़ने में जितनी सुविधा होती है प्राय. वह उतनी ही आसानी से अधिक नम्बर भी दे देता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी भी अपने उत्तर बेकार की सामग्री नहीं लिखने पाता है क्योंकि वह तो अपना उत्तर कुछ मदों (Points) के अंतर्गत ही लिख रहा है।

उक्तलिखित सब बातें, एक बहुत ही अच्छे व उच्च-स्तर के उत्तर में आवश्यक है। यह स्वाभाविक ही है कि विद्यार्थी इन सब बातों का जितना अधिक पालन करेंगे, अर्थशास्त्र जैसे विषय में वे उतने ही अधिक नम्बर प्राप्त कर सकेंगे।

परिशिष्ट २

Syllabuses.

Agra University B Com. Pt. I. Exam. 1961

Paper II—Currency and Banking.

(N. B —The treatment should be elementary)

Currency—Importance of money. Various kinds of Money. The standard in a Currency System. Essentials of a good currency system. The Currency Standards. Quantity Theory of Money. Inflation and Deflation. Index Numbers. Methods of Note Issue. Specie Points and

Purchasing Power Parity. The Indian Currency System since 1926.

Banking—The nature of Banking, Types of Banks. Functions of a modern banker, banking operations, Banking and Money Market, Fluctuations in Bank Rate in Relation to Trade, Industry & Commerce, The Indian Banking System Exchange Banks, Joint Stock Banks; Co-operative Banks. The Imperial Bank of India, The Reserve Bank of India, Defects of Indian Banking Organisation, Lines of future banking development.

Bihar University B Com Exam 1961

Paper IV—Money & Banking.

Money—Nature, meaning and functions of Money, kinds and classification of Money, Theories of Value of Money, Measurement of *value of Money, Prices and Credit, External Value of Currency,* Control of Price Level.

Banking—Functions and economic significance of different kinds of banks, Their resources and operations, special problems of Commercial, Industrial and other banks

Banking Administration · Central Bank.

Foreign Exchanges : Exchange Control.

Indian Banking : Modern and Indigenous

Delhi University, B. Com. Exam. 1961

Paper iv—Banking, Currency and Foreign Exchange.

Money—Its evolution and functions, kinds of money including bank money, Money and Prices, The Quantity Theory, Fisher's, Pigou's *and keynes' equations, Economic consequences of changes in price level,* Monetary Standards, Gold Standards, The Goal of Monetary Policy.

Banks and the creation of credit The cheque and the clearing house system, *Banking and economic development, Industrial* and Agricultural Banking, Investment Houses. The Stock Exchanges, The Money Market Banking and the Price-level.

Central Banking Theory and Technique, Central Banking and *Monetary Policy Central Banking* and Budgetary Policy. Trade Cycles. International co-ordination of Central Banking.

Foreign Exchanges— The Theory of Purchasing Power Parity. *Stable V/S Flexible Exchanges Devaluation and Depreciation,* The International Monetary Fund, The International Bank for Reconstruction & Development.

Indian Banking—Brief description of types of Indian Banking and their working. Banking Failures in India, Banking Legislation and Banking Reform in India. The Indian Currency system—its evolution and present position The Reserve Bank of India

Rajputana University, B. Com. Exam 1961 and 1962

Part II—Banking and Currency.

(Same for Two year and Three year courses)

Note—Candidates are not expected to possess a detailed knowledge of the subject.

Currency—The functions of Money, qualities of good money material, importance of Money, *Various kinds of Money, Quantity* Theory of Money Value, Inflation and Deflation. Index Numbers. Various Methods of Note Issue, War and the ruin of the Gold standard.

Banking—The nature of Banking, Types of Banks, *Functions of* Modern Banker. Banking Operations, Banking and Money Market, Fluctuations in Bank Rate in relation to trade, industry and commerce.

The Indian Currency System—A brief historical retrospect from 1870 to 1925. Recommendations of the Hilton Young Commission 1926, the present currency system in India.

Indian Banking System—A detailed study of the Indian Money Market, Exchange Banks, Joint Stock Bank, Co-operative Banks, the State Bank, The Reserve Bank of India, Defects of Indian Banking Organisation, Lines of future banking development.

International Trade and Foreign Exchange—Advantages of Foreign Trade, International Currency, Mint Par, Specie Points, Fluctuations in the Rate of Exchange, Exchanges during the War and Post-War Exchange.

Sagar University, B. Com. Exam. (Three Years Course) 1961

Note—The book covers completely the old B. Com. Syllabus of "Money, Banking and Exchange."

Group II-Paper III—Money, Banking, Foreign Exchange & Public Finance.

1. **Money**—*(i) Importance, origin and early history, definition,* functions, (ii) Monetary Standards, Bi-metallism and Mono-metallism, Gold Standard—*Kinds of Gold Standard, Managed Currency standard,* Gresham's Law (iii) Systems of Note Issue-Govt. V/S Bank Note Issue; Single V/S Multiple Note Issue; Various Methods of Note Issue, Right *Principle of Note Issue, (iv) Value of Money, Meaning and importance* of the fluctuations in the Value of Money, Measurement of price changes, *Index Numbers, Simple & Weighted, Demand for Money,* Supply of Money, Quantity Theory of Money, Inflation, Deflation, Reflation-Their effects on society.

2. **Banking**—Creation of credit by a bank and its *limits,employ*ment of banker's funds, Principles and Safety and Liquidity, Functions of a Central Bank, *Reserve Bank of India—Rural Finance,* Agricultural Credit Deptt., Balance-shseet of a Bank, Banker's Clearing House.

3 **Foreign Exchange**—The mechanism of foreign exchange, the *methods of international payments, Mint Par, Rate of Exchange, Fluctuations* in the Rate of Exchange; Courses, effects, remedies and methods of exchange controls, *Purchasing Power Parity Theory,* Devaluation-courses and effects.

4. **Public Finance**—Public Revenue, classification, Meaning of Taxable Capacity, *Factors determining taxable capacity of a nation,* Canons of taxation, impact and incidence of taxation, Direct and Indirect Taxes, Principal Taxes in India.

Author's Note—Sagar University, B. Com. Exam. 1961 Students should read and if necessary, purchase my book named as—"Mudra, Banking, Videshi Vinimeya, Antarashtriya Vyopar tatha Rajasva, Latest Edn." meant for B. A. students also. ('मुद्रा बैंकिंग, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राजस्व) ।

Jabalpur University; B. Com. Pt. I.1961

Group II--Paper II-Money, Banking, and Exchange

Money—Meaning of Inflation and Deflation, their economic effects, the problem of stability of prices, The Quantity Theory of Money; its critical estimate, Gresham's Law in relation to Bi-metallism

Banking—Creation of credit by a bank and its limitations, Overdrafts and cash credits, advances, Clearing House Stages in its development, procedure and economic advantages, factors determining the liquidity and safety of a bank, Differences between Commercial Banking and Central Banking, Functions of a Central Bank The Balance sheet of a bank

Foreign Exchange—The mechanism and methods of international payments, functions of foreign exchange, fluctuations inrates of exchanges causes, effects and remedies, the purchasing power parity theory, Devaluation

Indian Currency—General features of exchange during 1920 25, Principal Recommendations of the Hilton Young Commission, The limited Gold Bullion Standard The ratio controversy The proportional reserve system of Note Issue The Currency Act of 1921, General conditions of exchange between 1927 and 1931 The linking of the rupee to Sterling causes of large export of Gold, effects of World War II on Indian Currency Govt Currency measures, Currency after the devaluation of the rupee

A brief history of the Indian Paper Currency, present Paper Currency System in India,

Vikram University, B Com Exam 1961

First Year B Com Course Departmental Examination

(3) Elements of Currency & Banking

(a) Currency—The origin of money, barter, grain payments, Money & its functions Coins and the currency system Legal Tender, Standard & Token Coins, Legal Basis of Money, Mint Par, Price of Gold or Silver Parity of Exchange, Gresham's Law, Paper currency, *Convertible and Inconvertible Credit Instruments, Bills of Exchange,* Cheques Hundies

(b) Banking—The functions of a bank, Balance sheet The Cheque System, Clearing House, Means of inland remittance, Growth of Banking in India, Mahajans, Chettis, Shroffs, Early Joint Stock Banking the Presidency Banks, The State Bank The Present Joint-Stock Banks, European & Indian, Govt Control of Banks, Information

to be made Public, other means of protecting customers, Post Office Savings Banks, An elementary treatment of the present System of Currency (including Paper Currency in India

B Com. Part I. Exam. 1961 (University Examination.)

Part II—Currency & Banking

(N. B. The treatment should be elementary)

Currency—Importance of Money, Various kinds of Money, Essentials of a good currency system, The Currency Standards. Quantity Theory of Money, Inflation and Deflation, Index Numbers, Various Methods of Note Issue, Specie Points & Purchasing Power Parity, The Indian Currency system since 1926.

Banking—The nature of Banking, Types of Banks, functions of a modern banker, *banking operations, Banking & Money Market.* Fluctuations in Bank Rate in relation to Trade, Industry & Commerce. The Indian Banking System:—Exchange Banks, Joint Stock Banks Co-operative Banks, The State Bank of India, The Reserve Bank of India, Defects of Indian Banking Organisation.

Gorakhpur University. B. Com Pt. I. Exam. (1961)

Paper V—Currency & Banking.

1. Currency—Importance of Money, Various kinds of Money, The Standard in a currency system, Essentials of a good currency system, The Currency Standards, Quantity Theory of Money, Inflation & Deflation, Index Numbers, Various methods of Note-issue, Specie Points & Purchasing Power Parity. The Indian Currency System since 1926.

2 Banks & Banking System—Nature & functions of credit, Credit Instruments, Nature & functions of a bank, Banks and the creation of credit, The Cheque & the Clearing House System, Loans, Deposits, & Reserves—the Theory of Commercial Banking. Classification of Banks & functions of different types of banks, Principles & technique of Central Banking

3. Banking System of India—Money Market, Capital Market, Money lenders & indigenous bankers, Joint Stock, & Foreign Exchange *Banks, Industrial Banks, Investment Banks, Trustees, Industrial Finance* Corporations, Co-operative Banks, Land Mortgage Banks, The State Bank of India, The Reserve Bank of India and its role as the Central Bank, Defects & Problems of Indian Banking System, State regulation & nationalisation of Banking.

4 Foreign Exchange—Nature of International Trade & Payments, Functions of the Foreign Exchange Market, The Rate of Exchange, depreciation & devaluation, objections & technique of exchange control.

परिशिष्ट ३

परीक्षा प्रश्न-पत्र

BIHAR UNIVERSITY, B Com. 1960

Money & Banking

1. Show how Money has assumed evolving forms according to the nature of services required of it 2 How are the changes in the value of Money determined ? Point out the difficulties in measuring these changes 3 Explain why and how inflation breeds deflation and deflation breeds inflation 4 What are the different kinds of transations which create the demand for foreign currencies in a country ? Review briefly the policy of exchange control in India during the last few years. 5 Discuss the main features of the Gold Standard Account for its breakdown shortly after its re-introduction in 1925 6 "Banks are not merely traders in Money but also in an important sense manufacturers of Money—' Discuss 7 Examine the efficacy of the bank rate and the open market operations as instruments of credit control. Can you suggest improvements to make them more effective in India ? 8 Describe the position and functions of the State Bank of India 9 How far has it been successful in providing credit to rural areas ? *9. Outline the recent trends in Indian Banking What part has the Reserve* Bank of India played in the development of sound banking in the country ? 10. Examine the recent banking legislation for regulating *Joint Stock Banks in India*

Jabalpur University B Com 1960

Money, Banking, Exchange

१ मूल्यो के स्थायी रहने के लाभ बताइये, मूल्यो म उतार चढाव होने के कौन कौन मुख्य कारण हैं । २ आधुनिक वाणिज्य और उद्योग के लिये प्रत्यय (साख) के लाभ बताइय । प्रत्यय (साख) किस प्रकार घटती बढती है । पूण रूप स समझाइये । ३ भारत के सयुक्त स्कन्ध अधिकोषो के मुख्य दोषो को बतलाइये । नये कानून द्वारा इन दोषों को दूर करन म कहा तक सफलता मिली है । ४ बैंक के प्रत्यय (साख) से आप क्या समझते हैं ? भारतीय रिजर्व बैंक इस पर किस प्रकार नियन्त्रण करता है ? ५ किसी देश के मौद्रिक प्रभाव (Monetary Standard) स आप क्या समझते हैं ? किसी मुद्रा प्रणाली को सतोषजनक होन के लिय कौन-कौन बात आवश्यक है ? भारतीय उदाहरण देकर समझाइय । ६ द्वितीय महायुद्ध के समय तथा उसके बाद भारतीय अर्थपत्रो (Notes) म वृद्धि के कारण बताइये । इसके आर्थिक प्रभाव समझाइये । ७ दो देशो के बीच विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? पूर्णरूप से समझाइये । विनिमय दर म उतार-चढाव होने के कारणो का विश्लेषण कीजिये । ८ क्रय-शक्ति समाहर्ता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) का वर्णन कीजिये । इसकी मर्यादायें क्या हैं ? ९ स्वर्ण विनिमय प्रभाव Gold Exchange Standard जिस रूप म भारत मे प्रचलित हुआ, उसकी मुख्य-मुख्य बात बतलाइय । इस प्रणाली

में किन कारणों से परिवर्तन करना पड़ा ? १६. नोट लिखिये—(अ) प्रबन्धित चलार्थ (Managing Currency), (आ) विपत्र, (इ) अधिकोष विकर्ष, (ई) समाशोधन-गृह, (उ) विवृत विपणी क्रियायें (Open Market Operations) ।

RAJPUTANA UNIVERSITY, B. Com., 1960
(Two Years Course)
Second Paper—Banking and Currency

1. 'A just tribute to the World Bank would be that the world would be poorer without it, for the under-developed countries owe to it the many smiling fields and green pastures which relieve the vast arid deserts of their economy.' Explain this statement with particular reference to the loans given to India. 2. Differentiate between:— (*a*) Actual money and Money of account. (*b*) Commodity money and Representative money. (*c*) Legal tender money and Optional money. 3. Critically examine the working of Purchasing Power Parity Theory. 4 Distinguish between the gold exchange standard and the gold bullion standard proposed by the Hilton Young Commission. State your views on the latter' as a scheme of currency arrangement for the country. 5. Discuss the use of—(*a*) Dearness allowances. (*b*) Consumers' subsidies, and (*c*) Raising the rates of interest on government loans, as methods of reducing the inflationary prices. 6 Write notes on—(*a*) Land Mortgage Banks. (*b*) Buy high, sell low; better the bill, lower the rate. 7. Distingnish indigenous, co-operative and joint-stock banks from one another, so as to bring out their peculiar features in relation to aims, constitution and working. 8. Describe the need and objects of credit control. How does a Central Bank control credit ? 9. Point out the salient features of the India Paper currency system as it exists at present. 10. Write short notes on any *three* of the following—(*a*) Fiat paper money. (*b*) Not-negotiable crossing. (*c*) Re-Finance Corporation. (*d*) Open market operations. (*e*) Parallel standard.

SAGAR UNIVERSITY, B. Com. 1960
Banking & Public Finance
Group II—Paper III

1. What are Bank Deposits ? Discuss the origin of Bank Deposits. 2. Discuss the functions of Commercial Banks. 3. Carefully examine the functions of the Reserve Bank of India. 4. Discuss the importance of (a) Liquidity (b) Profitablity in the investment of funds by Commercial Banks. 5. Critically examine the importance of Bank Rate as an instrument of Credit Control. 6. Discuss the various Cannons of Taxation. 7. Discuss the Problem of Incidence of Taxation under a Competitive economy. 8. Describe the main features of either the Income-Tax or Land Revenue in India. 9. Discuss the concept of Taxable Capacity. 10. Examine the advantages and disadvantages of direct and indirect taxes.